श्री

सनातनधर्मनिष्ठ, निगमागमश्रद्धापरायण सौम्यमूर्ति, सद्गुणविभूषित

दानवीर

सर्वश्री माननीय श्रेष्ठिवर

श्रीकुंडीलालजी महोदय सेकसरिया के सौजन्य से

'श्रीगोविन्दरामचैरिटीट्रस्ट इन्दौर' (मालवा)

द्वारा प्रकाशित

भगवद्भक्तप्रियोद्देश्या

वि० सं० २०१०

श्री

मरुमण्डलवैभव महाभाग

श्रीगोविन्दरामजी सेकसरिया

की

चिरस्मृति के सम्बन्ध में दो शब्द

महाप्राण मरुमण्डलवैभवस्य श्रेष्ठिप्रवर

* स्व० श्रीगोविन्दरामजी सेकसरिया की विमल स्मृति के सम्बन्ध में—

—प्रस्तुत प्रकाशन में दो शब्द निवेदन कर देना भारतीय आर्षसनातन आम्नाय के द्वारा अनुमोदित 'कृतज्ञता—समर्पण' परम्परा न केवल मांगलिक ही, अपितु मानुषधर्म्मैषिता अनिवार्य्य कर्त्तव्य भी माना जायगा। अनुमानतः वि० सं० १९८६ से आरम्भ कर वि० सं० १९९९ पर्य्यन्त (सन् १९२९ से सन् १९४२ पर्य्यन्त) निगमपुरुष (वेदशास्त्र) की उपासना को सफल एवं सुफल बनाने की कामना से भावितान्तःकरण इस व्यक्ति ने ग्रन्थप्रणयन—ग्रन्थप्रकाशन—प्रचारयात्रामाध्यम से यत्रतत्र प्रचार आदि जिन बाह्य साधनों को प्रतीकविधा से माध्यम बनाया गया, उन साधनों को प्रमुख सीमापर्य्यन्त अभ्यर्थ प्रमाणित करने वाले मान्य सहयोगियों के परिगणन में महाराष्ट्रप्रान्त बङ्गप्रान्त एवं गुर्जरप्रान्त के तत्प्रान्तीय साहित्यानुरागी ही प्रधान स्तम्भ प्रमाणित होते रहे। त्रयोदश (१३) वर्षपरिमित उस अवधि में घुणाक्षरन्यायेन यदि द्वि—त्रि—मरुप्रान्तीय मान्य—सहयोगी उपलब्ध हुए भी, तो इसका श्रेय भी विशेषतः गुर्ज्जरप्रान्तीय प्रधान स्तम्भों की प्रेरणा का ही सुपरिणाम था। अतएव इस दिशा में हम अपने अभिजन—देश की सम्पन्न विभूतियों के मार्म्मिक स्वरूप से प्रायः अपरिचित ही बने रहे।

हाँ सम्भवतः सन् ३६ में धार्मिक—विघटित बङ्गयात्रा में मा० सर्वश्री वेणीशङ्करजी शर्म्मा के आलोकमय ८ नवमासेभ्य श्रम—परिश्रम तथा तपोयाग से बीकानेरराज्यगौरव श्रेष्ठिप्रवर माननीय स्व० श्रीबन्सीधरजी जालान महोदय से अवश्य ही हमारा निकटतम सम्पर्क स्थापित हुआ था, जिनके महतोमहीयान् व्यक्तित्व की महती स्मृति से हम सदा आत्मविभोर बने रहेंगे। आपही के सहयोग से उपलब्ध के प्रकाशनों में सहस्रपृष्ठात्मक दो गीताविज्ञान कलकत्ता में ही प्रकाशित हुए थे। एवं उस स्वर्गीय महानात्मा की ऐसी सात्त्विक कामना थी कि, हमें अपने अभिजनकेन्द्र (जयपुर) निवास का मोह

---

* हमारी ऐसी कामना थी कि, पाञ्चभौतिक शरीर से सर्वथा दूर, किन्तु महाप्राण स्व० सेकसरियाजी का तथा उनके सुपुत्र निगमागमविचारपरायण सौम्यमूर्त्ति सबको माननीय श्रेष्ठिप्रवर श्रीकुन्दीलालजी सेकसरिया का चित्र भी प्रस्तुत प्रकाशन में प्रकाशित किया जाता। किन्तु आग्रह करने पर भी मा० श्रीकुन्दीलालजी ने इस लोकैषणात्मक दृष्टिकोण का समर्थन न किया। अतएव विवशतावश हम अपनी इस मानसिक कामना को इस प्रकाशन में मूर्त्तरूप न दे सके। अवश्य ही किसी अग्रिम प्रकाशन में इन दोनों महानुभावों के पूर्ण परिचय के साथ चित्रप्रकाशन के सम्बन्ध में भी हमें अपनी सहज स्वतन्त्र मनोवृत्ति का अनुगामी बन ही जाना पड़ेगा।

परित्यक्त कर मरुभूमि को ही भविष्य के लिए केन्द्र बना लेना चाहिए। इसी संधा (शर्त) पर वे हमारे सम्पूर्ण साहित्यिक-उपक्रमों को सर्वात्मना समर्थ बनाने के लिए सन्नद्ध भी हो गये थे, जो-सहजता धनपति के एक सहज सद्भावमात्र से अनुप्राणित थी। किन्तु अनेक कारणपरम्पराओं के निग्रहानुग्रह से वह समझौता मूर्त्तरूप में परिणत न हो सकी, जिसमें मुख्यकारण इस महात्मा का असमय में ही स्वर्गगमन बन गया। तथापि इनके कनिष्ठभ्राता माननीय श्रेष्ठिवर श्रीवैजनाथजी जालान महोदय का गाङ्गेयतोयोपम निर्मल सौहार्द यथापूर्व अद्यावधि प्रक्रान्त है, जिसके परिणामस्वरूप इनका यथाशक्ति सहयोग सदा सदा हमारी कृतज्ञता को अभिव्यक्त करता रहता है।

जब विशिष्ट नैगमिक साहित्य-अनुमानतः पञ्चसहस्रपृष्ठावधि की सीमा का भी अतिक्रमण कर गया तो इसके आम्नायानुगत प्रचार की स्थिरता के लिए एक 'विद्यापीठ' का संकल्प उत्पन्न हुआ जिसे मूर्त्तरूप प्रदान की कामना से सन् ४९ के आरम्भ में 'बम्बईयात्रा' लक्ष्य बनी जिसके कर्णधार बने तत्रस्थ मारवाड़प्रान्तनिवासी बम्बापुर निवासनैष्ठिक सर्वश्री श्रेष्ठिवर श्रीवल्लजी-छगनजी देरासरी (गुजराती)। इनकी प्रमुखता में ही लक्ष्यपूर्ति के लिए प्रधानतः गुजरातसमाज में ही निरन्तर तीन मासपर्य्यन्त प्रचारकार्य्य प्रक्रान्त रहा। और इस सात्त्विक महामानव के अकथ-अथक अध्यवसाय एवं आत्मसाहित्यनुराग के परिणामस्वरूप ऐसा आभास होने लगा उस प्राथमिककाल में कि, मानों अवश्य आगामी परिपूर्ण गुजराती समाज के द्वारा ही 'गद्यप्रणेता वर्द्धेत, गद्यस्य तु न किञ्चन+' इस भावसरणी के अनुसार सर्वात्मना नहीं तो अंशतः अवश्य ही लक्ष्यपूर्ति हो जायगी।

वार्त्तोपरामप्रसङ्गों में श्रीवल्लजी के द्वारा यह सुना गया कि, वे हमारे ही प्रान्त (शेखावाटीप्रान्त के सुप्रसिद्ध न लगढ़ ग्रामान्त) के किसी सुविख्यात धनपति के समारोपित्व में लक्ष्य को सर्वात्मना सफल बनाने की कामना से एक बृहदायोजन कर रहे हैं। प्रावाहिक-गतानुगतिक युगक्रमानुसार आयोजन आटोप के साथ परिपूर्ण हुआ। और इसी आयोजन में हमारा ध्यान मरुस्थलसर्वेश्वर (कुमार कृष्णकान्त, किन्तु महाप्राण उस प्रतिभासम्पन्न मानवश्रेष्ठ की ओर आकर्षित हुआ जिसके प्रारम्भिक परिचय से ही हमने यह अनुभव कर लिया कि यदि इस महाप्राण व्यक्ति का ध्यान प्रस्तुत लक्ष्य की ओर आकर्षित हो सका तो राजपत्तनप्रान्त का अधिसमाज सम्पत्तिक्षेत्रवत् सारस्वतक्षेत्र में भी सर्वात्मना गौरवास्पद प्रमाणित हो सकेगा।

अपनी ईश्वरप्रदत्त सहज व्यवसायात्मिका प्रतिभा के बल पर इस व्यक्ति ने अपनी आरम्भिक सामान्यशक्ति से कालान्तर में अपने आपको किस महती स्थिति पर प्रतिष्ठित कर लिया इस इतिहास

+ गद्यस्य दाता हीयते, गद्यस्य तु न किञ्चन।
गद्यप्रणेता वर्द्धेत गद्यस्य तु न किञ्चन॥

की रूपरेखा ने न केवल भारतीयों को ही, अपितु अमेरिका के धनपतियों को भी प्रभावित कर दिया था। अवश्य ही ऐसे मानव का इतिहास, ऐसे मानव के अदम्य उत्साह का, सहजप्रतिभा का, प्रत्युत्पन्न-मतिराशिता का इतिहास व्यवसायक्षेत्रानुगामियों के लिए एक रहस्यपूर्ण राजपथ ही माना जायगा, जिसके आंशिक अनुसरण से भी इस क्षेत्र में आशातीत सफलता प्राप्त की जा सकती है।

सर्वथा दुर्बलशरीर, किन्तु प्रशस्तललाट, सुदीर्घ नेत्रपटल, मार्मिक सुसूक्ष्मेक्षण, सामान्यवेश-भूषा, सुप्रसिद्ध मरुप्रान्तीय उष्णीष (पगड़ी), जिसके पृष्ठभाग का बन्धन (पेच) यदाकदा सहजभाव से स्खलित रहने वाला इत्यादि बाह्याकारप्रकारों से सहसा अपने महान् तथा रहस्यपूर्ण व्यक्तित्व से सहसा प्रभावित कर देने वाले मरुप्रान्तीय इस अध्यवसायी मानव ने सर्वथा सामान्य स्थिति में मोह मयीनगरी (बम्बई) को अपने प्रतिभाप्रसार का केन्द्र बनाया। माननीय स्व० श्रीमोतीरामजी, स्व० श्रीमक्खनलालजी, स्व० श्रीरामनाथजी, अपने इन तीनों आत्मज अनुजों के माध्यम से श्री गोविन्द रामजी ने व्यवसायक्षेत्र में जैसी आश्चर्यकारिणी सफलता प्राप्त की वैसी अन्यत्र सहसा अनुपलब्ध है। सुनते हैं, एकबार देशमान्य सर्वश्री गान्धीजी ने आपका आतिथ्य ग्रहण करते हुए विनोद में जब आपसे यह प्रेरणा की कि, "आप इतने धन का क्या करेंगे क्यों नहीं इसे राष्ट्रिय कोश में दे डालते", तो आपने अपनी प्रतिभापूर्णा प्रत्युत्पन्नमति से तत्काल विनोद में ही यह समाधान किया था कि, "महाराज ! इस धन की कृपा से ही तो आपने मेरे जैसे सामान्य व्यक्ति का आतिथ्य स्वीकार किया है। क्या यह राष्ट्रिय सेवा कम है"।

अपनी सहज प्रतिभा के बल पर अर्जित महान् कोश की सुव्यवस्था के साथ साथ आपने जिस उदारता से भारतीय 'कौटुम्बिक व्यवस्था' के सनातन आदर्शों को लक्ष्य में रखते हुए जिस 'सम विभजेरन्' सिद्धान्त को अपनाया वह भी वर्त्तमानयुग के लिए एक महान् आदर्श का क्षेत्र प्रमाणित होगा। सम्पूर्ण सम्पत्ति का अर्जन हुआ एकमात्र आपकी सहज प्रतिभा के बल पर एवं विभाजन हुआ इसका चारे भागों में। वास्तव में वर्त्तमानयुग में दायविभागात्मक संघर्षों की तुलना में यह समीकरण आदर्श ही माना जायगा। अपने भौतिक सत्ताकाल में आपने व्यवसाय प्रसार के अतिरिक्त राष्ट्रिय-सामाजिक कार्यों में अपनी मुक्तहस्तता का परिचय प्रदान करने के साथ साथ विविध शिक्षा-क्षेत्रों में भी पूर्ण सहयोग प्रदान किया है जिसका एक बहुत बड़ा इतिहास है। जीवन के अन्तिम वर्षों में आपने एक कोटिपरिमित (एक करोड़) धन की राशि 'ट्रस्ट' कर दी थी जो आज 'श्रीगोविन्दरामचेरेटीट्रस्ट-इन्दौर (मालवा)' नाम से प्रसिद्ध होता हुआ ट्रस्ट के सुयोग्य संचालकों के द्वारा ट्रस्ट के मान्य सभापति सर्वश्री कुन्दीलालजी सेकसरिया की सात्त्विक प्रेरणा-परामर्श से प्रतिवर्ष लाखों रु० सामाजिक राष्ट्रिय एवं शिक्षा क्षेत्रों में उपयोग करता हुआ श्रीगोविन्दरामजी के यशःशरीर को शाश्वतता प्रदान कर रहा है।

हमें दुःख है कि, परिचय के कुछ ही समयानन्तर श्रीगोविन्दरामजी के दिवंगत हो जाने से तत्समय में हमें अपने साहित्यिक संकल्पों को चरितार्थ बनाने का अवसर न मिल सका, और वो महद् भाग्य से प्राप्त यह महती सहयोगकामना तत्समय में केवल संकल्परूप से ही सुरक्षित बनी रह गई। सन् ४२ से आरम्भ कर अनुमानतः सन् ४८ पर्य्यन्त पुनः 'पुनस्त्वैवागतम्मित्रोवेताम्' की उपासना प्रक्रान्त रखनी पड़ी। अनन्तर सहसा सम्भवतः ही क्यों निरपवेनैव उस स्व० महानात्मा की कामना-प्रेरणा के अनुग्रह से ही तत्सयोग्य पुत्र श्रीकुञ्जीलालजी सेकसरिया का ध्यान एक नैष्ठिक ब्राह्मण-संस्कृतिनिष्ठ महामानव के माध्यम से इस कार्य्य की ओर आकर्षित हुआ। श्रीसेकसरियाजी के विद्यागुरु सर्वश्री माननीय मदनमोहनजी शर्म्मा (जो तत्र 'मास्टरसाब' (साहिब) अभिधा से सुप्रसिद्ध हैं) के प्रति कृतज्ञता अभिव्यक्त करनी चाहिए श्रीकुञ्जीलालजी के शुभचिन्तकों को जिनके सहयोगनैरन्तर्य्य के कारण ही श्रीसेकसरियाजी अपनी पैत्रिक आस्था-श्रद्धा-निष्ठा का उत्तरोत्तर पुष्पित पल्लवित करने में समर्थ बन सके हैं। इसी मानवश्रेष्ठ की तत्कालीन आकस्मिक किन्तु सहजप्रेरणा से हमें श्रीसेकसरिया जी के निकट सम्पर्क में आने का महद्भाग्य प्राप्त हुआ जिससे सम्बन्धित ज्ञानकर्मोपासनापरम्परासमाश्रित इतिवृत्त भी साहित्यमर्मियों के लिए एक पथप्रदर्शक आलोक प्रमाणित होगा।

तरुणवपुः, सौम्यमूर्त्ति, मन्दहाससुस्फुरित आकर्षक आकार, आदि सौम्यभावों से आपादमस्तक सुसमन्वित प्रतीत होने वाले मा० श्रीकुञ्जीलालजी के सहज व्यक्तित्व का यथार्थस्वरूप परिचय प्राप्त कर लेना भी वैसा ही दुरधिगम्य है जैसे कि इनके स्व० पितृश्री के सहज सामान्य बाह्य अनुभवमात्रों के आधार से उनका आभ्यन्तर गरिम-स्वरूप सर्वसाधारण के लिए सर्वथा दुरधिगम्य था। 'पिता वै जायते पुत्रः' इस सिद्धान्त को अक्षरशः चरितार्थ करने वाले श्रीकुञ्जीलालजी में उन समस्त पैत्रिक गुणों का बीजाङ्कुरन्याय से समावेश हुआ है। आवश्यकता है अनुकूल रक्षा-दुर्ग के द्वारा उस महान् बीज को पुष्पित पल्लवित करने के लिए वातावरणानुबन्धिनी युगधर्म्मानुगता आक्रमणपरम्पराओं के निरोध की। श्रीजगन्माता जगदम्बा से यही कामना है कि, भारतीयसंस्कृति के संरक्षण-कर्म्म में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त हमारे इस सात्त्विक महान् सहयोगी को तद्गुणविकास में वह पूर्ण सफलता प्रदान करे। इसी संक्षिप्त विमलस्मृति के साथ यह शब्दद्वयात्मिका परिचयरूपरेखा उपरत हो रही है। हम आग्रह करेंगे ट्रस्ट के मान्य सदस्यों से इस सम्बन्ध में कि श्रीगोविन्दरामजी के पुण्य स्मरण के लिए नहीं अपितु मानव मात्र की सहज प्रतिभा को प्रबुद्ध कराने में सर्वात्मना सहायक तथा पथप्रदर्शक श्रीगोविन्दरामजी के सहज प्रतिभापूर्ण व्यवसायनिष्ठ जीवन के इतिवृत्त को शीघ्र से शीघ्र लिपिबद्ध, तथा प्रकाशित करने के अनिवार्य्य कर्त्तव्य की ओर वे आकर्षित होंगे।

श्रीमानवाश्रमविद्यापीठ, दुर्गापुरा
आषाढ़शुक्लत्रयोदशी वि० सं० १

पाठकानुग —
मोतीलालशर्म्मा
भारद्वाज

अथ

खण्डचतुष्टयात्मक–'आत्मविज्ञानोपनिषत्' ग्रन्थ

'आत्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' नामक

प्रथमः खण्ड

१

प्रथमखण्डात्मकेऽस्मिन् ग्रन्थे-
एते विषया निरूपिता द्रष्टव्या

श्रीयमामनया आत्मस्वरूपविज्ञानोपनिषदा आत्मरूपता

श्री

समर्पण

दिवंगत-चन्द्रलोकस्थ-महानात्ममूर्ति-स्वर्गीय-

पितृ-श्रीबालचन्द्रजी शास्त्री की

पुण्यतिथि (श्रावणशुक्ल-त्रयोदशी) के उपलक्ष में

भाष्यकर्ता की ओर से

श्रद्धापूर्वक समर्पित

समर्पक—

प्रज्ञानन्दविज्ञानपथानुगामी

मोतीलालशर्म्मा (भाष्यकर्त्ता)

श्रावणशुक्ल-त्रयोदशी (पुण्यतिथि)

विक्रम सं० २ १०

प्रकाशक:—
मानवाश्रमपारमार्थिकज्ञानसम्प्रदायविभागसञ्चालक:—
मोतीलालशर्मा, भारद्वाज
—(मानवाश्रमविद्यापीठ—दुर्गापुरा)—

सम्पादकीय-वक्तव्य

श्री

आत्मनिवेदनात्मक सम्पादकीय

संकल्पित "मानवोपयोगिवैज्ञानिकप्रबोध" (श्रीमानवाश्रमविद्यापीठ) के निर्म्माण-सम्बन्धी इतस्ततः अनुधावन कर्म्म के अनुग्रह से विगत १० वर्षों से अवरुद्धप्राय ग्रन्थप्रकाशन-कार्य्य एक सात्त्विक परिवार के अयाचित सात्त्विक सहयोग से पुनः प्रक्रान्त हो रहा है, इस अनुभूति से परम तुष्टि का अनुभव करते हुए प्रस्तुत भारतविज्ञान के 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथम खण्ड के साथ पुनः यह साहित्य-सेवी अपने सहयोगियों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है।

तदित्थं सुदीर्घ-कालानन्तर प्रस्तुत 'प्रकाशन' के साथ आर्षप्रजा के सम्मुख उपस्थित होते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि दो शब्दों में इस सुदीर्घ विलम्ब का कारण स्पष्ट करते हुए प्रकाशन-कार्य्यावरोध से रुष्ट आत्मीय-सहयोगियों को यथाशक्य तुष्ट करने का प्रयास किया जाय। सर्वथा लोकैषणाकामुक, साथ ही नितान्त भावुक कुछ एक नवीन सहयोगियों के आपातरमणीय-सम्भ्रममात्र से लोकैषणा-प्रवर्द्धक अनेक सम-विषम-समस्याओं के प्रलोभनों में आसक्त-व्यासक्त होते हुए आशा-प्रतीक्षामयी मृगमरीचिका-धारा से सर्वात्मना आबद्ध पीठ-निर्म्माण साफल्य के लिए इतस्ततः यद्दृच्छ-मायात्मिका लोकासक्ति के घातक निग्रहात्मक अनुग्रह से प्रकाशन-निरोध के साथ साथ कुछ एक वर्षों से (अनुमानतः ८-१० वर्षों से) स्वाध्यायनिष्ठा तदनुगत ग्रन्थप्रणयन, व्याख्यानादि-द्वारा मौलिक प्रचार आदि अन्यान्य सहज लक्ष्यों से भी सर्वात्मना आत्मविस्मृत हो जाना पड़ा। यही नहीं अपनी इस अपम्लतमा सर्वस्वघातिनी लोकैषणा की कृपा से ही 'एषणा-पूर्त्ति-लालसा' से आविताक्रान्त इस व्यामुग्ध मानव को गत वर्षों में अमुकामुक कल्पनिक प्रेरणाओं के आकर्षण से असम्भावित अवैध यात्राक्रम, तदनुगता प्रचुर अर्थहानि, फलतः अर्थसङ्कटता का घातक आतिथ्य, पूर्वप्रकाशित-सञ्चित ग्रन्थराशि का शतशः महानुभावों के प्रति होने वाली भेंट परम्परा द्वारा विलुप्त भावी प्रकाशनकार्य्य निरोध, शीतातप से सर्वथा विपरीत ज्ञान वाले निरन्तर श्रम-परिश्रम से शरीरस्वास्थ्य का आत्यन्तिक म्लानभाव, आदि आदि अनेक दुष्परिणामों से भी पुरस्कृत होना पड़ा। सर्वस्वविघातिनी इस लोकासक्ति से त्राण पाने के लिए इष्टदेव से ही उद्बोधन-भिक्षा माँगी गई। एवं गत चैत्र-नवरात्र में इष्टदेव के उद्बोधनात्मक अनुग्रह से तथाकथित विघ्नपरम्पराओं से त्राण पाने के लिए 'वर्त्तमान' को लक्ष्य बिन्दु बनाते हुए भविष्य के लिए यह निश्चय किया गया कि—

"मनोऽनुगता भावुकता-समाकुलित पुरुषानुगता-आत्मनिष्ठा-निरोधक, वर्त्तमान भारतीय प्रजा परम में लोकैषणा से विनिर्मुक्त रहते हुए सर्वसाधारण का अयाचित-सात्त्विक-नैष्ठिक-सहयोग प्राप्त

कर लेना क्योंकि कठिन ही नहीं अपितु असम्भव है, अतएव–'सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः' (मनु) इस मानव-आर्ष-आदेश का अनुगमन करते हुए दिक्-विदिक् से प्रस्फारित किन्तु स्वाध्यायनिष्ठाविघातक, लोकैषणाप्रवर्द्धक, आत्मसंवित्सम्पदापहारक, तथाविध यावन्मात्र सहयोगों को तथा तत्प्रदाता-तत्समनुमित-सहयोगियों को स्मृतिपथ से भी सर्वथा विस्मृत करते हुए एकमात्र स्वाध्यायनिष्ठा का ही अनन्य-निष्ठा से अनुगमन किया जाय। हाँ यदि किसी नैष्ठिक-आर्ष-मानव के द्वारा उपकार प्रत्युपकार की कुत्सित भावना से एकान्ततः असंस्पृष्ट रहता हुआ विशुद्ध सत्त्वभावापन्न यथोचित नैष्ठिक सहयोग सद्भाग्य से पुण्यपरम्परया से यदाकदा उपलब्ध हो जाय तो एवंविध निरापद सहयोग का अवश्यमेव समादर कर लिया जाय, एवं तद्द्वारा यथाव्यवस्था ग्रन्थप्रकाशन-पत्रप्रकाशन-पीठनिर्माण आदि साहित्यिक सत्कर्मों को यथासुविधा प्रगतिशील बनाया जाय। तथाविध इन सभी सत्कर्मों को यात्राओं को, सहयोगों को तथा सहयोगियों का सर्वथा उपेक्षणीय ही माना जाय, जो सत्त्व, जो यात्राएँ जो सहयोग एवं जो सहयोगी गतजीवन में लोकैषणानुगत अतएव परिणाम में लोकापवादजनक अतएव च अन्ततोगत्वा आत्मसंवित्स्वरूप-आत्मनिष्ठा के विघातक ही प्रमाणित हुए हैं'।

ओमित्येतत्। किन्तु 'निश्चय' निश्चय कर लेने मात्र से ही तो सफल नहीं बन जाता। अतएव ही एवंविध निश्चयात्मक 'निश्चय' को निश्चयात्मिका कार्य्यरूपा-व्यवस्था का अनुगामी बनाने के लिए किसी तथाविध ही निश्चित निष्ठापद्धति का यथापथ से अनुसरण अनिवार्य्य हो जाता है। जैसा कि, स्पष्ट किया जा चुका है–अपने लोकैषणानुगत-कर्मों के अनुग्रह से सम्पूर्ण-साधन समाप्त हो चले थे एवं-'अकिञ्चनत्वं महदुग्रं व्यनक्ति' सर्वात्मना चरितार्थ हो गया था। परिणामस्वरूप स्वाध्यायनिष्ठा के साथ साथ प्रकाशन-कार्य्य की पुनःप्रवृत्ति भी असम्भव बन चुकी थी। यही क्यों सम्पूर्ण में अपरिमित ऋण पीठनिर्माण में आवृत हो जाने से 'जीविका-साधन' भी समाप्तप्राय था, जिस से सम्बन्धित पारिवारिक-समस्या की जटिलता से स्वाध्याय-निष्ठा की निश्चिन्तता भी सर्वथा चिन्तामहार्णव ही बन रही थी। इन्हीं सब सम-विषम-समस्याओं के अनुग्रह से संकल्पित नैष्ठिक निश्चय केवल काल्पनिक रूप से ही सुरक्षित बना रहा।

इन अनिवार्य्य समस्याओं से आक्रान्त रहते हुए 'निश्चय' को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए अनुरूप-आरम्भिक-सहयोग प्राप्त करना अनिवार्य्य बन गया। दुर्दैव के माध्यम से निश्चयानुरूप सात्त्विक नैष्ठिक सहयोगियों के अन्वेषण के लिए कुछ वर्ष पूर्व राजस्थानी के सम्भ्रान्त [illegible] माननीय श्रीरामनारायणजी मोर के [illegible] के आधार पर कलकत्ता यात्रा हुई। [illegible] के निरपेक्ष अनन्य सहयोग तथा [illegible] से मासानुवृत्त्यात्मिका इस [illegible] में मान्यतानीय श्री[illegible] आदि का सात्त्विक सहयोग प्राप्त हुआ जिस सहयोग

का पूर्णविवरण 'हमारी नैष्ठिक यात्रा, और उसका परिणाम' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में प्रकाशित कर दिया गया है। इसी सहयोग के आधार पर मानवपीठ-निर्म्माण दिशा की वर्षों से अवरुद्ध स्थिति का अंशतः समुद्धार हुआ। सहयोग सर्वथा सामान्य था, अतएव इस से विशेष प्रगति का अनुगमन सम्भव न हो सका। अतएव, पुनः-गतवर्ष ग्रीष्मारम्भ में चिकित्सार्थ बम्बई-यात्रा का पथिक बनना पड़ा। मासत्रयात्मिका इस यात्रा का पूरा विवरण भी तथाकथित निबन्ध में प्रकाशित हो चुका है। इस यात्रा में श्रीजगदम्बानुग्रह से वैसे सहयोगी उपलब्ध हुए, (जिन में माननीय श्रीकुञ्जीलालजी सेकसरिया माननीय श्रीमहावीरप्रसादजी मोदी, माननीय श्रीजगदीशप्रसादजी सेकसरिया आदि के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं) जिन के द्वारा 'निश्चय' पूर्णतः नहीं, तो अंशतः अवश्य लक्ष्यानुगामी बनाया जासकता है। पीठनिर्म्माण का प्रमुख उत्तरदायित्व जहाँ माननीय श्रीसेकसरिया जी ने उठाने का अनुग्रह किया वहाँ प्रकाशन-कार्य्य को प्रेसपरिग्रह-व्यवस्था द्वारा पुनरुज्जीवित करने का श्रेय माननीय श्रीमहावीरप्रसादजी मोदी तथा माननीय श्रीजगदीशप्रसादजी सेकसरिया ने प्राप्त किया। इस प्रकार आयोजित प्रकाशन-साधनों की पुनर्व्यवस्था के आधार पर ही वर्षों से अवरुद्ध प्रकाशन कार्य्य गत बसन्त से पुनः आरम्भ हुआ जिस का प्रथम परिणाम प्रस्तुत प्रथम खण्ड है।

सुदीर्घकालपर्य्यन्त ग्रन्थप्रकाशन-कार्य्य क्यों अवरुद्ध रहा ?, इस प्रासङ्गिक प्रश्न समाधि के लिए तत्परिस्थितियों का प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण आवश्यक समझा गया। अब दो शब्दों में प्रस्तुत-ग्रन्थ की आवश्यकता का दिग्दर्शन करा देना भी असामयिक न माना जायगा। अनुमानतः आठ वर्ष पूर्व खण्डचतुष्ट्यात्मक श्राद्धविज्ञान-ग्रन्थ की आवश्यकता के सम्बन्ध में 'किमपिप्रास्ताविकम्' रूप से १०० पृष्ठात्मिका प्रस्तावना प्रकाशित कर दी गई थी, जिसका समावेश प्रस्तुत प्रथमखण्ड में कर दिया गया है। इसमें सभी दृष्टियों से ग्रन्थावश्यकता का स्पष्टीकरण हो गया है। प्रकृत में इस आवश्यकता के सम्बन्ध में यही स्पष्टीकरण पर्य्याप्त मान लिया जायगा कि,—

'परलोकस्थ-(चान्द्रमण्डलस्थित) प्राणात्मक प्रेत पितरों के लिए (पिता-पितामह-प्रपितामहादि के लिए) समन्त्रक श्रद्धापूर्वक पिण्डदान करना ही श्राद्ध है' सनातन-आर्यप्रजा की इस शाश्वत आर्षनिष्ठा के सम्बन्ध में वर्त्तमान-शिक्षासंचार के अनुग्रह से तथा गत शताब्दी में उत्पन्न स्वामी दयानन्दजी के निरतिशय भावुक-विचारों के आपातरमणीय अनुग्रह से सर्वथा लक्ष्यच्युत भावुक-प्रजा के अशास्त्रीय धर्म्माभास प्रचार से अनेक प्रकार के संशय उत्पन्न हो गए हैं। इस नितान्त अशास्त्रीय मौखिक संशयपरम्परा से आस्तिकप्रजा का महामहीयान् अहित हुआ है। इस अहित से आस्तिकजनता का त्राण कर श्राद्धकर्म्म के यथापरिभाषित शास्त्रीय-दृष्टिकोण को विज्ञानदृष्टि से पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए ही खण्डचतुष्ट्यात्मक 'श्राद्धविज्ञान' नामक ग्रन्थ का संकल्प आज से

अठारह वर्ष पूर्व संकल्प बना। उस समय में ही पितृश्री के गत हो जाने से इस संकल्प को विरूप में रखना [illegible] प्राप्त हुआ। एवं परिणाम स्वरूप पितृश्री के प्रथम वार्षिक-श्राद्धोपलक्ष्य में ग्रन्थ सर्वात्मना सम्पन्न कर लिया गया। तब से पूर्व-दिग्दर्शित घटना-समस्या-परम्पराओं के निग्रहानुग्रह से अठारह वर्षों के अनन्तर इस ग्रन्थ का 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड बहिर्जगत् की वस्तु बनने जा रहा है।

सम्पादन-सौष्ठव, एवं बाह्य आकार-प्रकार-सौन्दर्य के सम्बन्ध में हमें इस लिए कुछ भी निवेदन करने का अधिकार नहीं है कि, सर्वथा एकाकी बने रहते हुए सर्वप्रपञ्चानुगति के अनुग्रह से सर्वविध-मान्यमाहित्य की स्वाभाविक-अर्थसंकल्पप्रस्तवा से तथाविध-सन्निधायक बाह्यसाधनों के अभाव के कारण इस दृष्टिकोण से हमें तब तक के लिए अपने आपको दोषभाक् ही मानते रहना पड़ेगा, जब तक कि इस दिशा में अनुरूप सुविधा के अनुग्रह से कतिपय कर्म-सहयोगियों का क्रियात्मक सहयोग हमें प्राप्त नहीं हो जाता।

प्रस्तुत प्रथम खण्डात्मक प्रकाशन इस बार अपनी चित्रपरम्परा के कारण निरतिशयरूप से महार्घ बन गया है। मानसिक-दैविक-आत्मिक-स्थितियों के स्पष्टीकरण के लिए इस खण्ड में ८४ रेखा चित्रों का एवं २ तिरंगे चित्र का समावेश हुआ है जिन के प्रकाशन में ही अनुमानतः नवसहस्र की आहुति देनी पड़ी है, जिस में से अनुमानतः त्रिसहस्रमिता ३०००) आहुति का अनुग्रह हमारे आत्मीय सहयोगी माननीय श्रीमहावीरप्रसाद जी मुरारका द्वारा प्राप्त हुआ है, जिसके लिए आत्मदेवता इनके प्रति कृतज्ञ रहेंगे। अलमतिविस्तरेण। हमने कभी इन व्यावहारिक प्रपञ्चों से सम्बद्ध व्यावसायिक अर्थसुविधा-अर्थकठिनताओं की सदसत्-मीमांसा का अनुगमन नहीं किया है। दूसरे शब्दों में "यह वैदिक-वाङ्मयसाहित्य व्यापारानुगत आर्थिक-समतुलन की दृष्टि से कैसे अर्थलाभ का कारण बनेगा?" मीमांसा हमारे लिए सदा से असंस्पृष्ट ही रही है। यथासुविधा, यथावसर प्राप्त आर्थिक सहयोग से वाग्देवी के प्राणात्मक स्वरूप का प्रकाशनद्वारा मानस-स्वरूप प्रदान करते हुए वाग्देवी की मूकोपासना करते रहना ही जीवन का मुख्य लक्ष्य रहा है, जिस उपासना की सफलता का उत्तरदायित्व एकमात्र श्रीजगन्माता जगदम्बा से ही सम्बद्ध है, इसी सार्वत्रिक सममार्थिक आत्मनिवेदन के साथ प्रस्तुत सम्पादकीय उपरत हो रहा है।

भाद्रपदशुक्लप्रतिपत्
वि. सं. २०१८

विनयावनम्र-सम्पादक
मोतीलालशर्मा-भारद्वाज

श्री

महामांगलिक 'पितृस्वरूप' संस्मरण

स्तुत्यात्मक, तथा स्वरूपवर्णनात्मक





पितृस्वरूपवर्णनात्मिका नैगमिकस्तुति

१—ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावापृथिवी अनेहसा ।
पूषा नः पातु दुरिताद्‌ऋतावृधो रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत ॥

२—प्र वो महे महि नमो भरध्वमाङ्गूष्यं शवसानाय साम ।
येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञा अर्चन्तो अङ्गिरसो गा अविन्दन् ॥

३—त्वं सोम प्र चिकितो मनीषा त्वं रजिष्ठमनु नेषि पन्थाम् ।
तव प्रणीती पितरो न इन्दो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः ॥

४—अवन्तु नः पितरः सुप्रवाचना उत देवी देवपुत्रे ऋतावृधा ।
रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन ॥

५—नकिरेषां निन्दिता मर्त्येषु ये अस्माकं पितरो गोषु योधाः ।
इन्द्र एषां दृंहिता माहिनावानुद्गोत्राणि ससृजे दंसनावान् ॥

६—अस्माकमत्र पितरो मनुष्या अभि प्र सेदुर्ऋतमाशुषाणाः ।
अश्मव्रजाः सुदुघा वव्रे अन्तरुदुस्रा आजन्नुषसो हुवानाः ॥

७—अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुषाणाः ।
शुचीदयन् दीधितिमुक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन् ॥

८—स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः ।
चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतोवीरा उरवो व्रातसाहाः ॥

९—आ नः पवस्व वसुमद्धिरण्यवदश्वावद्गोमद्यवमत् सुवीर्यम् ।
यूयं हि सोम पितरो मम स्थन दिवो मूर्धानः प्रस्थिता वयस्कृतः ॥

१०—अरुरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः ।
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमा दधुः ॥

१—ऋक्सं० ६।७५।१० ॥ २—ऋक्सं० १।६२।२ ॥ ३—ऋक्सं० १।९१।१ ॥ ४—ऋक्सं० १।१०६।३ ॥ ५—ऋक्सं० ३।३९।४ ॥ ६—ऋक्सं० ४।१।१३ ॥ ७—ऋक्सं० ४।२।१६ ॥ ८—ऋक्सं० ६।७५।९ ॥ ९—ऋक्सं० ९।६९।८ ॥ १०—ऋक्सं० ९।८३।३ ॥

११—यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः ॥
१२—अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥
१३—अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन् ।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै ॥
१४—उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत्परीमं लोकं निदधन्मो अहं रिषम् ।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोतु ॥
१५—महिम्न एषां पितरश्चनेशिरे देवा देवेष्वदधुरपि क्रतुम् ।
समविव्यचुरुत यान्यत्विषुरैषां तनूषु नि विविशुः पुनः ॥
१६—द्विधा सूनवोऽसुरं स्वर्विदमास्थापयन्त तृतीयेन कर्मणा ॥
स्वां प्रजां पितरः पित्र्यं सह आवरेष्वदधुस्तन्तुमाततम् ॥
१७—य उदाजन् पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिन्दन् परिवत्सरे वलम् ॥
दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥
१८—ध्रुवा एव वः पितरो युगेयुगे क्षेमकामासः सदसो न युञ्जते ।
अजुर्यासो हरिषाचो हरिद्रव आ द्यां रवेण पृथिवीमशुश्रवुः ॥
१९—यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः ।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते तते ॥
२०—चाक्लृप्रे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे ।
पश्यन्मन्ये मनसा चक्षसा तान्य इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे ॥
२१—यो नः इन्दुः पितरो हृत्सु पीतोऽमर्त्यो मर्त्यां आविवेश ।
तस्मै सोमाय हविषा विधेम मृळीके अस्य सुमतौ स्याम ॥
—दीपकामनया स्तुत्या पितृभक्ता

११—ऋग्वे० १०।१४।२ ॥ १२—ऋग्वे० १०।१४।६ ॥ १३—ऋग्वे० १०।१४।९ ॥ १४—ऋग्वे० १०।१८।१३ ॥ १५—ऋग्वे० १०।५६।४ ॥ १६—ऋग्वे० १०।५६।६ ॥ १७—ऋग्वे० १०।६२।२ ॥ १८—ऋग्वे० १०।९४।१२ ॥ १९—ऋग्वे० १०।१३०।१ ॥ २०—ऋग्वे० १०।१३०।६ ॥ २१—ऋग्वे० ८।४८।१२ ॥

श्रीः

श्राद्धानुगत–पितृयशोवर्णनात्मिका–आगमस्तुति

१—श्राद्धात् परतरं नान्यत्–श्रेयस्करमुदाहृतम् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन श्राद्धं कुर्याद्विचक्षणः ॥

२—तस्माच्छ्राद्धं नरो भक्त्या शाकैरपि यथाविधि ।
कुर्वीत श्रद्धया तस्य कुले कश्चिन्न सीदति ॥

३—आचारमाचरेच्चत्र पितृमेधाभिधं नरः ।
आयुषा–धन–पुत्रैश्च वर्द्धते नैव संशयः ॥

४—आयुः–पुत्रान्–यशः–स्वर्गं–कीर्तिं–पुष्टिं–बलं–श्रियम् ।
पशून्–सौख्यं–धनं–धान्यं–प्राप्नुयात् पितृपूजनात् ॥

५—अरोगः प्रकृतिस्थश्च चिरायुः पुत्र–पौत्रवान् ।
अर्थवानर्थभोगी च श्राद्धकामो भवेदिह ॥

६—परत्र च परां पुष्टिं लोकांश्च विपुलान् शुभान् ।
श्राद्धकृत् समवाप्नोति यशश्च विपुलं नरः ॥

७—ब्रह्मे–न्द्र–रुद्र–नासत्य–सूर्या–ग्नि–वसु–मारुतान् ।
विश्वेदेवान्–ऋषिगणान्–वयांसि–मनुजान्–पशून् ॥

८—सरीसृपान्–पितृगणान्–यच्चान्यद् भूतसंज्ञकम् ।
श्राद्धं श्रद्धान्वितः कुर्वन् तर्पयत्यखिलं जगत् ॥

९—धनं–वेदान्–भिषक्–सिद्धिं–कुप्यं–गा–अप्यजाविकम् ।
अश्वाना–युश्च–विधिवद्यः श्राद्धं सम्प्रयच्छति ॥

१०—कृत्तिकादिभरण्यन्तं स कामानाप्नुयादिमान् ।
आस्तिकः श्रद्दधानश्च पितॄन् श्राद्धेन तर्पिता ॥

११—आयु–प्रज्ञां–धनं–विद्यां–स्वर्गं–मोक्षं–सुखानि च ।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः ॥

१२—यद्यद् ददाति विधिवद् सम्यक् श्रद्धासमन्वितः ।
तत्तत् पितृभ्यो भवति परत्रानन्त्यमक्षयम् ॥

१३—वसुरुद्रादितिसुता पितरः श्राद्धदेवताः ।
प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितॄन् श्राद्धेन तर्पिताः ॥
१४—कर्म्मनिष्ठास्तपोनिष्ठाः पञ्चाग्निर्ब्रह्मचारिणः ।
पितृमातृपराश्चैव ब्राह्मणाः श्राद्धसम्पदः ॥
१५—पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ।
उपासते सुतं जातं शकुन्ता इव पिप्पलम् ॥
१६—सन्तानवर्द्धनं पुत्रमुद्यतं पितृकर्म्मणि ।
देवब्राह्मणसम्पन्नमभिनन्दन्ति पूर्वजाः ॥
१७—नन्दन्ति पितरस्तस्य सुवृष्टैरिव कर्षकाः ।
यद्गयास्थो ददात्यन्नं पितरस्तेन पुत्रिणः ॥
१८—नित्यं नैमित्तिकं काम्यं वृद्धिश्राद्धमथापरम् ।
पार्वणं चेति विज्ञेयं श्राद्धं पञ्चविधं बुधैः ॥
१९—कन्दमूलफलैर्वापि कर्त्तव्यं पितृतर्पणम् ।
अन्यथा दारुणं शापं दत्त्वा यान्ति बुभुक्षिताः ॥
२०—दिवसस्याष्टमे भागे मन्दी भवति भास्करः ।
स कालः कुतपो ज्ञेयः पितॄणां दत्तमक्षयम् ॥
२१—एवं सन्तर्पिताः कामैस्तर्पकांस्तर्पयन्ति च ।
ब्रह्म–विष्णु–शिवा–दित्य–मित्रा–वरुण–नामभिः ।

——स्मृतयः, पुराणानि च

——•——

राजर्षिमनुसम्मत श्राद्धानुगतपितृस्वरूपोपवर्णनम्

१—यस्मादुत्पत्तिरेषां सर्वेषामप्यशेषतः ।
ये च येषूपचर्याः स्युर्नियमैस्तान्निबोधत ॥
२—मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः ।
तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ॥
३—विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः ।
अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः ॥

४—दैत्यदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
सुपर्णकिन्नराणाञ्च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः ॥

५—सोमपा नाम विप्राणां, क्षत्रियाणां हविर्भुजः ।
वैश्यानामाज्यपा नाम, शूद्राणां च सुकालिनः ॥

६—सोमपास्तु कवेः पुत्राः हविष्मन्तोऽङ्गिरसः सुता ।
पुलस्त्यस्याज्यपा पुत्राः, वसिष्ठस्य सुकालिनः ॥

७—अग्निदग्धानग्निदग्धान् काव्यान् बर्हिषदस्तथा ।
अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत् ॥

८—य एते तु गणा मुख्याः पितॄणां परिकीर्त्तिताः ।
तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥

९—राजतैर्भाजनैरेषामथो वा रजतान्वितैः ।
वार्य्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते ॥

१०—दैवाद्यन्तं तदीहेत पित्राद्यन्तं न तद्भवेत् ।
पित्राद्यन्तं त्वीहमानः क्षिप्रं नश्यति सान्वयः ॥

११—अवकाशेषु चोक्षेषु नदीतीरेषु चैव हि ।
विविक्तेषु च तुष्यन्ति दत्तेन पितरः सदा ॥

१२—यद्यद्ददाति विधिवत् सम्यक् श्रद्धासमन्वितः ।
तत्तत् पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥

१३—वसून् वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान् ।
प्रपितामहांस्तथादित्यान्, श्रुतिरेषा सनातनी ॥

१४—दैवकार्य्याद् द्विजातीनां पितृकार्य्यं विशिष्यते ।
दैवं हि पितृकार्य्यस्य पूर्वमाप्यायनं श्रुतम् ॥

—मनुस्मृतिः

—— + ——

मात्स्यमत्स्य—(पुराण)—सम्मत पितृगणस्वरूपवर्णनम्

पितॄणां सम्भवं राजन् ! कथ्यमानं निबोध मे ॥
पूर्वं प्रजापतिर्ब्रह्मा सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ॥ १ ॥
ध्यायमानस्य सम्यात्मन्यात्मा मनसा यदि ॥
इत्वा परमकं ब्रह्म ध्यायन् सर्व्वेषु रूपके ॥ २ ॥

तस्यात्मनि तदा योगं गतस्य परमेष्ठिनः ॥
तन्मात्रा निर्ययुर्देहाद् धूमवर्णरुचित्विषः ॥ ३ ॥
'पिबाम' इति भाषन्तः सुरां सोममिवोऽसकृत् ॥
ऊर्ध्वं दिशमपि प्रान्तो वै अथ तस्यास्तपस्विनः ॥ ४ ॥
तान् दृष्ट्वा सहसा ब्रह्मा तिर्यक्कर्णस्यास्तदोद्धतान् ॥
भवन्तु पितरः सन्तु सर्वेषां गृहमेधिनाम् ॥ ५ ॥
ऊर्ध्ववक्त्रास्तु ये तत्र ते नान्दीमुखसंज्ञिताः ॥
इत्युक्त्वा तु तदा ब्रह्मा तेषां पन्थानमाकरोत् ॥
दक्षिणायनसंज्ञन्तु पितृयानन्तु पितामहः ॥ ६ ॥
तूष्णीं ससर्ज भूतानि तमूचुः पितरस्ततः ॥
वृत्तिं नो देहि भगवन् ! यथा विन्दामहे सुखम् ॥ ७ ॥

ब्रह्मोवाच

अमावास्यादिनं वोऽस्तु तस्यां कुश–तिलो–दकैः ॥
तर्पिता मानुषैस्तृप्तिं परां गच्छत नान्यथा ॥ ८ ॥
पिता देयास्तथैतस्यामुपोष्य पितृभक्तितः ॥
परमं तस्य सन्तुष्टाः परं यच्छत मा चिरम् ॥ ९ ॥



प्रवर्तन्त वराः कश्चिद्देवानां सोमवर्द्धनाः ॥
ते मरीच्यादयः पुत्राः सप्त स्वर्गे ते पितरः स्मृताः ॥ १० ॥
चत्वारो मूर्तिमन्तो वै त्रयस्तेषाममूर्तयः ॥
तेषां लोकनिसर्गञ्च विस्तरेण निबोध मे ॥ ११ ॥
धर्ममूर्तिधरास्तेषां त्रयोऽन्ये परमा गणाः ॥
तेषां नामानि लोकांश्च कीर्तयिष्यामि तच्छृणु ॥ १२ ॥
लोकाः सन्तानकाभाष यत्र तिष्ठन्ति भास्वराः ॥
अमूर्तय पितृगणास्ते च पुत्रा प्रजापतेः ॥१३॥
विराजस्य प्रजाः श्रेष्ठास्त 'वैराजा' इति स्मृताः ॥
देवानां पितरस्ते हि तान् यजन्तीह देवता ॥१४॥
एते वै लोकविभ्रष्टा लोकान् प्राप्य सनातनान् ॥

पुनर्युगसहस्रान्तेषु जायन्ते ब्रह्मवादिनः ॥१५॥
ते प्राप्य तां स्मृतिं भूयः सिद्धियोगमनुत्तमम् ॥
चिन्त्ययोगगतिं शुद्धां पुनरावृत्तिदुर्लभाः ॥१६॥
एतेऽस्मिन् स्थिरः श्राद्धे योगिनां योगवर्द्धनाः ॥
आप्यायितास्तु ते पूर्वं येऽपि योगबल रताः ॥१७॥
तस्मात् श्राद्धानि देयानि योगिनां योगिसत्तमैः ॥
एष वै प्रथमः सर्गः सोमपानमनुत्तमः ॥१८॥
एते त पञ्चजनयो वर्धन्ते द्विजसत्तमाः ॥
भूर्लोकवासिनां याज्या भुवर्लोकनिवासिन ॥१९॥
स्वर्गलोके मरीच्याद्यास्तेषां याज्या महर्गताः ॥
कल्पवासिकर्मजानां तपामपि जन स्थिताः ॥२०॥
सनकाद्यास्तसम्बेषां वैराजास्तपसि स्थिताः ॥
तेषां सत्यगताः प्रोक्ता इत्येषा पितृसन्ततिः ॥२१॥

सप्तधा सप्तलोकेषु आदिमन्वन्तरक्रिया ॥
अन्येषां वसवः साध्या रुद्रादित्याश्विनादिति ॥२२॥
अग्रत सर्वदेवानां साधारण्येन संस्थिताः ॥
अपरपरश्च तदुत्तमा इति सप्तविधा गणाः ॥२३॥
तेषां कन्यास्तु संजाता महती पितृसन्ततिः ॥
अग्निष्वात्ताश्च मारीचा वैराजा बर्हिसंज्ञिताः ॥२४॥
सुकाला नाम पितरो वसिष्ठस्य प्रजापते ॥
तेऽपि याज्याग्निमिवर्णैर्न शूद्रैश्च पृथक् कृतम् ॥२५॥
ब्राह्मणाद्यनुज्ञातः शूद्रः सम्यक् पितॄन् यजेत् ॥
न तु तस्य पृथक् सन्ति पितरः शूद्रजातयः ॥२६॥
सुरूपेणनस्य मतेन । न पश्यन्ति पितृष्वपि ॥
विप्रस्य शास्त्रदृष्ट्या तु पुराणानां च दर्शनात् ॥२७॥
एवं महापितृस्तुतिः शास्त्रैर्ज्ञात्वा पात्रसम्मतान् ॥
स्वयं सृष्ट्वा स्मृतिर्लोके पुत्रार्थं मयासा ततः ॥२८॥

पर निर्वाणमापन्नास्तेऽपि ज्ञानिन एव च ॥
वैश्यादीनां कश्यपाद्या वर्णानां वसवाश्च ॥२९॥
अविशेषाश्च विज्ञेया गन्धर्वाद्या अपि ध्रुवम् ॥
एष ते पैतृकः सर्ग उद्देशेन महामुने ।
कथितो नान्त एवास्य वर्षकोट्या हि दृश्यते ॥३०॥

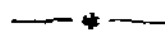


प्रीयतामनया पितृस्वरूपप्रथनात्मिकया पितृस्तुत्या भागवन्ता

सर्वान्त च—

यमो यम्रे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा "महो" स्तस्मै ते काम-
नम इत् कृणोमि ॥
– अथर्वसंहिता ६।२।१६।

दातारो नोऽभिवर्द्धन्तां, वेदाः—सन्ततिरेव च ।
श्रद्धा च नो मा व्यगमद् बहुदेयं च नोऽस्तु ॥
अन्नं च नो बहुभवेदतिथींश्च लभमहि ।
याचितारश्च नः सन्तु मा च याचिष्म कञ्चन ॥
गोत्रं नोऽभिवर्द्धन्ताम् ।



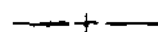
श्रीः

'आत्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथम खण्ड की

रेखाचित्र, एवं परिलेखसूची

तथा

संक्षिप्त-विषयसूची



अथ

भाष्यविज्ञानग्रन्थान्तर्गत–

'आत्मस्वरूपविज्ञानोपनिषद्' नामक प्रथम खण्डानुगत

चित्रसूची, एवं परिलेखसूची

[illegible]

समाप्ता चेयं—आत्मविज्ञानोपनिषन्नामकस्य
प्रथमखण्डस्य—परिलेख—चित्रसूची

—— x ——

परिलेखाः (रेखाचित्राणि)	८४—चतुरशीतिः	}—११४
चित्राणि (रङ्गमयानि चित्राणि)	३०—त्रिंशत्	

—— • ——

अथ

खण्डचतुष्टयात्मक 'आत्मविज्ञान' ग्रन्थान्तर्गत

'आत्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड की

संक्षिप्त विषयसूची

— × —

तस्मिन्नेतस्मिन् प्रथमखण्डे निम्नलिखितप्रकरणविभागा द्रष्टव्याः—

— स एष ८ प्रकरणात्मकः प्रथमखण्डः —

—१—

तेष्वेतेषु ८ प्रकरणेषु निम्नलिखिताः परिच्छेदाः निरूपिता द्रष्टव्याः –

समाप्तञ्चेदं नवपरिच्छेदात्मकं—'किमपि प्रास्ताविकम्'

—१—

समाप्ता चेयं २३ परिच्छेदात्मिका—

'अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्' प्रथमा (१)

—२—

समाप्ता चेयं ११ परिच्छेदात्मिका—

'अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्'—द्वितीया (२)

—३—

समाप्ता चेयं १३ परिच्छेदात्मिका

'यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्-तृतीया [३]

—४—

समाप्ता चयं १० परिच्छेदात्मिका—

विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्' -चतुर्थी [४]

—४—

समाप्ता चेयं १४ परिच्छेदात्मिका-

'महानात्मविज्ञानोपनिषत' पचमी [५]

—६—

समाप्ता चेयं ८६ परिच्छेदात्मिका—
प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्—षष्ठी

—७—

समाप्ता चेयं—आत्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' प्रथमा

१

समाप्तश्चायं—आत्मविज्ञान प्रथमखण्ड

१

सैषा संक्षिप्तविषयसूची समाप्ता

श्री

खण्डचतुष्टयात्मक—'श्राद्धविज्ञान' के—"आत्मविज्ञानोपनिषत्" नामक प्रथमखण्ड में प्रतिपादित कुछ एक वैज्ञानिक विषयों का दिग्दर्शन—(आदर्शात्मक)

केवल 'प्रस्तावना' के वैज्ञानिक विषयों की सूची

———×———

१—'किमपि प्रास्ताविकम्' नामक प्रथम प्रकरण के वैज्ञानिक विषय—पृ०सं० १से५८ पर्यन्त

—— ० ——

उदाहरणविधया–उद्धृत–'प्रस्तावना' मात्र के कतिपय वैज्ञानिक विषयों का दिग्दर्शन समाप्त

—— ० ——

अथ

'किमपि प्रास्ताविकम्'

'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक

प्रथमखण्ड की

प्रस्तावना

श्री

श्राद्धविज्ञानोपनिषद्ग्रन्थान्तर्गत-

'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक

प्रथमखण्ड

१

पितृन्नमस्ये निवसन्ति साक्षाद्ये देवलोके च तथान्तरीक्षे ॥
महीतले ये च सुरादिपूज्यास्ते मे प्रतीच्छन्तु मयोपनीतम् ॥१॥
पितृन्नमस्ये परमार्थभूता ये वै विमाने निवसन्त्यमूर्त्ता ॥
यजन्ति यानस्तमलैर्म्मनोभिर्योगीश्वरा क्लेशविमुक्तिहेतून् ॥ ॥
पितृन्नमस्ये दिवि ये च मूर्त्ता स्वधाभुज काम्यफलाभिसन्धौ ॥
प्रदानशक्ता सकलेप्सितानां विमुक्तिदा येऽनभिसंहितेषु ॥२॥

—श्रीमार्कण्डेयपुराणे

* श्रीवत्सपद्मात्मने नमः *

श्राद्धविज्ञान

(आत्मविज्ञानोपनिषत्)

प्रथम खण्ड

किमपि प्रास्ताविकम्

मङ्गलपाठः—

१—नि षु सीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किंचनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥

—ऋक्सं १०।११२।९

२—वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥

—तै ब्रा २।८।८।४

१—हे गणपते ! आप गणों में (मरुद्गणों, तथा स्तोतृगणों में) विराजिए, क्योंकि (विद्वल्लोग) आप ही को कवियों में श्रेष्ठतम मेधावी समझते हैं। आपके बिना आपके (अनुग्रह के) लौकिक, अथवा वैदिक, कोई भी कर्म्म नहीं किया जा सकता (इसलिए प्रत्येक कर्म्म के आरम्भ में आपका प्रथमस्मरण नितान्त अपेक्षित है)। हे मघवन् गणपते ! "त्रिवृत् (९), पञ्चदश (१५), सप्तदश (१७), एकविंश (२१), त्रिणव (२७), त्रयस्त्रिंश (३३)" इत्यादि विविध शस्त्रस्तोमों से युक्त, अतएव विद्वानों की दृष्टि में आदरणीय जो हमारा यह शस्त्रस्तोम (आत्मविज्ञान) है, उसे आप शीघ्र पूर्ण करने का अनुग्रह करें।

२—(१) "८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, २ अश्विनीकुमार" भेदभिन्न ३३ संख्या वाले आग्नेय देवदेवता, भूतप्राणदेवता (२) सौम्यदेवता, (३) कर्म्मदेवता, (४) आत्मदेवता, (५) अभिमानी देवता, (६) पुण्यशील श्रेष्ठ (मनुष्य) देवता (७) मन्त्रदेवता, (८) मात्रदेवता, ये अष्टविध देवता एकमात्र वाक्तत्त्व को आधार बना कर

१

७—श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
भद्रां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥
—ऋक् सं १ ।१५१।१

८—श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु॥
—ऋक् सं १ ।१५१।४

९—श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥
—ऋक् सं १ ।१५१।५

७—ऋत्विग्लोग अपने देवयज्ञ-कर्मों में श्रद्धा के द्वारा ही वीर-विष्ण्वग्नि का आकर्षण कर उसके समावेश से इस आहवनीयाग्नि का समिन्धन किया करते हैं, श्रद्धा से इस अग्नि में पुरोडाश प्राणदेवताओं के लिए आहुति दी जाती है, ऐसी श्रद्धा का जो कि ऐश्वर्य के शिरोभाग में (ऐश्वर्यात्मक श्रीमान् की प्रतिष्ठारूप सूर्य के ऊर्ध्वभाग में सौम्य परमेष्ठी में) प्रतिष्ठित है, मैं अपनी इस वाणी द्वारा (इस [illegible]-[illegible] निबन्ध-रचनाकर्म में) विस्तार कर रहा हूँ।

८—यज्ञकर्ता यजमान (मनुष्य), तथा पार्थिव अन्तरिक्ष से परम [illegible] विश्वप्राणात्मक देवता वायु से (वायुप्राण प्रजा आयुर्विद्या से) सुरक्षित रहते हुए (अपनी इस रक्षा के लिए प्राणप्रतिष्ठा [illegible]) इस श्रद्धा की ही उपासना किया करते हैं। सम्पूर्ण प्राणी हृदयानुविज्ञान मन के संकल्प से (संकल्पसिद्धि के लिए) इसी श्रद्धा की उपासना किया करते हैं। क्योंकि श्रद्धा से ही अभीष्ट-कामसिद्धि होती है, (अतएव हम इसी श्रद्धा का अनुगमन करते हैं)।

९—[illegible] अपने कर्मानुसार सम्प्रदायानुगत [illegible] में (प्रातः से सायं पर्यन्त) हम प्रातःसवनात्मक प्रातःकाल में भी इसी श्रद्धा की उपासना करते हैं, माध्यन्दिनसवनात्मक मध्याह्न में भी इसी श्रद्धा का अनुगमन करते हैं, एवं सायंसवनात्मक सूर्यास्तकाल में भी इसी का अनुगमन करते हैं। हे श्रद्धे! आप हमारे कर्मानुष्ठानों के प्रति हमें श्रद्धान्वित बनाइए (यही हम श्रद्धा से हमारी विनम्र प्रार्थना है)।

१०—प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः ।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥

—ऋक् सं १ ।१५१।२।

११—श्रद्धा देवानधिवस्ते "श्रद्धाविश्वमिदं जगत्" ।
श्रद्धां कामस्य मातरं हविषा वर्द्धयामसि ॥

—तै ब्रा २।८।८।५।

१२—पितरो मा विश्वमिदं च भूतं पृश्निमातरो मरुतः स्वर्काः ।
ये अग्निजिह्वा उत वा यजत्रास्ते नो दधतु सुहवा शर्म्म यच्छत ॥

—ऐ ब्रा ५।१।१।

१०—हे श्रद्धे ! दान देनेवालों के लिए तथा दान देने की इच्छा रखने वालों के लिए, दोनों के लिए आप अभीष्टफल प्रदान करें। हे श्रद्धे ! आप मेरा, मत्सम्बन्धी भोगार्थी बन्धुओं का, यज्ञकर्त्ता यजमानों का, उनका कल्याण करें (आपसे यही हमारी विनम्र प्रार्थना है)।

११—उक्त लक्षण यह सौम्य श्रद्धातत्त्व अपने सोमात्मक आहुतिभाव से तथा आग्नेय प्राणात्मक सकल देवदेवताओं का अनुगामी बना रहता है (श्रद्धारूप ही देवप्राण की अध्यात्म में प्रतिष्ठा होती है)। अपने आपोमय पारमेष्ठ्य 'भृगु' लक्षण स्वरूप से सौम्यसृष्टि की प्रवर्तिका भी यही श्रद्धा है एवं यज्ञाहुति-क्रम से सौम्यप्रतिष्ठ प्रजासृष्टि की मूलप्रभवा भी यही श्रद्धा है। अतएव यह सम्पूर्ण विश्व (स्थावर सृष्टि) भी श्रद्धामय है, एवं सम्पूर्ण जगत् (जङ्गमस्वरूप प्राणिसृष्टि) भी श्रद्धात्मक ही है। इसमस्त सौम्य मन में चान्द्रभावों द्वारा प्रतिष्ठित होती हुई यही श्रद्धा मानव कामनाओं की जननी है। ऐसी सर्वस्व इस श्रद्धा को यजमान हम (धार्यविज्ञानरूप) हवि-प्रदान द्वारा मैं समृद्ध कर रहा हूं।

१२—अग्निष्वात्त-सोमसद्-बर्हिषद्-नामक सौम्यपितर, आज्यपा-सोमपा-हविर्भुज्-नामक आग्नेयपितर, तथा 'सुकाली' नाम के अनुमयपितर मेरी, तथा सम्पूर्ण विश्व की रक्षा करें। सूर्य्यरश्मिगत पृश्नितत्त्व से उत्पन्न स्थिरप्राण-सहयोगी मरुद्देवता सर्वसिद्धि पूज्यनीय हैं, (क्योंकि इन्हीं के द्वारा पितृकर्म्म सम्पन्न होता है)। साथ ही अग्निद्वारा आहुतिग्रहण करने वाले 'हुताद्' देवता, तथा यजन 'अहुताद्' देवता दोनों सहयोगी मरुद्गणों के साथ एवं मरुद्गणसम्बन्धित सर्वविध पितरों के साथ प्रार्थना पूर्वक इस यज्ञकर्म्म में पधारें, आते हुए हमारे लिए सौख्यसम्पत्-अनामिकसुख प्रदान करें।

१२—आदापिधाना न कुली दन्तैः परिवृता पवि ।
सर्वस्मै वाच ईशाना चारु मामिह वादयेत् ॥
—ऐ आ १।२।५

श्रद्धा-संस्मरण—

जिस १'श्रद्धा' तत्त्व की आहुति से २'सोम' ३'वृष्टि' ४'अन्न' ५'रेतः' क्रम से पाँचवीं आहुति में पुरुषसृष्टि का विकास हुआ है *, जो 'श्रद्धा' तत्त्व अपने आपोमय रूप से सम्पूर्ण विश्व-तथा विश्वप्रजा का उपादान कारण है, जो 'श्रद्धा' तत्त्व त्रयीलक्षण सत्यमूर्त्ति प्रतिष्ठातत्त्व के साथ युक्त हो कर सम्पूर्ण विश्व की प्रतिष्ठा बना हुआ है, जिस 'श्रद्धा' तत्त्व की आहुति से दिव्यलोकस्थ प्राणदेवता अपने सत्य स्वराग्नि को समिद्ध रखने में समर्थ हो रहे हैं, द्युलोकस्थ सूर्य्य-केन्द्र से भू-केन्द्र पर्य्यन्त वितत जिस 'श्रद्धा' सूत्र के द्वारा द्युलोकस्थ प्राणदेवता तथा द्युलोकस्थ ('प्रयो' नामक द्युलोक में प्रतिष्ठित) पितर भूलोकस्थ यजमानों से प्रदत्त स्व-स्व आहुतिद्रव्य प्राप्त करने में समर्थ बन रहे हैं, जिस 'श्रद्धा' तत्त्व के आधार पर अग्नीषोमात्मक पाञ्चमहाभौतिक विश्व का स्वरूपसम्पादक आधिदैविक (प्राकृतिक) अग्नीषोमीय अग्निहोत्र प्रतिष्ठित है, जिस 'श्रद्धा' तत्त्व की अपनी स्वरूपरक्षा के लिए वायु से सुरक्षित (वायुमय-प्राणमय) देवता निरन्तर उपासना किया करते हैं जो 'श्रद्धा' हृदयस्थ मन में प्रतिष्ठित होती हुई सर्वविध कामनाओं की जननी बन रही है—जो श्रद्धा' अपने 'श्रत्' लक्षण सत्यधर्म्म से सत्यभाव की मूलप्रतिष्ठा बन रही है, जो 'श्रद्धा' सूत्र अपरपुरुषों के द्वारा में प्रतिष्ठित महानात्मा के द्वारा चन्द्रार्द्धभाग में प्रतिष्ठित प्रेत-परपुरुषों के महानात्माओं को तृप्त कर पिण्डदान द्वारा 'मातृकर्म्म' की मूलप्रतिष्ठा बन रहा है, जिस 'श्रद्धा' तत्त्व के-संस्काराभाव-अशिक्षा-कुशिक्षा-परशिक्षा-निषिद्धकर्म्मासु

११—कृमि-कीट-पक्षी-पशु-मनुष्य-यक्ष-गन्धर्व-पन्नग-पिशाच-रक्ष-पितर-ब्रह्म-प्रजापति आदि यावन्मात्र (चतु र्दशविध) भूतसर्गों के भक्ष्य अन्न की अधिष्ठात्री ('पितरो वाक्यमिच्छन्ति' के अनुसार पितृप्राणवर्द्धिनी), सामान्यरूप की भाँति ओजस्व से पुरस्कृत, शिरोहीन-अवयव वज्रसता रस रक्तसत्त्वि से मिली हुई रस वाली रस पात्र (पञ्चविधान-विधान) में तुल से मिश्र-श्रित-मित-रस-पानी का प्रयोग करता।

*—"इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' —छां उप ।५।९।

गमन-इत्यादि कारणों से-अभिभूत हो जाने के कारण मानववर्ग सत्यधर्म्म से विमुख से हो जाता है,—

वैदिक विज्ञान के अस्तप्राय हो जाने से, कुछ एक शताब्दियों से पुष्पित पल्लवित होने वाले वर्णाश्रमधर्म्मविरोधी 'सन्तमत' के आक्रमण से, आर्षधर्म्मविलुप्ति से, व्याजधर्म्मानुगामी अर्वाचीन धर्म्मभक्तों की काल्पनिक धर्म्मव्याख्याओं से, पराराज्यतन्त्रानुगता आर्षसंस्कृतिविरोधिनी परशिक्षा के प्रबल आक्रमण से, सर्वोपरि अचिन्त्याप्रमेय कालपुरुष की महिमा के अनुग्रह से श्रद्धानुगत श्राद्धतत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ, 'श्राद्धेतिकर्त्तव्यता' से एकान्ततः पराङ्मुख, भ्रान्त भारतीयों के मानसक्षेत्र में श्राद्धसूत्र प्रतिष्ठित करने के लिए 'श्राद्धविज्ञान निबन्ध' के आरम्भ में उसी विश्वरूपा 'श्रद्धादेवी' का संस्मरण करते हुए 'श्राद्धविज्ञान' आरम्भ किया जाता है।

ब्राह्म-अहोरात्र की एकोत्तरसप्तति (७१) चतुर्युगी में से प्रक्रान्त अष्टाविंशतितमा (२८ वीं) चतुर्युगी के सत्ययुग आरम्भ काल से कलियुग के आज के भोग्यकाल से लगभग ६०—७० वर्ष पहले तक भारतीय आस्तिक आर्षप्रजा का 'श्राद्धकर्म्म के सम्बन्ध में जो श्रद्धा विश्वास था, दुर्भाग्य से इन अतीत ६०—७० वर्षों से किसी एक आकस्मिक कलिवात्याहित झञ्झावात से वह शिथिल हो गया। फलत

आर्षप्रजाभिमत श्राद्धकर्म्म—

'देवकार्य्याद् द्विजातीनां पितृकार्य्यं विशिष्यते' के अनुसार अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमासादि लक्षण देवकार्य्य से भी कहीं विशेष महत्त्व रखनेवाला पिण्डपितृयज्ञात्मक पितृकार्य्य परप्रत्ययनेय कतिपय महाशयों की दृष्टि में अश्रद्धेय बन गया, जिसका दुष्परिणाम सङ्ग-दोष से आस्तिक-श्रद्धालु प्रजावर्ग को भी भोगना पड़ रहा है। आर्षप्रजा का श्राद्धकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता के सम्बन्ध में शास्त्राभिमत जो चिरन्तन श्रद्धा विश्वास है उसका निम्न लिखित शब्दों में अभिनय किया जा सकता है—

"स्थूलशरीर परित्यागानन्तर आतिवाहिक-अङ्गुष्ठमात्र-सूक्ष्मशरीर धारण कर—'ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति, चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' (कौषीतकि० उप० १।२।र) इत्यादि कौषीतकि सिद्धान्तानुसार प्रेत संज्ञक 'प्रत्यगात्मा' (भोक्तात्मा) कर्म्मफल भोगने से पहले एक बार चान्द्रसम्वत्सरात्मक १२ महीनों में चन्द्रलोक में पहुंचता है। इसके साथ साथ ही आकृति-प्रकृति-अहंकृतिमाय-त्रयी का अधिष्ठाता सत्त्व-रज-तमागुणक चतुरशीति (८४) कल सूक्ष्म-घनात्मक पितृय-महःपिण्डों से नित्ययुक्त, शुक्रप्रतिष्ठ पितर संज्ञक 'महानात्मा' भी स्वप्रभव चन्द्रलोक के ऊर्ध्व भाग में उसी एक चान्द्रसम्वत्सर में प्रतिष्ठित हो जाता है।

उत्तरायणानुगता स्वर्गलोकगति, तथा दक्षिणायनानुगता नरकलोकगति दोनों आत्मगतियों के विभाजक, अतएव 'एतद्वै लोकस्य द्वारं, यच्चन्द्रमाः' (कौ० उप० १।२।३) इस श्रुति के अनुसार 'द्वार' (उभयलोकद्वार) नाम से प्रसिद्ध चन्द्रमा में जब प्रत्यगात्मा, तथा महानात्मा, दोनों प्रेतात्मा पहुँच जाते हैं, तो अनन्तर महानात्मा तो स्वप्रतिष्ठास्वरूप पितृपूर्ण भाग में ही प्रतिष्ठित रह जाता है, एवं कर्मभोक्ता प्रत्यगात्मा शुभाशुभ-कर्मफल भोगार्थ शुभाशुभ उत्तर दक्षिण-मार्गों में से किसी एक मार्ग को स्वगति का निमित्त बनाता हुआ 'यथा कर्मगतिं गत' के अनुसार लोकान्तरानुगामी बन जाता है।

परलोकात्मक चन्द्रलोक में प्रतिष्ठित पिता पितामह-प्रपितामहादि के महानात्मा ही प्रेत पितर कहलाए हैं। इन्हें ही मृतपितर कहा गया है। इन मृतपितरों के लिए, दूसरे शब्दों में परलोकगत प्रेतसंज्ञक स्वर्गरागों के लिये श्रद्धापूर्वक पिण्डदान करना ही श्राद्धकर्म है। इस सम्बन्ध में आर्यप्रजा का यह दृढ़ विश्वास है कि, शास्त्रोक्त पद्धति से पुत्र-पौत्रादि वंशजों के द्वारा प्रदत्त पिण्ड-रस इन्द्रियातीत श्रद्धा-सूत्र द्वारा परलोकस्थ पितृ-पितामह-प्रपितामहादि की तृप्ति का कारण बनता है। प्रदत्त पिण्डरस (प्राणात्मकरस) से सबल बनता हुआ प्रेतात्मा पार्थिवाकर्षणजनित दुःख से मुक्त अपनी 'अनुभुक्ता'वस्था को छोड़ता हुआ सुखपूर्वक चन्द्रलोक में पहुँच कर सापिण्ड्यभाव को प्राप्त हो जाता है। 'गयाकाशा' से सम्बन्ध रखनेवाले कन्यागत-महालय-श्राद्धपक्ष में तत्तत् प्रेतपितरों की तत्तन्मिथन-तिथियों में पुत्रादि द्वारा सम्पादित पिण्डदानादिलक्षण श्राद्धकर्म से तत्तत् प्रेतपितर प्रतिवर्ष तृप्त हुआ करते हैं। श्राद्धाम से तृप्त पितर श्रद्धासूत्र द्वारा भूपिण्डस्थ स्व-पुत्रादि के शुक्रस्थ पित्र्यसह-पिण्डात्मक महानात्मा में जीवनीय-सन्ततिवितानात्मक पित्र्यरस का आधान करते रहते हैं। इस आहित रस से प्रजातन्तुवितान अक्षुण्ण बना रहता है फलतः वंशोच्छेद का अवसर नहीं आने पाता। जो अभिनिविष्ट परलोक जाते हुए तथा परलोक में पहुँचे हुए प्रेतपितरों के निमित्त पिण्डदानादि लक्षण श्राद्धकर्म नहीं करते, उनके प्रेतपितरों के पित्र्यसह पिण्ड क्षीण हो जाते हैं। उनके क्षीण हो जाने से तदभिन्न तत्पुत्रादि के शुक्र में प्रतिष्ठित महानात्मा के पित्र्यसह पिण्ड क्षीण हो जाते हैं, शुक्र निष्फल हो जाता है। यही पिण्डक्षय इनके वंशोच्छेद का एक अन्यतम कारण बनता है। इस वंशोच्छित्ति के साथ साथ बुभुक्षित पितरों के अभिशाप से ये लोक-समृद्धि से भी वञ्चित रहते हैं। अतएव आवश्यक है कि, प्रजातन्तुवितान के लिये तथा प्रेतात्मा को तृप्त कर इस तृप्ति के द्वारा उभयविध सौख्य प्राप्ति के लिये प्रत्येक श्रद्धालु श्रद्धा-नुसार परिग्रहों का संग्रह कर यथाविधि पिण्डदानादि लक्षण श्राद्धकर्म का अनुगमन करता

रहे। पिण्डदानादि लक्षण श्राद्धकर्म के इन्हीं अतिशयों का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है—

१—स्वर्गं-ह्यपत्य-मोजश्च शौर्य्यं-क्षेत्र-बलं तथा।
पुत्र-श्रैष्ठ्य च-सौभाग्य-समृद्धि-मुख्यतां शुभाम्॥
२—प्रवृत्तचक्रतां चैव वाणिज्यप्रभृतीनपि।
अरोगित्वं यशो वीतशोकतां परमां गतिम्॥
३—धन वेदान् भिषक्सिद्धिं कुप्य गा अप्यजाविकम्।
अश्वानायुश्च विधिवद्य श्राद्ध सम्प्रयच्छति॥
४—कृत्तिकादि-भरण्यन्त स कामानाप्नुयादिमान्।
आस्तिक श्रद्दधानश्च व्यपेतमदमत्सर॥
५—वसुरुद्रादितिसुता पितर श्राद्धदेवता।
प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितॄन् श्राद्धेन तर्पिता॥
६—आयु, प्रजां, धन, विद्यां, स्वर्गं, मोक्ष, सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्य प्रीता नृणां पितामहा॥'

—याज्ञवल्क्यस्मृति आ धा १।

"गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिक" इस लोकसूक्ति से सम्बन्ध रखने वाली प्रचलित परिपाटी के अनुसार ग्रन्थारम्भ करने से पहिले उसकी आवश्यकता के सम्बन्ध में भी कुछ निवेदन कर देना आवश्यक हो जाता है। इसी आवश्यकता का अनुभव करते हुए हमें इस सम्बन्ध में नाप्राप्त अप्रिय सत्य को लक्ष्य बनाते हुए निबन्ध रचना-कारणत्रयी का स्पष्टीकरण करना पड़ रहा है। इन तीनों कारणों में से प्रथम कारण की ओर ही विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

विषय की आवश्यकता तथा तत्सम्बन्ध में प्रथम कारण निर्देश—

श्राद्धकर्म्म के आर्षप्रजाभिमत स्वरूप के सम्बन्ध में पूर्व में जो कुछ कहा गया है, धार्मिक जगत् सदा से इसी वक्तव्य का अनुगमन करता आ रहा है। पिण्डदानादि-लक्षण श्राद्धकर्म की वैदिकता में इसे कभी सन्देह नहीं हुआ। परन्तु विगत अष्टशताब्दी से इस आवश्यकतम वैदिक कर्म्म के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के ऊहापोह होने लगे हैं। यों तो ऐसे ऐसे पराक्

विषयों के सम्बन्ध में साधारण-अज्ञजनों को सदा से ही व्यामोह होता चला आ रहा है, फलस्वरूप भारतीय आर्षधर्म्मानुगता (सनातनधर्म्मानुगता) आर्षप्रजा को सदा से ही सामयिक धर्म्मविप्लवों का सामना करना पड़ता आ रहा है। तथापि वर्त्तमान शताब्दी का धर्म्मविप्लव अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। साथ ही विगत शताब्दियों में परमतवादियों के धर्म्म पर जितने भी आक्रमण हुए हैं उन सब की अपेक्षा आज का आक्रमण अपेक्षाकृत कहीं अधिक भयावह बन रहा है। कारण यही है कि, आज तक इस मानवधर्म्म पर केवल बाह्य आक्रमण हुआ था दूसरे शब्दों में अब तक सनातनधर्म्म को विधर्म्मियों का ही सामना करना पड़ा था, परन्तु दुर्भाग्य से आज इसे स्वधर्म्मानुयायियों के ही आक्रमण का लक्ष्य बनना पड़ रहा है, एवं इसी दृष्टि से यह आक्रमण अतीत आक्रमणों की तुलना में कहीं अधिक बन रहा है। इस धार्म्मिक विप्लव के जहां अन्यान्य कई एक सामान्य कारण हैं, वहां यदि हम भूल नहीं कर रहे तो महर्षि स्वामी दयानन्दजी ही एक मुख्य कारण माने जा सकते हैं। 'अनृतसंहिता वै मनुष्याः' (शत० १।१।१।१) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जन्मतः अनृतसंहित होते हैं, स्वप्रमत्त मूल के अनुग्रह से भ्रान्ति हो जाना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म्म है। अतीतानागतज्ञ विविक्तेन्द्रियज्ञ साक्षात्कृतधर्म्मा महर्षियों की दिव्य दृष्टि जहां सर्वथा निर्भ्रान्त होती है वहां केवल बाह्यदृष्टि के अनुगामी सामान्य मनुष्य इन्द्रियातीत विषयों के सम्बन्ध में केवल अपनी बाह्यदृष्टि के आधार पर 'इदमित्थमेव' निर्णय करने में सर्वथा असमर्थ हैं। यदि वे स्वकल्पना के आधार पर इन परोक्ष विषयों के सम्बन्ध में हठात् कुछ निर्णय करने की अनधिकार चेष्टा करने लगते हैं तो उन की यह चेष्टा आप्तप्रजा की दृष्टि में सर्वथा भ्रान्त, अतएव अप्रामाणिक ही उद्घोषित होती है। तत्त्वतः स्वामीजी मनुष्य थे उनके पास ऋषिदृष्टि का आत्यन्तिक अभाव था। अतएव अपनी विशुद्ध बाह्यदृष्टि के आधार पर उन्होंने बाह्यजगत् से सम्बन्ध रखने वाली सामाजिक त्रुटियों के प्रति जहां हिन्दू-जाति का उपकाराभास किया वहां अपने मानव सुलभ अनार्ष अनुतभाव के कारण वेदशास्त्रसिद्ध धार्म्मिक-दार्शनिकतथ्यताओं के (वेदसिद्ध प्रतिमापूजन अवतारवाद श्राद्ध षोडशसंस्कार, आदि के) सम्बन्ध में सर्व वेदशास्त्र को ही आधार बना कर अपनी विशुद्ध-अनार्ष-अनुतभावापन्ना-कल्पना के आधार पर कुछ एक ऐसी भयङ्कर भूलें कर डाली हैं, जिनके प्रभाव से क्रियात्मक सनातनधर्म्म का एक प्रकार से गला घुट गया है। यह कौन जानता था कि, प्राच्य आर्षधर्म्म, आर्षसंस्कृति आर्षसभ्यता, आदि प्राच्यविभूतियों के जन्मप्रकाश को अपने बाह्यचिन्तन युक्त पाश्चात्यप्रकाश से अभिभूत करने वाले पाश्चात्यशिक्षात्मक सौभाग्यसूर्य्य को पूर्णरूपेण विकसित होने के लिए एक भारतीय वेदभक्त

ब्राह्मण के ही द्वारा इस प्रकार का सुपरिपक्व धरातल उपलब्ध हो जायगा। आत्मपरमात्मसत्ता ज्ञान से वञ्चित, प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाले वेदविरोधी चार्वाक लोग अज्ञानवशात्—

"मृतानामिह जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पना॥"[1]

इत्यादि जिन कुतर्कमूलक कारणाभासों को सामने रखते हुए 'पिण्डदानादिलक्षण' श्राद्धकर्म्म का उपहास किया करते हैं, स्वामीजी ने उसी चार्वाकमूलक नास्तिकवाद जैसे अपन्यवाद का पोषण करते हुए मृतपितृनिमित्तक पिण्डदानादिलक्षण श्राद्धकर्म्म का खण्डन करने का दुस्साहस किया है। चार्वाकमत की समालोचना करते हुए, उक्त श्लोक को चार्वाक मत में उद्धृत करते हुए, चार्वाक के इस कथन की पुष्टि करते हुए उत्तरपक्ष में आगे जाकर स्वामीजी कहते हैं—'ब्राह्मणों ने प्रेतकर्म्म अपनी जीविकार्थ बना लिया है, परन्तु वेदोक्त न होने से खण्डनीय है' (देखिये—सत्यार्थप्रकाश १२ स०। चा० मतमीमांसा २१ वां संस्करण २६४ पृ०, ८ वीं पंक्ति)।

इसी प्रकार आर्यसभ्यता के अनन्य पक्षपाती, अनुद्वेगकरी ऋषिभाषा के अपने आप को प्रबलपोषक मानने वाले, किन्तु उसी चार्वाकमतमीमांसा में सुप्रसिद्ध वेदव्याख्याता श्रद्धेय महीधरादि वेदभाष्यकारों के प्रति—'जो भांड धूर्त निशाचरवत् महीधरादि टीकाकार हुए हैं, उनकी धूर्तता है, वेदों की नहीं' (सत्या० २६४ पृ०।१० ११ पंक्तियाँ) इस प्रकार की अशिष्ट-असभ्य-भाषा का प्रयोग करते हुए शिष्टतम उन्हीं स्वामीजी ने अपने विश्वविख्यात 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' नामक ग्रन्थरत्न में पञ्चमहायज्ञान्तर्गत पितृयज्ञ का निरूपण करते हुए अपने निम्न लिखित वेदशास्त्रसम्मत—नहीं विशुद्ध वेदशास्त्रसम्मत !—उद्गार प्रकट किए हैं—

"तस्य (पितृयज्ञस्य) द्वौ भेदौ स्तः—एकस्तर्पणाख्यो, द्वितीयो श्राद्धाख्यश्च। तत्र येन कर्म्मणा विदुषो देवान् पितॄंश्च तर्पयन्ति, सुखयन्ति, तत्तर्पणम्। तथा यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते, तच्छ्राद्धं वेदितव्यम्। तत्र विद्वत्सु

---

[1]—मरे हुए प्राणियों की तृप्ति का साधन यदि श्राद्ध (श्राद्धकर्म्म में मृतपितरों के लिए प्रदत्त पिण्डादिदान) है, तो विदेशयात्रा करने वाले जीवित प्राणियों के लिए पाथेय (मार्ग का भोजन) की कल्पना व्यर्थ है। फिर तो जिस द्वार से परलोकगत मृतप्राणियों को भोजन पहुँचा दिया जाता है, उसी द्वार से विदेशस्थ प्राणियों को भी तृप्त किया जा सकता है।

विद्यमानेष्वेतत् कर्म्म सम्भवति, नैव मृतकेषु। कुत। तेषां प्राप्त्यभावेन सेवनाशक्यत्वात्। तदर्थकृतकर्म्मणः प्राप्त्यभाव इति व्यर्थापत्तेश्च। तस्माद्विद्यमानाभिप्रायेणैतत् कर्म्मोपदिश्यते। सेव्यसेवकसन्निकर्षात् सर्वमेतत् कर्तुं शक्यते" (ऋ० भा० भू० पितृयज्ञविषय)।

उक्त निदर्शन से प्रकृत में बतलाना यही है कि, जन्मानुगता जाति के अनुग्राहक परम्परा प्राप्त शुभसंस्कारों की कृपा से 'श्राद्ध' शब्द से तो स्वामीजी का प्रेम अवश्य है। परन्तु वेद-तत्त्वानभिज्ञतानुगत स्वाभाविक अनृतसंस्कार के अनुग्रह से श्रुति-स्मृतिशास्त्रसम्मता पिण्डदानादि-लक्षण मृत-प्रेतात्मानुगता चिरकाल से चली आन वाली श्राद्धेतिकर्तव्यता से आप सहमत नहीं हैं। एवं इस अपनी अमान्यता की मान्यता के सम्बन्ध में मुख्य कारण आप यह बतला रहे हैं कि "वेदशास्त्र में श्राद्ध का विधान नहीं है"। शास्त्राभिमत तर्क (सु) से सम्बन्ध रखने वाले वाद का अनुगमन 'वादे वादे जायते तत्त्वबोध' के अनुसार जहां तत्त्व निर्णायक माना गया है वहां शास्त्रविरुद्ध तर्क (कु) से सम्बन्ध रखने वाला वाद दूर से ही प्रणम्य है। अतएव ऐसे खण्डन-मण्डनात्मक वाद से हमारे अन्तर्जगत् का कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रतिपाद्य विषय का युक्ति, तर्क, विज्ञान सर्वोपरि आप्तप्रमाण के आधार पर प्रतिपादन कर देना ही हमारे कर्तव्य की इतिकर्तव्यता है। ऐसी दशा में स्वामीजी के श्राद्धकर्म-विषयक अशास्त्रीय कल्पित सिद्धान्ताभास का इस विज्ञानप्रधान-शास्त्रीय निबन्ध में उल्लेख करना यद्यपि सर्वथा असामयिक, साथ ही कुछ एक अभिनिविष्ट सन्मित्रों के लिए खटकने वाला था तथापि किसी कारण विशेष से ही हमें इस निबन्ध-रचना-कारण-निदर्शन में ऐसे अभिप्र

---

१ "पितृयज्ञ के तर्पण और श्राद्ध नामक दो भेद हैं। जिस कर्म्म से (मनुष्य) विद्वानों, देवताओं, ऋषियों, तथा पितरों को तृप्त करते हैं उन्हें सुख पहुंचाते हैं, वह सुख कर्म्म तर्पण है। एवं जिस कर्म्म से श्रद्धापूर्वक उनकी सेवा की जाती है उसे श्राद्धकर्म्म समझना चाहिए। यह कर्म्म जीवित पितर आदि के सम्बन्ध में ही उपपन्न है मर चुकों के लिए नहीं। कारण। मृत पितर जब हैं ही नहीं तो उनकी सेवा करना उनके लिए किए गए कर्म्म की उनके न रहने से व्यर्थता भी है। इसलिए श्राद्ध, तर्पण का उपदेश विद्यमान (जीवित) पितरों के लिए ही हुआ है। इस स्थिति में सेवक, और सेव्य (स्वामी) के सामने रहने से (विद्यमान रहने से) सेवादि सब काम चरितार्थ हो सकते हैं।"

सत्य का आश्रय लेना पड़ा है। वेदशास्त्रसम्मत आर्षधर्म्म से विरोध रखने वाले चार्वाकादि नास्तिक ही यदि पिण्डदानादिलक्षण श्राद्धकर्म्म के विरोधी होते, तो कोई हानि न थी। क्योंकि उन की सहजसिद्धा आसुरी बुद्धि सदा से ही शाश्वत देवासुरसंग्राम की भांति दिव्य कर्म्मों के साथ प्रतिद्वन्द्विता करती आई है। हानि की क्या कथा, उस परिस्थिति में तो श्राद्धविज्ञान का रचनाप्रयास भी अनावश्यक था। परन्तु जब हम अपने ही समाज में, अपनी ही जाति में श्राद्धकर्म्म के सम्बन्ध में विरोध पाते हैं, दूसरे शब्दों में एक ही वेदशास्त्र को प्रमाणाधार मानने वाला धार्मिक जगत् ही जब श्राद्धकर्म्म के सम्बन्ध में अपना विभिन्न दृष्टिकोण रखता है तो उस परिस्थिति में–'एकस्मिन् धर्म्मिणि विरुद्धनानाकोट्यवगाहि ज्ञानं संशयः' [1] इस लौकिक न्याय के अनुसार साधारण तटस्थ जिज्ञासु मनुष्य सन्देह में पड़ जाते हैं।

अपने आपको 'सनातनधर्म्मावलम्बी' कहने वाले आर्य-महानुभाव भी श्राद्धकर्म्म को वैदिक कर्म्म मान रहे हैं, एवं तदनुसार अनुगमन कर रहे हैं। उधर अपने आप को 'आर्यसमाजी' उद्घोषित करने वाले महाशय-गण भी श्राद्ध की वैदिकता में यथाकथञ्चित् निष्ठा रख रहे हैं। मानते दोनों हैं, परन्तु इस मान्यता के प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न भिन्न हैं। एक (स०) कहते हैं—'मृतपितरों के लिए पुत्रादि का श्राद्धयज्ञ द्वारा पिण्डप्रदान करना श्राद्ध है'। दूसरे (आ०) कह रहे हैं—'जीवित पितरों को अन्न-वस्त्रादि से श्रद्धापूर्वक तृप्त करना ही श्राद्ध है'। निर्विवाद है कि, इस मतविरोध ने किंवा धर्म्म (सनातनधर्म्म), तथा मत (आर्यमत) की प्रतिस्पर्द्धा ने आज जनसाधारण को संशयापन्न बना रक्खा है। इस गृहकलह, किंवा दो मतों के पारस्परिक मतकलह को शान्त करने के लिए ही इस निबन्ध की आवश्यकता समझी गई है।

हमारा यह विश्वास ही नहीं, अपितु दृढ़ निश्चय है कि, यदि पाठकों ने शोधदृष्टि से भी एकबार 'श्राद्धविज्ञान' निबन्ध को आद्योपान्त पढ़ने का कष्ट उठाया तो उनके श्राद्ध-कर्म्म सम्बन्धी सम्पूर्ण सन्देह दूर हो जायँगे। अज्ञानता ही मतभेद की जननी है, मतभेद ही सामाजिक संघठन का विच्छेदक है, समाजविच्छेद ही राष्ट्रीय निर्बलता का प्रवर्तक है, एवं निर्बल राष्ट्र ही सर्वस्वविघातिका परतन्त्रता के पाश में बद्ध होता है, जिस का प्रत्यक्ष निदर्शन

---

१ "एक ही धर्म्मी, भिन्न धर्म्मों में स्थाणु, तथा पुरुषत्व अनेक विरुद्ध धर्मों का जब दर्शन हो जाता है, तो ऐसी दशा में 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्याकारक सन्देह उत्पन्न हो जाता है"।

आज का परतन्त्र भारतवर्ष है। 'हम ज्ञानबल एवं अनुग्रह से निष्पक्षपात बनते हुए यथार्थस्थिति पर पहुँच कर परस्पर का विरोध छोड़ दें, विरोध-परिहार द्वारा अपने असङ्घटित समाज को सुसङ्घटित बनाते हुए स्वातन्त्र्यप्रदान करने के अधिकारी बनें' भाष्यविज्ञान-रचना की कारणत्रयी में यही प्रथम कारण निदान है।

द्वितीय कारण निदर्शन—

पाञ्चभौतिक विश्व में जितने भी अहम् प्राणी हैं, उन सब में 'मनुष्य' प्राणी का स्थान सर्वोच्च माना गया है। इस सर्वोच्चता का एकमात्र कारण यही है कि, अन्य अहम्-प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य में ज्ञानशक्ति विशेष मात्रा में विकसित रहती है। इसी ज्ञानशक्ति के प्रभाव से अपने से कहीं अधिक बल-वीर्य्य-शाली सिंहादि हिंसक प्राणियों पर भी यह अपने ज्ञानानुगत पराक्रम से अपना प्रभुत्व जमा लेता है। किंबहुना स्वज्ञानबल से ही इसने विश्व की समस्त चर-अचर विभूति को अपना भोग्य बना रक्खा है। ज्ञानशक्ति ही पुरुष का पुरुषत्व है, ज्ञानविहीन पुरुष पुच्छविषाणहीन पशु है। जिस प्रकार सर्वविदसि-कायात्मक, वैश्वानर हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्त्ति ईशप्रजापति अपने ज्ञानबल से सम्पूर्ण विश्व का भोक्ता बन रहा है, एवमेव ईश्वरसंस्था में भुक्त सर्वव्यापक ईश्वरांशों का प्रवर्ग्यरूप से अपनी अध्यात्मसंस्था में संग्रह करता हुआ—'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' (शत० १ कां ८ अ ।१ क ।) इत्यादि ब्राह्मणश्रुति के अनुसार प्रजापति के समकक्ष बन कर यह पुरुष सर्वत्र स्वसत्ता को व्याप्त किए हुए है।

यद्यपि सृष्टि-विज्ञानानुसार पुरुष में जन्म से ही इतर प्राणियों की अपेक्षा ज्ञानशक्ति का आधिक्य रहता है, तथापि इसके पूर्ण विकास के लिए शिक्षाशास्त्र का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक हो जाता है। ऊर्ध्व-प्ररोहित होने की जन्मतः शक्ति रखते हुए भी वृक्षादि जैसे जलसिञ्चन के बिना विकसित नहीं हो सकते, एवमेव बिना शास्त्रशिक्षा के जन्मतः प्रतिष्ठित भी ज्ञानशक्ति का विकास असम्भव है। अशिक्षित मनुष्य की ज्ञानशक्ति मुकुलित रहती है, मेघाच्छन्न सूर्यवत् इसकी स्वज्ञानरश्मियों का प्रसार अवरुद्ध रहता है। जो दशा एक पशु की है, वही दशा एक यथाजात अशिक्षित मनुष्य की है। कर्त्तव्यविवेकशून्य ऐसे मनुष्य की दृष्टि किसी पूर्ण (वास्तविक) तत्त्व की ओर न जा कर शून्य (निरर्थक) भावों की ओर ही मुहुर्मुहुः आकर्षित होती रहती है, अतएव (मुहुर्मुहुरनुगता शून्यसमनुस्थिता एक दृष्टि से) ऐसा अशिक्षित यथाजात 'मूर्ख' कहलाया है।

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना आवश्यक होगा कि, मनुष्य जैसी शिक्षा का आश्रय लेता है, उसका इन्द्रियावच्छिन्न मन एवं तत्प्रतिष्ठिता बुद्धि दोनों का विकास तदनुरूप ही होता है।

शिक्षा मनुष्य के हृदय जगत् का निर्माण करनेवाला एक अव्यर्थ-यन्त्र है। भारतवर्ष ने अपनी आर्षसभ्यता-संस्कृति-साहित्य-के विकासकाल से आरम्भ कर अद्यावधि अनेक आक्रमणों का सामना किया। उदाहरण के लिये वेदविरोधी-बौद्धमत को ही लीजिये। शताब्दियों तक बौद्धसंस्कृति की छत्रच्छाया में रहता हुआ भी भारतवर्ष अपनी वैदिक-संस्कृति से पराङ्मुख न हुआ। इसका एकमात्र कारण था शिक्षायन्त्र पर उसका अपना आधिपत्य'। यही कारण था कि, बौद्धमत में दीक्षित 'देवानांप्रिय' प्रियदर्शी सम्राट् अशोक की राजसभा में जो सम्मान बौद्धभिक्षुओं को प्राप्त था, वही सम्मान आर्षधर्म्मानुयायी ब्राह्मणों को प्राप्त हुआ। अपने प्रबल तर्कवाद से नास्तिकों के युक्तिवाद का समूल विनाश कर विलुप्तप्राय आर्षधर्म्म को पुनः स्थापित करनेवाले भगवान् शङ्कराचार्य, प्रातःस्मरणीय कुमारिलभट्ट, श्रद्धेय मण्डनमिश्र, जगदीश्वर के प्रति—

'ऐश्वर्य्यमदमत्तो हि मामवज्ञाय वर्त्तसे।[1]
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः॥'

इस प्रकार की गर्वोक्ति का प्रयोग करनेवाले, अपने सुप्रसिद्ध 'कुसुमाञ्जलि' ग्रन्थ द्वारा ईश्वर सत्ता के संस्थापक तर्कशास्त्रपारङ्गत सर्वश्रीउदयनाचार्य, आदि कई एक महापुरुषों को उसी परम्परासिद्ध-स्वशिक्षा सन्तान के बल पर तत्कालीन भारतवर्ष ने जन्म दिया। आगे जाकर दुर्भाग्य से इस आर्षसंस्कृति को यवनमत का सामना करना पड़ा। यह आक्रमण बौद्ध आक्रमण से कहीं भयङ्कर सिद्ध हुआ। कला के अन्यतम शत्रु नरराक्षसों ने कला को विध्वस्त किया देवप्रतिमाएं तोड़ी गईं देश का मौलिक साहित्य अग्निज्वाला को समर्पित करने में

---

१ ऐसी किंवदन्ती है कि, एक बार उदयनाचार्य श्रीजगदीश के दर्शनार्थ पधारे। उनकी यह प्रबल इच्छा थी कि, जगदीशविग्रह (मूर्ति) उन्हें साक्षात्‌रूप से दर्शनों का सौभाग्य प्रदान करे। अनेक बार मानसिक प्रार्थना करने पर भी जब उन्हें साक्षात् दर्शन न हुए, तो अन्त में आवेश के कारण उनके मुख से निकल पड़ा कि—"हे जगदीश! आज तू अपने ऐश्वर्य के मद में पड़ कर मेरा तिरस्कार (उपेक्षा) कर रहा है। परन्तु तुम्हें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि, जब बौद्धलोग तेरी सत्ता (ईश्वर सत्ता) उखाड़ने के लिए सामने आते हैं, तो उस समय तेरी सत्ता मेरे अधीन रहती है। अर्थात् मैं न रहूं तो संसार तुम्हें मानना छोड़ दे। सुनते हैं-भक्त की इस झुंझलाहट से निकली हुई भक्तिपूर्ण अन्तर्वेदना के बल से भगवत्प्रतिमा ने साक्षात्‌रूप से उदयनाचार्य को दर्शन दिए।

सहायक बनाया गया आर्य्यललनाओं का सतीत्व छीना गया, अबोध बच्चे जीवितदशा में ही दीवारों में चुना दिए गए। यह सभी कुछ अकाण्ड ताण्डव हुआ, परन्तु सौभाग्य से इस युग में भी आततायियों की दृष्टि से हमारा शिक्षायन्त्र यथाकथञ्चित् बचा रह गया। फलतः इस युग में भी हमारी मौलिक सभ्यता इस आक्रमण का महत्व में सर्वात्मना समर्थ हो गई। प्रतिभासम्पन्न कवियों के अतिरिक्त वर्णाश्रमधर्म्मात्मक आर्यधर्म्म के अनन्य समर्थक महात्मा तुलसीदास, भक्तप्रवर सूरदास, भक्तश्री सन्त तुकाराम, समर्थ रामदासस्वामी, श्रीज्ञानेश्वर महाराज, ऋषिवर कबीर, आदि महापुरुषों ने उसी भयावह युग में उसी शिक्षा गुण से इस देश को अलंकृत किया। स्वनामधन्य हम्मीर, प्रताप, छत्रसाल, शिवाजी, गुरुगोविन्दसिंह, आदि क्षत्रियवीरों ने अपनी इसी आर्यशिक्षा के बल से यवनों की प्रबल-शक्ति को छिन्न भिन्न किया और इस प्रकार 'स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः परधर्म्मो भयावहः' भारत की अनुगामिनी आर्यप्रजा ने इस अवलम्बन से पुनः मुक्तिलाभ प्राप्त कर लिया। परन्तु ।

इस परन्तु का अतीत इतिहास सभी इतिहासों की सीमा का अतिक्रमण करने वाला सिद्ध हुआ। यवन के लिए यवनाक्रमणजनित भय से हमारा त्राण करने वाले, अतएव हमारे परम हितैषी पाश्चात्य महानुभावों की किसी शुभ मुहूर्त में भारतवसुन्धरा के वक्षःस्थल पर पादप्रतिष्ठा हुई। जिस प्रकार सम्गोलकल्योग से किंवा वज्रविद्युत् के आघात से समस्त भूपिण्ड कम्पित हो जाता है, उसी प्रकार इन परमहितैषियों के आकस्मिक पदाघात से भारतवसुन्धरा कम्पित हो उठी। कहना नहीं होगा कि, यह आक्रमण पूर्व के दोनों आक्रमणों से कहीं भयङ्कर था। परम राजनीतिज्ञ लार्ड मेकॉले महोदय ने भारतवर्ष की पावनभूमि पर पाश्चात्य शिक्षा-प्रसार के साधनभूत भवननिर्म्माण की मूलभित्ति (नींव) रखने के अनन्तर स्वदेश (इंग्लैण्ड) वासी अपने किसी बन्धु को निम्नलिखित आशय का एक पत्र प्रेषित किया था—

'मित्र ! आज मैंने भारतवर्ष में ऐसा विद्यालय स्थापित कर दिया है, जिस में शिक्षा ग्रहण करने वाले भारतीय आचार, व्यवहार, सभ्यता, आदि में सर्वात्मना यूरोपियन बन जायँगे। रह जायँगे केवल नाममात्र के लिए भारतीय'

सचमुच उस दूरदर्शी राजनीतिज्ञ की वह भविष्यवाणी आगे जाकर सर्वथा चरितार्थ हुई। पाश्चात्यशिक्षा ने भारतीय नवयुवकों का हृदय और का और ही बना दिया जो कि हृदयस्थान

सभ्यता, संस्कृति, जातीयता, आदि सब भावों की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। इन शिक्षालयों में अपनी आयु के सारभाग की आहुति देने वाले, अपने अन्नदाता-अभिभावकों की सञ्चित सम्पत्ति का सदुपयोग (?) करने वाले हमारे इन नवयुवकों ने प्रतिफल में प्राप्त क्या किया? श्रूयताम्!

'तुम्हारे पूर्वज निरे जङ्गली थे, विज्ञानशून्य थे, असभ्य थे, अग्नि-वायु-सूर्य आदि जड़ पदार्थों के पूजक थे। जो कुछ भी उन्नति हुई है, इसी युग में एकमात्र हमारे अनुग्रह से ही हुई है। खाना, पीना सोना उठना, चलना, फिरना, वेशभूषा धारण करना सभ्य समाज में बैठ कर सभ्यता का बर्त्ताव करना, आदि सम्पूर्ण मानवधर्म्मों (सभ्यताओं) के प्रथम प्रवर्त्तक एकमात्र हम ही हैं। हमने तुम्हें पशु से मनुष्य बनाया है, हमने तुम्हारे देश की अराजकता दूर की है, जो अराजकता तुम्हारे यहाँ आने से आज तक दूर न हुई थी। हाँ स्मरण रखना भारतवर्ष तुम्हारी प्रातिस्विक सम्पत्ति नहीं है। तुम लोगों ने बाहिर (पामीर) से आकर इस देश पर अपना अधिकार जमा लिया है (इसलिए आज हम भी अपने अपूर्व गुण-बल से इस पर अपना अधिकार प्रतिष्ठित करने में कोई आपत्ति नहीं समझते।।!)। तुम्हारा धर्म्म ब्राह्मणों की स्वार्थलीलामात्र है। इसी अवैज्ञानिक कल्पित धर्म्म के अनुगमन से आज तक तुम उन्नति से वञ्चित रहे। अब इस हमारे शिक्षा-साम्राज्य के आश्रय से तुम्हें जीवन की सफलता का अनुभव होगा।

आचार-व्यवहार में परतन्त्रता का आदेश देने वाली, किन्तु विचारस्वातन्त्र्यप्रदान करने वाली, अतएव मानवीयमन के विकास की अनन्य साधनभूता भारतीय आर्षशिक्षा'की प्रतिद्वन्द्विता में राजनीति का बाना पहिन कर उपस्थित होने वाली पाश्चात्यशिक्षा ने आर्षशिक्षा से ठीक विपरीत अपना दृष्टिकोण बनाया। इस ने आचार-व्यवहार में पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की तथा विचारों में पूर्णरूप से परतन्त्र बना डाला। आचार-व्यवहार की स्वतन्त्रता से एक ओर जहाँ हमने भारतीय आचार-व्यवहारों का एकान्ततः परित्याग कर प्रतीच्यदेशाभिमत आचार-व्यवहारों का अनुगमन करते हुए स्वेच्छितरूप से अपने आपको परतन्त्र बना डाला वहाँ दूसरी ओर स्वविचारपारतन्त्र्य से उन्हीं के विचारों का अनुगमन करते हुए हमने अपने आध्यात्मिक जगत् को भी परतन्त्रता के निविड़पाश में बद्ध कर डाला। इस प्रकार बाह्य तथा अन्तः, उभयथा हम परतन्त्र बन गए। आज न हमारे पास अपने आचार-व्यवहार हैं, न अपने विचार। उभयविध दासता से आज हमें अपनी अतीत स्मृतियाँ भी मिथ्या प्रतीत होने लगी हैं। इस प्रकार वर्त्तमान शिक्षायन्त्र के अनुग्रह से आज हम स्व भाव से एकान्ततः विदूर पहुँच चुके हैं, एवं यही वर्त्तमानशिक्षा की सब से बड़ी देन है।

आचार-व्यवहारपारतन्त्र्यगर्भिता विचारस्वातन्त्र्यवासिता स्वतन्त्रता मानवीय मन का जन्मसिद्ध अधिकार है। संसार की कोई भी आसुरीशक्ति (भौतिकबल) अधिक समय तक इस पर अपना अधिकार नहीं रख सकती। फलतः चरमसीमा पर पहुँच कर भारतीयराष्ट्र ने भी करवट बदली, और देश ने एक स्वर से सत्याग्रहात्मका मातृभूमि का यशोगान आरम्भ किया। परन्तु एक सब से बड़ी भूल, हां सब से बड़ी भूल उन गायकों ने कर डाली अथवा तो चिरकाल से विकृत संस्कारों के अनुग्रह से स्वतःएव वह भूल हो पड़ी। जिनकी हृत्तन्त्री से स्वतन्त्रता का मधुझङ्कार विनिर्गत हुआ उनकी हृत्तन्त्री पूर्वकथनानुसार शिक्षाताप से आक्रान्त थी। मलिन दर्पण से विनिर्गत रश्मियाँ जिस प्रकार स्वस्वरूप से स्वच्छ-शुभ्र रहतीं हुई भी संसर्गदोष से मलिन रहती हैं, एवमेव परशिक्षाक्रान्ता हृत्तन्त्री से विनिर्गत स्वतन्त्रता का निनाद भी कालान्तर में परतन्त्रता का ही साधक सिद्ध हुआ। इस परतन्त्र्यवासिता स्वतन्त्रता का पहिला मुख्यप्रहार उस आर्षसम्पत्ता पर ही हुआ जिस की रक्षा ही एतद्देशीय स्वातन्त्र्य का बीजमन्त्र है।

आज भारतवर्ष में स्वतन्त्रता की लहर 'वीचितरङ्ग न्याय से सर्वत्र' प्रवाहित है। आबाल-वृद्ध-वनिता सभी स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहते हैं। इस प्रकार देश आज स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए व्यग्र हो रहा है। परिणामस्वरूप वर्त्तमान राज्यसत्ता के साथ असहयोग किया जा रहा है, तत्प्रदत्तानीय विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार हो रहा है। 'सुस्वागतम्' ! ! ! । परन्तु साथ साथ स्वतन्त्रता के अनन्यपोषक आर्षधर्म का तदनुगामिनी आर्यशिक्षा का उपहास करना भी परमपुरुषार्थ माना जा रहा है। 'महद् दास्यम्' ! ! ! । सबत्र एक स्वर से यही सुनाई पड़ रहा है कि,—हमारे पतन का हमारी परतन्त्रता का एकमात्र कारण हमारा धर्म (सनातनधर्म), तथा तत्प्रवर्त्तक-पोषक-समर्थक ब्राह्मण ही है। दासभावरूप सहशिक्षा विधवा विवाह आदि का धर्मविरुद्ध उद्घोषित करने वाले स्वार्थमूलक इसी सनातनधर्म ने एवं तत्पोषक स्वार्थी पण्डितों ने ही समाजस्वरूप का मूलोच्छेद करते हुए राष्ट्र-पारतन्त्र्य का बीज वपन किया है'। कलकत्ता में होने वाली कांग्रेस में देश के एक प्रमुख व्यक्ति ने तो यहां तक आगे बढ़ने का दुस्साहस कर डाला था कि,—'जब तक इन शास्त्रों को अग्नि में नहीं डाल दिया जायगा, तब तक देश कभी स्वतन्त्र न हो सकेगा'।

भगवान् चतुर्मुख ब्रह्मा ने लोक, प्रजासृष्टि निर्माण के लिए सबसे प्रथम वेदराशि का आविर्भाव किया। सहसा वेदराशि को छीन कर असुर पाताल में जा छुपे। वेदराशि के बिना सृष्टिक्रम अवरुद्ध हो गया। अन्ततोगत्वा भगवान् विष्णु को मत्स्यावतार धारण कर वेदराशि का उद्धार करना पड़ा। एवं तब कहीं ब्रह्मा विश्वनिर्माण कर्म में समर्थ हो सके। इस प्रकार

आर्षदृष्टिकोण से जो आर्षशास्त्र (वेदशास्त्र) न केवल भारतवर्ष का ही अपितु सम्पूर्ण त्रैलोक्य का स्वरूपरक्षक बन रहा है, उसे अभिभूत करके स्वतन्त्रता का आह्वान करने वाले ये स्वतन्त्रतावादी क्या प्रलयकाल को निमन्त्रण नहीं दे रहे ? जिस आर्षशास्त्रसिद्ध यज्ञकर्म के बल से देवताओं ने असुरों का परास्त कर अपनी विलुप्त स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त की, वही आर्षशास्त्र आज इन स्वतन्त्रताप्रेमियों की दृष्टि में अनन्य बाधक प्रतीत होता हुआ क्या 'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः' को चरितार्थ नहीं बना रहा ?

स्वतन्त्रता-प्रेमियों की वह कौन सी सभा न होगी जहां आर्षशास्त्र, तत्प्रवर्तक ऋषिगण, तन्मूलक सनातनधर्म्म, तत्पोषक पण्डितवर्ग, तदनुगामिनी आर्षप्रजा का अवाच्यवादों से सत्कार (?) न किया जाता हो ? साथ ही आर्षधर्म्मपोषक विद्वानों को-'पुराणपन्थी'-'रूढ़ियों के गुलाम'-'स्वतन्त्रता के शत्रु' आदि सदुपाधियों से विभूषित न किया जाता हो ! आज तो यह धर्म्मविरोध यहां तक बढ़ गया है कि, जिन देश के सर्वमान्य नेताओं का अपना प्रधान लक्ष्य एकमात्र असहयोगानुगमन था, वे भी इसी ओर सर्वतोभावेन झुक गए हैं। पवित्र देव मन्दिरों में अवरवर्णों का बलात्कार से प्रवेश कराने में, उनके हित-व्याज से धारासभाओं (Legislative Assembly) में राजनियम (Law) बनवाने में ही आज हमारे इन देश नेताओं की सम्पूर्ण शक्ति का अपव्यय किंवा निरर्थक श्रम हो रहा है। यह सब अकाण्डताण्डव क्यों हो रहा है ? उत्तर एकमात्र वही शिक्षातन्त्र। वर्त्तमान शिक्षा ने आर्षप्रजा के दिव्य संस्कारपुञ्ज को आवृत कर लिया है। आज हमारे स्वत्व (बिम्ब) का स्वरूप दूषित हो गया है। दूषित स्वत्व से दूषित अर्क (मनोभावनाएं) निकल रहे हैं। स्वसंस्कृतिरक्षक आर्षशास्त्र (वेदशास्त्र) ज्ञान से एकान्ततः शून्य, शास्त्रसिद्ध-मनःसंस्कारस्वरूपनिर्म्मापक आहार विहारादिलक्षण आचार पारतन्त्र्य का सर्वथा तिरस्कार करने वाले, धर्मलोप को गुप्त पक्ष में स्थापित करनेवाले, सर्वोपरि यावज्जीवन परशिक्षास्रोत में प्रवाहित रहने वाले महानुभावों के स्वत्व से यदि उक्त प्रकार के धर्म्म विरोधी अर्क निकलें, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। वर्चस्व-तेजोयुक्त ज्ञानबल ही हमारे अन्तर्जगत का 'स्व' भाग है, एवं 'स्व तन्त्र' से सम्बन्ध रखने वाली आचार-व्यवहार पारतन्त्र्यगर्भिता विचारस्वातन्त्र्यमूला स्वतन्त्रता ही 'स्व-तन्त्र' (आत्मतन्त्र) को सुरक्षित रखने वाली वास्तविक स्वतन्त्रता है, जिस की मूलप्रतिष्ठा एकमात्र

---

१ अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥ (मनु ५।४)

आप्तशास्त्र, तथा तदनुगामिनी आर्षशिक्षा ही मानी गई है। आर्षशिक्षानुगत ज्ञानबल ही ब्रह्मबल है, (ज्ञानगुप्ति से) ओजपूर्ण बना हुआ कर्मबल ही क्षत्रबल है, ब्रह्म-क्षत्र (ज्ञान-कर्म) से सुगुप्त अर्थबल ही विड्बल है। जहाँ वर्तमान शिक्षा विशुद्ध अर्थतन्त्र को अपना प्रधान लक्ष्य बनाती हुई अर्थतामूलिका साम्राज्य लिप्सा का समर्थन कर रही है, वहाँ आर्षशिक्षा ब्रह्म के (ज्ञान के) आधार पर क्षत्र (कर्म) द्वारा विट् (अर्थ) का नियन्त्रण करती हुई धर्म, अर्थ काम मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का समन्वय कर रही है, एवं यही भारतीय आर्षशिक्षा की संक्षिप्त रूपरेखा है, जिसका अन्य निबन्धों में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। हमारा यह केवल विश्वास ही नहीं, अपितु दृढ़ निश्चय है कि, जब तक मानसिक दासता से देश उन्मुक्त नहीं हो जाता तब तक अन्य प्रयत्न सहस्रों से भी वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती। भारतीय दृष्टिकोण से मानसिक-दासता से त्राण पाने का एकमात्र उपाय है—अध्यात्ममूलिका सहजज्ञानशक्ति का विकास। ज्ञानशक्तिविकास का एकमात्र उपाय है—अध्यात्ममूला आर्षशिक्षा का अनुगमन जो आर्षशिक्षा एकमात्र आप्तशास्त्र (वेदशास्त्र) में एवं तन्मूलक स्मृति, पुराणादि इतर शास्त्रों में व्यवस्थित हुई है। जब तक तल्लक्षण आर्षशिक्षा का अनुगमन न किया जायगा तब तक स्वयं जगदीश्वर भी हमें स्वतन्त्र न बना सकेंगे। देश का सौभाग्य है कि,[1] देशनेता भी वर्तमान शिक्षा से आज संत्रस्त दिखाई देने लगे हैं। जैसा कि उपोद्घातस्वरूप द्वारा पूर्व में कहा गया है, नेताओं का ध्यान अभी केवलशिक्षा प्रणाली की ओर ही आकर्षित हुआ है। परन्तु वह प्रणाली कैसी हो? तथा शिक्षा कौन सी हो? इत्यादि प्रश्न अभी उनके लिए असमाधेय प्रश्नावली ही बन रही है।

व्यक्तित्वसंरक्षक स्वयुगत आचार, व्यवहार, सभ्यता संस्कृति शिक्षा साहित्य आदि को जलाञ्जलि समर्पित करते हुए अपनी मौलिक जातीयता को स्मृतिगर्भ में विलीन कर हमें

---

१ प्रस्तुत धर्मविज्ञान निबन्ध आज से १ वर्ष पहिले सम्पन्न हो गया था। उस समय शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध में आन्दोलन का जन्म ही हुआ था। अब इस सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण निश्चित हुआ है, वह तो आर्षसंस्कृति के लिए एक महा आपत्ति का कारण प्रतीत हो रहा है। जिस हिन्दी-तथा हिन्दुस्तानी को लेकर साहित्यिक क्षेत्र में आज एक महासंघर्ष उपस्थित हो रहा है, उस अप्रिय संघर्ष की जन्मदात्री 'वर्धा' क्षेत्र से निर्दिष्ट यह शिक्षा-प्रणाली तथा भारतीय संस्कृति को सर्वथा नष्ट करने की किसी भयंकर घातक की ओर से चली चले मैथली लेखनी की कलम से लिखे हुए हिन्दुस्तानीभाषामय शिक्षाग्रन्थ किस आर्षसंस्कृतिप्रेमी को क्षुब्ध नहीं कर रहे।

जो 'स्वतन्त्रता' प्राप्त होगी, उससे हमारा स्व-तन्त्र सुरक्षित रहेगा ? अथवा विनष्ट हो जायगा ? इन प्रश्नों की मीमांसा मुकुलितनयन बन कर उन स्वतन्त्रता प्रेमियों को ही करना चाहिए। 'हम हम बने रहें, और फिर स्वतन्त्रता प्राप्त करें' यही वास्तविक स्वतन्त्रता कहलाएगी। हमारी सामान्य दृष्टि में–'एक परतन्त्र अश्व का गर्धभ बनकर स्वतन्त्रता प्राप्त करने की अपेक्षा उसका अपने अश्वरूप से स्वतन्त्रता के लिये प्रयास करना कहीं अधिक श्रेय-पन्था है'। अस्तु, इस पराधिकार चर्चा करने का न तो हमें अधिकार ही है, न योग्यता ही है। प्रस्तुत वक्तव्य से निवेदन केवल यही करना है कि, जिस क्षण से हमारा शिक्षायन्त्र परायत्त बना है, उसी क्षण से हमारी परतन्त्रता का श्रीगणेश हुआ है। वर्त्तमान शिक्षाप्रणाली ने, शिक्षाप्रणाली में स्वीकृत वर्त्तमान ऐतिहासिक ग्रन्थों ने, वर्त्तमान (पाश्चात्य) विज्ञान के आधार पर समुद्भूत विविध आविष्कारों ने भारतीय प्रजा के मानस जगत् में इस विश्वास को दृढ़मूल बना दिया है कि, यदि उन्नति का कोई श्रेष्ठ मार्ग है, तो वह है एकमात्र पाश्चात्य शिक्षा ! पाश्चात्य सभ्यता !! पाश्चात्य आचार-व्यवहार !!!

वर्त्तमान शिक्षा की अप्रतिहतगति के अनुग्रह से हम अपने स्वरूप को भूल गए, आत्मविस्मृतिमूलक हमारे दुर्भाग्य का यह पहिला, तथा मुख्य कारण। भारतीय विद्वानों की अनन्य कृपा का प्रहार दूसरा कारण। आर्यसाहित्यमूला आर्यशिक्षा, आर्यशिक्षामूलक आर्यधर्म्म (वर्णाश्रम धर्म्म), आचार, व्यवहार, संस्कृति सभ्यता आदि ऐसे दृढ़ दुर्ग माने गए हैं, जिन्हें विश्व की कोई भी प्रबलशक्ति स्थानच्युत नहीं कर सकती। ऐसी स्थिति में प्रश्नोत्थान स्वाभाविक बन जाता है कि, जब कि हम अपनी अभेद्य आर्यप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित थे, तो आर्यप्रतिष्ठा की तुलना में सर्वथा अप्रतिष्ठित पाश्चात्यप्रतिष्ठा ने आर्यप्रतिष्ठा का आसन क्यों एवं कैसे छीन लिया ? यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि, अपनी निर्बलता ही पराक्रमण-साफल्य का प्रधान कारण है। अवश्य ही जिस युग में पाश्चात्यशिक्षा ने हमारे यहां का आतिथ्य ग्रहण किया हम अपनी आर्यशिक्षा को या तो भुला चुके होंगे, अथवा तो उसका व्याज से आचरण कर रहे होंगे। अन्यथा आगन्तुक परशिक्षाक्रमण कभी हमें अपनी आर्यशिक्षा-प्रतिष्ठा से च्युत नहीं कर सकता था।

हमारे उपदेशक विद्वान् अपने उपदेशों की प्रथम भूमिका में ही यह घोषणा करते हैं कि, 'पाश्चात्यशिक्षा के प्रभाव से भारतीय नवयुवकों का श्रद्धा विश्वास सनातनधर्म्मादर्शों से हट गया है'। इस सम्बन्ध में हमारे ये विद्वान् बन्धु यह भूल जाते हैं कि, पाश्चात्यशिक्षा के साथ साथ स्वयं हमारा भी इस अश्रद्धान में परोक्ष, तथा प्रत्यक्षरूप से पूर्ण सहयोग है। पहिले तो

हमारा उपदेश ही केवल वाचिक है, उस पर आर्षशास्त्र को हमने दूर से ही प्रणम्य मानते हुए अपने उपदेशों को और भी अधिक शून्य शून्य बना लिया है। कर्त्तव्य की प्रतिष्ठाभावना से भी वञ्चित, आर्षशास्त्र की सर्वथा उपेक्षा करने वाले, सर्वोपरि साम्प्रयिक सन्दमत (सम्प्रदायवाद) के अभिनिवेश से सम्पुटित ऐसे उपदेशों, तथा उपदेशक विद्वानों के रहते यदि पाश्चात्य शिक्षा स्वाक्रमण में सफल हो जाय, तो इस में क्या आश्चर्य है।

अङ्गीभूत आर्षशास्त्र (वेदशास्त्र) के रहस्य ज्ञान का अधिकार प्रदान करने के लिए जिन 'शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्यौतिष' इन ६ अङ्ग-शास्त्रों ने जन्म लिया था, कुछ एक शताब्दियों से भारतीय विद्वानों ने इन अङ्ग-शास्त्रों के, उनमें भी विशेषतः व्याकरण-शास्त्र के अध्ययनाध्यापन को ही प्रधानता दे रक्खी है। वेदाङ्ग-ज्योतिष का स्थान अयथासुरो पद्दिष्ट अर्वाचीन ज्योतिष ने ग्रहण कर रक्खा है। षडङ्गों में से शिक्षा कल्प, निरुक्त, छन्द, ये चारों अङ्गशास्त्र भी स्वल्पिरम में विलीन हैं। इसके अतिरिक्त काव्य-साहित्यादि ने भी अपनी प्रभुता प्रतिष्ठित कर रक्खी है। इस प्रकार ज्ञान-विज्ञानप्रधान अङ्गीभूत वेदशास्त्र का सर्वथा तिरस्कार कर नाममात्र के लिए अङ्गशास्त्र, विशेषतः काव्य-साहित्य परिशीलन में ही अपने सम्पूर्ण जीवन की आहुति देने वाला आज का विद्वत्समाज आर्यधर्म के मौलिकरहस्यज्ञान (उपपत्तिज्ञान) से सर्वथा पराङ्मुख हो रहा है। यदि विशेष अनुग्रह हुआ तो स्मृति-ग्रन्थों पर धर्म-परिशीलन की सीमा समाप्त मान ली जाती है। सम्भवतः हमारे इन मान्य विद्वानों से यह तिरोहित नहीं है कि, स्मृतिग्रन्थ केवल अनुशासक ग्रन्थ हैं। 'ऐसा करो, ऐसा न करो, अब करो, तब करो' इत्यादि रूप से तदनुपादेय कर्मों की विधि (आज्ञा) बतलाने वाला तथा तदनुपादेय शास्त्रविरुद्ध कर्मों का निषेध करने वाला विधि निषेधात्मक ग्रन्थ है। वहां आपकी-'ऐसा ही क्यों करें, ऐसा क्यों न करें' इन जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त नहीं हो सकता। कारण उपपत्ति बतलाना स्मृतिशास्त्र के अधिकार से सर्वथा बहिर्भूत है। यदि भूल से कोई स्मृतिशास्त्र से 'क्यों'? प्रश्न कर बैठता है तो वह 'नास्तिको वेदनिन्दकः' कह कर उसका तिरस्कार कर देता है।

बात यथार्थ है। प्रधान न्यायालय अपने कनिष्ठ अधिकारी (मातहत) को यह आज्ञा देता है कि, तुम इस आशय का एक आज्ञापत्र प्रजा में वितीर्ण कर दो कि, 'आज से एक सप्ताह पर्यन्त कोई भी व्यक्ति रात्रि के ११ बजे पीछे मकान से बाहिर न निकले। यदि कोई इस राजाज्ञा का उल्लङ्घन करेगा, तो वह दण्डनीय समझा जायगा'। आज्ञानुसार कनिष्ठ अधिकारी प्रजा में आज्ञापत्र वितीर्ण कर देता है। कोई भी व्यक्ति इस कनिष्ठ अधिकारी से जिसका

एकमात्र कर्त्तव्य है—प्रधान न्यायालय से निकले आज्ञापत्र का वितीर्ण कर देना—वह नहीं पूछता कि-'अमुक आज्ञापत्र क्यों निकाला गया, क्यों ऐसी आज्ञा दी गई ?'। यदि कोई मूर्खतावश पूछ बैठता है, तो इसे यही उत्तर मिलता है कि-'मैं नहीं जानता, प्रधान न्यायालय से पूछो'। ठीक यही परिस्थिति श्रुति-स्मृतिशास्त्रों के सम्बन्ध में समझिए। श्रुतिशास्त्र अपनी अपौरुषेयता के सम्बन्ध से स्वतः प्रमाण बनता हुआ जहां प्रधान न्यायालय है, वहां स्मृतिशास्त्र 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्' के अनुसार श्रौत आज्ञाओं का अनुवदन करता हुआ कनिष्ठ अधिकारी है। वेदविहित (वेदाज्ञासिद्ध) धर्म्म का आदेशमात्र देना ही उसके अपने अधिकारक्षेत्र की अन्तिम सीमा है। यदि इस से कोई जिज्ञासु सद्भावना से उपपत्तिज्ञान के सम्बन्ध में प्रश्न करता है, तो वह उत्तर देता है—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्म्मज्ञानं विधीयते।
धर्म्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥

—मनु २।१३।

तात्पर्य्य मनुवचन का यही है कि, "जिन्हें धर्म्म के धर्म्मलक्षण उपपत्तिज्ञान-रहस्यज्ञान की जिज्ञासा है, उन्हें वेदशास्त्र का ही स्वाध्याय करना चाहिए। वहीं से प्रत्येक स्मार्त्त-धर्म्मविधि के 'क्यों ?' का समाधान प्राप्त हो सकेगा'। जैसा कि निवेदन किया गया है, भारतीय विद्वानों ने वेदार्थ के अध्ययनाध्यापन से अपने आपको उदासीन बना रक्खा है। व्याकरणादि का सामान्य ज्ञान प्राप्त कर इधर उधर की कुछ एक स्मृतियों का आलोडन विलोडन कर ऐसे ही अर्द्धदग्ध महानुभाव देश के धर्म्माचार्य्य बने हुए हैं। संशय करना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म्म है। साथ ही जब तक संशयनिवृत्ति नहीं हो जाती, तब तक संदिग्ध विषय पर श्रद्धा एवं विश्वास का उदय भी सम्भव नहीं है। एक ऐसा नवयुवक, जिसने यावज्जीवन पाश्चात्य-शिक्षा का अनुगमन किया हो जिसे प्रत्येक विषय युक्ति-तर्क-विज्ञान के आधार पर ही समझाए गए हों तब तक स्वधर्म्म सिद्धान्तों पर कभी पूर्ण श्रद्धा नहीं कर सकता जब तक कि उसे धर्म्म का वैज्ञानिकरहस्य युक्ति-तर्क द्वारा नहीं समझा दिया जाता। स्वयं मनुभगवान् ने भी 'यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म्मं वेद नेतरः' (मनु १२।१०६) इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में वेदार्थोपयोगी तर्कवाद को धर्म्मपरिज्ञान के सम्बन्ध में एक आवश्यक साधन स्वीकार किया है।

नवशिक्षा-दीक्षित एक नवयुवक स्वभावतः उत्पन्न सन्देह निवृत्ति के उद्देश्य से जिज्ञासा रूप से धर्म्माचार्य्यों की सेवा में विनीतभाव से अथवा तो अपने स्वाभाविक उच्छृङ्खलभाव

से पहुँचता है, और प्रश्न करने लगता है कि—"भगवन्। मृतप्राणियों को निमित्त बनाकर श्राद्धकर्म क्यों किया जाता है? हजारों कोस दूर बैठे प्राणी (पितर) ब्राह्मणभोजन से क्यों कर तृप्त हो जाते हैं? पूर्व शरीर को छोड़ कर प्राणी जब तत्काल नवीन शरीर धारण कर लेता है, तो ऐसी अवस्था में श्राद्ध किस की तृप्ति के लिए किया जाता है? एक के उत्पन्न होने से, तथा एक के मर जाने से हम जात-मृत के सभी वैराग्र अशुद्ध क्यों मान लिए जाते हैं"। उत्तर में हमारे आचार्य महोदय शास्त्रीय (स्मार्त्त) प्रमाण उद्धृत करते हुए—"शास्त्र ऐसा आदेश देता है, इसलिए ऐसा ही करना न्याय्य है" इस सूक्ति से व उस आगन्तुक जिज्ञासु की जिज्ञासा शान्त करना चाहते हैं। "शास्त्र ऐसा आदेश क्यों देता है?" इस सम्बन्ध में आप सर्वथा तटस्थ बने रहते हैं। यदि जिज्ञासु अधिक आग्रह करता है, तो आचार्य महोदय क्रुद्ध हो पड़ते हैं, एवं भूताविष्ट बनकर—"तुम तो पाश्चात्यशिक्षा संसर्ग में पड़ कर नास्तिक बन गए तुम्हें शास्त्रों पर विश्वास नहीं रहा जाओ तुम्हारे साथ सम्भाषण करने में भी हमें प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ेगा इस प्रकार मत्त प्रलाप करने लगते हैं। इस भर्त्सना का परिणाम यह होता है कि, उस जिज्ञासु को यह विश्वास कर लेना पड़ता है कि—"वास्तव में सनातनधर्म केवल काल्पनिक जाल है, ब्राह्मणों के स्वार्थसाधन का द्वार मात्र है। भला यावज्जीवन धर्म्मशास्त्र का स्वाध्याय-मनन करने वाले विद्वान् भी जब धर्म्माज्ञाओं के सम्बन्ध में युक्तियुक्त समाधान नहीं कर सकते तो ऐसी दशा में इस धर्म्म की काल्पनिकता में क्या सन्देह रह जाता है"। सचमुच आज इस एक महत्त्वपूर्ण कारण से भी धर्म्म-विश्वास उत्तरोत्तर शिथिल होता जा रहा है।

यद्यपि हम मानते हैं कि उपपत्तिविज्ञानात्मक रहस्यज्ञान सर्व साधारण के परिज्ञान की वस्तु नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति रहस्यज्ञान प्राप्त करके ही धर्म्म का आचरण करे यह सर्वथा असम्भव है। 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ' (गी० १६।२४) इत्यादि भगवदादेशानुसार शास्त्रीय वचनों पर अनन्यनिष्ठा रखते हुए—'महाजनो येन गतः स पन्थाः' इस न्याय के अनुगमन में ही सर्वसाधारण का कल्याण है। अन्वेषणबुद्धिता की तुलना में श्रद्धैकपक्षबुद्धिता ही सिद्धि का अन्यतम द्वार माना गया है। यह सब कुछ जानते हुए भी वर्त्तमान युग के लिए हम उपपत्तिज्ञान-प्रचार को आवश्यकतम साधन माने बिना नहीं रह सकते। इसके अतिरिक्त यदि उपपत्तिज्ञान सर्वथा अनावश्यक ही होता तो स्वयं वेदशास्त्र में तथा वेदशास्त्र के ब्राह्मणभाग में स्थान स्थान पर उपपत्तिज्ञान का स्पष्टीकरण ही उपलब्ध न होता। ब्राह्मणग्रन्थ प्रतिपादित प्रत्येक कर्म्मकलाप, तथा पुरुषार्थकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता के

साथ साथ¹ 'तद्यत्-अप उपस्पृशति, मेध्या वा आप, पवित्रं वा आप, मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति, पवित्रपूतो व्रतमुपायानीति, तस्माद्वा अप उपस्पृशति' (शत० १।१।१।१) इत्यादि रूप से उपपत्तिप्रकरण भी समाविष्ट रहता है। यही क्यों, स्वयं वेदशास्त्र ने ही एक स्थान पर यह स्पष्ट किया है कि, "जो कर्म्म मनोयोगलक्षणा 'श्रद्धा' के, कार्य्य-कारण-सम्बन्धपरिज्ञानात्मिका 'विद्या' के, तथा उपपत्तिज्ञानलक्षणा 'उपनिषत्' के सहयोग से किया जाता है वह अतिशयरूप से फलप्रद होता है, जैसा कि—'यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषदा, तदेव वीर्य्यवत्तर भवति' (छां० उप० १।१।१०) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है। इसी आधार पर कारणविज्ञान को श्रेयःप्राप्ति का, तथा कर्म्मसौष्ठव का अन्यतम कारण माना गया है²। जिस वर्त्तमानयुग में प्राच्य प्रतीच्य सभ्यताओं का संघर्ष चल रहा हो, भौतिक, अतएव क्षणिक, अतएव दुःखप्रवर्त्तक, अतएव शून्य शून्यलक्षण जिस विज्ञानशास्त्र को लेकर प्रतीच्य-संस्कृति प्राच्यसंस्कृति का निरसन करने के लिए आज मुंह बाए खड़ी हो ऐसे विषम युग में 'विषस्य विषमौषधम्'—'कण्टकं कण्टकेनैवोद्धरेत्' इत्यादि लोकन्यायों का अनुगमन करते हुए तो यह सर्वथा आवश्यक हो जाता है कि, प्राणात्मक-अतएव नित्य, अतएव आनन्दप्रवर्त्तक, अतएव पूर्ण पूर्ण-लक्षण भारतीय वेदविज्ञानास्त्र का आश्रय ग्रहण किया जाय। बिना ऐसा किए उक्त संघर्ष से प्राच्यसंस्कृति का त्राण पाना कठिन ही नहीं, अपितु सर्वथा असम्भव है। भौतिक महासंग्राम के कारण आज भारतवर्ष संत्रस्त है। पर भगवदनुग्रह से जिस दिन संग्रामसाधक-घातक शस्त्रप्रपञ्च निधनावस्था को प्राप्त हो जायगा,

---

१—आहवनीय, तथा गार्हपत्य के मध्य में खड़े होकर आचमन करना ही 'अप-उपस्पर्श' कर्म्म है। क्यों आचमन किया जाता है? इसी प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि, पानी मेध्य (यज्ञमनीय) है, पवित्र (दोषमार्जक) है। उधर मनुष्य स्वाभाविक अनृतभाव से युक्त अमेध्य तथा अपवित्र है। ऐसी अमेध्य-अपवित्र अवस्थावस्था में मेध्य-पवित्र यज्ञसंस्कार तब तक प्रतिष्ठित नहीं हो सकता जब तक कि यह किसी उपाय विशेष से मेध्य, तथा पवित्र न बना ली जाय। इसी उद्देश्य से अप-उपस्पर्श कर्म्म किया जाता है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन 'शतपथब्राह्मण हिन्दी विज्ञानभाष्य' में द्रष्टव्य है।

२ नाकारणं हि शास्त्रेऽस्ति धर्म्मः सूक्ष्मोऽपि जाजले।
कारणाद्धर्म्ममन्विच्छन् स लोकानाप्नुते शुभान्॥
ज्ञात्वा कर्म्माणि कुर्वीत नाज्ञात्वा कर्म्म आचरेत्।
अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्खलनं स्यात् पदे पदे॥

उसी दिन संसार कुछ क्षणों के लिए एक बार शान्ति का श्वास ले सकेगा। परन्तु कुछ ही समय पीछे इस अतीव युद्ध से भी कहीं भयङ्कर सांस्कृतिक-संघर्ष का सूत्रपात होगा। तत्तद्राष्ट्र अपनी अपनी संस्कृतियाँ लेकर इस संघर्ष में भाग लेंगे। इस अहमहमिका में जिस राष्ट्र की संस्कृति सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होगी, वही प्रमुख स्थान पा सकेगी, शेष संस्कृतियाँ उस प्रमुख संस्कृति के उदर में समाविष्ट हो जायँगी, एवं वही समय युद्ध का अन्तिम निर्णायक समय माना जायगा। क्या उस सांस्कृतिक संघर्ष से भारतराष्ट्र अपने आप को बचा सकेगा? कभी नहीं, इसे इच्छा से नहीं तो अनिच्छा से भाग लेना पड़ेगा एवं तब इसके सामने यह प्रश्न उपस्थित होगा कि, "मैं इस संघर्ष में विजय प्राप्त करने के लिए कौन सी संस्कृति का अनुगमन करूं"। वर्त्तमान युग के दैवानता भले ही हमारे कथन की आज उपेक्षा कर दें परन्तु उन्हें कालान्तर में ही यह अनुभव करना पड़ेगा कि, भावी संघर्ष में विजय प्राप्त करने का एकमात्र साधन होगा नित्य विज्ञानप्रधान-शाश्वतशान्तिप्रदाता आर्षसाहित्य, एवं तन्मूलक आर्षसंस्कृति। इस भावी दृष्टिकोण की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि, कारणविज्ञानात्मक आर्षसाहित्य का अधिक से अधिक प्रचार किया जाय। सांस्कृतिक संघर्ष को थोड़ी देर के लिए उपेक्षणीय भी मान लिया जाय, तब भी अपने अभ्युदय के नाते भी इसकी आवश्यकता का अपलाप नहीं किया जा सकता। [—]

वैज्ञानिक तत्त्वों के विलुप्तप्राय हो जाने से ही ईश्वरीय-प्राकृतिक-नित्य-सनातन-मानवधर्म्म आज मतवादरूप में परिणत होता हुआ शान्ति-प्रवृत्ति के स्थान में कलहप्रवृत्ति का कारण बन रहा है। एक 'वाह गुरुजी' के नाम पर समस्त सिक्ख सम्मिलित हो जाते हैं, एक पैगम्बर के नाम पर सम्पूर्ण यवन प्रजा का संघठन सम्भव है। परन्तु सनातनधर्म्म के पास ऐसा आज एक भी उद्घोष नहीं है, जिस के आधार पर वह समस्त सम्प्रदायों का एकसूत्र में संघठन कर सके। केवल वैदिक विज्ञान ही एक ऐसा राष्ट्र-नाद है, जिस के आह्वान पर सम्पूर्ण सम्प्रदाएं समवेत हो सकती हैं। इस प्रकार साम्प्रदायिक संघठन के नाते भी विज्ञानतत्त्व का प्रचार-प्रसार आवश्यक बन रहा है।

इस विज्ञाननिधि के विस्मृतप्राय हो जाने से ही उस परम वैज्ञानिक अनादि सनातनधर्म्म की आज क्राइस्ट जैन-बौद्ध-मोहम्मदीय' आदि मतवादों के साथ तुलना की जा रही है। उस वृद्धातिवृद्धप्रपितामह को इन वृद्धातिवृद्धप्रपौत्रों की कक्षा में लाकर इन के साथ उसके औचित्य-अनौचित्य का समतुलन किया जा रहा है। सीमा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। कभी के सूत्रों द्वारा इन मतवादों की तुलना में इसे न केवल स्थान ही नीचा दिया जाता, अपितु इसका अपमान

भी किया जा रहा है, इसके प्रति अवाच्यपदार्थों का प्रयोग किया जा रहा है। "इसामसीह कैसे थे ? बड़े महात्मा थे, बुद्ध कैसे थे ? अहिंसा दया-के अवतार थे सुस्वागतम्। हां तो आर्यधर्म्म प्रवर्त्तक ऋषि कैसे थे ? बड़े स्वार्थी थे, मानव सभ्यता के अन्यतम शत्रु थे पक्षपाती थे" यह है आज की उस समालोचना का निष्कर्ष, जिसके मर्मभेदक निबन्धों को पढ़कर आज भारतीय नवयुवक अपनी प्रतिभा का सदुपयोग (?) कर रहे हैं। सौभाग्य कहिए, अथवा दुर्भाग्य, कोई सा ही सामयिकपत्र (समाचारपत्र) बचा होगा, जो आए दिन धर्म्माज्ञाओं की, तत्प्रवर्त्तक महर्षियों की, तदनुगामी सनातनधर्म्मावलम्बियों की निन्दा से अपने श्रीमुख पर कालिख न पोतता होगा ? वह समाचारपत्र पत्र ही क्या, जिस के प्रत्येक अङ्क में धर्म्मविरुद्ध कार्य्यों के दो चार समाचार समाविष्ट न हों। आज तो हमारा यहां तक पतन हो गया है कि, हमने अपने मनोरञ्जक चित्रपटों में भी धर्म्मनिन्दा को अपना प्रधान लक्ष्य बना लिया है, और ऐसे ही चित्रपट आज हमारे लिए विशेष आकर्षण की वस्तु बने हुए हैं। देश-नेताओं के कर-कमलों के द्वारा उद्घाटित कतिपय सामाजिक चित्रपटों में रूढ़िवाद के नाश के नाम पर भारतीय वर्णाश्रमधर्म्म पर उन्हीं के प्रसूनों द्वारा जो प्रसूनवृष्टि देखने सुनने में आती है, वह एक प्रकार से हमारी संस्कृति की पतन की ही सूचिका मानी जायगी। एवमेव पाश्चात्य-संस्कृति की अरुण प्रतिभा से युक्त भारतीय नवयुवकों में से कोई सा ही ऐसा सौभाग्यशाली युवक बच रहा होगा, जो प्रायः सार्य उठते-सोते अपने इस पूज्य का उपहासादि साधनों से सत्कार न करता होगा।

छोड़िए पाश्चात्यशिक्षा दीक्षितों की बात। विद्वानों में से भी ऐसा कोई विरला ही विद्वान् होगा जो अन्तःकरण से सनातनधर्म्म के प्रत्येक आदेश के सामने अपना मस्तक विनम्र कर देता होगा। जो विद्वान् अपने आपको प्राच्यसंस्कृति के अनन्य पोषक कहते हैं, जो 'कट्टर सनातनधर्म्मी' उपाधि से अपने आपको गौरवान्वित मानते हैं जो आए दिन सभामञ्चकाष्ठों का अपने ताण्डवनृत्य से वर्षदलन करते हुए अहमहमिका-कर्म्म से चाणूर मुष्टिप्रमञ्ज का स्मरण कराते हुए अधःशून्य सनातनधर्म्मसभाओं को ऋणग्रस्त बनाने का पुण्य सञ्चय करते रहते हैं, धर्म्म के जयघोषों से जो द्यावापृथिवी (आकाशपाताल) के विच्छेद को हटाते रहते हैं, ऐसे उपदेशकों से यदि उनका ही कोई अन्तरङ्ग व्यक्ति धर्म्माज्ञाओं के सम्बन्ध में जब कभी सन्देहात्मक प्रश्न कर बैठता है, तो उनके मुखविवर से भी यही उत्तर निकलता है कि, "ऐसा प्रश्न करना व्यर्थ है। हम स्वयं जब कभी विचार करते हैं, तो ऐसा ही प्रतीत होता है, मानो यह सब केवल कल्पना का ही साम्राज्य हो। परन्तु क्या करें, सर्वसाधारण के द्वारा प्राप्त प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए तथा आजीविका निर्वाह के लिए जान बूझ कर आत्मा को धोखा देना ही

पड़ता है'। जब अपने घर की ही यह दुर्दशा है, तो नवशिक्षित, तथा अन्यमतावलम्बी सनातनधर्म पर यदि आक्षेप करते हैं, तो इस में उनका क्या अपराध है। वे तो जिज्ञासु हैं, वास्तविक तत्त्व के पिपासु हैं। जब विद्वान् उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर सकते अपितु पुरस्कार में विद्वानों की ओर से उन्हें 'नास्तिक' की उपाधि प्राप्त होती है, तो व क्यों न सनातनधर्म से विमुख होंगे। इसी परिस्थिति के आधार पर हम कह सकते हैं कि, आज सनातनधर्म पर जनता का जो अविश्वास बढ़ता जा रहा है उसका एक कारण तद्तत्त्वानभिज्ञ, अतएव उपपत्ति ज्ञानशून्य (रहस्यज्ञानशून्य) इन पण्डितम्मन्यों के, तथा 'आचार्य' उपाधि-विभूषित धर्माध्यक्षों के द्वारा धर्मोपदेश का सञ्चालित होना भी है।

'अविद्यायामन्तरे वर्त्तमाना स्वयं धीरा पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥'

—कठोपनिषत्—१।२।५।

उक्त औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार स्वयं लक्ष्यच्युत ये धर्मरक्षक अन्य मुग्ध मद्रालु समाज का भी अन्धकूप में निक्षेप कर रहे हैं। सभी क्षेत्रों में आज उक्त वचन चरितार्थ हो रहा है। सभी नेता हैं, सभी पण्डित हैं, सभी उपदेशक हैं, सभी सुधारक हैं, सभी गुरु हैं। अन्धों का समुदाय अन्धों को मार्ग दिखा रहा है। ऐसी स्थिति में 'कुतस्तत्र प्रतीकारो रक्षको यत्र भक्षक' के अनुसार इन रक्षकों से भक्षित आपर्संस्कृति अद्यावधि कैसे बच रही, यही एक महा आश्चर्य है।

शिक्षा हमारे हाथ से जाती रही, यह अविश्वास का पहिला कारण। एवं वेदस्वाध्याय का परित्याग कर अन्य मन्यों में आयु समाप्त करने वाले अयोग्य विद्वानों तथा धर्माचार्यों के हाथ में धर्मसूत्र (धर्म की बागडोर) का चला जाना अविश्वास का दूसरा कारण। इन दोनों कारणों में से प्रथम कारण की चिकित्सा वर्त्तमान शासकों से शीघ्र सम्भव नहीं है। देश अपनी पादप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित हो कर स्वस्वरूप को सुरक्षित रखता हुआ जब पहिले स्वतन्त्रता प्राप्त करले, तब इसे शिक्षा-स्वातन्त्र्य उपलब्ध हो। एवं आर्षसाहित्य का जब पूर्ण प्रचार हो तब कहीं स्वतन्त्रतामापक प्रतिष्ठापद प्राप्त हो। ऐसी परिस्थिति में वर्त्तमान दशा में वर्त्तमान शिक्षा पर हमारा स्वतन्त्ररूप से नियन्त्रण हो जायगा एवं हम उसमें ऐच्छिक परिवर्त्तन कर सकेंगे यह खपुष्पसम केवल कल्पना ही रह जाती है। दूसरा उपाय है—वैदिक-विज्ञान का प्रचार प्रसार। इस नवीन युग के सम्मुख जब तक धर्म के प्रत्येक अंश की उपपत्ति (वैज्ञानिक

रहस्य) उपस्थित नहीं करदी जायगी, तब तक उजड़ा हुआ धर्म्मविश्वास पुनः प्रतिष्ठित न हो सकेगा। 'नवीनमार्गानुयायी अपने मौलिक साहित्य की वैज्ञानिकता का स्वरूप समझते हुए उसकी आवश्यकतम उपादेयता स्वीकार करें, तद्द्वारा प्राप्त प्रतिष्ठाबल पर स्वलक्ष्य सिद्धि में सफलता प्राप्त करें, तथा विद्वानों की वैदिक विज्ञान की ओर प्रवृत्ति हो, एवं तदुभयद्वारा व जनता की वास्तविक धर्म्मभावनाओं को पुष्पित-पल्लवित करें, 'भाष्यविज्ञान' व्याज से इन्हीं उद्देश्यों की सिद्धि के लिए 'भाष्यविज्ञाननिबन्ध' उपस्थित हो रहा है' यही भाष्यविज्ञान रचना-कारणत्रयी में से दूसरे कारण का संक्षिप्त निदर्शन है।

तृतीय कारण निदर्शन—

सनातनधर्म्मावलम्बी आर्य-प्रजावर्ग का आज हम तीन भागों में औपचि विभाग मान सकते हैं एवं उन्हें क्रमशः राष्ट्रीयवर्ग, विद्वद्वर्ग, साधारणभद्रालुवर्ग, इन नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। राष्ट्रीयवर्ग की दृष्टि में राष्ट्रनिर्माण में, राष्ट्रोन्नति में, किंवा राष्ट्र के स्वतन्त्रतायज्ञ में धर्म्म सर्वथा अनपेक्षित तत्त्व है। प्रत्युत यह वर्ग धर्म्म को राष्ट्रोन्नति, तथा समाजोन्नति, दोनों का एक महान् प्रतिबन्धक मानने की भूल कर रहा है, जब कि राष्ट्र शब्द का सर्वप्रथम जन्मदाता ही सनातनधर्म्म माना गया है। इस सम्बन्ध में हमारा अपना तो यह भी विश्वास है कि, सनातनशास्त्र तथा तदनुगत सनातनधर्म्म को मूलप्रतिष्ठा बनाए बिना कम से कम भारतराष्ट्र का अभ्युदय तो एकान्ततः असम्भव ही है। सामान्य-राष्ट्रीय विधानों के अतिरिक्त आर्षशास्त्र प्रवर्त्तक महर्षियों ने प्राकृतिक विज्ञान के आधार पर कुछ एक ऐसे गुप्त कारणों का अन्वेषण किया है, जिन के रहते राष्ट्र कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकता। साथ ही उन कारणों को दूर कर राष्ट्र-स्वातन्त्र्य के लिए एक विशेष प्रकार के वैज्ञानिक-कर्म्म का भी आविष्कार किया है, जो कि कर्म्म ब्राह्मणग्रन्थों में 'राष्ट्रभृत्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

राष्ट्र क्यों निर्बल हो जाता है? निर्बल-राष्ट्र पराक्रमण का सामना करने में असमर्थ होता हुआ कैसे परतन्त्र हो जाता है? ब्राह्मण-श्रुति ने पहिले इन प्रश्नों का समाधान किया है। बतलाया गया है कि, अर्थराशिरूप विड्वीर्य्य राष्ट्र का वास्तविक स्वरूप है। अर्थ ही राष्ट्र है। जिस राष्ट्र का अर्थबल क्षीण हो जाता है, निश्चयेन वह राष्ट्र अर्थाभाव में पराक्रमण सहने के साधनों से वञ्चित होता हुआ परतन्त्र बन जाता है। अतः राष्ट्र-स्वरूप-रक्षा के लिए अर्थ स्वातन्त्र्य सर्वप्रथम अपेक्षित है। प्रश्न उपस्थित होता है कि, राष्ट्र का अर्थबल कैसे सुरक्षित रक्खा जाय? इस प्रश्न का समाधान करते हुए श्रुति ने ब्रह्म-क्षत्र नामक द्वन्द्व की ओर हमारा

ध्यान आकर्षित किया है। ब्रह्मवीर्य्य राष्ट्र का ज्ञानबल है, क्षत्रवीर्य्य राष्ट्र का कर्म्मबल है। ज्ञान-सहकृत कर्म्म ही अर्थरूप राष्ट्र का, किंवा राष्ट्ररूप अर्थ का स्वरूप रक्षक है। जब राष्ट्र का ज्ञानबल अभिभूत हो जाता है, तो ज्ञानानुगत कर्म्मबल सर्वथा उच्छृङ्खल बन जाता है। ज्ञानवञ्चित एसा उच्छृङ्खल कर्म्म अर्थरक्षा में सर्वथा असमर्थ होता हुआ नियमेन राष्ट्रनाशकर्म्म का प्रवर्त्तक बन जाता है। अतएव आवश्यक है कि, अर्थरक्षा के लिए कर्म्मगुप्ति का आश्रय लिया जाय, एवं कर्म्मसौष्ठव के लिए ज्ञानगुप्ति को मूलप्रतिष्ठा बनाया जाय। इस प्रकार ज्ञानशक्तिरूप ब्रह्म तथा क्रियाशक्तिरूप क्षत्र इन दो रक्षकों की सत्ता में ही अर्थशक्तिरूप विट् (राष्ट्र) सुगुप्त रहता हुआ बलवान् रह सकता है। एवं ऐसे ब्रह्म-क्षत्रानुगृहीत अर्थलक्षण राष्ट्र की स्वतन्त्रता पर कोई भी शक्ति आक्रमण नहीं कर सकती।

विचार करने पर वर्त्तमान परतन्त्रता का यही एक मुख्य कारण हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहा है। भारतवर्ष के पास आज भी अर्थबल (कोष) की कमी नहीं है। परन्तु दुःख है कि, वह अपनी इस अर्थशक्ति का अपने राष्ट्रनिर्म्माण में अणुमात्र भी उपयोग नहीं कर सकता। क्यों हमारी अर्थशक्ति पर पर‌राष्ट्रों का एकान्त स्वस्वाधिकार प्रतिष्ठित हो गया ? इस प्रश्न का उत्तर भी स्पष्ट है। तमोगुणप्रधाना अर्थशक्ति सभी राष्ट्रों के लिए आकर्षण की वस्तु है। जब तक यह अर्थशक्ति रजोगुणप्रधाना क्रियाशक्ति, तथा सत्त्वगुणप्रधाना ज्ञानशक्ति से सुरक्षित रहती है, दूसरे शब्दों में जब तक राष्ट्र का ज्ञानबल, सेनाबल, दोनों अपने अधिकार में रहते हैं, तब तक उसका अर्थबल सुरक्षित रहता है, एवं तब तक राष्ट्र की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनी रहती है। ज्ञानबलप्रवर्त्तक देश के ब्राह्मणवर्ग ने जिस दिन से वेदगुप्ति का परित्याग किया उसी दिन से ज्ञानानुगत क्षत्रबल क्षत्रियों के हाथ से निकल गया। दोनों से वञ्चित अर्थ अरक्षित रहता हुआ पर-गिद्धों का बलि बन गया। इस विवेचना से यह स्पष्ट है कि, अभ्युदयलक्षणराष्ट्र की स्वरूपरक्षा एकमात्र ब्रह्म-क्षत्र मिथुन पर ही अवलम्बित है।

भारतवर्ष का ब्रह्म-क्षत्र बलस्वरूप मिथुनभाव क्यों निर्बल हो गया ? इस प्रश्न का तात्त्विक कारण बतलाती हुई श्रुति आगे जाकर कहती है कि, जिस राष्ट्र में से प्राकृतिक प्राणदेवताओं का विनिगम हो जाता है, उस राष्ट्र का ब्रह्म-क्षत्रात्मक मिथुनभाव निर्बल बन जाता है। '[1]अग्नि [2]आपश्च, [1]सूर्य्य मरीचि, [1]चन्द्रमा [2]नक्षत्र, [1]वात [2]आप, [1]यज्ञ [2]दक्षिणा, [1]मन [2]ब्रह्मसाम' ये ६ युग्म ब्रह्म-क्षत्र मिथुन के स्वरूप रक्षक माने गए हैं। अतएव 'एते देवा राष्ट्रभृतः' के अनुसार ये ही प्राणदेवता राष्ट्रस्वरूप के धारण करने वाले माने गए हैं। इनमें

अग्नि, सूर्य्य, चन्द्रमा, वात, यज्ञ, मन, ये ६ देवता ब्रह्मवीर्य्य के संरक्षक हैं, एवं ओषधि, मरीचि, नक्षत्र, आप, दक्षिणा, ऋक्साम, ये ६ देवता क्षत्रवीर्य्य के संरक्षक हैं। ऋषि कहते हैं कि, जिस राष्ट्र को परतन्त्र देखो, विश्वास करो उस राष्ट्र का ज्ञानानुगत ब्रह्मबल, तथा कर्म्मानुगत क्षत्रबल, दोनों जर्जरित हैं। एवं जिस राष्ट्र को ब्रह्म-क्षत्र-वीर्यों से वञ्चित देखो, विश्वास करो उस राष्ट्र के ब्रह्म-क्षत्रवीर्य्य संरक्षक दोनों पक्ष रूप ६ ओं द्वन्द्वदेवताओं के अनुग्रह से वञ्चित हो गए हैं। ऐसी स्थिति में यदि तुम्हें अपनी राष्ट्र की प्रतिष्ठा पुनः अपेक्षित है, तो राष्ट्र में ब्रह्म-क्षत्र को पुनरुज्जीवित करना पड़ेगा। इसके लिए इन द्वन्द्वदेवताओं का अपने राष्ट्र में समावेश करना आवश्यक होगा। एवं इस रहस्य की सिद्धि के लिए 'राष्ट्रभृत' नामक यज्ञप्रक्रिया का अनुगमन करना पड़ेगा, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

१—'अथातो राष्ट्रभृतो जुहोति-राजानो वै राष्ट्रभृतः। ते हि राष्ट्राणि बिभ्रति। एता ह देवताः सुता एतेन सवेन येनैतत् सोष्यमाणो भवति, ता एवैतत् प्रीणाति। ताऽअस्मा इष्टा प्रीता एव सवमनुमन्यन्ते, ताभिरनुमत सूयते। यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यन्ते, स राजा भवति। न स यस्मै, न तत्। राजानो राष्ट्राणि बिभ्रति, राजान उऽएते देवा, तस्मादेता राष्ट्रभृत'॥

२—'मिथुनानि जुहोति। मिथुनाद्वाऽअधि प्रजातिः। यो वै प्रजायते, सराष्ट्र भवति। अराष्ट्र वै स भवति, यो न प्रजायते। तद्यन्मिथुनानि राष्ट्र बिभ्रति, मिथुना उऽएते देवा। तस्मादेता राष्ट्रभृत'॥

३—'[1]अग्निर्गन्धर्व, [2]स्यौषधयोऽप्सरसः। [1]सूर्यो गन्धर्व, [2]तस्य मरीचयोऽप्सरसः। [1]चन्द्रमा गन्धर्व, तस्य [2]नक्षत्राण्यप्सरसः। [1]वातो गन्धर्व, तस्य [2]आपोऽप्सरसः। [1]यज्ञो गन्धर्वः, तस्य [2]दक्षिणा अप्सरसः। [1]मनो गन्धर्व, तस्य [2]ऋक्सामान्यप्सरस। आशासत इति-नोऽस्त्वित्य, नोऽस्त्विति। स न इदं ब्रह्म-क्षत्र पातु-इति। तस्योक्तो बन्धुः।'

—शत० ९ कां ।४ब्रा ।१ब्रा ।

सर्व प्रथम ज्ञानशक्ति-प्रवर्त्तक ब्रह्मबल, तदनुगत क्रियाशक्ति-प्रवर्त्तक क्षत्रबल, ब्रह्म-क्षत्रानुगृहीत-अर्थशक्तिप्रवर्त्तक विड्बल, तीनों राष्ट्र की प्रधान सम्पत्तियाँ हैं, यह इस कथन से

भलीभाँति सिद्ध हो जाता है। साथ ही यह भी स्वतः सिद्ध है कि, अर्थबलापेक्षया क्रियाबल श्रेष्ठ है, सर्वापेक्षया ज्ञानबल श्रेष्ठ, तथा श्रेष्ठ है। ज्ञानबलोपासक ब्रह्मवीर्य्यप्रधान (आस्था ब्राह्मण) ब्राह्मणवर्ग वेदगुप्ति द्वारा स्वब्रह्मवर्चसे राष्ट्र की ज्ञानानुगता ब्रह्मविभूति सुरक्षित रखने वाला माना गया है। क्रियाबलोपासक क्षत्रवीर्य्यप्रधान क्षत्रियवर्ग ब्रह्मद्वारा (ब्राह्मण द्वारा) प्राप्त ज्ञानप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होता हुआ रथ, अश्व, आदि वाहनबल के द्वारा, धनुरादि शस्त्रबल के द्वारा बाह्य आक्रमण से राष्ट्र की रक्षा करता हुआ राष्ट्र की क्रियानुगता क्षत्र-विभूति का रक्षक माना गया है। ब्रह्म-क्षत्रबलों से सुगुप्त, 'अतएव गुप्त' इस उपाधि से विभूषित अर्थ बलोपासक विड्वीर्य्यप्रधान वैश्यवर्ग कृषि-गोरक्षा-वाणिज्य-द्वारा स्व-सञ्चित अर्थ का ब्रह्म-क्षत्र के आदेशानुसार राष्ट्रनिर्म्माण में उपयोग करता हुआ राष्ट्र की विड्विभूति का संरक्षक माना गया है। इन तीनों पुरुषविभूतियों के अतिरिक्त कृषिकर्म्मोपयुक्त धुरन्धारी गार्य, सबल अनड्वान् आदिलक्षण पशुसम्पत् भी नितान्त अपेक्षित है। वीर्य्यानुगता स्त्रियाविप्रजा (भा० प्र० वे प्रजा) की रक्तशुद्धि के लिए राष्ट्र की नारी-सम्पत्ति का भी निर्दुष्ट रहना परम अपेक्षित है। सर्वोपरि प्रकृति का निरापद बना रहना भी आवश्यक है, जिसके लिए प्राकृतधर्म्म (सनातनधर्म्म) का अनुगमन सतत अपेक्षित माना गया है। धर्मानुष्ठान से प्रकृति राष्ट्र के अनुकूल रहती है पूर्वोक्त ब्रह्म-क्षत्रप्रवर्त्तक देवताओं का अनुग्रह सुरक्षित रहता है, फलतः समय पर वृष्टि होती है औषधि-वनस्पतियों का परिपाक होता रहता है। इसी प्राकृतिक अनुग्रह से ब्रह्म क्षत्र विड्बलत्रयी पशुबल, आदि राष्ट्रोपभोगी सभी साधन पुष्पित पल्लवित बने रहते हैं। और इन सब साधन-सामग्रियों से राष्ट्र का योग (सम्यक्प्राप्ति), तथा क्षेम (प्राप्तसम्पत्ति का संरक्षण) भलीभाँति होता रहता है। एक स्वतन्त्र राष्ट्र की स्वतन्त्रतासाधक इन्हीं प्रधानतम साधन-सामग्रियों का वर्गीकरण अपने एक स्तुतिमन्त्र से विश्लेषण करते हुए राष्ट्रस्वातन्त्र्य के अनन्यप्रेमी वेदमहर्षि कहते हैं—

१ 'आ ब्रह्मन् ! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्

आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्

दोग्ध्री धेनु , र्वोढानड्वान्, आशुः सप्तिः, पुरन्धिर्योषा, जिष्णू रथेष्ठा

१—मन्त्र की विशद वैज्ञानिक व्याख्या 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका-बहिरङ्गपरीक्षात्मक-प्रथमखण्ड' में देखनी चाहिए।

समेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्
निकामे निकामे न पर्जन्यो वर्षतु
फलवत्यो न ओषधय पच्यन्ताम्
योग-क्षेमो न कल्पताम्'

—यजुःसंहिता २२ अ। २ मं।

जिस प्रकृति के द्वारा सम्पूर्ण चराचर विश्व का एक सुव्यवस्थित क्रम से सञ्चालन हो रहा है, वही प्रकृतितत्त्व उपनिषच्छास्त्र में 'अन्तर्य्यामी' कहलाया है। प्रत्येक वस्तु के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहने वाले इसी प्रकृतितत्त्व से चूंकि तद्वस्तु विवर्त का नियतभाव से नियमन होता रहता है, अतएव इसे 'अन्तरस्तिष्ठन् नियमयति' निर्वचन से 'अन्तर्य्यामी' कहना अन्वर्थ बनता है। वस्तुकेन्द्र 'हृदयम्' कहलाया है। इस हृदय में प्रतिष्ठित अन्तर्य्यामी 'हृ' लक्षण आदानधर्म्म से, 'द' लक्षण विसर्गधर्म्म से, एवं 'यम्' लक्षण नियमनधर्म्म से आगति गति स्थिति भावों द्वारा अग्नीषोमात्मक वस्तुपिण्डों का स्वरूपरक्षक बन रहा है। हृदय में 'हृ-द-य' रूप से प्रतिष्ठित वही अन्तर्य्यामी अपनी नियत-एकरूप-वृत्ति से 'नियतिः सत्यम्' कहलाया है। यही 'अनिरुक्त इव प्रजापति' है, जिसका—प्रजापतिश्चरति गर्भे०' (यजुः सं० ३१।१९) इत्यादि मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है। इसी अन्तर्य्यामी, हृत्प्रतिष्ठ, हृ-द-य मूर्ति प्रजापति (प्रकृतितत्त्व) का विश्लेषण करते हुए ब्राह्मणश्रुति ने कहा है—

'एष प्रजापतिर्यद्-हृदयम्। एतद् ब्रह्म, एतत् सर्वम्। तदेतत्त्र्यक्षर 'हृदय' मिति (हृ-द-यम्-इति)। 'हृ' इत्येकमक्षरम्। अभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च, य एवं वेद। 'द' इत्येकमक्षरम्। ददन्त्यस्मै-स्वाश्चान्ये च, य एवं वेद। 'यम्' इत्येकमक्षरम्। एति स्वर्ग-लोकं, य एवं वेद। तद्वै तदेतदेव तदास-सत्यमेव। स यो हैवमेतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद 'सत्यं ब्रह्म' ति, जयतीमाँल्लोकान्। सत्यं ह्येव ब्रह्म।'

—शत० १४ कां० ८ अ० ४,५ ब्रा०

'वेत्थ नु त्वं तमन्तर्य्यामिनं-य इमं च लोकं, परं च लोकं, सर्वाणि च भूतानि अन्तरो यमयति, इति। यः (हृदये) तिष्ठन् अन्तरो यमयतीति, स त आत्मा अन्तर्यामी, अमृतः'।

—शत० १४।६।७ ब्रा०

हृदयस्थित ध्रुव-ध्रुव मूर्त्ति इस सत्यप्रजापति की नियतवृत्ति ही धर्म्म है। जिस वस्तु के केन्द्र में उपाधि मद्भिन्न जैसा अन्तर्य्यामी-सत्य प्रतिष्ठित है, वह वस्तु तदनुरूपा वृत्ति से ही युक्त रहती है। पानी अपने सत्यधर्म्म से सदा निम्नगामी ही रहता है अग्नि अपने सत्यधर्म्म से सदा ऊर्ध्वगामी ही रहता है, वायु तिर्य्यग्गामी ही रहता है। यही उपाधिकृत प्राकृतिक नित्य धर्म्म-मर्य्यादा है, यही सत्-धर्म्म है, यही सत्यधर्म्म तद्वस्तु का स्वरूप रक्षक है। प्राकृतिक अविनाशी भाव ही सत्य है, यही धर्म्म है। अतएव 'यो वै धर्म्मः, सत्यं वै' (शत० १४।४।२।२६) इत्यादि रूप से तत्स्वरूपेण हृदय में प्रतिष्ठित सत्यलक्षण अन्तर्य्यामी का, तथा अक्षररूप से बहिर्विनिःसृत धर्म्मलक्षणा बाह्यवृत्ति का अभेद मान लिया गया है। अन्तर्य्यामी-सत्य के धर्म्मलक्षण प्राकृतिक तत्त्व का निरूपण करने वाला प्राकृतिक शास्त्र ही आर्षशास्त्र (वेदशास्त्र) है, अतएव यह शास्त्र अपौरुषेय माना गया है। इस अपौरुषेय शास्त्र के आधार पर प्रतिष्ठित श्रौतस्मार्त्त-लक्षण सनातनधर्म्म ही प्राकृतिक धर्म्म है, जिस की नित्यसिद्धा वर्णाश्रमस्तुति के आधार पर धर्म्मभित्तिरूपेण व्यवस्था हुई है। वर्णानुगति से ही यह वेदप्रमासिद्ध प्राकृतिक सनातनधर्म्म 'वर्णाश्रमधर्म्म' नाम से व्यवहृत हुआ है। इस प्राकृतिक नित्यधर्म्म का जब आर्यप्रजा परित्याग कर देती है तो तत्सम्बद्धा प्रकृति कुपित हो जाती है। प्रकृतिक्षोभ से शान्तिसंचालक देवताछन्द कुपित हो जाते हैं। फलतः राष्ट्रसमृद्धि विनाशोन्मुखा बन जाती है, जिसका प्रत्यक्ष निदर्शन सर्वसमृद्धिशून्य वर्त्तमान भारतराष्ट्र बन रहा है। इस दृष्टिकोण से भी धर्म्म की राष्ट्रसमृद्धि में भली भाँति उपयोगिता सिद्ध हो जाती है। जो राष्ट्रवादी भारतीय धर्म्म के इस मौलिक-प्राकृतिक-सत्य-स्वरूप से अपरिचित रहते हुए सनातनधर्म्म तथा धर्म्मरहस्यप्रतिपादक वेदशास्त्र को राष्ट्र के अभ्युदय में प्रतिबन्धक मान रहे हैं, क्या यह उनका राष्ट्रसमृद्धि-विनाशक मौढ्यवाद नहीं है?

अस्तु राष्ट्रीयवर्ग किस अज्ञात कारण से धर्म्म को प्रतिबन्धक मान रहा है? इस प्रश्न की मीमांसा में न पड़ते हुए क्रमप्राप्त दूसरे विद्वद्वर्ग की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। संस्कृतज्ञ विद्वान् धर्म्म का परिशीलन करते हुए भी आप्तशास्त्र की उपेक्षा से धर्म्म के रहस्यज्ञान से वञ्चित होते हुए एक प्रकार से व्याजपूर्वक धर्म्माचरण (धर्म्माचरण का ढोंग) कर रहे हैं। सच पूछिए तो ऐसे विद्वानों की कृपा से ही राष्ट्रीयवर्ग धर्म्म से विमुख हुआ एवं होता जा रहा है। अभ्युदय (ऐहलौकिक), एवं निःश्रेयस (पारलौकिक) साधक धर्म्म के आचरण का उद्घोष करने वाले विद्वानों की जैसी प्रवृत्ति आज देखी सुनी जाती है, सचमुच यह एक बड़ी गम्भीर समस्या है। मानसिक दासता का जैसा पूर्ण विकास विद्वद्वर्ग में उपलब्ध हो रहा है खोजने से भी अन्यत्र उपलब्ध न होगा। अर्थपाश में बाँध कर आज आप विद्वानों

से यथेच्छ धर्म्मव्यवस्था प्राप्त कर सकते हैं। कणलोभग्रस्त विद्वान पातकी से पातकी व्यक्ति को भी धर्म्मरक्षक, धर्म्माचार्य्य, आदि उपाधियों से अलङ्कृत कर सकते हैं। स्वार्थवश सत्य का गला घोंट देना आज इन की स्वाभाविक चर्या बन रही है। आत्माभिमान आज इनके लिए दूर से ही प्रणम्य बन रहा है। यही कारण है कि, आज इस वर्ग के प्रति सभी वर्ग अभद्रात्मक अवाच्यवादों का प्रयोग करते नहीं थका रहे।

तीसरा क्रमप्राप्त अस्मदादि साधारण मनुष्यों का श्रद्धालुवर्ग है। यह वर्ग शास्त्र पर पूर्ण निष्ठा रखता है। कुतर्कियों के तर्कजाल का समुचित उत्तर देने की क्षमता न रखता हुआ भी यह आस्तिकवर्ग चिरन्तन संस्कारवश, तथा संस्कारविघातिका पाश्चात्य-शिक्षासंसर्ग के अभावात्मक अनुग्रह से अद्यावधि स्वधर्म्म पर यथाकथञ्चित् प्रतिष्ठित है। वस्तुस्थिति तो यह है कि, इस श्रद्धालु-वर्ग की आस्था के बल पर ही अद्यावधि धर्म्मनिष्ठा यथाकथञ्चित् प्रक्रान्त है। आस्तिकवर्ग की इस सहज श्रद्धा का हृदय से अभिनन्दन करते हुए हम उससे यह निवेदन कर देना आवश्यक समझते हैं कि, जो कर्म्म, जो धर्म्म विना ज्ञान का आश्रय लिए केवल प्रणाली (अन्धप्रणाली) का अनुगामी बना रहता है, कालान्तर में उसमें शैथिल्य आ जाता है। उदाहरण के लिए श्राद्धकर्म्म ही पर्य्याप्त होगा। श्राद्ध के मौलिक रहस्य ज्ञानाभाव से आज श्राद्धेतिकर्त्तव्यता में अनेक दोषों का समावेश हो गया है। जहां श्राद्धकर्म्म के लिए—'अपराह्णः पितृणाम्' के अनुसार अपराह्ण (मध्याह्नोत्तर) काल नियत है, वहां 'पूर्वाह्णो वै देवानाम्' के अनुसार देवकर्म्म के लिए नियत पूर्वाह्ण से पहिले ही श्राद्धेतिकर्त्तव्यता पूरी कर ली जाती है। पिण्डप्रदान ही श्राद्धकर्म्म की मुख्य प्रतिष्ठा है। पिण्डगत सौम्यप्राण ही श्रद्धासूत्रद्वारा श्रद्धासूत्र के आधार पर वितत पुत्रादिगत श्रद्धाभाव से परलोकस्थ प्रेत पितरों की तृप्ति का कारण माना गया है। इधर आज केवल अन्नकर्म्मात्मक ब्राह्मणभोजन कर्म्म को ही प्रधानरूपेण श्राद्ध का स्वरूपसमर्पक माना जा रहा है। वेद-विधि से वञ्चित ऐसा कर्म्म न केवल व्यर्थ ही जाता अपितु ऐसा अवैध कर्म्म अभ्युदय के स्थान में प्रत्यवायजनक बन जाता है। देवता का आह्वान न करना कहीं उत्तम पक्ष है। परन्तु संकल्पद्वारा देवता का आह्वान कर उसका सत्कार न करना अनर्थ का बीजवपन करता है। "मैं आज पिण्डपितृ यज्ञ करूंगा" इस मानस संकल्प से प्राणात्मक पितृदेवता श्रद्धासूत्र द्वारा परलोक से आकर श्राद्धकर्त्ता यजमान की आध्यात्मिक संस्था में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इनकी तृप्ति का प्रधान साधन पिण्डगत सौम्यप्राण है। यदि इन्हें वह प्राप्त नहीं होता, तो अभिशाप देते हुए पितर पराङ्मुख हो जाते हैं।

कितने एक महानुभावों के मुख से श्राद्धकर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध म यह भी कहते सुना गया है कि, "सामाजिक मैत्री सुरक्षित रखने के लिए ही वर्ष में १५ दिन भोजन कराने के लिए नियत कर दिए गए हैं"। इस प्रकार अज्ञानतावश नवीन नवीन कल्पनाओं के आधार पर आज प्रत्येक कर्म विरुद्धभावानुगत होता हुआ अभ्युदय के स्थान में सर्वनाश का कारण बन रहा है। जो महानुभाव श्राद्ध—यज्ञादि नहीं करते, लोकसम्पत्ति की दृष्टि से व सुखी देखे जाते हैं। इधर श्राद्धादि शास्त्रीय कर्मों की अनुगामिनी प्रजा दुःखी देखी सुनी जाती है। इसका क्या कारण ?। 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः, स धर्मः' कहते हुए महर्षियोंने धर्म-प्रवृत्ति को उभयलोक-सुखावाप्ति का कारण बतलाया है। होता है इसके ठीक विपरीत। इसी विप्रतिपत्तिका बड़ा सुन्दर समाधान करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

एक बार भारतीय मनुष्योंने अश्रद्धावश यज्ञकर्म का परित्याग कर दिया। उन्होंने देखा कि, जो यज्ञानुष्ठान करते हैं—वे दुःखी देखे जाते हैं, एवं जो यज्ञानुष्ठान नहीं करते—वे सुखी—समृद्ध देखे जाते हैं। ऐसी स्थिति में उन्होंने यह संकल्प कर डाला कि, आज से अपन किसी भी यज्ञकर्म का अनुगमन न करेंगे। दूसरे शब्दों में यों कह दीजिए कि, जिस प्रकार वर्तमान युग में धर्मात्मा दुःख पा रहे हैं, पापात्मा लोकवैभव से युक्त हो रहे हैं इस भावना से जैसे मानव समाज की धर्ममार्ग पर अश्रद्धा बढ़ती आ रही है, ठीक इसी हेतु के आधार पर युगयुग में भी मानवसमाज यज्ञादि कर्म-कलाप के प्रति अश्रद्धा करता हुआ इसे छोड़ बैठा। जब स्वर्गाधिपति इन्द्र के पास ये समाचार पहुंचे, तो उन्होंने मानवसमाज की अश्रद्धा दूर करने के लिए स्वगुरु बृहस्पति को भारतवर्ष भेजा। बृहस्पति के सामने जब मनुष्यों ने अपनी अश्रद्धा का 'य उ यजन्ते-ते पापीयांसो भवन्ति, य उ न यजन्ते-त श्रेयांसो भवन्ति। किं काम्या यजामहे,' यह कारण उपस्थित किया तो बृहस्पति ने अनुमान लगा लिया कि, अवश्य ही इन्होंने यज्ञकर्म में किसी विरुद्ध कर्म का समावेश कर डाला है। तदर्थ बृहस्पति ने आदेश दिया कि, जब एक बार तुम हमारे सामने यज्ञ करो। मनुष्यों ने आदेशानुसार यज्ञवेदि का निर्माण किया अग्निकुण्ड बनाए। इसी कर्म-परम्परा में बृहस्पतिने देखा कि यज्ञसञ्चालक ऋत्विजों ने वेदि पर कुशा बिछाने से पहिले ही वेदि का स्पर्श कर डाला है। बृहस्पति बोल पड़े कि, हे मनुष्यो। इसी दोष से अभ्युदयसाधक यज्ञ ने तुम्हारा अनिष्ट किया है। कुशास्तरण स पूर्व वेदि का स्पर्श करने से वेदिनिर्माणार्थ खोदी गई भूमि का क्रिूरक भाग तुम्हार अध्यात्मयज्ञ मे प्रविष्ट होगया। इसी से तुम्हारा यज्ञस्वरूप विकृत हो गया।

सावधान। आगे से भूलकर भी बर्हिस्तरण से पूर्व वेदि का स्पर्श न करना। वर्मविद्युत् से जब वेदिगत हिंसक विद्युत शान्त हो जाय, तभी तुम वेदिका स्पर्श कर सकते हो। आदेशानुसार मनुष्यों ने ऐसा ही किया। एवं इस वेधनवमर्शपूर्वक होने वाले यज्ञानुष्ठान से मनुष्य यज्ञ न करने वालों की अपेक्षा सुसमृद्ध बन गए' (देखिए-शत०१।२।५ ब्रा०)॥

उक्त ब्राह्मणाख्यान से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, धर्म्मतत्त्व का किसी परोक्ष-अचिन्त्याप्रमेय-शक्ति से सम्बन्ध है। इस में न तो माननीय कल्पना का समावेश ही सम्भव है, एवं न साधारण भी भूल का ही यहां समादर है। जिस प्रकार थोड़ी सी असावधानी से विद्युत्यन्त्र प्रकाश-प्रदान के स्थान में प्राणों का संमारक बन जाता है, एवमेव थोड़ा भी इतस्ततः करने से यही धार्म्मिक-कर्म्मकलाप अभ्युदय के स्थान में सर्वनाश का कारण बन जाता है। यदि एक स्वर-दोष से इन्द्रशत्रुवृत्र द्वारा इन्द्रवधार्थ होने वाले यज्ञ में इन्द्र के स्थान में स्वयं यज्ञकर्त्ता वृत्र मारा जा सकता है, तो अवश्यमेव धर्म्मानुष्ठानों के सम्बन्ध में होने वाली भूलें हमें अभ्युदय से वञ्चित रखने के साथ साथ हमारा महा अनिष्ट भी कर सकती हैं। वही वेदशास्त्र है, वे ही मन्त्र हैं, मन्त्रों में वे ही अन्यर्थ शक्तियां निहित हैं, वे ही स्वरविमर्श हैं। फिर क्या कारण है कि, आज हमारे अनुष्ठान सफल नहीं होते ?। आज यह कौन विश्वास करा सकता है कि, ब्राह्मणवर्ग कर्म्म-निर्वाह की कथा तो दूर, मन्त्रों का भी ठीक ठीक उच्चारण कर सकता है ? ऐसी दशा में अपने महापराध जनित दोष से उत्पन्न नाशकारिणी दशा का उत्तरदायित्व धर्म्म पर डाल देना क्या न्यायपथ है ? सनातनधर्म्मावलम्बियों की इसी भूल ने इन्हें अन्य मतवादियों की तुलना में हीन-वीर्य्य बना रक्खा है। अन्यमतावलम्बी तात्कालिक लोकवैभव से वाह्य-दृष्ट्या तुष्टवत् प्रतीत हो रहे हैं। परन्तु हम धर्म्म का व्याज से आचरण करते हुए धर्म्म को धोखा देकर उत्पथ भ्रष्ट हो रहे हैं। इस पतन से त्राण पाने का एकमात्र उपाय है तत्तत्-कर्म्मकलापों की मौलिक उपपत्तियों का परिज्ञान प्राप्त करना। उपपत्तिज्ञान से ही हम कर्म्म के वास्तविक स्वरूप से परिचय प्राप्त कर सकते हैं। तभी कर्म्म की अनुरूपता का अनुगमन सम्भव हो सकता है, एवं तभी कर्म्मानुष्ठान फलप्रद बन सकता है। 'भद्रालुवर्ग स्वशक्त्यनुसार शास्त्रीय कर्म्म-कलाप के उपपत्तिज्ञान द्वारा यथाविधि कर्म्मों का अनुष्ठान करें, एवं तद्द्वारा यथोक्त फलभाक् बनें' यही श्राद्धविज्ञानिबन्ध की रचनाकारणत्रयी के अन्तिम (तृतीय) कारण का संक्षिप्त निदर्शन है।

सर्वान्त में प्रसङ्गात् एक स्वार्थमूलक कारण का दिग्दर्शन करा देना भी अप्रासङ्गिक न माना जायगा। आज से ८ वर्ष पहिले श्रद्धेय पितृश्री (बालचन्द्रशास्त्री) का परलोक गमन हुआ। ज्येष्ठ भ्रातृश्री के द्वारा और्ध्वदैहिक-कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता सम्पन्न हुई। उस असहायावस्था में

यह संकल्प हुआ कि, दिवङ्गत प्रेतात्मा की तृप्ति के लिये मुझे भी किसी अर्थानपेक्ष अनुष्ठान का अनुगमन करना चाहिए। अन्ततो गत्वा 'पितरो वाक्यमिच्छन्ति' इस सिद्धान्त के आधार पर यही निश्चय किया गया कि, पितृ श्री के वार्षिक श्राद्धोपलक्ष में वाङ्मय निबन्ध ही श्रद्धासूक्त समर्पित किया जाय। पितृप्रजापति की सहजसिद्ध अनुकम्पा से यह संकल्प पूरा हुआ, एवं यही श्राद्धविज्ञानरचना-संकल्प का एक मुख्य कारण बना।

श्राद्धविज्ञान-निबन्ध-रचनाकारण के सम्बन्ध में निवेदन किया गया। अब निबन्ध-प्रतिपाद्य विषयों का संक्षेप से दिग्दर्शन कराती हुई प्रस्तावना उपरत होती है। आपप्रणाली के

प्रतिपाद्यविषय दिग्दर्शन—

अनुसार सम्पूर्ण वेदशास्त्र (मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र) 'ज्ञातव्य, कर्त्तव्य,' भेद से दो मार्गों में विभक्त हुआ है। वेद के जिस भाग में ज्ञातव्य विषयों का प्रतिपादन हुआ है, वह 'ज्ञातव्य-वेद' है। 'स्तुति विज्ञान इतिहास' ये तीन ज्ञातव्य विषय हैं। 'ऋक्-यजु-साम-अथर्व' नाम की ११३१ संहिताओं में इन्हीं तीन ज्ञातव्य विषयों का स्पष्टीकरण हुआ है, अतएव संहितात्मक वेदभाग का 'ज्ञातव्य वेद' कहा जा सकता है, जोकि 'ब्रह्म' 'मन्त्र' आदि नामों से भी व्यवहृत हुआ है। गृहस्थाश्रमानुगत 'कर्मयोग,' वानप्रस्थानुगत 'भक्तियोग,' एवं संन्यस्ताश्रमानुगत 'ज्ञानयोग,' ये तीन योग कर्त्तव्यात्मक हैं। 'विधि' नामक ब्राह्मणभाग में कर्मयोग का 'आरण्यक' नामक ब्राह्मणभाग में भक्तियोग का तथा 'उपनिषत्' नामक ब्राह्मणभाग में ज्ञानयोग का प्रतिपादन हुआ है। शतायुःपुरुष ब्रह्मचर्याश्रम में 'छन्दांसि नियत पठेत्' इस मानवादेश के अनुसार ज्ञातव्यलक्षण मन्त्रवेद का तथा कर्त्तव्यलक्षण विधि आरण्यक-उपनिषदात्मक ब्राह्मणवेद का अध्ययन समाप्त कर क्रमशः आगे के तीनों आश्रमों में कर्म-भक्ति-ज्ञानरूप कर्त्तव्यों का अनुगमन करता हुआ अपना जन्म सफल बनाने में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार ज्ञातव्य-कर्त्तव्यात्मक वेदशास्त्र के द्वारा सर्वस्व सिद्धि हो जाती है, जैसा कि—'सर्व वेदात् प्रसिद्ध्यति' इत्यादि मनुवचन से प्रमाणित है।

उक्त कथन से प्रकृत में यही बतलाना अभीष्ट है कि, वेदशास्त्रसिद्ध 'श्राद्ध' पदार्थ भी ज्ञातव्य कर्त्तव्य भेद से दो मार्गों में विभक्त किया जासकता है। श्राद्धपदार्थ की (कर्म की) इति कर्त्तव्यता 'कर्त्तव्यात्मक श्राद्ध' है, जिसका स्मृति, निबन्धादि ग्रन्थों में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। दूसरे शब्दों में "श्राद्ध कैसे करना चाहिए ?" इस प्रश्न का समाधान करने वाली श्राद्धमयूख श्राद्धविवेक, श्राद्धमञ्जरी, आदि निबन्ध ग्रन्थों में प्रतिपादित श्राद्धकर्म की

पद्धति 'कृतव्यात्मकश्राद्ध' है। श्राद्धकर्मान्तर्गत तत्तदर्थ कर्मों का मौलिक रहस्य क्या है? श्राद्धकर्म एतद्रूपेणैव क्यों किया जाता है? श्राद्ध से पितर कैसे तृप्त हो जाते हैं? इत्यादि प्रश्नों से सम्बन्ध रखने वाला वेदशास्त्रसिद्ध उपपत्ति विज्ञान ही 'ज्ञातव्यात्मक श्राद्ध' है। दूसरे शब्दों में श्राद्धकर्म्म का मौलिक विज्ञान ही 'ज्ञातव्यात्मकश्राद्ध' है। इन उभयविध श्राद्धपदार्थों में से कृतव्यात्मक श्राद्धपदार्थ (श्राद्धपद्धति) के लिए स्वतन्त्र निबन्ध लिखना सर्वथा व्यर्थ है। क्योंकि पद्धति के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों के द्वारा शतशः निबन्ध लिखे जा चुके हैं। दूसरा ज्ञातव्य-भाग बच रहता है। अवश्य ही श्राद्धकर्म्म की वैज्ञानिक उपपत्ति के सम्बन्ध में आज कोई ऐसा स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो रहा, जिसमें श्राद्ध विज्ञान का एकत्र स्पष्टीकरण किया गया हो। एकमात्र इसी लक्ष्य से प्रस्तुत निबन्ध को 'श्राद्ध विज्ञान' का प्रधान लक्ष्य माना गया है। चूंकि इसमें ज्ञातव्यात्मक-श्राद्ध विज्ञान का ही प्रतिपादन हुआ है, अतएव इसे 'श्राद्धविज्ञान' इस नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ समझा गया है।

'श्राद्धविज्ञान' यह खण्डचतुष्टयात्मक सम्पूर्ण ग्रन्थ का नाम है। इस 'श्राद्धविज्ञान' नामक एक निबन्ध (ग्रन्थ) में विषयप्रतिपादन-सुविधा की तथा प्रतिपाद्य विषयावगति की दृष्टि से 'चार खण्ड' रक्खे गए हैं। प्रत्येक खण्ड में कई एक 'अवान्तरप्रकरण' हैं। प्रत्येक अवान्तर प्रकरण में अनेक 'परिच्छेद' हैं। एवं प्रत्येक परिच्छेद में अनेक 'वैज्ञानिक तत्त्वों' का विश्लेषण हुआ है। इस प्रकार श्राद्धविज्ञान तदन्तर्गत चार खण्ड, खण्डान्तर्गत अवान्तर प्रकरण अवान्तर प्रकरणान्तर्गत परिच्छेद, परिच्छेदान्तर्गत वैज्ञानिकतत्त्वविश्लेषण, इस दृष्टि से विषयों का विभाजन हुआ है। प्रकृत में जिन विषयों का 'तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्या' रूप से दिग्दर्शन कराया जाने वाला है, वे अवान्तरप्रकरणान्तर्गत 'परिच्छेद' हैं। परिच्छेदान्तर्गत वैज्ञानिक विषयों की सूची प्रत्येक खण्ड के आरम्भ में 'विषयसूची' नाम से समाविष्ट हुई है।

'श्राद्धविज्ञान' निबन्ध में जितने भी विज्ञानात्मक अवान्तर प्रकरणों का समावेश हुआ है, उन्हें 'उपनिषत्' नाम से व्यवहृत किया गया है। आज दिन विद्वत्समाज में 'उपनिषत्' शब्द वेद के अन्तिम भागात्मक 'ईश-केन-कठ प्रश्न-मुण्डका' दि ग्रन्थों में ही निरूढ़ माना जा रहा है। परन्तु हमारी दृष्टि में 'उपनिषत् शब्द सर्वथा यौगिक है। मौलिक उपपत्ति-लक्षण विज्ञान

---

१ इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका' के प्रथमखण्डान्तर्गत 'उपनिषच्छब्दरहस्य' नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए।

सिद्धान्त के सम्यक् परिज्ञान से हमारा आत्मा प्रतिपाद्य विषय की ओर निर्विकल्प से प्रतिष्ठित हो जाता है। दूसरे शब्दों में मौलिक रहस्य-परिज्ञान से प्रतिपाद्य विषय की सत्यता पर श्रद्धा विश्वास करते हुए उस की इतिकर्त्तव्यता (अनुष्ठान) में हम प्रवृत्त हो जाते हैं। इसी आधार पर 'उप-(विषयसमीप)-नि-(नितरां निश्चयेन) सीदति-(प्रतिष्ठितो भवत्यात्मा ययाप यस्या, सा उपपत्तिस्तस्य विषयस्य, कर्म्मणो वा उपनिषत्' इत्यादि निर्वचन के अनुसार विषयप्रवृत्तिहेतुभूता विज्ञानात्मिका मौलिक उपपत्ति को 'उपनिषत्' कहना अन्वर्थ बन जाता है। पाश्चात्य भाषा में जिस अर्थविशेष के लिए 'प्रिन्सिपल' (Principle) शब्द प्रयुक्त हुआ है, यावनीभाषा जिस अर्थ में 'उसूल' शब्द का प्रयोग कर रही है, ठीक उसी अर्थ में आर्य भाषा ने 'उपनिषत्' शब्द का सम्मान किया है। उपनिषत् शब्द के इस यौगिकार्थ को स्वीकार करने से ही 'यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषदा, तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति'—'अरण्य मियात् पुनरयात्'—'तस्योपनिषदहमिति'—सत्यस्योपनिषद्दमः'—'तस्य वा एतस्याग्न वागेवोपनिषत्' इत्यादि ब्राह्मणवचनों में पठित 'उपनिषत्' शब्द का समन्वय किया जा सकता है। इसी यौगिकार्थ के आधार पर गीतास्मृति का 'भगवद्गीतोपनिषत्' नाम से व्यवहृत करना सुसङ्गत बनता है। यदि उपनिषच्छब्द केवल वेदान्त (वेद के अन्तभाग रूप ईशादि मन्त्रों) में ही निरूढ़ रहता तो गीता को उपनिषत् कहना सर्वथा असङ्गत बन जाता। प्रस्तुत श्राद्धविज्ञाननिबन्ध के सभी अवान्तरप्रकरण चूँकि उपपत्ति-ज्ञान का विश्लेषण करते हुए उपनिषच्छब्द के यौगिकार्थ से समतुलित हैं। एकमात्र इसी आधार पर इन अवान्तर प्रकरणों को— 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' — 'पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' — 'सापिण्ड्यविज्ञानोप निषत्'—'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्' इत्यादि रूप से 'उपनिषत्' नामों से व्यवहृत करना उचित मान लिया गया है।

सम्पूर्ण निबन्ध ४ खण्डों तथा (लगभग २०+३ अठपेजी साइज के) १८०० (अठारह सौ) पृष्ठों में सम्पन्न हुआ है। चतुःखण्डात्मक इस श्राद्धविज्ञान में जिन अवान्तर वैज्ञानिक विषयों का स्पष्टीकरण हुआ है उनका विशद परिचय तत्तत् खण्डों के स्वाध्याय पर निर्भर है। एवं सामान्य परिचय तत्तत् खण्डों के आरम्भ में संयुक्त विषयसूची पर निर्भर है। प्रकृत प्रस्तावना में उनका दिग्दर्शनमात्र करा दिया जाता है। निबन्ध समाविष्ट चारों खण्ड क्रमशः निम्न लिखित नामों से व्यवहृत हुए हैं—

खण्डचतुष्टयात्मक-श्राद्धविज्ञान—

१—आत्मविज्ञानोपनिषत् (प्रथमखण्ड) ।
२—पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत् (द्वितीयखण्ड) ।
३—सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत् (तृतीयखण्ड) ।
४—आत्मगतिविज्ञानोपनिषत् (चतुर्थखण्ड) ।

१—आत्मविज्ञानोपनिषत् (प्रथमखण्ड)—

एतन्नामक प्रथमखण्ड में आत्मस्वरूप का वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण हुआ है। 'अखण्ड सखण्ड' से आत्मा के दो मुख्य विवर्त्त हैं। इन दोनों में अखण्डात्मा सर्वधर्म्मशून्य, सर्वव्यापक, अतएव वाङ्मनसपथातीत, अतएव च एकान्ततः शास्त्रानभिहित है। दूसरा सखण्ड आत्मा सर्वधर्म्मोपपन्न है। यह सखण्ड आत्मविवर्त्त महामाया, योगमायादि मायिक निबन्धनों से आठ विवर्त्तभावों में परिणत हो रहा है। शरीरभिन्न-आत्मसत्ताधार ही श्राद्धकर्म्म की मूलप्रतिष्ठा है। अतएव आरम्भ में आत्मा के स्वरूप का परिचय कराना ही आवश्यक समझा गया है। 'शरीर ही आत्मा है ?, अथवा आत्मतत्त्व शरीर से पृथक् है ?'—'यदि आत्मा व्यापक है, तो उसकी परलोकगति कैसे सम्भव है ?'—यदि आत्मा पूर्व शरीर के साथ ही अन्य शरीर धारण कर लेता है, तो पिण्डदानादि लक्षण श्राद्धकर्म्म किस के उद्देश्य से किया जाता है ?'–'पार्वणादि श्राद्ध किस आत्मा के लिए विहित हैं ?'— 'गयाश्राद्ध किस आत्ममुक्ति का कारण बनता है ?' इत्यादि यावदात्मस्वरूपविषयिणी जिज्ञासाओं का वैज्ञानिक समाधान करने वाले 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड में निम्नलिखित अवान्तर प्रकरणों, तथा परिच्छेदों का समावेश हुआ है —

१—आत्मविज्ञानोपनिषदि–(प्रथमखण्डात्मिकायाम्)—

१—अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्– प्रथमा
२—अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्–द्वितीया

३—यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्— तृतीया

४—विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्—चतुर्थी

५—महदात्मविज्ञानोपनिषत्— पञ्चमी

६—प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्— षष्ठी (तत्र)

१—प्रज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्
२—तैजसात्मविज्ञानोपनिषत् }—प्रत्यगात्मोपनिषत् (१)
३—प्राज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्

४—हंसात्मविज्ञानोपनिषत् |—प्रतानात्मोपनिषत् (२)

५—भावात्मविज्ञानोपनिषत् }—शरीरात्मोपनिषत् (३)

* * *

१—आत्मविज्ञानखण्ड—'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड—

आत्मविज्ञानोपनिषदि—(प्रथमखण्डात्मिकायाम्)—

१—'अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्'—प्रथमा

(एतत् विषया निरूपिता इत्थम्)

१ आत्मस्वरूपजिज्ञासा	१२—मन के विवर्तभाव
—[illegible]	१३—[illegible]
३—[illegible]	१४—[illegible]
४—[illegible]	१५—[illegible]
५—[illegible]	१६—[illegible]
६—[illegible]	१७—[illegible]
७—[illegible]	१८—[illegible]
८—[illegible]	१९—[illegible]
—[illegible]	२०—[illegible]
१०—[illegible]	२१—[illegible]
११—[illegible]	२२—[illegible]

प्रकरणोपसंहार

[illegible] अमृतात्मविज्ञानोपनिषत् प्रथमा

आत्मविज्ञानोपनिषदि—

२—'अव्ययात्मविज्ञानोपनिषत्' द्वितीया

(तत्रैते विषया निरूपिता प्रक्रम्या)

समाप्ता चेयमात्मविज्ञानोपनिषदि 'अव्ययात्मविज्ञानोपनिषत्' द्वितीया

* * *

आत्मविज्ञानोपनिषदि—

३—'यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्' तृतीया

(यत्रैते विषया निरूपिता प्रक्रम्या)

समाप्ता चेयमात्मविज्ञानोपनिषदि-'यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्' तृतीया

* * *

आत्मविज्ञानोपनिषदि—

४—'विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्' चतुर्थी

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

१—परमेष्ठी का अपेक्षाकृत अमृतत्व
२—विज्ञानस्य ब्रह्मत्वम्
३—सोम, पितृ, इन्द्र विभूतियाँ
४—महदक्षरात्मक विज्ञानात्मा
५—मन के त्रिविध विवर्त
६—सूर्यरश्मिक ब्रह्मरस
७—सौर ब्रह्माग्नि के तीन विवर्त
८—सूर्यमूलक ब्रह्मात्मा
९—सूर्यमूलक विज्ञानात्मा
१०—विज्ञान तथा प्रज्ञानविवर्त

प्रकरणोपसंहार

* * *

आत्मविज्ञानोपनिषदि—

५—'महानात्मविज्ञानोपनिषत्' पञ्चमी

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

१—महान् की महत्ता
२—महोक्थ और 'महत्'
३—सोम-पितरात्मक 'पितर'
४—त्रिविध ब्रह्मविवर्त
५—प्रजापतिविवर्तभेदी
६—त्रिपुरुषात्मक 'पुरुषार्थ'
७—एषणात्रयात्मक 'महदात्मा'
८—विश्वतोमिलन 'महानात्मा'
९—पुरुषविज्ञाता 'महानात्मा'
१०—आकृति-प्रकृति-अहंकृतिरूप 'महानात्मा'
११—सत्त्व-रज-तमोमय 'महानात्मा'
१२—चान्द्र 'महानात्मा'
१३—चान्द्र 'प्रज्ञानात्मा'

प्रकरणोपसंहार

समाप्ता चेयमात्मविज्ञानोपनिषत्सु 'महानात्मविज्ञानोपनिषत्' पञ्चमी

* *

आत्मविज्ञानोपनिषदि—

६—'प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्' षष्ठी

(तत्रैता आत्मोपनिषदो व्याख्याता द्रष्टव्याः)

१—वैश्वानरात्मविज्ञानोपनिषत्
२—तैजसात्मविज्ञानोपनिषत् } → प्रत्यगात्मोपनिषत् (१)
३—प्राज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्
४—हंसात्मविज्ञानोपनिषत्] → प्रज्ञात्मोपनिषत् (२)
५—धात्वात्मविज्ञानोपनिषत्] → शरीरात्मोपनिषत् (३)

(तस्यामेतस्यां पञ्च-पञ्चात्मोपनिषत्संग्रहात्मिकायां 'प्राणात्मविज्ञानोपनिषदि' निम्न-विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

१—अविज्ञान-अपिविज्ञानमूलक भ्रान्ति
२—निमित्तस्वरूपसमर्पण
३—आत्मारोपमूलक आत्मस्वरूपविप्रतिपत्ति
४—आत्मभेदस्वरूपपरिचय
५—आत्मपरिग्रहमूलक आत्मस्वरूपभेद
६—सीमाभावप्रवर्तक 'माया' परिग्रह
७—कलाभावप्रवर्तक 'कला' परिग्रह
८—गुणभावप्रवर्तक 'गुण' परिग्रह
९—विकारभावप्रवर्तक 'विकार' परिग्रह
१०—आवरणभावप्रवर्तक 'आवरण' परिग्रह
११—अञ्जनभावप्रवर्तक 'अञ्जन' परिग्रह
१२—विभूति, पाप्मा, परिचय
१३—विराट् प्रजापति
१४—महेश्वर की सर्वव्याप्ति
१५—सर्वधर्मोपपन्न पुरुषव्याख्या
१६—प्रजापतिचतुष्टयी
१७—पौरुषसत्योपाख्यान
१८—विश्वस्य त्रिवृत् विज्ञान
१९—सोम-अन्न-विभूति
२०—विदित, अविदित, उभयातीत, आत्मविवर्त
२१—पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौ
२२—पञ्चमहाविवर्त
२३—त्रिधा मुक्तानि
२४—त्रैलोक्य
२५—दक्षिणामूर्तिविभूतत्त्व
२६—वायुवेष्टित भूपिण्ड
२७—अष्टादशाग्नि, और भूपिण्ड
२८—पार्थिव 'स्थूलनगद'
२९—यज्ञ, और यज्ञपशु
३०—अमृत-मृत्युरूप पार्थिवमर्त्य
३१—देवासुरप्रतिस्पर्द्धा
३२—त्रिवृत् पार्थिव प्रजापति
३३—पञ्चात्मक पार्थिवविराट्
३४—पार्थिवाग्नि के त्रिविध विवर्त
३५—पार्थिवाग्नि का अवतरण
३६—कृष्णाग्नि, और पुष्करपर्ण

समाप्ता वैश्वानरविज्ञानोपनिषत्—प्रश्नविज्ञानोपनिषद्रहस्य—'प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्' नाम्नी
समस्तप्राणमात्मविज्ञानोपनिषद्रहस्यात्मक-शब्दविद्यामान्वर्थिता—

प्रथमः खण्डः

* *

२—पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत् (द्वितीयखण्ड)—

एतन्नामक द्वितीय-खण्ड में वैज्ञानिक-दृष्टि से पितृ तत्त्व का विश्लेषण हुआ है। 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड में जिन आठ आत्मस्वरूपों का विवेचन हुआ है, उनमें से 'महानात्मविज्ञानोपनिषत्' नामक अवान्तर प्रकरण में प्रतिपादित 'महानात्मा' ही पिण्डदानादिलक्षण पार्वणादिश्राद्धकर्म्म की प्रतिष्ठा है। सौम्यप्राणाधारेण प्रतिष्ठित महानात्मा में चतुरशीतिकल पितृप्राण प्रतिष्ठित रहते हैं। इसी पितृप्राणसमष्टि की तृप्ति के लिए श्राद्धकर्म्म विहित है। 'अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैवत भेद से त्रिसंस्थ बने हुए पितृप्राण का मौलिक स्वरूप क्या है?'—'नान्दीमुख-पार्वण-अश्रुमुख-नामक पितरों का क्या स्वरूप है?'—'अग्निपत्-सोमसत् बर्हिषत्-नामक अन्नात्मक पितर, आज्यपा-सोमपा-हविर्भुक्-नामक अन्नादात्मक पितर, सुकाली-नामक उभयमय पितर अपना कैसा स्वरूप रखते हुए कहां प्रतिष्ठित रहते हैं?, क्या करते हैं?'—'वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा शरत् हेमन्त शिशिर भेदभिन्न ऋतुपितरों का क्या स्वरूप है?' क्यों इन्हें 'ऋतुपितर' कहा गया?'—'पितृप्राण की मूलप्रतिष्ठारूप, अतएव 'पितॄणां पितरः' नाम से प्रसिद्ध पितृदेवताओं का क्या स्वरूप है' इत्यादि प्रश्नों के वैज्ञानिक समाधान के अतिरिक्त आरम्भ में ही प्रस्तुत प्रकरण (२ खण्ड) में उन श्रौत-स्मार्त-प्रमाणों का भी संग्रह हुआ है, जो विस्पष्ट भाषा में 'मृतपितृ-श्राद्धकर्म्म' का समर्थन कर रहे हैं। श्राद्धविज्ञानान्तर्गत 'पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' नामक इस द्वितीयखण्ड में निम्नलिखित पांच अवान्तर प्रकरणों, तथा परिच्छेदों का समावेश हुआ है—

२—पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—(द्वितीयखण्डात्मिकायाम्)—

१—प्रमाणोपनिषत्
२—पितृदेवतास्वरूपविज्ञानोपनिषत्
३—दिव्यपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्
४—ऋतुपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्
५—प्रतपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्

२—श्राद्धविज्ञानान्तर्गत—'पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' नामक द्वितीयखण्ड—

पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—(द्वितीयखण्डात्मिकायाम्)—

१—'प्रमाणोपनिषत्'—प्रथमा

(तत्रत्ये विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

प्रकरणोपसंहार

समाप्ता चेयं पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—प्रमाणोपनिषत् प्रथमा

* * *

पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—

२—'पितृदेवतास्वरूपविज्ञानोपनिषत्'—द्वितीया

(तत्रत्ये विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

समाप्ता चेयं पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—'पितृदेवतास्वरूपविज्ञानोपनिषत्' द्वितीया

* * *

<u>पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—</u>

३—'दिव्यपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' तृतीया

(अत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

समाप्ता चेयं पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—'दि० पि० विज्ञानोपनिषत्' तृतीया

* * *

<u>पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—</u>

४—'ऋतुपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' चतुर्थी

(अत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

प्रश्नविज्ञान

७—ऋतुसमीमांसा　　१०—षड्ऋतुसमविभाग　　१३—ऋतुपितृस्वरूपपरिचय

८—ऋतुसम्बन्धी तालिका　　११—ऋतुक्रम, नियम तारतम्य　　१४—ऋतुपितरों की स्तुतिएं

९—ऋतुक्रमानुगत पर्वनिर्माण　　१२—ऋतुचक्रानुगत प्रवर्तित　　प्रकरणोपसंहार

समाप्ता चेयं पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि 'ऋतुपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' चतुर्थी

*　　*　　*

पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—

५—'प्रेतपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्'—पञ्चमी

(तस्यैते विषया निरूपिता ग्रन्थाः)

१—लोकानुगत पितृस्वरूपपरिचय　　६—सौम्यमानुषानुगत विचार

२—आधिभौतिक, आधिदैविक, पितृसूक्त　　७—मान्धीमुखपितृस्वरूपमीमांसा

३—सौम्यपितृस्वरूपपरिचय　　८—पार्थिवपितृस्वरूपमीमांसा

४—भास्वत्‌ का विचार　　९—मानुषमुखपितृस्वरूपमीमांसा

५—प्रेतस्वरूप विचार　　१० —प्रेतपितृस्वरूपपरिचय

प्रकरणोपसंहार

समाप्ता चेयं पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—प्रेतपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत् पञ्चमी

समाप्तश्चायं पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदात्मक श्राद्धविज्ञानान्तर्गतो

द्वितीय खण्ड

*　　*　　*

३—सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत् (तृतीयखण्ड)—

एतन्नामक तृतीयखण्ड में महानात्मा से सम्बन्ध रखने वाले, बीजीपुरुष से आरम्भ कर उसकी सप्तम सन्तति पर्य्यन्त वितत होने वाले सप्तपौरुष-सापिण्ड्यभाव का ही वैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है। सप्त पुरुष पर्य्यन्त वितत प्रजातन्तु का क्या स्वरूप है?'—'पुत्रोत्पादन, पार्वणादिश्राद्ध, गयाश्राद्धादि से श्राद्धकर्त्ता पितृऋण से कैसे विमुक्त हो जाता है?'—'पितृऋण का वैज्ञानिक स्वरूप क्या है?'—'गोत्रसापिण्ड्य, विवाहसापिण्ड्य,

दायादसापिण्ड्य, आदि सापिण्ड्यभावों की मूलप्रतिष्ठा क्या है ?'–प्रजातन्तुप्रवर्त्तक पितृप्राणात्मक सहःपिण्डों का क्या स्वरूप है ?'–'सप्तम पुरुष के अनन्तर सपिण्डता क्यों निवृत्त हो जाती है ?'–'गोत्र का वैज्ञानिक स्वरूप क्या है ?'–'समानगोत्रों में विवाह सम्बन्ध क्यों निषिद्ध माना गया है ?'–'पिण्डभाज -लेपभाज -प्रेतपितरों का क्या स्वरूप है ?'–'प्रेतपितनिमित्त प्रदत्त पिण्ड, एवं गोदानादि, विदूरस्थ प्रेत पितरों के समीप कैसे पहुंच जाते हैं ?'–'अघाशौच-सूतकाशौच शावाशौच-आदि आशौचों का वैज्ञानिक स्वरूप क्या है ?'–सम्पूर्ण वस्तुओं में आशौच सम्बन्ध कैसे संक्रान्त हो जाता है ?'–इत्यादि प्रश्नों के वैज्ञानिक समाधान का विश्लेषण करने वाले प्रस्तुत तृतीय खण्ड में निम्न लिखित अवान्तर प्रकरणों, तथा परिच्छेदों का समावेश हुआ है—

३—*सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि—(तृतीयखण्डात्मिकायाम्)*—

१—प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत्

२—ऋणमोचनोपायविज्ञानोपनिषत्

३—आशौचविज्ञानोपनिषत्

* * *

१—*मातृपितृमानान्वगत—'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीयखण्ड*—

सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि–(तृतीयखण्डात्मिकायाम्)

१—'प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत्' प्रथमा

(तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

१—विषयोपक्रम	६—औपपत्तिक कर्मात्मा
२—महदात्मानुगत विवरण	७—'रेतो' मय कर्मात्मा
३—प्रजातन्तुप्रतिष्ठालक्षण महदात्मा	८—'सुरा' रसमय कर्मात्मा
४—मूलसम्पत्तिरूप महदात्मा	९—यशःप्रतिष्ठ कर्मात्मा
५—महदात्मा का अभिमान	१०—'प्रजापतिरेव पशुमिन्दत्'

प्रकरणोपसंहार

समाप्ता चेयं सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्—'[illegible]विज्ञानोपनिषत्' प्रथमा

* * *

सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि—

२—'[illegible]विज्ञानोपनिषत्'—द्वितीया

(यत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्या)

* * *

सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि—

३—'आशौचविज्ञानोपनिषत्'—तृतीया

(वक्ष्यते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः)

तृतीयः खण्डः

* * *

४—आत्मगतिविज्ञानोपनिषत् (चतुर्थखण्ड)—

पञ्चमात्मक चतुर्थ-खण्ड में कर्म्मात्मा से सम्बन्ध रखने वाली गति का ही वैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है। "नित्य-कर्म-गतियों का क्या स्वरूप है ?"—"आत्मलोक कौन कौन से हैं ?"—"किन कर्म्मों से आत्मा किन लोकों में जाकर क्या क्या फल भोगता है ? —"पन्था, कर्म्म, नाड़ी आकाश चन्द्र, आतिवाहिक, आदि आत्मगतिनिमित्तों का क्या स्वरूप है ?"—"ब्रह्मपथ देवपथ, पितृपथ, यमपथ-आदि मार्ग कहां कहां व्यवस्थित हैं ?" —"परामुक्ति, अपरामुक्ति, समवलय, सौरोदर्क, भूमोदर्क, कैवल्य सालोक्य सामीप्य, सारूप्य सायुज्य, आदि उत्तम गतिभावों का क्या स्वरूप है ? —"कृष्णमार्ग शुक्लमार्ग, परोरजामार्ग, अगतिमार्ग, आदि मार्ग अपना क्या स्वरूप रखते हैं ?"—*ब्रह्मगति-प्रवर्त्तक महदात्मा, तथा कर्म्मगतिप्रवर्त्तक* "कर्म्मात्मतत्व का वैज्ञानिक स्वरूप क्या है ?"—इत्यादि प्रश्नों का वैज्ञानिक विवेचन करने वाले प्रस्तुत चतुर्थ (अन्तिम) खण्ड में निम्न लिखित एक प्रकरण, तथा ८ परिच्छेदों का समावेश हुआ है —

४—भारतविज्ञानान्तर्गत-'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्' नामक चतुर्थखण्ड —

१—'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत् प्रथमैव —

(सर्वे विषया निरूपिता इत्यस्या)

उपक्रमैकादि

दशा में हमारा यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि, आपमर्य्यादा की रक्षा के नाते प्रति पाद्यशैली, तथा भाषादृष्टि, दोनों की मूलप्रतिष्ठा आर्षशैली ही बनाइ जाय। इन्द्रियातीत विषयप्रधान आर्षविज्ञान के स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में आर्ष महर्षियों न एक ही विषय के पुनः पुनरावर्त्तन को सर्वथा उपादेय माना है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित ब्राह्मण भाग ही पर्य्याप्त होगा। पाठक देखेंगे आरम्भ में 'अन्तर्य्यामी के सम्बन्ध में श्रुति ने जो विषय उद्धृत किया है, विषय समाप्ति पर्य्यन्त वही विषय बार बार उद्धृत हुआ है—

१–'य पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः, य पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीर, य पृथिवीमन्तरो यमयति, स तऽआत्मान्तर्याम्यमृत'। २–'यो ऽप्सु तिष्ठन् अद्भ्याऽन्तर, यमापो न विदु, यस्यापः शरीर, याऽपोऽन्तरो यमयति, स त ऽआत्मान्तर्याम्यमृत'। ३–'या ऽग्नौ तिष्ठन्०'। ४—य आकाशे तिष्ठन्०'। ५–'यो वायौ तिष्ठन्०'। ६–'य आदित्ये तिष्ठन्०'। ७—'यश्चन्द्रतारके तिष्ठन्०' ८—'या दिक्षु तिष्ठन्०'। ९—'यो विद्युति तिष्ठन्०'। १०—य स्तनयित्नौ तिष्ठन्०'। ११–'यः सर्वेषु लोकेषु तिष्ठन्०'। १२–'य सर्वेषु वेदेषु तिष्ठन्०'। १३—य' सत्रेषु यज्ञेषु तिष्ठन्०'। १४—य सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्०'। १५—'य प्राण तिष्ठन्०'। १६—'या वाचि तिष्ठन्०'। १७—'यश्चक्षुषि तिष्ठन्'। १८—'यः श्रोत्र तिष्ठन्०'। १९—'यो मनसि तिष्ठन्०'। २०—यस्त्वचि तिष्ठन्०'। २१–'यस्तेजसि तिष्ठन्०'। २२–'यस्तमसि तिष्ठन्०'। २३–'यो रेतसि तिष्ठन्०'। २४—'य आत्मनि तिष्ठन्०'।

—शत० ब्रा १४।६।७।

यद्यपि इसका यह तात्पर्य्य नहीं कि, सर्वलोकोपकारक भाषा-ग्रन्थों में भी ठीक वैदिक-शैली का अनुकरण करते हुए प्रत्येक विषय का पुन पुन आवर्त्तन किया जाय। तथापि प्रधान तथा स्वतन्त्रविषय निरूपण करते समय अवश्यमेव कुछ एक सामान्य परिभाषाओं का प्रतिपादन, तथा सिंहावलोकन करना आवश्यक हो जाता है। ऐसा न करने पर ग्रन्थ सर्वथा लक्ष्यहीन बना रह जाता है। हम तो समझते हैं, दृष्टिकोण भेद से प्रतिपादित ये परिभाषा-प्रकरण सर्वसाधारण के लिए विशेष हितकर ही होते हैं। हां जिन महानुभावों

का लक्ष्य एकमात्र मनोरञ्जन ही है, साथ ही अन्यान्य अर्थसाधक लौकिक कार्य्यों में अहोरात्र व्यस्त रहने के कारण जिन्हें बुद्धिगम्य, अतएव 'यत्तदग्रे विषमिव' न्याय से कटुवत् प्रतीयमान आर्षसाहित्य-स्वाध्याय के लिए समय ही न मिलता हो, उनके लिए अवश्यमेव हमारा प्रयास व्यर्थ बन सकता है, जिस व्यर्थता को हम अपने लिए इष्टापत्ति मानते हैं। जो इस विषय के जिज्ञासु हैं परमात्मानुग्रह से जिन्हें ऐसे साहित्य-स्वाध्याय की सुविधा प्राप्त है, साथ ही जन्मान्तरीय, किंवा ऐहिक संस्कारानुग्रह से जो आर्षशैली से परिचित हैं, उनके लिए पुनरुक्ति-मूला यह आर्षशैली कदापि उद्वेग का कारण नहीं बन सकती।

दूसरे समालोचनात्मक सुझाव के सम्बन्ध में इसलिए विशेष वक्तव्य अनावश्यक है कि, सत्यासत्यविवेक की दृष्टि से शिष्टभाषानुगत समालोचना-प्रसङ्ग ग्रन्थ का आवश्यक अङ्ग माना गया है। 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' न्याय से यत्र तत्र संक्षेप से निरूपित समालोचना प्रसङ्ग परम्परया मूल-विषय का समर्थन ही कर रहे हैं। यदि भारद्-तत्त्व प्रतिपादनप्रसङ्ग में हम भारद् की अवैदिकतासिद्ध करने वाले भावों का दिग्दर्शन करा देते हैं, तो इसमें कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। अपना मन्तव्य —भले ही वह शास्त्र विरुद्ध ही क्यों न हो— स्वभावतः प्रेय पदार्थ है। उसका उद्घाटन करना अवश्य ही तदपक्षानुयायी के लिए थोड़ी देर के लिए उद्वेगकर बन जाता है। परन्तु यही उद्वेग कालान्तर में उसे सत्यनिष्ठ भी बना देता है।

तीसरे भाषानुगत सुझाव के सम्बन्ध में हम क्या कहें, जब कि भाषाज्ञान से हम सर्वथा वञ्चित हैं। और सम्भवतः अपने आवश्यक वेदस्वाध्यायकर्म्म में विघ्न उपस्थित कर भाषा पाठशाला में प्रविष्ट होना भी हम अपने लिए असम्भव मानते हैं। वर्त्तमान युग में 'हिन्दी' मातृभाषा है, तत्पुत्रत्वेन उसके क्रोड़ का आश्रय ग्रहण करना स्वाभाविक है। पुत्र जिस वृत्ति से भी माता का आश्रय ग्रहण करे, माता स्वयं उसे सम्भाल लेती है। जहां तक हमारा विश्वास है, आपदृष्टिकोण से जिस हिन्दी को भारतवर्ष की (न कि हिन्दुस्तान की) मातृ भाषा कहना उचित है, उसका आश्रय हमें प्राप्त हुआ है। हमने प्रयास किया है कि, कल्पितास्पाहित भ्रष्टभावों से मातृभाषा के स्वरूप को यथासम्भव सुरक्षित रक्खा जाय। यदि समुद्रपार की विदेशी भाषाएं हमारे अन्तस्तल में स्थान पा सकती हैं, तो कोई कारण नहीं आर्यप्रजा थोड़े से प्रयास से अपनी चिरसंस्कारानुगता सुसस्कृता मातृभाषा के अवबोध में सफलता प्राप्त न कर सके। 'आम्राश्च सिक्ताः, पितरश्च प्रीणिताः' न्याय से हमारे ये निबन्ध प्रतिपाद्य विषयों के साथ साथ—आर्षशैली आर्षभाषा आदि के भी परिचायक बन

यही प्रधान-लक्ष्य है। एवं इस लक्ष्य के प्रति जितने भी सामयिक सुझाव हैं, वे सब आगन्तुकधर्म्मलक्षण परधर्म्मस्थानीय बनते हुए न केवल भयावह ही हैं, अपितु स्वधर्म्म (आपधर्म्म) के स्वरूपविघातक भी हैं। फलतः –'स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः, परधर्म्मो भयावहः' न्याय से उक्त सुझाव हमारे लिए दूर से ही प्रणम्य हैं।

पर्यन्त में प्रास्ताविक-वक्तव्य समाप्त करते हुए केवल यह कहना शेष रह जाता है कि, प्रस्तुत 'श्राद्धविज्ञान' ग्रन्थ आज से लगभग ७ वर्ष पहिले ही सम्पन्न हो गया था। परन्तु कतिपय सामयिक विप्रतिपत्तियों के कारण इसे प्रकाशित न किया जा सका।

प्रस्तावोपसंहार— पितृदेवता के महदामूलानुगत अव्यय अनुग्रह से चिरकालानन्तर यह वाङ्मय पिण्डपितृयज्ञ सम्पन्न होने जा रहा है। प्रस्तुत प्रस्तावना के साथ 'आत्मविज्ञानोपनिषद्' प्रथमखण्ड ही सर्वप्रथम प्रकाशित हो रहा है। आर्यप्रजा का आवश्यक सहयोग ही आगे के तीन खण्डों के प्रकाशन का प्रधान निमित्त है और प्रतीक्षामय दृढ विश्वास है कि, आर्यप्रजा अवश्य ही इस प्रधान निमित्त का शीघ्र से शीघ्र स्वरूप सम्पादन करेगी।

हम अपने इस प्रयास में कहाँ तक सफल हुए हैं? इसका निर्णय भार तो विचारशील पाठकों पर ही निर्भर है। हाँ, अपनी ओर से इस सम्बन्ध में यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि, अनावश्यक श्राद्धकर्म्म के सम्बन्ध में आज जो कुतर्कपाश प्रक्रान्त हैं, वेद को निमित्त बना कर धार्म्मिक जगत् की श्रद्धा पर जो आघात किया जा रहा है, श्रद्धालु जनता इस परप्रत्यय के मोह जाल में बद्ध होकर जिस पिण्डदानादि-लक्षण श्राद्धकर्म्म से विमुख होती जा रही है, वे सब विप्रतिपत्तियाँ बहुत अंशों में इस निबन्ध से दूर हो जायँगी। किसी पर आक्षेप न करते हुए वैदिकविज्ञानदृष्टि से प्रधानतः श्रौतप्रमाणों का आश्रय लेते हुए साथ ही तर्क, तथा युक्तिवाद को भी लक्ष्य बनाते हुए 'श्राद्धविज्ञान' सम्पन्न हुआ है। यद्यपि अमृतसंहित मनुष्य से भ्रान्ति हो जाना उसका स्वाभाविक धर्म्म है। परन्तु सद्भावना अथवा दुर्भावना उभयथा प्रदर्शित उस भ्रान्ति के संशोधन के लिए अन्तरात्मा सदा सन्नद्ध है।

विश्राम-मन्दिर
भूपालीवा, जयपुर
प्रथम ज्येष्ठ कृ. अमावास्या
वि. सं. १९९

विनय —
मोतीलालशर्म्मा
भारद्वाज (गौड़)

श्री

समाप्ल्येद किमपि प्रास्ताविकम

प्रथमखण्डप्रस्तावनासमाप्त)

—×—

अथ

आत्मविज्ञानोपनिषदि (प्रथमखण्डे)

अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्' प्रथमा

१

—•—

अथ

श्राद्धविज्ञाने—

'आत्मविज्ञानोपनिषत्'-प्रथमा

१

तस्यामेतस्यामात्मविज्ञानोपनिषदि प्रथमायां एता उपनिषदो व्याख्याता द्रष्टव्याः

—:—

१—स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम !
भूतभावन ! भूतेश ! देवदेव ! जगत्पते !
२—मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय !
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता १०-१५,७-७

१—आत्मस्वरूपपरिचय —(मन्त्रमूर्ति महात्मा)

१—कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥
—श्वे० उ० १।२।

२—ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥
—श्वे० उ० १।३।

३—तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम्॥
—श्वे० उ० १।४।

४—पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः॥
—श्वे० उ० १।५।

५—सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥
—श्वे० उ० १।६।

६—य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥
—श्वे० उ० ४।१।

७—बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥
—मुण्डक० उ० ३।१।७

८—न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥
—मुण्डक उ० ३।१।८।

९—एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥
—मुण्डक उ० ३।१।९

१० —यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मात्—
"आत्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः"॥
—मुण्डक उ० ३।१।१०।

(१)- { १—अधिदैवतम्—महामायावच्छिन्नमिदात्मा (पूर्णमदः)
२—अध्यात्मम् —योगमायावच्छिन्नमिदंरा (पूर्णमिदम्) }

अथ

आत्मविज्ञानान्तर्गत 'आत्मविज्ञानोपनिषदि' प्रथमायां

"अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्"-प्रथमा

१

अमृतात्मा–पुरुषात्मा–'षोडशीप्रजापतिः'

१—निष्कल परात्पर (१)
२—पञ्चकलोऽव्यय (५)
३—पञ्चकलोऽक्षर (५)
४—पञ्चकल आत्मक्षर (५)

सोऽयं चतुष्कल, षोडशकलो वा पुरुषात्मा–षोडशी

१—द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
२—उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः 'परमात्मे' त्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय 'ईश्वरः'॥

—श्रीमद्भगवद्गीता १५ अ. ।१६।१७।

१—अमृतात्मस्वरूपपरिचय —(विद्या-कर्म्ममया गूढात्मा)—

१—अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम।
यो मा ददाति स इदेव मावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि॥
—साम पू ६।३।

२—अहमिद्धि पितुः परि मेधामृतस्य जग्रह।
अहं सूर्य इवाजनि॥
—साम पू ७।२।

३—यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥
—श्वे उ ३।९।

४—वेदाहमेतं अजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम्॥
—श्वे उ ३।२१।

५—एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्॥
—ऋग्वेद ८।५८।२

७—ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत्॥
—कठोपनिषद् ६।१

८—सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
—श्वे उ ३।१६

९—अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥
—श्वे उ ३।१९

१०—मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥
—श्वे उ ४।१०।

—※—

ॐ अमृतात्मब्रह्मणे नमः

अमृतात्मा-षोडशीप्रजापतिः

'अमृतं ब्रह्मे' त्युपास्य

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ —ईशोपनिषत् १ *

श्राद्ध कर्म्म की मूलप्रतिष्ठा (शरीर से) भिन्नात्मसत्तावाद ही माना गया है। "आत्मा पाञ्चभौतिक मर्त्य शरीर से भिन्न वस्तु है, अमृतलक्षण नित्य पदार्थ है। स्थूलशरीर परित्यागानन्तर आत्मा अङ्गुष्ठमात्र आतिवाहिक शरीर (सूक्ष्मशरीर) धारण कर शुभाशुभ कर्म्मानुसार शुभाशुभ उदर्क (फल) भोगने के लिए शुभाशुभ लोकान्तरों में गमन करता है" इस सिद्धान्त की मान्यता के आधार पर ही श्राद्धकर्म्म प्रतिष्ठित है। निधनानन्तर परलोक गमन करते हुए एवं चान्द्रसम्वत्सरानन्तर परलोक में पहुँचे हुए प्रेतात्मा को पिण्डदानादि से तृप्त करना ही सिद्धान्तपक्ष में 'श्राद्धकर्म्म' है। इस सिद्धान्तपक्ष की रक्षा एकमात्र शरीर भिन्न नित्य-आत्मसत्ता-स्वीकृति पर ही अवलम्बित है। आस्तिक शास्त्रों (उपनिषदादि) में उपवर्णित आत्मस्वरूप सर्व साधारण के लिए दुरधिगम्य है। यही कारण है कि, आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में नाना प्रवाद पुष्पित पल्लवित हो रहे हैं। एक ही आत्मतत्त्व के उन सोपाधिक विविध रूपों के सम्यक् परिज्ञान के बिना श्राद्ध-कर्म्माधिष्ठाता आत्मा का स्वरूप परिचय प्राप्त कर लेना कठिन है। अतएव प्रतिपाद्य श्राद्ध विज्ञान के आरम्भ में ही आत्मस्वरूपपरिचय जिज्ञास्य बन जाता है जिसका स्पष्टीकरण आवश्यकरूप से अपेक्षित है।

आत्मस्वरूपजिज्ञासा—

* इस मन्त्र के राजनीति, धर्मनीति, विज्ञाननीति भेद से तीन अर्थ हुए हैं। देखिए—ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य १ खण्ड १ मन्त्रभाष्य।

चिदचिदात्म आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में चिरकाल से दार्शनिक विद्वानों में मतभेद चला आ रहा है। आत्मानुगत इन यच्चयावत् मतवादों को 'आस्तिक-नास्तिक' इन दो वादों में अन्तर्भूत माना जा सकता है। शरीरातिरिक्त आत्मसत्ता स्वीकार करने वाला विद्वद्वर्ग 'आस्तिक' नाम से तथा शरीरात्मवादी लौकायतिकवर्ग 'नास्तिक' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। दोनों ही मतवाद पुरातन हैं†। स्वयं मुण्डकसंहिता में 'सद्वाद असद्वाद' नाम से दोनों का स्पष्टीकरण हुआ है। अस्तिलक्षण 'ब्रह्म' तत्त्वोपासक विद्वद्वर्ग 'ब्राह्मण' कहलाया है, नास्तिलक्षण 'श्रम' (कर्म) तत्त्वोपासक लौकायतिकवर्ग 'श्रमणक' कहलाया है। ब्रह्मात्मक 'रस' तत्त्वानुगामी ब्राह्मणवर्ग में श्रमात्मक 'बल' तत्त्वानुगामी श्रमणकवर्ग में सदा से प्रतिस्पर्द्धा चली आ रही है। ब्राह्मणवर्ग 'सरोवर' को दृष्टान्त मानता हुआ आत्मभिन्नता का समर्थन कर रहा है, एवं श्रमणक वर्ग 'रथ' का दृष्टान्त बनाता हुआ शरीर को ही आत्मा मान रहा है। दोनों मतवादों में से सर्व प्रथम 'श्रमणकवाद' (नास्तिकवाद) का ही संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जाता है।

नास्तिकाभिमत आत्मस्वरूप—

आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में श्रमणकों का यह कहना है कि—"पादादावयवसापेक्षभूत 'रथ' सर्वथा अनित्य, तथा जड़ पदार्थ है। 'धुरा, चक्र, अक्षस्तम्भी प्रग्रह ईषा' आदि कतिपय परिगणित अवयवों की समष्टि ही रथ है। जब तक यह समष्टि बनी रहती है तभी तक 'रथ' (अवयवी) स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है, गतिमान् बना रहता है। जिस दिन इसके धुरा चक्र-आदि अवयव ग्रन्थिबन्धन से पृथक् हो जाते हैं उसी क्षण रथ की स्वरूपविच्युति हो जाती है। रथ रूप अवयवी चक्रादिभिन्न अवयवों से पृथक् तत्त्व नहीं है। अपितु जिस प्रकार अनेक वृक्षों की समष्टि 'वन' है, अनेक आप्यकणों का समूह 'सरोवर' है, अनेक क्रियाओं का कूट 'पुञ्ज' है एवमेव धुर चक्रादि अनेक अवयवों की समष्टि ही 'रथ' रूप में परिणत हो रही है। जिस दिन अवयवों का ग्रन्थिबन्धन टूट जाता है, उसी दिन उसी काल में अवयवी का भी विनाश हो जाता है। अनेक अवयवों के समन्वय से जो 'रथ' कहलाता था अवयवों के इधर हो जाने पर, अथवा भग्न हो जाने पर वह 'रथ' नाम का पदार्थ लोकान्तर में नहीं जाता अपितु अवयवों का नाश ही रथ का विनाश है। यही अवस्था आत्मा की है। 'रस-असृक्-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र-ओज-त्वक्-चर्म'-आदि अनेक अवयवों की समष्टि ही शरीर है। यही शरीर आत्मा है। यही अवयवी है। इन अवयवों के समन्वय से तात्कालिक अपूर्व क्रियाभाव उत्पन्न

---

† इन सदसद्वादादि पुरातन वादों का वैज्ञानिक विवेचन 'गीताभाष्यभूमिका' १ खण्ड 'ख' विभाग 'ब्रह्म-कर्मपरीक्षा' में देखना चाहिए

हो जाता है। जिस प्रकार यन्त्र के अवयव (पुर्जे) पृथक्-पृथक् कर देने से यन्त्र की क्रियाशक्ति नष्ट हो जाती है, एवमेव शरीर के अवयवों के पृथक्करण से क्रिया अवरुद्ध हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में केवल क्रियाधर्म्म को देख कर आत्मा को शरीर से पृथक् मानना, साथ ही में उस को नित्य मानना सर्वथा भ्रान्ति है। जिस प्रकार अवयवी रूप रथ परलोक में नहीं जाता, एवमेव शरीर के नष्ट हो जाने पर अवयवी रूप आत्मा का परलोकगमन मानना, साथ ही में उसे शरीर से पृथक् नित्य तत्त्व मानना सर्वथा असमञ्जस है"। इस प्रकार नास्तिक लोग कई एक इत्यादि भावों के आधार पर स्वतन्त्र आत्मसत्ता का विरोध करते हुए 'रथवत्' शरीर को ही आत्मा मान रहे हैं।

आस्तिक मतानुसार आत्मा शरीर से सर्वथा पृथक्, एवं नित्य तत्त्व है। एक 'सरोवर' में पानी भरा हुआ है। चातुर्मास्य (चौमासा) समाप्त होने पर सरोवर का सारा पानी सूख जाता है। क्या सरोवर का पानी नष्ट हो गया ? कदापि नहीं। दक्षिणा

आस्तिकाभिमत आत्मस्वरूप

काशस्थ अल्लशोषक 'अगस्त्यप्राण' के सहयोग से "नाड्यो वायुसंयोगा दारोहणम्" (वै० द० ५।२।६) इस कणाद सिद्धान्त के अनुसार सूर्य्य न नाडी रूप अपनी रश्मियों से सारे पानी को खैंच कर उसे वाष्परूप (वायुरूप) में परिणत कर विशाल अन्तरिक्ष में वायुधरातल पर प्रतिष्ठित कर लिया है। बस जिस प्रकार सरोवर का पानी सूक्ष्मरूप में परिणत होकर लोकान्तर में चला जाता है नष्ट नहीं होता ठीक इसी प्रकार शरीर के नष्ट हो जाने पर यह जीवात्मा भी सूक्ष्मशरीर धारण कर लोकान्तर में चला जाता है। यदि च वाष्परूप में परिणत होकर लोकान्तर में जाने वाले वायुरूप पानी का अंश हम चर्म्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष नहीं कर सकते साथ ही में वह किस प्रदेश में प्रतिष्ठित हुआ यह भी हम नहीं देख पाते, एवमेव शरीरसत्ताकाल में क्रियादि धर्म्मों से जिस आत्मा का हम एक प्रकार से प्रत्यक्ष कर रहे थे शरीरत्यागानन्तर वही सूक्ष्मावस्थापन्न होता हुआ न शरीर से निकल कर लोकान्तर में जाता हुआ ही दिखाई देता, एवं न जिस लोक में यह जाकर प्रतिष्ठित होता है, यह साफ एवं स्वयं सोकी आत्मा ही दिखलाई पड़ता। इस प्रकार ऐसे ऐसे दृष्टान्तों द्वारा आस्तिक विद्वान् प्रत्यक्ष आत्मा को शरीर से सर्वथा पृथक् एवं नित्य मान रहे हैं।

आस्तिक विद्वान् केवल नित्य आत्मतत्त्व की ही सत्ता स्वीकार नहीं करते, अपितु अनित्य शरीर भी इनकी दृष्टि में एक तत्त्व है। इन परमास्तिकों का कहना है कि, संसार के प्रत्येक पदार्थ में हम प्रतिक्षण परिवर्त्तन देख रहे हैं। इस क्षणिक परिवर्त्तन के साथ साथ एक अपरिवर्त्तनीय अक्षण नित्यभाव का भी साक्षात्कार कर रहे हैं। उदाहरण के लिए इस्पम शिशु को ही लीजिए। उत्पत्तिकाल से आरम्भ कर मृत्यु

आस्तिकों का तत्त्ववाद—

काल पर्य्यन्त इस शिशु की शिशु-पौगण्ड-बाल-किशोर-तरुण-युवा-प्रौढ़-स्थविर-वृद्ध-वर्षीयान् – ये १० अवस्थायें होती हैं। इन दशाओं में से प्रत्येक अवस्था की अवान्तर अनेक अवस्थाएं हो जाती हैं। इन अवस्थाओं के परिवर्तन के साथ साथ "रसासृङ्मांसमेदादि" शारीरधातु भी बदलते रहते हैं। आगे जाकर इस परिवर्तन का विभाग क्षणिक भाव पर माना गया है। प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। क्षण भी एक काल है, स्थिरभाव है। वस्तुतः उक्त परिवर्तन की इस क्षणभाव के साथ भी तुलना नहीं की जा सकती। यह परिवर्तन तो "रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव" के अनुसार अपने जैसा आप ही है। यह सब कुछ होने पर भी व्यवहार-सौकर्य के लिए उक्त परिवर्तन को "क्षणिक" शब्द से व्यवहृत कर दिया गया है। इसी क्षणिक परिवर्तन के कारण प्रतिक्षण वस्तु नए नए रूप धारण करती रहती है। वस्तु का जैसा स्वरूप पूर्वक्षण में रहता है, उत्तरक्षण में उस स्वरूप का सर्वथा अभाव है। यदि यह परिवर्तन क्षणिक न होता तो एक प्रादेश का शिशु प्राप्तवयस्क होने पर कभी साढ़े तीन हाथ का न बनता साथ ही में इस के शरीर में कभी विविध अवस्थाओं का उदय न होता। इन्हीं सब कारणों से हम शरीर को प्रतिक्षण परिवर्तनशील मानने के लिए तय्यार हैं।

इस परिवर्तन के साथ साथ ही एक अपरिवर्तनीय स्थिरभाव का भी साक्षात्कार हो रहा है। इसी स्थिरभाव के लिए "स एवायं (यह वही है)" यह प्रत्यभिज्ञा होती है। देवदत्त जन्मकाल में भी है, मृत्युकाल में भी है, मरे बाद भी है। तभी तो तीनों कालों के साथ सामान्य-रूप से-देवदत्त उत्पन्न हुआ है, देवदत्त मरने वाला है, देवदत्त मर गया, इस प्रकार देवदत्त का सम्बन्ध पाया जाता है। शरीर बदलता है, आत्मोपलक्षित देवदत्त नहीं बदलता। प्रतिक्षण बदलते हुए भी शरीर के "यह वही देवदत्त है जिसे हमने बचपन में जयपुर में देखा था" इस प्रकार "वही" भाव नहीं बदलता। इस प्रकार परस्पर में अत्यन्त विरुद्ध दो भावों का एक ही पदार्थ में समन्वय हो रहा है। परिवर्तनशील क्षणिक पदार्थ "शरीर" है, अपरिवर्तनीय अक्षर नित्य तत्त्व आत्मा है। दोनों का समन्वितरूप ही "अध्यात्म-अधिदैवत-अधिभूत-संस्था" है।

अपि च –क्रिया प्रतिक्षण परिवर्तनशीला है। परिवर्तनशीला इस क्रिया की स्थिति (स्वरूप सत्ता) तब तक सर्वथा अनुपपन्न है जब तक कि इस का कोई अपरिवर्तनीय स्थिर आधार न मान लिया जाय। क्षणमात्र ठहरनेवाली स्वयं क्रिया क्रिया का आधार बन नहीं सकती। इस युक्तिवाद के आधार पर भी क्षणिक क्रिया के साथ नित्य तत्त्व का समन्वय मानना पड़ता है। इसी नित्य तत्त्व को आधार बना कर क्रियात्मक बलतत्त्व अपनी चिति (समूह) के कारण "नाम-रूप-कर्म" भेद से तीन स्वरूपों में परिणत होकर "सम्भूतिभाव" को प्राप्त होता हुआ "वस्तु" नाम से व्यवहृत होता है। जब तक क्रियात्मक बल पर उस निष्क्रिय आत्मरूप

रस-तत्त्व का अनुग्रह रहता है, तभी तक विभिन्नभावापन्न नामरूपकर्म्मात्मक बल-चक्र की 'सम्भूति' है। रसानुग्रह-परित्याग ही बल का विनाश है। संभूति और विनाश, दोनों का एक ही स्थान पर समन्वय हो रहा है। इसी समन्वय-विज्ञान को लक्ष्य में रख कर उपनिषच्छ्रुति कहती है—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभय सह ॥* —
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽऽमृतमश्नुते ॥ —ईशोपनिषद् १४

शरीर अनेक बलों की समष्टि होने से 'काय' (निकाय-समूह) नाम से प्रसिद्ध है। इन-अनन्त बलों का शासक प्रभु एक रस-तत्त्व (आत्मा) है। 'वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र-मनो-बुद्धि-हस्त-पाद-उपस्थ' आदि सारे अवयव 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्' इस न्याय के अनुसार परस्पर में सर्वथा पृथक् हैं। "तेषामिष्टानि विहितानि धामशः" (ऋक् सं० १।१६४।१८) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सब के धाम (स्थान) एवं इष्ट (विषय) नियत हैं। इन भिन्नों में एक अभिन्न तत्त्व (आत्मा) सामान्यरूप से व्याप्त हो रहा है। आंख देखती है, कान सुनते हैं, जिह्वा स्वाद लेती है, नाक सूंघता है, पैर चलते हैं, हाथ काम करते हैं, मन मनन करता है, बुद्धि विचार करती है। व्यवहार होता है—मैं देखता हूं मैं सुनता हूं, मैं स्वाद ले रहा हूं मैं सूंघता हूं, मैं चलता हूं मैं काम कर रहा हूं मैं-मनन करता हूं इत्यादि। इस प्रकार सर्वथा 'विभिन्न चक्षु' प्राणादि के साथ यह "मैं" (आत्मा) युक्त हो रहा है। इसी आधार पर इस "मैं" (अहम्) तत्त्व को किंवा आत्मतत्त्व को शरीरावयवों से पृथक् मानना आवश्यक, एवं वास्तविक हो जाता है। प्रकारान्तर से यों समझिए कि, नास्तिकवर्ग 'प्रजातन्त्ररूपा संघशक्ति' को प्रधान मानता है। एवं आस्तिकवर्ग 'राजतन्त्ररूपा प्राजापत्यशक्ति' को प्रधानता देते हुए संघशक्ति का स्वागत करता है। जिस दृष्टि से इन दोनों वर्गों ने आत्मा के स्वरूप का विचार किया है, वही दृष्टि 'दर्शन' नाम से प्रसिद्ध है। नास्तिकदर्शन एवं आस्तिकदर्शन, दोनों ही आचार्यभेद से निम्न लिखित रूप से ६-६-भागों में विभक्त माने गए हैं।

---

* इस मन्त्र का विशद विवेचन 'ईशोपनिषद् हिन्दी-विज्ञान भाष्य' के उक्त मन्त्रभाष्य में देखना चाहिए।

नास्तिकदर्शन और उनके प्रवर्तक		आस्तिकदर्शन और उनके प्रवर्तक
१—चार्वाकदर्शन—	बृहस्पति	१—न्यायदर्शन—गौतम
२—माध्यमिकदर्शन—	गौतमबुद्ध और उनके शिष्य	२—वैशेषिकदर्शन—कणाद
३—योगाचारदर्शन—		३ सांख्यदर्शन—कपिल
४—सौत्रान्तिकदर्शन—		४ कर्ममीमांसादर्शन—जैमिनि
५—वैभाषिकदर्शन—		५—ब्रह्ममीमांसादर्शन—व्यास
६—आर्हतदर्शन—	श्रमणकाचार्य	६—योगदर्शन—पतञ्जलि

वस्तुतस्तु वैज्ञानिक दृष्टि से आत्मदर्शन नास्तिक, आस्तिक, भेद से कुल ६ भागों में ही विभक्त समझने चाहिएँ। तीन नास्तिकदर्शन हैं, एवं तीन ही आस्तिकदर्शन हैं। नास्तितत्त्व की मूलप्रतिष्ठा 'असद्‌ब्रह्म' है, अस्तितत्त्व की मूलभित्ति 'ब्रह्म' है। रस 'अमृत' है, बल 'मृत्यु' है। अमृत-मृत्यु की समष्टि ही आत्मप्रपञ्च है। इसे अस्तिरूप से भी देखा जा सकता है, एवं नास्तिरूप से भी देखा जा सकता है। 'मनः-प्राण-वाक्' ये तीन अमृतकलाएँ हैं, तीनों की समष्टि ही 'अस्ति', किंवा 'सत्ता' है। 'नाम-रूप-कर्म', ये तीन मृत्युकलाएँ हैं। इन तीनों की समष्टि ही 'नास्ति' है। सुतरां आत्मदृष्टि किंवा आत्मदर्शन का ६ भागों में ही पर्यवसान सिद्ध हो जाता है।

अपि च ईश्वर प्रजापति पूर्णेन्द्र होने से वर्तुलाकार (गोलाकार) है। अतएव इसे 'सर्वतः पाणिपाद सर्वतोऽक्षिशिरोमुख' कहा जाता है। गोलाकार वस्तु को ६ भागों में विभक्त करके ही सर्वात्मना देखा जा सकता है। इन दृष्टियों में तीन दृष्टियों का बलात्मक नास्तिभाग के साथ सम्बन्ध है, एवं तीन ही दृष्टियों का रसात्मक अस्तिभाग के साथ सम्बन्ध है। इस दृष्टि से भी दर्शन कुल ६ ही होते हैं। अस्तु कुछ भी हो इस अप्राकृतिक दर्शन प्रसङ्ग का उपक्रम करना अप्राकृतिक है। उक्त दर्शनचर्चा से प्रकृत में हमें केवल यही कहना है कि, आत्मा के सम्बन्ध में भारतवर्ष में सदा से दो मतवाद चले आ रहे हैं।

जो महानुभाव नास्तिकवाद के अनुयायी हैं, जिन्होंने शरीर को ही आत्मा समझ रक्खा है, जो—'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः' के उपासक हैं, उनके लिए कुछ भी वक्तव्य नहीं है। श्रद्धेय उदयनाचार्य्य के निम्न लिखित शब्दों में ऐसे दयनीय महानुभावों की कल्याण कामना करते हुए एवं आस्तिकवर्ग की ओर से *जगदीश्वर से नास्तिभावना के निरोध की प्रार्थना* करते हुए आत्मा सुखार्थ आत्मप्रकरण आरम्भ किया जाता है। आस्तिकों के महाप्रतिनिधि सर्वश्री उदयनाचार्य अपने सुप्रसिद्ध 'न्यायकुसुमाञ्जलि' ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए लिखते हैं—

इत्येवं श्रुति-नीतिसम्प्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते ।
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलमाराश्रया ॥
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः ।
काले कारुणिक ! त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः ॥१॥

अस्माकं तु —

अस्माकन्तु निसर्गसुन्दर ! चिराच्चेतो निमग्नं त्वयी-
त्यद्धाऽऽनन्दनिधे ! तथापि तरलं नाद्यापि सन्तृप्यते ॥
तन्नाथ ! त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वदेकाग्रतां-
याते चेतसि नाप्नुवाम शतशो याम्याः पुनर्यातना ॥२॥

—न्या॰ कु॰ ५ स्तबक १८ १९ श्लोक।

ईश्वरसत्ता पर विश्वास करने वाले, शरीर से पृथक् नित्य आत्मतत्त्व को स्वीकार करने वाले, वेदशास्त्र-सिद्ध आत्मा की आगति-गति पर श्रद्धा करने वाले ब्रह्मवादी ब्राह्मणों के मतानुसार श्राद्धकर्म अवश्यमेव श्रद्धा की वस्तु है। 'भृगवंश ऋषि के दौहित्र 'जन्दावस्था' के रचयिता, पारसीधर्म्म के प्रवर्त्तक 'मीजरथुश्त्र' भी आत्मसत्ता स्वीकार नहीं करते थे। आसुरधर्म्म को प्रधान मानते हुए वे आरम्भ में शरीर को ही आत्मा समझते थे। संयोगवश भूमण्डल की परिक्रमा करते हुए एक बार भगवान् बादरायण (व्यास) उधर आ निकले। *जन्दावस्था में यह उल्लेख मिलता है कि "व्यास के आगमन से पहिले ही वहां आकाशवाणी हुई कि, हे जरथुश्त्र! हिन्दुस्तान से एक महाबुद्धिमान् व्यास नाम का ब्राह्मण तुम से शास्त्रार्थ करने आ रहा है"। फलतः व्यास भगवान् वहां (आर्यायण, वर्त्तमान में ईरान) पहुँचते हैं, एवं अपने योगबल के द्वारा जरथुश्त्र को शरीर से अतिरिक्त आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करवाते हैं। तभी से जरथुश्त्र ने अपने धर्म्मग्रन्थ में यह आदेश दिया है कि "वास्तव में आत्मा शरीर से पृथक् पदार्थ है एवं शरीर त्यागानन्तर वह स्वकर्म्मानुसार शुभाशुभ लोकों में भ्रमण करता है। इस क

---

* "चैव हिन्द धाखगश्ते"। "अकनू बिरहमन व्यास नाम अज हिन्द आमद, बस दाना कि अक्ल चना नेस्त"। (जरथुश्त की ६५ वीं आयत)। "चूं व्यास हिन्दी बलख आमद। गश्तास्प जरथुश्त्रा बख्वांद" (६६ वीं आयत)।

निमित्त स्वकृत पुत्रादि का अभ्यदानादि करना चाहिए । इस प्रकार वैदिक काल में भी कुछ एक महानुभाव आत्मसत्ता स्वीकार करने लगे थे। विगत शताब्दी में कई एक पाश्चात्य विद्वानों ने भी मुक्तकण्ठ से आत्मा का अमरत्व स्वीकार किया है। इनमें से स्वनामधन्य 'सुकरात, पाइथागोरस प्लेटो प्रसिद्ध जर्मन् विद्वान् 'शोगल' निरन्तर 'मनइक्क' (भाई मयासिंह) का अनुवाद करने वाले विश्वप्रेमी 'मन्सूर' आदि कतिपय महानुभावों के नाम उल्लेखनीय हैं। आज तो 'मैस्मरेजम' द्वारा मृतात्मा का आह्वान तक सफल सिद्ध हो चुका है। आगत आत्मा जिज्ञासु के प्रश्नों का यथावत् समाधान करता है। स्वनामधन्य 'डी० पी ऋषि' की कृपा से हरिद्वार में हमें भी एक बार कुछ एक मृतात्माओं के संसर्ग का अवसर मिला है। यद्यपि साधारण मनुष्य इस रहस्य को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, साथ ही में—'अशक्तमस्पर्शं' गन्तु तथा निन्दा प्रवृत्ति के अनुसार प्रत्यक्षदृष्ट घटनाओं के सम्बन्ध में भी वे गजनिमीलिका किया करते हैं, परन्तु विचारशील मनुष्य शीघ्र ही आत्मसत्ता पर विश्वास करने लगते हैं। छान्दोग्य उपनिषत् में बड़ी युक्ति के साथ आत्मसत्ता सिद्ध की गई है। प्रसंगोपात्त उस आख्यान को उद्धृत कर देना भी अनुचित न होगा।

स्वयम्भूप्रजापति का [illegible]—

भारतीय वैदिक सभ्यता के आदि प्रवर्तक भगवान् स्वयम्भू प्रजापति थे। जिसे आज 'एशिया माइनर'* कहा जाता है, वहीं पर प्रजापति निवास करते। देवत्रिलोकी में रहने वाले देवता (मनुष्यदेवता), एवं अफ्रीकादि असुरत्रिलोकी में रहने वाले असुर, दोनों ही इन को पितृतुल्य समझ कर इन का आदर करते थे एवं इन का अनुशासन मानते थे। देवता और असुर, दोनों ही परम्परया यह सुनते आ रहे थे कि "जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहिचान जाता है, वह सम्पूर्ण लोकों में यथेच्छ भ्रमण करता है एवं उस (आत्मज्ञानी) की कोई कामना अपूर्ण नहीं जाती"। इसी प्रलोभन से देवता और असुर, दोनों को ही आत्मा के उस अजर-अमर-अभय क्षुत्पिपासा रहित आत्मा के वास्तविक स्वरूप जानने की जिज्ञासा हुई। आत्मस्वरूप-सम्बन्धिनी जिज्ञासा शान्त करने के लिए देवताओं की ओर से 'इन्द्र' एवं असुरों की ओर से [illegible]

---

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'शतपथविज्ञानभाष्यान्तर्गत भुवनकोशविज्ञान' में देखना चाहिए।

विरोचन' दोनों* समित्-पाणी बन कर स्वयम्भू प्रजापति की सेवा में पहुंचे। अभी दोनों ही आत्मोपदेश श्रवण के अयोग्य थे। फलतः प्रजापति ने दोनों को आज्ञा दी कि, तुम (आत्म विशुद्ध्यर्थ) पहिले ३२ वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत पालन करो। आज्ञानुसार योग्यता-संपादन करने के लिए दोनों ने ही ३२ वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्यव्रत का सम्यग्रूप से अनुष्ठान किया। ३२ वर्ष समाप्त हो जाने पर पुनः समित्पाणी बन कर दोनों प्रजापति के सम्मुख उपस्थित हुए। "बोलो क्या चाहते हो" प्रजापति के यह पूछने पर उत्तर में दोनों ने ही बड़े विनीतभाव से "सत्यकाम सत्यसंकल्प-जरामरणक्षुत्पिपासा-शोक-मोह-आदि पाप्माओं से रहित आत्मस्वरूप की जिज्ञासा प्रकट की। आत्मा का साक्षात्कार करवाते हुए प्रजापति कहने लगे कि "हे इन्द्र, विरोचन! तुम अपनी दोनों आंखों में जो एक (प्रतिबिम्बित) पुरुष देखते हो वही आत्मा है"। हमारे सामने जब कोई मनुष्य खड़ा होता है तो हमारी दोनों आँखों में उस का चित्र चित्रित हो जाता है। इसी की ओर प्रजापति का लक्ष्य था। जब प्रजापति ने अक्षिपुरुष (प्रतिबिम्बित पुरुष) को आत्मा बतलाया तो कुछ काल के अनन्तर दोनों प्रश्न करने लगे कि "भगवन्! पानी में और काच में जो हम अपना प्रतिबिम्बित रूप देखते हैं वह क्या है?" उत्तर में प्रजापति ने कहा कि "अरे! यह भी वही है जो कि चक्षु में पुरुष बतलाया गया है।" आगे जाकर प्रजापति ने कहा कि "अच्छा ठहरो हम तुमको आत्मज्ञान का और भी सरल उपाय बतलाते हैं। पानी से भरे हुए एक उदशराव (मृत्पात्र) में अपने आपको देखो। यदि ऐसा करने से आत्मा का स्वरूप तुम्हारी समझ में आ जाय, तो अच्छा है यदि नहीं तो फिर पूछना"। आज्ञानुसार दोनों ने ऐसा ही किया। प्रजापति ने पूछा—"क्या देखा" उत्तर मिला— भगवन्! हमने पानी में अपने शरीर को ज्यों का त्यों प्रतिबिम्बित देखा"। प्रजापति ने कहा कि "अब तुम सुन्दर सुपरिष्कृत वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो कर उदशराव की ओर देखो"। आज्ञानुसार दोनों ने ऐसा ही किया। प्रजापति के क्या देखा? यह प्रश्न करने पर उत्तर मिला कि "भगवन्! वेशभूषा से सुपरिष्कृत अपने आप को एवं पानी में हमने ज्यों का त्यों प्रतिबिम्बित देखा"। प्रजापति ने कहा "बस अब तुम आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहिचान गए। जिसे तुमने पानी में देखा है वही आत्मा है"। दोनों की जिज्ञासा शान्त हुई। दोनों अभिवादन कर

---

* प्राचीन समय में जिज्ञासु प्रादेश परिमित समिधा हाथ में लेकर गुरु के सम्मुख खड़ा होजाता था। इससे वह यही सूचित करता था कि, मैं आप का शिष्य बनना चाहता हूं। यदि गुरु उसे योग्य समझते थे तो उसके हाथ से समिधा ले लेते थे अन्यथा योग्यतासम्पादनानुकूल उपाय बतला देते थे। प्राक्प्रचलित समिधा क्यों हाथ में ली जाती है? इस विषय का वैज्ञानिक रहस्य "उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका १खण्ड में देखना चाहिए।

वापस लौट आए। उन के लौट आने पर प्रजापति ने विचार किया कि "दोनों ही आत्मा के वास्तविक स्वरूप को बिना पहिचाने ही चले गए। दोनों में से जो इस शरीररूप आत्मोपनिषद् पर विश्वास कर लेगा निःसन्देह वह पराभव को प्राप्त होगा। अर्थात् हमारे कथनमात्र पर विश्वास कर जो शरीर को ही आत्मा समझ बैठेगा उस का पतन अवश्यंभावी है।"

इधर प्रजापति उक्त विचार कर रहे थे, उधर प्रजापतिकृत शरीरात्मक आत्मोपदेश का मनन करते हुए असुरप्रतिनिधि विरोचन असुरमण्डली में पहुंचे। विरोचन के हृदय में भाव पूर्ण शान्ति थी। मानों उसे आज वास्तव में आत्मज्ञान हो गया हो। इस प्रकार अपने आप को आत्मज्ञान के सम्बन्ध में कृतकृत्य मानता हुआ विरोचन असुरमण्डली को सम्बोधित कर कहने लगा कि— हे भाइयों! इस भौतिक शरीर का ही नाम आत्मा है इसी को समुन्नत करो इसी की अहर्निश आराधना करो। इसी की उपासना से परमानन्द मिल जाता है। विरोचन का अभिप्राय यही था कि जैसे बने वैसे शरीर को सुखी रक्खो। खाओ। पीओ।। मौज उड़ाओ।।। [यदि अमुक वस्तु खाओगे तो शरीर अवश्य पुष्ट होगा परन्तु आत्मा मलिन हो जायगा। परलोक बिगड़ जायगा आज से ऐसे उपदेशों को केवल कल्पना समझो। विश्वास करो कि शरीर से अतिरिक्त कोई नित्य आत्मवस्तु नहीं है। अपि तु शरीर ही आत्मा है।]

"दान का फल यहां नहीं मिलता अपि तु परलोक गत आत्मा दानातिशय का उपभोक्ता बनता है। श्रद्धापूर्वक गुरु-देवता पितरों की उपासना से परलोक सुधरता है। ज्योतिष्टोम यज्ञ से आत्मा त्रिणाचिकेत स्वर्ग में प्रतिष्ठित होता है। यद्यपि उक्त दान-श्राद्ध-यज्ञादि कर्मों का प्रत्यक्ष में कोई फल नहीं दीखता परन्तु परलोक में उन का फल मिलता है" शरीरातिरिक्त आत्मवादियों का यह दृढ विश्वास है। परन्तु जो शरीर को ही आत्मा मानते हैं, उन की दृष्टि में "यज्ञ-तप-दान श्राद्ध" आदि सब निरर्थक हैं। वे लोग इन सब को केवल स्वार्थियों की स्वार्थलीला समझते हैं। विरोचन के आदेश से शरीर को ही आत्मा समझने वाले असुरों ने उक्त सब शास्त्रीय कर्मों पर अश्रद्धा की। अस्तु तभी से यज्ञादि पर अश्रद्धा रखने वाली सम्प्रदाय "असुर सम्प्रदाय" नाम से प्रसिद्ध हुई। इसी आधार पर आज भी जो दान नहीं करते, गुरु देवता की उपासना नहीं करते श्राद्ध पर विश्वास नहीं करते यज्ञादि नहीं करते ऐसे अश्रद्धालु अयज्ञ-मार्गों के लिए विद्वान् कहा करते हैं कि "अरे यह तो आसुरभाव से युक्त है असुर सम्प्रदाय का अनुयायी है।" असुरों ने ही तो शरीर को आत्मा समझ कर दानादि को अनुपयुक्त समझा है। शरीररूप आत्मोपनिषत् "आसुरीउपनिषत्" है।

विरोचन ने जब असुरों से कहा कि शरीर ही आत्मा है, तो तब से उन्होंने शव को न जलाने की प्रथा को और भी दृढ़ कर दिया। आत्मा के निकल जाने पर भी उनका विश्वास है कि, अभी आत्मा ज्यों का त्यों विद्यमान है केवल मूर्च्छामात्र है। अतएव वे लोग अन्न वस्त्र आभूषणादि उपकरणों के साथ मुर्दों का सुरक्षित स्थान में रख देते हैं, जलाते नहीं। आगे जाकर श्रुति कहती है कि—'इन असुरों का ऐसा विश्वास है कि, ऐसा करने से इसे परलोक में सुख मिलेगा'। सुप्रसिद्ध 'आर्मिनिया' स्थान में एक बार महा-देवासुरसंग्राम हुआ था। वहां पर युद्ध में जो असुर मरते थे, उन्हें वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कर वहीं नियत सुरक्षित स्थानों में रख देते थे। श्मशानभूमि के लिए आसुरीभाषा में 'अमक' शब्द नियत है, एवं जहां शव रक्खा जाता है वह स्थान (कबरिस्तान) "बेल" नाम से प्रसिद्ध है। जो प्रतिष्ठित असुर होते थे, उन के लिए बड़े बड़े प्रासाद बनाए जाते थे। उनमें चिरकाल तक के लिए पर्य्याप्त भोग्य सामग्री रक्खी जाती थी। यही महाशवस्थान ऋग्वेद में "महाबेल" * नाम से प्रसिद्ध है। एवं अवर कोटि के असुरों का शवस्थान "बेल" नाम से प्रसिद्ध है। बेल, एवं महाबेल रूपा श्मशान भूमि ही 'अमक' नाम से प्रसिद्ध है। इसी 'अमक' के सम्बन्ध से यह स्थान 'आर्मिनिया' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। पुरातत्त्ववेत्ताओं ने आज ऐसे कई स्थानों का अन्वेषण कर यह सिद्ध कर दिया है कि, वास्तव में पुरायुग में शव रखने के लिए बड़े बड़े स्थान बनाए जाते थे एवं वहां खाद्य-वस्त्रादि उपकरण सामग्री प्रचुर मात्रा में रक्खी जाती थी। उस युग की रक्खी हुई जीर्ण शीर्ण वस्तुएं आज भी उपलब्ध हो रही हैं।

आत्मसत्ता का वास्तविक स्वरूप न समझने वाले असुर-सम्प्रदायानुयायी मनुष्य आज भी मुर्दों को पुष्पमालादि से अलंकृत कर गाड़ते मात्र हैं। बड़े दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि 'भस्मान्तं शरीरम्' (ईशोपनिषत्) सिद्धान्त को मानने वाले आत्मनित्यवादी आस्तिक भी आसुरभावापन्न यवनों के संसर्ग से शव को वस्त्रालङ्कारादि से सुसज्जित कर बाजे गाजे के साथ उसे श्मशानभूमि में ले जाते हैं। उन्हें यह नहीं भुला देना चाहिए, कि—"प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालङ्कारेणेति संस्कुर्वन्ति एतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते" इस श्रौत कथन के अनुसार यह आसुरसम्प्रदाय है। इस से कोई फल नहीं है।

यह तो हुई असुरों की कथा। अब इन्द्र की दशा पर दृष्टि डालिए। प्रजापति के पास से लौट कर इन्द्र देवताओं के पास न गए। अपि तु मार्ग में ही एक स्थान पर ठहर गए, एवं प्रजापति के बतलाए हुए आत्मस्वरूप पर विचार करने लगे। उन्होंने अपनी बुद्धि से विचार

---

* अवासां मघवञ्जहि शर्धो यातुमतीनाम्।
वैलस्थानके अर्मके महावैलस्थे अर्मके॥ —ऋक् सं १ मं ।१३३ सू ।३ मन्त्र।

१

किया कि, प्रजापति ने शरीर को आत्मा बतलाया है। परन्तु यह बात समझ में नहीं आती। यदि हम सुन्दर वस्त्र पहिन कर पानी में देखते हैं, तो उस में वैसी ही परछाइ पड़ती है। यदि आंख बंद कर देखते हैं तो प्रतिबिम्ब की भी आंखें मिच जाती हैं। यदि कटे हुए हाथ से देखते हैं, तो प्रतिबिम्ब भी कटे हाथ वाला हो जाता है। इन सब परिस्थितियों से तो यही सिद्ध होता है कि, यदि हमारा हाथ कट गया तो उतना आत्मा कट गया, आंख फूट गई, तो आत्मा अन्धा बन गया। ये बातें आत्मा के सम्बन्ध में समझ में नहीं आतीं। प्रजापति ने तो आत्मा को 'अमृत-अभय नित्य-अविनाशी बतलाया था। परन्तु मैं तो उक्त लक्षणों से इसे सर्वथा भयरूप देख रहा हूँ मरणधर्मा पा रहा हूँ। सम्भवतः प्रजापति का अभिप्राय कुछ और ही होगा। मैंने ने आत्मस्वरूप समझने में अवश्य भूल की है। इन्द्र वापस लौटे। समित्पाणी बन कर पुनः प्रजापति के सामने विनीत भाव से खड़े हुए।

प्रजापति ने पूछा कि — मघवन्! तुम तो विरोचन के साथ साथ ही कृतकृत्य होकर लौट गये थे। हमने तो समझा था कि, तुम्हारा समाधान हो गया। फिर वापस लौटने का क्या कारण"? इन्द्र के हृदय में आत्मा के सम्बन्ध में जो सन्देह हुआ था उस का विश्लेषण करते हुए इन्द्र ने कहा कि, भगवन आपने (प्रतिबिम्बरूप) जिस आत्मा का स्वरूप बतलाया है वह तो नाशवान् है भयप्रद है। इधर आत्मा का स्वरूप बतलाते हुए आपने कहा था कि, आत्मा नित्य है, अभय है अपहतपाप्मा है। उत्तर में प्रजापति ने कहा कि, मघवन। हमने आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में जो कुछ कहा था ठीक कहा था। हमने कभी शरीर को आत्मा नहीं बतलाया। तुम्हारे समझने में भूल हुई है। अस्तु कोई चिन्ता नहीं। ३२ वर्ष पर्यन्त पुनः ब्रह्मचर्य व्रत का अनुष्ठान करो। तदनन्तर तुम्हारे लिए आत्मस्वरूप का स्पष्टीकरण करूंगा। आज्ञानुसार इन्द्र ने पुनः ३२ वर्ष तक उसी कठिनतम व्रत का अनुष्ठान किया अनुष्ठान समाप्त हो जाने पर प्रजापति की सेवा में इन्द्र उपस्थित हुए।

प्रजापति ने इन्द्र को लक्ष्य कर कहा कि, मघवन्! जिस आत्मा को हमने आरम्भ में — चक्षुर्द्वारा बतलाते हुए 'चाक्षुषपुरुष' कहा था आगे जाकर उदशराव के दृष्टान्त से प्रतिबिम्ब द्वारा जिस आत्मा का परिज्ञान करवाया था वास्तव में वही आत्मा है। यदि तुम इस दृष्टान्त से न समझे, तो स्वप्नजगत' (सपने की दुनिया) पर दृष्टि डालो तुम्हारा समाधान हो जायगा। तुम रात्रि में स्वप्न देखा करते हो। स्वप्न में तुम्हारा शरीर तो जहां का तहां रहता है किन्तु आत्मतत्त्व बाहिर घूमा करता है। पुत्र-स्त्री-धन-धान्यादि महिमाओं से युक्त होकर वह इतस्ततः विचरा करता है। यही स्वप्नद्रष्टा महात्मा अभय-अमृत नामापन्न आत्मा है।" प्रजापति के उक्त आत्मादेश का हृदयङ्गम कर इन्द्र वापस लौट। परन्तु अभी वे देवताओं के पास न जाकर मार्ग में ही विचार करने लगे कि-प्रथम बार प्रजापति ने स्वप्नद्रष्टा को आत्मा कहा है।

यद्यपि यह ठीक है कि, शरीर के अन्ध विकृत होने पर स्वप्नद्रष्टात्मस्वरूप विकृत नहीं होता, शरीर के दोष उस का कोई अनिष्ट नहीं कर सकते। स्वप्नावस्था में एक व्यक्ति मर जाता है। साथ ही में वह अपने मरे हुए शरीर को ही देखा भी करता है। इस से उसका शरीर से पार्थक्य भी सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार शरीरात्मवाद में जो भय था, वह तो यहां नहीं है। तथापि हम देखते हैं कि, इस स्वप्नद्रष्टा को स्वप्नावस्था में अन्य व्यक्ति यथेच्छ पीड़ा पहुंचा सकता है। स्वप्नद्रष्टा पर स्वप्न में प्रहार होता है, वह मार दिया जाता है। यद्यपि वह मरता नहीं, परन्तु मरने की प्रतीति होने लगती है। मानसिक जगत के आक्रमण स्वप्नद्रष्टा में क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं। पुत्रादिमरण का उसे शोक होता है। अपि च दुःख से पीड़ित होकर स्वप्नद्रष्टा स्वप्न में कभी कभी रोने भी लगता है, अतएव जागने पर अश्रुबिन्दु उपलब्ध होते हैं। उधर आत्मा अजर है, अभय है, अशोक है, अपिपास है, अमृत है। इधर स्वप्नद्रष्टा सभय, सशोक, मरण धर्मा है। इसे प्यास लगती है, भूख लगती है। ऐसी अवस्था में स्वप्नद्रष्टा को भी आत्मा नहीं कहा जा सकता। अवश्य ही प्रजापति के तात्पर्य्य समझने में हमने फिर भूल की है।

उक्त संदेहों के निराकरण के लिए इन्द्र समित्पाणी बन कर पुन प्रजापति की सेवा में उप स्थित होते हैं। एवं अपने संदेह का उल्लेख करते हुए कहते हैं, 'भगवन । जिस स्वप्नद्रष्टा को आपने आत्मा बतलाया है, वहां भी मैं अभिलषित फल नहीं देखता'। अर्थात् आत्मा के जिस विशुद्ध अमृत-अभय रूप को मैं जानना चाहता था, उसे न जान सका। प्रजापति ने उत्तर दिया कि "मघवन्। हमने जिसे स्वप्नद्रष्टा कहा है, वह अवश्यमेव आत्मा है। तुम हमारे आभ्यन्तर अभिप्राय को यथावत् समझ न सके। अस्तु, कोई चिन्ता नहीं। ३२ वर्ष तक और एक बार ब्रह्मचर्य का अनुगमन करो। पश्चात् आत्मा के मौलिक स्वरूप का स्पष्टीकरण करूंगा"। आज्ञानुसार पुन ३२ वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्य व्रत को समाप्त कर समित्पाणी इन्द्र प्रजापति के सामने उपस्थित हुए। आत्मस्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए प्रजापति ने कहा कि "मघवन्। जो आत्मतत्त्व आंखों में रहता है, जो महीयान् बन कर स्वप्न देखा करता है, एवं जो तत्त्व सुषुप्तिकाल में संप्रसादभाव को प्राप्त होता हुआ स्वप्नज्ञान से विमुक्त हो जाता है, जिस अवस्था में सम्पूर्ण बाह्य-आभ्यन्तर विषयों से जिसका सम्बन्ध टूट जाता है, सुषुप्ति का अधिष्ठाता संप्रसादमूर्त्ति वही तत्त्व आत्मा है। वह अमृत है, अभय है।' इन्द्र सन्तुष्ट हुए, वापस लौटे, परन्तु अभी देवताओं के पास न जाकर प्रजापति द्वारा निर्दिष्ट आत्मस्वरूप पर विचार करने लगे। वहां भी भय ने इन्द्र का पीछा न छोड़ा। इस में भी उन्हें भय दिख लाई पड़ा।

इन्द्र ने विचार किया कि, "सुषुप्ति अवस्था में जो तत्त्व रहता है, प्रजापति ने उसे आत्मा

कहा है। परन्तु यह बात भी समझ में नहीं आती। यह अवस्था तो सर्वशून्यावस्था है। इस में तो "अहमस्मि (मैं हूँ) इस अपनी सत्ता का भी ज्ञान नहीं रहता। साथ ही में ज्ञान-साधक सम्पूर्ण भौतिक विषयों का भी इस अवस्था में आत्यन्तिक अभाव रहता है। दूसरे शब्दों में इस अवस्था में आत्मा विनाश की ओर झुका रहता है। ऐसी स्थिति में सुषुप्ति-अवस्था-पुरुष को भी आत्मा नहीं कहा जा सकता। अवश्य मैं अपने ही बुद्धिदोष से प्रजापति के वास्तविक अभिप्राय को यथावत् नहीं समझने पाया।" इस प्रकार अपने आप की भर्त्सना करते हुए इन्द्र समित्पाणी बन कर पुनः प्रजापति के समीप उपस्थित हुए। पुनः ३२ वर्ष के ब्रह्मानुष्ठान का आदेश हुआ। परम धीर देवेन्द्र ने पुनः ३२ वर्ष का अनुष्ठान किया। अनन्तर आत्मस्वरूप जिज्ञासा प्रकट की। इन्द्र का यह अद्भुत धैर्य एवं वास्तविक जिज्ञासा देख कर प्रजापति हृदय से प्रसन्न होते हुए आत्मा के वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण करते हुए कहने लगे—

मघवन्। यह शरीर मर्त्य है मृत्युधर्म से नित्य आक्रान्त है। ऐसा मरणधर्म्मा यह शरीर उस अमृत-अशरीर-आत्मतत्त्व का अधिष्ठान है। इस मरणधर्म्मावच्छिन्न शरीर से युक्त होने के कारण सोपाधिक बनता हुआ शरीरावच्छिन्न अमृतात्मा शरीर से सम्बन्ध रखने वाले प्रिया-प्रियभाव से नित्य आक्रान्त हो रहा है। तुम इसे शरीरावच्छिन्न समझ रहे हो। जब तक आत्मा और शरीर का तुम विवेक नहीं कर लोगे, तब तक प्रियाप्रिय (पुण्यापुण्य-सुखदुःख-शोकमोह-लक्षण द्वन्द्वभाव) से कभी छुटकारा नहीं पा सकोगे। विनाशधर्म्म शरीर का है आत्मा का नहीं है। "चाक्षुषपुरुष स्वप्नद्रष्टा सुषुप्ति का अधिष्ठाता' तीनों एक तत्त्व हैं यह अवश्य ही आत्मा है। परन्तु तुमने अब तक इसे शरीर की दृष्टि से देखा है। अतएव आत्मा के इन तीनों विवर्त्तों में तुम्हें भय के ही दर्शन हुए। इस लिए इस सर्वान्त में तुम्हें यह आदेश कर देते हैं कि, तुम आत्मा को शरीर से सर्वथा पृथक् समझा करो। जिस दिन तुम्हारा यह विवेक दृढ़मूल बन जायगा उस दिन तुम अपने आप आत्मा के वास्तविक विशुद्ध रूप का समझ जाओगे। आत्मा स्वयं विज्ञाता है—"विज्ञातारं वा अरे केन विजानीयात्"। तुमने हमसे आत्मा का विशुद्ध रूप पूछा। आत्मा कभी विशुद्ध रहता नहीं। अतः हमें सोपाधिक भावों को आगे कर तटस्थ लक्षणों द्वारा आत्मस्वरूप का प्रतिपादन करना पड़ा। सोपाधिक रूपों में भय की आत्यन्तिक निवृत्ति वास्तव में नहीं है। अतः तुम्हारा पुनः पुनः संदेह करना ठीक था। परन्तु हम इस से अधिक शब्द द्वारा कहने में असमर्थ हैं। वह तो स्वानुभवैकगम्य है—"सो जाने जेहि देहि जनाई"—"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः"। बात यथार्थ है। शर्करा मिश्री-इक्षुरस-द्राक्षा' सभी तो मधुर हैं। हम अपने पाठकों से पूछते हैं कि, इन की मधुरता में जो अन्तर है, वह शब्द द्वारा बतलाइए? जिह्वा जानती है, कह नहीं सकते यही उत्तर होगा। जब लौकिक विषयों के स्पष्टीकरण में भी शब्द की गति रुक जाती है तो फिर उस लोकातीत आत्मतत्त्व का

विश्लेषण शब्द द्वारा कैसे संभव हो सकता है। आत्मतत्त्व की इसी अनिर्वचनीयता, एवं स्वानुभवैकगम्यता का दिग्दर्शन कराते हुए अभियुक्त कहते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

—कठोपनिषत् १।२।२२।

"आप आत्मा के सम्बन्ध में बड़े बड़े व्याख्यान देते हैं, आप बहुत बुद्धिमान् हैं, आप रात दिन तपश्चर्या में रत रहते हैं, आपने पर्याप्त विद्याध्ययन किया है, उपदेश सुने हैं, परन्तु इन सबसे आत्मज्ञान नहीं हो सकता। यज्ञ तपो दान लक्षण निष्कामकर्म के प्रभाव से जिस दिन आवरण हट जाता है उस दिन तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति (गी० ४।३८।) के अनुसार अपने आप आत्मदेवता आप पर अनुग्रह कर देते हैं। उस योगी का आत्मा अपने स्वरूप को खोलकर उसके सामने रख देता है"।

"परलोक कोई वस्तु नहीं है। संपत्ति ही सुख का मूल है। जिसे (आत्मा) कभी आंखों से नहीं देखा उसे मान कर सांसारिक सुख छोड़ बैठना मूर्खता है। आत्म परमात्म-परलोक-आगति-गति-पाप-पुण्य-श्राद्ध-दान-यज्ञ-तप-ये सब अकर्मण्यों की लीला है" इस प्रकार के कुतर्कों से आत्मतत्त्व का तिरस्कार करने वालों की स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए, साथही में उन्हें सन्मार्ग पर लाने के लिए कारुणिक महर्षि आदेश करते हैं—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥१॥
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥२॥

१—सांसारिक धन के मोह से उन्मत्त बने हुए उस बालबुद्धि की दृष्टि में परलोकप्राप्ति कोई वस्तु नहीं है। वह अभिमानी, जो अभिमानवश "यही लोक है, परलोक कोई वस्तु नहीं है" यह कहा करता है, वही बार बार मेरे ([illegible] के) वश में आया करता है।

२—बहुत आदमी सुनने से भी जिसको इसलिए ज्ञात नहीं होता, सुन कर भी कितने ही मनुष्य उस ज्ञान से वंचित रह जाते हैं। आत्मतत्त्व को बतलाने वाला ऐसे परिमाण में आश्चर्य एवं इस का साक्षात्कार करने वाला कोई विरला ही है।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ ३ ॥
नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ४ ॥

—कठोपनिषद् १।२।८,९

अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ ५ ॥

—कठोपनिषद् १।२।२२

इस प्रकार प्रजापति ने क्रम रूप से उपदेशक्रम द्वारा इन्द्र को आत्मसाक्षात्कार करवाया। प्रजापति के अनुग्रह से इन्द्र आत्मा के वास्तविक रूप को यथावत् हृदयङ्गम कर पूर्ण-सन्तुष्ट होकर देवमण्डली में लौट आए। (देखिए छा० उपनिषद् ८।७-१२ १०,११,१२ खं०)

इस आख्यान के सम्बन्ध में केवल यही प्रश्न शेष रह जाता है कि, "प्रजापति ने आत्म स्वरूप बतलाने में आरम्भ में इन्द्र की वञ्चना क्यों की ?। जिस तत्त्व का विश्लेषण उन्होंने पर्यन्त में किया उसे आरम्भ में ही क्यों न बतला दिया" ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में पहिले तो हम यही कहेंगे कि, प्रजापति ने आत्मा के सम्बन्ध में जितने उत्तर दिए, वे सब यथार्थ थे। उदाहरण के लिए पहिले चक्षु में प्रतिबिम्बित पुरुष को ही लीजिए। प्रजापति ने कहा था कि हमारी आँखों में तुम्हें जो पुरुष दिखलाई पड़ता है, वही आत्मा है। हमारी आँखों में तभी तक अन्य पुरुष का प्रतिबिम्ब विकसित रहता है, जब तक कि आत्मसत्ता रहती है। मुर्दे की आँख में कभी अन्य मनुष्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। शरीर को ही आत्मा मानने वालों से हम पूछते हैं कि, यदि शरीर ही आत्मा है, तो जिस प्रकार जीवित अवस्था में पुरुष की आँखों

१—यह आख्यान [illegible] नहीं है। [illegible] होने [illegible] नहीं है [illegible] होने से [illegible] के लिए [illegible] (गुरु आदि) [illegible] और [illegible] नहीं है।

२—[illegible] यह [illegible] नहीं [illegible]। [illegible] चाहिए कि, [illegible] होती है। अर्थात् [illegible] के लिए [illegible] है। [illegible] के लिए ही [illegible] है। + + + + +। [illegible] विज्ञानभाष्य [illegible]।

में अन्य पुरुष प्रतिबिम्बित होता है, इस प्रकार शवशरीर की आँखों में प्रतिबिम्ब क्यों नहीं प्रतिष्ठित होता ? । इस प्रश्न के समाधान के लिए आपको शरीर से सर्वथा भिन्न प्रतिबिम्ब ग्राहक एक तत्त्वविशेष (आत्मा) मानना पड़ेगा । जब यह आक्रान्त हो जाता है, तो प्रतिबिम्ब का उदय नहीं होता । प्रतिबिम्बित पुरुष को आत्मा बतलाने का अभिप्राय यही था कि जिस तत्त्व के आधार पर यह प्रतिबिम्ब स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित है, वही ग्राहकतत्त्व आत्मा है । मरने के अनन्तर प्रतिबिम्ब क्यों नहीं रहता' यदि इन्द्र यह विचार करते तो उन्हें आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता ।

अपि च सर्वाङ्गशरीर में चक्षुरिन्द्रिय ही आत्मविकास का मुख्य द्वार है । शरीर की श्री (कान्ति शोभा) चक्षुरिन्द्रिय पर ही निर्भर है । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, एक चतुर शिल्पी के द्वारा बनाई गई पाषाणप्रतिमा के जब तक चक्षुर्गोलक में कृष्णकनीनिका नहीं बना दी जाती तब तक मूर्त्ति महाभयावह प्रतीत होती है । बिना चक्षु-सम्बन्ध के पाषाण-प्रतिमा शव-समान दिखलाई पड़ती है । चक्षु-सम्बन्ध होते ही मूर्त्ति जीवित सी हो उठती है । ऐसा प्रतीत होता है मानो मूर्त्ति अभी मुख से कुछ कहने वाली है । इस प्रकार एक जीवित मनुष्य का शरीर जहां अभयभाव से आक्रान्त रहता है, वहां वही शरीर आत्मा के निकल जाने पर भयावह प्रतीत होने लगता है । इस भय की मूल प्रतिष्ठा चक्षुर्गोलक ही है । शवशरीर की आंख ही भय का कारण बनती हैं । क्यों ? उत्तर वही 'आत्मश्री' है । चक्षु ही सत्य आत्मा की प्रधान प्रतिष्ठा होने से 'सत्य' कहलाता है । चक्षु ही आत्मयश की विकास भूमि होने से 'यश' कहलाया है । जैसा कि—"एतद्ध वै मनुष्येषु सत्यं निहितं यच्चक्षुः" (ए० ब्रा० १।६।), "चक्षुर्वै प्रतिष्ठा" (शत० १४।८।२।३।) "चक्षुरेव यशः" (गो० ब्रा० पू० ब्रा० ५।१५।) इत्यादि श्रौत वचनों से भी चाक्षुषपुरुष का आत्मत्व सिद्ध होता है ।

अपि च वास्तव में 'चाक्षुषपुरुष' का ही नाम आत्मा है, जो कि आत्मा (विज्ञानात्मा) उपनिषदों में 'दक्षिणाक्षिपुरुष' नाम से प्रसिद्ध है । आत्मतत्त्व का अभिमानी देवता इन्द्र है । यह ज्ञानात्मक विज्ञान यह विज्ञानघन इन्द्रतत्त्व अन्न रूप से हृदयस्थ प्रज्ञान मन पर प्रतिष्ठित रहता हुआ अर्क (रश्मि) रूप से दक्षिण नेत्र पर्य्यन्त वितत रहता है । इसी के लिए श्रुति कहती है —

> यदेतन्मण्डलं तपति, यश्चैष रुक्म-इद् तच्छुक्लमक्षन् । अथ यदेतदर्चि र्दीप्यते, यच्चैतत् पुष्करपर्णमिदंतत् कृष्णमक्षन् । अथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः, यश्चैष हिरण्मयः पुरुषोऽयमेव स-योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः"
>
> —शत० १०।५।२।६।

इसी इन्द्रवत्त्व से इन्द्रात्मा इन्द्र ने आत्मा का स्वरूप पूछा, प्रजापति ने प्रतिबिम्बित पुरुष के ब्याज से इसी आत्मरूप चाक्षुषपुरुष को सामने रख दिया। इन्द्र की उधर दृष्टि न गई, यह दूसरी बात है, परन्तु प्रजापति के उत्तर में किसी प्रकार के शीघ्रक्षेम का अवसर नहीं है।

आगे जाकर प्रजापति ने उदशरावस्थ प्रतिबिम्ब को सामने रक्खा। मिट्टी का पात्र है, उस में पानी भरा हुआ है उस पर शरीर का प्रतिबिम्ब है। आत्मस्वरूपज्ञान के सम्बन्ध में इस से अन्य अनुरूप दृष्टान्त नहीं मिल सकता। यदि इस दृष्टान्त के वास्तविक रहस्य को समझ लिया जाता है, तो निःसन्देह आत्मस्वरूप परिज्ञात हो जाता है। हमारा शरीर पार्थिवभाग-प्रधान है, मृण्मय है दूसरे शब्दों में मिट्टी का शराव है। लोम-केश-नखाग्रों को छोड़ कर सर्वाङ्ग शरीर में रस रूप पानी भरा हुआ है। पारमेष्ठ्य महान् आपोमय है, रसमय है। 'गोदरी-पुरुष' नाम से प्रसिद्ध चिदात्मा का प्रतिबिम्ब (चिदाभास) इसी महद्ब्रह्म पर प्रतिष्ठित होता है, जैसा कि—"मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्" (गी० १४।३) इत्यादि स्मृतिवचन से स्पष्ट है। मृण्मयशरीरस्थ पानरूप अप्रूप महद्रस जहां तक व्याप्त है "यावानु वै रसस्तावानात्मा" (शत० ब्रा० ७-४-१-१०) के अनुसार वहां तक चिदंश (आत्मा) व्याप्त रहता है। इसी चिदाभास का नाम जीवात्मा है। दूसरे शब्दों में उदशरावरूप शरीर में चिद्रूप पुरुष प्रतिबिम्बित है। इन्द्र यदि इस परिस्थिति को समझ लेते तो उन्हें आगे सन्देह करने का अवसर न मिलता। इस प्रकार इस उपदेश की सत्यता भी अक्षुण्ण ही माननी पड़ती है।

तीसरा उपदेश स्वप्नद्रष्टा से सम्बन्ध रखता है। प्रज्ञानमन पर प्रतिष्ठित सौर विज्ञानात्मा ही (मनोऽवच्छेदेन) स्वप्नद्रष्टा है। इन्द्रियों के द्वारा मन पर आए हुए वासनारूप भौतिक विषयों को विज्ञानात्मा स्वप्नावस्था में देखा करता है। मन चान्द्र है विज्ञान सौर है। दोनों ही जड़ हैं। विज्ञान (बुद्धि) का विज्ञानत्व उसी चिज्ज्योति पर निर्भर है। विज्ञान-ज्योति से प्रज्ञानमन प्रकाशित रहता है। चिदात्मा से विज्ञान प्रकाशित रहता है। विज्ञानात्मा द्रष्टा नहीं है, अपि तु विज्ञानप्रतिष्ठ चित्प्रकाश द्रष्टा है। चिदाभासलक्षण आत्मा ही वास्तव में स्वप्नद्रष्टा है किंवा सर्वद्रष्टा है—"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। (मुण्डकोपनिषत् ५।७।१ ।) इसी अवस्था में द्रष्टा को आत्मा बतलाना यथार्थ ही है। इन्द्र ने शुद्ध द्रष्टा पर लक्ष्य न देकर मनोऽवच्छिन्न द्रष्टा पर दृष्टि डाली। 'भय-शोक-मृत्यु क्षुधा-पिपासा-मोह आदि मन के धर्म हैं न कि द्रष्टा के। यदि इन्द्र शुद्ध द्रष्टाभाव पर दृष्टि डालते, तो उन्हें वास्तव में आत्मबोध हो जाता। इसी द्रष्टा भाग को सबसे पृथक् छांट कर बतलाते हुए प्रजापति ने अन्त में कहा है कि—"जो सुप्तावस्था में जाकर किसी प्रकार का स्वप्न नहीं देखता वही आत्मा है"। विज्ञानात्मा जब प्रज्ञानात्मा को साथ लेकर 'पुरीतति नाड़ी' में चला

जाता है तो उस अवस्था में स्वप्न का भी अभाव हो जाता है। उस समय केवल शुद्ध द्रष्टा का साम्राज्य रहता है। इन्द्र ने शङ्का की थी कि, 'यह तो उस की विनाशावस्था है, उस समय उसे अपना स्वरूपज्ञान ही नहीं रहता'। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।

"यद्वै तन्न पश्यति, पश्यन्वै तन्न पश्यति। न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात्। न तु तद्द्वितीयमस्ति–ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्"। —बृ० आ० उप० ४।३।२३।

इत्यादि के अनुसार द्रष्टा त्रिकालाबाधित है। भौतिक विषय ही तो देखने की वस्तु है। जब इस अवस्था में विषय ही नहीं, तो फिर देखे किसे। इस अवस्था में तो यह आत्मतत्त्व अपने चिदानन्द से अपने आप में ही डूबा हुआ रहता है। अतएव 'स्वमपीतो भवति (छान्दोग्य उप० ६।८।१)' के अनुसार इस अवस्था के लिए 'स्वपिति' कहा गया है—(प्रश्नोपनिषत् ४।२)। 'द्वितीयाद्वै भयं भवति (बृ० आ० उप० १।४।२।)' "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते-अथ तस्य भयं भवति' (तैत्ति० उप० २।७) इत्यादि औपनिषद सिद्धान्तों के अनुसार जब तक द्वैत बना रहता है, तब तक अवश्य ही भय का सञ्चार रहता है। इसीलिए शरीरदृष्टि से ही उसे देख रहे थे। क्योंकि शरीरावच्छिन्न, किंवा विषयावच्छिन्न आत्मतत्त्व शरीर के समान होने से भयाक्रान्त सा ही दिखलाई पड़ता है। सुषुप्ति में इन सब विप्रतिपत्तियों का अभाव है। इसी शोकातीत आत्मस्वरूप का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है —

"स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति।
शुक्रमादाय पुनरैति स्थानं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः ॥ १ ॥
प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा।
स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः ॥ २ ॥
स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि।
उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥ ३ ॥

—बृ० आ० उप० ४।३।११,१२,१३।

तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा, अपहतपाप्माऽभयं रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नान्तरं, एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नान्तरम्। तद्वा अस्यैतदाप्तकाम मात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्"।

—बृ० आ० उप० ४।३।२१

इसी विशुद्ध रूप को लक्ष्य में रखकर प्रजापति ने आगे जाकर कहा है कि, "जब तक तुम्हारी दृष्टि शरीर पर है, तब तक भय है तभी तक प्रियाप्रिय का सम्बन्ध है। शरीररूप पशु भाग से दृष्टि हटाओ आत्मरूप रसभाग पर दृष्टि डालो। तभी तुम्हें अभयपद प्राप्त होगा"।

उक्त आख्यान से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि, आत्मा अवश्य ही शरीर से अतिरिक्त नित्य पदार्थ है, एवं यह शुभाशुभ फल भोगने के लिए आतिवाहिक शरीर धारण कर लोकान्तर में गमन करता है।

वेदान्त वचनों (उपनिषद्वचनों) का समन्वय करने वाले 'ब्रह्मवाद' प्रतिपादक शारीरक दर्शन के आरम्भ के दो अध्यायों में परमतनिरूपण एवं तन्निराकरण पुरःसर आत्म-अनात्म भाव के विवेक का व्यासभगवान् ने विशद रूप से निरूपण किया है।

व्यासाभिमते आत्मगति परीक्षा —

वहां यह सिद्ध किया गया है कि, "आत्मा शरीर से भिन्न पदार्थ है। नाम-रूप-कर्म्म की समष्टि शरीर है, यह सर्वथा असत् है। एवं अस्ति-भाति-प्रिय (सत्ता-चेतना-आनन्द) की समष्टि आत्मा है यह सर्वथा सत् है। यह सदात्मा यथाविद्य, यथाकर्म्म नवीन नवीन शरीर धारण करता रहता है"। इस प्रकार वहां यह भलीभांति सिद्ध कर दिया गया है कि, पूर्व शरीर को छोड़ने के अनन्तर यह आत्मा अवश्य ही दूसरा शरीर धारण करता है। एवं इस सूक्ष्मशरीर को धारण कर आत्मा लोकान्तर में गमन करता है। इसी आत्मगति का निरूपण करते हुए निम्न लिखित व्याससूत्र हमारे सामने आते हैं।

१—"तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्"।

२—"त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्"।

३—"प्राणगतेश्च"।

४—"अग्न्यादिषु गतिश्रुतेरिति चेन्न, भाक्तत्वात्"।

५—"प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न, ता एव ह्युपपत्तेः"।

६—"अश्रुतत्वादिति चेन्न, इष्टादिकारिणां प्रतीतेः"।

७—"भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति"।

—शारीरकदर्शन ३ अ । १ पा । १-२-३-४-५-६-७ सूत्र

प्राचीन व्याख्याताओं ने उक्त "आरोहोपक्रमाधिकरण" का जो अर्थ किया है, पहिले हम उसी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं।

१—"अथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति" (बृ० आ० उप० ४।३।१।) यहां से आरम्भ होकर "अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते (बृ० आ० उप० ४।४।४) इस वाक्य पर समाप्त होने

वाली बृहदारण्यक-श्रुति से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि, सेन्द्रिय, समनस्क, मुख्य प्राणयुक्त, विद्या कर्म पूर्वप्रज्ञा आदि परिग्रहों से युक्त यह जीवात्मा (कर्ममोक्ता मोक्तात्मा) पूर्व देह को छोड़ने के अनन्तर अवश्य ही देहान्तर धारण करता है। द्वितीय देह धारण करने वाला बतलाने वाली उक्त बृहदारण्यक श्रुति ने— "स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददान" (बृ० आ० उप० ४।४।१) इत्यादिरूप से जाते हुए जीवात्मा के साथ तेजोमात्रा का ही सम्बन्ध बतलाया है। उक्त वाक्य में भूतमात्रा का गमन अश्रुत है। अतः सिद्ध होता है कि, द्वितीय देह धारण करने वाला जीवात्मा इस पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर को छोड़ता हुआ भूतमात्रा से अपरिष्वक्त (पृथक्) होता हुआ ही लोकान्तर में गमन करता है। इस पर बादरायण कहते हैं कि, ऐसा नहीं है। तेजोमात्रा के साथ साथ ही जीवात्मा के साथ भूतमात्रा का भी सम्बन्ध रहता है। इसी सिद्धान्त को दृढ़ करते हुए व्यास कहते हैं —

(१) "तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति, सपरिष्वक्तः -प्रश्ननिरूपणाभ्याम्"।

"पूर्व शरीर छोड़ने के अनन्तर जीवात्मा अवश्यमेव नवीन शरीर धारण करता है" जब (पूर्व के दो अध्यायों से) यह सिद्ध हो गया है—तो मानना पड़ेगा कि, जीवात्मा भूतमात्राओं से संपरिष्वक्त होकर ही लोकान्तर में गमन करता है—(जाता है)। क्योंकि छान्दोग्यश्रुति में पञ्चाग्निविद्याप्रकरण में 'उद्दालक' और 'प्रवाहण' के परस्पर में होने वाले आत्मगति-सम्बन्धी प्रश्नोत्तरों से यही सिद्ध होता है। इस प्रश्नोत्तरी के सम्बन्ध में निम्न लिखित श्लोक सुप्रसिद्ध है—

"तदन्तरेत्यादिकसूत्रमेतद् मूर्धा तदर्थं यदि वेत्थ किञ्चित्।
स प्राह जीव करणाद्यमादे संवेष्टितो गच्छति भूतसूक्ष्मैः ॥
छान्दोग्यभुवी गौतमजैवलीयप्रश्नोत्तराभ्यां प्रथितोऽयमर्थः ॥"

उद्दालक प्रवाहण से प्रश्न करते हैं —"वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" (छान्दो० उप० ५।३।३) (यदि जानते हो तो बतलाओ। पानी पांचवीं आहुति में कैसे पुरुष बन जाता है?)। श्रुति उत्तर देती है—"चान्द्रमण्डल में श्रद्धा नाम का पानी व्याप्त हो रहा है। "चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि" (यजुः सं० १४६०) के अनुसार इसी श्रद्धासमुद्र में चन्द्रमा परिभ्रमण किया करता है। इस श्रद्धारूप 'श्रद्धावत्त्व' का पुरुष 'आदित्याग्नि (दिव्याग्नि) में आहुति होती है इससे 'सोम' उत्पन्न होता है। सोम की 'पर्जन्याग्नि' में आहुति होती है इससे 'वृष्टि (स्यूनपानी) उत्पन्न होती है। वृष्टि की 'पार्थिव अग्नि' में आहुति होती है, इससे अन्न उत्पन्न होता है। अन्न की 'वैश्वानर पुरुष' में (मानवशरीर में व्याप्त पुरुष

नाम से प्रसिद्ध वैश्वानर अग्नि में) आहुति होती है इससे 'रेत' (शुक्र) उत्पन्न होता है। रेत की 'योषाग्नि' (स्त्री के गर्भाशय में प्रतिष्ठित आग्नेय शोणित) में आहुति होती है, इसी आहुति से 'पुरुष' उत्पन्न होता है। इस प्रकार 'द्यु-पर्जन्य-पृथिवी-पुरुष-योषा' इन पाँच अग्नियों में क्रमशः 'श्रद्धा-सोम-वृष्टि-अन्न रेत' इन पाँच आहुतियों की आहुति होती है। इस में पाँचवीं रेत-आहुति में वही श्रद्धारूप आपः क्रमशः रेतोरूप में परिणत होकर पुरुष का आरम्भक (उपादान) बनता है। (छां० उ० ५।९।) 'पानी पाँचवीं आहुति में कैसे पुरुष बन जाता है?' इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

उक्त प्रश्नोत्तर-प्रकरण से अवरोहक्रम में (ऊपर से नीचे की ओर आने में) पानी को पुरुष का उपादान बतलाया गया है। ऐसी अवस्था में यदि आरोहक्रम में (नीचे से ऊपर की ओर जाने में) पानी का जीवात्मा के साथ गमन न माना जायगा तो अवरोहक्रम में पानी से पुरुष की उत्पत्ति मानना सर्वथा असंगत हो जायगा। कारण स्पष्ट है। उक्त श्रुति के अनुसार पुरुषसृष्टि का उपादान बनते बनते सारा पानी यहाँ आ गया। यहाँ से आप पानी का ऊर्ध्वगमन मानते नहीं। ऐसी परिस्थिति में प्रथमा सृष्टि के अनन्तर आगे पुरुषसृष्टि का मार्ग अवरुद्ध हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। सृष्टि-प्रलय प्रवाह नित्य है। इससे सिद्ध हो जाता है कि जिस प्रकार अवरोहक्रम में पानी उपादान बनता है, एवमेव आरोहक्रम में भी पानी जीवात्मा के साथ लोकान्तर में जाता है। पानी भौतिक पदार्थ है। अतएव हम कह सकते हैं कि जीवात्मा भूतसूक्ष्मों से सम्परिष्वक्त होकर ही लोकान्तर में जाता है। प्रथम सूत्र का यही संक्षिप्त अर्थ है ॥ १ ॥

२—उक्त कथन के सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। पूर्व की प्रश्नोत्तर-श्रुति से केवल पानी का ही आरोह अवरोह सिद्ध होता है। ऐसी दशा में जीवात्मा के साथ केवल अप्भूत का ही गमन सिद्ध होता है। परन्तु अर्थ किया जाता है—"भूतसूक्ष्मैः सह संपरिष्वक्तो गच्छति" यह। यह अर्थ कैसे संगत हुआ? इस विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(२) "त्र्यात्मकत्वात्तु" ।

पुरुषदेह के आरम्भक पानी त्र्यात्मक हैं। "तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" (छां० उप० ६।३।३।) इस छान्दोग्य-श्रुति के अनुसार पानी त्रिवृत्भावापन्न हैं। इस त्रिवृत्करणप्रक्रिया के कारण केवल पानी में भी सब भूतों का समावेश है। वेदान्तदर्शन की पञ्चीकरण-प्रक्रिया ही उपनिषदों में त्रिवृत्करण नाम से प्रसिद्ध है। मार्ग-भिन्न है, फलितार्थ समान है। 'तेज-अप्-अन्न'-इन तीनों के त्रिवृत्करण से 'पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश' इन पाँच महाभूतों का जन्म हुआ है, जैसा कि आगे के परिशिष्ट से स्पष्ट हो रहा है।

*१—तेज	१—तेजः			सत्यम् (१)	आकाश (१)
	२—आपः			तपः (२)	
	३—अन्नम्	१ तेजः		जनः (३)	वायु (२)
२—आप		२—आप		महः (४)	
		३—अन्नम्	१—तेजः	स्वः (५)	तेजः (३)
३—अन्नम्—			२—आपः	भुवः (६)	जलम् (४)
			३—अन्नम्	भूः (७)	पृथिवी (५)

उक्त प्रक्रिया के अनुसार अप्तत्त्व में तेज भी है, अन्न भी है। शुद्ध आपः रसमात्रा नाम से प्रसिद्ध 'गुणभूत' है, यही 'तन्मात्रा' है। गुणभूत नाम से प्रसिद्ध इन तन्मात्राओं से 'अणुभूतों' का विकास हुआ है। अणुभूतों के समन्वय से 'रेणुभूतों' का विकास हुआ है। एवं रेणुभूतों के यौगिक संम्मिश्रण से महाभूत उत्पन्न हुए हैं। महाभूतों से मत्स्य (अस्मदादि प्राणी) उत्पन्न हुए हैं। प्रत्येक महाभूत पञ्चीकृत है। प्रत्येक महाभूत में इतर चारों भूतों का गौणरूप से समन्वय रहता है। ऐसी स्थिति में पुरुष-सत्त्वोपादानभूत आपः नाम के महाभूत को हम पाँचों भूतों की समष्टि मानने के लिए तय्यार हैं। इस प्रकार पानी के व्यात्मक होने से केवल पानी का ही आरोह अवरोह यह सूचित करता है कि, आत्मा पाँचों सूक्ष्म भूतों से युक्त होकर ही आरोहावरोहक्रम का भोक्ता बनता है।

एक प्रश्न और उपस्थित होता है। यदि पाँचों ही भूत पुरुषशरीर के आरम्भक हैं, तो फिर "आपः पुरुषवचसो भवन्ति" इत्यादि रूप से केवल पानी को ही पुरुष का आरम्भक क्यों माना गया ?, फिर तो "महाभूतानि पुरुषवचसो भवन्ति" यह कहना चाहिए था।" इस प्रश्न का समाधान करते हुए व्यास कहते हैं—"भूयस्त्वात्"। यद्यपि देहारम्भक द्रव्य माबभौतिक (पाञ्चभौतिक) हैं, तथापि पुरुष की उत्पत्ति में पानी ही प्रधान, एवं अधिक मात्रा में रहता है। शुक्र-शोणित के मिथुनभाव से पुरुष उत्पन्न हुआ है। शुक्र भी तरल पदार्थ है शोणित भी तरल पदार्थ है। बीजरूप शुक्र-शोणित में मं द्रवभाग ही अधिक है। एवं —"आपो द्रवा स्निग्धा" (वै० द० २।१।२) इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार यह द्रवता पानी का ही धर्म है। अपि च सौम्यशुक्र 'भृगु' है आग्नेय शोणित 'अङ्गिरा' है। एवं—"आपो भृग्वङ्गिरो रूपमापो भृग्वङ्गिरो मयम्" (गोपथब्रा पू० २।१६) इस आथर्वण सिद्धान्त के अनुसार दोनों ही अप्प्रधान हैं।

---

* इस त्रिवृत्करणप्रक्रिया का विस्तृत विवेचन मन-प्राण-वाक्-रूप से ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

अतएव अप्प्रधान शुक्र-शोणित के समन्वय से उत्पन्न पुरुष-शरीर में अन्य भूतों की अपेक्षा पानी ही अधिकमात्रा में उपलब्ध होता है। इस प्रकार सब भूतों के रहने पर भी—'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वाद' (शा० द० ३।१।२२ सू०) के अनुसार इतर भूतों का नाम निर्देश न कर 'आपः पुरुषवचसो भवन्ति' यही कह दिया गया है"—द्वितीय सूत्र का यही संक्षिप्त अर्थ है ॥ २ ॥

३—प्रश्न होता है कि परलोक जाते हुए आत्मा के साथ सूक्ष्मभूत भी रहते हैं इस में क्या प्रमाण है? किस आधार पर यह अनुमान लगाया गया?, उत्तर देते हैं 'प्राणगतेश्च'—"तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति, प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति" (बृ० आ० उप० ४।४।२।) इत्यादि श्रुतियाँ शरीर से उत्क्रान्त जीवात्मा के साथ मुख्यप्राण, एवं इतर अनुचीन प्राणों की अनूत्क्रान्ति बतला रही हैं। दूसरे शब्दों में जीवात्मा के साथ प्राणों का गमन बतलाया जा रहा है। प्राणतत्त्व बिना भूत के कभी भी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। प्राण, एवं भूत का परस्पर में अविनाभाव सम्बन्ध है। जीवित दशा में हम प्राणों को भूतों के साथ नित्ययुक्त देखते हैं साथ ही में उत्क्रान्तिकाल में प्राणगति सुनी जाती है, फलतः प्राणगति ही भूतगति के अनुमान के लिए पर्य्याप्त कारण बन जाती है, तीसरे सूत्र का यही संक्षिप्त अर्थ है ॥ ३ ॥

४—"प्राणगति के कारण भूतगति का अनुमान किया जाता है" यह पूर्वसूत्र से सिद्ध किया गया। इस अनुमान के सम्बन्ध में थोड़ी सी विप्रतिपत्ति है। उक्त अनुमान तभी चरितार्थ हो सकता है, जब कि प्राण, एवं प्राणों की जीवात्मा के साथ गति सिद्ध हो जाती है। परन्तु ऐसा नहीं है। "यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राण चक्षुरादित्य" (३।२।१३।) के अनुसार जब पुरुष मर जाता है तो इस की वागिन्द्रिय स्वप्रभव अग्नि में, प्राणेन्द्रिय वायु में चक्षुरिन्द्रिय आदित्य में लीन हो जाती है। इस प्रकार उत्तम प्राणों (इन्द्रियों) की स्वप्रभव रूप अग्नि वायु-आदित्यादि प्रभवदेवताओं में अपीति (लय) सुनी जाती है। जब प्राण स्वप्रभवों में लीन हो जाते हैं, तो ऐसी अवस्था में जीवात्मा के साथ प्राणों का गमन सिद्ध नहीं होता। फलतः "प्राणगतेश्च" यह पूर्वोक्त अनुमान नहीं बन सकता। भूतगति के सम्बन्ध में उक्त विप्रतिपत्ति एवं उस के निराकरण का दिग्दर्शन कराते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(४) "अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न,-भाक्तत्वात्" ।

श्रुति वचनों में भी परस्पर गौणमुख्यभाव का समाधान करने वाले व्याख्याता उक्त सूत्र का अर्थ कराते हुए कहते हैं कि— यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्य वागग्निमप्येति यह अग्न्यादिश्रुति यद्यपि उत्तम प्राणों की उत्तम प्रभव अग्न्यादि देवताओं में अपीति बतला रही है, परन्तु इस अग्न्यादि श्रुति को भाक्त (गौण) समझना चाहिए। "ओषधीर्लोमानि, वनस्पतीन् केशाः" (बृ० आ० उप० ३।२।१३।) यह श्रुति भी उसी प्रकरण में पढ़ी गई है। इस श्रुति का तात्पर्य यही है कि

पुरुष के लोम मरने के अनन्तर ओषधियों में एवं केश वनस्पतियों में लीन हो जाते हैं। क्या यह कथन ठीक है ?। अग्नि सम्बन्ध से प्रत्यक्ष में दग्ध केश-लोमों का ओषधि-वनस्पतियों में लय मानना कैसे सगत हो सकता है। दसते दसते भस्मीभूत हो जाने वाले केश-लोमों का ओषधि-वनस्पतियों के साथ क्या सम्बन्ध। केवल श्रुति ने कह दिया है। जिस प्रकार यह श्रुति गौण है, एवमेव "यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्य०" यह भी केवल कहना ही कहना है। जिस प्रकार ओषधि वनस्पतियाँ केश-लोमों की उपकारक मात्र हैं, एवमेव अग्नि-वायु-आदि देवता वाक् प्राणादि इन्द्रियप्राणों के उपकारक मात्र हैं। दोनों श्रुतियाँ उपकारभाव का ही प्रतिपादन कर रहीं हैं। अग्न्यादिश्रुति गौण है, "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति" इत्यादि उत्क्रमणश्रुति ही मुख्य है। श्रुति में "अनु" शब्द पड़ा है। इसका अनुसरण" यही अर्थ हो सकता है। फलत प्राण गतिप्रतिपादिका श्रुति की मुख्यता से ही पूर्वोक्त "प्राणगतेश्च" यह अनुमान ठीक बन जाता है।" चतुर्थ सूत्र का यही संक्षिप्त अर्थ है ॥ ४ ॥

५—"प्रथमसूत्राथ प्रकरण में प्रतिपादित पञ्चाग्निविद्या में पुरुष (आदित्यरूप) प्रथमाग्नि में श्रद्धा की आहुति बतलाई गई है। इसी श्रद्धा शब्द के आधार पर पानी को पुरुष का उपादान मान लिया गया है। वस्तुत देखा जाय, तो पानी से पुरुष की उत्पत्ति कथमपि सिद्ध नहीं होती। कारण स्पष्ट है। प्रथमाग्नि में आहुति होने वाले द्रव्य को "श्रद्धा" कहा गया है, न कि आप (पानी)। आप शब्द प्रथमाग्निसम्बन्ध में सर्वथा अश्रुत है। ऐसी दशा में श्रद्धा शब्द से अश्रुत पानी का ग्रहण कैसे किया जा सकता है ? जब पानी का ग्रहण अनुपपन्न है तो भूतसूक्ष्मों का सम्बन्ध भी सवथा अनुपपन्न है" इसी आशङ्का का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं —

(५) "प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न, ता एवह्युपपत्तः" ।

यद्यपि पुरुष प्रथमाग्नि के सम्बन्ध में 'आप' शब्द सवथा अश्रुत है यहां आप न कहकर श्रद्धा का ही उल्लेख हुआ है तथापि यहां के श्रद्धा शब्द को पानी का ही वाचक मानना न्याय संगत होता है। क्योंकि गोतम का—"आप पुरुषवचसो भवन्ति यह प्रश्न था। उत्तरश्रुति ने इसी प्रश्न का समाधान किया है। उक्त प्रश्न की संगति तभी बन सकती है, जब कि उत्तर श्रुति के श्रद्धा शब्द को अप् परक मान लिया जाय। अपिच श्रद्धा को अप्परक मानते हुए ही पञ्चाग्निविद्या का उपसंहार करते हुए श्रुति ने—"इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्ति" इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में यह सिद्ध कर दिया गया है कि, प्रकृत का श्रद्धा शब्द पानी का ही वाचक है। अपि च सामान्यदृष्टि से लौकिक व्यवहार में यद्यपि श्रद्धा-शब्द का प्रत्ययविशेष के साथ ही सम्बन्ध देखा जाता है। "हम आपपर श्रद्धा करते हैं" इससे सेव करना प्रकट किया जाता है, तथापि श्रद्धा शब्द से आप का ग्रहण भी उपपन्न माना जा सकता

है। "ब्राह्मणो ह्यस्यै श्रद्धां संनमन्ते पुण्याय कर्मणे" —"श्रद्धा प्रणयति" (शत० ब्रा० ११।३।१।४)— "श्रद्धा वा आपः" (तै० ब्रा० ३।२।४।१) इत्यादि श्रुतियाँ स्पष्ट ही श्रद्धातत्त्व को 'आप' शब्द से व्यवहृत कर रही हैं। इन्हीं सब कारणों से हम प्रकृत श्रद्धा शब्द से अवश्य ही 'आप' का ग्रहण कर सकते हैं।" पाँचवें सूत्र का यही संक्षिप्त अर्थ है ॥ ५ ॥

३—"श्रद्धा शब्द से पानी का ग्रहण पूर्वसूत्र से यद्यपि सिद्ध हो जाता है, परन्तु पुनः एक नया विप्रतिपत्ति उपस्थित होता है। पञ्चाग्निविद्या-प्रकरण से केवल यही सिद्ध होता है कि, श्रद्धा नामक पानी पाँचवीं आहुति में पुरुषशरीर का उपादान बनता है, एवं प्रतिसंचर-क्रम में वह पानी पुनः श्रद्धारूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार उक्त श्रुतिप्रकरण से तो केवल पानी का ही अवरोह-आरोह सिद्ध होता है। जीवात्मा पानी को साथ लेकर (भूतसूक्ष्मों से युक्त होकर) लोकान्तर में जाता है" यह सर्वथा अश्रुत है। अर्थात् श्रुति में यह कहीं निर्दिष्ट नहीं है कि, पानी के साथ जीवात्मा भी जाता है। ऐसी दशा में जीवात्मा की गति ही जब अश्रुत है, तो फिर "भूतसूक्ष्मों से युक्त होकर जीवात्मा लोकान्तर में जाता है" यह सिद्ध करने के लिए पञ्चाग्निविद्या का उल्लेख करना सर्वथा व्यर्थ हो जाता है।" इस विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए आगे जाकर सूत्रकार कहते हैं —

(६) "अश्रुतत्वादिति चेन्न, इष्टादिकारिणां प्रतीतेः"।

"अप्तत्त्व ही श्रद्धादि क्रम से पुरुषरूप में परिणत होता है। तत्संपरिष्वक्त जीव गमन नहीं करते हैं, यही मानना ठीक है, क्योंकि आपातत् उक्त श्रुति में जीव का श्रवण नहीं है" कदाचित् कोई यह कहे तो उसका यह कहना ठीक नहीं है। इष्टादि कर्म करने वाले जीवों का गमनागमन इतर श्रुतियों से स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। तात्पर्य यह है कि—"अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति" इस रूप से उपक्रम कर पितृयाणमार्ग से श्रुति जीवात्मा को—"पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसं एष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति" "तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते यथेतम्" (छा० उ० ५।१०) इत्यादि रूप से चन्द्रलोक में गति, एवं वहाँ से पुनरावृत्ति बतला रही है। "तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवति" (छा० ५।४।२) इस श्रुति-सामान्य से इधर भी अवश्य ही श्रद्धा के साथ जीवात्मा का गमन सिद्ध हो जाता है। तात्पर्य यही है कि, अग्निहोत्रादि कर्म करने वाले यजमान आहवनीयाग्नि में सोम की आहुति देते हैं। यही सोमाहुति सूक्ष्मरूप में परिणत होकर इन यजमानों के आश्रित रहती है। दूसरे शब्दों में श्रद्धा-युक्त आहुति सब भाग जीवों से परिवेष्टित होकर ही लोकान्तर में जाती है। अतएव श्रद्धा के साथ जीव की भी गति सिद्ध हो जाती है ॥ ६ ॥

७—जीवात्मा लोकान्तर में भूतसूक्ष्मों से युक्त होकर जाता है यह तो सिद्ध होगया। परन्तु स्थानान्तर में जाकर यह शुभाशुभ कर्म्मों का फल भोगता है इस सम्बन्ध में थोड़ी सी विप्रतिपत्ति है। अथवा यों कहिए कि, कर्म्मफल भोगने के लिए ही तो जीवात्मा की परलोक में गति बतलाई जाती है। अब निम्न लिखित श्रौत वचन के अनुसार जीवात्मा का फल भोगना ही सिद्ध नहीं होता, तो उसकी गति मानना ही व्यर्थ हो जाता है। "एष सोमो, राजा तद्देवानामन्नं, तं देवा भक्षयन्ति" (छां० ५।१०।४) इत्यादि श्रुति सोम को देवताओं का अन्न बतलाती है। उक्त छान्दोग्य श्रुति के साथ "ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति, तांस्तत्र देवा यथा सोमं राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनांस्तत्र भक्षयन्ति" (बृ० आ० ६।२।१६) इस बृहदारण्यक श्रुति की समानता है। उक्त श्रुति से यही सिद्ध होता है कि, जिस प्रकार सोमतत्त्व को आकाशस्थ किंवा परलोकस्थ देवता खाया करते हैं तथैव परलोकगत जीव भी साम्यसाहचर्य्य से इन देवताओं के अन्न बन जाते हैं। जब जीव स्वयं देवताओं के भोग्य हैं तो ऐसी अवस्था में वे भोक्ता (कर्म्मफल भोक्ता) कैसे बन सकते हैं ? इस विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(७) "भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति"।

उक्त बृहदारण्यक श्रुति ने सामवत् यद्यपि इन जीवों को भी देवताओं का अन्न बतलाया है। परन्तु इन का यह अन्नत्व भाक्त (गौण) समझना चाहिए। खाने पीने की वस्तुओं को ही अन्न नहीं कहा जाता अपितु सामान्य भोगमात्र को 'अन्न' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। उदाहरण के लिए प्रजा राजा का अन्न कहलाती है, पशु-अश्वादि मनुष्य-प्रजा के अन्न माने गए हैं। इस अन्नभाव का तात्पर्य्य यही है कि, प्रजा पर राजा का अधिकार है। प्रजा से राजा को करादि ग्रहण द्वारा सुख मिलता है। हम पशुओं से लाभ उठाते हैं। पशु स्वतन्त्र नहीं रह सकते। इस प्रकार प्रजा और पशुओं का अन्नत्व पारतन्त्र्य लक्षण ही है। चर्वण-निगरणादि-लक्षण अन्नत्व का यहां सर्वथा अभाव है। एवमेव परलोक गत जीवात्मा वहां के अधिष्ठाता प्राण-देवताओं द्वारा शासित होते हैं। सुतरां ही राजा-प्रजावत् बृहदारण्यक श्रुति ने जीवों को इन का अन्न बतला दिया है। अपि च—"न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति" (छां० उप० ३।६।१) इत्यादि श्रुतियाँ स्पष्ट ही देवताओं को चर्वण निगरण लक्षण अन्न मर्य्यादा से भी बहिर्भूत मान रहीं हैं। जिन्हें आत्मा का परिज्ञान नहीं होता, एवं अनात्मवित् जीव ही परलोक में जाते हैं। एवं इसी अनात्मभाव के कारण उसी प्रकार इन्हें देवताओं का भोग्य बनना पड़ता है, जैसे कि आत्मस्वरूप न जानने वाले गो-अश्वादि पशु हमारे

भोग्य बने रहते हैं। जीवात्मा के इसी पारतन्त्र्य प्रवर्त्तक अनात्मज्ञान पशुभाव का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

"अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति, न स वेद।
यथा पशुः, एवं स देवानाम्"

—बृ. आ. उ. १।४।१०।

जीवनपर्यन्त कर्म इष्टादि कर्मों में ही रत रहने वाले ये जीवात्मा ज्ञानसमुच्चित मुक्ति प्रवर्त्तक निष्काम कर्म से पराङ्मुख रहते हैं। इसी विशुद्ध कर्म के प्रभाव से इन की आत्म-विद्या आवृत हो जाती है। फलतया ही इन्हें गौणरूप से देवभोग्य अन्न मान लिया गया है। यह सब कुछ होने पर भी इन का भोक्तृत्व भी बना रहता है। श्रुति में स्पष्ट ही इन का भोक्तृत्व देखा जाता है जैसा कि श्रुति कहती है—

"अथ ये शतं पितृणां जितलोकानामानन्दाः, स एकः कर्मदेवानामानन्दः। ये कर्मणा देवत्वमभिसम्पद्यन्ते"। "स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते" इति।

—बृ. आ. उ. ४।३।३३।

इस प्रकार अपूराम्भापाश भूतसूक्ष्म एवं प्राणों से संपरिष्वक्त जीवात्मा का कर्मफल भोग के लिये लोकान्तर में जाना उक्त 'आरोहापक्रमाधिकरण' से भलीभाँति सिद्ध हो जाता है।

प्राचीन व्याख्याताओं ने उक्त अधिकरण की जिस प्रकार से उत्थानिका मानी है एवं अधिकरण के सात सूत्रों के जो अर्थ किए हैं, उन का संक्षेप से दिग्दर्शन करा दिया गया। अब वैज्ञानिक दृष्टि से प्रकृत अधिकरण का विचार किया जाता है। वैज्ञानिक लोग प्राचीन मत में थोड़ा सा संशोधन आवश्यक समझते हैं। उन के मतानुसार उक्त अधिकरण की उत्थानिका भी दूसरी है, एवं सूत्रार्थों में भी कहीं कहीं थोड़ा बहुत अन्तर है, जैसा कि निम्न लिखित प्रकरण से स्पष्ट हो रहा है।

१—आरम्भ के दो अध्यायों में परमतनिराकरण (सांख्याभिमत निराकरण) पूर्वक भगवान् व्यास ने वेदान्ताभिमत (औपनिषद) आत्मा का स्वरूप बतलाया है। बादरायण के मतानुसार भौतिक शरीर के आरम्भक 'भूत प्राण इन्द्रियादि' भव से विलक्षण विशुद्ध तत्त्व-विशेष ही आत्मा है। ऐसी स्थिति में प्रेत्यभाव के सम्बन्ध में "शरीर छोड़ने के अनन्तर वह आत्मा शरीरारम्भक भूतमात्रादि से पृथक होकर ही परलोक में जाता है" यही मानना पड़ेगा। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। क्योंकि निरुपाधिक विशुद्ध आत्मा स्वस्वरूप से सर्वथा व्यापक है, एवं

व्यापक तत्त्व का शरीर से निकल कर विशुद्धरूप से गमन बन नहीं सकता। उधर आत्मा की लोकान्तर में प्रतिपत्ति शास्त्र-सम्मत है। ऐसी स्थिति में क्या माना जाय? इसी प्रश्न का निराकरण करते हुए व्यास कहते हैं—

(१)—"तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति-सपरिष्वक्त, प्रश्ननिरूपणाभ्याम्"।

"आत्मा शरीर से बाहिर निकल कर लोकान्तर में जाता है" यह मान लेने पर दूसरे शब्दों में आत्मा का वह्निमण्डल के साथ सम्बन्ध मान लेने पर विशुद्ध रूप से इस का उत्क्रमण कथमपि संभव नहीं है। अत मानना पड़ता है कि, यह आत्मा भूतसूक्ष्मों से संपरिष्वक्त हो कर ही लोकान्तर में जाता है। "पूर्वशरीर के छूट जाने पर भी शरीरारम्भक भूत-प्राण इन्द्रियादि कितने ही पदार्थों से संश्लिष्ट होकर ही आत्मा गमन करने में समर्थ होता है"। यह बात प्रवाहण के और प्रवाहण के प्रश्न प्रतिवचन से सिद्ध है। वहां पर पानी को पुरुष का उपादान बतलाया गया है। यदि शुद्ध जीवात्मा ही लोकान्तर में जाय तो पुन जन्म ग्रहण करता हुआ भी वह शुद्ध रूप से ही पृथिवी पर आवे। ऐसी दशा में पानी को पुरुष का उपादान बतलाना सर्वथा असङ्गत हो जाय। इन्हीं सब परिस्थितियों से यह सिद्ध हो जाता है कि, आत्मा भूतसूक्ष्मों से युक्त होकर ही जाता है॥ १॥

२ ३ ४-६ ७ इन सूत्रार्थों के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य नहीं है। यदि कुछ है भी तो वह विस्तारभय से छोड़ा जाता है। वक्तव्य है—"अग्न्यादिगतिश्रुतिरिति चेन्न-भाक्तत्वात्" इस चतुर्थ सूत्र के सम्बन्ध में। "शर्व कोपेन पूरयेत्"—"अराक्षसत्वम् पद्‌ गन्तु ततो निन्दां प्रकुर्वते इत्यादि वचनों की आराधना छोड़ कर विचार कीजिए। और वैज्ञानिक रहस्यों का निष्पक्षपात दृष्टि से अवलोकन कीजिए। आप को मानना पड़ेगा कि—"पुराणमित्येव न साधु सर्वम्" यह वचन वास्तव में बहुत माप समझ कर कहा गया है। उक्त सूत्रार्थ के सम्बन्ध में आज हम एक ऐसे व्यक्ति की समालोचना करने चले हैं, जो विद्वत् समाज में मूर्द्धन्य माना जाता है। हमारे हृदय में भी उस महापुरुष के प्रति कम श्रद्धा नहीं है। फिर भी "शत्रोरपि गुणा वाच्या, दोषा वाच्या गुरोरपि" इस सूक्ति का हम निरादर नहीं कर सकते। पूर्व प्रकरण में चतुर्थ सूत्र का अर्थ बतलाते हुए हम कह आए हैं कि, भगवान् शङ्कराचार्य के मतानुसार "यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति (बृ० ३।२।१३।) इत्यादि श्रुति उसी प्रकार गौण है, जैसा कि—"ओषधीर्लोमानि, वनस्पतीन् केशा" (बृ० ३।२।१३।) इत्यादि श्रुति गौण अर्थ का प्रतिपादन कर रही है। अपने अभिप्राय का स्पष्टीकरण करते हुए आगे जाकर आचार्य कहते हैं—"लोम और केशों का ओषधि वनस्पतियों में अप्यय नहीं देखा जाता"। तात्पर्य इस कथन का यही है कि, जैसे श्रुति ने लोम-केशों का ओषधि-वनस्पतियों में लय बतलाया है परन्तु वास्तव में

एसा नहीं है। क्या सोमों को हम राम के साथ साथ मस्तक में बसता हुआ देखते हैं। बस जिस प्रकार सोम देवता का ओषधि वनस्पतियों में अन्वय बतलाने वाली उक्त श्रुति गौण है, एवमेव "यत्रास्य पुरुषस्य" इत्यादि अग्न्यादिगति श्रुति भी गौण अर्थ का ही प्रतिपादन कर रही है। ऐसी अवस्था में अग्न्यादि श्रुति का—"अग्नि वायु आदित्यादि देवता वाक्-प्राण चक्षु आदि इन्द्रिय प्राणों की अधिष्ठात्री देवता हैं, वागादि की उपकारिकाएं हैं" इस प्रकार भाव को सूचित करने के लिए ही "वागादि अग्नि आदि की ओर जाते हैं" यह कह दिया गया है"। "वस्तुत अग्न्यादि में वागादि का अन्वय नहीं है" आचार्य की दृष्टि में यही अभिप्राय है। आचार्य के मतानुसार उक्त अग्न्यादि श्रुति, एवं ओषध्यादि श्रुति दोनों गौण हैं, एवं "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति" इत्यादि ब्राह्मण श्रुति ही मुख्य है।

इस प्रकार भगवान् शङ्कर के मतानुसार व्याससूत्र में पठित "भाक्तत्वात्" पद का गौण अर्थ है। वैज्ञानिक श्रुति के सम्बन्ध में उक्त अर्थ मानने में अणुमात्र भी सहमत नहीं है। श्रुतियों में गौणमुख्यभाव मानना सर्वथा अनुचित है। श्रुति कोई अलङ्कारशास्त्र नहीं है जहां मिथ्याकल्पनाओं का यथाभिरुचि समावेश मान लिया जाय। अपितु श्रुति साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों का आर्षदृष्टि से देखा हुआ निश्चित अर्थ है। "अमुक विषय गौण है, अमुक विषय मुख्य है, इसे सत्य समझो इसे केवल कल्पना समझो" श्रौतशास्त्र के सम्बन्ध में ऐसी कल्पना करना भी अपने आपको प्रत्यवायी बनाना है। जब श्रुति ही गौणमुख्यभाव का आश्रय लेगी, तो निःसंदिग्ध अर्थ का प्रतिपादन कौन करेगा? अपने इसी निःसंदिग्ध भाव को सूचित करती हुई, सर्वत्र मुख्यार्थभावना का ही समूल बताती हुई स्वयं श्रुति ही एक स्थान पर कहती है—

* स एतन् विदुषा नय यो अजमानुशासति।
य एवेदमिति ब्रवत् ॥ १ ॥
सद्य एना गमयति यो गुहां अभिवामति।
इम एवेति च ब्रवत् ॥ २ ॥

—ऋक् १०।३२।१-२।

श्रुति जो कुछ कहती है, अक्षरशः सत्य है। श्रुति का प्रत्येक प्रतिपाद्य विषय मुख्य अर्थ से ही सम्बन्ध रखता है। श्रौत वचनों में गौणभाव का शून्यकल्पना का किञ्चित् भी समा-

---

* एक देवता श्रुति (सूर्य विद्वान् को) मार्ग [illegible] विद्वान् से [illegible]। जो यही [illegible] है [illegible] (अमुक विषय के लिए) "यह ऐसा ही है" इस प्रकार निःसंदिग्ध रूप से प्रतिपादन करता है।

ऐसा नहीं है। जिस ओषध्यादि श्रुतिवचन को शङ्कराचार्य गौणभाव का प्रतिपादक समझते हैं हमारी दृष्टि में वह मुख्यार्थ का ही निरूपण कर रही है।

हमारे शरीर में जितने भी रोमकूप हैं, उन सब का नाक्षत्रिक प्राणों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। चान्द्रमण्डल नक्षत्रयुक्त है। अतएव चन्द्रमा को उडुपति माना गया है। जिस समय गर्भाशय में विम्ब 'कलल' रूप में परिणत रहता है, उसी समय नक्षत्रों की निराकार प्राणात्मिका रश्मियाँ इसमें प्रविष्ट होकर सुषिर (छिद्र) उत्पन्न कर देती हैं। वे ही छिद्र 'रोमगर्त' किंवा 'रोमकूप' नाम से प्रसिद्ध होते हैं। जितने भोग्य नक्षत्र हैं हमारे शरीर में उतने ही रोमगर्त हैं। चान्द्र सौम्य प्राणावच्छिन्न नक्षत्रों की रश्मियों से ही रोमकूपों का निर्माण होता है। इसी अर्थ का स्पष्टीकरण करती हुई वाजिश्रुति कहती है —

"एभ्यो लोमगर्तस्य ऊर्ध्वानि ज्योतींष्यान्। तद्यानि तानि ज्योतींषि;
एतानि तानि नक्षत्राणि। यावन्त्येतानि नक्षत्राणि, तावन्तो लोमगर्ताः।
यावन्तो लोमगर्तास्तावन्त सहस्रसंवत्सरस्य मुहूर्ताः"।

—शत ब्रा १ । १०।२। इति।

रोमकूप नक्षत्रप्राणयुक्त चान्द्रप्राण प्रधान होते हुए सोमप्रधान हैं। "सोमो वै राजा ओषधीनाम्" (तै० ब्रा० १।६।१७।१।) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण ओषधियों का उपादान-कारण नक्षत्रप्राणावच्छिन्न चान्द्रसोम ही है। ओषधियों में सौर रस (आग्नेयरस) न हो यह बात तो नहीं है। परन्तु इनमें प्रधानता चान्द्रसोम की ही रहती है, अतएव ओषधियों को सोमरस ही मान लिया जाता है। सौर ऊष्मा (सौराग्नि) गर्भित चान्द्रसोम ही ओषधियों का आरम्भक बनता है। ओषधियों का स्थूल द्रव्य भाग सौम्य है, इनके गर्भ में सौर अग्नि प्रतिष्ठित रहता है, अतएव "ओष (ऊष्ममार्ग सौराग्नि स्वगर्भे) धत्त" इस व्युत्पत्ति से इन्हें ओषधी कहा जाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है —

"(प्रजापतिः) तां (आहुतिं) न्योषत् (अभावत्यजत्) ओषधय-
इति (अ_धन्), तत ओषधय समभवन्। तस्मादोषधयो नाम"।

—शत २।२।४। इति।

इन ओषधियों की शारीराग्नि में आहुति होती है। इस से अग्नि प्रज्वलित हो जाता है। यह अग्निगर्भित सोम ही सजातीय सम्बन्ध के कारण रोमकूपों से निरन्तर बाहिर निकला करता है। बाहर से रूक्षवायु (रूक्षवायु-धमवायु) का आघात होता है। इस आघात से रोमद्वारों पर आया हुआ सोमगुणक रुधिरमूर्ति वह अग्नि जम जाता है। इस प्रकार रोमकूपों से

बाहिर निकल कर रुद्रवायु की प्रबलता से जमने वाला सौराग्निगर्भित ओषधि नाम से प्रसिद्ध चान्द्ररस ही हमारी रोमावलियाँ हैं। ओषधिरस ही रोमावलियाँ बनता है। वास्तव में ओषधियाँ ही (शुक्र ओषधि रूप अग्निगर्भित सोमरस ही) लोमों का प्रभवस्थान है।

जिस प्रकार ओषधियों का निर्माण चान्द्रसोम से होता है एवमेव वनस्पतियों में सौर अग्नि की प्रधानता है। यहाँ सोम गर्भ में है। सोमगर्भित सौर अग्नि ही वनस्पतियों का उपादान कारण है। वनस्पतियों की आहुति से शारीराग्नि प्रज्वलित रहता है। अग्नि बाहिर निकलता है रुद्रवायु के आघात से जमकर वही केशरूप में परिणत हो जाता है। लोमों में जहाँ सौम्य प्राण की प्रधानता थी, अत एव लोम जहाँ अस्थिर, सूक्ष्म मृदु थे, वहाँ इन केशों में अग्नितत्त्व प्रधान है। एव ये घन हैं स्पर्श में कर्कश हैं। केश अग्नि का मल भाग है, अग्नि से निवारित है। इसी निवारण भाव से (अग्नि से निवारित होने से) इन्हें 'वार' किंवा 'बाल' कहा जाता है। जिस प्रकार मनुष्य अपने मलभाग से घृणा करता है, एवमेव यह शारीराग्नि भी अपने मलरूप इन केशों से घृणा करता है। अतएव जिसके शरीर पर जितने अधिक केश होते हैं, उसे उतनी ही कम ठंड लगती है। केशों से घृणा करने वाला अग्नि शरीर से बाहिर नहीं निकलता। अतएव शीत का सामना करने के लिए जितना अग्नि चाहिए, केशों से अवरुद्ध उतना अग्नि शरीर में प्रतिष्ठित रह जाता है। केशादि से विनिर्मित जिस कम्बल को लोकभाषा में गरम कहा जाता है, विज्ञानदृष्टि से वह केशनिर्मित कम्बल महा ठंडा है अग्नि का उच्छिष्ट है। फिर भी जो इसे गरम कहा जाता है, इसका कारण यही है कि, कम्बल के आवरण से स्पर्श से घृणा करने वाला अग्नि अन्तर्मुख बन जाता है। फलत शीत का अनुभव नहीं होता। कहना यही है कि, वनस्पतिरस केशों का, एवं ओषधिरस लोमों का प्रभवस्थान है।

पृथिवी के गर्भ में प्रज्वलित रहने वाला अग्नि पृथिवी का आत्मा है। सम्पूर्ण भूपिण्ड इस आत्मा का शरीर है। भूपिण्ड में सर्वत्र व्याप्त रहने वाली ओषधि-वनस्पतियाँ इस पार्थिव प्रजापति के केश-लोम हैं। वनस्पतियाँ केश हैं, ओषधियाँ लोम हैं। यही स्थिति अध्यात्मसंस्था की है। 'अग्नि-वायु इन्द्र प्रधान वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ' की समष्टि जीवात्मा है। पाञ्चभौतिक पार्थिव पिण्ड इस का शरीर है। लोम ओषधियाँ हैं, केश वनस्पतियाँ हैं। शरीर परित्यागानन्तर ये केश लोम अग्नि सम्बन्ध से विराकलित होकर भूपिण्ड में सर्वत्र व्याप्त ओषधि-वनस्पति-प्राणों में चले जाते हैं। दोनों का स्वप्रभवस्थानों में विलयन हो जाता है। पार्थिव प्रजापति के लोमगर्तों से ओषधियाँ निकलती हैं, इन ओषधियों से हमारे लोम बने हैं। इसी लोमविज्ञान को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है —

'प्रजापतेर्गर्भितस्य यानि लोमान्यशीयन्त ता इमा ओषधयोऽभवन्'

— शत० ७।२।१।१ इति।

पूर्व कथनानुसार ओषधियों में वनस्पतिप्रभव सौर अग्नि गर्भ में प्रतिष्ठित रहता है अत एव—"ओषधिवनस्पतयो वै लोमसु श्रिताः" (तै० ब्रा० ३।१०।८।५) इत्यादिरूप से कहीं-कहीं लोम के साथ ओषधि वनस्पति दोनों का सम्बन्ध मान लिया जाता है। हम कह आए हैं कि, लोम में सोम की प्रधानता है एवं केशों में अग्नि की प्रधानता है। उधर-"पवित्र ते विततं ब्रह्म पस्पते" (ऋक् सं ९।८३।१) के अनुसार गार्ह्यपत्यरूप संपादक सोमतत्त्व को पवित्र माना गया है। यद्यपि केशावत् लोम भी अग्नि का ही मल है। तथापि सोम की प्रधानता के कारण लोम भाग उस प्रकार दोषसंक्रान्त नहीं बनते जैसे कि अग्निबलप्रधान केश आत्मा को अस्पृश्य अशुचि बना डालते हैं। शरीरगत अशुचिभाव का दृढ़ सम्बन्ध इन केशों के साथ ही होता है। इसी विज्ञान के आधार पर दीक्षित केवल केश श्मश्रु ही कटवाता है। अतएव च आशौच शुद्धि के लिए केशमुण्डन का ही विधान है*।

उक्त विवेचन से विज्ञ पाठकों को यह विदित हो गया होगा कि, केश और लोम वास्तव में प्राणापेक्षया स्वप्रभवभूत ओषधि वनस्पति-प्राणों में ही लीन होते हैं। इस प्रकार "ओषधी र्लोमानि-वनस्पतीन् केशाः" इत्यादि जिस श्रुति की गौणता का प्रतिपादन करते हुए आचार्य इसके आधार पर अग्न्यादि श्रुति की गौणता सिद्ध कर रहे हैं वह कैसे श्रुतिसम्मत मानी जा सकती है। अब हमारे लिए केवल प्रश्न यह बच जाता है कि "यदि ओषध्यादिश्रुति गौण अर्थ का निरूपण न कर मुख्यार्थ का ही प्रतिपादन करती है तो अग्न्यादिश्रुति में पढ़े हुए 'भाग-स्यात्' का क्या अर्थ है ?। उत्तर में हम यही निवेदन करेंगे कि—"तस्य वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः" (छां० उप ३।१३।१) इस छान्दोग्य श्रुति के अनुसार हृदय में अग्नि-वायु-आदित्य-दिक्-सोम ये पांच प्राणदेवता नित्य प्रतिष्ठित रहते हैं। इन पांचों मौलिक प्राण-देवताओं के आधार पर 'भक्ति (भाग-अंश-अवयव) रूप से क्रमशः वाक्-प्राण चक्षु-श्रोत्र मन ये पांच इन्द्रियप्राण प्रतिष्ठित रहते हैं। दूसरे शब्दों में ये इन्द्रियप्राण भाक्त सम्बन्ध से उन देवताओं के आश्रित हैं। जब आत्मा शरीर से उत्क्रान्त होता है, तो पांचों इन्द्रियप्राण भी मूलसूत्रों से युक्त रहते हुए उक्त पांचों देवताओं की भक्ति (अवयव) बने हुए ही आत्मा के साथ साथ उत्क्रान्त होते हैं। "पांचों प्राण अपने पांचों देवताओं की भक्तियां हैं इसी भक्तिभाव का स्पष्टीकरण करती हुई—"यत्रास्य पुरुषस्याग्निं वागप्येति" इत्यादि अग्निश्रुति हमारे

---

* उपनयन में क्षुरकर्म का विधान, अन्य का निषेध क्यों किया गया ?, औपचि मन का, वनस्पति श्रुति का आरम्भक कैसे बनती है ?, इन सब विषयों का विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथविज्ञानभाष्यान्तर्गत श्रौतयज्ञमीमांसा प्रकरण में देखना चाहिए।

सामने आती है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इन वागादि का स्थूलकृत्स्न आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता, किंवा वागादि का अपने प्रभव में अन्वय हो जाता है। अपितु उक्त श्रुति का तात्पर्य यही है कि जिस-प्रकार अक्रान्त आत्मा के साथ भूतसूक्ष्मों का सम्बन्ध रहता है, भूताधिष्ठाता इन्द्रियप्राणों का समन्वय रहता है एवमेव इन प्राणों के आधारभूत देवता भी संपरिष्वक्त रहते हैं। "देवता, प्राण, भूतसूक्ष्म किंवा कर्म पूर्वप्रज्ञा" आदि सारी सामग्रियों से संपरिष्वक्त होकर ही आत्मा—रहति। यही कारण है कि, अन्य श्रुति ने भूत प्राणवत् उक्त देवताओं का भी आत्मा के साथ गमन बतलाया है जैसा कि महर्षि पिप्पलाद कहते हैं —

"विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः, प्राणा, भूतानि, सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सौम्य स सर्वज्ञः सर्वमाविवेश" ॥

—प्रश्नोपनिषत् ४।११

इस प्रकार उक्त प्रकरण से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि "भूतसूक्ष्म, मुख्यप्राणानुगृहीत इन्द्रियप्राण इन्द्रियप्राणाधिष्ठाता अग्निवाय्वादि देवता इन सब से युक्त होकर ही आत्मा लोकान्तर में जाता है"।

पूर्व प्रतिपादित 'आरोहावरोहमीमांसाविवरण' से बतलाना हमें यही था कि, आर्षसाहित्य का सर्वमान्यदर्शन (वेदान्त दर्शन) आत्मा को शरीर से भिन्न तत्त्व मानता है एवं स्थूलशरीर परित्याग के अनन्तर वह इसे सूक्ष्मशरीर धारण कर कर्मफल भोगने के लिए लोकान्तर में गमन करने वाला मानता है। ऐसी अवस्था में

स्मार्त श्राद्धसमर्थन—

आस्तिक कहलाने वाले किसी भी आर्य व्यक्ति का आत्मा की नित्यता, उस के परलोक गमन, एवं वहां पर शुभाशुभ फल भोगने के सम्बन्ध में अविश्वास नहीं हो सकता। लोकान्तर में जाने वाले 'प्रेत' संज्ञक आत्मा को महापुत्र द्वारा अन्नादि से तृप्त करना ही श्राद्धकर्म है। श्राद्ध का शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं है, अपितु आत्मा के साथ सम्बन्ध है। सुतरां श्राद्धकर्म पर विश्वास प्राप्त करने से पहिले आत्मा को शरीर से पृथक् मान लेना, साथ ही में उस की लोकान्तर गति में विश्वास कर लेना आवश्यक हो जाता है। हमारा यह निवेदन आस्तिकों के

"जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्" इस गीता सिद्धान्त के अनुसार 'परा प्रकृति' नाम से प्रसिद्ध 'अक्षर' ही जीवात्मा है। इस अक्षरात्म जीवात्मा के साथ प्रज्ञानसम्परिष्वक्त विज्ञान, भूत, प्राण, देवता आदि का नित्य सम्बन्ध रहता है। इस विषय का विशद विवेचन "आत्मोपनिषद्विज्ञानभाष्य" में देखना चाहिए।

बुद्धिदोष का सम्यक् रूप से परिमार्जन करता हुआ आस्तिकों की श्रद्धा को दृढ़मूल करने में पर्य्याप्त रूप से सहायक सिद्ध होगा।

"आत्मा अखण्ड है व्यापक है। न इस की आगति है न गति है। न कभी यह जन्म लेता, न कभी मरता। जिस स्थान पर बिम्बग्राहक भीम्र (स्वच्छ स्निग्ध) पदार्थ रहता है, उसी स्थान पर प्रतिबिम्बित होकर यह चमक पड़ता है। सम्पूर्ण रोदसी त्रैलोक्य में सूर्य्य व्यापक है। यह सब कुछ होने पर भी सभी स्थानों में, सभी काल में यह प्रकट नहीं होता। आप पानी का पात्र रख दीजिए, वहीं प्रतिबिम्ब रूप से सूर्य्य प्रकट हो जायगा। पात्र तोड़ दीजिए, प्रतिबिम्बित सूर्य्य जहां का तहां विलीन हो जायगा। ठीक यही स्थिति ईश्वर एवं सर्वभूत जीवों की समझिए। सम्पूर्ण विश्व में 'परमात्मा' नाम से प्रसिद्ध ईश्वरतत्त्व समानरूप से व्याप्त हो रहा है। "येनेदं पूर्ण-पुरुषेण सर्वम्"। जहां जहां उसे भीम्र महत्सोम मिलता है, प्रतिबिम्बरूप से वहां वहां वह प्रकट हो जाता है। महत्सोमावच्छिन्न इसी प्रतिबिम्बभाव का नाम जीव है। महद्भेद से जीवों में भेद है। जिस प्रकार एक पात्र के टूट जाने से केवल तत्पात्रस्थ प्रतिबिम्बित सूर्य्य का ही परज्योति में लय होता है, अन्य प्रतिबिम्बों पर इस दशा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता एवमेव एक महत् पात्र के विच्छिन्न होने से केवल उसी सत्त्वा का लय होता है। अन्य जीव संस्थाएं ज्यों की त्यों सुरक्षित रहती हैं। अपि च जिस प्रकार प्रतिबिम्बित सूर्य कोई अपूर्वभाव नहीं है, न वह कहीं से आया है, न वह कहीं जायगा। अनुबोधक, किंवा अभिव्यञ्जक सामग्री के उपस्थित हो जाने पर वह उसी स्थान पर प्रकट हो जाता है, एवं आधार के नष्ट हो जाने पर वहीं अनुद्भावस्था में परिणत हो जाता है। एवमेव त्रैलोक्य व्यापक आत्मा का प्रतिबिम्बभूत जीव न कहीं से आता है, न कहीं जाता है। महत् के आ जाने से यह वहां प्रकट हो जाता है अन्यथा वहीं विलीन हो जाता है—"इहैव समवलीयन्ते"। "व्यापक आत्मा का गमनागमन सर्वथा अनुपपन्न है"। क्या यह कथन, यह आत्मा की व्यापकता उस के गमना-गमन का अभाव श्राद्धकर्म्म की मूलभित्ति (जड़) को कम्पित करने के लिए पर्य्याप्त नहीं है? जब न वह कहीं जाता न कहीं से आता, तो फिर किस का जन्म?, किस का मरण? किस का लोकान्तर में गमन? किस का श्राद्ध?, सभी मत्तप्रलापकोटि में आ जाते हैं।

यदि अभ्युपगमवाद से किंवा तुष्यतुदुर्जनन्याय से थोड़ी देर के लिए आत्मा का लोकान्तर में गमन मान भी लिया जाता है, तब भी श्राद्धभक्तों का समाधान नहीं हो सकता। आत्मगति का स्वरूप बतलाते हुए, उस समय की अवस्था का चित्रण करते हुए भगवान् व्यास ने एक स्थान पर कहा है—

> व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति।
> यथा तृणजलौकेयं देही कर्म्मगतिं गतः ॥ —श्रीमद्भागवत

तृणजलौका (चातुर्मास्य में उत्पन्न होने वाला, प्रान्तीय भाषा में "कंघुआ" नाम से प्रसिद्ध जन्तुविशेष) जब आगे के भाग से आगे की भूमि पकड़ लेता है तब वह पिछली जमीन छोड़ता है। ठीक इसी प्रकार जीवात्मा तभी अपने पूर्वशरीर को छोड़ता है, जब कि वह अपनी स्वरूप रक्षा के लिए पहिले नवीन शरीर ग्रहण कर लेता है। तात्पर्य्य इस का यही है कि, पूर्वशरीर से निकलते निकलते वह नवीन शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। दूसरा शरीर इस के लिए पहिले से तय्यार रहता है। पहिले को छोड़ता जाता है, दूसरे में प्रविष्ट होता जाता है। पूर्वशरीर का परित्याग उत्तर शरीर का ग्रहण दोनों काम समान काल में होते हैं। "प्रथम शरीर त्याग करते ही द्वितीय शरीर धारण कर लेता है" इसका तात्पर्य्य यही मानना पड़ता है कि, यह जीवात्मा पूर्व योनि को छोड़ कर अन्य योनि में चला जाता है। इस प्रकार तृणजलौका-न्याय से योन्यन्तर में गए हुए उस जीव के साथ इसके पुत्रादि का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ऐसी अवस्था में उसे श्राद्ध द्वारा हम किसी प्रकार की सहायता पहुँचावें यह सर्वथा असंगत है। मान लीजिए, कर्म्मविपाक के तारतम्य से किसी का आत्मा अश्व-शूकरादि किसी योनिविशेष में प्रविष्ट हो गया। क्या पुत्रादि द्वारा प्रदत्त श्राद्धान्न इस पशु को मिलेगा ?, क्या हमारा श्राद्धकर्म्म पशुयोनि में प्रविष्ट अश्वादि पशुओं की तृप्ति का कारण बनता है ?, भला एक प्रमत्त के अतिरिक्त कौन विचारशील ऐसे अवैज्ञानिक, युक्तिविरुद्ध श्राद्धकर्म्म पर विश्वास करेगा।

अच्छा हम थोड़ी देर के लिए यह भी मान लेते हैं कि, आत्मा स्थूलशरीर छोड़ने के अनन्तर पश्वादि योनियों में न जाकर सूक्ष्म (आतिवाहिक) शरीर धारण कर लोकान्तर में जाता है। एवं यह भी मान लेने में हम कोई आपत्ति नहीं समझते कि, परलोकगत आत्मा के साथ इसके वंशधरों का श्रद्धासूत्र द्वारा सम्बन्ध बना रहता है। यह सब कुछ मान लेने पर भी श्राद्धकर्म्म तो सर्वथा अप्रतिष्ठित ही रहता है। कारण स्पष्ट है। स्वस्वरूप से व्यापक आत्मा को स्वकर्म्मवश परिच्छिन्न होना पड़ता है। कर्म्मों के तारतम्य से ही इसे यथावसर सुख दुःख का भागी बनना पड़ता है। साथ ही में प्रत्येक जीवात्मा अपने अपने शुभ अशुभ कर्म्मों का अपने आप उत्तरदायी है। "एक कर्म्म करे दूसरा उस का फल भोगे" कर्म्मसिद्धान्त की दृष्टि से यह सर्वथा असंभव है। कर्म्म की इसी नियत एवं वैयक्तिक व्यवस्था को लक्ष्य में रख कर "देवी कर्म्मगति गतः" यह कहा गया है। इसी आधार पर निम्न लिखित सूक्ति प्रचलित है।

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
स्वकर्म्मसूत्रग्रथितो हि लोकः ॥

अब यह बात है, तो अपने कर्म्मभोग से परलोक गए हुए, कर्म्मानुसार सुख दुःख भोगते हुए प्राणी को एक तटस्थ व्यक्ति श्राद्धादि से तृप्त करने का क्या अधिकार रखता है ? यदि पुत्रादि द्वारा प्रदत्त अन्न से प्राणी तृप्त हो जाता है, तो कर्म्मसिद्धान्त छिन्न भिन्न हो जाता है। यदि उसने बुरे कर्म्म किए होंगे, तो अवश्यमेव उसे क्षुधा पिपासा-यामीयातना-आदि अनिष्ट दुःख भोगने पड़ेंगे। यदि शुभ कर्म्म किए होंगे, तो विधि विधान उसे स्वयं सुखी बना देगा। फलतः उक्त कर्म्म सिद्धान्त के आधार पर भी श्राद्धकर्म्म की नि सारता सिद्ध हो जाती है।

अपिच, श्राद्धकर्म्म का फल बतलाने वाले आचार्यों ने कहा है कि, जो मनुष्य विधिपूर्वक श्राद्ध करता है, उस का वंश कभी नष्ट नहीं होता। उस की सम्पत्ति, आयु, कीर्त्ति, सब सुख समृद्ध रहते हैं। बिलकुल मिथ्या। सर्वथा कल्पना !! श्राद्ध करने वाले थोड़े, न कर वाले बहुत। श्राद्ध करने वाले भी नि-सन्तान, दुःखी, अल्पायु देखे जाते हैं, न करने वाले भी बहु-सन्तानयुक्त, सुखी दीर्घायु होते हैं। इस वैषम्य का क्या कारण ?

इस प्रकार आत्म सम्बन्धी इस श्राद्धकर्म्म के सम्बन्ध में अनेक संदेह उपस्थित होते हैं। इन सब सन्देहों का मूल कारण है—आत्मा का यथावत् न जानना। यदि आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जान लिया जाता है, तो पूर्वोक्त सन्देहों का कोई मूल्य नहीं रहता। यद्यपि उप निषदादि शास्त्रों में आत्मा का स्वरूप सर्वथा निर्णीत है, परन्तु जैसा कि हम प्राक्कथन में निवे दन कर चुके हैं वेदार्थपरिशीलन के अभाव से, साथ ही में साम्प्रदायिक मताभिनिवेश से आज उन सद्ग्रन्थों का सदाशय सर्वथा विलुप्त-सा हो गया है। एक ही शास्त्र का चिन्तन करने वाले भारतीय विद्वानों ने अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ फैला रक्खी हैं। सब अपने अपने मताभिनिवेश में पड़ कर धर्म्म का स्वरूप विकृत कर देश का सत्यनाश करने पर तुले हुए हैं। वर्त्तमान युग की इसी क्षुद्र स्वार्थमयी मनोवृत्ति का दिग्दर्शन कराते हुए महात्मा तुलसीदास ने कहा है —

हरित भूमि तृण सकुल, समुझि परै नहीं पन्थ।
जिमि पाखण्ड विवाद तें, लुप्त भए सद् ग्रन्थ ॥

—तु रा कि कां ११ दो।

इन्हीं सब विषम समस्याओं को श्राद्धविज्ञान में विभ्रमभूत देखकर सर्वप्रथम हमने 'आत्म विज्ञानोपनिषत्' लिखना आवश्यक समझा है। आत्मस्वरूप परिज्ञान के बिना श्राद्धसम्बन्धी उक्त सन्देहों का निराकरण कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है।

व्याख्याताओं के मताभिनिवेश की कृपा से आज जिन विद्वानों ने आत्मशब्द से किसी अखण्ड तत्त्व का ग्रहण कर रक्खा है। उनका विश्वास है कि, आत्मा अखण्ड बनता हुआ भी

चिदाभासरूप से सखण्ड दिखलाई पड़ता है। इधर वैज्ञानिकों का कहना है कि, अखण्डतत्त्व को तो आत्मा कहना ही अशुद्ध है। 'अहं' शब्द वाच्य आत्मा सर्वथा सखण्ड है। वह भी एक नहीं दो नहीं तीन नहीं अपितु प्रतिशरीर में संख्या में १५-१५ हैं। हम 'आत्मा' नहीं हैं, अपितु 'आत्मग्राम' हैं। "पन्द्रह आत्माओं की समष्टि अहं पदार्थ है" यह सुनकर संभव है आजकल के कल्पना रसिक विद्वान् हमारे उक्त सिद्ध अर्थ को केवल कल्पना ही समझने लगें। परन्तु हमारा दृढ़ निश्चय है कि, जिन १५ सखण्ड आत्माओं का इस प्रकरण में हम दिग्दर्शन कराने वाले हैं, उनकी प्रामाणिकता में अणुमात्र भी सन्देह का अवसर नहीं है। साथ ही हमें यह भी विश्वास है कि, यदि इन्होंने आद्योपान्त इस 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' को पढ़ने का कष्ट किया तो चिरकाल से चली आने वाली वेदविरुद्ध एकात्मवाद की भावना (कर्म-उपासना-मार्ग' आदि की अपेक्षा से) सर्वथा छिन्न भिन्न हो जायगी एवं इन्हें बाध्य होकर अनेकात्मवादानुगृहीत एकात्मवाद पर विश्वास करना पड़ेगा।

वैज्ञानिकों ने आत्मा के १—'अखण्डात्मा २—'परात्परात्मा ३—'षोडशीपुरुषात्मा ४—'यज्ञपुरुषात्मा ५—'विराट्पुरुषात्मा, ये पाँच प्रधान विवर्त माने हैं। इन पाँचों का ही निरूपण आगे होने वाला है। प्रकृत में केवल इनके विवर्तभावों का ज्ञान लेना ही पर्याप्त होगा। उक्त पाँचों आत्मविवर्त्तों में पाँचवा विराट्पुरुषात्मा 'ईश्वर' एवं 'जीव' भेद से दो प्रकार का है। दोनों में प्रत्येक के १५-१५ विवर्त हैं। इन पन्द्रहों आत्माओं की समष्टि "प्राकृतात्मा" नाम से प्रसिद्ध है। पन्द्रह आत्माओं की समष्टि ही 'ईश्वरविराट्' (महाविराट्) है, एवं पन्द्रह आत्माओं की समष्टि ही जीवविराट् (क्षुद्रविराट्) है। इनकी प्रतिष्ठा यज्ञ-पुरुषात्मा है। यज्ञात्मा की सत्ता षोडशीपुरुषात्मा पर निर्भर है। पुरुषसत्ता परात्परात्मा पर प्रतिष्ठित है। सब की परमप्रतिष्ठा सर्वप्रतिष्ठारूप 'अखण्डात्मा' किंवा अखण्डब्रह्म है। यज्ञात्मा पर प्रतिष्ठित रहने वाले, प्राकृतात्मा नाम से प्रसिद्ध पन्द्रह सखण्डात्मा वेद में निम्न लिखित नामों से प्रसिद्ध हैं। इनके सम्यक् परिज्ञान से सब सन्देह मिट जाते हैं इसी अनेकात्मानुगृहीत एकात्माभिमानज्ञान-जनित फल का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है —

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

—मुण्डकोपनिषत् २।२।८।

प्राकृतात्मविवर्त्तपरिलेख

५			५			५		
स्वयम्भू १	१—अन्तर्यामी २—सूत्रात्मा ३—यज्ञात्मा	अव्यक्त	सौर ३	१—विज्ञानात्मा २—देवात्मा	विज्ञान	पार्थिव ५ शरीरात्मा	१—भायात्मा	मूर्त्तिपिण्ड
							२—हंसात्मा	भूतायु
परमेष्ठी २	४—चिदात्मा ५—यज्ञात्मा	परमेष्ठी	चान्द्र	३—आकृतिमहान् ४—प्रकृतिमहान् ५—अहङ्कृतिमहान्	महात्मा	पार्थिव	३—वैश्वानरात्मा ४—तैजसात्मा ५—प्राज्ञात्मा	अन्नात्मापृथिवी

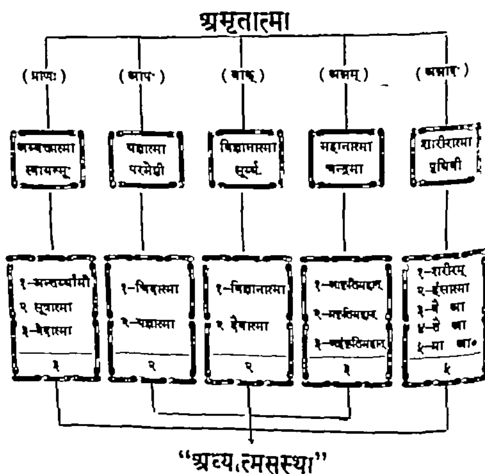
१५

ईश्वर शरीर में स्वयम्भू परमेष्ठी-सूर्य चन्द्रमा-पृथिवी ये पांच मुख्य प्राकृतात्मा हैं। इन पांचों का ३-२-२-३-५' यह क्रम है। १ प्राण'-प्रकृतिप्रधान 'स्वयम्भू' की '१ अन्तर्यामी २ सूत्र ३ यज्ञ, ये तीन कलाएं हैं। २ अप्-प्रकृतिप्रधान 'परमेष्ठी की '१ चित्, '२यज्ञ, ये दो कलाएं हैं। ३ 'वाक् प्रकृतिप्रधान 'सूर्य्य' की १ विज्ञान '२ प्राणदेवता, ये दो कलाएं हैं। ४ 'अन्न-प्रकृतिप्रधान 'चन्द्रमा में १ आकृति २ प्रकृति ३ अहंकृति भेदभिन्न महत्सोम का साम्राज्य है। एवं ५ 'अन्नाद्-प्रकृतिप्रधान 'पृथिवी में १ चित्याग्नि, २ वायु ३ वैश्वानर ४ हिरण्यगर्भ, ५ सर्वज्ञ इन पांच कलाओं की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार संभूय पांच विवर्त्तों के पन्द्रह विवर्त्त हो जाते हैं। ईश्वरसंस्था की स्वयम्भू आदि पांच प्रधान कलाएं अध्यात्मसंस्था में क्रमशः 'अव्यक्तात्मा-यज्ञात्मा विज्ञानात्मा-महानात्मा शारीरात्मा (प्राणात्मा) इन नामों से प्रसिद्ध हैं। १-अन्तर्यामी, २-सूत्रात्मा ३-यज्ञात्मा' इन तीनों खण्डात्माओं की समष्टि प्राण प्रकृतिप्रधान स्वायम्भुव १ अव्यक्तात्मा है। प्राकृतात्माधिकरण का यही पहिला १ 'अव्यक्तात्मा धिकरण है। १ चिदात्मा -२ यज्ञात्मा की समष्टि-अप्प्रकृतिप्रधान पारमेष्ठ्य '२ यज्ञात्मा' है। यही दूसरा २ 'यज्ञात्माधिकरण है। १ विज्ञानात्मा २-देवात्मा की समष्टि वाक्प्रकृतिप्रधान सौर ३ विज्ञानात्मा' है। यही तीसरा ३ विज्ञानात्माधिकरण' है। १ आकृति २ प्रकृति-३ अहंकृति की समष्टि अन्नप्रकृतिप्रधान चान्द्र '४ महानात्मा है। यही चौथा ४ 'महदात्माधिकरण है। १ भायात्मा-२-हंसात्मा ३-वैश्वानरात्मा ४-तैजसात्मा ५-प्राज्ञात्मा इन पांचों की समष्टि अन्नादप्रकृतिप्रधान पार्थिव ५ शारीरात्मा है। यही पांचवां ५ शारीरात्माधिकरण है

जैसा कि तत्त्वपरिष्कारों में स्पष्ट हो जायगा। इन सब खण्डात्माओं का आधार (इनकी अपेक्षा से अखण्ड) सोलहवां षोडशी पुरुष ही 'अमृतात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। क्रमप्राप्त सर्वप्रथम इसी की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

आत्मवंशावली –

मूलाधारः सर्वव्यापको विश्वव्यापक पुरुषः षोडशी



अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम् ।
मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति ॥

—शत ब्रा १०।५।२।४

यदस्ति किञ्चित् तदिदं प्रतीमोऽनित्यानि सत्यमनाद्यनन्तम् ।
प्रतिक्षणान्यान्य विकार-सृष्टि प्रवाहवत् द्विविरुद्धभावम् ॥

—श्रीगुरु संशयतदुच्छेदवाद १।१।

आत्मविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले निरूपणीय आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में उपस्थित होने वाले १५ आत्मविवर्तों में से मूलाधार, सर्वव्यापक, विश्वव्यापक, 'अमृत' संज्ञक षोडशीप्रजापति का ही सर्वप्रथम दिग्दर्शन कराया जाता है। 'यदस्ति किञ्चित्०' इत्यादि वचन के अनुसार अमृत-मृत्युलक्षण, स्थिति-गतिलक्षण ज्योति तमोलक्षण, अनिरुक्त-निरुक्तलक्षण इत्यादि दृष्टिभेद से विविध भावापन्न इस महाविश्व की ओर यदि हम दृष्टि डालते हैं, तो वहां हमें दो भावों के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त होता है। आप समष्टिरूप से विश्व को देखिए, अथवा व्यष्टिरूप से प्रत्येक पदार्थ पर भिन्न भिन्न रूप से दृष्टि डालिए, उभयथा आपको परस्परात्यन्त विरुद्ध दो भावों के दर्शन होंगे। साक्षी के लिए लोकसाक्षी, जगच्चक्षु सूर्य्य को सामने रख लीजिए। सूर्य्य ने अपनी ज्योति से त्रैलोक्य को प्रकाशित कर रक्खा है। सृष्टिविद्या के ज्ञाता वैज्ञानिक महर्षियों के मतानुसार सूर्य्य * की उत्पत्ति विश्व की उत्पत्ति है सूर्य्य की स्थिति विश्व की स्थिति है, एवं सूर्य्य का विनाश विश्व का विनाश है। सूर्य्यस्थिति-काल 'अह काल है', यही अहरागम नाम से प्रसिद्ध है। सूर्य्य-विनाश-काल रात्रिकाल है, यही रात्र्यागम नाम से प्रसिद्ध है। सृष्टिलक्षण महा अह-काल ही श्रुतियों में "पुण्याह" नाम से व्यवहृत हुआ है। यही 'ब्रह्मदिन' नाम से प्रसिद्ध है। सर्व-साधारण के समक्ष हुए अह (दिन) का एवं उस महाकालात्मक पुण्याह का स्वरूप समान है। अपने (मनुष्य) अह के स्वरूपज्ञान से पुण्याह का स्वरूपज्ञान गतार्थ हो जाता है। केवल काल परिमाण में तारतम्य है। अहोरात्र की (दिन रात की) षष्टि (६०) घटिका (घड़ी) मानी गई है। एवं 'मुहूर्त्तो घटिकाद्वयम्' इस सिद्धान्त के अनुसार दो घड़ी का एक मुहूर्त्त माना

सृष्ट्युत्पत्ति आगमश्री—

---

* शिरःप्रधान स्वयम्भूमूलासृष्टि, हृदयप्रधान सूर्य्यमूलासृष्टि, पादप्रधान पृथिवीमूलासृष्टि, भेद से ऋषियों ने सृष्टिविद्या को तीन भागों में विभक्त मान रक्खा है। इन तीनों में हिरण्यगर्भ महर्षि के मतानुसार सूर्य्य ही विश्व का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण है। इन तीनों मतों का विचार विशेषतः 'मुण्डकोपनिषद्विज्ञान-भाष्य' में देखना चाहिए।

गया है। इस व्यवस्था से अहोरात्र के त्रिंशत् (३०) मुहूर्त हो जाते हैं। १५ मुहूर्त अहःकाल है, १५ मुहूर्त रात्रिकाल है। इन में एक मुहूर्त का भाग प्रातःसन्ध्या में हो जाता है, एवं एक मुहूर्त का भोग सायं संध्या में हो जाता है। इस प्रकार दो मुहूर्त दोनों सन्ध्या कालों में चले जाते हैं। शेष २८ मुहूर्त रह जाते हैं। इन में १४ मुहूर्त का दिन है, १४ मुहूर्त की रात्रि है। चौदह मुहूर्तात्मक अहःकाल में सूर्य प्रकाशित रहता है, एवं चतुर्दशमुहूर्तात्मक रात्रिकाल में सूर्य हम से पृथक् हो जाता है।

अहः एवं रात्रि क्या पदार्थ हैं ?, इस प्रश्न का उत्तर है—मन्त्रगर्भित भारसाविज्ञाग्नि, एवं पार्थिवसोम। दिन में सौर अग्नि की प्रधानता रहती है एवं रात्रि में पार्थिव कृष्णसोम का साम्राज्य रहता है। सोम दाह्य पदार्थ है, अग्निदाहक है। दिन में

अहोरात्रस्वरूपदर्शन-

इस दाहक अग्नि के सम्बन्ध से विशाल अन्तरिक्ष में व्याप्त सोम जलने लगता है। "सं ज्योतिषा ज्योतिः" (ऋक् सं १।२१।२२) के अनुसार अग्नि में आहुत प्रज्वलित सोम ही प्रकाश का कारण बनता है। रात्रि में दाहक सौर अग्नि का अभाव रहता है, अतएव रात्रि में प्रकाश नहीं होने पाता। इस से यह भी सिद्ध हो जाता है कि अहः आग्नेय है, रात्रि सौम्या है। अहःकाल में पितृस्थानीय सूर्य अपनी प्राणप्रधान रश्मियों से हमारे रस को जितनी मात्रा में आकर्षित कर लेता है, रात्रिकाल में सोम द्वारा उतना रसभाग हमें पुनः प्राप्त हो जाता है। अतएव इसे 'रात्रि' कहा जाता है। रात्रि क्या है, दात्री है। वर्तमान में विद्वत्समाज में 'अहोरात्र-पक्ष-मास-चातुर्मास्य-अयन-संवत्सर' आदि शब्द काल के वाचक माने जा रहे हैं। विद्वानों का यह व्यवहार सर्वथा अवैज्ञानिक है। उक्त सभी शब्द अग्नि-सोम की तत्तद्रूप अवस्थाओं के ही नाम हैं। अग्नितत्त्व ही अहः-शुक्लपक्ष-उत्तरायण-संवत्सर है। सोमतत्त्व ही रात्रि-कृष्णपक्ष-दक्षिणायन है। १२ घन्टे १५ दिन-१ मास १ वर्ष में अग्नि का भोग होता है, अतएव अहः-पक्षादि शब्द आगे जाकर गौणविधि से काल के वाचक बन गए हैं।

अग्नि एवं सोम इन दोनों में अग्नितत्त्व विशुद्धरूप से उपलब्ध नहीं होता। 'भूम्-प्रजापति-परारत्नप्राण' आदि कतिपय तत्त्वों से यह नित्य युक्त रहता है। इन से युक्त होकर ही यह

मनुस्वरूपदर्शन-

अहः स्वरूप में परिणत होता है। दूसरे शब्दों में सूर्यकेन्द्र से उक्त विभूतियों को लेकर चारों ओर व्याप्त होता हुआ अग्नि ही अहःस्वरूप में परिणत होता है। सूर्यकेन्द्रस्थ भूपिण्डप्रवर्तक इन्द्र-भावापन्नप्राण-परोरजाप्राणादियुक्त यह सौर मध्य अग्नितत्त्व ही पुराणभाषा में 'मनु' नाम से व्यवहृत हुआ है। केन्द्रावस्थापन्न यही अग्नितत्त्व 'मनु' है। महिमामण्डल में आकर यही 'अग्नि' कहलाने लगता है। इसप्रकार

मय होने से यही 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है। प्राजापत्यप्राण के सम्बन्ध से 'प्राणः प्रजानामुदय त्येष सूर्य्यः' (प्रश्नोपनिषत् १।८) "नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः" (ऋक् सं० ७।६३।४) 'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (ऋक् सं० १।११५।१) इत्यादि श्रौत सिद्धान्तों के अनुसार सम्पूर्ण प्रजा का उपादान होने से वही हिरण्मय मनु 'प्रजापति' कहलाने लगता है। सौरमण्डलस्थ परोरजाप्राणमूर्त्ति षोडशीपुरुष नाम से प्रसिद्ध अमृतात्मा के सम्बन्ध से वही 'शाश्वतब्रह्म' नाम से भी प्रसिद्ध हो जाता है। इस प्रकार अवस्थाभेदमूलक दृष्टिकोणभेद से यह स्वरूप निर्माता एक ही सौरतत्त्व अग्नि-मनु-इन्द्र-प्रजापति-प्राण शाश्वतब्रह्म आदि अनेक नाम धारण किए हुए है। इसी अग्निप्रधान मनुविज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवान मनु कहते हैं—

> प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
> रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात् पुरुषं परम् ॥१॥
> एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
> इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्मशाश्वतम् ॥२॥ (मनु १२।१२२ १२३।)।

केन्द्रस्थ तत्त्व सूक्ष्मातिसूक्ष्म होता है, वही मनु है। अतएव इसके लिए—"अणीयां समणोरपि" यह कहा गया है। वहाँ इन्द्रियों की गति नहीं है। जिस प्रकार स्वाप्नजगत् में इन्द्रियज्ञान अवरुद्ध हो जाता है, केवल मन के अन्तर्जगत् का व्यापार रहता है, एवमेव वह केवल मनोगम्य है। अतएव "स्वप्नधीगम्यम्" कहा गया है। केन्द्र में लय रूप से प्रतिष्ठित होता हुआ यह प्राणमूर्त्ति मनु अग्नि ही अर्करूप से अहोरूप में परिणत होता है। यह मनु अग्नि, किंवा मनु-अग्निरूप महा अह सृष्टिविधा के क्रम की अपेक्षा से चौदह भागों में विभक्त है। मनुतत्त्व के यह चौदह अन्तर ही "मन्वन्तर" नाम से प्रसिद्ध हैं। हम अपने छोटे अह के जिन पन्द्रह विभागों के लिए 'मुहूर्त्त' शब्द प्रयुक्त करते हैं, महा अह के इन्हीं विभागों के लिए पुराण में "मन्वन्तर" शब्द प्रयुक्त हुआ है।

मनु और मन्वन्तर—

मन्वन्तर की उक्त व्याख्या के आधार पर ही अहः—मास—वर्ष, ये तीनों शब्द विभाजी माने गये हैं। कर्म्ममीमांसा (पूर्वमीमांसा) के ६ ठे अध्याय के १२ वें अधिकरण में महर्षि जैमिनि ने उक्त सिद्धान्त का ही दृढ़ किया है। ब्राह्मणग्रन्थों में सहस्रसम्वत्सरात्मक सत्रयज्ञ का विधान मिलता है। "स्वर्गप्राप्ति के लिए यजमान को सहस्रवर्षात्मक सत्रयज्ञ करना चाहिए"—इस विधि में प्रश्न

काल के विभागीभाव—

उपस्थित होता है कि "शतायुर्वै पुरुषः" (शत० ५।१।४।२) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य की आयु सौ वर्ष की मानी गई है। विज्ञानदृष्टि से यही सिद्धान्त ठीक भी है। कारण, हमारा आयुसूत्र विश्वामित्रप्राण के आधार पर प्रतिष्ठित है। यह प्राण बृहतीप्राण नाम से प्रसिद्ध मनःप्राणवाङ्मय और इन्द्र प्राण के आधार पर प्रतिष्ठित है। विषुवद्वृत्त नाम से प्रसिद्ध बृहतीछन्द पर सूर्य स्थिर रूप से प्रतिष्ठित है—'सूर्यो बृहती मध्यूढस्तपति।' 'षट्त्रिंशदक्षरा बृहती' (शत० ८।३।३।८) इत्यादि छन्दोविज्ञान के आधार पर बृहतीछन्द ३६ अक्षर का माना गया है। सूर्य में ज्योतिः-गौ-आयुः-नाम के तीन मनोता माने गए हैं। ये ही तीनों मनोता क्रमशः ज्योतिष्टोम—गोष्टोम—आयुष्टोम—यज्ञों के प्रवर्तक हैं। इन्द्रप्राणात्मक आयुःप्राण छन्दोऽक्षर भेद से ३६ भागों में विभक्त हो जाता है। आगे चलकर साहस्री विद्या की कृपा से प्रत्येक आयुःप्राण सहस्र-सहस्र भागों में विभक्त हो जाता है। इस प्रकार मनःप्राणवाङ्मय (ज्ञानक्रियार्थमय) आयुःप्रवर्तक विश्वामित्रप्राणावच्छिन्न सौर इन्द्रात्मक बृहतीप्राण ३६००० (छत्तीस हजार) भागों में विभक्त हो जाता है—(देखिए शत० ब्रा० १०।२।३।आ०)। हम प्रतिदिन मनःप्राणवाङ्मय एक एक आयुःसूत्र का भोग करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार यह भोगकाल छत्तीस हजार दिन में समाप्त हो जाता है। छत्तीस हजार दिन की समष्टि ही १०० वर्ष है। यह आयु का साधारण मान है। 'कल्याणा' आदि के सम्बन्ध में १२० वर्ष की भी आयु हो जाती है—(देखिए ऐ० आ० ५।१६)। कहना यही है कि उक्त आयुर्विज्ञान के अनुसार मनुष्य की आयु १००-१२० वर्षों से अधिक नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में इसके लिए एक सहस्र (१०००) वर्ष में पूरे होने वाले सत्र यज्ञ का विधान कैसे किया गया? यही विप्रतिपत्ति उठाते हुए ऋषि कहते हैं—

'सहस्रसम्वत्सर तदायुषामसम्भवान्मनुष्येषु" (पूर्व मी० ६।७।१३।३१)

आगे चलकर अन्त में— सम्वत्सरो विचालित्वात्'-(पू० मी० ६।७।१३।३८) "आहानि वाऽभिसम्बन्धात्" (पू० ६।७।१३।४०) इत्यादि रूप से सम्वत्सरादि शब्दों को विचाली मानते हुए वर्ष का 'अह' का वाचक मानते हुए उक्त श्रुतिविधान का समन्वय किया गया है।

रहस्य यह है कि 'वर्ष' कहते किसे हैं। भूमि की एक परिक्रमा का नाम ही वर्ष किंवा सम्वत्सर है। किसी एक बिन्दु से चलकर भूमि अपने उसी स्थान पर जितने काल में आ जाती है वह काल-समष्टि ही 'वर्ष' कहलाता है। भूपिण्ड अपने अक्ष पर परिक्रमा लगाता हुआ

क्रान्तिवृत्त पर घूम रहा है। स्वाक्षपरिभ्रमण से अहोरात्रसम्पादिका दैनंदिनगति का, एवं क्रान्ति परिभ्रमण से उत्तर-दक्षिणायनविभाजिका साम्वत्सरिकगति का स्वरूप निष्पन्न होता है। स्वाक्षपरिभ्रमण से होने वाली भूमिपरिक्रमा २४ घन्टे में ही समाप्त होजाती है। फलतः स्वाक्ष-गति से सम्बन्ध रखने वाला वर्ष पूर्व परिभाषा के अनुसार २४ घण्टे में ही समाप्त होजाता है। इस वर्ष का मनुष्यायु के साथ सम्बन्ध है। क्यों कि मनुष्य पार्थिव प्राणी है। मनुष्य पितर-देवता, भेदसे प्रजा तीन भागों में विभक्त है। मनुष्य प्रजाका पृथिवी से सम्बन्ध है, पितर प्रजा का चन्द्रमा से सम्बन्ध है, एवं देवप्रजा का सूर्य्य के साथ सम्बन्ध है। चन्द्रमा २७ दिन कुछ काल में अपनी एक परिक्रमा लगाता है। फलतः चान्द्र अहोरात्र इतने दिन में ही समाप्त माना जाता है। पार्थिव प्रजा की अपेक्षा चन्द्रभुक्त मासात्मक है, परन्तु चान्द्रप्रजा की अपेक्षा से तो यह एकमात्र एक अहोरात्र ही है। इसी प्रकार पार्थिव प्रजा की अपेक्षा से जो सम्वत्सर ३६० दिन का है, सौर देवताओं की अपेक्षा तो वह एक अहोरात्र ही है। इसी को दिव्य अहोरात्र कहते हैं। इस विज्ञान सिद्ध परिभाषा के अनुसार वर्ष देवताओं का अहोरात्र है, हमारा अहोरात्र एक वर्ष है। वर्ष-अहः दोनों विभाती हैं। फलतः सहस्रवर्ष का अर्थ सहस्र दिन होजाता है, एवं सत्रयाग का विधान चरितार्थ होजाता है। इसी परिभाषा के आधार पर आप को यह विश्वास कर लेना चाहिए कि, पुराण में मनुष्यायु सम्बन्ध में, एवं तपश्चर्य्याकालादि के सम्बन्ध में जहाँ भी कहीं सहस्रवर्षादि शब्द प्रयुक्त हुवे हैं, उन सबको अहः परक मानते हुए ही काल की व्यवस्था करनी चाहिए *।

मन्वन्तरविज्ञान—

मन्वन्तर प्रकरण चल रहा है। सृष्टिकाल अहःकाल बतलाया गया है, साथ ही में इसमें १४ मन्वन्तरों का भोग बतलाया गया है। इन १४ मन्वन्तरों में से सात मन्वन्तरों तक उदग्राम (चढाव) है, सात मन्वन्तरपर्य्यन्त निम्नाम (उतार) है। जैसी स्थिति पहिले मन्वन्तर की है, ठीक वैसी ही स्थिति चौदहवें मन्वन्तर की है। इसी प्रकार २-१३, ३-१२, ४-११, ५-१०, ६-९, ७-८, यह क्रम है। इसी क्रम के कारण उत्तर के सात मन्वन्तरों को 'सावर्णि' (सवर्ण-समानधर्म्मवाले) कहा जाता है। सूर्य्य, किंवा सूर्य्यकेन्द्रस्थ मार्त्तण्ड ही इन सब मन्वन्तरों की जन्मभूमि है, अत एव ये मन्वन्तर पुराण में 'सूर्य्यपुत्र' कहलाए हैं।

---

* इन सब विषयों का विशद विवेचन "पौराणिकमन्वन्तररहस्य" नाम के निबन्ध में देखना चाहिए।

मन्वन्तरपरिलेख—

प्रातःकाल ←

→ सायङ्काल

१-स्वायम्भुव सूर्य्य — १४-सूर्य्यसावर्णि

२ स्वारोचिषो ... — १३-...सावर्णि

३-उत्तमो ब्रह्म — १२-...सावर्णि

४-तामसो धर्म्म — ११ धर्म्मसावर्णि

५-रैवतो रुद्र — १०-रुद्रसावर्णि

६-चाक्षुषो ... — ९-दैवसावर्णि

७-वैवस्वतो इन्द्र — ८ इन्द्रसावर्णि

मध्याह्नकाल

सौरे ...मन्वन्तरात्मको— मासिकदिन —पुण्याह

पार्थिव स्वाक्षपरिभ्रमण के कारण मानुष अहोरात्र २४ घण्टे का होता है। दैत्यमहा...
चान्द्रपरिभ्रमण की अपेक्षा से १ मानुष अहोरात्रों का होता है. ... स्पष्ट

हीरात्र चैत्र" इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। एवं उत्तरायण-दक्षिणायन भेदसे हमारा एक वर्ष "वर्षेण दैवतः" के अनुसार सौर देवताओं का एक दिन है। ऐसे ३० दिव्य अहोरात्रों की समष्टि देवताओं का एक मास है। ऐसे दिव्य १२ मास की समष्टि एक दिव्य वर्ष है। दूसरे शब्दों में हमारे ३६६ वर्षों का देवताओं का एक वर्ष होता है। ऐसे ४००० चार हजार दिव्य-वर्षों का सत्ययुग, ३००० तीन हजार दिव्य वर्षों का त्रेतायुग, २००० दो हजार दिव्य वर्षों का द्वापरयुग, एवं १०००एक हजार दिव्य वर्षो का कलियुग होता है। इन चारों युगों के आदि में क्रमश ४००—३००—२००—१०० इन दिव्य वर्षो का सन्ध्याकाल है एवं ४००—३००—२००—१०० ये सन्ध्यांश हैं। इस प्रकार ४८०० वर्ष का सत्ययुग, ३६०० वर्षों का त्रेतायुग, २४०० वर्ष का द्वापरयुग, एवं १२०० वर्ष का कलियुग होजाता है। इन सबका संकलन किया जाता है तो १२० ० (बारह हजार) दिव्य वर्ष होजाते हैं। यही एक "देवयुग" कहलाया है। इस एक देवयुग में सूर्य की देवप्राणमयी एक रश्मि का भोग होजाता है। सूर्य्य में ऐसी सहस्र रश्मियाँ हैं। इन्हीं रश्मियों के सम्बन्ध से सूर्य्य को "सहस्रांशु' सहस्रदीधिति" इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जाता है। एकसहस्र दिव्य युगों में सूर्य्य का सर्वात्मना भोग होजाता है। यही सूर्य्य का जीवनकाल है, यही सौर 'अह' काल है, यही पुराणभाषा के अनुसार ब्रह्माका अहःकल्प है। एवं ऐसे दिव्य सहस्रयुगों की समष्टि ही रात्रिकल्प है। दूसरे शब्दों में १००० दिव्ययुगात्मक काल ब्रह्मा का एक दिन है, एवं १ ०० दिव्ययुगात्मक काल ही ब्रह्मा की एक रात्रि है। सूर्य्य का नष्ट होजाना खण्डप्रलय है। सहस्र दिव्ययुगों में सहस्रांशु की सहस्रकलाओं का जब भोग होजाता है, तो वह उसी स्वप्रभव अव्यक्त में विलीन होजाता है। जैसा कि स्मृति कहती है—

> यदा स देवो जागर्त्ति तदद चेष्टते जगत्।
> यदा स्वपिति शान्तात्मा (अव्यक्तात्मा) तदा सर्वं निमीलति ॥
>
> —मनुः १।५२।
>
> अव्यक्ताद् व्यक्तय सर्वा प्रभवन्त्यहरागमे।
> राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके ॥ —गीता ८।१८।

पूर्वोक्त अहःकल्प के १४ मन्वन्तरों में से प्रत्यक मन्वन्तर में ७१ दिव्य चतुर्युगी का भोग होता है। इस क्रम स १४ मन्वन्तरों की ९९४ चतुर्युगियाँ होजाती हैं। शेष ६ चतुर्युगी सन्ध्या-सन्ध्यांश में अन्तर्भूत मानली जाती हैं। संकलन मे पूरी १० ० चतुर्युगी होजाती हैं। यही

ब्रह्म का एक कल्प है। जिसप्रकार लोकभाषा का मुहूर्त शब्द पुराण में मन्वन्तर नाम से प्रसिद्ध है, एवमेव लोक-प्रसिद्ध तिथि शब्द के स्थान में पुराण में "कल्प" शब्द प्रयुक्त हुआ है। जिसप्रकार हमारी ३० तिथियों का एक मास होता है, एवमेव ३० कल्पों का एक ब्राह्म मास होता है। ऐसे १२ मासों का एक ब्राह्म वर्ष होता है। ऐसे १०० वर्षों का एक ब्रह्मयुग होता है। इन वर्षों में ब्रह्मा की आयु समाप्त होजाती है। इसी ब्रह्मतत्त्व को 'अव्यक्त' कहा जाता है। १०० वर्ष समाप्त होने पर अक्षरेश्वर नाम से प्रसिद्ध एक विश्वेश्वर का पुरुष में लय होजाता है। लयभाव को "प्रलय" (अव्यक्त नामसे प्रसिद्ध प्रकृति का लय) कहा जाता है। ध्यान रहे महामायावच्छिन्न अश्वत्थमूर्ति षोडशी पुरुष में ऐसी एक सहस्र अव्यक्तधाराएँ हैं। प्रत्येक धारा में 'स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी' ये पाँच पाँच पर्व हैं। इसी को विज्ञानभाषा में 'पञ्चपुण्डीरा-प्राजापत्यसंस्था' कहा गया है। इन पाँचों में स्वयम्भू ब्रह्मा है, परमेष्ठी विष्णु है, सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी (पृथिव्युपलक्षित अग्नि) की समष्टि त्रिनेत्र महादेव हैं। ब्रह्मा प्रजापति हैं, विष्णु देवपति हैं, महादेव भूतपति हैं। ब्रह्मा अव्यक्त हैं, विष्णु व्यक्ताव्यक्त हैं, महादेव व्यक्त हैं। जिस क्रम से सर्ग (सृष्टि) होता है, उसी क्रम से प्रतिसर्ग (प्रलय) होता है। पहिले चन्द्र सपृथिवी सूर्य्य का आपोमय परमेष्ठी में लय होता है। यह पहिला खण्ड प्रलय है। क्योंकि इस में विश्वखण्डभूत पृथिवी चन्द्र-सूर्य्य का ही लय होता है। इन का आयुष्काल ही दिव्य सहस्रयुगकाल है। आगे जाकर ब्राह्मयुगसमाप्ति पर सविष्णु ब्रह्मा का स्वयम्भू उसी अक्षरात्मक पुरुष में लय होजाता है। ब्रह्मा अपनी अवस्था की प्रकृति है। अतएव इस लय भाव को प्रकृति सम्बन्ध से "प्रलय" कहा जाता है। कोई समय ऐसा भी आता है, जिस में पुरुष की सहस्रों धाराओं का भी लय होजाता है। उस समय पुरुषत्वरूपसमर्पक-पुरभाव सम्पादक महामाया का बन्धन टूट जाता है। अतएव पुरुष महामाया के तिरोहित होते ही स्वप्रतिष्ठा रूप 'परात्पर' नाम से प्रसिद्ध अव्यय परमेश्वर में लीन होजाता है। यही विश्वेश्वर की मृत्यु है यही निरञ्जन लय है। इसमें महामाया का बन्धन टूटता है अतएव इस लयभाव को "महाप्रलय" कहाजाता है। इसप्रकार 'महामायी महेश्वर' (सहस्राक्षरेश्वर), पञ्चपुण्डीरात्मकाक्षरेश्वर (अव्यक्त ब्रह्म) 'त्रिखण्डेश्वर' (सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवीरूप) इन तीन संस्थाओं के भेद से लयभाव भी महाप्रलय, प्रलय खण्डप्रलय, भेद से तीन भागों में विभक्त है। इन तीनों में से मनुष्यवर्ग का प्रधान सम्बन्ध खण्डेश्वर के साथ है। अतएव अक्षर-खण्डेश्वर की आयु का समय तो दिव्ययुग-ब्राह्मयुग भेद से शास्त्रकारों ने निश्चित कर दिया है। परन्तु मायीमहेश्वर का काल निर्णय नहीं हुआ है। इस के सम्बन्ध में महर्षियों का—

"अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ।" यही समाधान है ।

अविज्ञेय—१-सर्वाधिष्ठाता अखण्डपरात्पर
दुर्विज्ञेय—१-सहस्रवल्शावच्छिन्न, अव्ययमूर्तिमहामायी विश्वेश्वर-महाप्रलयाधिष्ठाता
विज्ञेय—९-पञ्चपुण्डीरावच्छिन्न, एकवल्शेश्वरयोगमायी वल्शेश्वर प्रलयाधिष्ठाता
सुविज्ञेय—२-त्रिपर्वावच्छिन्न सू. च. पृ. मूर्ति योगमायी उपेश्वर-खण्डप्रलयाधिष्ठाता

२४—घण्टों का—१—मानुष अहोरात्र
३०—अहोरात्रोंका-१—मानुष मास
१२—मासों का—१—मानुष वर्ष
१००—वर्षों का—१—मनुष्ययुग

—मानुषयुग (नित्यप्रलय) जीवसंस्था

१—मानुषवर्षका—१—दिव्यदिन
३०—दिव्यदिनोंका-१—दिव्यमास
१२—दिव्यमासोंका-१—दिव्यवर्ष
१०००—दिव्यवर्षों का-१—खण्डदिव्ययुग
१०००—दिव्ययुगों का-१—महादिव्ययुग

—दिव्ययुग (खण्डप्रलय) उपेश्वरसंस्था

१—महादिव्ययुगका-१—ब्राह्मदिन
३०—ब्राह्मदिनोंका—१—ब्राह्ममास
१२—ब्राह्ममासों का—१—ब्राह्मवर्ष
१०—ब्राह्मवर्षों का—१—ब्राह्मयुग

—ब्रह्मयुग (प्रलय) वल्शेश्वरसंस्था

सहस्रब्राह्मयुगों की समष्टि—१—विश्वम्भरयुग]—ईश्वरयुग (महाप्रलय) महेश्वरसंस्था

अहोरात्र इस व्यवस्था का स्थूल उपक्रम है। वस्तुतः कालगणना स्वेदायन से आरम्भ करनी चाहिए। १५ स्वेदायनों का १ लोमगर्त है, १५ लोमगर्तों का १ निमेष है, १५ निमेषों का १ क्षण है, १५ क्षणों का १ प्राण है १५ प्राणों का १ इदम् है, १५ इदं का १ इदानि है। १५ इदानि का १ एतर्हि है। १५ एतर्हि का १ क्षिप्र है। १५ एतर्हियों का १ क्षिप्र है, १५ क्षिप्रों का एक क्षिप्राणि है। १५ क्षिप्राणि का १ मुहूर्त है। ३० मुहूर्तों का १ अहोरात्र है। यह कालविभाग वार्कलि नाम के महर्षि के मतानुसार है। पुराण अमरकोष-साधारण भेद से अन्यप्रकारों से भी इस भेदों का स्पष्टीकरण किया जा सकता है। इन सब विषयों का सोपपत्तिक निरूपण हमने 'मन्वन्तर-रहस्य' नाम के निबन्ध में कर दिया है। अतः प्रकृत में अधिक विस्तार न कर प्रकरण सङ्गति के लिए केवल तालिकाओं द्वारा काल का स्वरूप दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

वार्कलिऋषि के मतानुसार कालपरिमाण

१५—स्वेदायनों का—१—लोमगर्त
१५—लोमगर्तों का—१—निमेष
१५—निमेषों का—१—क्षण
१५—क्षणों का—१—प्राण
१५—प्राणों का—१—इदम्
१५—इदानि का—१—एतर्हि
१५—एतर्हि का—१—क्षिप्र
१५—क्षिप्रों का—१—मुहूर्त
३०—मुहूर्तों का—१—अहोरात्र

पुराण के मतानुसार

१५—निमेषों की—१—काष्ठा
३०—काष्ठा की—१—कला
३०—कला का—१—मुहूर्त
३०—मुहूर्तों का—१—अहोरात्र

अमरमतानुसार

१८—निमेषों की—१—काष्ठा
३०—काष्ठाओं की १—कला
३०—कलाओं का १—क्षण
१२—क्षणों का—१—मुहूर्त
३०—मुहूर्तों का—१—अहोरात्र
३०—अहोरात्रों का—१—मास
१२—मासों का—१—संवत्सर

साधारण मतानुसार—

१५—कला की—१—घड़ी
२—घड़ियों का १—मुहूर्त
१५—मुहूर्तों का—१—दिन
२—दिन का—१—दिनरात
१५—अहोरात्र का १—पक्ष
२—पक्षों का—१—मास
६—मासों का—१—अयन
२—अयनों का—१—सम्वत्सर

	युगनाम	सन्धिकाल	मध्यकाल	सन्ध्यांश	संकलन	दिव्यवर्षों से युगमान
१	सत्ययुग	४००	४०००	४००	४८००	
२	त्रेतायुग	३००	३०००	३००	३६००	
३	द्वापरयुग	२००	२०००	२००	२४००	
४	कलियुग	१००	१०००	१००	१२००	
चतुर्युग			– –	– — –	१२०००	
दिनकल्प		–	–	–	१२००००००	
रात्रिकल्प		– –	–	– — —	१२००००००	

मानुषवर्षों में युगमान		
	सत्ययुग	१७२८०००
	त्रेतायुग	१२९६०००
	द्वापरयुग	८६४०००
	कलियुग	४३२०००
	चतुर्युग	४३२००००
	दिनकल्प	४३२००० ००००
	रात्रिकल्प	४३२०००० ०००

सत्रहलाख अट्ठाईस हजार मानुषवर्ष, बारहहजार आठसौ दिव्यवर्ष—सत्ययुगमान।
बारहलाख छियानवे हजार मानुषवर्ष, तीन हजार छःसौ दिव्यवर्ष—त्रेतायुगमान।
आठलाख चौंसठ हजार मानुषवर्ष दोहजार चारसौ दिव्यवर्ष—द्वापरयुगमान।
चारलाख बत्तीस हजार मानुषवर्ष एकहजार दोसौ दिव्यवर्ष—कलियुगमान।
तितालीसलाख बीसहजार मानुषवर्ष बारहहजार दिव्यवर्ष—चतुर्युगमान।
तैंतालीस अर्ब, बत्तीस क्रोड़ मानुषवर्ष, बारह करोड़ दिव्यवर्ष—दिनकल्पमान।
" " " —रात्रिकल्पमान।

१—एकमन्वन्तर के मानुषवर्ष—३०६७२०००० (तीस करोड़ सड़सठ लाख बीस हज़ार)
२—छ मन्वन्तर के मानुषवर्ष—१८४०३२०००० (एक अर्ब चोरासी करोड़ तीन लाख बीस हज़ार
३—२७ दिव्ययुगों के मानुषवर्ष—११६६४०००० (ग्यारह करोड़ छासठ लाख चालीस हज़ार)
४—सत्ययुग के मानुषवर्ष—१७२८००० (सत्रह लाख अट्ठाईस हज़ार)
५—त्रेतायुग के मानुषवर्ष—१२९६००० (बारह लाख छियनवें हज़ार)
६—द्वापर के मानुषवर्ष—८६४००० (आठ लाख चौसठ हज़ार)
७—कलियुग के भुक्त मानुषवर्ष—५००० (पाँच हज़ार)

—०—

आज तक बीता हुआ सृष्टिकाल—१९६०८५३०००—एक अर्ब छियनवें करोड़ आठ लाख त्रेपन हज़ार

—०—

१—कलियुग के बाकी भोग्यवर्ष—४२७००० (चार लाख सत्ताइस हज़ार)
२—७१ चौयुगियों में से बाकी बची हुई ४३ चौयुगियों के भोग्यवर्ष—१८५७६०००० (अठारह करोड़ सत्तावन लाख साठ हज़ार)
३—उत्तर दिन के भोग्य सात मन्वन्तरों के वर्ष—२१४७०४०००० (दो अर्ब चौदह करोड़ सत्तर लाख चालीस हज़ार)
४—चौदह मन्वन्तरों के अन्त में भोग्य सन्धिकाल—२५९२०००० (दो करोड़ उनसठ लाख बीस हज़ार)

—०—

एक कल्प में बाकी बचा हुआ काल—२३५९१४००००—(दो अर्ब पैंतीस करोड़ इकानवें लाख चालीस हज़ार)

—०—

पूर्व में बतला दिया गया है कि ब्राह्मयुग के मास में तिथिस्थानीय ३० कल्प होते हैं। इन कल्परूप तिथियों में से वर्तमान में शुक्लपक्ष के प्रतिपत् (पड़वा) स्थानीय श्वेतवराह नाम के प्रथम कल्प का (ब्रह्मा की आयु के प्रथम दिन का) भोग चल रहा है। इसमें से ६ मन्वन्तरों का भोग समाप्त हो गया है, सातवाँ 'वैवस्वतमन्वन्तर' चल रहा है। इसकी ७१ चौयुगियों से २७ चतुर्युगियों का भोग हो चुका है। अट्ठाईसवीं चतुर्युगी चल रही है। इसमें से

भी सत्य-त्रेता-द्वापर, इन तीन युगों का भोग हो चुका है। कलियुग चल रहा है। कलियुग के भी ५००० (पाँच हजार वर्ष मानुष मान के अनुसार) समाप्त हो गए हैं। अभी ब्रह्मा के दिन के साढ़े ग्यारह (११॥) बजे हैं। इस शेष कलि के भुक्त हो जाने पर २८ वीं चतुर्युगी का आरम्भ होगा। इस प्रकार शेष चतुर्युगियों के भोग के अनन्तर वैवस्वत मन्वन्तर समाप्त हो जायगा। अनन्तर सात मन्वन्तरों का उक्त धारा क्रम से उपभोग होगा। जिस समय पूरे चौदह मन्वन्तर समाप्त हो जायेंगे, प्रतिपत् तिथिरूप वराहकल्प समाप्त हो जायगा, * सूर्य नष्ट हो जायगा। सर्वत्र अपूप्रकृतिप्रधान घोर तम व्याप्त हो जायगा। इस रात्रिकल्प में रात्रि के चौदह मन्वन्तरों का भोग होगा। अहोरात्र की परिसमाप्ति पर नीललोहित नाम की द्वितीय कल्पस्थानीया द्वितीया तिथि का आरम्भ होगा। और इस प्रकार कालपुरुष की महामहनीय-महत्ता हमें सदा आश्चर्य-युक्त बनाती रहेगी।

---

* चतुर्दशमन्वन्तरात्मक महाकल्प का सम्बन्ध सूर्य से है। एक कल्प सूर्य की पूर्णायु है। कल्पान्त में चतुर्दशमन्वन्तरविशिष्ट सूर्य सहसा परमेष्ठी में लीन हो जाता है। पुनः मनुविरोमूर्ति आपोमय परमेष्ठी से नवीन सूर्य उत्पन्न होता है। यह कालक्रम परमेष्ठी के आधार पर महायुगसम्पन्न निरन्तर यों ही चलता रहता है। इस मन्वन्तरविशिष्ट कालसृष्टि, एवं कालप्रलय के अधिष्ठाता आपोमय परमेष्ठी हैं, यही निष्कर्ष है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च।
क्रीडन्निवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः॥ (मनु० १।८०)

चतुर्दश 'मन्वन्तर' एवं कल्पपरिलेख

१-श्वेतवराह (प्रतिपत्)	१—१६—नारसिंहः (प्रतिपत्)
२-नीललोहित (द्वितीया)	२—१७—समान (द्वि०)
३-वामदेवः (तृतीया)	३—१८—आग्नेय (तृ०)
४-रथन्तरः (चतुर्थी)	४—१९—सौम्यः (च)
५-रौरवः (पञ्चमी)	५—२०—मानव (पं)
६-प्राणः (षष्ठी)	६—२१—तत्पुरुषः (ष)
७-बृहत् (सप्तमी)	७—२२—वैकुण्ठः (स)
८-कन्दर्प (अष्टमी)	८—२३—लक्ष्मी (अ)
९-सद्य (नवमी)	९—२४—सावित्री (नव)
१०-ईशानः (दशमी)	१०—२५—अघोर (द)
११ ध्यानः (एकादशी)	११—२६—वराह (एका०)
१२ सारस्वत (द्वादशी)	१२—२७—वैराजः (द्वा०)
१३-उदानः (त्रयोदशी)	१३—२८—गौरी (त्रयो)
१ गरुड (चतुर्दशी)	१४—२९—महेश्वरः (च०)
१५-कूर्म (पूर्णिमा)	१—३—पितृकल्प (अमावास्या)

शुक्लपक्ष  ——  ——  कृष्णपक्ष

त्रिंशत्कल्पात्मिकाहोरात्रात्मिका-ब्राह्ममास

प्रतिकल्प में १४ मन्वन्तर—प्रतिमन्वन्तर में दिव्ययुग
१—स्वायम्भुव ——→७१ — ७१
२—स्वारोचिष ——→७१ — १४२
३—उत्तम —— ——→७१ —२१३
४—तामस ———→७१ —२८४
५—रैवत- ———→७१ —३५५
६—चाक्षुष ———→७१ ४२६
७—वैवस्वत ———→७१ —४९७
८—इन्द्रसावर्णि ——→७१ —५६८
९—देवसावर्णि ——→७१ —६३९
१०—रुद्रसावर्णि ——→७१ —७१०
११—धर्म्मसावर्णि ——→७१ —७८१
१२—ब्रह्मसावर्णि ——→७१ —८५२
१३—दक्षसावर्णि ——→७१ —९२३
१४—सूर्य्यसावर्णि ——→७१ — ९९४
सन्ध्या———→६———१०००

पूर्वोक्त कालपुरुष का परिमाण साधारण मनुष्यों की दृष्टि में केवल कल्पना है, परन्तु वैज्ञानिकों की दृष्टि में यह सब कुछ वेदसिद्ध है। पाश्चात्य जगत् की भौतिक समुन्नति का ही वास्तविक उन्नति समझने वाले, पाश्चात्यशिक्षादीक्षित स्वधर्म्मविमुख भारतीयों के धर्म्मविरोधी आन्दोलन को ही राष्ट्र समृद्धि का कारण मानने वाले वैदिक विज्ञान की गहनावली से सर्वथा अपरिचित अपने आपको विद्वान समझने वाले कतिपय भारतीय सज्जन भी पूर्वोक्त युगपरिमाण को कल्पना समझते हुए सत्ययुग का स्वप्न देख रहे हैं। इनके मतानुसार शास्त्रसिद्ध—"अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे, प्रथमो द्वितीयप्रहरार्द्धे०' इत्यादि संकल्प वाक्य मिथ्या हो चुका है। सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद् जयपुर राज्य निवासी (वर्तमान में इन्दौर निवासी) श्री दीनानाथजी शास्त्री ने कुछ समय पूर्व हमारे पास 'वेदकालनिर्णय-युगपरिवर्तन' नाम

की दो पुस्तकें भेजने का अनुग्रह किया था। युगपरिवर्त्तन में शास्त्रीजी ने सुपर्णचिति के आधार पर वेदकालीन पञ्चाङ्गनिर्माण पद्धति का जो दिग्दर्शन कराया है, उसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। वास्तव में उक्त विषय की खोज अपूर्व एवं विद्वानों को आश्चर्य बनाने वाली है। परन्तु उसी पुस्तक में—

> यदा चन्द्रश्च सूर्य्यश्च तथा तिष्यबृहस्पतिः।
> एकराशौ समेष्यन्ति प्रपत्स्यति तदा कृतम्॥
>
> (महाभारत, वनपर्व १८८ अ०।)

इत्यादि कतिपय प्रमाणों का रहस्यार्थ न समझते हुए सत्ययुग मानने का साहस कर डाला है। क्या ही उत्तम हो यदि अब भी शास्त्रीजी अपने अभिनिवेश को छोड़कर उक्त कल्पना का संशोधन प्रकाशित कर आर्यजाति को इस मिथ्या कलङ्क से बचावें। इसी प्रकार बाबा—राजनारायणजी पद्शास्त्री ने अपनी 'चेतावनी' नाम की पुस्तक में इसी प्रकार असंगत प्रलाप किया है। हाल ही में गणितरत्न पं० श्री हरदेवजी त्रिवेदी ज्योतिःशास्त्री (मेवाड़ी) ने "चेतावनी समीक्षा" नाम से उक्त अशास्त्रीय मत का गणित के आधार पर खण्डन करने का स्तुत्य प्रयास किया है। प्रकृत में हमें आत्मस्वरूप का दिग्दर्शन कराना है, अतः यहाँ उक्त मत की समालोचना का अवसर नहीं है। इन सब विषयों का सोपपत्तिक निरूपण करते हुए युगपरिवर्त्तन का सप्रमाण सयुक्ति निराकरण करते हुए मन्वन्तर का स्वरूप स्वतन्त्र रूप से निरूपित हुआ है। विशेष जिज्ञासुओं को उसी के प्रकाशन की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

उक्त कालगणना से यहाँ हमें केवल यही बतलाना है कि लोकसाक्षी सूर्य्य की उत्पत्ति, स्थिति, भङ्ग, तीनों काल निश्चित हैं। जिस समय सूर्य्य उत्पन्न होता है वह काल पुण्याह (पवित्र दिन) का आरम्भकाल माना गया है। सातवें मन्वन्तर का संधिकाल मध्याह्न माना जाता है, एवं चौदहवें मन्वन्तर का समाप्तिकाल सायंकाल कहा जाता है। इस प्रकार प्रथम मन्वन्तर के उपक्रम के उपक्रम में जन्म लेकर, दूसरे शब्दों में उदित होकर सहस्रांशु सूर्य्य चौदहवें मन्वन्तर के अन्त में अस्त हो जाता है। उदयास्तभावापन्न यह सूर्य्य यद्यपि अस्मदादि साधारण मनुष्यों की दृष्टि में सदा के लिए एकरूप सा ही दिखलाई देता है, परन्तु वास्तव में सूर्य्य प्रतिक्षण बदल रहा है। इस सूर्य्यदृष्टान्त से प्रकृत में केवल यह क्षणिक भाव ही हमें सिद्ध करना है, जैसा कि आगे के प्रकरण में स्पष्ट हो जायगा।

पूर्व के कालस्वरूप-दिग्दर्शन से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि, सूर्य्य किसी दिन उत्पन्न हुआ था, आज यह वर्त्तमान है, किसी दिन न रहेगा। "किसी समय उत्पन्न सूर्य्य का विनाश होगा" यह निश्चित है—"संयोगा विप्रयोगान्ता"।

संशयक मीमांसा —

इस सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होता है कि, क्या प्रत्यक्ष दृष्ट सूर्य्य का यह महागोल सहसा एक क्षण में ही नष्ट हो जायगा? वैज्ञानिक उत्तर देते हैं कि, सूर्य्य के नाश के लिए चिरकाल अपेक्षित है। प्रतिक्षण सूर्य्य पुराना पड़ रहा है। इस क्षणिक विनाश की धारा ही किसी युग में (चौदहवें मन्वन्तर के अन्त में) सूर्य्यविनाश का कारण बनती है। यद्यपि स्थूलदृष्टि से यह क्षणिक परिवर्तन दृग्गोचर नहीं होता, तथापि विज्ञानदृष्टि से ऐसा ही मानना पड़ता है। इस प्रकार सूर्य्य में प्रतिक्षण विप्रलयों का होना सर्वथा सिद्ध हो जाता है। जो सूर्य्य पूर्वक्षण में था उत्तरक्षण में उसका सर्वथा अभाव है। इस क्षणिक परिवर्तन के कारण यद्यपि सूर्य्य सर्वथा विनाशी ही है, तथापि साथ साथ ही एक नित्य अपरिवर्तनीय भाव भी इस प्रत्यक्ष में देख रहे हैं। प्रतिदिन हम उसी सूर्य्य के दर्शन कर रहे हैं। सूर्य्य कल भी था, आज भी है, कल भी रहेगा। सूर्य्य प्रतिक्षण बदलता है परन्तु सत्तातत्त्व कभी नहीं बदलता। सत्ता एक है, नित्य है। सत्तातत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित रहने वाला क्षणिकभावसंघातरूप सूर्य्य निरन्तर बदलता ही रहता है। सर्वथा बदलने वाला सूर्य्य न बदलने वाले सत्तातत्त्व पर प्रतिष्ठित है। अतएव वह बदलता सा नहीं दिखलाई देता। उदयकाल से अस्तकाल पर्य्यन्त सूर्य्य की "हिंकार प्रस्ताव आदि उद्गीथ प्रतिहार-उपद्रव निधन" ये सात स्थूल अवस्थाएँ मानी गई हैं। अवस्थाएँ सात हैं, सूक्ष्मदृष्टि से अनन्त हैं परन्तु सूर्य्य एक है। यह एकत्व उसी सत्तातत्त्व की महिमा है।

इस प्रकार हम सूर्य्य में प्रतिक्षण बदलने वाले नानाभाव का भी प्रत्यक्ष कर रहे हैं, एवं साथ ही में अक्षय अपरिवर्तनीय एकत्वभाव भी उपलब्ध हो रहा है। तमःप्रकाशवत् अत्यन्त विरुद्ध एकत्व अनेकत्वभावों का एक ही सूर्य्य में उसी प्रकार समन्वय हो रहा है जैसे कि परस्पर में सर्वथा विरुद्ध पृथिवी जल-अग्नि-वायु आकाश इन पाँचों भूतों का एक ही पाञ्चभौतिक शरीर में समन्वय देखा जाता है। इन दोनों विरुद्ध भावों में एकत्वधर्म अविनाशी है, शाश्वत है। अनेकत्वधर्म विनाशी है अनित्य है। नित्यानित्य शाश्वताशाश्वत की समष्टि सूर्य है। उत्पत्ति क्षण से लयक्षण पर्य्यन्त एक ही प्राणी की इस अवस्थाएँ होती हैं, जैसा कि प्रस्तावना में बतलाया जा चुका है। एक नूतन काष्ठ में लौहकील भी सरलता से प्रविष्ट नहीं

हो सकती। परन्तु १० वर्ष पश्चात् वही काष्ठखण्ड ऐसा जीर्ण हो जाता है कि, बिना बल प्रयोग के जहाँ उस का स्पर्श किया जाता है, वही भाग गिर पड़ता है। इस स्थिति से मानना पड़ेगा कि, किसी नियत क्षण में ही काष्ठ की यह दशा नहीं हुई है, अपितु प्रतिक्षण में होने वाले परिवर्त्तन से ही काष्ठ उक्त दशा में परिणत हुआ है। यह सब कुछ है, परन्तु काष्ठ अब भी है। काष्ठरूप एकत्व सर्वथा अक्षुण्ण है। निदर्शन मात्र है। संसार में स्थिर चर जितने भी पदार्थ हैं, सब में समानरूप से परमाणु संघटन के तारतम्य से आप को एक परिवर्त्तनशील तत्त्व मिलेगा, एवं एक अपरिवर्त्तनीय तत्त्व उपलब्ध होगा। इन्हीं दो भावों के कारण संसार को "द्विनियति", (दो नियत भावों का समुच्चय) कहा जाता है। "दुनियाँ" शब्द द्विनियति का ही अपभ्रंश है। दुनियाँ को दुरङ्गी कहा जाता है।

उक्त दोनों तत्त्वों में परिवर्त्तित होने वाला तत्त्व 'नाम रूप-कर्म्म' की समष्टि है। यही वस्तु है। न बदलने वाला तत्त्व 'अस्ति' (है) है। यह 'मन प्राण-वाक्' का समुच्चित रूप है।

विरुद्धभावसमन्वय— मनःप्राणवाङ्मय अमृतलक्षण अस्तितत्त्व पर नामरूपकर्म्ममय मृत्युलक्षण पदार्थ प्रतिष्ठित है। जब तक वस्तु है, तब तक तो उस सत्ता ने उस वस्तु को पकड़ रक्खा है, वस्तु के नष्ट हो जाने पर वही सत्तातत्त्व वस्तु के अभाव का अनुग्राहक बन जाता है। "देवदत्त है" इस वाक्य में भी सत्ता लक्षण "है" विद्यमान है, एवं "देवदत्त नहीं है" इस अभावात्मक वाक्य के अन्त में भी (नहीं है—इस के अन्त में भी) "है" विद्यमान है। "है" (अस्ति) नहीं है, यह बात नहीं है। अपितु "है–नहीं है" इस प्रकार के "अस्ति"— "नास्ति" दोनों भावाभावात्मक व्यवहारों में अस्तितत्त्व अक्षुण्ण है। जिस भाव "नास्ति" कहते हैं उस में भी "न–अस्ति" इस विवेक से अस्ति–भाव विद्यमान है। नामरूपकर्म्मात्मक सत्तासमुच्चय बदलता है, मनःप्राणवाङ्मय अस्तित्व कभी नहीं बदलता। इस प्रकार कारणभूत ईश्वर प्रजापति से उत्पन्न कार्यरूप इस विश्व में समष्टि–व्यष्टि रूप से उभयथा पूर्वोक्त दोनों विरुद्ध भावों को हम देख रहे हैं। "कारणगुणा कार्य–गुणानारभन्ते" यह न्याय सुप्रसिद्ध है। इस सर्वसम्मत सिद्धान्त के अनुसार मानना पड़ता है कि, भावाभावयुक्त कार्य्यात्मक विश्व में जब अस्ति–नास्ति लक्षण दो विरुद्ध भावों की हमें निर्भ्रान्त रूप से उपलब्धि होती है तो अवश्य ही उस आद्य कारण रूप ईश्वर प्रजापति में भी उक्त दोनों विरुद्ध भावों का समन्वय होगा। यदि वहाँ (कारण में) ये दोनों न होते, तो यहाँ (कार्य में) उन की उपलब्धि स्वप्नमपि नहीं हो सकती थी।

ब ही दोनों तत्त्व श्रुतियों में अपेक्षा से भिन्न भिन्न प्रकरणों में भिन्न भिन्न नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। रस–अमृत आम्–सत्, ज्योति–विद्या, इत्यादि नामों से नित्यतत्त्व प्रसिद्ध है। एवं बल—मृत्यु, अभ्व—असत्, वीर्य—अविद्या इत्यादि नामों से अनित्य तत्त्व व्यवहृत हुआ है। पूर्व कथनानुसार यह बल वाला तत्त्व सर्वथा विनश्वर है। "१-नास्ति (अव्यक्त)— २-अस्ति (व्यक्त), ३-नास्ति (अव्यक्त)" इन तीन रूपों से नित्य आक्रान्त है। मध्य का अस्ति रूप भी परमार्थत: बदलता हुआ होने से नास्तिरूप ही है। अत एव इसे भी हम सर्वथा अस्थिर ही मानने के लिए तय्यार हैं। इसी क्षणिक भाव के कारण यह तत्त्व नास्तिसार है "कुछ नहीं है" के समान है। परन्तु सद्गमित्रिलक्षण मायाबल के प्रभाव से रसरूप नित्य तत्त्व से अनुगृहीत होकर यह कुछ न होता हुआ भी सम्भूति-भाव को प्राप्त होता हुआ "सब कुछ" बन रहा है अस्तिवत् प्रतीत हो रहा है। सच पूछिए तो सम्पूर्ण विश्व में नामरूपकर्मात्मक यह असत् तत्त्व ही आज सर्वत्र प्रभु बन रहा है। इस प्रकार यह तत्त्व स्व-स्वरूप से कुछ न होता हुआ भी रसानुग्रह से सब कुछ बन रहा है। इस के इसी स्वरूप-धर्म्म को लक्ष्य में रख कर— "अभूत्वा भवति" "अभूत्वा भाति, प्रतीयते सर्वत्र" "असद्वत् भवति" इत्यादि निर्वचनों के अनुसार वैज्ञानिकों ने इस नास्तिसार तत्त्व को "अभ्व" नाम से व्यवहृत किया है। लोक-प्रसिद्ध हाऊ" (हौआ) शब्द इसी अभ्व शब्द का अपभ्रंश है। छोटा बालक जब उपद्रव करने लगता है, तो माता "अरे हाऊ आता है चुप हाजा" यह कहती है। 'हाऊ' नाम का कोई सत्तासिद्ध पदार्थ नहीं है कुछ नहीं है, परन्तु बालक डर जाता है। इसी प्रकार कुछ नहीं होता हुआ भी यह अभ्व है। हाऊरूप महाविश्व के सामने हम सब बच्चे हैं। इन विश्वनिर्मीपिकाओं से जगज्जननी महामाया हम सब को डरा रही है। ऐसा यह अभ्व क्षणिक होने से ही स्वलक्षण है। एक क्षणिक अभ्व दूसरे क्षणिक अभ्व का लक्षण नहीं बन सकता। "अमुक अभ्व अमुक अभ्व जैसा है" यह कहने का अवसर ही नहीं मिलता। क्योंकि जिस समय एक अभ्व को हम अन्य अभ्व का लक्षण बतलाते हैं उसी समय दोनों विनष्ट हो जाते हैं। अत: इस इसे अवश्य ही 'स्वलक्षण" कह सकते हैं। जब यह क्षणस्थायी भी नहीं तो मानना पड़ेगा कि यह कुछ नहीं है। इसी स्वलक्षण भाव के कारण हम इसे 'शून्य" कह सकते हैं। स्थिरता में शान्ति है शान्ति में सुख है किंवा शान्ति ही सुख है। सर्वथा अस्थिर क्षणरूप इस अभ्व में स्थितिमूलक शान्ति-सुख का नितान्त अभाव है। अपि च 'यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति" इस औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार भूमा सुख है अल्पता दुःख है। क्षणिक अभ्व

मर्त्या शून्य होता हुआ अल्पतम है। इन्हीं सब कारणों से हम इसे "दु खरूप" कह सकते हैं। इस प्रकार इस अभ्व तत्त्व की १ क्षणिकता, २-स्वलक्षणता ३ शून्यता, ४-दु खरूपता भलीभांति सिद्ध हो जाती है। यह अभ्व तत्त्व दिग्-देश-काल से सर्वथा परिच्छिन्न होता हुआ ससीम है खण्ड खण्ड है, तमो रूप है, संख्या में अनन्त है, (इसी आनन्त्य से अभ्वरूप विश्व में वैचित्र्य उपलब्ध होता है), आवरणधर्म्मा है, साञ्जन है, पाप्मा है।

दूसरा है अपरिवर्त्तनीय नित्य तत्त्व। यह एकरूप से सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है, अतएव "आ (समन्तात्-सर्वत्र) भवति" 'आ-अभवत्" इत्यादि निर्वचनों से इस व्यापक नित्य तत्त्व को 'आभू" कहा जाता है। व्यापक होने से ही यह सर्वथा निष्क्रिय अतएव शान्त है। अतएवच नित्य है। नित्यता, एवं व्यापकता ही इसे पूर्ण कहने को बाध्य करती है। पूर्णता में शान्ति है। पूर्णता ही भूमाभाव है। भूमा ही सुख है। अतएव यह आनन्द रूप है— आनन्दमयोऽभ्यासात्' (व्या० सू०)। अभ्व के द्वारा इस का विश्व में विकास होता है। दूसरे शब्दों में अभ्व ही (अभ्व ही) इस आभू (रस) की उपलब्धि का कारण है। यह अपने विशुद्ध रूप से सर्वथा निर्धर्म्मक निराकार बनता हुआ अनुपलभ्य है। अत एव हम इस को अलक्षण मानने के लिए तय्यार हैं। यह आभू दिग्-देश-काल संख्या से अपरिच्छिन्न होता हुआ असीम है, अखण्ड है ज्योति-(ज्ञानज्योति)-र्मय है, संख्या में एक है (इसी एकत्व भाव से भिन्नों में अभिन्नता की प्रतीति होती है) निरावरण है निरञ्जन है विशुद्ध है। हमने इसे एक कहा है। यह एकत्व भावात्मक समझना चाहिए। एकत्व संख्या द्वित्वादि संख्या सापेक्ष है। इसी को अयुतसिद्ध एकत्व कहते हैं। द्वित्वादि संख्या की अपेक्षा रखने वाले अयुतसिद्ध इस एकत्व का उस में अभाव है। जब वहां कोई संख्या नहीं, तो समझने मात्र के लिए उस में एकत्व व्यवहार हो जाता है। यह समझना भाव, किंवा भावना है। इ हा सब कारणों से हम इस भावरूप एकत्व से ही युक्त मानने के लिए तय्यार हैं।

विशुद्ध अभ्व तत्त्व के उपासक नास्तिक लोग जहाँ—"क्षणिक क्षणिक अतएव स्व-लक्षण स्वलक्षण, अतएव शून्य शून्य, अतएव दुःख दुःखम्" यह कह कर सर्वप्रपञ्च का दुःखरूप बतलाते हैं, वहां आभू तत्त्व के उपासक आस्तिक 'नित्य नित्य, अतएव अल-क्षण अलक्षण अतएव पूर्ण पूर्ण अतएव आनन्द आनन्दम्" कहते हुए जगत् का

आनन्दघन बनता रहे हैं। जीवनसत्ता वास्तव में आनन्द पर ही निर्भर है। हम जब तक जीते हैं—आनन्द से, एवं आनन्द की आशाप्रतीक्षा से ही जीते हैं। जिस दिन आनन्द की मात्रा एकान्ततः निःशेष हो जाती है, तत्काल जीवनलीला समाप्त हो जाती है। इसी सर्वानुभूत लोकसिद्ध अर्थ का स्पष्टीकरण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन—
जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" (तै०उप० ३। ६।)।

उक्त अभ्व-आभू विवेचन से कहना यही है कि इन दोनों विरुद्ध तत्त्वों की समष्टि ही विरुद्धभावद्वयापन्न विश्व का मूल है। विश्व में प्रतीयमान कार्यरूप क्षणिकभाव का मूलकारण विश्वातीत अभ्व है, एवं कार्यरूप से प्रतीयमान नित्यभाव का मूल विश्वातीत आभू है। लौकिक दृष्टि से समझने के लिए हम इन दोनों को द्रष्टा एवं दृश्य कह सकते हैं। विश्वविद्या को आप इन्हीं दो भागों में विभक्त कर डालिए, विश्वातीत आभू और अभ्व के इस विश्व में ही (द्रष्टा एवं दृश्यरूप से) साक्षात् दर्शन हो जाएँगे। दृश्य अभ्व है। आप इसे निरन्तर बदलता हुआ देखेंगे। एवं द्रष्टा आभू है इसे सर्वदा एक रस देखेंगे। उदाहरण के लिए दर्पण (काच आइना) का दृष्टान्त समझिए। एक स्थान पर काच सर्वदा स्थिर रूप से रक्खा हुआ है। उस पर मार्ग में आते जाते मनुष्य पशु पक्षी आदि दृश्यों का प्रतिबिम्ब पड़ता रहता है। दृश्य बदल रहे हैं, द्रष्टा काच सर्वथा स्थिर है। नए नए दृश्यों को लेता जाता है छोड़ता जाता है। इसी प्रकार शरीरावच्छिन्न शरीराकाशगर्भित हृदयाकाशस्थ दभ्राकाश में प्रतिष्ठित ज्ञानज्योतिर्घन हमारा आत्मा द्रष्टा है। हम इन्द्रियों द्वारा जिन विषयों को देखा करते हैं वे सब दृश्य हैं। अहंभाव एक है दृश्य नाना हैं। इस प्रकार द्रष्टा दृश्य के विवेक से आप सर्वत्र इसी विश्व में आभू अभ्व का साक्षात्कार कर सकते हैं। इसी रहस्य का प्रतिपादन करते हुए रहस्यवेत्ता वैज्ञानिक कहते हैं—

यदस्ति किञ्चिद्यदिदं प्रतीमोऽपिचाखिलं शश्वत्स्यमनाद्यनन्तम्।
प्रतिक्षणान्यान्य विकार-दृष्टेः प्रवाहवत् तद्द्विविरुद्धभावम् ॥ १ ॥

विरुद्धभावद्वयसंनिवेशात् समाप्यते विश्वमिदं द्विमूलम्।
आभ्वभ्व-चक्रस्य इमे च मूले द्रष्टा च दृश्यं तु मतं तदन्यम् ॥ २ ॥

यद् ब्रह्म तज्ज्ञानमिति प्रसिद्ध ज्ञाने प्रतीतो विषयस्तु कर्म्म ।
ज्ञान प्रकाशोऽस्त्यविचालिभावस्तत्रान्यदन्यद् भवदस्ति कर्म्म ॥ ३ ॥

दिग्देशकालैरमित तु यत् तज्ज्ञान हि तद् ब्रह्म तदाम विद्यात ।
दिग्देशकाले प्रमित स्वसद्रत् सतकर्म्म तद् दृश्यमिद तदन्यम् ॥ ४ ॥

(श्रीगुरुमदखीवर्सशयसनुच्छेदवाद, सच्चिदानन्दलक्ष्य)

ज्ञाम् तत्त्व एक है, कर्म्म अनेकधा विभक्त है। दोनों ही अविनाभूत हैं, नित्यसम्बद्ध हैं। इन दोनों तत्त्वों की सम्मुग्धावस्था का नाम "निर्गुणब्रह्म" है, एवं ये ही दोनों अंशरूप से किसी कारणविशेष की प्रेरणा से उद्बुद्धावस्था में आकर "सगुणब्रह्म" नाम धारण कर लेते हैं। योगमायावच्छिन्न असत्त्वादि मायिक जीवों का उपास्य एकमात्र यही सगुणब्रह्म है। निर्गुणब्रह्म विश्वातीत होने से व्यापक होता हुआ अवाङ्मनसगोचर है। शब्दातीत होने से शास्त्रानभिज्ञ होता हुआ एकान्ततः अनुपास्य है। प्रत्येक शब्द की "यत्किंचित्पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न" में ही शक्ति रहती है। घट शब्द की घटत्वावच्छेदकावच्छिन्न में शक्ति है। वह घटत्व घट शब्द की पटादि इतर पदार्थों से व्यावृत्ति (पृथक्करण-छाँट) करवाता है। उस व्यापक ब्रह्म में सब कुछ प्रतिष्ठित है, वह सब में अनुस्यूत है, अत एव उसकी किसी शब्द से किसी में से व्यावृत्ति नहीं कराई जा सकती। अत एव अवच्छेदकावच्छिन्न में शक्त शब्द-जाल उस का निरूपण करने में सर्वथा असमर्थ हो जाता है। विश्व की उत्पत्ति-स्थिति-भंग, तीनों ब्रह्मलक्षणा ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-(पुराण मतानुसार महेश) भेदभिन्ना देवत्रयी पर ही निर्भर है। तीनों क्रमशः विश्व के उत्पादक-पालक-संहारक हैं। इन तीनों में इन्द्र ज्ञानप्रधान हैं, विष्णु कर्मप्रधान हैं, ब्रह्मा क्रियाप्रधान हैं। सत्त्व-रज-तमोभेदभिन्ना प्रकृतिरूपा माया शक्ति के आश्रय से ही क्रियाशक्तिप्रधान ब्रह्मा कर्मशक्तिप्रधान विष्णु, ज्ञानशक्तिप्रधान इन्द्र, किंवा महेश उत्पत्ति-स्थिति-नाश के कारण बनते हैं। ज्ञान उस व्यापक ब्रह्म का वास्तविक रूप है। उस का विकास विश्व में इन्द्र रूप से ही होता है। अत एव इस के लिए "इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः, श्रेष्ठो ज्येष्ठः" (कौषीतकि ब्रा० ६।१४।) यह कहा गया है। अत एव ब्रह्मादि इतर देवता बनते हैं, एवं इन्द्रापरपर्य्यायक ज्ञानमय तत्त्व "महादेव" है-"ज्ञानमिच्छेन्महेश्वरात्"। ब्रह्मा विष्णु क्रमशः क्रिया एवं कर्ममूर्ति हैं। दोनों का विकास कार्य-विश्व में ही होता है। विश्वातीत अवस्था में केवल ज्ञानशक्ति का ही विकास है। इसी रहस्य को लक्ष्य

से स्पष्ट हुए केनोपनिषत् में बतलाया गया है कि "जब इन्द्र उस यक्ष के सामने गए तो यक्ष अन्तर्हित (गायब) हो गया" (केनोपनिषत् ३।२४।)। इस का तात्पर्य यही है कि, पूर्व कथनानुसार इन्द्र ज्ञानशक्तिघन है, उधर यक्षमूर्त्ति ब्रह्म ज्ञानघन है। दोनों अभिन्न हैं। क्रियाप्रधान ब्रह्मा अर्थप्रधान विष्णु ज्ञानप्रधान इन्द्र (महादेव), इन तीनों में से ब्रह्मा विष्णु की तो वहां गति नहीं है परन्तु ज्ञानमूर्त्ति इन्द्र वहाँ अवश्य ही पहुँच जाते हैं। दूसरे शब्दों में वह शब्दातीत होता हुआ भी ध्यानापरपर्य्यायक ज्ञानगम्य अवश्य है। "तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः" के अनुसार इन्द्ररूप विज्ञान (बुद्धि) से अवश्य ही तन्मय लक्षण के द्वारा वहाँ गति हो जाती है। परन्तु अर्थप्रधान कर्म्मकाण्ड एवं क्रियाप्रधान उपासनाकाण्ड, दोनों मार्ग वहाँ अवरुद्ध हैं। इसी गुहानिहित रहस्य को लक्ष्य में रख कर आचार्य्य कहते हैं—

> न विदन्ति न च वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः।
> यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥ (तै० उ० २।४।)

श्रुति ने विष्णु, एवं विधि (ब्रह्मा) से उस की अविज्ञेयता बतलाई है, विष्णु-विधि से भिन्न सम्बद्ध इन्द्र से नहीं। कारण इस का यही है कि ज्ञानमूर्त्ति इन्द्र (विज्ञानात्मा) वहाँ पहुँच सकता है। समझाना यही है कि, विश्वातीत वह व्यापक तत्त्व शब्द शास्त्र की दृष्टि से सर्वथा अविज्ञेय, एवं अनिर्वचनीय है।

सुप्रसिद्ध मायाबल के कारण आभू-अभ्वात्मक व्यापक ब्रह्म के विश्वातीत—विश्वचर विश्व से तीन रूप हो जाते हैं। वही ब्रह्मतत्त्व अपने यत्किञ्चित् प्रदेश से (अपरानुगृहीत पर

ब्रह्म का त्रेधा वितान—

भाग से) विश्व बना हुआ है। अत एव—'आत्मैवेदं सर्वम्' 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च' 'एक एवेदं वि बभूव सर्वम्' 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यादि श्रौत वचन चरितार्थ हो रहे हैं। इसी दृष्टि को लक्ष्य कर 'ब्रह्म ही विश्व है' इस कथन में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। अपने एकांश से सम्पूर्ण जगत् का निर्म्माण कर, दूसरे शब्दों में एक पाद से विश्वरूप में परिणत होकर 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' के अनुसार वह ब्रह्म अंशरूप से अपने सृष्टरूप इस विश्व में प्रविष्ट होकर विश्व का आत्मा बना हुआ है। विश्व उस का शरीर है, प्रविष्ट भाग विश्व शरीर का आत्मा है। इसी प्रविष्ट रूप को आधार मान कर—

'आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्' 'नवद्वारे पुरे देही' 'सर्वस्य प्रभुमीशानम्' 'यो विश्वं भुवनमाविवेश' 'तेनेदं (विश्वं) पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' 'विश्वस्यैकं परिवेष्टितारम्' 'विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्' इत्यादि श्रौत वचनों का समन्वय हो रहा है। इसी दृष्टि को लक्ष्य में रख कर—"ब्रह्म विश्व में प्रविष्ट है" इस कथन में भी कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। वही जात (उत्पन्न-विश्व) है, वही उत्पन्न होने वाला है, वही गर्भ में प्रविष्ट रहनेवाला आत्मा है। इन्हीं विश्व-विश्वेश्वर, दोनों आत्मविवर्त्तों का समष्टि रूप से निरूपण करते हुए महर्षि श्वेताश्वतर कहते हैं—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥

ब्रह्म का यही दूसरा रूप विश्वेश्वर विश्वाध्यक्ष-विश्वात्मा-जगदीश्वर, आदि विविध नामों से प्रसिद्ध हुआ है। जो भाग विश्व एवं विश्वेश्वर से पृथक् विशुद्ध बच जाता है, वही तीसरा सर्वव्यापक भाव विश्वातीत नाम से प्रसिद्ध है। यही ब्रह्म का निरुपाधिक रूप है। न यह जन्म लेता न इस की मृत्यु होती। न यह किसी का आत्मा (विश्वेश्वर) बनता, न किसी का शरीर (विश्व) बनता। इसी तीसरे विश्वातीत विवर्त्त को लक्ष्य में रख कर ऋषि कहते हैं—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ १ ॥

—श्वे० उप० ६। ८।

न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २ ॥

—श्वे० उ० ४।

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत् ।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥ ३ ॥

—श्वे० उप० ४। १९।

इसी विश्वातीत दृष्टि से 'न ब्रह्म विश्व बनता, न विश्वात्मा बनता यह सब प्रपञ्च केवल मायिक है' इस कथन में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। ये ही तीनों विवर्त्त 'प्रवि-

विरुद्ध-प्रविष्टब्रह्म-सृष्टब्रह्म इन नामों से भी व्यवहृत किए जासकते हैं। इन में प्रविविक्त (विश्वातीत) एवं प्रविष्ट (विश्वचर), ये दो विवर्त दो अमृतप्रधान हैं। तीसरा सृष्टरूप (विश्व) मृत्युप्रधान है। दूसरे शब्दों में उक्त दोनों रूप आभूप्रधान (रसप्रधान) हैं, तीसरा रूप अभ्व-प्रधान (बलप्रधान) है। कुछ भी कहिए, तीनों ही रूपों में आभू-अभ्वात्मक रस-बल का ही साम्राज्य मानना पड़ेगा। अतएव श्रुति की 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्, इस कथन में ज़रा भी संकोच नहीं होता। ब्रह्म के आभू-अभ्व लक्षण रस बल नाम के दो रूप हैं' यह सुन कर 'ब्रह्मैवेदं सर्वं-एकमेवाद्वितीय ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन' इस अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले अद्वैतभक्तों को विरोध बतलाने का अवसर मिल जाता है। हम उन्हें बता देना चाहते हैं कि रस-बल, इन दो भावों के मान लेने पर भी अद्वैत सिद्धान्त पर किसी प्रकार की आपत्ति नहीं आती।

सजातीय-विजातीय-स्वगत, इन तीनों भेदों का निराकरण करने के लिये श्रुति में '१एक २एव ३अद्वितीयम्' ये तीन पद प्रयुक्त हुए हैं। इन में अद्वितीय पद विजातीयभेद का, एक पद सजातीयभेद का, एवं एव पद स्वगतभेद का निराकरण कर रहा है। आम का वृक्ष केले के वृक्ष से भिन्न है यह दोनों का विजातीय भेद है। एक आम का वृक्ष दूसरे आम्रवृक्ष से भिन्न है यह दोनों का सजातीयभेद है। एक ही आम्रवृक्ष में आम्रफल आम्रमञ्जरी, आम्र-पत्र शाखा मूलस्तम्भ, आदि अनेक अवयव हैं। सभी अवयव परस्पर में भिन्न होते हुए एक आम्रवृक्ष के आश्रित हैं। यही भेद तीसरा स्वगतभेद है, अपने आप में रहने वाला भेद है। मनुष्य-पशु का भेद विजातीय है, मनुष्य मनुष्य का भेद सजातीय है, हस्त-पाद-मस्तक-उदर-हृदय-आदि अवयव भेद स्वगतभेद है। हमारा ब्रह्मतत्त्व उक्त तीनों भेदों से पृथक् है। ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरा भिन्न स्वरूप वाला ब्रह्म नहीं है, इसलिए ब्रह्म विजातीय भेदशून्य है। 'सर्वत्र इस अद्वितीय को साम्राज्य है'। इस ब्रह्म के जैसा कोई अन्य ब्रह्म नहीं है, अतएव यह सजातीयभेद शून्य है। 'सर्वत्र इस अद्वितीय एक का साम्राज्य है'। साथ ही में आम्रवृक्षादि की तरह इस में अवयव भेद भी नहीं है, नीचे-ऊपर-आगे-पीछे-सामने-सब ओर वही एक है, अत यह स्वगतभेद से भी वहिर्भूत है। इस प्रकार 'भेदत्रयशून्य इस अद्वितीय एक ही (एकमेवाद्वितीयं) ब्रह्म का साम्राज्य है'। ऐसी परिस्थिति में अद्वैतवादियों की ओर

म प्रश्न उपस्थित होता है कि "ब्रह्म के रस–बल, य दो विवर्त मान लेने पर सजातीय–विजातीय भेद को तो अवसर नहीं मिलता, परन्तु स्वगतभेद बना रह जाता है। तुम्हारे कथनानुसार स्वगतभेद उत्पन्न करने वाला रस–बलात्मक कलाभेद रह जाता है। फलत विशुद्ध अद्वैतवाद सुरक्षित नहीं रहने पाता"। प्रश्न यथार्थ है। अवश्य ही हम दो कला मानते हैं। फिर भी उक्त प्रश्न का हमारी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है। हम दो कला मानते हुए भी उन दोनों की पृथक् पृथक् दो सत्ता स्वीकार नहीं करते। मानना दूसरी बात है सत्ता स्वीकार करना दूसरी बात है। जिसे आप मानना कहते हैं, वह मानने से भी सम्बन्ध रखता है एवं सत्ता म भी मानने का सम्बन्ध है। सर्वसाधारण ने आकाश को नीला मान रक्खा है, क्योंकि उस का उसी रूप म भान हो रहा है। परन्तु कोई भी वैज्ञानिक आकाश के नील वर्ण की सत्ता स्वीकार करने के लिए तय्यार नहीं है। भावात्मक एकत्व को छोड़ कर २–३–४–५ आदि सब सङ्ख्याएं केवल मानी हुई हैं। सत्ता केवल एक ही संख्या की है। जिसे आप २–३–४–५ कहते हैं, सर्वत्र २ ३ ४ ५ इस क्रम से एक संख्या का ही प्रभुत्व है। "अयमेक–अयमेक" की समष्टि ही तो दो है। विज्ञानदृष्टि से उत्तर दिशा ऊंचा स्थान है, दक्षिण दिशा अवाची (नीचा स्थान) है। परन्तु साधारण मनुष्य अपने मस्तक के ऊपर के भाग को ऊंचा मानते हैं, पैरों के नीचे के स्थान को नीचा कहते हैं। इसी प्रकार पृथक्त्व-संयोग विभाग-परत्व-अपरत्व पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण, आदि सहस्रों पदार्थ (जो कि अहोरात्र हमारे व्यवहार में आते हैं, जिन के न मानने से लौकिक-व्यवहारों का एकान्ततः उच्छेद हो जाता है) ऐसे हैं, जिन को आप, हम, सभी केवल मानते ही मानते हैं किन्तु उन की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करते। यही परिस्थिति रस–बल की भाति के सम्बन्ध में समझिए। द्वैत व्यवहार का मूलकारण सत्ताभेद है, न कि भातिभेद। भातिभेद से प्रतीत होता हुआ भी द्वैत परमार्थतः द्वैत नहीं माना जाता। पुरोऽवस्थित एक घट का आप को भान हो रहा है साथ ही में जिस मिट्टी से घट बना है, उसे भी आप देख रहे हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से इन दो भातिभावों को देखते हुए भी भातिद्वैत से घट के लिए—"यह घड़ा है, और मिट्टी है" ऐसा द्वैतव्यवहार नहीं करते। कारण भान वास्तव में दो हैं परन्तु "वाचा रम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" के अनुसार सत्ता एक है। मिट्टी की सत्ता से ही घट सत्तावान् बन रहा है। ठीक इसी प्रकार उस ब्रह्म तत्त्व में भी रस–बल भेद से भाति दो हैं, सत्ता एक है। अतएव स्वगतभेद को अवसर नहीं मिलता। यदि इस समाधान से आप को

सन्तोष नहीं होता तो हम आप से पूछते हैं कि— 'आप ब्रह्म की सच्चिदानन्दता में कोई सन्देह नहीं करते। 'सत्ता-चेतना-आनन्द'—ये तीन कलाएँ आप भी मानते हैं। रस-बल, इन दो जातिभेदों के कारण इस पक्ष में जो स्वगतभेद प्रयुक्त दोष आप बतलाते हैं, वह दोष आप के भी समान है। जिस अभिन्ना प्रतिसीमा सत्ता को आगे कर आप स्वगतभेद हटाते हैं, वही सत्तात्मक अद्वैत हमारे रस-बलात्मक अद्वैतवाद का भी समर्थक बन रहा है।

उपर्युक्त रसबलात्मक सर्वव्यापक यही विश्वातीतब्रह्म "अखण्डब्रह्म" नाम से प्रसिद्ध है। यह ब्रह्मभाव सोपाधिक अहंभाव से सर्वथा पृथक् है। यह सब में समान है। चेतन-अचेतन-विश्व विश्वात्मा विश्व के बाहिर सर्वत्र समानरूप से व्याप्त है। मायोपाधिशून्य, अतएव— सर्वव्यापक परात्पर, प्रविविक्त, विश्वातीत, निर्धर्मक, निरञ्जन, अद्वय, अखण्ड, असीम आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध, पूर्व कथनानुसार शास्त्रानभिहित, वाङ्मनसपथातीत इस अविशेष अनिर्वचनीय विलक्षण ब्रह्मतत्त्व का इस श्राद्धप्रकरण से कोई सम्बन्ध नहीं है। श्राद्धप्रकरण में ही क्या यह तो सभी शास्त्रीय कर्मों से एकान्ततः बहिर्भूत है। हमारे आचार, व्यवहार पुण्य-पाप, जन्म-मरण, स्वर्ग-नरक, संस्कार आदि किसी से भी उस का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में जो महानुभाव 'आत्मा तो व्यापक है अखण्ड है। उस की गति-आगति कैसी ! गति नहीं तो श्राद्ध कैसा !" ऐसे ऐसे कुतर्कों के द्वारा श्राद्ध की इतिकर्तव्यता पर, उस की शास्त्रीयता पर आक्षेप करने का साहस करते हैं, उन्हें पूर्व प्रतिपादित अखण्ड ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप समझते हुए आज से अपना भ्रम छोड़ देना चाहिए। उन्हें यह विश्वास कर लेना चाहिए कि अखण्ड आत्मा को हम शास्त्रों में प्रतिपादित आत्मा कहने के लिए तय्यार नहीं हैं। शास्त्रीय आत्मा कोई दूसरा ही सखण्ड आत्मा है। वह भी एक नहीं, अनेक हैं।

पूर्व में हमने अमृतात्मा के प्रविविक्त प्रविष्ट भेद से दो रूप बतलाए हैं। इन दोनों में से पहिले प्रविविक्त ब्रह्म की चर्चा हम छोड़ते हैं। उस के विषय में केवल यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि—'सप्तकलविशिष्ट रसप्रधान सर्वव्यापक एक तत्त्वविशेष ही प्रविविक्त ब्रह्म है वह शास्त्रानभिहित है। व्यापक होने से अनुपास्य है। गतिशून्य होने से जन्म-मरण रहित होता हुआ श्राद्धमर्य्यादा से बहिर्भूत है"। दूसरा है प्रविष्टब्रह्म नामक अमृतात्मा।

इस प्रकरण के शीर्षक में जिसे हमने अमृतात्मा कहा है, जिस के प्रतिपादन की प्रकरणारम्भ में प्रतिज्ञा की गई है, वह यही प्रविष्टब्रह्म है। भाष्य शब्दों में इसी का दिग्दर्शन कराते हुए इस प्रकरण का समाप्त किया जाता है।

रस-बलात्मक जिस अखण्ड ब्रह्म का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है उस के रस भाग को हमने संख्या से (भावात्मिका एकत्व संख्या से) एक बतलाया है, साथ ही में उसे दिग्-देश-काल से अनन्त कहा है। दूसरे बलतत्व का संख्या से अनन्त, एवं दिग्देशकाल से सादि-सान्त कहा है। दिग्देशकालावच्छिन्न

रसबलमयब्रह्म की बलग्रन्थिमूर्ति-

अल्परूप यह अनन्त बल सृष्टिविकास के पूर्व जिन महाबलों में अन्तःप्रविष्ट रहते हैं, एवं सृष्टिकाल में जिनमें से अनन्त बल उद्भूत होते रहते हैं, आधार रूप उन महाबलों को शास्त्र में—'कोशबल" नाम से व्यवहृत किया गया है। वे कोशबल संख्या में कुल १६ हैं। इन सोलह बलकोशों में इतर सारे अनन्त बल समाए हुए हैं। इन सब बलकोशों का विशद निरूपण 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' के प्रथम खण्ड में निरूपित हो चुका है। प्रकरणसंगति के लिए यहां उन के नाम मात्र उद्धृत कर दिए जाते हैं। इन सोलहों में एक बलकोश विद्यात्मक है, शेष १५ बलकोश अविद्यात्मक हैं। विद्यात्मक बलकोश मुक्ति का अधिष्ठाता है शेष सृष्टि के प्रवर्त्तक हैं। वे बलकोश १-विद्या, २-माया, ३-जाया, ४-धारा, ५-आप ६-हृदय, ७-भूति, ८-यक्ष, ९-सूत्र १० -सत्य, ११ यज्ञ १२-अभ्व, १३-मोह, १४-वय १५-वयोनाध, १६-वयुन, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। विद्याबल उस का स्वाभाविक बल है, यह हृद्ग्रन्थिविमोकपूर्वक मुक्ति का कारण बनता है। शेष पन्द्रहों आगन्तुक हैं। हृद्ग्रन्थि प्रवृत्ति पूर्वक ये ही सृष्टि के प्रवर्तक हैं। इन में प्रधानता मायाबल की ही है। अपरिमित को परिमित बना कर उसे सकेन्द्र बनाते हुए, उस अशनाया शून्यतत्त्व में अशनाया उत्पन्न कर बना माया बल का मुख्य कर्म है। विश्वसम्पर्क से सर्वथा पृथक् रहने वाला, स्व-स्वरूप से सर्वथा निरञ्जन वह वस्तु अपने ही अंश से कैसे साञ्जन विश्व बन गया, ? इस आश्चर्यमूलक प्रश्न का उत्तर एकमात्र इसी मायास्वरूपविज्ञान पर अवलम्बित है। सम्पूर्ण संसार माया की क्रीडा (खेल) मात्र है। हां, एक बात पर विशेष ध्यान रखिए। माया नामरूपकर्ममयी बन कर ही विश्व में व्याप्त होती है। रसबलात्मक सत्यब्रह्म की अंशभूता बलात्मिका नामरूपमयी माया भी अवश्य ही सत्य है। ऐसी अवस्था में नामरूपात्मक सत्यविश्व का मिथ्या कहना—

अप्रत्यमप्रतिष्ठन्तं जगदाहुरनीश्वरम्" (गीता १६।८)

भगवान के उक्त शब्दों में गुणमय स अनीश्वरवाद का प्रचार करता है। जब कि— "नामरूप सत्यम्" (शत० ब्रा० १४।४।४।३) इत्यादि श्रुतियों स्पष्ट ही मायिक विश्व म सत्य बतला रही हैं तो ऐसी दशा में इस असत्य मानना प्रतिवादमात्र है। यह बात सच है कि, मायिक विश्व का यथार्थ ज्ञान हमें नहीं होता। अनन्तब्रह्म की तरह उस से नियममन्वद्वा यह महामाया भी अनन्तरूपा ही है। जो माया ब्रह्म अनन्तब्रह्म की अनन्तता हटा कर उस विश्वप्रकृस में लाकर उस लीलामय बना डालती है—(सा कच्चलीलाकेवल्यम्—व्या० सू) उस के यथार्थस्वरूप का यह क्षुद्र जीव जान जाय यह असम्भव है। माया के प्रभव-प्रतिष्ठा-लय का स्वरूप पूरा जान सकता है क्या ?, असम्भव। माना कि वह बलरूपा है, बलप्रधाना है। परन्तु बल असत् है। सद्‌विश्व में हम उसी का प्राधान्य देख रहे हैं, दूसरे शब्दों में विश्व का सद्‌भाव उसी पर निर्भर है। ऐसी अवस्था में उस असत् क्योंकर माना जा सकता है। साथ ही में बल के विद्यमान असत् स्वरूप का भी तो तिरोहित नहीं किया जा सकता। फलतः उसे सत् भी नहीं कहा जा सकता। सत्-असत् का पारस्परिक विरोध उस 'सदसती' न कहने के लिए भी बाध्य कर रहा है। ऐसी स्थिति में—

न सती सा नासती सा नोभयात्मा विरोधतः ।
काचिद्विलक्षणा माया वस्तुप्रकृतिरिष्यते" ॥ यह अभियुक्तोक्ति माया के यथार्थ स्वरूपज्ञान के सम्बन्ध में हमारी सब इन्द्रियों का द्वार बंद कर रही है। बात सच है। यह माया ही क्या हुई जिस का स्वरूप माया के कवच में पड़े हुए हम जान जाँय। हम उस के यथार्थ स्वरूप को जानने में असमर्थ हैं एतावता ही क्या उसे मिथ्या कहने का साहस्य अपराध करना उचित है ? कदापि नहीं। अस्तु मायिक जगत् मिथ्या है अथवा सत्य ? इन सब प्रश्नों का विशद विवेचन ईशोपनिषद्भाष्य में हो चुका है। अस्तु प्रकृत में माया के सम्बन्ध में केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि माया एक ऐसा बल है जो रसबलात्मक असीम ब्रह्म को (आंशिकरूप से) ससीम बना डालता है। परात्पर ब्रह्म असीम था व्यापक था, अतएव हृदयशून्य था अतएव मनःशून्य था अतएव च कामना रहित था। कामनाऐं मन से प्रादुर्भूत होती हैं यह निश्चित सिद्धान्त है। "हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पम

स्तु" इस यजुःश्रुति के अनुसार मन का आधार हृदय है। इधर व्यापक में हृदयभाव (केन्द्र) का सर्वथा अभाव है। अतएव मन का, अतएवच कामना का अभाव सिद्ध हो जाता है। अपि च, अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए ही कामना हुआ करती है। उधर व्यापक परात्पर में कोई वस्तु अप्राप्त नहीं है। सब कुछ उस के उदर में प्रतिष्ठित है, सब में वह है, सब वही है। फिर उस आत्मकाम, अतएव आप्तकाम, अतएवच निष्काम में कामना कैसी। बिना कामना के सृष्टि नहीं। अतएव इसे *'विश्वातीत' शब्द से व्यवहृत करना समन्वित हो जाता है।*

ऐसे कामना रहित विश्वातीत ब्रह्म के किसी एक प्रदेश में उसी पूर्वपरिचित मायाबल का उदय होता है। जितने प्रदेश में मायाबल उदित होता है, तदवच्छिन्न रसबलात्मक परात्परब्रह्म परिच्छिन्न होता हुआ, हृदयबल से युक्त हो जाता है। हृदय-

पञ्चकल मायोपाधिक ब्रह्म— बलावच्छिन्न मायिक रसबलात्मक इसी तत्त्व को वैज्ञानिक महर्षियों ने 'श्वोवसीयसब्रह्म' नाम से व्यवहृत किया है। अभी (विकार सृष्टि की उत्पत्ति से पहिले) मनोमय इस मायिक ब्रह्म में अन्य किसी आवरण का अभाव है, अतएव ऋषियों ने इसे "मारूप" माना है। उस परमाकाश में भारूप-मनोमय-आकाशात्मा पुरुष व्याप्त है। अब तक वह पुर-(घेरा सीमा-आवरण)-मर्य्यादा से बहिर्भूत था, परन्तु आज वह मायापुर से वेष्टित हो गया है, अतएव वह 'पुरुष' नाम से प्रसिद्ध हो गया है। परस्पर में सर्वथा विभिन्न स्त्री-पुरुष नपुंसक-भेदभिन्न विश्वान्तर्गत यच्चयावत् पदार्थों में वह समानरूप से व्याप्त रहता है, कोई प्रदेश उस से विरहित नहीं है। विविधभावों में परिवर्तित होने वाले पदार्थों में वह एक रूप से व्याप्त रहता है अतएव उक्त मनोमय पुरुष को ऋषियों ने 'अव्यय' नाम से व्यवहृत किया है, जैसा कि गोपथश्रुति कहती है—

> सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
> वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥ (गो० ब्रा० पू० १।२६)

रसबलात्मक मनोमय इस अव्यय पुरुष में सब प्रथम 'एकोऽहं बहु स्याम्' इस कामना का उदय होता है। कामना मन का पहिला रस है। इस को हमने असंग रस कहा है। हम इतना चाहता है, बल मिलना चाहता है। संसग सृष्टि है विसर्ग मुक्ति है अव्यमान का योतक है। इसीलिए तो गतब्रह्म मर्य्यादा में भी राम —हरि इत्यादि रूप से शब्दा

त्मक विसर्ग ( ) पद वाक्यादि के अवसान का स्वरूप समर्पक बन रहा है। रसबल के सम्बन्ध से मन में दोनों वृत्तियाँ हैं—'उभयात्मक मनः'। अतएव उभयात्मक मन से निकलने वाली कामना भी दो ही मार्गों में विभक्त हो जाती है। बलगर्भिता रसानुगामिनी कामना बन्धनविमोक का कारण बनती हुई "मुमुक्षा" (मुक्ति की इच्छा) नाम से व्यवहृत होती है एवं रसगर्भिता बलानुगामिनी कामना सृष्टिप्रपञ्चन का कारण बनती हुई—"सिसृक्षा" (सृष्टि की इच्छा) नाम धारण कर लेती है। इस प्रकार उस पुरुष में 'बनाऊ–बिगाड़ू' प्रधानरूप से इन दो कामनाओं का ही समावेश रहता है। सम्पूर्ण विश्व के प्राणी भी उक्त दोनों कामनाओं से अतिरिक्त तीसरी कामना नहीं कर सकते। क्योंकि जिस के वे अंश हैं, उस अंशी में ही तीसरी कामना का सर्वथा अभाव है। मन ने इच्छा की परन्तु रसबल के अतिरिक्त और वहां है क्या। फलत कामुक पुरुष इच्छा द्वारा इन्हीं का अपने ऊपर चयन करने लगता है। रसानुगामिनी कामना स इस पर 'रसचिति' होती है, बलानुगामिनी कामना से 'बलचिति' होती है। रसचिति में बल गौण है, बलचिति में रस गौण है। रसचिति में उत्तरोत्तर रस की वृद्धि है। एक स्थिति ऐसी है, जिस में बल सर्वथा तिरोहित हो रहा है, वहां रसमात्र की प्रतीति है। इसी प्रकार बलचिति में उत्तरोत्तर बल की वृद्धि है। स्थिति विशेष में रस सर्वथा तिरोहित है, वहां बलमात्र की प्रतीति है। इस प्रकार रसबल की चिति के तारतम्य स १-बलगर्भितरसचिति, २-बलतिरोभाव लक्षणारसचिति ३-रसगर्भितबलचिति ४-रसतिरोभावलक्षणाबलचिति, भेद से उस काममय अव्ययस्व मन पर चार चितियाँ हो जाती हैं। मन क रस भाग पर दोनों रसचितियाँ प्रतिष्ठित रहती हैं इन पर मुमुक्षा बल का अनुग्रह रहता है। मन के बलभाग पर दोनों बल-चितियाँ प्रतिष्ठित रहती हैं, इन पर सिसृक्षा बल का अनुग्रह रहता है। पहिली रसचिति 'विज्ञ न' नाम से प्रसिद्ध है। विज्ञान में बल भी है परन्तु रस की प्रधानता है। दूसरी रसचिति 'आनन्द' नाम से प्रसिद्ध है। इस में बल एकान्ततः सुप्त है। संसार में इन दोनों चितियों की अप्रधानता है विश्व में वे दोनों अन्तमु ख रहती हैं, अतएव इन दोनों चितियों की समष्टि का 'अन्तश्चिति' कहा जाता है। तीसरी बलचिति 'प्राण' नाम से प्रसिद्ध है। यही पहिली बल-चिति है। प्राण में बल क साथ रस भी है अतएव यहां क्रियामात्र का उदय रहता है। चौथी बलचिति 'वाक्' नाम स प्रसिद्ध है। यही दूसरी बलचिति है। यहां रस सर्वथा सुप्त है। अतएव वाक्तत्त्व अर्थसृष्टि का अधिष्ठाता बनता हुआ अर्थकोटि में मान लिया जाता है। विश्वरचना में इन्हीं दोनों बलचितियों की प्रधानता है। दोनों बहिमु ख हैं। अतएव इन दोनों की समष्टि को

'वहिश्चिति' कहा जाता है। आनन्दविज्ञानमयी अन्तश्चिति मनोमय अव्यय का विद्याभाग है, इसी से आगे जाकर पराविद्यालक्षण अक्षर तत्त्व का विकास होता है। इस विद्याभाग में रस की ही प्रधानता रहती है। प्राणवाङ्मयी वहिश्चिति अव्यय का कर्म्मभाग है, किंवा अविद्या भाग है। इसी से आगे जाकर अपराविद्यालक्षण क्षरतत्त्व का विकास होता है। इस कर्म्मभाग में बल की ही प्रधानता है। विद्याभाग अमृतप्रधान (रसप्रधान) होता हुआ सत् है, कर्म्मभाग मृत्युप्रधान (बलप्रधान) होता हुआ असत् है। अमृतमृत्युलक्षण सदसत् की समष्टिरूप विद्या कर्म्म-समुच्चय ही अव्ययपुरुष का वास्तविक स्वरूप है—'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन' (गी० ९। १९)। मध्यस्थित स्वयं मन काममय है। इस प्रकार रस बलके तारतम्य से यह प्रतिष्ठाब्रह्म 'विद्यात्मा-कामात्मा-कर्म्मात्मा' इन तीन कलाओं में परिणत होता हुआ १आनन्द २ विज्ञान ३-मन ४ प्राण, ५-वाक्' भेद से पञ्चकल बनजाता है। चिति सम्बन्ध से ही यह पञ्चकल अव्यय पुरुष शारीरकदर्शनादि में 'चिदात्मा' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। मध्यस्थित उभयात्मक मन मुमुक्षाबल की प्रधानता से विज्ञान की ओर जाता हुआ आनन्दप्राप्ति का कारण बन कर मुक्ति का अधिष्ठाता बन जाता है, एवं सिसृक्षाबल की प्रधानता से प्राण की ओर जाता हुआ वाक् प्राप्ति का कारण बनकर सृष्टिबन्धन का हेतु बन जाता है। मन ही बन्धन का कारण है, मन ही मुक्ति का कारण है। इसी अभिप्राय से अभियुक्त कहते हैं—

न देहो न च जीवात्मा नेन्द्रियाणि परन्तप !
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ॥

अव्यय पुरुष की उक्त पाँचों कलाएँ उपनिषदों में 'कोशब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध हैं—(देखिए तै० उप० भा० ?)। मोद–प्रमोद–हर्ष–उल्लास–स्मितभाव आदि संसार के सम्पूर्ण आनन्द अव्यय के आनन्दमयकोश' में प्रतिष्ठित हैं। मति धिषणा प्रज्ञा धी आदि जितने भी विज्ञान हैं, सब की प्रतिष्ठा 'विज्ञानमयकोश' है। प्रज्ञानमन-इन्द्रियमन-सत्त्वमन चित्त आदि जितने मन हैं, सब की प्रतिष्ठा 'मनोमयकोश' है। परारजा–असत्–पाउखिल्या–अवकाश–स्तृत् एकर्षि द्व्यर्षि सप्तर्षि-साकञ्ज आदि भेद भिन्न सब प्राणों की मूलप्रतिष्ठा 'प्राणमयकोश' है। यावयावत् भूतों की प्रतिष्ठा 'वाङ्मयकोश' है। उपनिषत् ने इस पाँचवें कोश को ही 'अन्नमय कोश' कहा है। इन पाँचों कोशों में, किंवा विज्ञानभाषानुसार पाँचों चितियों में अव्ययात्मा एक

रूप से व्याप्त रहता है, जैसा कि—"तस्यैष एव शारीरात्मा यः पूर्वस्य' (तै० उप० ब्रा० २) इत्यादिरूप से उपनिषत् में ही स्पष्ट कर दिया गया है। यह है अमृतसंस्था के मूलस्तम्भरूप पञ्चकल अव्यय पुरुष का संक्षिप्त निदर्शन।

रसबल-प्रकृतिभेद—

अव्ययपुरुष पुरुष है। "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि'(गी० १३ १९) इस स्वोर्थ सिद्धान्त के अनुसार पुरुष अपनी स्वभावभूता प्रकृति के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। अन्तरङ्ग बहिरङ्ग भेद से प्रकृतितत्त्व दो भागों में विभक्त है। इन दोनों में से अन्तरङ्ग प्रकृति के साथ ही पुरुष का नित्यसाहचर्य्य उक्त वचन से बतलाया गया है। यही अन्तरङ्गप्रकृति अव्ययपुरुष का "स्व"—भाव है। बहिरङ्गप्रकृति बदली जा सकती है, स्वयं भी बदल जाती है, परन्तु स्वभावभूता अन्तरङ्गप्रकृति का विपर्य्यय कथमपि सम्भव नहीं है। इसी प्रकृतिविज्ञान को लक्ष्य में रख कर भगवान् कहते हैं—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ (गी० ३।३३)

पूर्वोक्त सोलह बलकोशों में एक "हृदय" नाम के बलकोश का भी उल्लेख हुआ है। साथ ही में यह भी कहा गया है कि, मायाबलोदय के अव्यवहितोत्तरकाल में ही मायावच्छिन्न, अत एव परिच्छिन्न उस रसबलमूर्ति ब्रह्म में हृदय (केन्द्र) भाव का उदय हो जाता है। इस प्रकार अन्यबल तथा मायापुर सम्बन्ध से पुरुष नाम से प्रसिद्ध अव्यय ब्रह्म दोनों का विकास एक ही काल में होता है। दोनों के पूर्वापरभाव की चर्चा ही अवैज्ञानिक है। इसी सहोदित हृद्बल को, किंवा हृच्छक्ति को महर्षियों ने "प्रकृति" नाम से व्यवहृत किया है। जिस प्रकार अव्ययपुरुष में रसबल के तारतम्य से आगे जाकर पांच कलाओं का उदय हो जाता है, एवमेव रसबल के ही तारतम्य से इस हृदयरूपा प्रकृति के भी पांच विवर्त्त हो जाते हैं। हृदयभाव बल है, क्रियारूप है, गतितत्त्वरूप है। इस गति की ही 'स्थिति आगति-गति स्थितिगर्भितागति स्थितिगर्भितागति' ये पांच अवस्थायें हो जाती हैं। उभयरूप से हृच्छक्ति स्वस्थान में प्रतिष्ठित रहती है। भक्तरूप से हृच्छक्ति के दो विकास होते हैं। एक शक्ति निरन्तर इस प्रतिष्ठा को उच्छिन्न करने में प्रयत्नशील बनी रहती है, एक शक्ति निरन्तर प्रतिष्ठा को प्रतिष्ठित रखने का प्रयास करती रहती है। आगे जाकर इन दोनों स्वतन्त्र विकासों का उसी मूलप्रतिष्ठा के साथ सम्पिण्डन हो

जाता है। एक शक्ति प्रतिष्ठा से बद्ध होकर निरन्तर बाहिर निकला करती है, एवं एक शक्ति प्रति प्रायुक्त बनी हुई निरन्तर भीतर की ओर आया करती है। ये ही पाँचों शक्तिविभाग 'गतिसमुच्चय (स्थिति), विशुद्धआगति विशुद्धगति, स्थितिगर्भिताआगति, स्थितिगर्भितागति इन नामों से व्यवहृत किए जा सकते हैं। जिसे आप स्थिति कहते हैं वह गतिसमुच्चयमात्र है। सर्वतोविगति, किंवा समानबलानुयायिनी विरुद्धदिग्भ्रमगति ही स्थितिरूप में परिणत होती है। इसी स्थितितत्त्व को, किंवा प्रतिष्ठातत्त्व को "१ब्रह्मा" कहा जाता है। आगतितत्त्व २ 'विष्णु' है, गतितत्त्व ३"इन्द्र" है, स्थितिगर्भिता आगति ४ 'सोम" है एवं स्थितिगर्भिता गति ५ 'अग्नि' है। इस प्रकार गतितारतम्य से गतिरूप इदमसमावमयी एक ही प्रकृति पाँच रूप धारण कर लेती है। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया" (गी० ४।६।) के अनुसार पञ्चधा विभक्त स्वभावभूता इसी प्रकृति के द्वारा सर्वथा भाव अव्यय को विश्वका आलम्बन बनना पड़रहा है।

पूर्व में कहा जाचुका है कि सर्वत्र अमृत मृत्यु लक्षण रस-बल का ही साम्राज्य है। इस से भिन्न तीसरे तत्त्व का सर्वथा अभाव है। साथ ही में दोनों सर्वत्र अभिन्न रूप से ही प्रतिष्ठित रहते हैं। फलतः उक्त प्रकृति में भी इन्हीं दोनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। प्रकृति में अमृत भी है, मृत्यु भी है। अमृत मृत्यु की प्रधानता अप्रधानता के कारण इस एक ही प्रकृति के दो रूप हो जाते हैं। बलगर्भिता रसप्रधाना प्रकृति ' अमृत" है। रसगर्भिता बलप्रधाना प्रकृति "मृत्यु" है। अमृतभाग अविकुर्वाण है, मृत्युभाग विकुर्वाण है। प्रकृति का अमृतभाग, प्रकृति का मर्त्यभाग दोनों अविनाभूत हैं। अतएव दोनों में ही ब्रह्मादि उक्त पाँचों कलाओं की सत्ता सिद्ध हो जाती है। अमृता प्रकृति किंवा प्रकृति का अमृतभाग अपनी ब्रह्मादि पाँचों अमृत-कलाओं से विश्व का निर्माण करता है एवं मर्त्या प्रकृति, किंवा उस एक ही प्रकृति का मृत्युभाग अपनी ब्रह्मादि पाँचों मर्त्य-कलाओं से विश्वरूप में परिणत होता है। प्रकृति का उक्त पञ्चकल अमृतभाग ही अविकुर्वाण होने से अक्षर (क्षय न होने वाला) नाम से एवं पञ्चकल मृत्युभाग ही विकुर्वाण होने से "क्षर" (क्षीण होने वाला) नाम से प्रसिद्ध है।

उक्त कथनानुसार अक्षर अमृत है क्षर मर्त्य है। वस्तुतस्तु क्षर को भी मर्त्य मानना एक दृष्टि से असङ्गत ही है। थोड़ी देर के लिए अक्षर की दृष्टि से क्षर को मल भी मर्त्य मान लिया जाय, परन्तु विकारक्षररूप वैकारिक विश्व की अपेक्षा से तो अन्तरङ्गप्रकृतिभूत यह क्षर भी एक प्रकार से 'अक्षर" ही है। विश्व में जितने भी उपादान कारण हैं वे कार्यरूप में परिणत होकर

मनोऽवच्छेदेन अव्यय ज्ञानशक्तिघन है, प्राणावच्छेदेन क्रियाशक्तिघन है, वागवच्छेदेन अर्थशक्तिघन है। इन तीनों का ही यद्यपि अक्षर के साथ सम्बन्ध बतलाया गया है, परन्तु और भी सूक्ष्म विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि, ज्ञानशक्तिमूर्ति मन की पूर्ण विकास भूमि अव्यय ही है। क्रियाशक्तिमूर्ति अतएव गतिरूप प्राण की पूर्णविकास भूमि अक्षर ही है। एवं अर्थशक्तिमूर्ति वाक्तत्त्व की पूर्णविकासभूमि क्षर ही है। दूसरे शब्दों में अव्यय ज्ञानप्रधान है, अक्षर क्रियाप्रधान है, एवं क्षर अर्थप्रधान है। ज्ञानमूर्ति अव्यय भी निष्क्रिय है, अर्थमूर्ति क्षर भी जड़धर्म्म के कारण निष्क्रिय ही है। सक्रिय है एकमात्र मध्यस्थित प्राणमूर्ति अक्षर। सृष्टि व्यापार सापेक्ष है, व्यापार क्रिया है। क्रिया एकमात्र सक्रिय अक्षर का ही धर्म्म है। अतः तीनों पुरुषों में से अव्यक्तमूर्ति अक्षर पुरुष का ही सृष्टिकर्ता सिद्ध होता है। मध्यस्थित अक्षर उस ओर से अव्यय की ज्ञानविभूति को लेकर सर्वज्ञ बना हुआ है, इस ओर से क्षर की अर्थविभूति को लेकर सर्ववित् बना हुआ है। स्वप्राणशक्ति से सर्वकर्तामूर्ति बना हुआ है। इधर दोनों पुरुषविभूतियों का इस में समन्वय हो रहा है। अतएव *देहलीदीपकन्याय से मध्यस्थ अक्षर ज्ञान से त्रिपुरुषज्ञान गतार्थ हो जाता है। अक्षर की इसी सत्ता को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

> एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
> एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ १ ॥
>
> —कठोपनिषत् १।२।१६
>
> भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
> क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ २ ॥
>
> —मुण्डकोपनिषत् २।२।८।

"ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध क्षर भी यही अक्षर है, पर नाम से प्रसिद्ध अव्यय भी यही अक्षर है। अक्षर (परात्पर) की विभूति से युक्त परावर नाम से प्रसिद्ध इस अक्षर ज्ञान से सब कुछ विज्ञात हो जाता है— "एकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति"। जिस प्रकार अव्यय

---

*देहली की देहली में रखा दीपक जिस प्रकार भीतर को भी प्रकाशित करता है और बाहर के भीतर भी प्रकाश करता है, इसी को देहलीदीपकन्याय कहा जाता है।

अक्षर से परे होने के कारण 'पर' नाम से, परपुरुष अक्षर से इस ओर (अवरकक्षा में) प्रतिष्ठित रहने के कारण 'अवर' नाम से प्रसिद्ध है। एवमेव अवरक्षर की अपेक्षा से पर, एवं पर अव्यय की अपेक्षा से अवर होने के कारण मध्यस्थित यह अक्षर "परावर" नाम से प्रसिद्ध है। इस परावरमूर्त्ति, अतएव त्रिमूर्त्ति, अतएवच सर्वमूर्त्ति अक्षर के यथार्थ परिज्ञान से हृद्ग्रन्थि टूट जाती हैं, सारे सन्देह निवृत्त हो जाते हैं, सम्पूर्ण कर्मबन्धन विलीन हो जाते हैं' उक्त दोनों श्रुतिवचनों का यही तात्पर्य है।

पञ्चकल अव्ययपुरुष सृष्टि का, किंवा मण्डल (विश्व) का आलम्बन—(अधिष्ठान-भावपन) कारण है, पञ्चकल अक्षर निमित्तकारण है, एवं पञ्चकल आत्मक्षर उपादानकारण है। दूसरे शब्दों में आनन्दविज्ञानमनोमय मुक्तिसाक्षी विद्यात्मक अव्यय स्थिर धरातल है, सृष्टि के लिए मूलप्रतिष्ठा है। मनप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी कामात्मगर्भित कर्मात्मक अव्यय गतिस्थितिमय कुलालचक्र (कुम्हार का घूमता हुआ चाक) है। अक्षर कुम्भकार है और मिट्टी है। इस प्रकार 'मुक्तिसाक्षीरूप स्थिर धरातल पर, सृष्टिसाक्षीरूप चलाचलचक्र पर, अक्षररूप कुम्भकार, क्षररूप मिट्टी से विश्वरूप घटादि पात्रों का निम्माण किया करता है। मानों त्रिभुवन विधाता प्रजापति घटनिम्माता कुम्भकार के साथ प्रतिस्पर्द्धा कर रहा है

इस प्रकार उस महामाया के गर्भ में रस-बल के तारतम्य से यह मायी महेश्वर 'पुरुष-प्रकृति' इन दो विवर्त्तों में परिणत होता हुआ 'अव्यय अक्षर आत्मक्षर' भेद से त्रिमूर्त्ति बन कर स्व स्व कलाभेद से पञ्चदशकल (१५) बन रहा है। इन

षोडशकल प्रजापति—

पन्द्रहों के साथ उस मायातीत अव्यक्त परात्पर कला का भी समन्वय स्वतः सिद्ध मानना पड़ता है। इस परात्पर के सम्बन्ध से ही पञ्चदशकल पुरुष 'षोडशकल' बन जाता है। इन्हीं सोलह कलाओं के सम्बन्ध से इस 'षोडशीपुरुष' किंवा 'षोडशीप्रजापति' कहा गया है। इन सोलह कलाओं का १-परात्पर—२अव्यय—३अक्षर ४आत्मक्षर, इन चार स्थूल विभागों में विभक्त किया जा सकता है। इसी आत्मचतुष्टयी के आधार पर "षोडशकलं वा इदं सर्वम्" (कौषीतकिब्रा० ८१), "चतुष्टयं वा इदं सर्वम्" (कौषीतकिब्रा० ७१) "षोडशकलं वै ब्रह्म" (श० १० ४.१.८)-'षोडशकलः प्रजापतिः' (शत० ७-४-२ १७) इत्यादि अनुगम-निगम वचन प्रतिष्ठित हैं।

संसार में सब से बड़ा मृत्युबन्धन है। बन्धन ही मृत्यु देवता का प्रधान पाश है। भक्तों के हृदय को पुकारते हुए हमें विवश होकर कहना पड़ता है कि सम्पूर्ण विश्व प्रजा को मृत्युपाश में बद्ध रखने वाला स्वयं मायी महेश्वर किंवा विश्वेश्वर भी मृत्युपाश से पृथक् नहीं है। महामाया का महाबन्धन ही इस महतो महीयान् मृत्युपाश है। इसी मायामय मृत्युपाश से उस अक्षरब्रह्म अमात्र को 'अव्यय अक्षर-क्षर' इन तीन मृत्युमात्राओं में परिणत होना पड़ रहा है। एक आत्मा का यह त्रित्व भाव ही इस के लिए पर्याप्त प्रमाण है कि, सृष्टिकाल में वह अक्षर ही मृत्युभाव से आक्रान्त है। जब तक वह महामाया शबलित है तब तक वह अक्षर ही उक्त तीन मृत्युमात्राओं से युक्त रहता है। मायाबल के तिरोहित होने पर ही वह पुनः अपने उस एक अक्षरब्रह्म परात्परस्वरूप में आता है। इन्हीं दोनों अवस्थाओं के लिए—'आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयं, त्रयं सदेकमयमात्मा' (शत० १४-४-४-३) यह कहा गया है। जिस अमात्र-अक्षरब्रह्म तत्त्व की ये (अव्यय अक्षर-क्षर) तीन मृत्युमयी मात्राएँ हैं वही चौथा परात्पर है। अर्द्धप्रदेश में ये तीन मर्त्य मात्राएँ हैं, अर्द्ध में वह एक है अतएव उसे (परात्परको) अर्द्धमात्रा कहा जाता है। यह अर्द्धमात्रिक तत्त्व माया विरहित (किन्तु त्रिपुरुषद्रष्टा मायासाक्षी) होने से व्यापक होता हुआ सर्वथा नित्य है, अनुच्चार्य है। अर्द्धमात्रिक का यह अर्थ नहीं है कि उस कि आधी मात्रा है। जिस धरातल पर तीन मनुष्य प्रतिष्ठित रहते हैं, उससे धरातल पर एक प्रतिष्ठित है, अर्द्धमात्रिक का यही तात्पर्य है। जितने प्रदेश में तीन पुरुष प्रतिष्ठित हैं, उस सारे प्रदेश में वह व्याप्त हो रहा है। अमात्रिक ही प्रकृत में अर्द्धमात्रिक शब्द से व्यवहृत हुआ है। यहाँ सारा प्रपञ्च उपशान्त है। यही वस्तुतत्त्व है। इसी त्रिमात्र विज्ञान को लक्ष्य में रखकर महर्षि पिप्पलाद कहते हैं—

प्रश्नप्रश्न के चार चार—

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्य प्रयुक्ता अन्योऽन्यसक्ता अनुविप्रयुक्ता।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥ १ ॥

—प्रश्नोपनिषत् ५-६।

इसी अमात्रिक व्यवहार के लिए अर्द्धमात्रिक विश्वातीत कला का स्पष्टीकरण करता हुआ रहस्य शास्त्र कहता है—

अर्द्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः।
त्वमेव सा त्वं सावित्री त्वं देवी जननी परा ॥ (सप्तशती)

'वाग्ब्रह्म' के परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी ये चार विवर्त माने गए हैं। इन चारों में परा का सम्बन्ध अर्द्धमात्रिक परात्पर से है, पश्यन्ती का अकारसधर्म्मा अव्यय से, मध्यमा का उकारसधर्म्मा अक्षर से, एवं वैखरी का मकारसधर्म्मा क्षर से सम्बन्ध है। इन चारों में जिस प्रकार वैखरीवाक् का मनुष्य सम्पन्नरूप से व्यवहार करते हैं, एवमेव आत्मा की चारों संस्थाओं में से हमें पूर्णज्ञान वैखरीवाक्स्थानीय विश्वरूप क्षर का ही है। वाक्प्रपञ्च के 'परा-पश्यन्ती-मध्यमा' ये तीन विवर्त जैसे गुहानिहित हैं, एवमेव आत्मप्रपञ्च के 'परात्पर-अव्यय-अक्षर' ये तीनों विवर्त अस्मदादि साधारण मनुष्यों के लिये गुहानिहित ही हैं। इसी अभिप्राय से आत्मविज्ञान की ओर सङ्केत करती हुई श्रुति कहती है—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

—ऋक्सं० १।१६४।४५

शब्दब्रह्म ←——→	परब्रह्म		ओङ्कारः
१—१—अर्द्धमात्रा ——→	परावाक् ——→	परात्पर	
२—१—अकार ——→	पश्यन्तीवाक् ——→	अव्यय	
३—२—उकार ——→	मध्यमावाक् ——→	अक्षर	
४—३—मकार ——→	वैखरीवाक् ——→	आत्मक्षर	

द्वे वाव ब्रह्मणी रूपे शब्दब्रह्म-परं च यत् ।
शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

शब्दब्रह्म एवं परब्रह्म के इसी तादात्म्य को लक्ष्य में रखकर निम्नलिखित उपनिषच्छ्रुतियाँ हमारे सामने आती हैं।

तस्मै स होवाच—एतद्वै सत्यकाम ! परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः । तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति । स यद्येकमात्रमभिध्यायीत, स

होग प्रपञ्चोपशम शिवोऽद्वैत । एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽ-त्मान य एवं वेद" ।—माण्डूक्योपनिषत्

शैब्य सत्यकाम ने महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न किया है कि भगवन् ! ओङ्कार के अभिध्यान से मनुष्य किस प्रकार लोकविजय करने में समर्थ हो जाता है ? । इसी प्रश्न का समाधान करते हुए ऋषि कहते हैं—हे सत्यकाम ! यह ओङ्कार ही परब्रह्म है, ओ-ङ्कार ही अपरब्रह्म है । इस रहस्य को जानने वाला इन्हीं मार्गों में से किसी एक मार्ग का आश्रय लेता है । 'परात्पर अव्यय अक्षर आत्मक्षर'—इन पर्वों को प्राप्त करने के क्रमशः 'अर्द्ध मात्रा अकार उकार मकार' ये चार साधन हैं । इन में तीन पुरुषों का क्रमशः मनुष्यलोक सोमलोक (पितृलोक) ब्रह्मलोक' इन तीनों से सम्बन्ध है । ऋक्प्रधान एकमूर्ति पृथिवीलोक मनुष्यलोक है यह वाक्प्रधान होता हुआ अर्थ प्रधान है । यजुःप्रधान द्विमूर्ति अन्तरिक्षलोक (जो कि चन्द्रमा के सम्बन्ध से सोमलोक कहलाता है) पितृलोक है, यह प्राणप्रधान होता हुआ क्रियामूर्ति है । साम्यप्रधान साम—(सप्तशत? अन्तिम प्रतिष्ठारूप)—त्रिमूर्ति द्युलोक (सूर्यलोक) ब्रह्मलोक है । यह मनःप्रधान होता हुआ ज्ञानमूर्ति है । चौथा परात्पर लोक लोकातीत है । एक एक मात्रा की उपासना करने वाला उपासक एक एक लोक विभूति का उपभोग करता है । अकार पर प्रधान लक्ष्य रखता हुआ ऋग्मय वाक्सम आत्मपद का साधन करने वाला उपासक ऋग्वेदमय-ऋचा से युक्त होकर भौतिक संपत्ति से पूर्ण समृद्ध हो जाता है । क्योंकि मनुष्य लोक वाङ्मय अर्थमय ही है । इस का भौतिक जगत् पर पूर्ण अधिकार हो जाता है । जिस का लक्ष्य मकार उकार इन दो मात्राओं पर रहता है यह उपा-

[illegible]—

हार्थ प्रपञ्चोपशम शिवोऽद्वैतः । एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद" ।—माण्डूक्योपनिषद्

शैव्य सत्यकाम ने महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न किया है कि, भगवन् ! ओङ्कार के अभिध्यान से मनुष्य किस प्रकार लोकविजय करने में समर्थ हो जाता है ? । इसी प्रश्न का समाधान करते

अक्षर-परात्परोङ्कार— हुए ऋषि कहते हैं—हे सत्यकाम ! यह ओङ्कार ही परब्रह्म है, ओङ्कार ही अपरब्रह्म है । इस रहस्य को जानने वाला इन्हीं मार्गों में से किसी एक मार्ग का आश्रय लेता है । 'परात्पर अव्यय अक्षर-आत्मक्षर'—इन चारों की प्राप्ति के क्रमशः 'अर्द्ध मात्रा अकार उकार-मकार' ये चार साधन हैं । इन में तीन पुरुषों का क्रमशः मनुष्यलोक सोमलोक (पितृलोक) ब्रह्मलोक' इन तीनों से सम्बन्ध है । क्षरप्रधान ऋग्मूर्ति पृथिवीलोक मनुष्यलोक है यह वाक्प्रधान होता हुआ अर्थप्रधान है । अक्षरप्रधान यजुर्मूर्ति अन्तरिक्षलोक (जो कि चन्द्रमा के सम्बन्ध से सोमलोक कहलाता है) पितृलोक है, यह प्राणप्रधान होता हुआ क्रियामूर्ति है । अव्ययप्रधान साम-(अवसान अन्तिम प्रतिमारूप)-मूर्ति दिव्यलोक (सूर्यलोक) ब्रह्मलोक है । यह मनःप्रधान होता हुआ ज्ञानमूर्ति है । चौथा परात्पर भाव अतीत है । एक एक कला की उपासना करने वाला उपासक एक एक लोक विभूति का उपासक बनता है । अकार पर प्रधान लक्ष्य रखता हुआ [illegible] आत्मपद का साक्षात्कार करता हुआ तप ब्रह्मचर्य-श्रद्धा से युक्त होकर भौतिक संपत्ति से पूर्ण समृद्ध हो जाता है । क्योंकि भूत की प्राप्ति [illegible] ऋग्मय आत्मपद ही है । उस का भौतिक जगत पर पूर्ण आधिपत्य हो जाता है । जिस का लक्ष्य अकार उकार इन दो मात्राओं पर रहता है वह उपासक सोमात्मक जगत का साक्षात्कार करता हुआ आत्मविभूतियों का भोग करने में समर्थ होता है । विभूतिभोग के अनन्तर पुनः उसे जन्म लेना पड़ता है । जो साधक तीनों मात्राओं की समष्टि की उपासना करता है वह [illegible] हुआ [illegible] (ब्रह्मलोक से) [illegible] प्रकार विमुक्त हो जाता है जिस प्रकार [illegible] (सर्प) अपनी त्वचा (केंचुली) से विनिर्मुक्त हो जाता है । इस समष्टिरूपा ज्ञानमयी उपासना के प्रभाव से [illegible] (ब्रह्मात्मपुरुष) [illegible] का साक्षात्कार करता है । [illegible]

[illegible]

हार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः। एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽ-त्मानं य एवं वेद" ।—माण्डूक्योपनिषत्

शैब्य सत्यकाम ने महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न किया है कि भगवन् ! ओङ्कार के अभिध्यान से मनुष्य किस प्रकार लोकविजय करने में समर्थ हो जाता है ? । इसी प्रश्न का समाधान करते हुए महर्षि कहते हैं—हे सत्यकाम ! यह ओङ्कार ही परब्रह्म है, ओङ्कार ही अपरब्रह्म है। इस रहस्य को जानने वाला इन्हीं मार्गों में से किसी एक मार्ग का आश्रय लेता है। 'परात्पर अव्यय अक्षर-आत्मक्षर'—इन चारों की प्राप्ति के क्रमशः 'अर्द्ध मात्रा अकार-उकार-मकार' ये चार साधन हैं। इन में तीन पुरुषों का क्रमशः मनुष्यलोक सोमलोक (पितृलोक) ब्रह्मलोक' इन तीनों से सम्बन्ध है। क्षरप्रधान ऋङ्मूर्ति पृथिवीलोक मनुष्यलोक है यह वाक्प्रधान होता हुआ अर्थ प्रधान है। अक्षरप्रधान यजुर्मूर्ति अन्तरिक्षलोक (जो कि चन्द्रमा के सम्बन्ध से सोमलोक कहलाता है) पितृलोक है, यह प्राणप्रधान होता हुआ क्रियामूर्ति है। अव्ययप्रधान साम-(अवसान-अन्तिम प्रतिष्ठारूप)-मूर्ति दिव्यलोक (सूर्य्यलोक) ब्रह्मलोक है। यह मनःप्रधान होता हुआ ज्ञानमूर्ति है। चौथा परात्पर लोक लोकातीत है। एक एक कक्षा की उपासना करने वाला उपासक एक एक लोक विभूति का उपासक बनता है। अकार पर प्रधान लक्ष्य रखता हुआ कर्मठ तत्सम आत्मक्षर का साक्षात्कार करता हुआ तपो-ब्रह्मचर्य-श्रद्धा से युक्त होकर भौतिक संपत्ति से पूर्ण समृद्ध हो जाता है। क्योंकि भूत की योनि अकारस्थानीय ऋङ्मय आत्मक्षर ही है। इस का भौतिक जगत् पर पूर्ण आधिपत्य हो जाता है। जिस का लक्ष्य अकार-उकार इन दो मात्राओं पर रहता है वह उपासक तन्मय अक्षर का साक्षात्कार करता हुआ आत्मविभूतियों का भोग करने में समर्थ होता है। विभूतिभोगानन्तर पुनः उसे जन्म लेना पड़ता है। जो महापुरुष समष्टि की उपासना करता है वह ज्ञानी किंवा ज्ञानयोगी तत्त्वतः अव्ययपुरुष को प्राप्त करता हुआ सारे पाप्माओं से (जन्ममरणबन्धन से) उसी प्रकार विमुक्त हो जाता है, जैसे कि एक पादोदर (सर्प) अपनी त्वचा (कञ्चुकी) से विनिर्मुक्त हो जाता है। इस समष्टिरूपा ज्ञानमयी उपासना के प्रभाव से यह अपनी जीवसंस्था से निकल कर उस परात्पर (ईश्वराव्ययपुरुष) संस्था का साक्षात्कार कर लेता है। परात्पर की उपासना स्वतन्त्ररूप से नहीं हो सकती कारण वह अर्द्धमात्रिक होता हुआ अमात्र है। समष्टि की उपासना से ही वहां पर दृष्टि चली जाती है। कर्मकाण्ड का अकारकक्षा से सम्बन्ध है, उपासनाकाण्ड का उकारकक्षा से सम्बन्ध है एवं ज्ञानकाण्ड का समष्टि से सम्ब

अक्षरसमरहस्यपरिचय—

हार्यं प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः। एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद" |—माण्डूक्योपनिषत्

शैब्य सत्यकाम ने महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न किया है कि भगवन् ! ओङ्कार के अभिध्यान से मनुष्य किस प्रकार लोकविजय करने में समर्थ हो जाता है ? । इसी प्रश्न का समाधान करते हुए ऋषि कहते हैं—हे सत्यकाम ! यह ओङ्कार ही परब्रह्म है, ओङ्कार ही अपरब्रह्म है। इस रहस्य को जानने वाला इन्हीं मार्गों में से किसी एक मार्ग का आश्रय लेता है। 'परात्पर अव्यय अक्षर-आत्मक्षर'—इन चारों की प्राप्ति के क्रमशः 'अर्द्धमात्रा अकार-उकार-मकार' ये चार साधन हैं। इन में तीन पुरुषों का क्रमशः मनुष्यलोक सोमलोक (पितृलोक) ब्रह्मलोक' इन तीनों से सम्बन्ध है। ऋक्प्रधान ऋङ्मूर्त्ति पृथिवीलोक मनुष्यलोक है, यह वाक्प्रधान होता हुआ अर्थप्रधान है। यजुःप्रधान यजुर्मूर्त्ति अन्तरिक्षलोक (जो कि चन्द्रमा के सम्बन्ध से सोमलोक कहलाता है) पितृलोक है, यह प्राणप्रधान होता हुआ क्रियामूर्त्ति है। अव्ययप्रधान साम-(अवसान अन्तिम प्रतिष्ठारूप)-मूर्त्ति दिव्यलोक (सूर्य्यलोक) ब्रह्मलोक है। यह मनःप्रधान होता हुआ ज्ञानमूर्त्ति है। चौथा परात्पर लोक लोकातीत है। एक एक कक्षा की उपासना करने वाला उपासक एक एक लोक विभूति का उपासक बनता है। मकार पर प्रधान लक्ष्य रखता हुआ कर्म्मठ सत्तम आत्मक्षर का साक्षात्कार करता हुआ तपो ब्रह्मचर्य-श्रद्धा से युक्त होकर भौतिक संपत्ति से पूर्ण समृद्ध हो जाता है। क्योंकि भूत की योनि मकारस्थानीय क्षरात्मक आत्मक्षर ही है। इस का भौतिक जगत् पर पूर्ण आधिपत्य हो जाता है। जिस का लक्ष्य मकार उकार इन दो मात्राओं पर रहता है वह उपासक तन्मय अक्षर का साक्षात्कार करता हुआ चान्द्रविभूतियों का भोग करने में समर्थ होता है। विभूतिभोगानन्तर पुनः इसे जन्म लेना पड़ता है। जो महापुरुष समष्टि की उपासना करता है वह मानो त्रिधा ज्ञानयोगी तस्मात् अव्ययपुरुष को प्राप्त करता हुआ सारे पापों से (जन्ममरणबन्ध से) इसी प्रकार विमुक्त हो जाता है, जैसे कि एक पादोदर (सर्प) अपनी त्वचा (कञ्चुली) से विनिर्मुक्त हो जाता है। इस समष्टिरूपा ज्ञानमयी उपासना के प्रभाव से वह अपनी जीवसंस्था से निकल कर उस परात्पर (इतरराश्यव्ययपुरुष) संस्था का साक्षात्कार करता है। परात्पर की उपासना स्वतन्त्ररूप से नहीं हो सकती कारण वह अर्द्धमात्रिक होता हुआ समष्टि है। समष्टि की उपासना से ही वहां पर दृष्टि चली जाती है। कर्मकाण्ड का मकारकला से सम्बन्ध है उपासनाकाण्ड का उकारकला से सम्बन्ध है एवं ज्ञानकाण्ड का समष्टि से सम्ब

हार्य प्रपञ्चोपशम शिवाऽद्वैतः। एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽ-
त्मानं य एवं वेद"।—माण्डूक्योपनिषत्

शैब्य सत्यकाम ने महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न किया है कि भगवन्! ओङ्कार के अभिध्यान से मनुष्य किस प्रकार लोकविजय करने में समर्थ हो जाता है ?। इसी प्रश्न का समाधान करते हुए ऋषि कहते हैं—हे सत्यकाम! यह ओङ्कार ही परब्रह्म है, ओङ्कार ही अपरब्रह्म है। इस रहस्य को जानने वाला इन्हीं मार्गों में से किसी एक मार्ग का आश्रय लेता है। 'परात्पर अव्यय अक्षर-आत्मक्षर'—इन चारों की प्राप्ति के क्रमशः 'अर्द्धमात्रा अकार-उकार-मकार' ये चार साधन हैं। इन में तीन पुरुषों का क्रमशः मनुष्यलोक सोमलोक (पितृलोक) ब्रह्मलोक' इन तीनों से सम्बन्ध है। ऋक्प्रधान ऋग्मूर्त्ति पृथिवीलोक मनुष्यलोक है, यह वाक्प्रधान होता हुआ अर्थ प्रधान है। अथर्वप्रधान यजुर्मूर्त्ति अन्तरिक्षलोक (जो कि चन्द्रमा के सम्बन्ध से सोमलोक कहलाता है) पितृलोक है, यह प्राणप्रधान होता हुआ क्रियामूर्त्ति है। अव्ययप्रधान साम-(अवसान अन्तिम प्रतिष्ठारूप)-मूर्त्ति दिव्यलोक (सूर्य्यलोक) ब्रह्मलोक है। यह मनःप्रधान होता हुआ ज्ञानमूर्त्ति है। चौथा परात्पर लोक लोकातीत है। एक एक मात्रा की उपासना करने वाला उपासक एक एक लोक विभूति का उपासक बनता है। मकार पर प्रधान लक्ष्य रखता हुआ कर्मठ तत्सम आत्मक्षर का साक्षात्कार करता हुआ तपो-ब्रह्मचर्य-श्रद्धा से युक्त होकर भौतिक संपत्ति से पूर्ण समृद्ध हो जाता है। क्योंकि भूत की योनि मकारस्थानीय क्षरमय आत्मक्षर ही है। उस का भौतिक जगत् पर पूर्ण आधिपत्य हो जाता है। जिस का लक्ष्य मकार उकार इन दो मात्राओं पर रहता है वह उपासक तन्मय अक्षर का साक्षात्कार करता हुआ चान्द्रविभूतियों का भोग करने में समर्थ होता है। विभूतिभोग के अनन्तर पुनः उसे जन्म लेना पड़ता है। जो महापुरुष समष्टि की उपासना करता है वह मानो किसी ज्ञानयोगी तत्सम अव्ययपुरुष को प्राप्त करता हुआ सारे पाप्मों से (जन्ममरणबन्धन से) उसी प्रकार विमुक्त हो जाता है जैसे कि एक पादोदर (सर्प) अपनी त्वचा (केंचुली) से विनिर्मुक्त हो जाता है। इस समष्टिरूपा ज्ञानमयी उपासना के प्रभाव से यह अपनी जीवसंस्था से निकल कर उस परात्पर (ब्रह्मराव्ययपुरुष) संस्था का साक्षात्कार कर लेता है। परात्पर की उपासना स्वतन्त्ररूप से नहीं हो सकती कारण वह अद्धमात्रिक होता हुआ अमात्र है। समष्टि की उपासना से ही वहां पर दृष्टि चली जाती है। कर्मकाण्ड का मकारकला से सम्बन्ध है, उपासनाकाण्ड का उकारकला से सम्बन्ध है एवं ज्ञानकाण्ड का समष्टि से सम्ब-

द्वैतं प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः । एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽ-
त्मानं य एवं वेद" ।—माण्डूक्योपनिषत्

शैब्य सत्यकाम ने महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न किया है कि भगवन् ! ओङ्कार के अभिध्यान से मनुष्य किस प्रकार लोकविजय करने में समर्थ हो जाता है ? । इसी प्रश्न का समाधान करते हुए ऋषि कहते हैं—हे सत्यकाम ! यह ओङ्कार ही परब्रह्म है, ओ-ङ्कार ही अपरब्रह्म है । इस रहस्य को जानने वाला इन्हीं मार्गों में से किसी एक मार्ग का आश्रय लेता है । 'परात्पर अव्यय अक्षर-आत्मक्षर'—इन चारों की प्राप्ति के क्रमशः 'अर्द्धमात्रा अकार-उकार-मकार' ये चार साधन हैं । इन में तीन पुरुषों का क्रमशः मनुष्यलोक सोमलोक (पितृलोक) ब्रह्मलोक' इन तीनों से सम्बन्ध है । क्षरप्रधान ऋग्मूर्ति पृथिवीलोक मनुष्यलोक है यह वाक्प्रधान होता हुआ अर्थ प्रधान है । अक्षरप्रधान यजुर्मूर्ति अन्तरिक्षलोक (जो कि चन्द्रमा के सम्बन्ध से सोमलोक कहलाता है) पितृलोक है, यह प्राणप्रधान होता हुआ क्रियामूर्ति है । अव्ययप्रधान साम-(अवसान-अन्तिम प्रतिष्ठारूप)-मूर्ति दिव्यलोक (सूर्य्यलोक) ब्रह्मलोक है । यह मनःप्रधान होता हुआ ज्ञानमूर्ति है । चौथा परात्पर लोक लोकातीत है । एक एक कला की उपासना करने वाला उपासक एक एक लोक विभूति का उपासक बनता है । मकार पर प्रधान लक्ष्य रखता हुआ कर्म्मठ उससे आत्मक्षर का साक्षात्-कार करता हुआ तपो ब्रह्मचर्य-श्रद्धा से युक्त होकर भौतिक संपत्ति से पूर्ण समृद्ध हो जाता है । क्योंकि भूत भी यानि मकारस्थानीय अन्नमय आत्मक्षर ही है । इस का भौतिक जगत् पर पूर्ण आधिपत्य हो जाता है । जिस का लक्ष्य मकार उकार इन दो मात्राओं पर रहता है वह उपा-सक तत्सम अक्षर का साक्षात्कार करता हुआ चान्द्रविभूतियों का भोग करने में समर्थ होता है । विभूतिभोग के अनन्तर पुनः उसे जन्म लेना पड़ता है । जो महापुरुष समष्टि की उपासना करता है वह ज्ञानी जिस ज्ञानमार्गी तत्त्व से अव्ययपुरुष को प्राप्त करता हुआ सारे पाप्माओं से (जन्ममरणचक्र से) इसी प्रकार विमुक्त हो जाता है जैसे कि एक पादोदर (सर्प) अपनी त्वचा (केंचुली) से विनिर्मुक्त हो जाता है । इस समष्टिरूपा ज्ञानमयी उपासना के प्रभाव से यह अपनी जीवसंस्था से निकल कर उस परात्पर (ईश्वराव्ययपुरुष) संस्था का साक्षात्कार कर लेता है । परात्पर की उपासना स्वतन्त्ररूप से नहीं हो सकती कारण वह अर्द्धमात्रिक होता हुआ अमात्र है । समष्टि की उपासना से ही वहां पर दृष्टि चली जाती है । कर्मकाण्ड का मकारकला से सम्बन्ध है उपासनाकाण्ड का उकारकला से सम्बन्ध है एवं ज्ञानकाण्ड का समष्टि से सम्ब

न्त है। ज्ञानयोग से आत्मक्षर की पाँचों कलाओं का अक्षर में लय होता है, अक्षर की पाँचों कलाओं का अव्यय में लय होता है। इन पन्द्रह कलाओं की समष्टिरूप जीवाव्यय का उस ईश्वराव्यय में लय हो जाता है। ईश्वराव्ययद्वारा इस ओङ्कार की सहायता से ही यह त्रिकाला तीत बनता हुआ उस शान्त-अभय-परात्पर नाम के अखण्ड ब्रह्म में विलीन होता हुआ 'समबलय' नाम से प्रसिद्ध परामुक्ति का अभिधाता बन जाता है। 'परात्पर पुरिशय पुरुषम्' में परात्पर शब्द उस अखण्ड परात्पर का वाचक नहीं है, अपितु ईश्वराव्यय का ही वाचक है। इसी लिए 'पुरिशय पुरुषम्' कहा है। अव्यय का 'पर' यह साधारण नाम है। जीवपर (जीवाव्यय) की अपेक्षा से ईश्वरपर (ईश्वराव्यय) परे है, अतः "परात् (जीवाव्ययात् परः" इस निर्वचन से ईश्वराव्ययपुरुष को परात्पर कह दिया है। इस प्रकार 'परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम्' इन अन्य श्रुतियों के आधार पर यहां का परात्पर शब्द भी ईश्वराव्यय (ससीम मायी महेश्वर) का ही वाचक है। पहिले जीवकलाओं का जीवाव्यय में अव्यय होता है। इस से जीवविभूति समृद्ध बन जाती है। यही वत्सज्ञान के लिए इस अवस्था के लिए श्रुतिने— "स एतस्माज्जीवघनात्" यह कहा है। आगे जाकर इस का स्वमभव परात्परपुरुष में अव्यय हो जाता है। इसी अर्थ का स्पष्टीकरण करती हुई अन्य श्रुति कहती है—

> गता कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
> कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति ॥

—मुण्डकोपनिषत् ३।२-७।

इसी अर्थ का स्पष्टीकरण भाष्यकृत्य ने किया है। वहां लोकसम्बन्ध को प्रधान न मान कर कर्म्मात्मा द्वारा आत्मतत्त्व का बोध कराया गया है। क्षरपुरुष भूतकाल का अक्षरपुरुष भवत् (वर्तमान) का, अव्ययपुरुष भविष्य का अभिधाता है। इस का तात्पर्य यही है कि क्षणिक भौतिक विश्व अपने क्षणिकभाव के कारण नास्तिभाव में परिणत होता हुआ अतीत कोटि में प्रविष्ट है। उस का कभी इदंत्वेन (वर्तमानत्वेन) भान नहीं होता। वह सदा विनष्टप्राय है। पदार्थों में जो अस्तिप्रतीति है, यह कूटस्थ अक्षर की महिमा है। यही वर्तमानकाल है। यह दोनों धाराएँ इसी सनस्य अव्यय पर अवलम्बित हैं। विश्व इसी प्रकार बनता रहेगा एवं बिगड़ता रहेगा—इस भविष्यमयी आशा का एकमात्र आलम्बन अव्ययपुरुष ही है। अतएव इसे भविष्यत् का अध्यक्ष मानना उचित हो जाता है। इस प्रकार तीनों पुरुष त्रैकालिक हैं,

है। परन्तु पूर्व में ब्रह्मादि देवताओं का आत्मकोटि में ही अन्तर्भाव बतलाया गया है। इस विरोध का परिहार कैसे सम्भव है? । इस प्रश्न के सम्बन्ध में अभी हम केवल यही कहना पर्याप्त समझते हैं कि, आत्मस्वरूप सम्बन्ध में जिन ब्रह्मा विष्णु आदि का उल्लेख किया गया है, इन के साथ उपास्य ब्रह्मादि देवताओं का कोई सम्बन्ध नहीं है। गीतोक्त देवता विश्व के भीतर उत्पन्न होने वाले पदार्थ हैं। 'जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवताभ्य' इस सिद्धान्त के अनुसार इन्हीं वैकारिक देवताओं की समष्टि भौतिक विश्व है। उधर पारदर्शी पुरुष के ब्रह्मादि अक्षर-आत्मक्षरमूर्ति होते हुए वैकारिक देवसर्ग से सर्वथा बहिर्भूत हैं। वैसे इन्हें भी देवता कहा जाय तो कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। उपास्यतत्त्व ही देवता है। इसी आधार पर आत्मा को भी देवता कहा जाता है। जिन्हें सर्वसाधारण देवता समझते हैं, गीता में जिन की उपासना का उल्लेख है उन का जन्म तो बहुत आगे जाकर भौतसृष्टि में होता है, जैसा कि आगे के तत्तत् प्रकरणों में स्पष्ट हो जायगा। अमृतात्मा के सम्बन्ध में इतना ही कह कर 'अव्यक्तात्मविज्ञान' की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

अव्ययब्रह्म ↓ विशुद्धरसः	परात्परब्रह्म ↓ सर्वबलविशिष्ट रसः	विश्वातीतब्रह्म

परात्पर — अर्द्धमात्रा

अकार—अव्यय			उकार—अक्षर		मकार—आत्मक्षर		
सृष्टिसाक्षी—मुक्तिसाक्षी	१ आनन्द	पुरुष पञ्चकला	१-अमृतब्रह्मा	परा प्रकृति पञ्चकला	१-सत्यब्रह्मा	अपरा प्रकृति पञ्चकला	विश्वात्मा ब्रह्म—षोडशी
	२-विज्ञानम्		२ विष्णु		२ ,, विष्णु		
	३-मनः		३ ,, इन्द्र		३ इन्द्र		
	४-प्राणः		४ ,, अग्नि		४ ,, अग्निः		
	५ वाक्		५ ,, सोम		५ ,, सोमः		

अमृतात्मा षोडशी—'तस्य वाचक प्रणव'

तदित्थं—परात्पर अव्यय, अक्षर, आत्मक्षरभेदेन चतुष्पात्-
कलाभेदेन षोडशकला 'यममृतात्मा षोडशी व्याख्याता द्रष्टव्य
समाप्ता चेयं भाष्यभूमिकान्तर्गत 'आत्मविज्ञानोपनिषदि' प्रथमायां प्रथमखण्डात्मिकायां
'अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्' प्रथमा

श्रीः

समाप्ता चेयं

'अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्' प्रथमा

१



अथ

'आत्मविज्ञानोपनिषदि-(प्रथमखण्डे)

'अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्' द्वितीया

२

—[०]—

ॐ अव्यक्तात्मब्रह्मणे नमः

अव्यक्तात्मा–स्वयम्भू

* 'अव्यक्तं ब्रह्मे' त्युपास्व

युज यां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोकायन्ति पथ्येव सूरे ।
शृण्वन्ति विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थु ॥ श्वे० उ० २,५
तद्वेद गुह्योपनिषत्सु गूढं तद् ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् ।
ये पूर्वं देवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवु ॥ श्वे० उ० ५, ६
स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमाना ।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥ श्वे० उ० ६, १
येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः ।
तेनेशितं कर्म्म विवर्त्तते ह पृथिव्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम ॥ श्वे० उ० ६, २
नमः शान्तात्मने तुभ्यं नमो गुह्यतमाय च ।
अचिन्त्याप्रमेयाय अनादिनिधनाय च ॥ —मैत्रायण्युपनिषत् ४, १२ ।

ब्रह्म की विश्वसृष्टि—

अमृतात्मा नाम से प्रसिद्ध षोडशी–पुरुष के मनःप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी कर्म्मात्मभाग की बलप्रधान मिश्रता से सम्बन्ध रखने वाले मनोमय–काम, प्राणमय–तप, तथा वाङ्मय श्रम, नामक सृष्टिकर्म्मों के सामान्य तीन अनुबन्धों के व्यापार से सर्वप्रथम जिस 'सर्वेश्वरात्मा' का विकास होता है, वही महात्मा 'अव्यक्तात्मा' कहलाया है जो मानव परिभाषा में 'शान्तात्मा' नाम से भी प्रसिद्ध है । अमृतात्मा का उपादानकारणलक्षण आत्मक्षर ही अपरलक्षण विश्व का प्रभव (उपादान) बनता हुआ 'अपराप्रकृति' नाम

* त्रिकल अव्यक्तात्मा, त्रिकल महात्मा, त्रिकल महानात्मा, त्रिकल विज्ञानात्मा, पञ्चकल शारीरकात्मा, भेदभिन्न इन १४ स्वरूपदशाओं का 'ब्रह्मविज्ञानभाष्य' तथा 'गीताभूमिका–आत्मपरीक्षाखण्ड' में विस्तार से विवरण हुआ है । अतः यहाँ संक्षेप से ही (दिङ्निर्देश से) इन का स्पष्टीकरण किया जाता है ।

(२) अव्यक्तात्मस्वरूपपरिचय —(ब्रह्म कर्म्ममयोऽव्यक्तात्मा)

१—तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥ ऋक्सं० १०,१२९,३

२—न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥ ऋक्० १० १२९, २

३—स वेदैतत् परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥ —मुण्डक ३ २, १

४—एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥ श्वे० उ० २,१६

५—छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति ।
अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः ॥ श्वे० ४,९

६—अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ —श्वे० उ० ५, १३

७—आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः ।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥ श्वे० उ० ६ ५

८—स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात् प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम् ।
धर्म्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ॥ श्वे० उ० ६।६

९—तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥ श्वे० उ० ६ ७

१०—एष देवो विश्वकर्म्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ —श्वे० उ० ४।१७

—————

ॐ अव्यक्तात्मब्रह्मणे नम

अव्यक्तात्मा–स्वयम्भू

* 'अव्यक्तं ब्रह्मे' त्युपास्व

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोकायन्ति पथ्येव सूरे ।
शृण्वन्ति विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ श्वे० उ० २,५
तद्वेद गुह्योपनिषत्सु गूढं तद् ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् ।
ये पूर्वं देवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥ श्वे० उ० ५, ६
स्वभावमेके कवयो वदन्ति काल तथान्ये परिमुह्यमाना ।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥ श्वे० उ० ६, १
येनावृत नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञ कालकालो गुणी सर्वविद्य ।
तेनेशित कर्म्म विवर्तते ह पृथिव्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ॥ श्वे० उ० ६, २
नम शान्तात्मने तुभ्य नमो गुह्यतमाय च ।
अचिन्त्याप्रमेयाय अनादिनिधनाय च ॥ —मैत्रायण्युपनिषत् ४, १५ ।

अमृतात्मा नाम से प्रसिद्ध षोडशी–पुरुष के मनःप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी कर्म्मात्मभाग की बलप्रधान विभूति से सम्बन्ध रखने वाले मनोमय–काम प्राणमय–तप, तथा वाङ्मय श्रम, नामक सृष्टिकर्म्मों के सामान्य तीन अनुबन्धों के व्यापार से सर्वप्रथम जिस 'परोवरीयात्मा' का विकास होता है, वही भाष्या मा 'अव्यक्तात्मा' कहलाया है सो मानव परिभाषा में 'शान्तात्मा' नाम से भी प्रसिद्ध है। अमृतात्मा का उपादानकारण लक्षण–आत्मक्षर ही अपरलक्षण विश्व का प्रभव (उपादान) बनता हुआ 'अपराप्रकृति' नाम

ब्रह्म की विश्वसृष्टि—

* त्रिकल अव्यक्तात्मा त्रिकल महात्मा त्रिकल महानात्मा, त्रिकल विज्ञानात्मा, पञ्चक शारीरकात्मा' भेदभिन्न इन १५ अधण्डस्थाभी का 'ईशाविज्ञानभाष्य' तथा 'गीताभूमिका–आत्मपरीक्षाध्याय' में विस्तार से निरूपण हुआ है। अतः यहाँ संक्षेप से ही (दिङ्मोपमेद से) इन का स्पर्श करा दिया जाता है।

से प्रसिद्ध है। उपादानकारण सादृश्यमात्रानुसार 'ब्रह्म' कहलाता है। आत्मक्षर ही स्व-विकारों से विश्व का उपादान बनता है, अतः इसे भी अवश्य ही 'ब्रह्म' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। निमित्तकारणात्मक, 'पराप्रकृति' नामक अक्षर ही इस क्षर की विकासभूमि है, इसी आधार पर 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' (गीता ३।१५) यह कहना अन्वर्थ बनता है। 'ब्रह्मेन्द्रविष्ण्वग्निसोम' ये पाँच अमृतकलाएँ अक्षर की हैं, ये ही पाँचों मर्त्यकलाएँ इस आत्मक्षर की हैं। अन्तर दोनों के पक्ष में यही है कि, अक्षरकलापञ्चक अपने अविकृत (अपरिणामी) भाव से जहाँ एकरस है वहाँ क्षरकलापञ्चक स्व विकृत (परिणामी) भाव से भिन्नरस है। क्षर की इन ब्रह्मादि पाँचों सम्पत्कलाओं में निरन्तर विकार उत्पन्न होते रहते हैं। क्षर का मूलरूप (अव्यक्तरूप) अक्षर सहयोग से सर्वथा अविकृत रहता है एवं तूलरूप (व्यक्तरूप) विकृत रहता है। विकृतावस्थापन्न क्षर का विश्व में अन्तर्भाव माना जाता है एवं मूलात्मक (अव्यक्तात्मक) अतएव अविकृतावस्थापन्न क्षर को आत्मकोटि में माना जाता है। इस प्रकार आत्मक्षर का आत्मा से भी (अविकृत-विश्वचरात्मा से भी) सम्बन्ध है एवं विश्व (सृष्टिभाग) से भी सम्बन्ध है। इसी उभयधर्म्म के कारण इसे 'आत्मक्षर' इस नाम से व्यवहृत करना चरितार्थ होता है।

अविकृतदृष्टि से यही "आत्मा" है, विकारदृष्टि से यही "क्षर" है। समष्टिरूप से यही 'आत्मक्षर' है। आत्मभूत इस की ब्रह्मकला से जो विकार उत्पन्न होता है, वह १ 'प्राण' नाम से विष्णुकला का विकार २ 'आप' नाम से इन्द्र का विकार ३ 'वाक्' नाम से अग्नि का विकार ४ 'अन्नाद्' नाम से एवं सोम का विकार ५ 'अन्न' नाम से प्रसिद्ध है। इन्हीं विकारों

के सम्बन्ध से आत्मरूप यह पराप्रकृतिगर्भ क्षर बन जाता है। पाठकों को इसका ध्यान रखना चाहिए कि एक ही नामों से निर्दिष्ट प्राण-वागादि-वास्तविक दृष्टि से सर्वथा पृथक् पृथक् पदार्थ हैं। उदाहरण के लिए वाक्तत्त्व को ही सामने रख लीजिए। पञ्चकल अव्यय में भी पाँचवीं वाक्कला है, प्राणादि पाँचों विकारों में भी अन्त की वाक्कला है। एक तीसरा वाक्तत्त्व यज्ञ से सम्बन्ध रखता है। चौथी वाक् सूर्य में उत्पन्न होती है। इस प्रकार वाक् के अनेक विवर्त हैं। नाम सादृश्य मात्र से इन्हें अभिन्न नहीं समझना चाहिए। अव्ययवाक् पुरुषवाक् है। इस का सृष्टि के उपादान से कोई सम्बन्ध नहीं है। आनन्दविज्ञानमनोमयप्राणगर्भिता यह वाक् केवल विश्व का आलम्बन है। प्राणादि वाली दूसरी वाक् प्रकृतिवाक् है। यज्ञवाक् विकृतिवाक् है। चौथी सौरीवाक् (जो कि वाक् बृहती गौरीविता एन्द्री-स्वर आदि विविध नामों

स प्रसिद्ध है) देवताओं की जननी है। वषट्कार (वाक् का षट्कार-वाक् के ६ विभाग-स्तोम) का सम्बन्ध इसी गौरीवाक् से है। इसी को "इन्द्रपत्नी" कहा जाता है। आगे जाकर वाक्तत्व का भिन्न भिन्न कार्यों में उपयोग बतलाया जाने वाला है। इन के नामसादृश्य से पदार्थतत्व में भ्रान्ति न हो जाय, अत पहिले से इन भेदों को ध्यान में रखना चाहिए।

पुरवाक् के आधार पर प्रतिष्ठित अक्षर के व्यापार से क्षर की पाँचों कलाओं से क्रमशः प्राणादि उपयुक्त पाँच विकार उत्पन्न हुए। ये पाँचों ही वैकारिक विश्व के मौलिक तत्त्व हैं। इन्हीं के रासायनिक संयोग से यौगिक विश्व उत्पन्न होने वाला

वाक्सम अध्यात्म —

है। विज्ञानतत्त्वानुयायी दार्शनिक जिन्हें "गुणभूत" कहते हैं, प्राधानिक समय (सांख्य) में जो तत्त्व "तन्मात्रा" नाम से प्रसिद्ध है, विज्ञानकाण्ड में वे ही हमारे प्राणादि पाँच विकारक्षर हैं। इन्हीं से आगे जाकर अणु भूत भौतिक-सत्त्वादि विविध भावों का विकास होता है। अस्तु, दार्शनिक क्रम का वैज्ञानिक क्रम के साथ समन्वय करने का यहाँ अवसर नहीं है। "ईक्षतेर्नाशब्दम्" (शा० सू० १पा० १ अ० ५ सू०) इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार दर्शनशास्त्र को अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए इस स्वतः प्रमाण वैदिक विज्ञान का आश्रय लेना आवश्यक है। इस की प्रामाणिकता के लिए अन्य प्रमाण सर्वथा अनपेक्षित हैं। अत सब सम्प्रदायों का एक ओर रख कर आप को मानना चाहिए कि विकारक्षर ही विश्व के मौलिक उपादान हैं। इन्हीं से विश्व उत्पन्न होता है, अत एव इन की समष्टि को विज्ञानभाषा में "विश्वसृट्" कहा जाता है। पाँचों ही विकारक्षर विशुद्ध रूप से कभी उपलब्ध नहीं होते। पाँचों पर पाँचों में नित्य संश्लिष्ट होकर ही अपना स्वरूपसत्ता रखने में समर्थ होते हैं। संकेतभाषानुसार जिस तत्त्व में आहुति होती है आहुति ग्रहण करने वाला, आहुति की प्रतिष्ठारूप वह तत्त्व "अग्नि" कहलाता है, एवं आहुत होने वाला तत्त्व "सोम" नाम से प्रसिद्ध है। अग्नि में सोम का आहुत होना ही यज्ञ है। पहिले प्राणतत्त्व में आप-वाक्-अन्न-अन्नाद, इन चारों मौलिक क्षरों की आहुति होती है। यहाँ उक्त परिभाषा के अनुसार *प्राण को अग्नि समझिए, एवं शेष चारों को सोम समझिए। समन्वय को यज्ञ समझिए।* इसी प्रकार आप वाक्-अन्न-अन्नाद,—इन चारों को आधार मान कर शेष चारों की क्रमशः प्रत्येक में आहुति होती है। इस पञ्चीकरण प्रक्रिया से जो इन पाँचों पञ्चीकृतों का अपूर्वस्वरूप निष्पन्न होता है, वही 'पञ्चजन' नाम से प्रसिद्ध है। "पञ्चभ्यास्सदादस्वदाद"

इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार इन पाँचों के नामों में कोई अन्तर नहीं होता। दूसरे शब्दों में ये भी प्राण आप-वाक् आदि नामों से ही व्यवहृत होते हैं। इन प्राण आप-वागादि-प्रत्येक में प्राण आप-वागादि पाँचों विद्यमान हैं। अर्द्धभाग में प्राण है, अर्द्धभाग में शेष चारों हैं। अष्टमभाग में आप है अर्द्धभाग में प्राणादि शेष चारों हैं। यही क्रम सर्वत्र समझिए। आगे जाकर इन पाँचों पञ्चीकृतों का पुनः समन्वय होता है। यह दूसरी पञ्चीकरण प्रक्रिया है। पञ्चीकृतप्राण में पञ्चीकृत आप-वागादि शेष चारों की आहुति होती है। इस से 'प्राण" नाम के 'पञ्चपञ्चजन" का विकास होता है। इसी प्रकार पञ्चीकृत आपः में प्राणादि शेष चारों पञ्चीकृतों की आहुति से 'आप' नाम के "पञ्चपञ्चजन' का विकास होता है। यही क्रम शेष चारों में समझिए। पञ्चजना में प्राणादि का वैषम्य न था परन्तु इन पञ्चपञ्चजनों के संस्थान में वैषम्य उत्पन्न हो जाता है। इसी विषमता के कारण इन के नामों में भी अन्तर हो जाता है। पञ्चीकृत पञ्चजना की यह द्वितीयावस्था ही विषमभाव के कारण पुरभाव (पिण्डभाव) की उत्पादिका बनती है, अतएव इसे पुरञ्जन' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। पञ्चीकृत प्राण से विकसित होने वाला पुरञ्जन वेद' नाम से, आप सम्बन्धी लोक नाम से, वाक् सम्बन्धी देव नाम से, अन्नसम्बन्धी पशु' नाम से एवं अन्नाद सम्बन्धी भूत' नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रत्येक पुरञ्जन में पञ्चीकृतपञ्चजनों के समन्वय से २५-२५—कलाएँ हैं। इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि प्रत्येक पुरञ्जन में २५-२५ कलाओं के रहने पर भी प्रधानता मूलभूत प्राण आप-वागादि-स्व-स्व कलाओं की ही रहती है। वेदपुरञ्जन की २५ वीं कला प्राणमयी है आप् पुरञ्जन की २५ वीं कला आपोमयी है। यही व्यवस्था शेष तीनों में समझिए। प्राणात्मक वेदपुरञ्जन से स्वयम्भूपुर का निर्माण होता है। प्राणतत्त्व नित्य है अतएव प्राण का विवर्तभूत 'ब्रह्मनिश्वसित नाम से प्रसिद्ध अपौरुषेय वेद भी नित्य ही है। यह स्वयं उत्पन्न है स्वयं अद्भुत है। अतएव तद्रूप पहिला पुर स्वयमेव भवति' इस निर्वचन से 'स्वयम्भू' नाम से व्यवहृत होता है। यद्यपि अमृतात्मा (षोडशीपुरुष) की अपेक्षा से यह प्राणमूर्ति किंवा वेदमूर्ति स्वयम्भू व्यक्त है तथापि [illegible] ([illegible]) विश्व के इतर चारों पर्वों की अपेक्षा हम इसे अव्यक्त ही कहेंगे। इस 'ब्रह्म' नाम के अव्यक्त स्वयम्भू के चार मुखों से ही आगम की सम्पूर्ण सृष्टियाँ होती हैं।

हमने बतलाया है कि पञ्चजन-प्राण से समन्वय द्वारा वेदपुरञ्जन प्रादुर्भूत होता है, एवं वेदपुरञ्जन से स्वयम्भू का विकास हुआ है। ऐसी अवस्था में स्वयम्भू में पञ्चीकृत प्राण-आप वाक्-अन्न-अन्नाद, इन पाँचों प्राकृत प्राणों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। स्वयम्भू ब्रह्मा प्राणमुख है, आपोमुख है, वाङ्मुख है, अन्नादमुख है, अन्नमुख है। अग्नितत्त्व ही अन्नाद है, सोमतत्त्व ही अन्न है। एवं–"अग्निर्वा रुद्र-तस्यैते द्वे तन्वे घोरान्या च, शिवान्या च" (शत० ५। ३। १। १०) इस सिद्धान्त के अनुसार अग्नितत्त्व ही रुद्र' है। इस अग्निमय, अतएव अन्नादमय रुद्रदेवता की कृपा से सोमान्नरूप एक मुख कट जाता है। सोम के अग्निगर्भ में आहुत होते ही इस की स्वतन्त्र सत्ता उच्छिन्न हो जाती है। अग्निगर्भित सोम स्वस्वरूप को खोता हुआ अग्निमय ही बन जाता है। दूसरे शब्दों में आद्य (अन्नरूप सोम) जब अत्ता (भोक्ता अग्नि) में चला जाता है, तो अत्तारूप में परिणत होता हुआ वह आद्य अपने स्वतन्त्र व्यवहार को छोड़ कर अत्ता ही कहलाने लगता है, जैसा कि श्रुति कहती है—

"तद्यदोमय समागच्छति अत्तैवास्यायते नाद्यम्। स वै यः सोऽत्ता-अग्निरेव सः"–शत० १०। ६। २। १। २। इति॥

इस प्रकार अन्नाद-अन्न के पारस्परिक आहिति (आहुति) सम्बन्ध से ब्रह्म के चार ही मुख रह जाते हैं। इन चारों मुखों में पहिला प्राणमुख है, इस से वेदसृष्टि होती है। दूसरे आपोमुख से लोकसृष्टि होती है। तीसरे वाङ्मुख से देवसृष्टि होती है। अन्नगर्भित चौथे अन्नादमुख से पशुसमन्विता भूतसृष्टि होती है। महाभारत के मतानुसार वाङ्मुख से प्रजासृष्टि होती है, एवं अन्न-अन्नादमुख से धर्म्मसृष्टि होती है। चतुर्विधसृष्टिप्रवर्त्तक प्राणप्रधान यही ब्रह्मा आधिदैविक संस्था में स्वयम्भू नाम से प्रसिद्ध हैं, एवं अध्यात्मसंस्था में यही 'शान्तात्मा' नाम से व्यवहृत हुए हैं। अव्यक्तात्मा इन दोनों का साधारण नाम है।

इस अव्यक्तात्मा के अन्तर्यामी, सूत्रात्मा, सर्वात्मा, भेद से तीन प्रधान विवर्त्त हैं। अव्यक्तात्मा के तीन विवर्त्त—तीनों का संक्षिप्त स्वरूप बतला देना भी अप्रासङ्गिक न होगा। प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहकर उस का नियत रूप से सञ्चालन करना इस अव्यक्तात्मा का प्रधान कर्म्म है। सर्वप्रथम आधिदैविक संस्था का

ही विचार कीजिए। इस संस्था में भू-भुवः-स्वः नाम के तीन प्रधान लोक हैं। "त्रया वा इमे त्रिवृता लोकाः" इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार उक्त तीनों लोकों में प्रत्येक लोक त्रिवृत् (त्रिगुणित) है। महाव्याहृति नाम से प्रसिद्ध तीनों के अवान्तर 'भू-भुवः-स्व' ये तीन भेद हैं। यद्यपि इस त्रिवृद्भाव के कारण ९ लोक होना चाहिएँ, परन्तु दो लोकों का भू-स्व, इन दोनों के साथ सम्बन्ध होजाने से सात ही लोक रह जाते हैं। जिसे आप पृथिवी कहते हैं उसे भूलोक समझिए। प्रत्यक्षदृष्ट सूर्य्य को स्वर्लोक समझिए, सूर्य्य और पृथिवी का मध्यस्थान अन्तरिक्ष समझिए। इन तीनों की समष्टि को "भू" नाम की पहिली महाव्याहृति समझिए। लोकत्रयात्मिका यही भू नाम की पहिली रोदसीत्रिलोकी है। इस त्रिलोकी को पृथिवी समझिए, परमेष्ठी को स्वर्लोक समझिए, मध्यस्थान को अन्तरिक्ष समझिए। इन तीनों की समष्टि को "भुवः" नाम की दूसरी महाव्याहृति समझिए। लोकत्रयात्मिका 'भुव' नाम की यही दूसरी क्रन्दसीत्रिलोकी है। इस क्रन्दसी की समष्टि को भू समझिए, स्वयम्भू को स्वर्लोक समझिए। मध्यस्थान को अन्तरिक्ष समझिए। तीनों की समष्टि को "स्व" नाम की महाव्याहृति समझिए लोकत्रयात्मिका स्व नाम की यही तीसरी संयतीत्रिलोकी है। इस प्रकार इस त्रैलोक्य त्रिलोकी के क्रम में निम्न लिखित रूप से सात लोक हो जाते हैं-

३—स्वः	संयतीत्रिलोकी	३—स्व					सत्यलोकः ३ ——→ स्वयम्भूः	(७)
		—भुव					तपोलोकः २ ——→ अन्तरिक्षम्	(६)
		१—भू	क्रन्दसीत्रिलोकी	३—स्व			जनलोकः ३-१ ——→ परमेष्ठी	(५)
२—भुव				२—भुव			महर्लोक २ ——→ अन्तरिक्षम्	(४)
				१—भू	रोदसीत्रिलोकी	३—स्व	स्वर्लोक ३-१ ——→ सूर्य्य	(३)
						२—भुव	भुवर्लोक २ ——→ अन्तरिक्षम्	(२)
१—भू						भू	भूलोक १ ——→ पृथिवी	(१)

उक्त सातों लोकों में संयतीत्रिलोकी का स्वर्लोकस्थानीय स्वयम्भू सत्यलोक है। इतर ६ओं लोक विनाशी हैं, अस्थिर हैं परिभ्रमणशील हैं। सातवाँ सत्यस्वयम्भू अविनाशी है एक स्थान

पर स्थिररूप से प्रतिष्ठित है। अपने अन्तरिक्ष (भुवर्लोक) के साथ पृथिवी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रही है। सान्तरिक्ष पृथिवी को अपने उदर में (महिमामण्डलमें) प्रतिष्ठित किये हुए अपने अन्तरिक्ष (महर्लोक) के साथ स्वर्लोकाधिष्ठाता सूर्य परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। सान्तरिक्ष सूर्य्य को अपने उदर में प्रतिष्ठित किए हुए अपने अन्तरिक्ष (तपोलोक) के साथ जनलोकाधिष्ठाता परमेष्ठी सत्यस्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। इन छओं रजों को स्वोदर में प्रतिष्ठित रखने वाले, अपनी प्राणशक्ति से ६ ओं का विधरण करने वाले स्वयम्भू इन के भार से कभी खिन्न नहीं होते। षड्रजाधिष्ठाता, 'परोरजा' नाम से प्रसिद्ध इसी स्वायम्भुव सत्य तत्त्व का निरूपण करते हुए वेद भगवान् कहते हैं–

अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांसि, अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥ १ ॥
तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वमिन्वाम् ॥ २ ॥

—ऋक्सं० १। १६४। ६ मं० १०।

सत्यलोकाधिष्ठात्री, किंवा सर्वलोकाधिष्ठात्री उक्त स्वायम्भुवी शक्ति का १ नियति २ विष्टम्भन ३-उपलब्धि, भेद से तीन प्रकार से विकास होता है। ये ही तीनों विज्ञानभाषा नुसार स्वयम्भू के मनोता कहलाते हैं। अव्यक्त स्वयम्भू की दृष्टि से तीनों मनोता एकरूप हैं अव्यक्तात्मरूप हैं। एवं परस्पर की अपेक्षा से तीनों सर्वथा पृथक् कर्म्मा, पृथक् धर्म्मा हैं। इन्हीं गुणभूत अवयवों के सम्बन्ध से एक ही स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा के 'अन्तर्यामी सूत्रात्मा, वेदात्मा' ये तीन विवर्त्त हो जाते हैं। इन तीनों में वेदात्मा मकार स्थानीय है, सूत्रात्मा उकार स्थानीय है, अन्तर्य्यामी अकार स्थानीय है। तीनों अवस्थाओं में समान रूप से व्याप्त अतएव अव्यक्त अर्द्धमात्रा-स्थानीय है। समष्टि "ओङ्कार" है। जिस प्रकार सर्वतःपाणिपाद षोडशीपुरुष प्रणवमूर्त्ति है, एवमेव यह वृत्तोजा अव्यक्तात्मा भी प्रणवमूर्त्ति ही है—"यदेवेह तदमुत्र"। इस के तीनों विवर्त्तों में से पहिले नियति विवर्त्तकी ओर ही पाठकोंका ध्यान आकर्षित किया जाता है।

सूर्य्य-चन्द्रमा-नक्षत्र-ग्रह-पृथिवी-आदि आधिदैविक पदार्थों, पुरुष-पशु-पक्षी-कृमी-कीटादि चेतन पदार्थों, औषधि-वनस्पति-पुष्प-पल्लव-वल्लरी-आदि अर्द्धचेतन पदार्थों

विवर्त्तलक्षण-अन्तर्यामी—

सुवर्ण-रजत-ताम्र-सीसक-लोह-पाषाण-आदि अचेतन पदार्थों के स्वभाव वैचित्र्य पर जब हमारी दृष्टि जाती है, तो हमें आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। यच्चयावत् चेतनाचेतन तत्तत् पदार्थों का निर्म्माण यदि ही

विचित्र शिल्प (कारीगरी) से हुआ है। ऐसा विदित होता है कि, मानों कोई चतुर शिल्पी बड़ी ही सावधानी से इन सब पदार्थों का निर्माण कर रहा हो। स्थान स्थान पर किसी अलौकिक शिल्पी के बुद्धि वैभव का विकास प्रतीत हो रहा है। सब काम सधा हुआ, कहीं अणुमात्र भी अव्यवस्था नहीं। एक शरीर की रचना पर ध्यान दीजिए। मस्तक–चक्षु–नासिका–श्रोत्र–उदर–मुख–पाद–अंगुली–नख–त्वचा–लोम आदि प्रत्येक अवयव यथास्थान प्रतिष्ठित हैं। क्या बिना किसी चेतन–देवता के इस प्रकार का शिल्प सम्भव है ?, कदापि नहीं। एक मृग के इन दो शृङ्गों (सींगों) की इस विचित्रता को देख कर कहना पड़ता है कि, यह कृति किसी उत्कृष्ट रचना की अपेक्षा से सम्बन्ध रखती है। दोनों सींग जहां से निकले हैं वहां दोनों का समानान्तर, समान स्वरूप। दोनों ऊपर की ओर गए हैं, तो समानान्तर से समान रूप से। एक वृक्ष के पर्वों का वर्णन। मूल—शाखा—पल्लव—पुष्प—फल—आदि प्रत्येक पर्व में अद्भुत कारीगरी। पानी को आप जब कभी जिस स्थान पर भी डालेंगे, वह सदा नीचे की ओर ही बहेगा। भला मास्टर तो नहीं इस जड़ पानी को किस ने सिखलाया कि तू नीचे की ओर ही बहना। कैसा नियम बन्धन है। अग्नि सदा ऊपर की ओर ही जाता है। वायु सदा तिर्यक् ही चलता है। चन्द्रमा कभी दक्षवृत्त को नहीं छोड़ता। पृथिवी कभी क्रान्तिवृत्त से च्युत नहीं होती। सूर्य कभी अहोरात्र मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते। पञ्च देवता कभी अपने कृतिकर्म से उपरत नहीं होते। विष कभी अपनी मारकता नहीं छोड़ता। महर्षि कभी अपने मार्गों से विचलित नहीं होते। प्राणकाल में मृत्यु देवता कभी किसी पर उदारता नहीं दिखलाते। सारांश में (एकमात्र असत्य संहित मनुष्य को छोड़कर) कोई भी इस नियत मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करता। "मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति" शत० २।४।२।६)। तभी तो शास्त्रोपदेश एकमात्र मनुष्य के लिए ही उपयुक्त बना है। इतर सारे प्राणी स्वत एव अपनी अपनी नियत चर्या से बद्ध हैं। इस के लिए शास्त्रोपदेश अनपेक्षित है। हम बुभुक्षा शान्त करने के लिए अन्न खाते हैं। यहां तक तो हमारा (जीवात्मा का) व्यापार है। परन्तु शरीराग्नि में हुत अन्न किस क्रम से रसासृगादि धातु रूपों में परिणत हो जाता है ? वह अविज्ञात है। शरीर उदाहरण मात्र है। विश्व के प्रत्येक पदार्थ किसी इतरशासन-कर्ता की प्रेरणा से प्रेरित होकर स्व-स्व कर्मों में संलग्न रहते हैं। इच्छा होने पर हम अन्न पानादि करते हैं। परन्तु इच्छा क्यों हुई ? इस प्रश्न का समाधान वही शास्ता है। क्या मजाल जो कोई इस का शासन न माने। विश्व के बड़े से बड़े शक्तिशाली पदार्थ, छोटे से

छोटे पदार्थ, सब इस के भय से कम्पित होते हुए अपने अपने आधिकारिक कर्म्मों में प्रवृत्त हो रहे हैं। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ से अविदित, किन्तु उस के हृदय में प्रतिष्ठित वह शास्ता तत्त्व ही "अन्तस्तिष्ठन् सन् नियमति" इस निर्वचन से 'अन्तर्य्यामी' नाम से प्रसिद्ध है। यही नियत भावों का प्रेरक बनता हुआ, नियत भाव की चर्य्या का अधिष्ठाता बनता हुआ "नियतिभाव, नियतिश्वर" इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। यही नियतिश्वर शब्द निरुक्त क्रमानुसार बिगड़ते बिगड़ते आज के जगत् में 'नेचर' (Nature) नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। दर्शन भाषा में यही तत्त्व 'स्वभाव–प्रकृति' आदि नामों से व्यवहृत हुआ है। भयप्रदर्शनात्मक इसी अन्तर्य्यामी का निदर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

> यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
> महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १ ॥
> भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्य्यः।
> भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ २ —कठोपनिषत् ६, २, ३

"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी–शरीरं, यः पृथिवीमन्तरो यमयति, स त ऽ आत्मान्तर्य्याम्यमृतः। योऽप्सु तिष्ठन्० XXX, योऽग्नौ तिष्ठन्० × × ×' य आकाशे तिष्ठन् × × यो वायौ तिष्ठन्० × × ×, य आदित्ये तिष्ठन् × × ×, यश्चन्द्रतारके तिष्ठन्० + × ×, यो दिक्षु तिष्ठन्० + × ×, यो विद्युति तिष्ठन्० × × य स्तनयित्नौ तिष्ठन्० × × ×, यः सर्वेषु लोकेषु तिष्ठन्० × × ×, यः सर्वेषु वेदेषु तिष्ठन्० + + +, यः सर्वेषु यज्ञेषु तिष्ठन्० + + +, यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्० + + +, यः प्राणेषु, वाचि, चक्षुषि, श्रोत्रे, मनसि, त्वचि, तेजसि, तमसि, रेतसि, आत्मनि तिष्ठन्० + + +। अदृष्टो द्रष्टा, अश्रुतः श्रोता, अमतो मन्ता, अविज्ञातो विज्ञाता एष त ऽ आत्मा अन्तर्य्यामी–अमृतः। अतोऽन्यदार्त्तम्। ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम"—शत० १४।६।७

यह घट घट व्यापक है, सब के हृदय में प्रतिष्ठित है, सब का शास्ता है, नियतभाव का प्रवर्तक है, सब कुछ उसी से उत्पन्न हुआ है। सम्पूर्ण प्रपञ्च प्रकृति

नेश्वर) रूप उस सत्त्व की लीला मात्र है" यह है अव्यक्त अन्तर्यामी का तटस्थ लक्षण। सुप्रसिद्ध सर्वाङ्गभू—सर्वग–आत्मतत्त्व (षोडशीपुरुष) के स्वरूप से सर्वथा अपरिचित वर्त्तमान जगत् (पाश्चात्यजगत्) प्रत्येक विषय में नेचर की ही घोषणा किया करता है। अमुक काम ऐसा क्यों हुआ ?, इस का ऐसा स्वरूप क्यों है ?, इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए "नेचर ने ऐसा किया है, नेचर से ऐसा हुआ है, सब काम नेचर करती है" यह कहा जाता है। यदि निसर्गविद् इन नेचरभक्तों से पूछा जाता है कि, कृपा कर बतलाइये। आप की इस नेचर का क्या स्वरूप है ? तो इस प्रश्न के लिए वे निरुत्तर हो जाते हैं। इधर आर्ष महर्षियों ने तटस्थ–एवं स्वरूप लक्षणों द्वारा इस का सर्वथा स्पष्टीकरण कर दिया है। तटस्थ लक्षण बतला दिया गया अब स्वरूप लक्षण का भी विचार कर लीजिए। प्रत्येक पदार्थ की स्वरूप रक्षा स्वरूप निर्माण अन्नाशन पर निर्भर है। जड़ हो, अथवा चेतन, सब को अन्न खाने की आवश्यकता होती है। 'यत् सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिता" (श०ब्रा० ब०१,५,१) इस सिद्धान्त के अनुसार यह अन्न आत्म–प्राण–भूतादि विविध भोक्ताओं के भेद से १ ज्ञान, २ कर्म ३ आकाश (शब्द) ४-वायु (श्वास प्रश्वास), ५-तेज (ऊष्मा), ६-जल ७-पृथिवी (ओषधि–वनस्पति), भेद से सात भागों में विभक्त है। एक मकान जिसे आप सर्वथा जड़ समझ रहे हैं, विश्वास कीजिए, वह भी वायु–प्रकाश, आदि अन्नों की अपेक्षा रखता है। शिल्पियों द्वारा निर्मित नवीन भवन समय समय पर जीर्ण होता रहता है। इस की रक्षा के लिए मरम्मत करवानी पड़ती है। भूतभाग ज्यों का त्यों रहता है, प्राणभाग निकल जाता है। इसी की चिकित्सा करनी पड़ती है। मकान का जीर्ण होना ही यह बतला रहा है कि अवश्य ही इस में से कोई तत्त्वविशेष निकल गया है। इसी प्रकार यदि किसी भवन को चारों ओर से बंद कर दिया जाता है तो वायु–प्रकाशादि अन्नों के बंद होजाने से साल दो साल में वह जीर्णशीर्ण हो जाता है। स्थान–स्थान से चूना गिरने लगता है। कारण यही है कि प्राण अपने गतिस्वभाव से निकलता रहता है, उधर वायु–प्रकाशादि के अवरुद्ध हो जाने से प्राण का आगमन अवरुद्ध हो जाता है। फलतः वह निष्प्राण हो जाता है। जड़ शब्द से व्यवहृत पदार्थों की जब यह दशा है, तो चेतन पदार्थों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। अन्न खाना, यह पहिला साधारण धर्म्म है। इस के साथ साथ भुक्तान्न सर्ग भी होता रहता है। यदि ऐसा न हो तो एक बार, अथवा दो तीन बार अन्न खा लेने के पश्चात् पुनः अन्नाशन की आवश्यकता ही न पड़े। अन्नविसर्गलक्षण यही दूसरा धर्म्म है। आदान और विसर्ग, दोनों की

आधारभूमि एक तीसरा स्थिर तत्त्व और मानना पड़ता है। अन्न आता रहता है, और जाता रहता है। फिर भी पदार्थ स्थिर सा प्रतीत होता है। अवश्य ही स्थिरता सम्पादक आगति-गति की मूलप्रतिष्ठारूप यह तत्त्व दोनों से पृथक् है। एक सरोवर में पानी आता रहता है, एवं जाता रहता है। परन्तु सरोवर स्थिर है। बिना इस स्थिर आयतन के पानी का आना भी सम्भव न था, जाना भी सम्भव न था। इस प्रकार वस्तुमात्र में अन्नादान अन्नविसर्ग, दोनों की स्थिति का आधार, इन तीन भावों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। अवश्य ही प्रत्येक पदार्थ में एक शक्ति पड़ी है, जो निरन्तर अपने आकर्षण सूत्र से अन्न खींचा करती है। साथ ही में एक शक्ति आगत अन्न का विक्षेपण किया करती है। एक तटस्थ शक्ति के आधार पर इन दोनों प्रतिद्वन्द्विनी शक्तियों का समन्वय होता रहता है। शक्तित्वेन यह शक्तित्रयी समान है परन्तु उपाधिभेद से दूसरे शब्दों में पदार्थों के स्वरूप भेद से यह अनन्त रूपों में परिणत हो रही है। उदाहरण के लिए अग्नि, और जल को लीजिए। एक ही शक्ति दोनों में है। परन्तु अग्निसम्बन्ध से अग्नि की शक्ति दहन करने का सामर्थ्य रखती है पानी की शक्ति शान्ति की अभिधात्री बन रही है—'शान्तिराप'। यहां दोनों एक दूसरे की प्रतिद्वन्द्विनियाँ बन रहीं हैं। अग्नि का नियत मात्र इसे ऊपर लेजा रहा है, पानी की नियति इसे नीचे लेजाती है। वायु की नियति वायु को तिर्य्यग्गामी बना रही है। कहना यही है कि, पदार्थ भेद से नियति मात्र भी बदल रहा है। उक्त तीनों शक्तियाँ प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में रहतीं हैं। आप अपने चर्मचक्षु से नामरूपकर्म्मात्मक पदार्थ को देख सकते हैं। पदार्थ ही व्यक्त है हृदयस्था यह शक्तित्रयी अव्यक्ता है चर्मचक्षु से परे है। इन में आदान शक्ति का आहरण सम्बन्ध से "हृ" अक्षर से विसर्ग शक्ति का अवखण्डनरूप विनाशसम्बन्ध से "द" अक्षर से, एवं दोनों की आधारभूता नियमन शक्ति का नियमन भाव के कारण 'यम्' अक्षर से अभिनय किया जाता है। तीनों की समष्टि ही "हृदयम्" है। संकेत विद्या के अनुसार 'हृ' को विष्णु 'द' का इन्द्र, 'यम्' का ब्रह्मा कहा जाता है। हृ-द-य-ये तीनों विष्णु-इन्द्र-ब्रह्मा-के वाचक हैं। यह 'हृ-द-य (विष्णु-इन्द्र-ब्रह्मा) प्रत्येक पदार्थ के हृदय में (केन्द्र में) प्रतिष्ठित रहते हैं। शक्ति का विकास-स्थान प्रत्येक पदार्थ का केन्द्र ही है केन्द्रप्रतिष्ठा से वस्तु प्रतिष्ठित रहती है केन्द्र के विचलित हो जाने से पदार्थसत्ता उच्छिन्न हो जाती है। केन्द्रस्थान एक सूक्ष्मतम एवं हृदयम निराकार आयतन है। इस में वही हृदय नाम की शक्ति प्रतिष्ठित हो रही है। हृदय में 'हृ-द-य प्रतिष्ठित हो रहा है' यह कम आश्चर्य नहीं है—'हृदि अय हृदयम्'। पिण्ड प्रजा का सञ्चालन

इसी तरह प्रजापति पर निर्भर है। वह स्वयं अजायमान है, सब कुछ ऊर्णनाभ तन्तु (मकड़ी के जाल) की तरह उसी से उत्पन्न हुआ है। इसी गर्भी अव्यक्त प्रजापति का दिग्दर्शन कराती हुई यजुःश्रुति कहती है—

"प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥"

—यजुर्सं० ३१। १९

ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र तीनों अक्षर की कलाएँ हैं। अतएव उक्त हृदय प्रजापति को 'अक्षर' कहा जाता है। यह अक्षरत्रयी ही तो अन्तर्यामी है। यही तो शास्ता है। पाठकों को स्मरण होगा कि, पूर्व की अमृतात्मोपनिषत् में हमने पञ्चकल अक्षर को षोडशीपुरुष नाम से प्रसिद्ध अमृतात्मा के अन्तर्गत माना है। यह अमृतात्मा विश्वव्यापक है। इधर स्वयम्भू नामक यह अव्यक्तात्मा सत्यरूप है, विश्व का एक अवयव है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि, अक्षर तो अव्यक्त आत्मा का अनुमापक है फिर इस सत्यरूप माहात्म्यात्मरूप अव्यक्त को अक्षर कैसे माना गया?, इस प्रश्न के समाधान में हम यही कहेंगे कि, विश्व के पर्वरूप स्व० प० सू० च० पृ०, इन पाँच स्तरों में उस षोडशीपुरुष का भोग होता है। षोडशी का अव्यय भाग तो पाँच पर्वों में समानरूप से व्याप्त है। परन्तु सूर्य्य से ऊपर अमृतप्रकृति प्रधान अक्षर का प्रभुत्व है, सूर्य्य से नीचे मर्त्य प्रकृतिप्रधान आत्मक्षर का प्रभुत्व है। मध्यस्थ सूर्य्य में दोनों की प्रधानता है। अक्षर को पराप्रकृति कहा गया है, एवं आत्मक्षर को अपरा प्रकृति कहा गया है। सूर्य्य से ऊपर स्वयम्भू, और परमेष्ठी में पराप्रकृतिरूप अमृताक्षर का एवं सूर्य्य से नीचे पृथिवी और चन्द्रमा में अपराप्रकृतिरूप मर्त्यात्मक्षर का साम्राज्य है। अत एव ऊपर के दोनों लोक परब्रह्म नीचे के दोनों लोक अपरब्रह्म नाम से प्रसिद्ध होते हैं। 'परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः' के अनुसार समष्टि ओङ्कार है। इस ओङ्कार में अव्यय अर्द्धमात्रस्थानीय है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

परब्रह्म	१—१—प्राणमयः स्वयम्भूः २—२—आपोमयः परमेष्ठी	—पराप्रकृतिरक्षर → अकार	पञ्चपर्वात्मकः प्रणवोऽयम् 'अर्द्धमात्रा'
	— ० —		
परापरब्रह्म	३—१—वाङ्मयः सूर्य्यः	—परापरप्रकृतिरक्षरात्मक्षर → उकार	
	— ० —		
अपरब्रह्म	४—१—अन्नमयश्चन्द्रमाः ५—२—अन्नादमयी पृथिवी	—अपराप्रकृतिरात्मक्षर → मकार	

एतद्वै सत्यकाम ! परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः

अक्षर का मौलिकरूप ब्रह्म है । इस का व्यक्तरूप मर्त्य ब्रह्म है । विकार स्वरूप माया है । इस प्रकार ब्रह्ममूर्त्ति अमृताक्षर ही अमृतब्रह्म–मर्त्यब्रह्म–माया–पञ्चीकृतमायाँ–पञ्चपञ्चीकृतमाया इस क्रम से स्वयम्भू रूप में परिणत हुआ है । स्वयम्भू में अव्यक्त अक्षर की ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र तीनों कलाओं का हृदयरूप से विकास हुआ है । अतः इस स्वयम्भू को अव-श्य ही अव्यक्त–अमृतात्मा, इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जा सकता है । इसी अक्षर विकास दृष्टि को लक्ष्य में रख कर सम्भवतः इस प्राणात्मा को हम 'अक्षर' शब्द से व्यवहृत कर सकते हैं । इसी अक्षर दृष्टि से याज्ञवल्क्य ने इस के लिए–"एष ते आत्मा अन्तर्य्यामी अमृतः" यह कहा है । हृदयरूप होने से ही यह सत्य है । सत्य ही तो नियति का प्रधान स्वरूप है । यथा–तथारूप याथातथ्य ही सत्यभाव है, यही नियतभाव है, यही नियति है, यही विधि (प्राणमूर्त्ति ब्रह्मा) का अटल विधान है । यह अविनाशी है, और सब लोक विनाशी हैं । चलन कम्पन है । कम्प ही भय है । यह भयातीत, किम्बा भय का प्रवर्त्तक है । पाँचों विश्व-पर्वों में सर्वप्रतिष्ठारूप सत्य अव्यक्त ही अनार्त्त है, तदतिरिक्त सारे रज सभय (विनाशी), अतएव आर्त्त हैं–'अतोऽन्यदार्त्तम्' । इसी हृदयमूर्त्ति, ब्रह्माक्षरात्मक, अक्षर प्रधान, प्राणप्रकृतिक,

सत्यप्रजापति (नियति प्रजापति–अन्तर्य्यामी) के स्वरूप को लक्ष्य में रख कर बृहदारण्यक-श्रुति कहती है—

"एष प्रजापतिर्यद्धृदयम्। एतद् ब्रह्म, एतत् सर्वम्। तदेतत् त्र्यक्षरम्— 'हृ–द–यम्' इति। 'हृ'-इत्येकमक्षरम्। अभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च, य एवं वेद। 'द' इत्येकमक्षरम्। ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च, य एवं वेद। 'यम्' इत्येकमक्षरम्। एति स्वर्गं लोकं, य एवं वेद। तद्वै तदेतदेव तदास सत्यमेव। स यो हैतमेतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति, जयतीमाँल्लोकान्" (शत १४ का० ८। ४-५)।

यद्यपि अन्तर्य्यामी स्वयम्भू प्रधान होता हुआ ब्रह्मप्रधान है, अक्षर अक्षर ब्रह्मप्रधान है। परन्तु यही यहाँ ब्रह्मरूप से विकसित हुआ है, अतएव श्रुति अक्षर को भी शास्ता–अन्तर्य्यामी कहने में संकोच नहीं करती। जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट हो जाता है—

"एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति०———एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठत, सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ०। अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात् प्रैति, स ब्राह्मणः"

—शत० १४ का० ६। ८

निष्कर्ष यही हुआ कि, ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्रानुग्रह से अपना, बनता हुआ वही स्वायम्भुव अव्ययात्मा हृदयरूप से सब पदार्थों के केन्द्र में प्रतिष्ठित होता हुआ नियति रूप से सब का सञ्चालन कर रहा है। अन्तर्य्यामी नाम से प्रसिद्ध अव्ययात्मा का यही प्रथम विवर्त है

२

इसी अव्ययात्मा का दूसरा विवर्त है विष्टम्भनलक्षण सूत्रात्मा। उपर्युक्त बृहदारण्यक श्रुति ने अक्षरमूर्ति अव्ययात्मा को 'सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' इत्यादि रूप से विवर्त्त

विष्टम्भनलक्षण सूत्रात्मा—

कहा है। अव्यक्त अन्तर्य्यामी स्वयम्भू विश्व के यच्चयावत् पदार्थों का सञ्चालन कर रहा है। किस सम्बन्ध से किस शक्ति द्वारा? इस प्रश्न का समाधान यही सूत्रात्मा है। विश्व में १ ब्रह्म २–सत्य ३ ऋतसत्य, भेद से पदार्थ तीन भागों में विभक्त हैं। सहृदय (सकेन्द्र) सशरीरी पदार्थ सत्य हैं, अहृदय अशरीरी

वायु आदि पदार्थ ऋत हैं, एवं अहृदय सशरीरी पदार्थ ऋतसत्य हैं। वायु और पानी का न कोई शरीर है, न केन्द्र है। पानी, अथवा वायु का जिस आयतन में अवरुद्ध कर दिया जाता है उन का वैसा ही शरीर हो जाता है। इसी प्रकार केन्द्राभाव भी प्रत्यक्ष सिद्ध है। सकम्प्र वस्तु के एक अवयव ग्रहण से सम्पूर्ण वस्तु गृहीत हो जाती है। पानी का आप जहाँ से उठावेंगे, आंशिक रूप से वह वहीं से उठ जावगा। कारण, यहाँ केन्द्राभाव है। मेघ में शरीर है, परन्तु हृदय नहीं है। इस हृदयबन्धन के अभाव से ही वायु के प्रबल आघात से मेघ खण्ड खण्ड होकर इतस्ततः विकीर्ण हो जाता है। अग्निप्रधान पदार्थ सहृदयशरीरी बनते हुए सत्य' कहलाते हैं। सोमप्रधान प्रधान अहृदय अशरीरी रहते हुए ऋत कहलाते हैं। अग्निसोमप्रधान पदार्थ सोमसम्बन्ध से अहृदय, अग्निसत्ता से सशरीरी बनते हुए उभयधर्म्मों से आक्रान्त रहते हुए 'ऋतसत्य' कहलाते हैं। इन तीनों के सञ्चालन के लिए उस अव्यक्त में सूत्रबल का आविर्भाव होता है। पूर्व के प्रकरण में १६ बलकोशों में एक 'सूत्र' नाम के बलकोश का भी दिग्दर्शन कराया गया है। यह एक प्रकार का प्राणबल है। प्राण को विधर्त्ता कहा जाता है। सब परमाणुओं को संघठित करने वाला प्राणबल ही सूत्र है। इसी सूत्रबल के सम्बन्ध से प्रत्येक वस्तु के सर्वथा विभक्त परमाणु एक सूत्र में संघठित प्रतीत होते हैं। अक्षर प्राणमूर्त्ति कहा गया है। इसी सूत्रभाव के कारण, दूसरे शब्दों में परमाणुकूट (समूह) पर प्रतिष्ठित रहने के कारण इसे 'कूटस्थ' कहा जाता है— "कूटस्थोऽक्षर उच्यते"। यही बलविशेष सूत्र शक्ति है। इन्हीं लोकों से परात्परावत (दूर से दूर) रहने वाले अव्यक्त स्वयम्भू ने इसी सूत्र-रूप पाश से सब को बद्ध कर रखा है। हृदय में वह अन्तर्य्यामी रूप से प्रतिष्ठित रहता है, एवं पिण्ड में, साथ ही में जिन में हृदय नहीं है—ऐसे ऋतपदार्थों में सूत्ररूप से प्रतिष्ठित रहता है। यह सूत्र ऋत—सत्य—ऋतसत्य भेद से तीन भागों में विभक्त है। पूर्वोक्त लक्षण आग्नेय प्रधान सत्यपदार्थों का सञ्चालन करने वाला सत्यसूत्र है। सोमप्रधान ऋतपदार्थों का शासता ऋतसूत्र है। उभयप्रधान ऋतसत्य पदार्थों का सञ्चालक ऋतसत्यसूत्र है। विश्व में जितने भी सत्यपदार्थ हैं, उन सब की योनि यही अव्यक्त सत्य है। अत एव इसे 'सत्यस्य सत्यम्' कहा जाता है। यह सत्यस्व सत्य प्राणवायु स्वरूप है। सूत्रात्मक इसी अव्यक्त का निरूपण करती हुई ब्राह्मण श्रुति कहती है—

> "वायुर्वै गौतम तत् सूत्रम्। वायुना (प्राणेन) वै गौतम सूत्रेण—अयं च लोकः, परश्च लोकः, सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति। तस्माद्

गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रंसिषतास्याङ्गानि । वायुना हि गौतम तत् सूत्रेण संदृब्धानि भवन्ति" इति । —शत० १४ का० । ६ । ७ ।

इस प्रकार अमृत सूत्र द्वारा यह भूतवर्ग सब में व्याप्त हो रहा है । नामरूपात्मक अत एव सत्य शब्द से व्यवहृत विश्व इसी सूत्र द्वारा उस सत्यस्यसत्य स्वयम्भू के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित किए हुए है । अव्ययात्मा के इसी सूत्रात्मविवर्त्त का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् बादरायण कहते हैं—

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं (सूत्रं), सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥

—श्रीमद्भागवत

अव्ययात्मा का तीसरा विवर्त्त है उपलब्धिलक्षण-वेदात्मा । नियति सत्यरूप अन्तर्यामी से ही इस वेदात्मा का विकास होता है । अन्तर्यामी में ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र ये तीन कलाएँ बतलाई गई हैं । साथ ही में यह भी कहा गया है कि, स्थितिलक्षणा ब्रह्मप्रतिष्ठा पर आगति-गतिलक्षण विष्णु-इन्द्र का आदान विसर्गात्मक व्यापार होता रहता है । यह विरुद्ध व्यापार ही इन्द्राविष्णु की प्रतिस्पर्द्धा है । इस प्रतिस्पर्द्धा की आधारभूमि है—आपः-वाक्-अन्न-अन्नाद । विकारक्षर की—प्राण-आपः-वाक्-अन्न-अन्नाद ये पाँच कलाएँ बतलाई गई हैं । इन पाँचों के साथ क्रमशः ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-सोम-अग्नि इन पाँच अक्षरों का सम्बन्ध बतलाया गया है । इन में प्राणकला का स्थितिलक्षण ब्रह्मा में अन्तर्भाव है । यही प्रधान अन्तर्यामी है । शेष चारों कलाओं की अग्नि-सोम समन्वय से तीन ही कलाएं रह जाती हैं । अप्कला का प्रधान सम्बन्ध विष्णु के साथ है, वाक् कला का प्रधान सम्बन्ध इन्द्र कला के साथ है एवं अन्नगर्भित अन्नादकला का प्रधान सम्बन्ध सोमगर्भित अग्नि कला के साथ है । आपः-वाक्-अन्नान्नाद, तीनों के अधिष्ठाता क्रमशः विष्णु-इन्द्र-सोमाग्नि ये तीन अक्षर हैं । इन तीनों में स्पर्द्धा करने वाले इन्द्राविष्णु हैं, अग्निसोम तटस्थ हैं । स्पर्द्धा के आधारभूत तीनों का आपः शब्द से ग्रहण कर लिया जाता है । कारण अप्गर्भ में वाक् अन्नाद का समावेश है । इस अप्स्पर्द्धा से लोक-वेद-वाक ये तीन भाव उत्पन्न होते हैं । विष्णु सम्बन्ध से अप् द्वारा वाक् का विकास होता है—

उपलब्धिलक्षण-वेदात्मा—

"लोकाः अप्सु प्रतिष्ठिताः"। इन्द्र-सम्बन्ध से वाग्द्वारा वस्तुतत्त्व का विकास होता है—'वाग्विवृताश्च वेदाः'। एवं इन्द्रसोमगर्भित अग्नि-सम्बन्ध से वागन्नगर्भित अन्नाद से वाग्लक्षण वषट्कार का उदय होता है—'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्'। इस प्रकार प्रकृतिभेद से लोकसाहस्री—वेदसाहस्री—वाक्साहस्री, इन तीन साहस्रियों का जन्म हो जाता है। इसी साहस्री-विज्ञान को लक्ष्य में रख कर मन्त्रश्रुति कहती है—

उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे, न पराजिग्ये कतरश्चनैनोः।
इन्द्रश्च विष्णू यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्॥

—ऋक्सं० ६, ६९, ८।

किं तत् सहस्रमिति ? इमे लोकाः, इमे वेदाः,
अथो वागिति ब्रूयात्" (ऐत०ब्रा० ६।१५।)

उक्त तीनों साहस्रियों में से प्रकृत में प्रधानरूप से वेदसाहस्री ही अपेक्षित है। इस के ऋक्-साम-यजुः ये तीन पर्व हैं। तीनों में यजु ही मुख्य है यही पुरुष है। ऋक्साम वयोनाध (छन्द—आयतन—सीमा) मात्र हैं। यजु में भी गतिप्रकृतिक 'यत्'रूप प्राणतत्त्व ही मुख्य है। आत्मविद्याशास्त्र का ही नाम वेदशास्त्र है। आत्मतत्त्व ज्ञानशक्तिमय मन, क्रियाशक्तिमय-प्राण, अर्थशक्तिमयी वाक् इन भेदों से त्रिकल है। आत्मकलाभेद से वेदशास्त्र भी तीन भागों में विभक्त हो रहा है। मनोविद्याशास्त्र आरण्यकोपनिषत्—शास्त्र है, प्राणविद्याशास्त्र त्रयी (संहिता)—शास्त्र है, एवं वाग्विद्याशास्त्र ब्राह्मणशास्त्र है। त्रयी की मूलप्रतिष्ठारूप यजुःप्राण से (जो कि मौलिकप्राण असत्, ऋषि, आदि नामों से प्रसिद्ध हैं) ही क्रमशः पितर असुर देवता-गन्धर्व पशु पुरुष (वैश्वानर), आदि इतर सम्पूर्ण प्राणदेवताओं की सृष्टि हुई है। सृष्टिप्रपञ्च (विश्व) का मूल आरम्भक वेदप्राण ही है, जैसा कि भगवान् मनु कहते हैं—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ १॥ (१।२१)
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिर्गुणकर्मतः॥ २॥ (१२।९८)

षोडशीपुरुष वेदरूप में परिणत होकर ही उपलब्ध होता है। अतएव उपलब्धि को ही ब्रह्म कहा जाता है। ब्रह्मात्मा सच्चिदानन्दलक्षण है। अत वह भी भी सच्चिदानन्दस्वरूप म ही उपलब्धि होती है। "विन्दति इति वेदः" "वेत्ति—इति वेद" "विद्यते—इति वेदः" यही वेदशब्द का निर्वचन है। 'अमुक पदार्थ है" यह भी 'विद्यते' क अनुसार वेद है। यह निर्वचन सत्ताप्रधान है। सत्तामय नामरूप कर्ममय भौतिक पदार्थ ही सत् है। अमुक वस्तु है, उसे देवदत्त जानता है यह दूसरा पर्व है। यह भी 'वेत्ति' क अनुसार वद है। यह निर्वचन चेतनाप्रधान है। चेतनामय भौतिक भाव ही चित् है। जो वस्तु है जिस देवदत्त जानता है उसे वह प्राप्त कर लेता है। यह भी 'विन्दति' के अनुसार वद है। यह निर्वचन रसप्रधान है। वस्तु की प्राप्ति से ही आत्मा में तृप्तिलक्षण आनन्द का उदय होता है। अतएव तीसरा पर्व आनन्दस्वरूप है यही प्रिय है। इस प्रकार 'अस्ति भाति प्रिय' रूप से वेदमय बनकर ब्रह्मात्मा सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। वद ही उस का विश्वरूप है। अतएव उसे वेदमूर्त्ति-वेदैकवेद्य इत्यादि नामों स व्यवहृत किया जाता है। अस्ति ही पदार्थ की उपलब्धि है। उपलब्ध पदार्थ ही रस है। यही वद है। दूसरे शब्दों में उपलब्धि ही वेद है। जिस का वेद नहीं उस की उपलब्धि नहीं। आप को विश्वास करना चाहिए कि विश्व में उत्पन्न होने वाले पदार्थों का विकास वेदपूर्वक ही हुआ है। पहिले वद का विकास होता है। अनन्तर वेदप्रतिष्ठा पर दूसरे शब्दों में वेदगर्भ में तत्तद् भौतिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। वेदतत्त्व भौतिक पदार्थ से पहिले विकसित होता है। अतएव इस 'प्रथमज' कहा गया है। ऋषिप्राणात्मक 'मधुप्राणा-त्मक सत्यपुरुषपुरुषात्मक पशुप्रधान इसी प्रथमज ब्रह्म (त्रयीब्रह्म) का निरूपण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'स ता ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत-त्रय्येव विद्या। तस्मादाहुर्ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजम्"। (शत ६ १, १ १0) "त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि (अपश्यत्)' (शत १ ४ २ २१)

जब तक वेद है, तभीतक वेदमूलक संसार है। "सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति" "वेदोऽखिल-धर्म्ममूलम्" इत्यादि स्मार्त्त वचन भी इसी सिद्धान्त का स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

प्रकारान्तर से अन्तर्यामिविवर्त पर दृष्टि डालिए। प्राणमय ब्रह्मा आपोमय विष्णु, वाङ्मय इन्द्र इन तीनों की समष्टि को हमने अन्तर्यामी कहा है। इस अन्तर्यामी के ही

स्वमहिमों की प्रधानता-अप्रधानता से तीन विवर्त हो जाते हैं। इन्द्र-विष्णुगर्भित प्राणमूर्त्ति ब्रह्मात्मक वही अव्यक्तात्मा अन्तर्यामी है। ब्रह्मा कभी केन्द्र नहीं छोड़ते। वे सदा अन्त प्रविष्ट ही रहते हैं। केन्द्र में स्थिर रूप से प्रतिष्ठित प्राणमूर्त्ति ब्रह्मा इन्द्राविष्णू के आधार पर प्राण-सूत्रद्वारा सब का नियमन करते हुए 'अन्तर्यामी' नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं।

ब्रह्मेन्द्रगर्भित आपोमय विष्ण्वात्मक वही अव्यक्तात्मा सूत्रात्मा है। अव्यक्तात्मा जिस तत्त्व के आधार पर सातों लोकों में व्याप्त रहता है, उसी को सूत्रात्मा कहा गया है। वह व्याप्तिसाधन सत्यमूर्त्ति अप्तत्त्व, किंवा आपोमय विष्णु ही है। 'वेषष्टीव हि यज्ञम्' इत्यादि निगमवचनों के अनुसार विष्णु को इस आप्ति (व्याप्ति) लक्षण अप्सम्बन्ध से ही व्यापक माना गया है। अत एव च ब्राह्मणश्रुति ने आप का—'यदाप्नोत्तस्मादापः' 'यदवृणोत् तस्माद्वा' (शत०६। १। १६) यह निर्वचन किया है। आपोमय विष्णु ही अशनायासूत्र का अधिष्ठाता बनता हुआ सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। इसी विष्णुसूत्र से वह अव्यक्त सूत्रात्मा बना हुआ है।

विष्णुब्रह्मगर्भित वाङ्मय इन्द्रात्मक वही अव्यक्तात्मा वेदात्मा है। अव्यक्तात्मा जिस रूप से विश्वस्वरूप में परिणत होता है, वह यही वाग्विवर्त्तरूप इन्द्रात्मक वेद है। यजुर्भाग विविधकर्म्म के कारण आगे जाकर सप्तपुरुषपुरुषात्मक बन जाता है। इस सप्तपुरुषसंस्था के मध्य का मुख्य भाग ही— 'योऽयं मध्यत एन्ध' (शत० १४। ६। ११। २) के अनुसार "इन्ध" कहलाया है। इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षम्' के अनुसार परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में इन्ध ही 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार वाङ्मय इन्द्र की यजुरूपता भलीभाँति सिद्ध हो जाती है। यजरूप यजुर्मूर्त्ति यह इन्द्र वयोनाध-(छन्द)-रूप ऋक्साम के आधार पर प्रतिष्ठित रहता है। इसी आधार पर—'ऋक्साम वै इन्द्रस्य हरी" (ऐ० ब्रा० २। २४) यह कहा जाता है। यही इन्द्र अग्निसोमसम्बन्ध से वेदप्रवर्त्तक बनता हुआ आगे जाकर भूतपति-भूतभावन-भूतयोनि भूतनाथ इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हो जाता है। इस प्रकार एक ही अव्यक्तात्मा अपेक्षा भेद से कथित तीन स्वरूपों में परिणत होता हुआ सब कर्म्मा (विश्वकर्म्मा) बन रहा है। ऋक्संहिता ने सर्वकर्म्मा इस अव्यक्तात्मा को 'विश्वकर्म्मा" नाम से ही व्यवहृत किया है। वेदरूप से वही अव्यक्तात्मा सब कुछ बन रहा है, नियतिरूप से वही सब का सञ्चालक बन रहा है, एवं सूत्ररूप से वह सब के साथ सब

इस के साथ सम्बद्ध हो रहे हैं। यही पारस्परिक सम्बन्ध 'सर्वहुत' यज्ञ है। इसी को लक्ष्य में रख कर—'आत्मनि प्रजातिमयच्छ' यह कहा जाता है।

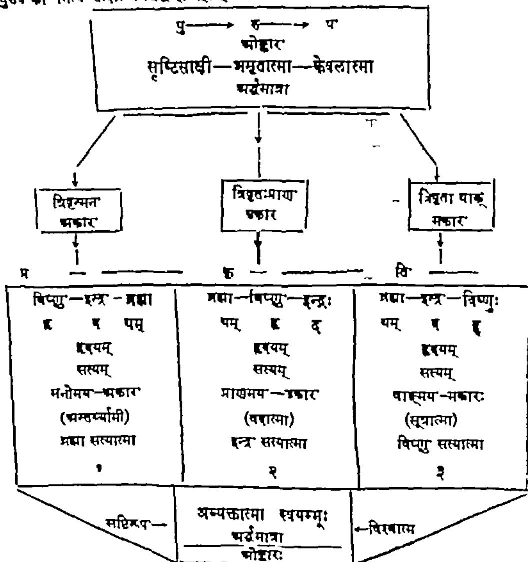
१
अव्यक्तात्मा

ब्रह्मप्राणमय	विष्णुरापोमय	इन्द्रोवाङ्मय
विष्णिन्द्रगर्भितो ब्रह्मा	ब्रह्मेन्द्रगर्भितो विष्णु	विष्णुब्रह्मगर्भित इन्द्र
३—यम्	१—हृ	२—द
अन्तर्यामी १	सूत्रात्मा २	वेदात्मा ३

उक्त तीनों अव्यक्तात्मविवर्तों में क्रमशः ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र की प्रधानता के साथ इतर दोनों की भी सत्ता रहती है। फलतः प्रत्येक में सत्यस्वरूपसम्पादक हृदयभाव की सत्ता सिद्ध हो जाती है। सत्यमूर्त्ति अव्यक्तात्मा इन्हीं तीन पृथक् पृथक् सत्य विवर्तों के कारण त्रिसत्य बन जाता है। इसी आधार पर "त्रि सत्या वै देवाः" यह अनुगम वचन प्रतिष्ठित है। यही त्रिसत्यमूर्त्ति अत एव पुराणों में त्रिमूर्त्ति नाम से प्रसिद्ध अव्यक्तात्मा स्वयम्भू सातों लोकों की मूलप्रतिष्ठा है अतएव लोकान्तर्गत सम्पूर्ण वाग्व्यवहार त्रिसत्य मर्यादा से ही आक्रान्त हैं। उधर मनःप्राणवाङ्मय पुरुषात्मा (अमृतात्मा) त्रिसत्य था इधर ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्रमय अव्यक्तात्मा भी हृ द य के भेद से त्रिसत्य है। स्वप्रकृत्यपेक्षया जहां ब्रह्मा प्राणमय किंवा प्राणप्रकृतिक है वहां आत्मकलापेक्षया ब्रह्मा मनोमय है। स्वप्र॰ इन्द्र जहां वाक्प्रकृतिक है आत्मापेक्षया वही प्राणमय है। स्वप्र॰ विष्णु जहां आपोमय है आत्मापेक्षया वही वाङ्मय है। जिस प्रकार मन–प्राण–वाक् तीनों

त्रिसत्यप्रजापति—

त्रिवृद्भावयुक्त होने से प्रत्येक त्रिमूर्ति हैं, एवमेव ब्रह्मादि तीनों (प्रत्येक) त्रिमूर्ति हैं— 'नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने'। सृष्टि से पहिले मन-प्राण-वाक् प्रधाना बनती हुई यह त्रिमूर्ति आत्मरूपा है। सृष्ट्युन्मुख बन कर यही प्रकृतिरूपा है। और यों प्रकृति-पुरुष का नित्य तादात्म्य सिद्ध हो रहा है।'



– हमारा मूलप्रभव उक्त त्रयरूप त्रिसत्य अव्यक्तात्मा है। दूसरे शब्दों में हमारी मूलप्रकृति पूर्णता तीनों सत्यों पर अवलम्बित है अतएव लौकिक-वैदिक सभी ऐहिक पारमार्थिक कर्म्मों की पूर्णता त्रित्व भाव पर ही समाप्त होती है। आच मन–प्राणायाम–स्वस्तिपाठ–आदि शास्त्रीय कर्म्मों का त्रित्व

प्रतीक अव्यक्तात्मा

को विदित है। एवमेव लौकिक व्यवहार भी बिना तीन के अप्रतिष्ठित माने जाते हैं। यालयों (कोर्टों) में वादी प्रतिवादी (मुद्दई-मुद्दाअलेह) को वहां का भृत्य (चपरासी) ही बार आवाज लगाता है, पर कौन नहीं जानता। मैंकों के सिपाही कौन है ! ,यह बार पूछेंगे, तीसरी बार भी आगन्तुक ने उत्तर न दिया तो फायर हो जायगा। ऐसा ? इस का उत्तर वर्त्तमान विज्ञान भले ही न दे सके, परन्तु वेदमहर्षि आत्मत्रित्ववाद को । करते हुए हमारा सर्वात्मना सन्तोष कर रहे हैं।

इस अव्यक्तात्मा का प्रभव (उत्पत्तिस्थान पोमप्रपुरुषावच्छिन्न, प्राणप्रधान, अपौरुषेय दपुरुष ज्ञान है। प्रतिष्ठा (स्थितिस्थान स्वायम्भुव हृदयबिन्दु है। योनि (आगमभण्डार) मध्य स्वर) है। आश्रय (व्याप्तिस्थान) सम्पूर्ण विश्व है। पञ्चपर्वात्मक विश्व में सर्वत्र व्याप्त य एवं तत्पञ्चपर्वाधिष्ठाता विश्वकर्म्मा यही स्वयम्भू प्रजापति सर्वेश्वर, किंवा कलात्मक न की अपेक्षा से ,विश्वेश्वर' नाम से प्रसिद्ध है। यह सत्यमूर्त्ति परोरजा भगवान् पूर्व कथ- सार नित्य अशान्ति-गर्भित नित्य शान्तिमूर्त्ति है। अतएव इसे शान्तात्मा' भी कहा जाता इस महादेव का उदयकाल ही सृष्टिकाल है, अस्तकाल ही प्रलयकाल है। सृष्टिकाल इस अहरागम है, प्रलयकाल रात्र्यागम है। इसी अभिप्राय से भगवान् मनु कहते हैं—

यदा स देवो जागर्त्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥ (मनु १।५२)।

परमात्म से अध्यात्मजगत् में प्रविष्ट यही शान्तात्मा इधर सम्पूर्ण अण्डात्माओं की प्रष्ठा बना हुआ है। प्राज्ञस्वरूपात्मा विज्ञान में अनुस्यूत है। विज्ञानात्मा महानात्मा के

---

* वेद मन्त्र के पुरुषसूक्त के आरम्भ में अव्यक्तात्मा का विवरण बतलाया है। यह वेद पुरुषरूप होने अपौरुषेय कहलाता है। इसी पूर्व में अव्यक्त के व्यापार पर प्रतिष्ठित रहते हुए के लिए वेदात्मा का हिरण्यगर्भ कहा गया है। यह पुरुषरूप में उत्पन्न होने के कारण पौरुषेय है। यह वह क्रम मूर्त्तवेद से भिन्न प्रकार है।

आधार पर प्रतिष्ठित है। सर्वाधार यही शान्तात्मा है। इस आध्यात्मिक शान्तात्मा का प्रभव वस्त्यात्मक विश्वव्यापक स्वयम्भू है, प्रतिष्ठा हृदय है, योनि परमाकाश नाम से प्रसिद्ध परम व्योम है, आशय सर्वाङ्गशरीर है। अन्तर्यामी–सूत्रात्मा–वैश्वात्मा, भेदभिन्न त्रिकल यह अव्यक्तात्मा ही सम्पूर्ण विश्व का कारण है। यह प्राणप्रधान है। प्राण असङ्ग तत्त्व है, अत एव कारण होते हुए भी यह मैथुनीसृष्टि की अपेक्षा से शास्त्रों में अकारण नाम से प्रसिद्ध है। 'महतः परमव्यक्तम्' (कठोप०१।३।११।) इस सिद्धान्त के अनुसार अव्यक्त स्वयम्भू ही व्यक्ताव्यक्त पारमेष्ठ्य महन् का कारण है, जैसा कि महदात्मप्रकरण में स्पष्ट होने वाला है।

हम यह कह आए हैं कि, वेद भाग ही इस अव्यक्तात्मा की (भौतिक विश्व की अपेक्षा से) मुख्य प्रतिष्ठा है। इस वेदत्रयी में भी यजुर्वेद ही मुख्य है। स्थितिगत्यात्मक यजुर्वेद ही

अव्यक्तात्मा का प्रकृतिभाव —

पुरुष है। यही भौतिकी चित्यसृष्टि का मूलाधार है। जूरूप स्थिति–तत्त्व की अपेक्षा से यह अव्यक्त तत्त्व सर्वथा कम्पन रहित है, अनेजत् है। यत्-रूप गतितत्त्व की अपेक्षा से यह मन से भी जवीय (शीघ्रगामी) है। अपने इन्हीं दोनों विरुद्ध रूपों से यज्ञमूर्त्ति परोक्षभाषानुसार यजुमूर्त्ति यह अव्यक्त समष्टि–व्यष्टिरूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। प्रत्येक पदार्थ पर दृष्टि डालिए, वह आप को ठहरता हुआ चलता दिखाई देगा। बनना स्थितिमूलक है, बिगड़ना गतिमूलक है। प्रत्येक पदार्थ बनता हुआ बिगड़ रहा है। समुद्रतरङ्गों की भाँति प्रत्येक पदार्थ उच्चावचभावों से नित्य आक्रान्त है। यही अव्यक्तात्मा के साक्षात् दर्शन हैं। आविर्भावकाल स्थितिकाल है, तिरोभावकाल गतिकाल है। आविर्भावकाल में वह अव्यक्त व्यक्त है, तिरोभावकाल में वही व्यक्त अव्यक्त है। आविर्भाव वस्तु का व्यक्तभाव है, व्यक्तता ही व्यक्तिभाव है, व्यक्तिभाव ही वस्तु पदार्थों की अभिव्यक्ति (प्राकट्य) है। एक एक व्यक्ति एक एक स्वतन्त्र अभिव्यक्ति है। इस प्रकार अभिव्यक्तिकारण इस व्यक्तिभाव की प्रतिष्ठारूप यही एकमात्र अव्यक्तात्मा बन रहा है। अमृतात्मा की भाँति इस अव्यक्तात्मा का भी कर्मभोग से कोई सम्बन्ध नहीं है। शरीर में रहता हुआ भी, शरीर परिच्छिन्न होता हुआ भी, सोपाधिक बनता हुआ भी असङ्ग,प्राणमय होने से यह आकाशात्मा कर्मलेप से सर्वथा असङ्ग है। यहां भूतज्योति का अभाव है, केवल ज्ञानज्योति (अमृतात्मज्योति) ही इस की आधारभूमि है। यह असङ्ग अव्यक्त तत्त्व ही विश्व की परिग्र–

प्रकृति है। इस सत्त्व तत्त्व के साथ भी सर्वव्यापक, आत्मपानिस्वरूप उस अक्षर याजरी आत्मा का सम्बन्ध होता है। अतएव सत्स्वरूप अवश्य प्रकृतिरूप होते हुए भी इसे 'अव्यक्तात्मा' इस प्रकार आत्मशब्द से व्यवहृत किया जाता है। सप्तात्माओं में यह पहिला 'प्राकृतात्मा' है। इस का प्रधान कर्म है—सर्वथा विभिन्न संस्था वाले शरीर को एकसूत्र में बद्ध रखना, शारीर धातुओं का सम्यक्रूप से निर्माण करना एवं उन का नियतरूप से यथास्थान सन्निवेश करना, नवीन नवीन भूतों का उत्पन्न करते रहना पूर्व पूर्व भूतों का विशयन करते रहना। प्राणोपासक यह और जान लीजिए कि, जिस प्रकार अध्यात्मसंस्था में यह अव्यक्तात्मा शान्तात्मा आदि नामों से प्रसिद्ध है। एवमेव आधिभौतिक संस्था में यही "गुहा" नाम से प्रसिद्ध है। एक ही तत्त्व अधिदैवत-अध्यात्म अधिभूत भेद से त्रिसंस्थ बनता हुआ १ स्वयम्भू २ अव्यक्त ३ गुहा-इन तीन नामों से प्रसिद्ध हो रहा है। अव्यक्तसंस्था में भूत-प्राण-भेद से दो तत्त्व नित्य प्रतिष्ठित रहते हैं। घनभाग का विकास भूत है, रसभाग का विकास प्राण है। प्राणापेक्षया यह स्वयम्भू कहलाया है भूतापेक्षया यही आकाश कहलाया है। इसी आकाश को 'वाङ्मय' कहते हैं। इसी "सत्यावाक्, दूसरे शब्दों में अमाविनिधना नित्या वेदवाक् के (स्वयम्भू के) उदर में सम्पूर्ण विश्व समा रहा है, जैसा कि-'अथो वागेवेदं सर्वम्' 'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता" इत्यादि श्रौत वचनों से स्पष्ट है। षोडशी पुरुष विश्वात्मा है। इसी विश्वात्मा से सब प्रथम आकाशात्मा इसी अव्यक्त स्वयम्भू का प्रादुर्भाव हुआ है। इसी अभिप्राय से "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै० उप०) यह कहा गया है।

आत्मोत्क्रान्ति के अनन्तर यह अव्यक्तात्मा सर्वव्यापक प्राणमूर्ति आकाशात्मा में वहीं का वहीं विलीन हो जाता है। असङ्ग होने से कर्म्मबन्धन से सर्वथा पृथक् रहता हुआ

प्रकरणोपसंहार— परोरजा प्राणमूर्ति यह अव्यक्तात्मा लोकान्तर में गमन नहीं करता। घट के फूटते ही घटाकाश जैसे लोकान्तर में गमन न कर वहीं परमाकाश में लीन हो जाता है। एवमेव शरीरनिधन के अव्यवहितोत्तरकाल में ही यह स्वयम्भू व्यापक परमाकाश में लीन हो जाता है। लोकान्तर में गमन करने वाले कर्म्मात्मा के साथ बिन्दु बिन्दु पर नवीन नवीन अव्यक्त (आकाश) का सम्बन्ध होता रहता है। इसी अव्यक्त विलयन को लक्ष्य में रख कर "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते" यह कहा

गया है। भाग्यकर्म्मादि का इस के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आप अपने कर्म्म से न इस का उपकार कर सकते, न अपकार। त्रिकल अव्यक्तात्मा का यही असंदिग्ध स्वरूप निदर्शन है। अब क्रमप्राप्त महानात्मविज्ञानोपनिषत् की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

तदित्थं—वेद—सूत्र—निगमनिर्भेदेन त्रिकलोऽयं स्वयम्भूरव्यक्तात्मा
व्याख्यातो द्रष्टव्यः

समाप्ता चेयं भाष्यविज्ञानान्तर्गत 'आत्मविज्ञानोपनिषदि' प्रथमायां प्रथमखण्डात्मिकायां

'अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्'–द्वितीया

२

*इस विषय का विशद विवेचन ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य द्वितीय खण्ड में देखना चाहिए।

प्रकृति है। इस अविद्य तत्त्व के साथ भी सर्वव्यापक, आत्मयोनिस्वरूप उस अक्षरक योग्मी आत्मा का सम्बन्ध होता है। अतएव क्षररूप अतएव प्रकृतिरूप होते हुए भी इसे 'अव्यक्तात्मा' इस प्रकार आत्मशब्द से व्यवहृत किया जाता है। अव्यक्तात्माओं में यह पहिला 'प्राकृतात्मा' है। इस का प्रधान कर्म है—सब या विभिन्न संस्था वाले शरीर को एकसूत्र में बद्ध रखना, शारीर धातुओं का अव्यक्तरूप से निर्माण करना एवं उन का नियतरूप से यथास्थान सन्निवेश करना नवीन नवीन भूतों का उत्पन्न करते रहना, पूर्व पूर्व भूतों का विलयन करते रहना।

प्रसङ्गोपात्त यह और जान लीजिए कि जिस प्रकार अध्यात्मसंस्था में यह अव्यक्तात्मा शान्तात्मा आदि नामों से प्रसिद्ध है। एवमेव आधिभौतिक संस्था में यही "गुहा" नाम से प्रसिद्ध है। एक ही तत्त्व अधिदैवत-अध्यात्म अधिभूत भेद से त्रिसंस्थ बनता हुआ १ स्वयम्भू २ अव्यक्त ३ गुहा-इन तीन नामों से प्रसिद्ध हो रहा है। अव्यक्तसंस्था में भूत-प्राण-भेद से दो तत्त्व नित्य प्रतिष्ठित रहते हैं। घनभाग का विकास भूत है, रसभाग का विकास प्राण है। प्राणापेक्षया यह स्वयम्भू कहलाता है भूतापेक्षया यही आकाश कहलाता है। इसी आकाश को 'वाग्ब्रह्म' कहते हैं। इसी सत्यावाक् दूसरे शब्दों में अनादिनिधना नित्या वेदवाक् के (स्वयम्भू के) उदर में सम्पूर्ण विश्व समा रहा है, जैसा कि-'अथो वागेवेदं सर्वम्' 'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता" इत्यादि श्रौत वचनों से स्पष्ट है। षोडशी पुरुष विश्वात्मा है। इसी विश्वात्मा से सब प्रथम आकाशात्मा इसी अव्यक्त स्वयम्भू का प्रादुर्भाव हुआ है। इसी अभिप्राय से 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै० उप०) यह कहा गया है।

आत्मोत्क्रान्ति के अनन्तर यह अव्यक्तात्मा सर्वव्यापक व्योममूर्ति आकाशात्मा में यहां का यहीं विलीन हो जाता है। असङ्ग होने से कर्म्मबन्धन से सर्वथा पृथक् रहता हुआ

प्रकृतोपसंहार— परिच्छिन्नाकाशमूर्ति यह अव्यक्तात्मा लोकान्तर में गमन नहीं करता। घट के फूटते ही घटाकाश जैसे लोकान्तर में गमन न कर यहीं परमाकाश में लीन हो जाता है। एवमेव शरीरनिधन के अव्यवहितोत्तरकाल में ही यह सर्वव्यापक परमाकाश में लीन हो जाता है। लोकान्तर में गमन करने वाले कर्म्मात्मा के साथ बिन्दु बिन्दु पर नवीन नवीन अव्यक्त (आकाश) का सम्बन्ध होता रहता है। इसी अव्यक्त विलयन को लक्ष्य में रख कर 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते" यह कहा

श्री

समाप्ता चेयं

अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्-द्वितीया

२

— —

अथ

आत्मविज्ञानोपनिषदि (प्रथमखण्डे)

'यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्' तृतीया

३



(३) १–अधिदैवतम्——परमेष्ठी (पूर्णमद)
२–अध्यात्मम्——महदक्षरः (पूर्णमिदम्) (२)

अथ

श्राद्धविज्ञानान्तर्गत–'आत्मविज्ञानोपनिषदि' प्रथमाया–

"यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्"–तृतीया

३

यज्ञात्मा—शान्तात्मा—परमेष्ठी (२)

१-ज्ञानानुगतपिण्ड (पितात्मा)

२-कर्मानुगतपिण्डप्रमाण (यज्ञात्मा)

गाऽय द्विरूपा यज्ञात्मा–शान्तात्मा–वा परमेष्ठी

(३)—यज्ञात्मस्वरूपपरिचय —(अग्नीषोममयः शिपिविष्टात्मा)

१—यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते तते॥ ऋक्सं० १०, १३०, १।

२—पुमाँ एनं तनुत उत्कृणत्ति पुमान्वि तत्ने अधि नाके अस्मिन्।
इमे मयूखा उप सेदुरू सदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे॥ ऋक्सं०१०-१३०-२।

३—सहस्तोमाः सहछन्दस आवृतः सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन्॥ ऋक्सं० १०-१३०-७।

४—यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते॥ ऋक्सं० १०-७१-३।

५—यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि।
आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे॥ ऋक्सं० १-८३-५।

६—अग्नेरमृतनिष्पत्तिरमृतेनाग्निरेधते।
अतएव हवि क्लृप्त—'अग्नीषोमात्मकं जगत्'॥ बृहज्जाबालोपनिषत् २।४।

७—ऊर्ध्वशक्तिमयः सोम अधःशक्तिमयोऽनलः।
ताभ्यां सम्पुटितस्तस्माच्छश्वद्विश्वमिदं जगत्॥ बृ० जा० उ० २।४।

८—आन्यं दिवो मातरिश्वा जभारामथ्नादन्यं परि श्येनो अद्रेः।
अग्नीषोमा ब्रह्मणा वावृधानोरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकम्॥ ऋक्० १।९३।६।

९—वधैर्दुःशंसाँ अप दूढ्यो जहि दूरे वा ये अन्ति वा के चिदत्रिणः।
अथा यज्ञाय गृणते सुगं कृध्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥ ऋक्० १।९४।९।

१०—यो वेद गहनं गुह्यं पावनं च ततोदितम्।
अग्नीषोमपुटं कृत्वा न स भूयोऽभिजायते॥ बृ० जा० उ० २।१४।

—❀:०:❀—

ओं यज्ञात्मब्रह्मणे नमः

यज्ञात्मा—परमेष्ठी

'यज्ञोब्रह्मे'त्युपास्व

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृळयन्तः ।
आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादंहोश्चिद्या वरिवो वित्तरासत् ॥ ऋक्सं० १।१०७।१।
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ऋक्सं० १०।९०।९।
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ ऋक्सं० १०।९०।१६
यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।
स धीनां योगमिन्वति ॥ ऋक्सं० १।१८।७।

प्राणमय अव्यक्तमूर्त्ति स्वयम्भू प्रजापति (परमप्रजापति) के 'साहस्रीमण्डल' (महिमामण्डल, विभूतमण्डल, वैराजरूप, आदि नामों से व्यवहृत वषट्कारमण्डल) में सुब्रह्मण्योमूर्त्ति आपोमय परमेष्ठीतत्त्व प्रतिष्ठित है। जिस प्रकार अव्यक्त स्वयम्भू के अधिष्ठाता प्रधान देवता मायाप्रकृतिक 'ब्रह्मा' हैं, एवमेव व्यक्ताव्यक्तमूर्त्ति यज्ञात्मक परमेष्ठी के अधिष्ठाता प्रधान देवता अप्प्रकृतिक 'विष्णु' हैं। विष्णु ही यज्ञ के अन्यतम स्वरूप समर्पक माने गए हैं। इसी आधार पर विष्णुतत्त्व का 'यज्ञो वै विष्णुः'—'यज्ञम्' यह निर्वचन किया जाता है। कठोपनिषच्छ्रुति के अनुसार यह पारमेष्ठ्य आत्मतत्त्व महानात्मा नाम से भी व्यवहृत हुआ है जैसा कि निम्न लिखित वचन से प्रमाणित है—

पारमेष्ठ्यतत्त्वपरिचय—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञ—स्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानं महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥
—कठोपनिषत् १।३।१३।

हमारे अध्यात्मसंस्था में १ शरीर, २ प्राणात्मा ३-प्रज्ञानात्मा, ४ विज्ञानात्मा, ५-महानात्मा, ६ शान्तात्मा (अव्यक्तात्मा), ये ६ विभाग माने गए हैं। शरीर के आधार पर

[illegible]— १-इन्द्रियप्राण, २—वाक्, तथा ३-इन्द्रिय-मन का अधिष्ठाता ४-प्राणात्मा (कर्मात्मा—भूतात्मा) प्रतिष्ठित हैं। इन चारों का समष्टि 'पार्थिव-प्रपञ्च' है। पृथिवी से ऊपर चन्द्रमा है। इस से सर्वेन्द्रिय, अतीन्द्रिय, अनिन्द्रिय, इत्यादि नामों से प्रसिद्ध प्रज्ञानात्मा (मन) का विकास होता है। चन्द्रमा से ऊपर सूर्य है। सूर्यागमूर्त विज्ञानात्मलक्षण ज्ञान ही बुद्धि है। सूर्य से ऊपर परमेष्ठी है। यही महानात्मा है। परमेष्ठी से ऊपर स्वयम्भू है। यही शान्तात्मा किंवा अव्यक्तात्मा कहलाता है। अव्यक्त से परे षोडशपर्व-अक्षरात्माधिष्ठाता षोडशीपुरुष है। आत्मविवर्त की यही पराकाष्ठा है। इसी का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि कहते हैं—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ (कठ १।३।१०-११)

इन्द्रियानुगतमूर्ति, शरीरानुगृहीत प्राणात्मा पहिला विवर्त है। इस से परे मन (प्रज्ञानात्मा) है, मन से परे बुद्धि (विज्ञानात्मा) है, बुद्धि से परे महानात्मा है, महान् से परे अव्यक्त है, अव्यक्त से परे पुरुष है। यही परंपराक्रम है। आत्मकर्म के अतिरिक्त सर्वत्र इसी क्रम की प्रधानता समझनी चाहिए। अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत तीनों संस्थाओं में उक्त छओं (छहों) विवर्तों का भोग हो रहा है, जैसा कि निम्न लिखित परिलेख से स्पष्ट हो जाता

१–	१–	पुरुष षोडशी (अमृतात्मा)	१–	१–	पुरुष षोडशी (अमृतात्मा	१–	१	पुरुष षोडशी (अमृतात्मा)
२–	१–	स्वयम्भू (प्राणमय)	२–	१–	अव्यक्तात्मा (प्रा०)	२–	१	गुहा (प्रा०)
३–	२–	परमेष्ठी (आपोमय)	३–	२–	महानात्मा (आ०)	३–	२	आप (आ०)
४–	३–	सूर्य (वाङ्मय)	४–	३–	विज्ञानात्मा (वा०)	४–	३	ज्योति (वा०)
५–	४–	चन्द्रमा (अन्नमय)	५–	४–	प्रज्ञानात्मा (अ०)	५–	४	अमृतम् (अ०)
६–	५–	महापृथिवी(प्राणाग्नि०)	६–	५–	प्राणात्मा (प्रा०)	६–	५	रस (प्रा०)
७–	१–	भूपिण्ड(भूताग्निमय	७–	१–	शरीरम् (भू०)	७–	१	पिण्ड (भू०)

आधिदैविकप्रपञ्च — आध्यात्मिकप्रपञ्च — आधिभौतिकप्रपञ्च

१ — २ — ३

दर्शनशास्त्र ने प्रधानरूप से आधिदैविक (ईश्वर), आध्यात्मिक (जीव) भेद से दो ही विवर्तों को प्रधानता दी है। स्वयं उपनिषत् ने भी यदेवेह तदमुत्र" पूर्णमदः पूर्णमिदम्" (ई) इत्यादि रूप से इह (यहां) अमुत्र (वहां), अदः (वह), इदं (यह) ये दो ही विभाग माने हैं। ये ही दोनों विभाग दर्शनों में ऐहिक–आमुष्मिक नामों से व्यवहृत हुए हैं। पूर्वप्रदर्शित आधिभौतिक पदार्थों को असमञ्जस मानते हुए इन का आध्यात्मिक संस्था में ही अन्तर्भाव मान लिया गया है, जैसाकि निम्न लिखित कोष्ठक से स्पष्ट होजाता है।

अतः इह विवर्त —

गत

तदूप

आधिदैविकप्रपञ्च १	आध्यात्मिकप्रपञ्च २		
१ परात्पर विश्वकर्म्मा ↓ प्रकृतिपञ्चपर्वा	१ अर्द्धसंस्थीवा ↓ पावक	२ मध्यसंस्थीवा ↓ औपधिवनस्पतय	३ सर्वसंस्थीवा ↓ कृमिकीटपक्षिपशुमनुष्या
१–स्वयम्भू (प्राणमय) २–परमेष्ठी (आपोमय) ३–सूर्य्य (वाङ्मय) ४–चन्द्रमा (अन्नमय) ५–सप्तम (आदित्यमय) ६–हिरण्यगर्भ (वायुमय) ७–विराट् (अग्निमय) ८–भूपिण्ड (भूतमय)	१–गुहा २–आप ३–ज्योति ४–अमृतम × + + × ५–वैश्वानर (अग्निरस) ६–पिण्ड	१–गुहा २–आप ३–ज्योति ४–अमृतम् × ५–तैजस (वायुरस) ६–वैश्वानर (अग्नि० ७–पिण्ड	१–अव्यक्तात्मा २–महानात्मा ३–विज्ञानात्मा ४ प्रज्ञानात्मा ५–प्राज्ञ ६–तैजस ७–वैश्वानर ८–शरीर
अष्टकला प्रकृतिपञ्चपर्वा — ० — १	षट्कलोपेता अर्द्धसंस्थीवा —०— १	सप्तकलोपेता— मध्यसंस्थीवा —०— २	अष्टकलोपेता— सर्वसंस्थीवा —०— ३
पूर्णमदः —→ अदमुत्र (रसप्रधानसंस्था)	पूर्णमिदम् यदिदं —→		बलप्रधानसंस्था

यहां पर प्रश्न उपस्थित होता है कि उक्त आत्मविवर्तो में महानात्मा का परमेष्ठी से सम्बन्ध बतलाया गया है। साथ ही पूर्वोक्त कठश्रुति भी इसी अर्थ का समर्थन कर रही है। इसी स्थिति में महानात्मा का (प्रकृत आत्मप्रकरण में) पार्थ बतलाना, साथ ही पारमेष्ठ्य आत्मा को महात्मा नाम से व्यवहार करना कैसे सङ्गत हो सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में हमें यही समझ लेना पर्याप्त

प्रश्नसमाधानप्रकार —

होगा कि, ईश्वरीयसंस्था में चन्द्रमा और परमेष्ठी, दोनों सजातीय पर्व हैं। *तृतीयस्यो वै इतो दिवि सोम आसीत् (तै० ब्रा० १, १, ३, १०) इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार पृथिवी के तृतीय द्युलोक स्थानीय परमेष्ठी में भी सोम है। दूसरे शब्दों में परमेष्ठी भी सोममय है, एवं—"एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमा।" (शत १६-४-५) के अनुसार भूपिण्ड के चारों ओर परिक्रमा लगाने वाला, पृथिवी का उपमहाभूत अग्निप्राणारम्भ प्रत्यक्ष एव चन्द्रमा भी सोममय ही है। यह सोमपिण्ड (चन्द्रपिण्ड) सौररश्मियों के सम्बन्ध से प्रकाशित हो रहा है। इसीलिए इसे चन्द्रमा (चन्द्रिकायुक्त-प्रकाशयुक्त) कहा जाता है। विज्ञानभाषा में यही 'भास्वरसोम' नाम से प्रसिद्ध है। सूर्य के ऊपर प्रतिष्ठित रहने वाला भूतज्योति से असंस्पृष्ट, किन्तु ज्ञानज्योति का ग्राहक, अतएव ज्ञानज्योतिर्मय पारमेष्ठ्य सोम 'दिक्सोम' नाम से प्रसिद्ध है। इन्द्रियविज्ञान के अनुसार चान्द्रसोम जहाँ मन का आरम्भक है, वहाँ दिक्सोम श्रोत्रेन्द्रिय का स्वरूप समर्पक माना गया है। (देखिये ऐ० उप० ९४) चन्द्रमा प्रकाश का अधिष्ठाता है। दूसरे शब्दों में प्रकाशित सोम है। प्रकाश ही वस्तुरूपों का अधिष्ठाता है। अतएव तद्रूप मन रूपों का ग्राहक बनता है। दिक्सोम ज्ञान का अधिष्ठाता बनता हुआ श्रोत्रेन्द्रियरूप में परिणत होकर शब्दज्ञान का अधिष्ठाता बनता है। शब्दश्रवण ज्ञानोदय का अन्यतम, एवं प्रधान द्वार है। ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं है, जो परा–पश्यन्ती–मध्यमा–वैखरी नाम के वाग्विवर्तों (शब्दविवर्तों) में से किसी एक से सम्बन्ध न रखता हो। इसी अभिप्राय से सेतुकार कहते हैं—

> न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
> अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥—भर्तृहरिप्रणीतवाक्यपदी।

परमेष्ठी में केवल ज्ञानप्रकाश है, वहाँ सूर्य से सम्बन्ध रखने वाली भूतज्योति का अभाव है। अतएव तद्रसभूत श्रोत्रनिष्ठ शाब्दज्ञान केवल ज्ञानप्रकाश का ही उत्तेजक बनता है। यही पारमेष्ठ्य दिक्सोम प्रवर्ग्यविद्या के अनुसार अंशात्मना परमेष्ठी से प्रयुक्त

---

*"नमोऽस्त्वरिक्षं गगनम्" इत्यादि के अनुसार सूर्य और पृथिवी का (अन्तरिक्ष नाम का) अन्तराय प्रदेश पहिला द्युलोक है सूर्य दूसरा द्युलोक है, इस क्रम से परमेष्ठी तीसरा द्युलोक बन जाता है। पृथिवी से तीसरे इस द्युलोक में (परमेष्ठी में) सोम प्रतिष्ठित है। सुपर्णख्य में परिणत अक्षराक्षरा गायत्री इसी सोम का आहरण करती है —जैसा कि "पतत्रु सौपर्णमाख्यानमाख्यानविद् आचक्षत" इत्यादि रूप सुपर्णाख्यान से स्पष्ट है।

(पृथक्) होकर सौर प्रकाश से भी युक्त हो जाता है। अतएव तदंशभूत मम चिन्मय सोम के सम्बन्ध से यहां विषयज्ञान का अधिष्ठाता बनता है वहां यह भूतज्योति के प्रभाव से विषय रूपों का भी अनुग्राहक बन जाता है। वक्तव्य यही है कि, परमेष्ठी—एवं चन्द्रमा, तात्त्विक दृष्टि से दोनों अभिन्न हैं, एक वस्तुतत्त्व (सोम) हैं। महत्तत्त्व का आगमन यद्यपि परमेष्ठी से ही होता है। परन्तु उस के आगमन का द्वार चन्द्रमा ही है जैसा कि आगे के महदात्मप्रकरण में स्पष्ट हो जायगा। अत: महानात्मा को चन्द्रमा की भी वस्तु मान लिया जाता है। साथ ही में प्रेतपितरों की आधारभूमि चन्द्रमा है। पितरप्राणावच्छिन्न महत् का प्रधानरूप से चन्द्रमा के साथ ही सम्बन्ध है। इसलिए भी इस भाष्यप्रकरण में हमने महानात्मा को चान्द्र माना है। यही श्रुतिविरोध की बात। इस का निराकरण भी किया जासकता है। यही पारमेष्ठ्य महत् सोम चन्द्रमा का स्वरूप समर्पक है, अत: चन्द्रमा को भी महान् कहा गया है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट हो जाता है—

'तमब्रवीत्—महादेवोऽसीति। तद्यदस्य तन्नामाकरोत्, चन्द्रमास्तद्रूपम भवत्। प्रजापतिर्वै चन्द्रमाः। प्रजापतिर्वै महान् देवः—(शत० ६।१।३।१६)

परमेष्ठी यज्ञ का अधिष्ठाता है। यही महानात्मा है। अतएव इस यज्ञ को भी महान् कहा जा सकता है। उधर आधिदैविक यज्ञ की मूलप्रतिष्ठारूप चन्द्रमा भी यज्ञमूर्त्ति ही है। चन्द्रमा यज्ञ के ब्रह्मा माने गए हैं—"ब्रह्मा कृष्णस्य नोऽवतु" (यजु २३।१३।) "चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्ण" (१३।२।७।७)। यज्ञमूर्त्ति सोममय परमेष्ठी महान् है, इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए निम्न लिखित श्रौतवचन हमारे सामने आते हैं—

१—"स (सोम) तायमानो जायते। स यज्जायते, तस्माद्यज्ञः। यज्ञो ह वै नामैतद्यद्यज्ञ इति" (शत०३।६।४।२३)
२—"यज्ञो वा ऋतस्य (परमेष्ठिन) योनिः" (शत १।३।४।१६)
३—"एष ह वै महान् देवो यद्यज्ञः" (गो० पू०२।१६।)

इस प्रकार कहीं पारमेष्ठ्य यज्ञात्मक तत्त्व को महानात्मा कहना कहीं चान्द्रतत्त्व को महानात्मा बतलाना उक्त प्रकरण से सर्वथा समन्वित हो जाता है। प्रकृत प्रकरण में महानात्मदृष्टि से ही परमेष्ठी का रूप इष्ट अपेक्षित है।

पूर्व के अव्यक्तात्मप्रकरण में पर—सूत्र—अन्तर्यामी, भेद से अव्यक्तात्मा के तीन विवर्त्तों का दिग्दर्शन कराया गया है। वहीं प्रकरणोपसंहार में यह भी बतलाया गया है कि हृदयप्रतिष्ठ अन्तर्यामी ब्रह्मा-प्रधान है। यह आलम्बन है।

यज्ञात्मा के यज्ञ चित् नामक दो विवर्त्त

सूत्ररूप से बाहिर निकल कर सब को परस्पर में बद्ध रखने वाला सूत्रात्मा विष्णुप्रधान है। एवं वस्तुओं का आरम्भक बनने वाला वेदात्मा इन्द्रप्रधान है। अव्यक्तावस्था में यही तीनों शान्तात्मा के स्वरूप सम्पादक रहते हैं, एवं व्यक्तावस्था में आकर ये ही तीनों यज्ञात्मा के आरम्भक बन जाते हैं। इस यज्ञात्मा के ही चित्सम्बन्ध से आगे जाकर १-यज्ञात्मा, २ चिदात्मा, ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। दोनों में से सर्वप्रथम यज्ञात्मा का ही संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया जाता है।

आवपन-अन्नाद-अन्न, इन तीन तत्त्वों के संगतिकरण का ही नाम यज्ञ है। आवपन 'अ ब्रह्म' है, अन्नाद 'उ ब्रह्म' है, अन्न 'म ब्रह्म' है। तीनों की समष्टि यज्ञमूर्त्ति (विष्णुमूर्त्ति) 'ॐ ब्रह्म' है। जब तक त्रिकल यज्ञ स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है, तभीतक विश्वमें शान्ति है।

यज्ञात्मक विष्णु का स्वरूपनिरूपण—

जिस समय आवपन-अन्नाद-अन्न का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, *यज्ञसंस्था छिन्नभिन्न हो जाती है,* अव्यवहितोत्तर-काल में ही विश्व अव्यक्तगर्भ में विलीन हो जाता है। इष्टप्राप्ति ही शान्तिभाव है। इधर— 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्' इत्यादि स्मार्त्त वचन यज्ञ को ही इष्टकामधुक् (यथेच्छफलावाप्तिसाधक) बतलाती है। यज्ञ की उक्त तीनों कलाओं में से आवपन का अन्तर्यामी ब्रह्मा के साथ सम्बन्ध है। अन्नाद का वेदात्मा इन्द्र के साथ सम्बन्ध है। एवं अन्न का सूत्रात्मा विष्णु के साथ सम्बन्ध है। विज्ञ-पाठकों को स्मरण होगा कि अमृतात्मा का स्वरूप बतलाते हुए हमने अक्षर को गतिधर्म्मा बतलाया था। साथ ही में एक ही गतितत्त्व के स्थिति-विरुद्ध आगति-विशुद्धगति-स्थिति-गर्भिता आगति-स्थितिगर्भिता गति ये पांच विवर्त्त बतलाए हुए। इन्हीं पांचों विवर्त्तों को क्रमशः ब्रह्मा—विष्णु—इन्द्र—सोम—अग्नि—कहा था। यज्ञस्वरूप परिज्ञान के लिए पुनः एक बार इन्हीं अवस्थाओं पर ध्यान देना आवश्यक होगा। विष्णुतत्त्व विशुद्ध रूप से जहां आगति है, वहां यही स्थितिगर्भ में प्रविष्ट होकर सोम बन रहा है। सोम सङ्कोचधर्म्मा स्नेह तत्त्व है, शाम्यगुणक है। एवमेव इन्द्रतत्त्व विशुद्धरूप से जहां गति है, वहां यही स्थिति के गर्भ में

प्रविष्ट होकर अग्नि बन रहा है। अग्नि विकासधर्म्मा तेज तत्त्व है, शाहक्रगुणक है। इन्द्राविष्णु एक युग्म है। अग्नीषोम एक युग्म है। विष्णु–सोम सजातीय हैं इन्द्राग्नी सजातीय हैं दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि विष्णु ही विकासावस्था में आकर सोम बना हुआ है। एवं इन्द्र ही विकासावस्था में आकर अग्नि बना हुआ है। इस प्रकार ब्रह्मा—विष्णु सोम—इन्द्राग्नी ये तीन विभाग हो जाते हैं। विशुद्ध ब्रह्मा (स्थिति), विशुद्ध विष्णु (विशुद्ध आगति) विशुद्ध इन्द्र (विशुद्ध गति), इन तीनों का समुच्चय अव्ययात्मा है। यदि इन के साथ अग्निसोम का सम्बन्ध हो जाता है दूसरे शब्दों में इन्द्राविष्णु यदि अग्नीषोमरूप में परिणत हो जाते हैं तो वही अव्यक्त अग्नि–सोम के सम्बन्ध से व्यक्त विश्वरूप में परिणत होकर "यज्ञात्मा" नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। विशुद्धरूप से तीनों क्रमशः अन्तर्य्यामी–सूत्रात्मा–वेदात्मा हैं, यज्ञरूप से ये ही तीनों आवपन–अन्न–अन्नाद हैं। अग्नि अन्नाद है, अन्न सोम है। आवपन आधारभूमि है, मूलप्रतिष्ठा है, वह ब्रह्म (आकाश) है। ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा (शत०६।१।१।८) के अनुसार ब्रह्मा वास्तव में आवपन है। यही अन्तर्य्यामी है। विष्णुसहचारी सोम अन्न है। अतएव विष्णु को सोमधर्मी कहा जाता है, जैसा कि—"सोमो वैष्णवो राजा" (शत० ११।४।३।८) "यो वै विष्णुः सोमः सः', (शत ३।६।३।१९) इत्यादि निगम वचनों से स्पष्ट है। विज्ञानदृष्ट्या सोम भिन्न है विष्णु पृथक् तत्त्व है। इस अभिप्राय को लक्ष्य में रखकर सोम को विष्णु से पृथक् कर वैष्णव (विष्णुयुक्त) कहा गया है। साथ ही में दोनों का तारतम्य है। इस अभिप्राय से 'यो वै विष्णुः सोमः सः' यह कह दिया गया है। यही सूत्रात्म–विवर्त्त है। विष्णु सूत्रात्मा है किंवा सूत्रात्मा विष्णुप्रधान है। विष्णु ने जिस सूत्र से सम्पूर्ण प्रजा पर अपना अधिकार जमा रक्खा है वह यही सोमान्नसूत्र है। सब अन्न से गृहीत हैं अन्नाधीन हैं। अतएव ब्राह्मोपनिषत् ने अन्न को ग्रह कहा है। जैसा कि श्रुति कहती है—

> "अन्नमेव ग्रहः। अन्नेन हीदं सर्वं गृहीतम्। तस्माद्यावन्तो नोऽशनमश्नन्ति, ते नः सर्वे गृहीता भवन्ति। एषैव स्थितिः। स य एष सोमग्रहः। अन्नं वा एष सः" (शत ४।६।५)

इन्द्र सहचारी अग्नि अन्नाद (अन्न खाने वाला) है। अतएव 'वह्नि हैष (अग्नि) भवतीन्द्र' (शत० २।३।२।११।) इन्द्राग्नी वा इदं सर्वम्' (शत० ४।२।२।१४) इत्यादिरूप से इन्द्राग्नी का साहचर्य्य बतलाया गया है। इन्द्रावच्छिन्न अन्नाद अग्नि में विष्णु के अन्नानायी—सूत्र से आकर्षित सोमान्न आहुत होता है। इस आहुति में ब्रह्मा विष्णु-इन्द्र, तीनों अन्नादयुक्त बनकर यज्ञस्वरूप में परिणत हो जाते हैं। अग्नि में सोम की आहुति होना ही यज्ञ है। एवं यज्ञ ही प्रत्येक पदार्थ का जीवन है। आयतनरूप से ब्रह्मात्मक ब्रह्मतत्त्व पर प्रतिष्ठित अन्न सम्बन्ध से रममाण, अतएव 'र' ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध इन्द्रावच्छिन्न अन्नादाग्नि में सर्वतः सुश्लोकमापनभूत, अतएव 'क' ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध विष्ण्वच्छिन्न अन्न सोम आहुत होता रहता है, तभीतक शान्तिलक्षण, किंवा ब्रह्मलक्षण यज्ञात्मा स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है, यही निष्कर्ष है। यज्ञात्मा में ब्रह्मा-विष्णुसहचारी सोम, इन्द्र-सहचारी अग्नि, तीनों की, किंवा पाँचों कलाओं की सत्ता है। ब्रह्मा यज्ञ के रक्षक हैं। शेष चारों यज्ञात्मक हैं। अतएव इन्द्र-अग्नि-विष्णु-सोम, इन चारों को ही यज्ञ शब्द से व्यवहृत किया गया है, जैसा कि निम्न लिखित निगमवचनों से स्पष्ट हो जाता है-

१—इन्द्रयज्ञः

१—'इन्द्रो यज्ञस्य नेता' (शत० ४।१।२।१५)
२—'तदाहु किं देवत्यो यज्ञ इति? ऐन्द्र इति ब्रूयात्'(गो०उ०३।१३)
३—'ऐन्द्रो वै यज्ञ' (ऐ० ब्रा० ६।११।)
४—'इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता' (शत० १।४।१।३३।)
५—इन्द्रो यज्ञस्यात्मा इन्द्रो देवता' (शत० ६।२।१।३३।)

—•—

२—अग्नियज्ञः

१—'शिर एतद्यज्ञस्य यदग्निः, (शत० ६।१।१।११।)
२—'अग्निर्वै यज्ञमुखम् (तै० ब्रा० १।६।१।८।)
३—'एष वै यज्ञो यदग्नि' (शत० २।१।४।१६।)
४—'अग्निरु वै यज्ञ' (शत० ३।२।३।६।)
५—'एष वै यज्ञस्य सुक्रतुर्यदग्नि' (शत० १।४। १।३५)

—•—

३–विष्णुयज्ञ
१—'यो वै विष्णुः स यज्ञः' (शत० ५।२।३।६।)
२—'यज्ञो वै विष्णुः शिपिविष्टः' (तां० ब्रा० ९।७।१०।)
३—'यज्ञो विष्णुः स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे' (शत० १।९।३।९)
४—'यज्ञो वै विष्णुः' (तै० १।२।१।१।)
५—'विष्णुर्वै यज्ञः' (ऐ० १।१५।)

४–सोमयज्ञ
१—'स (साम) तायमानो जायते। स यन् जायते, तस्माद् यज्ञः। यज्ञो ह वै नामैतद्यद् यज्ञ इति' (शत० ३।६।४।२१)
२—'आहुतिर्हि यज्ञः' (शत० ३।१।४।१।)
३—'हवींषि ह वाऽ आत्मा यज्ञस्य' (शत० १।६।३।११।)
४—'हविर्वै देवानां सोमः' (शत० ३।५।३।२।)
५—'सोमाहुतयो ह वाऽ एता देवानाम्' (शत० ११।५।६।६।)

५–ब्रह्मयज्ञ
१—'ब्रह्म हि यज्ञः' (शत० ५।३।२।४।)
२—'प्रजापतिर्वै यज्ञः' (गो० उ० २।१८।)
३—एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत् प्रजापतिः (शत० ४।३।४।३।)
४—'स वै यज्ञ एव प्रजापतिः' (शत० १।६।७।४।)
५—'प्राजापत्यो यज्ञः' (तै० ३।७।१।२।)

इन पाँच यज्ञों की समष्टि से ही यह यज्ञ 'पाङ्क्तो वै यज्ञः' के अनुसार पञ्चावयव कहलाया है। प्रत्येक पदार्थ में पिण्ड, और हृदय ये दो विभाग हैं। इस में पिण्ड में अग्नी षोमात्मक यज्ञ की प्रधानता है एवं हृदय में ब्रह्मा—विष्णु—इन्द्र प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार

यज्ञों का प्रथम विवर्त— प्रत्येक पदार्थ पञ्चसमष्टिरूप है। पाँच यज्ञवर्तों के एकीकरण से प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। इन पाँच वर्तों के रहते पर भी वस्तु एक ही कहलाती है, इस का कारण वही कूटस्थ आधार है। षट्पञ्चाङ्ग— अक्षराधार

पर प्रतिष्ठित है। इसी से यज्ञ के छिद्र आवृत हो रहे हैं। इसी अभिप्राय से 'अग्निरेणैव यज्ञस्य छिद्रमपि दधाति' (शां० ब्रा० ८।६।१२।) यह कहा जाता है।

आवपनकला ब्रह्ममूर्ति अन्तर्यामी की प्रधानता से मनोमयी है। अन्नादकला इन्द्रमूर्ति वैश्वानरात्मा की प्रधानता से वाङ्मयी है। एवं अन्नकला विष्णुमूर्त्तिसूत्रात्मा की प्रधानता से प्राणमयी है। इस प्रकार प्रकारान्तर से मनःप्राणवाङ्मय अव्यय पुरुष ही क्रमशः अन्तर्य्यामी सूत्रात्मा-वैश्वानरात्मा रूप में (अव्यक्त रूप में) परिणत होता हुआ आवपन-अन्न-अन्नाद बनकर यज्ञपुरुष बन रहा है। तभी तो 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्' को चरितार्थ होने का अवसर मिलता है। इसी आधार पर 'पुरुषो वै यज्ञः' इत्यादि रूप से उस सर्वाधार कालपुरुष को भी यज्ञपुरुष कह दिया जाता है। निष्कर्ष यही हुआ कि अव्यक्त स्वयम्भू ही आवपन-अन्न-अन्नादरूप में परिणत होता हुआ परमेष्ठी बन जाता है। इस परमेष्ठी का पहिला विवर्त यही उक्त लक्षण यज्ञात्मा है।

१ — १ ब्रह्मा, २ विष्णु, ३ इन्द्रः	—ब्रह्मा-अन्तर्यामी-तदवच्छिन्न आवपनम् (ख ब्रह्म)	"यज्ञात्मा स्वः"
२ — १ विष्णु, २ ब्रह्मा, ३ इन्द्रः	—विष्णु-सूत्रात्मा तदवच्छिन्न सोमोऽन्नम् (र ब्रह्म)	
३ — १ इन्द्र, २ ब्रह्मा, ३ विष्णु	—इन्द्र-वैश्वानरात्मा-तदवच्छिन्नाऽग्निरन्नादः (फ ब्रह्म)	

१—भावपनम्–मनोमयम्
२—अन्नम्–प्राणमयम्
३—अन्नाद –वाङ्मय

सोऽयं त्रिवृत्को यज्ञपुरुषो यज्ञात्मा

एक यज्ञात्मा का विवर्त्त ब्राह्मणश्रुति से 'संवत्सर' कहा जाता है। उपनिषच्छ्रुति में प्रकारान्तर से यज्ञात्मा का स्वरूप हमारे सामने रखता है। यह भी प्रसङ्गागत ज्ञात बना चाहिए। यत्-सूत्र-नियतिरूप अव्यक्त स्वयम्भू प्राणप्रधान होता हुआ असङ्ग है अतएव वह यज्ञमर्य्यादा से बाहिर है। दो, अथवा अनेक भौतिक तत्त्वों के रासायनिक संयोग से सिद्ध होने वाला अपूर्व यौगिक भाव ही यज्ञ है। रासायनिक संयोग ही विज्ञान भाषा में अन्तर्य्याम विधि समृद्धि आदि नामों से व्यवहृत हुआ है। असङ्ग भाव में यह संसर्ग लक्षण संमृद्धि सम्बन्ध सर्वथा अनुपपन्न है। इस वृत्ति का सब से पहिले आपोमय परमेष्ठी में ही उदय होता है। पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व भृगु–अङ्गिरोमय है। अङ्गिरा तेजस्तत्त्व है, भृगु स्नेह तत्त्व है। तेज-स्नेहमूर्त्ति भृग्वङ्गिरोमय इस अप् प्रकृति की मातरिश्वा नाम से प्रसिद्ध वराह वायु द्वारा पूर्व प्रकरण में प्रतिपादित स्थितिगत्यात्मक प्राणमय स्वायम्भुव यजुरग्नि में आहुति होती होने से जो एक अपूर्व भाव उत्पन्न होता है स्थितिगत्यात्मक तेज-स्नेहमूर्त्ति वही अपूर्वभाव यज्ञ, किंवा यज्ञात्मा है। आहुतिरूप होने से ही स्नेह-तेजो लक्षण यह अप्तत्त्व शुक्र नाम से व्यवहृत होता है। विश्वोपादानभूत आपोमय इसी शुक्रतत्त्व का निरूपण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

—ईशोपनिषत् ८ मं०।

यह अप्मूर्त्ति यज्ञात्मा योनि–रेत–रेतोधा भेद से त्रिकल है। तीनों की प्रतिष्ठा आत्मभूत त्रयीमूर्त्ति अव्यक्तात्मा है। त्रयीमूर्त्ति इस यज्ञात्मा का यजुरग्नि योनि है। पारमेष्ठ्य अप् तत्त्व रेत है, मातरिश्वा वायु रेतोधा है। यह अप्तत्त्व ही शुक्ररूप आहुतिद्रव्य है। इसी की

आहुति से यज्ञपुरुष का प्रादुर्भाव होता है। अधिदैवत (सूर्य्य), अधिभूत (पृथिवी) अध्यात्म, इन तीनों यज्ञों का प्रथम प्रवर्त्तक यही पारमेष्ठ्य यज्ञमूर्त्ति अथर्वा है, जैसा कि श्रुति कहती है—

> यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्य्यो व्रतपा वेन आजनि ।
> आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ॥
>
> —ऋक् सं० १ । ८३ । ५ ।

देवता विभाग के अनुसार स्वयम्भू ब्रह्मा हैं। यह "ब्रह्मनिःश्वसित" नाम से प्रसिद्ध अपौरुषेयलक्षण त्रयीवेद से युक्त होते हुए त्रयीमूर्त्ति हैं। त्रयीमूर्त्ति ब्रह्मा के सूक्ष्म वाक् भाग स ही परमेष्ठीरूप अथर्वा (ब्रह्मवेद) का सर्वप्रथम जन्म हुआ है, अतएव इसे ब्रह्मा का ज्येष्ठपुत्र माना गया है, जैसा कि मुण्डकश्रुति कहती है—

> ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।
> स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥१॥ मुण्ड०१ । १ । १ ।

उक्त त्रयीवेद के ऋक्-साम-यजुः, ये तीनों पद क्रमशः महोक्थ-महाव्रत पुरुष-नामा से प्रसिद्ध हैं। पुरुषरूप यजु के यत्, एवं जू, ये दो विवर्त्त हैं। यह यजु ही यजु है, वय है। इस का स्वरूप सम्पादन करने वाले छन्दोरूप, अतएव वयोनाथ नाम से प्रसिद्ध ऋक्-सामात्मक महोक्थ एवं महाव्रत हैं। ऋक्साम से अन्वित स्थितिगत्यात्मक यजुर्मूर्त्ति योनिरूप इसी ब्रह्माग्नि का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

> अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
> तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ (ईशो० ४ । ४।)

गतितत्त्व वायु है, स्थितितत्त्व आकाश है। 'यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्' (गी० ९ । ६।) के अनुसार आकाशवाय्वात्मक स्थितिगतिरूप यत् एवं जू अविनाभूत हैं। दूसरे शब्दों में दोनों तादात्म्यापन्न हैं। इसी लिए दो तत्त्व होने पर भी श्रुतिने— 'अनेजत्' 'एकम्' "मनसो जवीयः" यह कहा है। वायुरूप गतितत्त्व प्राण है, आकाशरूप स्थितितत्त्व वाक् है। यत्-प्राण-गति-वायु चारों एवं जू-वाक्-स्थिति-आकाश, ये चारों अभिन्नार्थक हैं। इन सर्वथा विरुद्ध दो भावों का मूल विद्या-अविद्यात्मक षोडशीपुरुष नाम से प्रसिद्ध वही अमृतात्मा है। षोडशी पुरुष के अव्यय भाग की आनन्दादि पाँच कलाएँ यत

खाई गई हैं। इन में आनन्द-विज्ञान-मनोमयमाग मुक्तिसाक्षी बनता हुआ स्थितिप्रधान विद्याभाग है। मनःप्राणवाङ्मयभाग सृष्टिसाक्षी बनता हुआ गतिप्रधान अविद्या (कर्म)-भाग है। मध्यस्थ, अतएव उभयात्मक (विद्या अविद्यात्मक) श्वोवसीयम् मन की कामना से मुक्तिसाक्षी भाग का अनुग्राहक बनता हुआ वह ग्रन्थियाँ खोलकर मुक्ति का अधिष्ठाता बनता है। एवं सृष्टिसाक्षी भाग का अनुग्राहक बनता हुआ ग्रन्थिबन्धन द्वारा वही सृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है। इस का विद्याभाग अमृततत्त्व है, यह सर्वथा स्थितिप्रधान है। अविद्याभाग मृत्युतत्त्व है, यह सर्वथा गतिप्रधान है।

इस में युक्त दो विरुद्ध भावों का आगमन कहाँ से हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर आप का सुपरिचित वही परात्पर है। अमृतात्मा का स्वरूप बतलाते हुए यह कहा गया है कि इस की १६ कलाओं में से सर्वाधारभूता तुरीय--अर्द्धमात्रिक--अमात्रिक आदि नामों से प्रसिद्ध परात्पर नाम की सोलहवीं निष्कलात्मिका कला है। यह निष्कल परात्पर रस—बल की समष्टि है। अमृतलक्षण रसतत्त्व सर्वथा शान्त होता हुआ स्थितिरूप है मृत्युलक्षण बलतत्त्व सर्वथा अशान्त होता हुआ गतिरूप है। यही तो मायोपाधिकृत सीमा से अपने यत्किंचित् प्रदेश से सीमित होकर पुरुष बन गया है। फलतः परात्पर के स्थिति-गति भावों का पुरुष में समन्वित होना सर्वथा अनिवार्य बन जाता है।

स्थितिगति लक्षणा विद्या-अविद्यात्मिका आनन्दविज्ञानघनमनोमयप्राणगर्भिता पुरुष-वाक् ही अथर्ववेद की मूलप्रतिष्ठा है--'वागृविज्ञातास्य वेदः'। वेदत्रयी के यजुर्भाग को ही पुरुष कहा गया है। इस का कारण यही है कि पुरुष (अमृतात्मा) के विद्या-अविद्या प्रधान स्थितिगति भावों का यत्-ज रूप से यजु में ही पूर्ण विकास होता है। इसी स्थिति गतिके साम-र्थ्य से पुरुष सदश होता हुआ किन्तु वस्तुतः पुरुषमर्यादा से बहिर्भूत होता हुआ भी यह यजु "पुरुष" शब्द से व्यवहृत कर दिया जाता है। इस प्रकार आत्मा के स्थिति गतिभावों का तत् बहिरङ्गप्रकृतिभूत वाङ्मूर्त्ति इस अव्यक्तात्मा स्वयम्भू में भी आगमन सिद्ध हो जाता है।

ऋक्साम में आपीत (घिरा हुआ) यजु ही उस स्वायम्भुव अव्यक्त ब्रह्मा की प्रतिष्ठा है। इसी वेदप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित होकर यह तत्त्व यजु के मनुष्यागार से (गतिधर्मा वायु के व्यापार से) जू के द्वारा (स्थितिरूप आकाश के द्वारा) 'अप एव ससर्जादौ' इस मानवीय सिद्धा-न्त के अनुसार सर्वप्रथम अप्तत्त्व ही उत्पन्न करता है। जू का आकाश-कहा गया है। रस-बल की अनुकम्पा से (तारतम्य से) यह आकाश भी आगे जाकर अमृत-मृत्यु भेद से दो भाग

में विभक्त हो जाता है। इन दोनों में अमृताकाश 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है, एवं मर्त्याकाश वाक् किंवा इन्द्रपत्नी नाम से व्यवहृत होता है। अप्तत्त्व इसी मर्त्या वाक् से उत्पन्न होता है। अमृता वाक् केवल आधारभूमि है। सांख्यदर्शन शून्यप्रदेश को आकाश मानता है। यदि वह "शून्यम्" का वैज्ञानिक तात्पर्य समझता हुआ आकाश को शून्य कहता है तब तो कोई क्षति नहीं है। परन्तु ऐसा न समझकर यदि वह शून्य शब्द का "रिक्तस्थान-बोधक" यह अर्थ समझता है, तो यह उस की सर्वथा भ्रान्ति है। इसी भ्रान्ति से भ्रान्त बनकर श्रौतसिद्ध आकाश तत्त्व को तत्त्वमर्यादा से बहिष्कृत कर रक्खा है। विज्ञानप्रेमियों का विश्वास आज हम ठीक इस के विरुद्ध विषय की ओर कराना चाहते हैं। उन्हें विश्वास करना चाहिए कि, आकाश वास्तव में शून्य है। परन्तु इस शून्य शब्द का अर्थ रिक्त स्थान नहीं, अपितु पदार्थतत्त्व ही शून्य है। सर्वत्र व्याप्त प्राणमय इन्द्र तत्त्व ही शून्य है। इसी शुना इन्द्र का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है–

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ ।

शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ॥ ऋक्० ३ । ३० । २२

इसी ऋक् (मन्त्र) श्रुति के आधार पर निम्न लिखित ब्राह्मण वचन प्रतिष्ठित हैं–

१—"वाग्वा इन्द्रः" (कौ० २ । ७ ।)
२—"वागस्येन्द्री" (पं० ब्रा० २ । २६ ।)
३—"सा या सा वाक्-असौ स आदित्य" (शत० १० । ५ । १ । ४१ ।)

सचमुच इस शुन 'इन्द्र' से कोई भी स्थान रिक्त नहीं है। इसी अभिप्राय से "नेन्द्रादृते पवते धाम किंचन" (ऋक्० ९ । ६९ । ६ ।) यह कहा जाता है। अमृतावाक् रूप शुना इन्द्र से नित्य सम्बद्ध मर्त्यावाग्रूप इन्द्रपत्नी ही आगे आकर पञ्चतन्मात्रा की आधारभूमि बनती है। इन में पहिली शब्दतन्मात्रा है इस की विकासभूमि नभमयी यही मर्त्यावाक् है। इसी रहस्य को समझाने के लिए 'वेदवाग्भ्यः' यह न कहकर 'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे' (मनु १ । २१) यह कहा गया है। शब्दतन्मात्रा का जनक मर्त्याकाश मर्त्याकाशरूपा इन्द्र-पत्नी की प्रतिष्ठा अमृताकाशरूप शुना इन्द्र यह सब कुछ सिद्ध होने पर भी आकाश अपदार्थ ? कितनी भ्रान्ति ! कैसा अज्ञान !! कैसा दुराग्रह !!! । यदि आकाश कोई पदार्थतत्त्व न होता, तो

'मनोमयः, प्राणशरीर, भारूप, आकाशात्मा" इत्यादि श्रुतियों का समन्वय कैसे संभव था? जिस तत्त्व को रिक्तार्थ का वाचक समझते हुए 'शून्य' कहते हैं, वह 'शूने (इन्द्राय) हितम्' इस निर्वचन से सम्बन्ध रखता हुआ तत्त्वविशेष का वाचक बन रहा है। जिस अन्तरिक्ष में रखा इन्द्र व्याप्त है, वही विज्ञानभाषा में शून्य कहलाया है। कहना यही है कि, यह वाक्तत्त्व सर्वथा स्थिर है। यही ध्रु कहलाया है, जैसा कि श्रुति कहती है—

"ध्रुवासि—इति" (यजु ४। १७।) "एतद्ध वा अस्याः (वाचः) एक नाम" (शत०)

दूसरा धन तत्त्व प्राण है। यही गतितत्त्व है। इस प्रकार विद्याकर्म्मात्मक अव्ययपुरुष का विकास आगे जाकर स्थितिगत्यात्मक यजुरूप में होता है। यह यजु साक्षात् अग्नि (प्राणाग्नि) है, पुरुषकर्म्मावच्छिन्न होने से पुरुष है। इसी के वाक्भाग से तो अप्तत्त्व उत्पन्न हुआ है—'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात् वागेव सासृज्यत' (शत ६। १। १। ९।) यजु के गतिभाव का विकास यहाँ तपोरूप से हुआ है, एवं स्थितिभाव का विकास स्नेहरूप से हुआ है। स्नेह संकोचधर्म्मा होता हुआ स्थितिप्रधान है, तेज विकासशील बनता हुआ गतिप्रधान है। इस प्रकार परात्पर संस्था से आरम्भ कर इस आपोमय परमेष्ठी संस्थापर्यन्त रस-बल का ही भिन्न भिन्न रूप से विकास हुआ है। स्थानभेद से एक ही के नाम-रूप कर्म्मों में अन्तर हो गया है। जैसाकि तालिका से स्पष्ट है—

१—रसः २—बलम्	—परात्परो विश्वातीतो निर्धर्म्मकः १
१—विद्या २—अविद्या	—षोडशीपुरुषो विश्वेश्वरः सर्वधर्म्मोपपन्नः २
१—स्थितिः २—आगतिः	—अव्ययकात्मा अक्षरश्वर प्राकृतात्मा ३
१—स्नेहः २—तेजः	—पद्मात्मा प्रतिमेश्वर प्राकृतात्मा ४

वाक् से उत्पन्न अपूतत्त्व योषा है, स्त्री है। जहां रस का आगमन होता है, वह स्त्री है। जो रस का प्रदाता है, वह पुरुष है। जहां रस प्रतिष्ठित रहता है, वह आयतन पुर है। रसघर्षण करने वाला अग्नि वृषा है, यही पुरुष है। रसाहुति को अपने में संग्रह करने वाला (स्त्यै-ष्ट्यै शब्दसंघातयोः) तत्त्व स्त्री है। अग्नि पानी में मिल जाता है, पानी खोलने लगता है। परन्तु पानी कभी अग्नि में नहीं मिलता। यदि पानी का आक्रमण निर्बल होगा, तो अग्नि उस बाष्परूप में परिणत कर समुत्क्रान्त कर देगा, यदि पानी प्रबल होगा तो वह अग्नि को बुझा देगा पानी अग्नि में प्रवेश कर जाय, यह सर्वथा असम्भव है। अग्निरस का ही प्रवेश अप् में हो सकता है अतएव यही वृषा है। पुर आयतनरूप होने से आवपन बनता हुआ पूर्व कथनानुसार 'ख' ब्रह्म है अग्नि भोक्ता बनता हुआ अन्नाद रूप से 'र' ब्रह्म है, एवं अपूतत्त्व रमण साधन होने से अन्नात्मक 'क' ब्रह्म है। समष्टि ही 'श' ब्रह्म है।

१—यत्र रसागमन–सा स्त्री ⟶ योषा २—यो रसः प्रदाता–स पुरुषः ⟶ वृषा ३—यत्र रस प्रतिष्ठित–तत् पुरम् ⟶ आयतनम्	दाम्पत्यभाव

—०—

१—स्त्री—आपः—अन्नब्रह्म ⟶ क ब्रह्म २—पुरुष—पशुरग्नि–अन्नादब्रह्म ⟶ र ब्रह्म ३—पुरम्—आकाशः—आवपनब्रह्म ⟶ खब्रह्म	श ब्रह्म यज्ञात्मा

—०—

उपयुक्त प्राणमयी वाक से (यजु स) उत्पन्न आप में भी 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते' इस न्याय के अनुसार कारणरूप यजु के उन्हीं दोनों तत्त्वों का (स्थिति–गतिभावों का) स्नेह–तेजोरूप से विकास होता है, जैसा कि पूर्व में ही कहा जा चुका है। तेजस्तत्त्व अङ्गिरा है, स्नेहतत्त्व भृगु है। समष्टि अपूतत्त्व है। 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' सिद्धान्त के अनुसार त्रयीप्रधान अव्यक्तात्मा वाक् भाग से भृग्वङ्गिरोमय अपूतत्त्व को उत्पन्न कर स्वयं उस के गर्भ में प्रविष्ट हो जाता है। इसी मत्विज्ञान को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

> आपो भृग्वङ्गिरो रूपमापोभृग्वङ्गिरोमयम्।
> अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरस श्रिताः ॥ (गो० पू० १।३९।)

निधानार्थक 'तिज' धातु का अर्थ है-तीक्ष्णीकरण। स्वगति-धर्म्म से वितायमानधर्म्मा अग्नि उत्तरोत्तर केन्द्र से परिधि की ओर सूक्ष्मरूप में परिणत होता हुआ जाया करता है। ठीक इस के विपरीत स्वरूप सोम स्थितिभावयुक्त होता हुआ उत्तरोत्तर परिधि से केन्द्र की ओर आता हुआ संकुचित होता जाता है। इस प्रकार अपूर्वत्व में मूलभूत स्थितिगतितत्त्व यजु के धर्म्म विस्पष्ट हो जाते हैं। उक्त आत्मविवर्तो में परात्पर कालपुरुष नाम से प्रसिद्ध है। षोडशी पुरुष महापुरुष नाम से, ऋक्सामावच्छिन्न यजुर्मूर्त्ति अव्ययात्मा वेदपुरुष नाम से, एवं परात्पर-षोडशी-अव्ययात्मगर्भित, तदवच्छिन्न अपूर्वत्व यज्ञपुरुष नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि आगे के परिलेख से स्पष्ट हो जाता है। विश्वविद्यात्मिका ओङ्कारविद्या के अनुसार परात्पर-षोडशी-अव्यय-यज्ञात्मा, इन चारों का एक स्वतन्त्र विभाग है। यही "परब्रह्म" नाम से प्रसिद्ध है। एवं पृथिवी चन्द्रमा का विभाग अपरब्रह्म नाम से व्यवहृत होता है। मध्यस्थ सूर्य्य दोनों का अनुग्राहक बनता हुआ परापरब्रह्म है। चतुष्कल परब्रह्म की परात्पर कला अर्द्धमात्रा है। षोडशीपुरुष अकार है, अव्ययात्मा उकार है, यज्ञात्मा मकार है। समष्टि ओङ्कार है।

१ अर्द्धमात्रा — परात्परः

चत्वारः पुरुषा इति भाष्य (ए० भा०)

रसः (स्थितिप्रधानः) | बलानि (गतिप्रधानानि

सोऽयं कालपुरुषो विश्वातीतः [१]

२ अकार — षोडशीपुरुष

विद्या — आनन्द-विज्ञान-मनः अक्षरः (स्थितिप्रधानः)

अविद्या — मनः-प्राण-वाक् आत्मक्षरः (गतिप्रधानः)

सोऽयं महापुरुषो विश्वरू [२]

३ उकार ... अव्यक्तात्मा

यत् (स्थिति) | जू (गति) — सोऽयं वेदपुरुषो विश्वस्रष्टा [३]

४ मकार — यज्ञात्मा

भृगु (स्थितिप्रधानः) | अङ्गिरा (गतिप्रधानः) ...सोऽयं यज्ञपुरुषो विश्वप्रकृतिः [४]

स्वयम्भू प्राणमय होने से असङ्ग बनता हुआ यज्ञमर्यादा से बहिर्भूत था, परमेष्ठी इसी अपूतत्त्व के कारण ससङ्ग बनता हुआ यज्ञ का प्रथम प्रवर्त्तक बन जाता है जैसा कि—"पशीरपर्वा०" इत्यादि रूप से प्रकरण के आरम्भ में ही कहा जाचुका है। स्वायम्भुवी प्राणसृष्टि असंगभाव की प्रधानता से "मानसीसृष्टि" कहलाती है यही भावसृष्टि है। ऋषि-मनु आदि सृष्टियों का इसी भावसृष्टि में अन्तर्भाव है। पारमेष्ठिनी यज्ञसृष्टि योषावृषात्मक स्त्रीपुरुष-तत्त्व के मिथुनभाव से सम्बन्ध रखने के कारण "मैथुनीसृष्टि" कहलाती है। 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा' के अनुसार यज्ञसृष्टि ही प्रजासृष्टि की मूलप्रवर्त्तिका है। इस यज्ञप्रजापति का स्वरूप ऋक्-सामादच्छिन्न यजुरग्नि पर ही प्रतिष्ठित है। त्रयीतत्त्व-अपूतत्व का समन्वितरूप ही यज्ञ है। इसी आधार पर-'सैषा त्रयी विद्या यज्ञः' [शत० १। १। ४। ३।] के अनुसार त्रयीविद्या को यज्ञ कहा गया है। आपोमय परमेष्ठी में प्रतिष्ठित दूसरे शब्दों में अपप्रकृतिक परमेष्ठी की प्रतिष्ठारूप विष्णु के साथ पारमेष्ठ्य यज्ञ का तादात्म्य सम्बन्ध है। विष्णु ही अपनी आदानात्मा-शक्ति से अन्नाहुति [सोमाहुति] का सम्पादन बनते हुए, अग्नीषोमात्मक यज्ञ का सम्पादन करते हैं। इसीलिए विष्णु को भी यज्ञ कहा जाता है। इस प्रकार विष्णु-त्रयीविद्या-आप-अङ्गिरा-भृगु आदि के समन्वय से निष्पन्न होने वाला यज्ञ श्रुतियों में तत्तन्नामों से प्रसिद्ध हो रहा है, जैसा कि निम्न लिखित श्रुतिप्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है-

यज्ञ के विविध विवर्त—

१—अथर्वसम्बन्ध से यज्ञनिरुक्ति—

आदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वय इद्धाग्नयः शम्या ये सुकृत्यया।
सर्वं पणेः समविन्दन्त भोजनमश्वावन्तं गोमन्तमा पशुं नरः॥ १॥
अथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि।
आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे॥ २॥
(अथर्व सं० २। ७४। ४ ५)

२—अप्सम्बन्ध से यज्ञनिरुक्ति—

१—"आपो वै यज्ञः" (ऐ० २। २०।)।
२—"आपो हि यज्ञः" (शत ३। १। ४। १५)
३—"रेतो वा आपः" (ऐ० १। ३।)
४—"योषा वा आपः" (शत १। १। १। १८।)

३—वेदसम्बन्ध से यज्ञनिरुक्ति—

१—"सैषा त्रयीविद्या यज्ञ" [शत १।१।४।३।]

२—"तद्यत् तत् सत्यं त्रयी सा विद्या" (शत ६।१।१।१८।)

३—"ते देवा अब्रुवन्-यज्ञं कृत्वा- (,,)
सत्यं तनवामहै—इति"।

४—परमेष्ठीसम्बन्ध से यज्ञनिरुक्ति—

"तत एत परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपश्यद्यद्दर्शपूर्णमासौ।
ताभ्यामयजत, स आपोऽभवत्। परमा वा एतद् स्थाना
दूर्ध्वेति यदिदव। तस्मात् परमेष्ठी नाम"। (शत ११।१।६।१६॥

५—महत्सम्बन्ध से यज्ञनिरुक्ति—

१—"एष ह वै महान् देवो यद्यज्ञ" [गो पू. २।१६।]

१—"यज्ञो ह वै देवानां मह" [शत १।६।१।११।]

यह है आधिदैविक पारमेष्ठ्य यज्ञ का संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन। आधिदैविक संस्था में जहां यह यज्ञतत्त्व "परमेष्ठी" नाम से प्रसिद्ध है, वहां अंशरूप से अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित वही तत्त्व "यज्ञात्मा" नाम से व्यवहृत होता है। शारीरयज्ञ के द्वारा ही शारीर—धातु प्रतिष्ठित रहते हैं। यज्ञ से शारीर-धातुओं का निर्माण होता है। आध्यात्मिकसंस्था में जब तक इस यज्ञात्मा की सत्ता रहती है, तभी तक कर्मात्मा [चिदात्मा-षोडशी पुरुष] चिदाभास एवं चिदंशरूप से शरीरपुर में प्रतिष्ठित रहता है। कारण स्पष्ट है। पाञ्चभौतिक शरीर 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" (छां० उप०) के अनुसार आपोमय है। यद्यपि शरीर में पाँचों ही महाभूतों की सत्ता है, तथापि 'व्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्' [शा सू. ३।१।] इस वेदान्तसूत्र-सिद्धान्त के अनुसार यहां एम्मक मूर्तों में अप्तत्त्व ही अधिक मात्रा में रहता है। आपोमय होता हुआ शरीर अग्नीषोमात्मक है। इस की प्रतिष्ठा तदात्मक पारमेष्ठ्य यज्ञ ही है। अग्नीषोमय इसी यज्ञात्मा के सम्बन्ध से दूसरे चिदात्मा का विकास होता है।

आध्यात्मिक यज्ञात्मा—

---

*षोडशी पुरुष नाम से प्रसिद्ध अव्ययात्मा के प्रधानत्व से चिदात्मा चिदाभास चिदंश, ये तीन विवर्त माने गए हैं। इन तीनों का दिग्दर्शन आगे की 'प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्' में कराया जायगा।

उपर्युक्त पञ्चतत्त्व की चिदात्मा ही योनि है। महत्तत्त्वरूप इसी यज्ञ के आधार पर चिदा त्मा चिदाभास रूप से प्रतिष्ठित रहता है। इस यज्ञात्मा के द्वारा ही जीवात्मस्वरूप-समर्पक

यज्ञ का त्रैविभाग— चिदाभास स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित रहता है। जिस दिन शारीर यज्ञ विच्छिन्न हो जाता है तत्क्षण चिदाभास उत्क्रान्त हो जाता है।

यज्ञात्मा का भृगु भाग घन—तरल—विरल भेद से तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। अप् वायु—सोम की समष्टि ही 'भृगु' है—'वायुरापश्चन्द्रमा इत्येते भृगवः" (गो० ब्रा पू०— २।८।(६)। अग्निरोषधिछिन्न त्रिधा विभक्त यह भृगु ही चिदाभास की प्रधान प्रतिष्ठा है। अतएव चिदाभासरूपा जीवसृष्टि आप्या—वायव्या—सौम्या भेद से तीन ही मार्गों में विभक्त है। पानी—हवा—सोम, तीन ही वस्तु जीव बनते हुए चित् के ग्राहक है। जल में रहने वाले वृक्ष-वनस्पति ओषधि-मत्स्यादि सम्पूर्ण जीव आप्य हैं। पानी ही इन की जीवनसत्ता का मूलाधार है। यदि इन्हें पानी से पृथक् कर दिया जाता है तो इन का तत्काल निधन हो जाता है। भू पृष्ठ से सम्बन्ध रखने वाले ओषधि—वनस्पति—कृमि—कीट—पक्षी-मनुष्यादि सम्पूर्ण जीव वायव्य हैं। वायु ही इन का आत्मा है दूसरे शब्दों में वायु ही इन की जीवनसत्ता की मूल भित्ति है। बिना वायु के ये क्षणमपि प्राणधारण नहीं कर सकते। सांख्य में 'सत्त्वविशालसर्ग' नाम से प्रसिद्ध आठ प्रकार के चान्द्रदेवता सौम्य जीव हैं। सोम ही इन का जीवन है। चन्द्र मण्डल को छोड़कर ये कभी जीवित नहीं रह सकते। बस जीवसृष्टि के ये ही तीन मुख्य विवर्त हैं। अप—वायु—सोमात्मक भृगु ही महान, किंवा महानात्मा है। षोडशी पुरुष इसी में गर्भ धारण करते हैं, जैसा कि स्मृति कहती है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ १ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ २ ॥ (गीता १४।३,४)

गर्भीभूत चिदात्मा का यज्ञमूर्ति महान् के साथ अन्तर्याम (अविनाभाव) बहिर्याम (यामसम्बन्ध) भेद से दो प्रकार से सम्बन्ध होता है। अन्तर्याम सम्बन्ध से स्वयं महान महा

त्रयीमय त्रिगुणात्मा— नात्मा किंवा प्रकृतात्मा की अपेक्षा से महान् [illegible] कहलाने लगता है। अर्थात् अन्तर्याम सम्बन्ध से महन्मय [illegible] वही चिदा

त्मा महानात्मा का स्वरूप समर्पक बनता है। एवं बहिर्याम सम्बन्ध से [illegible] । से युक्त

रहता हुआ स्वस्वरूप से (स्वचिद्भाग से) चिदात्मा नाम से प्रसिद्ध होता है। इन में पारमेष्ठ्य महानात्मा के साथ सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी, तीनों क्रमश दर्शपूर्णमास करते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि इस महान् में अप्–वायु–सोम नाम के तीन तत्त्व हैं। इन तीनों में से अप् का अनुग्रह पृथिवी पर होता है। वायु का सम्बन्ध अन्तरिक्षविहारी चन्द्रमा के साथ है। एवं सोम का प्रधान सम्बन्ध सूर्य्य के साथ है। इन तीनों तत्त्वों के आधार पर सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी, इन तीनों के दर्शपूर्णमास यज्ञ से महानात्मा में सत्त्व–रज–तम, इन तीन गुणों का उदय होजाता है। चन्द्रमा एवं पृथिवी दोनों को अपने बृहत्पृष्ठ में प्रतिष्ठित रखता हुआ, इन्हें साथ लेता हुआ सूर्य्य महत्परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगाता हुआ अपने साथ ही में स्वावयवभूत पृथिवी चन्द्रमा के गुणात्मक अंशों की उस परमेष्ठी में आहुति देता रहता है। इसी प्रक्रिया को 'दर्शपूर्णमासयज्ञ" कहा जाता है। सोममय सूर्य्यभाग सत्त्वभाव का, वायुमय चान्द्रभाव रजोभाव का एवं आपोमय पार्थिवभाव तमोभाव का प्रवर्त्तक है। यों समष्टिरूप-सूर्य्य ने परिक्रमा लगाना आरम्भ किया। पारमेष्ठ्य महान् का सोमप्रधान अंश सूर्य्य से अनुगत होता हुआ, सौरज्योति से युक्त होता हुआ 'सत्त्व' रूप में परिणत होजाता है। यही पौर्णमास (पूर्णिमा) है। सोममय महान् का यह सत्त्वभाग सदा प्रकाशित रहता है। उधर पृथिवी सम्बन्ध से महान् का आपोमय भाग अप्रकाशित होता हुआ तमोगुणक बन रहा है। अरवमाहिम्यसम्बन्धात् वरुणप्रधान अप्–तत्त्व के साथ इन्द्रप्रधान ज्योतिर्मय सौरप्रकाश का सम्बन्ध नहीं हो सकता अतएव यह भाग सर्वथा अप्रकाशित रहता हुआ 'तमोगुण' नाम से प्रसिद्ध होता है। यह दर्शरूप 'अमावास्या' है। सत्त्व–तम की सन्धि में चन्द्रमा के सम्बन्ध से महान् का साम्य वायुमय भाग प्रकाशिताप्रकाशित रहता हुआ रजोमूर्त्ति बना हुआ है। इस प्रकार अप्तत्त्वानुगृहीत पार्थिवभाग के सम्बन्ध से अप्प्रधान वही महान् तमोमूर्त्ति, वायु–तत्त्वानुगृहीत चान्द्रभाग के सम्बन्ध से वायुप्रधान साम्य वही महान् रजोमूर्त्ति एवं सोमतत्त्वानुगृहीत सौरप्रकाश सम्बन्ध से सोमप्रधान वही महान् सत्त्वमूर्त्ति बनता हुआ त्रिगुणमूर्त्ति बन रहा है – 'त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः'।

त्रिगुणो महानात्मा—
- सूर्य्य—सोमेनानुगृहीत —सोमप्रधान स एव महान् सत्त्वमूर्त्ति
- चन्द्रमा—वायुनानुगृहीत —वायुप्रधान स एव महान्–रजोमूर्त्ति
- पृथिवी—अद्भिरनुगृहीत —अप्प्रधान स एव महान्–तमोमूर्त्ति

——•——

इन्हीं सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी भागों के सम्बन्ध से महान् में आकृति-प्रकृति-अहंकृति, इन तीन भावों का उदय होता है। सूर्य्य के सम्बन्ध से सत्त्व द्वारा महान् में अहंभाव का उदय होता है। चन्द्रमा के सम्बन्ध से रजो द्वारा प्रकृति भाव का उदय होता है। एवं पृथिवी के सम्बन्ध से तमोभाग द्वारा आकृतिभाव का उदय होता है। इस प्रकार सूर्य्य—चन्द्रमा—पृथिवी इन तीनों के दर्शपूर्णमास यज्ञ से महानात्मा त्रिगुण—प्रकृतित्रय-विशिष्ट बन जाता है। इस के 'यज्ञ—चित्—महत्' ये तीन विवर्त्त हैं। इन तीनों विवर्त्तों में से चित्-एवं यज्ञ, इन दोनों का (अध्यात्मसंस्था के साथ) सम्बन्ध परमेष्ठी के द्वारा ही होजाता है। परन्तु महदंश का सम्बन्ध साक्षात् रूप से न होकर चन्द्रमा के द्वारा ही होता है, जैसा कि उसी प्रकरण में स्पष्ट होजायगा। इसीलिए आत्मगतिप्रधान इस आत्मविज्ञानोपनिषत् में हमने यज्ञात्मा—चिदात्मा—के। पारमेष्ठ्य माना है, एवं गुण प्रकृतिविशिष्ट महान का सम्बन्ध चन्द्रमा के साथ बतलाया है।

१—भाः }
२—वायुः } — 'भृगु' 'महान्'
३—सोमः }

१—आपः-तमः-दर्शयज्ञः }
२—वायुः-रजः-उभयसमष्टिः } गुणत्रयविशिष्टो महानात्मा
३—सोमः-सत्त्वम्-पौर्णमासयज्ञः }

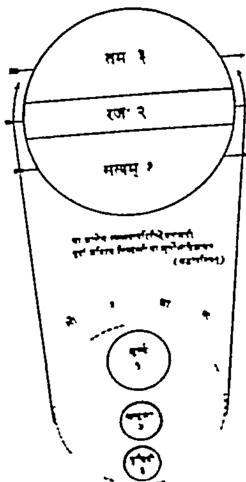
१—आपः—आकृतिः-पृथिवीसम्बन्धात्। }
२—वायुः-प्रकृतिः-चन्द्रगतप्राणत्रयसम्बन्धात् } —प्रकृतित्रयविशिष्टो महानात्मा
३—सोमः—अहंकृतिः-सूर्य्यसम्बन्धात् }

— —

पारमेष्ठ्य तत्त्व अधिदैविक होता हुआ माना है। अतएव तत्प्रधान अव्यय यज्ञात्मा को हम अवश्य ही 'प्राज्ञात्मा' कहने के लिए तय्यार हैं। देवता—भूत—पशु—लोक—

सम्पूर्ण भूतप्रपञ्च इसी आधिदैविक यज्ञात्मा [आपोमय परमेष्ठी)
अध्यात्मसंस्था १—
के आधार पर प्रतिष्ठित है। एवमेव इन्द्रियाँ-भूतपञ्च—कर्मणों

मादि—शिरोगुहा—उरोगुहा—उदरगुहा—वस्तिगुहा—इत्यादि सम्पूर्ण आध्यात्मिक।


तम १
रज २
आप
वायु
माम
आकृति
प्रकृति
अहंकृति

आध्यात्मिक पितृगर्भित महात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित है। इस के 'पितृ—यम—मदन' इन तीन विवर्तों में पितृात्मा—महात्मा के साथ श्राद्ध का कोई सम्बन्ध नहीं है। श्राद्ध का सम्बन्ध है—एकमात्र महदंश के साथ, जैसा कि इसी प्रकरण में स्पष्ट होजायगा। पितृात्म-महात्म भेद से द्विरूप पारमेष्ठ्य महात्मा का यही संक्षिप्त निदान है। अब प्रसंगागत विज्ञानात्मोपनिषत् की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

इतिश्च पितृ-यम-मदन त्रिकलात्म परमेष्ठी, महात्मा का

व्याख्याता द्रष्टव्य ।

महात्मा एवं श्राद्धविज्ञानान्तर्गत—"अमृतात्मविज्ञानोपनिषद्" प्रथमार्या

इत्यमृतात्मविद्यायां महात्मविज्ञानोपनिषत् तृतीया

[४] {१—अधिदैवतम् → सूर्य [पूर्णमदः] / २—अध्यात्मम् → बुद्धि [पूर्णमिदम्]} [२]

अथ

श्राद्धविज्ञानान्तर्गत–'आत्मविज्ञानोपनिषदि' प्रथमाश–

"विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्"–चतुर्थी

४

विज्ञानात्मा–प्राकृतात्मा–सूर्य्यः (२)

१—देवदेवताविभूतिः (दैवात्मा)
२—नित्यविज्ञानविभूति [विज्ञानात्मा]

सोऽयं द्विकलो विज्ञानात्मा–प्राकृतात्मा वा सूर्य्य

१—व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥
२—दूरेण ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता २ अ । ४१ । २ अ० । ४९ ।

(४) विज्ञानात्मस्वरूपपरिचय —(विद्या-अविद्यामयो विज्ञानात्मा)

१—प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुर्न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे ।
बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आ विवेश ॥ ऋक् मं० ८।१०१।१४।

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं विश्वजिद्धनजिदुच्यते बृहत् ।
विश्वभ्राड् भ्राजो महि सूर्यो दृश उरु पप्रथे सह ओजो अच्युतम् ॥ ऋक् १०।१७०।३

३—विभ्राजञ्ज्योतिषा स्वरगच्छो रोचनं दिवः ।
येनेमा विश्वा भुवनान्याभृता विश्वकर्मणा विश्वदेव्यावता ॥ ऋक् १०।१७०।४।

४—विभ्राड् बृहत्सुभृतं वाजसातमं धर्मन्दिवो धरुणे सत्यमर्पितम् ।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहन्तमं ज्योतिर्जज्ञे असुरहा सपत्नहा ॥ ऋक् १०।१७०।२।

५—एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टः ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ श्वे० उ० ६।१५।

६—यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः ।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी ॥ श्वे० उ० ४।१८।

७ हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ यजुःसं० १३।४।

८—विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र ।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेश ॥ प्रश्नो० ४।११।

९—मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥ मुण्डको० २।२।७।

१ —हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ ईशोप० १५।

ॐ विज्ञानात्मब्रह्मणे नमः ॐ

विज्ञानात्मा—सूर्य्य.

'विज्ञानं ब्रह्मे'त्युपास्व

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥—श्वे० उ० ४ । १२
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥ श्वे० उ० ३ । ३ ।
सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥ श्वे० उ० ३ । १७ ।
नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥ श्वे० उ० ३ । १८ ।
अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते ।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः ॥ श्वे० उ० २ । ६ ।
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ कठोप० १ । ३ । ९ ।

पारमेष्ठ्य 'यज्ञात्मा' की मूलप्रतिष्ठा भृग्वङ्गिरोमय 'आप' तत्त्व है, जैसा कि पूर्वप्रकरण में विस्तार **परमेष्ठी का अपेक्षाकृत अव्यक्तत्व**—से बतलाया जा चुका है। भृगु, तथा अङ्गिरा, इन दोनों तत्त्वों में से 'अङ्गिरा' तत्त्व का विकास ही 'सूर्य्य' है। आपोमय पारमेष्ठ्य मण्डल के गर्भ में प्रतिष्ठित बीजावस्थापन्न अङ्गिरोऽग्नि ही आगे जाकर संवरण-सवस्याग्निलक्षण 'यज्ञवराह' नामक पारमेष्ठ्य वायु के व्यापार से संघातावस्था में परिणत होता हुआ 'सूर्य्य' रूप से प्रकट हो जाता है। यद्यपि विश्व में ज्ञानज्योतिर्गर्भित स्वयम्भू सर्वथा अव्यक्त है। परमेष्ठी यद्यपि अव्यक्त-स्वयम्भू की अपेक्षा व्यक्त है, परन्तु परमेष्ठी में भूतज्योतिर्लक्षणा रूप-(प्रकाश-उजेला)-ज्योति का विकास नहीं है अतएव 'रोदसीत्रिलोकी' नाम से प्रसिद्ध सूर्य्यत्रिलोकी (सौरत्रिलोकी) की अपेक्षा से परमेष्ठी अव्यक्त ही माना जायगा। रूपज्योतिर्लक्षणा भूतज्योति-स्वरूप से व्यक्त होने वाले जितने भी पदार्थ हैं, उन सब में सूर्य्य ही अग्रणी माना गया है। अमृतात्मक तम को छिन्न भिन्न करने वाला अव्यक्त स्वयम्भू था, मृत्युभावरूप तम को दूर करने वाला परमेष्ठी था, किन्तु 'अन्धकार' नाम से प्रसिद्ध रात्रितम को दूर कर विश्वान्तर्गत पदार्थों को रूपप्रकाश से व्यक्त करने

...ष्य व्यक्तमूर्ति यही भगवान् अंशुमाली हैं। रोदसी त्रिलोकी में प्रतिष्ठित रहने वाली पर-अपर प्रजा के ...न्न-प्रतिष्ठा-परायण यही हैं। दूसरे शब्दों में अनुपास्य तम को दूर करने वाले अव्यक्त स्वयम्भू थे, एवं ...निरुक्त तम को हटाने वाले यही सहस्रांशु हैं। इसपर प्रजापति (षोडशी पुरुष नामक अमृतात्मा) की ...न्तकला सूर्य्य द्वारा ही सर्वत्र व्याप्त होती है, जैसा कि मन्त्रश्रुति कहती है—

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेष विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥

ऋक् १।१६४।२१।

'धियो यो नः प्रचोदयात्' के अनुसार यही ज्ञान के प्रचोदयिता (प्रेरक) हैं। अध्यात्मसंस्था में ...ज्ञानस्य हृदयम्— जीवप्रजापति (कर्मात्मा) जो काम अपनी बुद्धि से लेता है अधिदैवत संस्था में ...र प्रजापति (कर्मसाक्षी) वह काम सूर्य्य से लेते हैं। दूसरे शब्दों में बुद्धि आध्यात्मिक संस्था का सूर्य ...र सूर्य्य अधिदैवत संस्था की बुद्धि है। रोदसीत्रैलोक्यात्मिका द्यावापृथिवी के अधिष्ठाता, विश्वकेन्द्रस्थ ...र आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्" (शत ६।१।२।१४) इत्यादि के अनुसार "हृदय" नाम से ...त पदार्थों की अपेक्षा सर्व प्रथम विश्व में व्यक्त होने के कारण 'अग्रज' नाम से प्रसिद्ध इसी सूर्य्य-प्रजापति का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि कहते हैं—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ यजुःसं १३।४।

...म-विज्ञान के अनुसार सूर्य्य '१-इन्द्र, २ धाता, ३ भग, ४-पूषा ५ मित्र, ६-वरुण ...पृथिवी— ७-अर्यमा, ८-अंशु ९ विवस्वान्, १०-त्वष्टा, ११-सविता, ...देवप्राणों का समुचित रूप माना गया है तथापि प्रधानदृष्टि से सूर्य्य १-सोम, ... विभूतियों के आधार पर ही स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है। प्रत्यक्ष में भी सूर्य्य में ...ैं। सूर्य्यपिण्ड [सूर्य्यगोलक] भूतमय है। यही "सोम" तत्त्व है। इसे ही ...ाता है। रश्मिमण्डल में व्याप्त प्रकाश का अधिष्ठाता तत्त्व प्राण है। ...रूप मघवा मायवीतु" "इन्द्रो रूपाणि कनिक्रदचरत्" इत्यादि ...है। इसीमें समय की यही 'प्राणमात्रा' है। सूर्य्य ही बुद्धि का मन ...। सूर्य्यकी यही ज्ञानशक्ति 'चित्' नाम से व्यवहृत हुई है। यही ...ग के सम्बन्ध से ही इन्द्रतत्त्व चिन्मय बनता हुआ चेतना नाम ...र चैतन्य सोम के सम्बन्ध से ही स्थिर रहता है। अग्नि को

जहाँ पुरुष कहा जाता है वहाँ सोमतत्त्व शक्ति नाम से प्रसिद्ध है। (देखिए बृहज्जाबालोपनिषत् ७। ८।) और अग्नि हिरण्मय है। इसी हिरण्य तत्त्व के सम्बन्ध से यह सोममयी शक्ति 'हैमवती" नाम से प्रसिद्ध है। यह तत्त्व दीप्र है। प्रतिबिम्बग्रहणयोग्यता इसी में है। सब से पहिले पारमेष्ठ्य महद्गर्भित चिदंश का सम्बन्ध इसी के साथ होता है, अतएव इसे 'चिच्छक्ति' कहा जाता है। चिच्छक्तिस्वरूपा इसी हैमवती उमा के द्वारा महेश्वरमूर्ति सावित्राग्निमय इन्द्रप्राण के साथ सम्बन्ध होता है। तात्पर्य्य यही हुआ कि, इन्द्र में जो चैतन्य है वह सोम के द्वारा ही आया हुआ है। (देखिए केनोपनिषत् ३। ११।)। अग्निमा ही मनःप्राण वाङ्मय अव्ययात्मा की वाक्कला का विकास अव्यक्त स्वयम्भू में होता है। प्राण-वाक् इन दो कलाओं का विकास महान् परमेष्ठी में होता है। परन्तु विश्वकेन्द्रस्थ बुद्धिरूप सूर्य्य में मनःप्राणवाक् इन तीनों कलाओं का विकास है। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि, षोडशी पुरुष की पूर्णविकासभूमि इन्द्रात्मक यही सूर्य्य है। अतएव—'इन्द्रो ह वै षोडशी' (शत० ४। ५। ३। १।) इत्यादि रूप से सौर इन्द्र को 'षोडशी' कहा गया है। यही कारण है कि, पञ्चपर्वा विश्व के किसी पर्व को आत्मा का अधिष्ठाता न मानकर 'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (यजुर्स० १३। ४६)। इत्यादि रूप से एकमात्र सूर्य्य को ही अधिष्ठाता मान लिया गया है। आत्मा के साथ साथ ही देव, एवं भूतप्रजा की भी प्रतिष्ठा यही सूर्य्य है। आत्मा—भूत—देव, इन तीनों के मूलस्तम्भ आयु—गौ—ज्योति, ये तीन तत्त्व हैं। पूर्व प्रतिपादित इन्द्र का विकास ज्योतिरूप से सोम का विकास गौरूप से चिदंश का विकास आयुरूप से होता है। इन्द्रमय ज्योति, सोममयी गौ चिन्मय आयु इन्हीं तीनों मनोताओं के सम्बन्ध से सूर्य्य में ज्योतिष्टोम-गोष्टोम आयुष्टोम, इन तीन स्तोमपर्वों का विकास होता है। ज्योतिष्टोम देवसृष्टि की, गोष्टोम भूतसृष्टि की एवं आयुष्टोम आत्मविकास की मूलप्रतिष्ठा है। इस प्रकार इन तीनों स्तोमों से सूर्य्य सर्वप्रतिष्ठा बन रहा है।

न केवल आत्म—देव—भूत विवर्तों का ही अपितु अधिदैवत, अध्यात्म अधिभूत इन तीनों संस्थाओं की भी सत्ता सूर्य्य के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव इसे विश्वप्रतिष्ठा कहा गया है जैसाकि महर्षि श्वेताश्वतर कहते हैं—

> अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्
> विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १ ॥ श्वेता० ५। १३।

पूर्व की यज्ञात्मोपनिषत् में कहा गया है कि, सूर्य्य से ऊपरका पारमेष्ठ्यलोक तृतीय द्यु नाम से प्रसिद्ध है। इसी में सोम नामक अप् तत्त्व प्रतिष्ठित है। यही लोक 'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः' (कौ० ब्रा० १८। २) के अनुसार आपोलोक नाम से प्रसिद्ध है। यह पारमेष्ठ्य सोम

यज्ञप्रवर्त्तक विश्वात्मा—

वाले व्यक्तमूर्ति यही भगवान् अंशुमाली हैं। रोदसी त्रिलोकी में प्रतिष्ठित रहने वाली चर-अचर प्रजा के प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण यही हैं। दूसरे शब्दों में अनुपाख्य तम को दूर करने वाले अव्यक्त स्वयम्भू थे, एवं अनिरुक्त तम को हटाने वाले यही सहस्रांशु हैं। ईश्वर प्रजापति (षोडशी पुरुष नामक अमृतात्मा) की ज्ञानकला सूर्य्य द्वारा ही सर्वत्र व्याप्त होती है, जैसाकि मन्त्रश्रुति कहती है—

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥

ऋक् १।१६४।२१।

'धियो यो नः प्रचोदयात्' के अनुसार यही ज्ञान के प्रचोदयिता (प्रेरक) हैं। अध्यात्मसंस्था में

विश्वस्य हृदयम्— जीवप्रजापति (कर्म्मात्मा) जो कार्य अपनी बुद्धि से लेता है अधिदैवत संस्था में ईश्वर प्रजापति (कर्म्मसाक्षी) वह कार्य्य सूर्य्य से लेते हैं। दूसरे शब्दों में बुद्धि आध्यात्मिक संस्था का सूर्य है एवं सूर्य्य अधिदैवत संस्था की बुद्धि है। रोदसीत्रैलोक्यात्मिका द्यावापृथिवी के अधिष्ठाता, विश्वकेन्द्रस्थ अतएव "आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्" (शत ६।१।२।४) इत्यादि के अनुसार "हृदय" नाम से प्रसिद्ध, व्यक्तपदार्थों की अपेक्षा सर्व प्रथम विश्व में व्यक्त होने के कारण 'अग्रज' नाम से प्रसिद्ध इसी हिरण्यगर्भ सूर्य्य-प्रजापति का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि कहते हैं—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ यजुर्सं १२।४।

यद्यपि आदित्य-विज्ञान के अनुसार सूर्य्य'१-इन्द्र, २ धाता, ३-भग, ४-पूषा ५ मित्र, ६-वरुण,

सोम चित् इन्द्र विभूतियाँ— ७-अर्यमा, ८ अंशु ९ विवस्वान्, १०-त्वष्टा, ११-सविता, १२ विष्णु' इन बारह विश्वप्राणों का समुचित रूप माना गया है तथापि प्रधानदृष्टि से सूर्य्य १-सोम, २-इन्द्र, ३ चित् इन तीन विभूतियों के आधार पर ही स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है। प्रत्यक्ष में भी सूर्य्य में ये ही तीन तत्त्व उपलब्ध होते हैं। सूर्य्यपिण्ड [सूर्य्यगोलक] भूतमय है। यही "सोम" तत्त्व है। इसे ही दर्शनभाषा में 'भूतमात्रा' कहा जाता है। रश्मिमण्डल में व्याप्त, प्रकाश का अधिष्ठाता तत्त्व प्राण है। यही रूपाधिष्ठाता सौरप्राण—"रूपं रूपं मघवा बोभवीति" "इन्द्रो रूपाणि कनिक्रदचरत्" इत्यादि वचनों के अनुसार 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है। दर्शन समय की यही 'प्राणमात्रा' है। सूर्य्य ही बुद्धि का प्रवर्त्तक बनता हुआ ज्ञान का अधिष्ठाता है। सूर्य्य की यही ज्ञानशक्ति 'चित्' नाम से व्यवहृत हुई है। यही 'प्रज्ञामात्रा' नाम से प्रसिद्ध है। इस चिदंश के सम्बन्ध से ही इन्द्रतत्त्व चिन्मय बनता हुआ चेतना नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। इन्द्र का प्रज्ञाभाव, किंवा चैतन्य सोम के सम्बन्ध से ही स्थिर रहता है। अग्नि को

जहाँ पुरुष कहा जाता है वहाँ सामवत्त्व शक्ति नाम से प्रसिद्ध है। (देखिए बृहज्जाबालोपनिषत् २। ८। । सार अग्नि हिरण्मय है। इसी हिरण्य तत्त्व के सम्बन्ध से यह सोममयी शक्ति 'हैमवती' नाम से प्रसिद्ध है। यह तत्त्व दीप्त है। प्रतिबिम्बग्रहणयोग्यता इसी में है। सब से पहिले पारमेष्ठ्य महद्गर्भित चिदंश का सम्बन्ध इसी के साथ होता है, अतएव इसे 'चिच्छक्ति' कहा जाता है। चिच्छक्तिस्वरूपा इसी हैमवती उमा के द्वारा महेश्वरमूर्त्ति सावित्र्याग्निमय इन्द्रप्राण के साथ सम्बन्ध होता है। तात्पर्य्य यही हुआ कि, इन्द्र में जो चैतन्य है वह सोम के द्वारा ही आया हुआ है। (देखिए केनोपनिषत् ३। ११।)। मनप्रिसाही मनःप्राण वाङ्मय अव्ययात्मा की वाक्कला का विकास अव्यक्त स्वयम्भू में होता है। प्राण-वाक् इन दो कलाओं का विकास महत् परमेष्ठी में होता है। परन्तु विश्वकेन्द्रस्थ बुद्धिरूप सूर्य्य में मनःप्राणवाक् इन तीनों कलाओं का विकास है। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि, षोडशी पुरुष की पूर्णविकासभूमि इन्द्रात्मक यही सूर्य्य है। अतएव—'इन्द्रो ह वै षोडशी' (शत० ४। २। ३। १।) इत्यादि रूप से सौर इन्द्र को 'षोडशी' कहा गया है। यही कारण है कि, पञ्चपर्वा विश्व के किसी पर्व को आत्मा का अधिष्ठाता न मानकर 'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (यजुःसं० १३। ४६)। इत्यादि रूप से एकमात्र सूर्य्य को ही अधिष्ठाता मान लिया गया है। आत्मा के साथ साथ ही देव, एवं भूतप्रजा की भी प्रतिष्ठा यही सूर्य्य है। आत्मा—भूत—देव, इन तीनों के मूलस्तम्भ आयुः—गौ—ज्योतिः, ये तीन तत्त्व हैं। पूर्व प्रतिपादित इन्द्र का विकास ज्योतिरूप से सोम का विकास गौरूप से चिदंश का विकास आयुरूप से होता है। इन्द्रमय ज्योति, सोममयी गौ चिन्मय आयु इन्हीं तीनों मनोताओं के सम्बन्ध से सूर्य्य से ज्योतिष्टोम-गोष्टोम आयुष्टोम, इन तीन स्तोमयज्ञों का विकास होता है। ज्योतिष्टोम देवसृष्टि की, गोष्टोम भूतसृष्टि की एवं आयुष्टोम आत्मविकास की मूलप्रतिष्ठा है। इस प्रकार इन तीनों स्तोमों से सूर्य्य सर्वप्रतिष्ठा बन रहा है।

न केवल आत्म—देव—भूत विवर्तों का ही अपितु अधिदैवत अध्यात्म अधिभूत इन तीनों संस्थाओं की भी सत्ता सूर्य्य के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव इसे विश्वप्रतिष्ठा कहा गया है जैसाकि महर्षि श्वेताश्वतर कहते हैं—

> अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्
> विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १ ॥ श्वेता० ५। १३।

पूर्व की यज्ञात्मोपनिषत् में कहा गया है कि, सूर्य्य से ऊपरका पारमेष्ठ्यलोक तृतीय द्यु नाम से प्रसिद्ध है। इसी में सोम नामक अप् तत्त्व प्रतिष्ठित है। यही लोक 'अस्ति वै यज्ञप्रवर्तक विश्वात्मा—

चतुर्थो देवलोक आपः' (श० ब्रा० १८। २) के अनुसार आपोलोक नाम से प्रसिद्ध है। यह पारमेष्ठ्य सोम

दूषित परमाणुओं को अच्छिन्न करने की शक्ति रखता है, अतएव यह पवित्र नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि मन्त्रश्रुति कहती है—

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत ॥ ऋक्० ९।८३।१।

परमेष्ठी में प्रतिष्ठित भृगुतत्त्व की आप–वायु–सोम, ये तीन अवस्थायें, बतलाई गई हैं। इन तीनों में क्रमशः आप्यप्राण असुर, वायव्यप्राण गन्धर्व, एवं सौम्यप्राण पितर नाम से प्रसिद्ध है। आप-प्राणात्मक पारमेष्ठ्य असुरों के आक्रमण से पारमेष्ठ्य वायव्य प्राणात्मक गन्धर्व पितृप्राणात्मक सोम की निरन्तर रक्षा किया करते हैं। सौरी वागरूपा सुपर्णी के द्वारा गन्धर्वों से सुरक्षित यह पवित्र सोम निरन्तर सूर्य में आहुत होता रहता है। इसी रहस्य को बतलाने के लिए सौपर्णाख्यान की कल्पना की गई है। सुप्रसिद्ध कद्रू विनता की संधा (शर्त–होड़–बाजी) का भी इसी आख्यान से सम्बन्ध है। 'आकृष्णेन रजसा वर्त्तमान (यजुःसं ३३।४३।) के अनुसार सूर्य सर्वथा कृष्ण (काला) है। उस पारमेष्ठ्य सोम की इस दाहक सौर सावित्राग्नि में आहुति होती रहती है। इस सोमाहुति से दाहक अग्नि प्रज्वलित हो पड़ता है। यही प्रकाश है। आप सौरमण्डल में जो प्रकाश देख रहे हैं, वह असल में सोम ही है। सोम ही प्रकाश का प्रवर्त्तक है। इसी अभिप्राय से ऋषि कहते हैं—

त्वमिमा ओषधीः सोम! विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः ।
त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥ ऋक् १।९१।२२।

इसी सोमाहुति से सूर्य्यसत्तारूप अहःकाल का उदय होता है। यही अहर्यज्ञ अग्निहोत्र नाम से प्रसिद्ध है। इसी आधार पर—"सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्" (शत० २।३।१।१) यह कहा गया है। सौराग्निमयज्ञ ही सम्वत्सर है। इसी में सोम आहुत हो रहा है। अग्निसोम के तारतम्य (न्यूनाधिक्य) नियाम (व्यवस्था) से इस सौर-सम्वत्सर में ६ ऋतुएँ उत्पन्न हो जाती हैं। अग्निजन्मकाल वसन्त है अग्नि की युवावस्था ग्रीष्म है प्रौढावस्था वर्षा है। सोम का जन्मकाल शरत् है, युवावस्था हेमन्त है, प्रौढावस्था शिशिर है। अग्नीषोममय इस सम्वत्सरात्मक सौर यज्ञ के पाँच अवयव हैं। अहोरात्र पहिला पर्व है शुक्ल-कृष्ण पक्ष दूसरा पर्व है चातुर्मास्य तीसरा पर्व है दक्षिण-उत्तर अयन चौथा पर्व है, एवं स्वयं सम्वत्सर पाँचवा है। यही इस सौरयज्ञ की पाङ्क्तता (पञ्चावयवता) है।

उक्त सम्वत्सर-यज्ञ के ये ही पाँचों पर्व क्रमशः अग्निहोत्र—दर्शपूर्णमास—चातुर्मास्य—पशुबन्ध उपांशुयाज—नामों से प्रसिद्ध हैं। प्रकारान्तर से यज्ञ की पाङ्क्तता देखिए। हविर्यज्ञ–सामयज्ञ–मधुयज्ञ–आतयज्ञ–पश्वायज्ञ, भेद से सम्वत्सर यज्ञ पञ्चधा विभक्त है। पार्थिव अन्न की साराग्नि में आहुति होने से हविर्यज्ञ का, पारमेष्ठ्यमाम की आहुति से सोमयज्ञ का पुरुष–अश्व–नर–सर्प–नाम के चारों पराम्य मार्गों

की आहुति से मेधयज्ञ का, एवं विशेष प्रकार की सामग्री, एवं अग्निचिति से चतियज्ञ का, प्रवर्ग्याहुति से घर्म्मयज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है। ये पाँचों यज्ञ दूसरे शब्दों में एक ही यज्ञ के पाँचों पर्व क्रमशः ७-७-४-१ इन विभागों में विभक्त हैं। इन के भी आगे जाकर अवान्तर अनेक विभाग होजाते हैं। यह सम्पूर्ण यज्ञकर्म्म-कलाप एकमात्र इसी सौरसम्वत्सर में प्रतिष्ठित है। अग्नीषोमात्मक इसी सौरयज्ञ से सौर-देवता अमृतभाव को प्राप्त होते हुए सम्पूर्ण विश्व के सञ्चालक बन रहे हैं। जब तक सोमाहुति है, तब तक यज्ञ है। जब तक यज्ञ है, तभीतक व्यक्त विश्व का स्वरूपमात्र है। यह स्वरूपमात्र यज्ञात्मक इसी व्यक्त सूर्य्य पर प्रतिष्ठित है। अतएव सूर्य्यसत्ता सृष्टिकाल कहलाता है। एवं सूर्य्य का तिरोभाव प्रलयकाल का अभिप्रायक माना गया है। एक यज्ञसम्बन्धक्रम निम्न लिखित तालिकाओं से स्पष्ट होरहा है।

१—
- १-हविर्यज्ञ → अन्नाहुत्या सम्पद्यते।
- २-सोमयज्ञ → सोमाहुत्या सम्पद्यते।
- ३-मेधयज्ञः → मेधाहुत्या सम्पद्यते।
- ४-चितियज्ञः → रात्र-पालाग्निसम्पादन०
- ५-घर्म्मयज्ञः → प्रवर्ग्याहुत्या सम्पद्यते।

"पाङ्क्तो वै यज्ञ" इत्याहुः। सैषा पाङ्क्तयज्ञस्यैकाविधा

२—
- १-अग्निहोत्रम् — अहोरात्रयज्ञः
- २-दर्शपौर्णमासः — पक्षयज्ञः
- ३-चातुर्मास्यम् — ऋतुयज्ञ
- ४-पशुबन्धः — अयनयज्ञ
- ५-ज्योतिष्टोमः — सम्वत्सरयज्ञः

"पाङ्क्तो वै यज्ञ" इत्याहुः सैषा पाङ्क्तयज्ञस्यैकाविधा

१—हविर्यज्ञ —
- १—अग्निहोत्रम्
- २—दर्शपूर्णमासः
- ३—चातुर्मास्यम्
- ४—आग्रयणेष्टि
- ५—इष्टपशुबन्ध
- ६—सौत्रामणि
- ७—पशुबन्धः

७ सप्तसंस्थो वै हविर्यज्ञ प्राक्सौमिकः

२—सोमयज्ञ —

	१—अग्निष्टोम	
	२—अत्यग्निष्टोम	
२—	३—उक्थ्यस्तोमः	७ सप्तसंस्थो वै ज्योतिष्टोम—सोमयज्ञ.
	४—षोडशीस्तोमः	
	५—अतिरात्रस्तोमः	
	६—वाजपेयस्तोमः	
	७—अप्तोर्यामस्तोम	

३—मेधयज्ञ —

१—अश्वमेध	४ चतु संस्था वै मेधयज्ञ
२—गोमेध	
३—नरमेध	
४—सर्वमेध	

४—श्रतियज्ञः—

१—राजसूयः (राज्ञाम्)	४ चतु संस्थो वै श्रतियज्ञ
२—वाजपेय (ब्राह्मणानाम्)	
३—सवनम् (ब्राह्मणानाम्)	
४—अश्वमेध (राज्ञाम्)	

५—घर्म्मयज्ञ

१—त्रिरात्र, प्रवर्ग्ययज्ञो वा एकविध एव।

—०—

अग्निरहस्यवेत्ता विद्वानों को यह भलीभांति विदित है कि सम्पूर्ण विश्व एकमात्र सोमगर्भित अग्नि पुष्पात्मक ब्रह्म—तत्त्व का ही विकास है। 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' श० ब्रा० २।४।१। इस अग्नितत्त्व के सम्यक् परिज्ञान के लिए तीन तत्त्व विशेष हैं। अग्नि स्वयं अन्नाद (अन्न खाने वाला) है। बिना अन्न के अग्नि कभी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। यही पहिला तत्त्व है। दूसरा अन्न

तत्त्व है। भोक्ता अग्नि जिस धरातल पर प्रतिष्ठित होकर अन्न भोग करता है वह तीसरा तत्त्व है। ये तीनों क्रमशः आवपनब्रह्म—अन्नादब्रह्म—अन्नब्रह्म इन नामों से प्रसिद्ध हैं। आवपन खं ब्रह्म है, खं आकाश है, आकाश ही वाक्तत्त्व है जैसाकि यज्ञात्मप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इस वाङ्मय खं ब्रह्म पर प्रतिष्ठित रहने वाला भोक्ता अन्नाद ब्रह्म अन्न से सुख प्राप्त करता हुआ "कं" ब्रह्म नाम से व्यवहृत होता है। आवपन वाग् ब्रह्म था यह अग्निब्रह्म है। रसणकभूत अन्नब्रह्म 'रं' ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार वाङ्मय आवपनरूप खं ब्रह्म पर प्रतिष्ठित अग्निमय अन्नादरूप कं ब्रह्म आपोमय अन्नरूप 'रं' ब्रह्म का भोग करता हुआ वाक्–अग्नि–अप्मय शं ब्रह्मरूप में परिणत हो रहा है। आवपन पर प्रतिष्ठित अन्नाद के साथ जब तक अन्न का सम्बन्ध है तभी तक रुद्राग्नि शिवरूप में परिणत होता हुआ शान्ति के साम्राज्य में प्रतिष्ठित होरहा है। अन्नसम्बन्ध के विच्छेद से शिवभाव रुद्ररूप में परिणत होता हुआ विश्व संहारक बन जाता है। अन्नसम्बन्ध से वही प्राणाग्नि तत्त्व शिव शरीर धारण कर लेता है। अन्नाभाव में वही घोरशरीरी बन जाता है। इसी अन्नाग्नि–विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

"अग्निर्वा रुद्रः, तस्यैते द्वे तन्वौ घोरान्या च शिवान्या च"।

चित्याग्नि साक्षात् रुद्र है। इस के प्रचण्ड कोप से सम्पूर्ण देवता कम्पित हो जाते हैं। अपनी रक्षा के लिए दूसरे शब्दों में रुद्रकोप से बचने के लिए अन्नयज्ञ का आश्रय लेते हैं। इस अन्न से रुद्र शान्त हो जाते हैं शिवस्वरूप में परिणत हो जाते हैं अतएव यह रुद्राग्नि 'शान्तदेवत्य' किंवा "शान्तरुद्रिय" नाम से प्रसिद्ध होता है। परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में यही शान्तरुद्रियभाव "शतरुद्रिय" नाम से प्रसिद्ध है यही 'शतरुद्री' है–देखिए शत ७ कां संचितिब्रा० १।१।१) उत्पन्न शिशु अग्निमूर्ति है। गर्भस्थ शिशु सम्वत्सराग्नि के चयन से दशमास में जब सर्वात्मना सम्पन्न होजाता है तो प्रसवयामरुत् के आघात से गर्भाशय को छोड़ता हुआ बाहर निकल पड़ता है। भूमिष्ठ होने के अव्यवहितोत्तरकाल में ही वह रुदन करता है। शिशुशरीरस्थ अन्न विरहित अग्नि ही "अग्निर्वै रुद्रः। यदरोदीत्, तस्माद्रुद्रः (शत० ६।१।३।११) के अनुसार रुद्र नाम से प्रसिद्ध है। इसी से सम्पूर्ण इन्द्रिय देवता कम्पित हो पड़ते हैं। अन्नाहुति दी जाती है। तत्काल रुद्राग्नि शान्त हो जाता है। बच्चा चुप हो जाता है। इसी आधार पर खं–कं–रं– की समष्टि को "शं" ब्रह्म कहा गया है। तीनों की समष्टि ही यज्ञ है। जब तक यज्ञ है, तभी तक संसार है।

यद्यपि परमेष्ठी को यज्ञात्मा कहा गया है। तथापि अग्नीषोमात्मक यज्ञका पूर्ण विकास तो सूर्य्य में ही होता है। पारमेष्ठ्य यज्ञ सामवेद में "रासब" यज्ञ कहलाता है। यही यज्ञ पुराण में "गोलोक" कहलाया है। सूर्य्य की मूलप्रतिष्ठारूप गौ यहीं विकसित होती है। यही गोस्थान व्रजभूमि नाम से प्रसिद्ध है। इस यज्ञ की आधार भूमि एकविंशस्तोम से आरम्भ कर ३३ वें स्तोम तक का पारमेष्ठ्य प्रदेश है। इन्हीं

पञ्च स्तोमों के कारण यह यज्ञ "पञ्चदशाह" यज्ञ नाम से प्रसिद्ध है। गौप्रवर्त्तक पञ्चदश अहर्गणात्मक सोममूर्त्ति यही पारमेष्ठ्य गोसवयज्ञ *"षट्त्रिंश" कहलाया है।

यज्ञाधारभूमि को आयतन कहा गया है। आयतन और आधार में अन्तर है। आयतन भिन्न प्रकार का आयतन है आधार भिन्न प्रकार का आयतन है। एकत्र भ्रमण भूमि आधार कहलाता है, एवं सर्वत्र आयतन भूमि आयतन कहलाता है। हमारा आधार भूपिण्ड है पुस्तक का आधार मेज है पानी का आधार घट है फूल का आधार शाखा है शाखा का आधार वृक्ष है, ये सब आयतन आधार नाम से ही व्यवहृत होंगे। घट का आधार मिट्टी है कटक-कुण्डलादि का आधार सुवर्ण है पट का आधार तन्तु है शरीर का आधार आत्मा है, ये सब आयतन नाम से प्रसिद्ध होंगे। आकाश वस्तुजानकोश (किसी) की भाँति सर्वत्र आधार बना हुआ है। प्रकृत में आकाशात्मक यही आयतन सम्बन्ध अभिप्रेत है। इसी लिए इस आयतन को हमने "खं ब्रह्म" कहा है। अन्न को हमने आपोमय कहा है। यह अप्तत्त्व, किंवा आपोमय अन्न सौर, एवं पार्थिवाग्नि भेद से दो भागों में विभक्त हो जाता है। पार्थिव अन्न सोम है और अन्न ×पानी है। जहाँ भी कहीं पानी होता है, "नाहपोवाग्नुसयागमग्नरोहणम्" (वै०द० ५।२।६।) के अनुसार सूर्य्य स्वनाडी द्वारा उसे अपने गर्भ में प्रतिष्ठित कर लेता है। पञ्चपर्वा विश्व के उभय ओर वागम्भ्रण है, इस ओर भी वागम्भ्रण है मध्य में अग्निमय है। इस मध्यस्थ अग्नि के दोनों ओर अन्नसोम अभिव्याप्त है। स्वयम्भू आकाश है यही वागम्भ्रण किंवा खं ब्रह्म है यही विश्वमात्र का आयतन है। "परमे व्योमन्" नाम से प्रसिद्ध इसी आयतन में सब कुछ प्रतिष्ठित है। परमेष्ठी आप है, यही "र" ब्रह्म है। सूर्य्य अग्नि है यही "क" ब्रह्म है। चन्द्रमा आप सोम है यही "र" ब्रह्म है। पृथिवी वाक् है यही "ख" ब्रह्म है। उपक्रम-उपसंहार में वाक् है मध्य में सूर्य्याग्नि है। यह उभयतः सोमरूप अप् से परिगृहीत है जैसा कि निम्न लिखित तालिका से स्पष्ट हो रहा है।

१—वाक्—स्वयम्भू—आयतनब्रह्म —ख ब्रह्म	शंब्रह्म—अधिदैवतम्
२—आपः—परमेष्ठी—अन्नब्रह्म —र ब्रह्म	
३—अग्निः—सूर्य्य—अन्नादब्रह्म —क ब्रह्म	
४—आप—चन्द्रमाः अन्नब्रह्म —र ब्रह्म	
५—वाक्—पृथिवी—आयतनब्रह्म —ख ब्रह्म	

---

*इस विषय का विशद विवेचन उपनिषद् विज्ञानभाष्य (१ भाग) में देखना चाहिए।

×अर्थेन गायन। स्वाराज्यो वा एष यज्ञ। प्रजापतिर्ह परमेष्ठी स्वाराज्यम्। त्रयः पञ्चविंश (१६) स्तोम नो नय। (तां म ब्रा १८।११)।

विश्वमध्यस्थ अन्नादाग्नि के (सौर अग्नि के) तीन विवर्त हैं, दूसरे शब्दों में वह तीन स्वरूपों में
सौर अन्नादाग्नि के तीन विवर्त—परिप्लुत होकर विश्व में प्रतिष्ठित है। पहिला विवर्त साम्वत्सरिक है, दूसरा पार्थिव है तीसरा शारीरिक है। सौरमण्डलस्थ विश्वनियन्ता अग्नि ही सम्वत्सर है, यही देवप्राण की प्रधानता से "आधिदैविकाग्नि" नाम से प्रसिद्ध है। भूलोक-नियन्ता अग्नि पार्थिव है भूत-भाग की प्रधानता से यही आधिभौतिकाग्नि" है। एवं जीवसृष्टि का सञ्चालक शारीरिक अग्नि ही आत्मसम्बन्ध से 'आध्यात्मिकाग्नि" नाम से व्यवहृत हुआ है। इन तीनों अग्नियों की मूलप्रतिष्ठा स्वायम्भुव प्राणाग्नि है। यही ब्रह्माग्नि, किंवा वह्नाग्नि है।

अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैवत-तीनों प्रपञ्चों का उक्थ-ऋक्-साम-रूप आत्मा यही सूर्य्य है। स्थावरप्रपञ्च भूतप्रपञ्च है, जङ्गमप्रपञ्च आत्मप्रपञ्च है। "सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" (यजु सं०—७।४२) के अनुसार दोनों की प्रतिष्ठा यही सूर्य्य है। सौरमण्डल—"चित्रं देवानामुदगात्" (यजु सं०—६।४२) के अनुसार देवप्राणात्मक है। इसी देवप्राण के सम्बन्ध से यह प्रथम संस्था 'आधिदैविक" नाम से प्रसिद्ध है। अतएव सौरमण्डलस्थ यह प्राणाग्नि "देवाग्नि" नाम से व्यवहृत हुआ है। "एषां वै-भूतानां पृथिवी रसः" (शत० १४।६।४।१।) के अनुसार पार्थिव अग्नि 'भूताग्नि' नाम से प्रसिद्ध है। इसी के सम्बन्ध से यह संस्था आधिभौतिक नाम से व्यवहृत हुई है। मनोता विज्ञान के अनुसार सूर्य्य में ज्योति-गौ-आयु ये तीन मनोता माने गए हैं, जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में बतलाया जाचुका है। क्रमशः प्राण वाक् के त्रिवृत्करण से इन तीनों मनोताओं का परस्पर में त्रिवृत्करण होता है। इस त्रिवृत्करण से क्रमशः देवता—भूत—आत्मा ये तीन तत्त्व आविर्भूत होते हैं। आयु-गौ-गर्भित ज्योतितत्त्व देवता है। सूर्य्यमण्डल में गौभाग गौण है, देवभाग प्रधान है। ज्योति-आयुर्गर्भित गौभाग भूत है। यही पृथिवी है। यहां ज्योति, एवं आयुस्तत्त्व अन्तर्लीन हैं, गौभाग प्रधान है। ज्योति-गौ-गर्भित आयुतत्त्व ही आत्मा है। यहां आयु भाग का विकास है। यही आध्यात्मिकाग्नि पुरुषाग्नि नाम से भी व्यवहृत हुआ है। निष्कर्ष यही हुआ कि, वही अन्नादाग्नि सूर्य्यसंस्था में सम्वत्सर है, पृथिवीसंस्था में अग्नि है, एवं अध्यात्म संस्था में पुरुष है। साथ ही में इतना और ध्यान रखिए कि ये तीनों ही शब्द त्रिधाती हैं। सम्वत्सर-अग्नि-पुरुष, तीनों को तीनों शब्दों से व्यवहृत किया जासकता है। कारण, त्रिवृद्भाव के कारण प्रत्येक में तीनों के प्रत्यंश विद्यमान हैं। साथ ही में तीनों का मूलप्रभव अन्नादाग्नि तीनों में समान है। सौरसम्वत्सर अग्नि भी है, पुरुष भी है। पार्थिव अग्नि सम्वत्सर भी है पुरुष भी है। पुरुष अग्नि भी है सम्वत्सर भी है। इन तीनों अग्नियों का परस्पर में चित्ते सम्बन्ध हुआ करता है। यही मानसिक अग्निचयन पक्ष है। इस

*इस विषय का विशद विवेचन 'ईशोपनिषत् हिन्दी विज्ञानभाष्य' प्रथम खण्ड के 'मनःप्राणवाक् की व्यापकता' नाम के प्रकरण में देखना चाहिए।

तीनों विस्याग्नियों का मूलाधार–सर्वत्र आधारभूत वही स्वायम्भुव वेदाग्नि है। यही चौथा आवपन है। अग्नितत्त्व के इन्हीं चारों विवर्त्तों को लक्ष्य में रखकर— "चतुर्धा विहितो ह वाऽअग्निरास" (शत० ब्रा० १।२।३।१।) यह कहा गया है।

अग्निविवर्त्त—

१—१-मूलप्रतिष्ठाग्नि —चितेनिधेय —प्राणप्रधान —स्वायम्भुव
२—२-आधिदैविकाग्नि चित्यः —ज्योतिःप्रधान -सौरः
३—३-आधिभौतिकाग्नि ,, —गौप्रधानः —पार्थिव
४—४-आध्यात्मिकाग्निः ,, —आयु प्रधानः—शारीरिकः

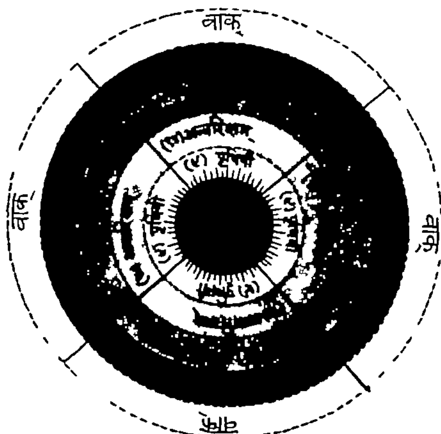
———

१—ब्रह्माग्नि —ब्रह्माण्डम् सर्व ब्रह्म
१—देवाग्नि —सम्वत्सर —क ब्रह्म
२—भूताग्नि —अग्नि क ब्रह्म
३—आत्माग्निः—पुरुषः क ब्रह्म

अग्नि वै त्रिवृत्" (तै० ब्रा० १।५।१०।४।) के अनुसार अग्नितत्त्व त्रिलक्षण है। इसी त्रिवृद्भाव के कारण आधिदैविक–आधिभौतिक–आध्यात्मिक इन तीनों अग्नियों की तीन तीन अवस्थायें हो जाती हैं। आधिदैविकाग्नि सम्वत्सराग्नि है। घनावस्थापन्न सम्वत्सराग्नि अग्नि है, तदवच्छिन्न लोक पृथिवीलोक है। तरलावस्थापन्न सम्वत्सराग्नि वायु है, तदवच्छिन्न लोक अन्तरिक्ष है। विरलावस्थापन्न सम्वत्सराग्नि आदित्य है, यही द्युलोक है। आधिभौतिकाग्नि पार्थिव है। घनावस्थापन्न पार्थिव अग्नि इसका मूलस्तर है यही भूलोक है। इस के भीतर तरलावस्थापन्न अग्नि जलतत्त्व है, यही भुवर्लोक है। सर्वान्तरतम प्राणात्मक भौतिक अग्नि विरलावस्थायुक्त है यही तीसरा स्वर्लोक है। आज दिन भू अन्य पौ... एवं भू—भुव—स्वः, इन को परस्पर में पर्य्याय माना जारहा है। परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। भू–भुव–स्वः–का भूपिण्ड से सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में पार्थिवाग्नि से सम्बन्ध है। भूकेन्द्रस्थान स्वर्लोक है। इस की प्रतिष्ठा मात्राग्निमूर्ति प्रजापति है— "प्रजापतिश्चरति गर्भे"। भूपृष्ठ के भीतर बहने वाला पानी भुवर्लोक है। यही पातालादि सात लोकों की प्रतिष्ठा है। यही पानी साक्षात् वडवाग्नि है। स्वयं इस भूपिण्ड भूलोक है। इस प्रकार भू—भुव—स्वः–इन तीनों का केवल भूपिण्ड में ही भोग होजाता है। भूपृष्ठ से आरम्भ कर एकविंशस्थ सूर्य्य पर्य्यन्त सम्वत्सराग्नि व्याप्त है। इसी की उक्त तीनों अवस्थाएं क्रमशः अग्नि—वायु—आदित्य नाम से प्रसिद्ध हैं, एवं वे ही तीनों देवता क्रमशः त्रिवृत् पञ्चदश—एकविंश–स्तोमरूप पृथिवी—अन्तरिक्ष—द्यौ—इन तीनों लोकों के अधिष्ठाता हैं। इसी भाव क्य को लक्ष्य में रख कर

सम्वत्सरमण्डल—आधिदैवतसंस्था—

(सौरसम्वत्सर—हिरण्मयम्)



१—वाक्

२—आपः

३—{ अग्नि-आदित्य-२१ द्यौः; अग्नि-वायु—१५ अन्तरिक्षम्; अग्नि-अग्नि -१ पृथिवी }

४—आपः

५—वाक्

स्वयम्भू—आत्मनम

परमेष्ठी—अभम

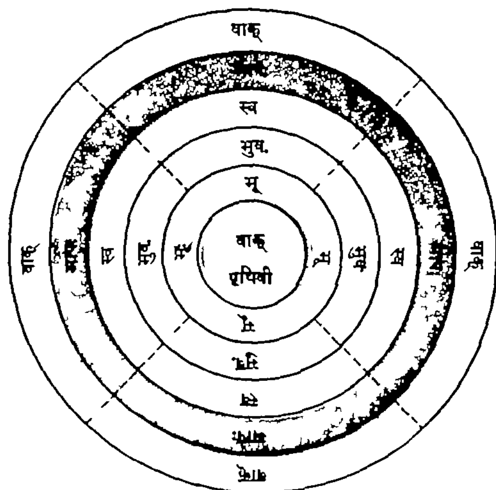
सम्वत्सर—अभाव

परमेष्ठी—अभम

भूपिण्ड—आत्मनम

श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय जयपुर

पार्थिवमण्डल—अधिभूतसंस्था—(पार्थिवसम्वत्सर इलान्दम्)



१—वाक् ⟶ स्वयम्भू ⟶ आवपनम्

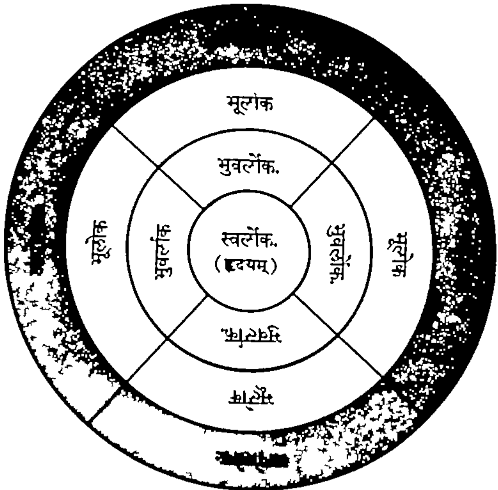
२—आप ⟶ परमेष्ठी ⟶ अन्नम्

३— [अग्नि—आदित्य (२१—स्व
अग्नि—वायु (१५—भुव
अग्नि—अग्नि (६—भू] ⟶ महापृथिवी पार्थिवसम्वत्सर ⟶ अन्नाद्

४—आप ⟶ परमेष्ठी ⟶ अन्नम्

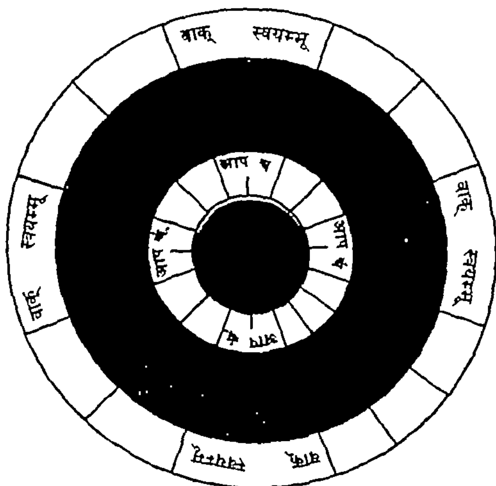
५—वाक् ⟶ [illegible] ⟶ आवपनम्

अर्णवसमुद्रगर्भे प्रतिष्ठितो भूपिण्ड



१ —आप	— ——	आप	'भूयिनर्त्तम्'
२ —भू (चित्याग्नि)			
३ —भुव (नग्लाग्नि)	——	भू	
४ —स्व (हृदयम्)			
५ —आप	–	आप	

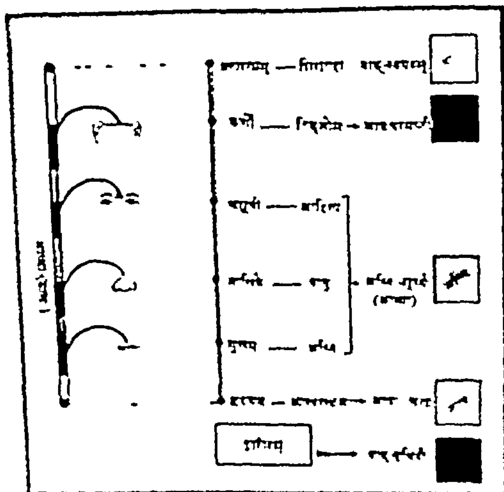
अधिदैवत–अधिभूतसमष्टि



१—वाक्
२—आप
३— [द्यौ – २१ आदित्य / अन्तरिक्षम् १५ वायु / पृथिवी ९ अग्नि]
४—आप
५— [भू (पृथ्वम्) / भुव (अधाभुवनम्) / स्व (हृष्यम्)]

वाक् ——→ स्वयम्भू — भात्रपनम्
आप ——→ परमेष्ठी — भन्नम्
अग्नि ——→ मर्य — प्रभाम
आप ——→ चन्द्रमा — अन्नम्

शारीराग्नि —अध्यात्मसंस्था—



दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' (ऋक्सं० १० । १९० । ३ ।) यह कहा गया है। यदि द्युलोक, एवं स्वर्लोक दोनों एक ही वस्तु होते तो 'दिवं— अथो स्वः' यह पुनरुक्ति व्यर्थ होती । सम्वत्सराग्नि के तीनों विवर्तों के लिए 'दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षम्' यह कहा है एवं प्रजापतिमूर्ति पार्थिव अग्नि की तीनों अवस्थाओं का इत्थमाव से संग्रह करते हुए 'अथो स्वः' यह कहा गया है। इसी प्रकार आध्यात्मिक अग्नि भी इसी त्रिवृद्भाव से आक्रान्त है। वागिन्द्रिय अग्नि है, प्राणेन्द्रिय वायु है, चक्षुरिन्द्रिय आदित्य है।

अग्नि के उक्त तीनों ही विवर्त सर्वतः पानी से वेष्टित हैं। सत्याग्नि सदा आपोमय ऋत परमेष्ठी के गर्भ में प्रतिष्ठित रहता है—इसे भलिभाँति भिन्न! पहिले आधिदैविक विवर्त को ही लीजिए। पृथिवी-अन्तरिक्ष—द्यौरूप सम्वत्सराग्नि के उस ओर आपोमय स्निग्धसोममय परमेष्ठी है, इस ओर आपोरूप (भास्वर सोममय) चन्द्रमा है। इसी प्रकार सुप्रसिद्ध 'समुद्रमिव पिन्वमानम्' (यजुःसं० ११। २९। के अनुसार 'अर्णव' नाम से प्रसिद्ध रोदसी समुद्र के गर्भ में प्रविष्ट है। एवमेव स्निग्धसोममय श्रोत्र, एवं भास्वर सोममय मन से वेष्टित आध्यात्मिक त्रिवृदग्नि भी पानी के गर्भ में हो प्रतिष्ठित है—यह सौर्ति परिलेखों से स्पष्ट हो रहा है।

इस वैधयज्ञ के द्वारा मानुषात्मा में एक प्रकार का अपूर्व भाव उत्पन्न होता है, वही दैवात्मा नाम से प्रसिद्ध है। आध्यात्मिक प्रपञ्च का आधिभौतिकप्रपञ्च के द्वारा आधिदैविक प्रपञ्च के साथ सम्बन्ध करा देना ही इस वैधयज्ञ का चरम फल है। दूसरे शब्दों में, सौर दिव्यतत्त्व का अध्यात्म-देवताओं के साथ अभिसम्बन्ध करा देना ही यज्ञ है। यद्यपि सौरप्राण का सम्बन्ध हमारे साथ नित्य बना रहता है परन्तु यह सम्बन्ध बहिर्व्याप्ति है। ऐसा सम्बन्ध 'याग' न कहला कर 'योग' कहलाता है। मनुष्य में स्वभावतः पार्थिवप्राण की प्रधानता रहती है। अतएव सौरप्राण अन्तर्व्याप्ति सम्बन्ध से यहाँ स्वतः एव प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। इस विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए सर्वप्रथम "अग्न्याधान" करना पड़ता है। मन्त्रवाक्-द्वारा दिव्य अग्नि को मानुषाग्नि में प्रतिष्ठित करने वाली प्रक्रिया विशेष ही अग्न्याधान है। इस से मानुषात्मा दिव्याग्नि से युक्त होता हुआ उस सौरप्राण के ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। अग्न्याधान के अनन्तर अग्निहोत्र का अधिकार मिलता है। इस से अहोरात्र के दिव्यप्राण को आत्मसात् किया जाता है। दर्शपूर्णमासेष्टि से पाक्षिक दिव्याग्नि के साथ योग किया जाता है। चातुर्मास्य से ऋतुव्यापक अग्नि का आधान होता है। पशुबन्ध से अयनाग्नि को आत्मा में प्रतिष्ठित किया जाता है। इन सब के करने के अनन्तर सम्वत्सरात्मक सोमयज्ञ ज्योतिष्टोम का अधिकार मिलता है। अतएव इन्हें 'प्राकसोमिक' यज्ञ कहा जाता है। ज्योतिष्टोम से सम्वत्सराग्नि का आत्मा के साथ सम्बन्ध हो जाता है। अध्यात्म में प्रतिष्ठित यही साम्वत्सरिक दिव्याग्नि "दैवात्मा" है। इसी के प्रभाव से मानुषात्मा स्थूलशरीर के परि-

त्याग के अनन्तर त्रियाविशेष स्वर्ग में चला जाता है। जब तक यज्ञातिशय बना रहता है, तब तक यज्ञ-पात्मा स्वर्ग में प्रतिष्ठित रहता है। यज्ञातिशय की समाप्ति पर स्वर्ग स्थान से च्युत होता हुआ कर्म्मात्मा पुनः कर्म्मभोगार्थ उसी योनिचक्र में आजाता है – "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति"। जितने भी यज्ञ हैं वे सब इस संसार समुद्र को पार करने वाली अस्थिर नौकाएं हैं। कभी न कभी ये अवश्य छिन्न भिन्न होती हैं। अतएव उपनिषच्छ्रुति ने इस 'यज्ञनौका' को अमृतत्त्व प्राप्ति में असमर्थ बतलाया है जैसाकि महर्षि मुण्डक कहते हैं –

> – प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म।
> एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति॥
>
> —मु० उ० १।२।७।

प्राकृतिक नित्य साम्वत्सरिक यज्ञ पृथिवी—अन्तरिक्ष—द्यौ भेद से तीन लोकों में वितत है। त्रैलोक्य में वितत रहने के कारण ही इसे आतानयज्ञ–वितानयज्ञ–त्रेताग्नियज्ञ—इत्यादि विविध नामों से व्यवहृत किया जाता है। इसी के आधार पर यहां वैधयज्ञ में गार्हपत्य–दक्षिणाग्नि–आहवनीय, इन तीन अग्नियों का विधान किया जाता है। गार्हपत्य पृथिवी की प्रतिकृति (नकल) है, दक्षिणाग्नि अन्तरिक्ष की, आहवनीय द्युलोक की प्रतिकृति है। सूर्य्य की प्रतिकृति 'यूप' है। पारमेष्ठ्य ब्रह्मसोम की प्रतिकृति लता से निकाला हुआ सोमरस है। प्राकृतिक यज्ञ में ऋग्वेदावच्छिन्न अग्नि होता है, यजुर्वेदावच्छिन्न वायु अध्वर्यु है, सामवेदावच्छिन्न आदित्य उद्गाता है, त्रयीमूर्त्ति चन्द्रमा ब्रह्मा है, त्रैलोक्य व्यापक अधिष्ठाता अग्नि यजमान है। इसी आधार पर इस वैधयज्ञ में होता ऋग्वेदी, अध्वर्यु यजुर्वेदी, उद्गाता सामवेदी, एवं ब्रह्मा त्रैविद्य होता है। प्रजापति की प्रतिकृति स्वयं यज्ञकर्त्ता यजमान है।

आत्मा को मनःप्राणवाङ्मय कहा गया है। यज्ञद्वारा नवीन आत्मा उत्पन्न कराया जाता है। दूसरे शब्दों में यज्ञद्वारा सौरदिव्य मनःप्राणवाङ्मय आत्मा का मानुषात्मा (कर्म्मात्मा) के साथ सम्बन्ध कराया जाता है। फलतः वैधयज्ञ में मन—प्राण—वाक्—इन तीनों कलाओं के समावेश की आवश्यकता अवश्यंभाविनी बन जाती है। इसी आत्मसम्पत्ति के लिए ऋत्विगात्मीय ऋत्विजों का सहयोग आवश्यक हो जाता है। होता—अध्वर्यु—उद्गाता ये तीनों तो वाक्तत्त्व सम्पादित करते हैं। अध्वर्यु प्राणसम्पत् संचित करता है। एवं चौथा ब्रह्मा मनोयोगद्वारा मनोमयी विभूति पर अपना अधिकार जमाता है। प्रकारान्तर से यों भी कहा जा सकता है कि, ऋग्वेदी होता ऋक्तत्त्व पर प्रतिष्ठित १ शस्त्र कर्म्म से वाक्कला सम्पन्न करता है, यजुर्वेदी अध्वर्यु यजुस्तत्त्व पर प्रतिष्ठित २-ग्रह कर्म्म से प्राण का संचय करता है। सामवेदी उद्गाता सामतत्त्व पर प्रतिष्ठित ३-स्तोत्र कर्म्म से महिमामण्डल का निर्म्माण करता है। ब्रह्माद्वारा

२१६ वें पृष्ठ का शेषांश

विशेषविवरण—

प्रक्रान्त प्रकाशन में हमारी भ्रान्ति से यह विषय अप्रकाशित रह गया था। अतः इसे स्वतन्त्र पृष्ठ में प्रकाशित कर यहाँ समाविष्ट करना पड़ा। पाठक इसे २१६ वें पृष्ठ की १२ वीं पंक्ति तथा १३ वीं पंक्ति के मध्य का विषय समझें।

—सम्पादक

जिस प्रकार स्वयम्भू ऋषिप्राणप्रधान, परमेष्ठी पितर-एवं असुरप्राणप्रधान, चन्द्रमा गन्धर्व-प्राणप्रधान, पृथिवी वसुप्राणप्रधान, किंवा वैश्वानरप्रधान है, एवमेव विश्वमध्यस्थ सूर्य्य "चित्रं देवानामुदगात्" इत्यादि के अनुसार देवप्राणप्रधान है। इसी सौर देवभाव से यज्ञद्वारा नवीन आत्मा उत्पन्न होता है, अतएव इसे "दैवात्मा" नाम से व्यवहृत किया जाता है। इसके अतिरिक्त चिदात्मा के सम्बन्ध से इसी से दूसरे "विज्ञानात्मा" का भी विकास होता है। दोनों में से क्रमप्राप्त पहिले दैवात्मा का ही संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जाता है।

यज्ञमूलक दैवात्मा—

आवपन पर प्रतिष्ठित अन्नाद (अग्नि) के साथ अन्न (सोम) का मिथुन सम्बन्ध हो जाना ही यज्ञ है। यद्यपि मौलिक यज्ञ की प्रथम विश्वसमृष्टि आपोमय परमेष्ठी ही है, तथापि रोदसी त्रिलोकी में रहने वाली प्रजा की अपेक्षा से प्रकृत में यज्ञ से सौरसंस्था का ही ग्रहण करना न्याय-प्राप्त है। सौरप्राणदेवता इसी यज्ञ के बल पर अमृतत्व को प्राप्त हो रहे हैं। सूर्य्य का अंश प्रवर्ग्य बन कर पृथिवी पर आकर पार्थिव बनता हुआ मृत्युधर्म्म से आक्रान्त हो जाता है। आगे आकर यज्ञ के प्रभाव से ही यह पार्थिव प्राणदेवता स्वप्रभव सौरप्राण के साथ ग्रन्थिबन्धन करते हुए मृत्युपाश से विमुक्त हो जाते हैं। आर्षमहर्षियों ने प्रकृति के इस गुप्त रहस्य का अपनी दिव्यदृष्टि से साक्षात् कार किया, एवं उसी प्राकृतिक नित्य यज्ञ के आधार पर अमृतभाव-सम्पादक वैधयज्ञ का आविष्कार किया।

मनोमय भाग सञ्चित होता है। इस प्रकार शस्त्र—स्तोत्र—ग्रह–द्वारा ऋत्विक् लोग यज्ञकर्म से नया देवात्मा उत्पन्न कर देते हैं०।

शस्त्रकर्म—हौत्र—— ऋचा सम्पद्यते—(होता)
ग्रहकर्म——आध्वर्यव—यजुषा सम्पद्यते– (अध्वर्यु)
स्तोत्रकर्म—औद्गात्र—साम्ना सम्पद्यते—(उद्गाता)
सर्वाभ्यस्तो ब्रह्मा

'यजति' धात्वर्थ के परिज्ञान के लिए वैय्याकरणों के 'भूपाल' की शरण में आइये। वहाँ तो केवल ''यज–देवपूजा, संगतिकरण, दानेषु' इसी पर विश्राम समझिए। देवताओं का पूजन, देवताओं के लिए दान, एवं देवताओं का परस्पर संगतिकरण, इन्हीं तीनों भावों के लिए 'यजति' प्रयुक्त हुआ है। प्रकृत में देवात्मसम्बन्ध से संगतिकरण अर्थ ही अभिप्रेत है। यज्ञकर्त्ता यजमान इसी देवप्राण किंवा देवात्मा के प्रभाव से साधारण अयज्ञिय मनुष्यों की अपेक्षा उत्कृष्टकर्म्मा, एवं उत्कृष्टधर्म्मा बन जाता है। साक्षात् सौमदेवता बन जाता है, स्वर्गत्व प्राप्त कर लेता है, दिव्यप्राण को पहिचान लेता है। इसी यज्ञफल का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

सप्तस्य अङ्गिरस्पगन्म ज्योतिरमृता अभूम।
दिव पृथिव्या अध्यारुहामाविदाम देवान्त्स्वर्ज्योतिः ॥ (यजु० मं० ८। ५२।)।

। यज्ञविद्या साधारण विद्या नहीं है। अपितु रूप—रस—गन्ध—स्पर्श–शब्दशून्य अतएव इन्द्रियातीत प्राणतत्त्व को अधिकार में लाने वाली एक असाधारण शक्ति है। अत इस की इतिकर्त्तव्यता में हमारे लिए एकमात्र शास्त्र ही शरण है। मनमाना फल की (वृष्टिशुद्धि आदि की) कल्पना कर यथेच्छ पद्धतियों का निर्म्माण कर व्याज से यज्ञ का अनुगमन करना समृद्धि के स्थान में सर्वनाश का कारण है। यज्ञ एक नया असाधारण देवात्मा उत्पन्न करता है, यह कोई बालक्रीड़ा नहीं है। अवैध पद्धति से मनमाने कार्यों में स्वाहा–स्वाहा बोलते हुए दो चार बार पूर्णाहुति देने से ही यज्ञेतिकर्त्तव्यता समाप्त नहीं हो जाती। आज श्रौतपद्धतियों का तिरस्कार कर कल्पित पद्धतियों के आश्रय से ही यज्ञविद्या विछिन्नभाव होगई है। अस्तु कहना केवल यही है कि प्रकृति–प्राणविशेष से आरम्भ को अध्यात्म में प्रतिष्ठित कराना ही यज्ञ है। यज्ञजनित यह और देवात्मा मानुषात्मा से युक्त होकर स्थूलशरीर के परित्यागानन्तर इस स्वर्ग भवन में ले

—न सब यज्ञिक पदार्थों का मौलिक रहस्य एवं इतिकर्त्तव्यता (पद्धति) शतपथ ब्राह्मण हिन्दीविज्ञानभाष्य के प्रथम वर्ष के प्रथम अङ्क में देखना चाहिए।

जाता है। दैवात्मा का यही मुख्य कर्म है। भक्ष्यकर्म का इस से कोई सम्बन्ध नहीं है। कारण सौम्याग्नि मय होने से यह असङ्ग है। इस पर वासना-भावना आदि संस्कारों का लेप नहीं हो सकता। इस का प्रभव यज्ञ है योनि वेदमन्त्र हैं प्रतिष्ठा मानुषात्मा कर्मात्मा) है, आशय सर्वाङ्ग शरीर है। यह आत्मा इतर खण्डात्माओं के समान साधारण नहीं अपितु असाधारण है। जो विद्वान् यथाविधि यज्ञ करते हैं, उन्हीं में यह अपूर्व आत्मा प्रतिष्ठित रहता है। अयज्ञिय यज्ञाज्ञात मनुष्य इस दैवात्मा से सर्वथा वञ्चित हैं। हाँ इसी सूर्य्य का विज्ञानात्मा नाम का जो दूसरा विवर्त्त है, वह सर्वसाधारण में प्रतिष्ठित है। मानुषात्मा, एवं दैवात्मा के इसी पार्थक्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

> सर्वेषाञ्च हैष भूतानामात्मा—यदग्निः। तद् प्रस्तरमिपथ, अभिगुप्य—अग्नौ जुहोति। तदस्मादमृत दधाति, तदात्मममृत भवे। दैवो वा ऽअस्यैष आत्मा, मानुषोऽयम्। देवा ह वा ऽअमृता, अथ मनुष्या। तस्मादग्नौ हुत्वा भक्षयति"। (शत० ६।५।१।११।)

दूसरा विवर्त्त है विज्ञानात्मा का। यह अपेक्षया असाधारण होता हुआ भी सृष्टिक्रमानुसार सर्व सूर्य्यमूलक विज्ञानात्मा—साधारण में प्रतिष्ठित है। विज्ञानात्मोपनिषत् का आरम्भ करते हुए बतलाया गया है कि, आनन्दविज्ञानगर्भित मनःप्राणवाङ्मय विद्या—कर्मात्मक अमृतमृत्युमय, अव्ययात्मा नाम से प्रसिद्ध चिदात्मा (षोडशी-पुरुष) का पूर्ण विकास सूर्य्य में ही होता है। अतएव सौर इन्द्र को षोडशी कहा जाता है। सूर्य्यगत चिदात्मा किंवा चिदंश अपनी विद्या (ज्ञान) अविद्या (कर्म्म) नाम की दोनों कलाओं से पूर्णरूप से विकसित है। सूर्य्यप्रतिष्ठित चिद् (ज्ञानमात्रा) इन्द्र (प्राणमात्रा) सोम (भूतमात्रा) विशिष्ट यही विज्ञानभाग अध्यात्म में प्रविष्ट होकर 'विज्ञानात्मा' नाम से प्रसिद्ध होता है। यही विज्ञानात्मा "कारयिता—प्रज्ञा—बुद्धि" आदि विविध नामों से व्यवहृत हुआ है। महदुक्थ नाम से प्रसिद्ध नाभ्यन्तस्थ (नाभिनद्वार—हविद्वार) से यह अध्यात्म में प्रविष्ट होता है। सूर्य्य इस का प्रभवस्थान है, नाभ्यन्तद्वार योनि है प्रज्ञानमन (सर्वेन्द्रिय नाम से प्रसिद्ध अनिन्द्रियमन) इस की प्रतिष्ठा है। आशय सर्वाङ्ग शरीर है।

विज्ञानात्मा में प्रतिष्ठित सोममय चिदंश 'धिषणा' कहलाता है, एवं इन्द्रतत्त्व 'प्राण' नाम से प्रसिद्ध है। धिषणाभाग ज्ञानप्रधान होता हुआ विद्यात्मक है प्राणभाग क्रियाप्रधान होता हुआ अविद्यात्मक है। इस प्रकार धिषणा-प्राण-रूप से विज्ञानात्मा पर इस ज्ञान—कर्म्ममय, किंवा विद्या—कर्म्ममय पुरुषात्मा का पूर्ण अनुभव हो रहा है।

यद्यपि आजदिन 'बुद्धि—मनीषा—धिषणा—धी—प्रज्ञा—मति' आदि सब शब्दों का एक ही तात्पर्य समझा जारहा है। परन्तु विज्ञानबुद्धि से विचार करने पर आप को विदित होगा कि उक्त सब शब्द सर्वथा भिन्नार्थक हैं। यद्यपि वस्तुतत्त्व एक है, परन्तु उपाधि भेद से प्रज्ञानात्मा वही बुद्धि मनीषा-आदि भेद से नानारूपों में परिणत हो रहा है। अवस्थाभेद से ही तो पदार्थ भेद का कारण है। नहीं तो जो मन है, वही बुद्धि है, वही प्रज्ञा है यह कहने में भी कोई हानि नहीं। वही सावित्राग्नि स्वमण्डल में (सूर्य्यलोक में) प्रतिष्ठित रहता हुआ देखता है, एवं प्रवर्ग्यरूप से सूर्य्य से पृथक् होकर अन्तर्य्याम सम्बन्ध से पृथिवी में प्रतिष्ठित होकर गायत्री नाम से प्रसिद्ध होता हुआ वही सौर अग्नि "भूत" प्रधान बन जाता है। अन्न ही तो अवस्थान्तर में मल है। क्या अन्न और मल एक वस्तु है? बस यही अवस्थाभेदमूलक भेद बुद्धि-मनीषा आदि शब्दों में समझिए।

I

विदेश—इन्द्र—सोम—इन तीनों ज्ञान—क्रिया—अर्थमय भावों की समष्टिरूप विशुद्ध अव्ययतत्त्व बुद्धि है। विज्ञानात्मिका यह बुद्धि प्रज्ञानात्मक मन पर प्रतिष्ठित होकर ही विकसित होती है। भौतिक विषयों का इन्द्रियों के द्वारा सर्वप्रथम (संस्काररूप से इन्द्रियाभिमानी) प्रज्ञान मन के साथ सम्बन्ध होता है। वासनामावनासंस्कार रूप से प्रज्ञान मन पर प्रतिष्ठित विषयों का ही बुद्धि भोग करती है। दूसरे शब्दों में भावनावासनासंस्कारावच्छिन्न मन ही बुद्धि का अन्न है। "अन्नं मा इन्द्र" (ऐ० २।४।) के अनुसार अन्न तत्त्व "इद्" नाम से प्रसिद्ध है। संस्कारावच्छिन्न इद् रूप (अन्नरूप) मन को अपने गर्भ में रखने वाली वही विशुद्धा बुद्धि बुद्धि न कहला कर 'मनीषा' नाम से व्यवहृत होती है। निर्विषया, निरुपाधिका बुद्धि बुद्धि है, सविषया सोपाधिका वही बुद्धि मनीषा है। सांसारिक विषयों को ही सुखमूल मानने वाले सांसारिक यथाजात मनुष्यों में विषयों की प्रधानता से मन प्रबल रहता है विषयाधिक्य से प्रबल बना हुआ मन अन्न रूप बनता हुआ भी बुद्धि पर अपना अधिकार जमा लेता है। ऐसा विषयप्रधान मन रहती हुई बुद्धि की अपेक्षा कर एक प्रकार से स्वतन्त्र बन जाता है। दूसरे शब्दों में यों कहा जासकता है कि, विषयासक्त मन बुद्धि का अन्न नहीं रहता, अपितु बुद्धि मन का अन्न बनी रहती है। इसी बुद्धिपारतन्त्र्य, एवं मन स्वातन्त्र्य का निरूपण करते हुए महर्षि कठ कहते हैं—

यस्त्वविज्ञान् भवति अयुक्त न मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथे ॥ कठोपनिषत् १।३।५।

ठीक इसके विपरीत शास्त्र अभ्यास के द्वारा अथवा पूर्व जन्म के सुसंस्कारों के प्रभाव से जिनका मन बुद्धि का अन्न बन जाता है वे विचारशील मनुष्य इसी मनीषा के द्वारा मनीषी कहलाते हैं। इन्हीं पुरुषार्थियों का लक्ष्य में रख कर आगे आकर श्रुति कहती है—

जाता है। दैवात्मा का यही मुख्य कर्म्म है। मनुष्यकर्म्म का इस से कोई सम्बन्ध नहीं है। कारण सौरप्राणमय होने से यह असङ्ग है। इस पर वासना-भावना आदि संस्कारों का लेप नहीं हो सकता। इस का प्रभव यज्ञ है, यानि वेदमन्त्र हैं प्रतिष्ठा मानुषात्मा (कर्म्मात्मा) है, आशय सर्वाङ्ग शरीर है। यह आत्मा इतर कर्म्मात्माओं के समान साधारण नहीं अपितु असाधारण है। जो विद्वान् यथाविधि यज्ञ करते हैं, उन्हीं में यह अपूर्व आत्मा प्रतिष्ठित रहता है। अयज्ञिय यजमान मनुष्य इस दैवात्मा से सर्वथा वञ्चित हैं। हां इसी सूर्य्य का विज्ञानात्मा नाम का जो दूसरा विवर्त्त है, वह सर्वसाधारण में प्रतिष्ठित है। मानुषात्मा, एवं दैवात्मा के इसी पार्थक्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

> सर्वेषाह्येष देवानामात्मा—यदग्निः। तद् प्रावरमिपद्य, अभिगुप्य—
> अग्नौ जुहोति। तदग्नावमृतं दधाति, तदात्मममृत भवे। दैवो वा
> ऽअस्यैष आत्मा, मानुषोऽयम्। देवा उ वा ऽअमृं, अथ मनुष्याः।
> तस्मादग्नौ हुत्वा भक्षयति"। (शत० २।४।१।११।)

दूसरा विवर्त्त है विज्ञानात्मा का। यह अपेक्षया असाधारण होता हुआ भी सृष्टिक्रमानुसार सर्व <u>सूर्य्यमूलक विज्ञानात्मा</u>—साधारण में प्रतिष्ठित है। विज्ञानात्मोपनिषत् का आरम्भ करते हुए बतलाया गया है कि, आनन्दविज्ञानगर्भित मनःप्राणवाङ्मय, विद्या-कर्म्मात्मक अमृतमृत्युमय, अव्ययात्मा नाम से प्रसिद्ध चिदात्मा (षोडशी-पुरुष) का पूर्ण विकास सूर्य्य में ही होता है। अतएव सौर इन्द्र को षोडशी कहा जाता है। सूर्य्यगत चिदात्मा, किंवा चिदंश अपनी विद्या (ज्ञान), अविद्या (कर्म्म) नाम की दोनों कलाओं से पूर्णरूप से विकसित है। सूर्य्यप्रतिष्ठित चित् (ज्ञानमात्रा) इन्द्र (प्राणमात्रा) सोम (भूतमात्रा) विशिष्ट यही विज्ञानभाग अध्यात्म में प्रविष्ट होकर 'विज्ञानात्मा' नाम से प्रसिद्ध होता है। यही विज्ञानात्मा "कारयिता-प्रज्ञा-बुद्धि" आदि विविध नामों से व्यवहृत हुआ है। ब्रह्मरन्ध्र नाम से प्रसिद्ध नान्दनद्वार (नाम्नद्वार—इन्द्रद्वार) से यह अध्यात्म में प्रविष्ट होता है। सूर्य्य इस का प्रभवस्थान है नान्दन द्वार योनि है प्रज्ञानमन (सर्वेन्द्रिय नाम से प्रसिद्ध अनिन्द्रियमन) इस की प्रतिष्ठा है। आशय सर्वाङ्ग शरीर है।

विज्ञानात्मा में प्रतिष्ठित सोममय चिदंश 'धिषणा' कहलाता है, एवं इन्द्रतत्त्व 'प्राण' नाम से प्रसिद्ध है। धिषणाभाग ज्ञानप्रधान होता हुआ विद्यात्मक है, प्राणभाग क्रियाप्रधान होता हुआ अविद्यात्मक है। इस प्रकार धिषणा-प्राण-रूप से विज्ञानात्मा पर उस ज्ञान-कर्म्ममय, किंवा विद्या-कर्म्ममय

साथ, दूसरे शब्दों में मन के साथ बुद्धि के दर्शन किए जायंगे, तो इस अवस्था में इसे प्रज्ञान में केन्द्र करे "मति" कहा जायगा। यद्यपि मनन (चिन्तन) मन का धर्म्म माना गया है। परन्तु किसी एक विषय पर चिरकाल पर्य्यन्त मन की वृत्ति को लगाए रहना ही मनन है। उधर—"चञ्चलं हि मन कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्" (गीता ६।३४) के अनुसार सर्वथा चञ्चल मन अपने विशुद्धरूप से स्थिरधर्म्म के प्रयोजक मनन-व्यापारमें असमर्थ है। स्थिरधर्म्म-प्रयोजिका एकमात्र बुद्धिके सहयोग से ही मनमें स्थिरता का उदय होता है। इसी अवस्थामें मानना पड़ेगा कि मनन न केवल मन का व्यापार है न केवल बुद्धि का व्यापार है। अपितु बुद्धियुक्त मन ही, किं वा मनोमयी बुद्धि ही मनन की अधिष्ठात्री है। मनन ही "मति" है। मनोयुक्ता बुद्धि ही मति है।

उपर्युक्त अवस्थाकृत भेदों को समझते हुए बुद्धि मनीषा-मति-प्रज्ञा-आदि का पर्य्यायसम्बन्ध मानना किसी सीमा तक ठीक है। परन्तु आंख मीच कर यथेच्छ प्रयोग करना विज्ञान विरुद्ध है। अस्तु. विविध भावात्मिका इस बुद्धि को प्रकृत प्रकरण में हमने "विज्ञानात्मा" नाम से व्यवहृत किया है। इस नाम करण की उपपत्ति यही है कि, प्रज्ञान मन सब में समान है परन्तु व्यक्तिभेद से बुद्धि में अन्तर है। ऐन्द्रियक विषय भोग करना मन का काम है। इस अंश में सब समान हैं। आहार—निद्रा—भय—अशन—पानादि इन्द्रिय भोगों में सब की समान वृत्ति है— 'सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्'। इस दृष्टि से सब मनुष्य एक श्रेणि में प्रतिष्ठित हैं। परन्तु बुद्धि विज्ञानमयी है विविध-ज्ञानमयी है। सौरज्ञान विविधरूप में परिणत होकर ही अस्मदादि में प्रतिष्ठित होता है। उसका एक ही ज्ञान (बुद्धि) अनेक भागों में विभक्त होरहा है। एक स्थान में प्राणपरीक्षा-विज्ञान प्रतिष्ठित देखा जाता है। इसी विज्ञान के आधार पर यह भगे हुए चोर का पता लगाने में समर्थ होता है। ज्ञानका गर्व रखने वाले हम मनुष्यों में यह शक्ति नहीं है। विज्ञानधारा सर्वथा विभक्त होरही है। इसी के तारतम्य से एक पण्डितराज भी व्याख्यान नहीं देसकते, एक साधारण व्यक्ति भी अच्छा बोल लेता है। इसी विज्ञान की कृपा से एक श्रमजीवी (मजदूर) दिन भर पत्थर ढोहने पर भी चार-छः आना ही प्राप्त करता है, परन्तु इसी विज्ञान की महिमा से शान्ति से बैठा हुआ एक वैज्ञानिक क्षणमात्र में अतुल सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है, एवं सर्वत्र उस का यश व्याप्त होजाता है। इस प्रकार बुद्धि अनेक रूपा है, प्रज्ञानवत् समान-धर्म्मिणी नहीं है। बुद्धि के इसी वैविध्य से 'विविधं ज्ञान विज्ञानम्' इस निर्वचन के अनुसार इसे विज्ञानात्मा कहा जाता है। विज्ञान के तारतम्य से ही सेवक-स्वामी, गुरु-शिष्य, हाकिम-अहलकार, छोटा-बड़ा अमीर-गरीब इत्यादि द्वन्द्वभाव उत्पन्न होते हैं।

विज्ञानात्मा में धिषणा—प्राण, ये दो कलाएँ बतलाई गई हैं। साथ ही में धिषणा भाग को ज्ञान धिषणा, तथा प्राणविवर्त्त—कहा है एवं प्राणभागको कर्म्म कहा है। ज्ञानकर्म्ममयी विज्ञानात्मिका इस बुद्धि के आगे जाकर आठ विवर्त्त हो जाते हैं। "अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः" (पा० योग

दर्शन २।३) के अनुसार, कर्मात्मा को प्रत्यवाय का भागी बनाने वाले पाँच क्लेश प्रसिद्ध हैं। पहला अविद्या है। 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' (गीता ५।१५) के अनुसार यही अज्ञान अविद्या मोह की जननी है। ज्ञानाभाव अज्ञान नहीं है अपितु अज्ञानावृत ज्ञान ही अज्ञान है। अनुकूल बन्धन राग है, प्रतिकूल बन्धन द्वेष है। जिस प्रकार अपना आत्मीय सदा मन पर चढ़ा रहता है उसी प्रकार आत्मीय से भी कहीं अधिक शत्रु बुद्धि पर चढ़ा रहता है। जो राग है वही द्वेष है। दोनों में आसक्ति बन्धन समान है। अत एव दोनों को दो न मान कर एक रूप से 'आसक्ति' नाम से व्यवहृत किया जाता है। आत्मा का संकोचभाव ही 'अस्मिता' है। सम्पूर्ण ऐश्वर्य आत्मा में प्रतिष्ठित है। फिर भी हम अपने कार्य्यों में परमुखापेक्षी बन रहे हैं। आज यह नहीं, कल वह नहीं इस प्रकार से आत्मा अपने आप प्रत्येक वस्तु की कमी का अनुभव किया करता है। यही आत्मा का अस्मिता—(स्मितभाव का—विकास का अभाव)—भाव है। दुराग्रह ही 'अभिनिवेश' है। शास्त्रज्ञानाभावरूप अज्ञान से अविद्या का उदय होता है, आसक्ति से रागद्वेष का, अनैश्वर्य से अस्मिता का एवं अधर्म्म से अभिनिवेश का उदय होता है। रागद्वेषरूपा आसक्ति, अविद्या, अस्मिता, अभिनिवेश, ये चारों ही अविद्याएँ हैं। इन चारों का सम्बन्ध बुद्धि के कर्म्मप्रधान प्रज्ञा भाग के साथ रहता है। इसीलिए प्रज्ञाभागावच्छेदेन बुद्धि की चार अवस्थाएँ होजाती हैं।

दूसरा है भिपसा भाग। इस के साथ अविद्यानुग्रही के चार विपर्य्ययों का सम्बन्ध रहता है। अविद्या का विरामाव ज्ञान से होता है। अस्मिता का विशमन ऐश्वर्य से होता है। आसक्ति का विराम वैराग्य से होता है। धर्मभावना अभिनिवेश का उच्छेद करता है। इन का सम्बन्ध ज्ञानमय भिपसा के साथ होता है, अत एव भिपसावच्छेदेन बुद्धि की इन चारों ज्ञानमयानावस्थाओं को "विद्याबुद्धि" कहा जाता है। इस प्रकार क्लेश एवं क्लेश के चार विपर्ययों के सम्बन्ध से भिपसा-प्रज्ञात्मिका बुद्धि की आठ अवस्थाएँ होजाती हैं। यही प्राधानिकशास्त्र की—' अष्टौ बुद्धय ' हैं। विद्याबुद्धि-चतुष्टयी से आत्मा का विद्याभाग प्रसन्न होता है, अतएव इसे विद्याबुद्धि (आत्मविद्यानुगामिनी बुद्धि) नाम से व्यवहृत करना यथाप्राप्त है। एवं क्लेशानुगतावच्छिन्ना प्रज्ञाप्रधाना अविद्या बुद्धि से सम्बन्धात्मा का अविद्या भाग सबल बनता है, अत इसे अविद्याबुद्धि—(आत्माविद्यानुगामिनी बुद्धि) नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ है।

बुद्धि	१—१—धर्म्मबुद्धि	आर्षविद्या	धर्म्मप्रवर्त्तिका	—विषयप्रधाना विद्याबुद्धिचतुष्टयी
	२—२—ज्ञानबुद्धि	सिद्धविद्या	ज्ञानप्रवर्त्तिका	
	३—३—वैराग्यबुद्धि	राजर्षिविद्या	वैराग्यप्रवर्त्तिका	
	४—४—ऐश्वर्य्यबुद्धि	राजविद्या	ऐश्वर्य्यप्रवर्त्तिका	
	५—१—अभिनिवेशबुद्धि		अधर्म्मप्रवर्त्तिका	—प्राणप्रधाना-अविद्याबुद्धिचतुष्टयी
	६—२—अविद्याबुद्धि		अज्ञानप्रवर्त्तिका	
	७—३—रागद्वेषबुद्धि		आसक्तिप्रवर्त्तिका	
	८—४—अस्मिताबुद्धि		अस्मिताप्रवर्त्तिका	

यह है सौर विज्ञानात्मा का संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन। इस का प्रधान कर्म्म है-प्रज्ञानमनोऽवच्छिन्न, प्रकरणोपसंहार— वैश्वानर तैजस प्राज्ञसमष्टिरूप कर्म्मात्मा को कर्म्म में प्रवृत्त रखना। इसी की प्रेरणा से कर्म्मात्मा कर्म्म करने में समर्थ होता है अत एव इसे कारयिता (कर्म्म कराने वाला) कहा गया है। प्रज्ञान मन पर विषय आते हैं परन्तु यह विज्ञानात्मा (बुद्धि) विषय पर जाता है। "यह बात हमारी समझमें नहीं आई, अमुक बात हमारे जचती ही नहीं" यह व्यवहार प्रज्ञानमन से सम्बन्ध रखते हैं। 'हमारा खयाल उस ओर नहीं दौड़ता, सोचते हैं, परन्तु अकल काम नहीं करती" इत्यादि व्यवहार विज्ञानात्मा से सम्बन्ध रखते हैं। नवीन कृति में विज्ञान की प्रधानता रहती है प्रतिकृति (नकल) में प्रज्ञान की प्रधानता रहती है। नवीनग्रन्थ की रचना बुद्धि से सम्बन्ध रखती है, बने हुए ग्रन्थ की प्रतिलिपि में मनो व्यापार प्रधान रहता है। शरीरनिपात के अनन्तर यह विज्ञानात्मा भोगमापक बना हुआ कर्म्मात्मा के साथ साक्षी रूप से युक्त रहता है। स्वस्वरूप से असङ्ग इस विज्ञानात्मा का गति-आगति-प्रेत्यकर्म्म-आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रज्ञविज्ञान उसका अधिष्ठाता मात्र है। विज्ञानात्मनिरूपण गतार्थ हुआ। अब क्रमप्राप्त "महानात्मविज्ञानोपनिषत्" की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

सविस्तरं दैव-विज्ञानमेतत् द्विकलोऽर्थं सूर्य्यो विज्ञानात्मा वा व्याख्यातो द्रष्टव्य ।

समाप्ता चेयं श्राद्धविज्ञानान्तर्गत 'आत्मविज्ञानोपनिषदि' प्रथमायां प्रथमखण्डात्मिकायां विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्' चतुर्थी ।

४

---

* इन सब विषयों का सोपपत्तिक विचार विस्तार 'गीताहिन्दीविज्ञानभाष्य' में देखना चाहिए।

इति

समाप्ता चेयं

'विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्' चतुर्थी

४

—•—

अथ

आत्मविज्ञानोपनिषदि (प्रथमखण्डे)

'महानात्मविज्ञानोपनिषत्' पंचमी

५

— [१] —

(५) { १—अधिदैवतम्→चन्द्रमाः (पूर्णमदः)
२—अध्यात्मम्→महान् (पूर्णमिदम्) } (४)

अथ

श्राद्धविज्ञानान्तर्गत-'आत्मविज्ञानोपनिषदि' प्रथमायां—
"महानात्मविज्ञानोपनिषत्"-पञ्चमी

५

महानात्मा-प्राकृतात्मा-चन्द्रमा (४)

१—आकृतिमहान् (आकृत्यात्मा)

२—प्रकृतिर्महान् (प्रकृत्यात्मा)

३—अहङ्कृतिमहान् (अहङ्कृत्यात्मा)

साऽयं त्रिकला महानात्मा प्राकृतात्मा वा चन्द्रमा

१—मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥
२—सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता-१४अ०।३,४, ।

(५) महानात्मस्वरूपपरिचयः—(तेज-स्नेहमयो महानात्मा)

१—स नो महाँ अनिमानो धूमकेतुः पुरुश्चन्द्रः ।
धिये वाजाय हिन्वतु ॥—ऋक् सं० १।२७।११

२—क इमं वो निण्यमा चिकेत वत्सो मातॄर्जनयत स्वधाभिः ।
बह्वीनां गर्भो अपसामुपस्थान् महान् कविर्निश्चरति स्वधावान् ॥—ऋक् सं० १।९५।४

३—महाँ असि महिष वृष्ण्येभिर्धनस्पृदुग्र सहमानो अन्यान् ।
एको विश्वस्य भुवनस्य राजा स योधया च क्षयया च जनान् ॥—ऋक् सं० ३।४६।२

४—नि वेवेति पलितो दूत आस्वन्तर्महाँश्चरति रोचनेन ।
वपूंषि बिभ्रदभि नो वि चष्टे महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥—ऋक् सं० ३।५५।९

५—आविः सन्निहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत् समर्पितम् ।
एजत् प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥

—मुण्डको० २।२।१

६—एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः ।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥—श्वे० ५।३

७—ततः स प्राणोऽभवन् महान् भूत्वा प्रजापतिः ।
प्रजो भविष्या विस्वा यत् प्राणान् प्राणयत् पुरि ॥—राम० भा० ७।२।१।२।

८—यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत ॥—कठोप० १।४।६

९—तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥—यजु० सं० ३२।१

१०—अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥—कठोप० १।२।२२

———•———

ॐ महानात्मब्रह्मणे नमः

महानात्मा—चन्द्रमा

'महद्ब्रह्म' स्तुपास्व

यो योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्॥—श्वे० उ० ५।२।
यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्यः।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः॥—श्वे० उ० ५।५।
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥—यजु० सं० ३१।१८
महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः॥—श्वे० उ० ३।१२।
भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि बहुब्रह्मैकमक्षरम्।
महद्ब्रह्मैकमक्षरम्॥—शत० ब्रा० १०।४।१।९।

महान की महत्ता— 'चिदात्मा' नाम से प्रसिद्ध षोडशीपुरुष, प्राणप्रधान अव्यक्तात्मा, आपःप्रधान-प्रज्ञात्मा, वाक्प्रधान विज्ञानात्मा, मनःप्रधान प्रज्ञानात्मा अन्नादप्रधान कर्मात्मा, विश्वाभिधान शरीर, भेद से पञ्चक संस्थायुक्त आध्यात्मिक प्रपञ्च की मूलप्रतिष्ठारूप यह महानात्मा सर्वमुख महान् (बड़ा) है। यदि अध्यात्मसंस्था से महानात्मा को पृथक् कर दिया जाता है तो शेष अव्यक्त-प्रज्ञादि आत्मविवर्त्त एवं शरीर सब कुछ उत्क्रान्त हो जाते हैं। सशरीर सम्पूर्ण आत्मविवर्त्त महान् के ही गर्भ में प्रतिष्ठित हैं। शुक्रमूर्ति महान् के साथ जब तक कर्मात्मा का सम्बन्ध रहता है तभी तक सशरीर सपरिग्रह कर्मात्मा बन्धन में है। महद्ग्रन्थि विमोक ही कर्मात्म मुक्ति का मूलद्वार है। भूत भविष्यत् वर्तमान सभी कुछ इसी महानात्मा पर प्रतिष्ठित है। संसार में जितनी भी आकृतियाँ हैं जितनी भी प्रकृति (स्वभाव) सब हैं जो भी अहंकृतियाँ हैं उन सब का प्रवर्त्तक यही महानात्मा है जैसा कि आगे चलकर विस्तार से स्पष्ट होने वाला है। महानात्मा के इसी सर्वाधारात्मक महत्त्व को लक्ष्य में रखते हुए वेदा

निकों ने सर्वव्यापक पोडशी सर्वेश्वर अव्यक्त, आदि किसी को भी महान न कह कर एकमात्र इस पारमेष्ठ्य-तत्त्व का ही 'महान' उपाधि से विभूषित किया है, जिस उपाधि का 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' के 'महदात्मप्रकरण' में विस्तार से विश्लेषण हुआ है।

"महोदेव" "महान्" इत्यादि नामों से प्रसिद्ध यह प्राकृतात्मा यद्यपि आपोमय परमेष्ठी की वस्तु है, महोदेव, और महान्—जैसा कि पूर्व के महात्मप्रकरण में बतलाया जा चुका है तथापि अध्यात्म-संस्था की अपेक्षा से इसकी मूलप्रतिष्ठा शुक्र है। उधर शुक्र चान्द्रपदार्थ है अतएव इस आत्म-प्रतिप्रकरण की अपेक्षा से इस प्रकरण में हमने इसे चन्द्रमा की वस्तु माना है। वस्तुतः इसकी महत्ता परमेष्ठी के सम्बन्ध पर ही निर्भर है। इस महानात्मा में सत्त्व रज तम, ये तीन गुण एवं आकृति प्रकृति अहङ्कृति भेद से तीन प्रकृतियाँ नित्य प्रतिष्ठित रहती हैं, जैसा कि महात्मप्रकरण में ही विस्तार से बतलाया जा चुका है। जब तक महानात्मा स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है, तब तक जीवात्मा कथमपि मुक्त नहीं हो सकता। महानात्मा में 'स्थूल-सूक्ष्म-कारण' शरीरभेद से तीन ग्रन्थियाँ रहती हैं। स्थूलग्रन्थि से वाङ्मय स्थूलशरीर स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इसका प्रधान सम्बन्ध पार्थिवभूतभाग-प्रधान तपोमूर्ति आकृतिमहान् के साथ है। सूक्ष्मग्रन्थि से प्राणगर्भित मनोमय सूक्ष्मशरीर की रक्षा होती है। इसका प्रधान सम्बन्ध चान्द्रभाग-प्रधान रजोमूर्ति प्रकृतिमहान् के साथ है। कारणग्रन्थि से मनो-गर्भित प्रज्ञामय कारणशरीर की स्वरूपरक्षा होती है। इसका प्रधान सम्बन्ध सौरभाग-प्रधान सत्त्वमूर्ति अहङ्कृतिमहान् के साथ है। जब तक इन तीनों ग्रन्थियों में से एक भी ग्रन्थि रहती है तब तक महानात्मा में चिदाभास (चित्प्रतिबिम्ब) रूप से प्रतिष्ठित चिदात्मा (जीव) कभी मुक्त नहीं होता। चिदात्मा की भाति यही महानात्मा है। मनुष्यैव भावत तत्त्व भी—"साऽनया प्रज्ञया विद्यया सहाप प्राविशद् तत माण्ड समवर्तत" (शत० ६।१।१।) के अनुसार इसी आपोमय महान के गर्भ में प्रविष्ट रहता है। भृग्वङ्गिरोमय पारमेष्ठ्य महानात्मा की प्रतिष्ठा भी यही आपोमय महान है। सौरविज्ञान चान्द्रप्रज्ञान भी यहीं प्रतिष्ठित है। शरीरत्रयमूर्ति अध्यात्मसंस्था का भी परम आधार यही महानात्मा है। भंभूमि-चिदात्मा दोनों का संचालक भी यही है। इस प्रकार इस महान की महत्ता सर्वात्मना सिद्ध है।

इस महानात्मा में प्रधानरूप से पारमेष्ठ्यनाम विरूप, पितृ प्राण, ये तीन तत्त्व प्रतिष्ठित हैं। नाम पितृ और पितरप्राण— तीनों तत्त्वों के समुच्चितरूप का ही नाम 'महानात्मा' है। सोमतत्त्व की अपेक्षा से यह महान् है विराट् की अपेक्षा से यह आत्मा है पितृप्राण की अपेक्षा से यही पितर है। पितरप्राणावच्छेद से ही यह महान—"अहम्बीजप्रदः पिता" "सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।" (गी० १४।३।) इस स्मार्त सिद्धान्त के अनुसार सब का प्रजापिता (उत्पादक) है। प्रजा-पिता को ही लोकभाषा में पिता कहा जाता है, अतएव महद्गर्भित प्रजापिता सोमप्राण को "पितर"

अपना व्यापक प्राप्त है। अधिदैवतसंस्था में यही प्रजनपिता परमेष्ठी नाम से प्रसिद्ध है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

१—"ता वा एताः प्रजापतेरधिदेवता असृज्यन्त अग्नि रिन्द्र सोमः परमेष्ठी प्राजापत्यः। स एव परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपश्यत्—दर्शपूर्णमासौ। ताभ्यामयजत। ताभ्यामिष्ट्वा कामयत—अहमेवेदं सर्वं स्यामिति। स आपोऽभवत्। आपो वा इदं सर्वम्। ता यत् परमे स्थाने तिष्ठन्ति (सर्वाण्यपि परमे स्थाने तिष्ठन्ति, तस्मात् परमेष्ठी नाम)।"

—शत० ११।१।६।१२,१३,१४,१५,१६,१७

२—"आपो पितृलोको वै पितरः" (शत० १३।८।१।२०)।

३—"पितृलोकः सोम" (कौ० १६।५)।

४—"पितृदेवत्यो वै सोमः" (शत० २।४।२।१२)।

५—"प्रजापतिर्वै चन्द्रमाः, प्रजापतिर्वै महान्देवः" (शत० ६।१।३।१६)।

यही महान संसार का शुक्र (उपादानब्रह्म) होने से "शुक्र" नाम से भी व्यवहृत हुआ है। "सपर्य्यगाच्छुक्रम्" (ई० उ०) 'शुक्रमेतदतितरन्ति धीरा" (मुण्डक) "तदेव शुक्रम्" (कठोपनिषत्) इत्यादि स्थलों में पढ़ा हुआ शुक्र शब्द महानात्मा का ही वाचक है। इस पारमेष्ठ्य सोममय महान् का चन्द्रमा के साथ सम्बन्ध होता है। दूसरे शब्दों में चान्द्र सोम ही आध्यात्मिक महान् की प्रतिष्ठा है। महद्ज्ञान—विज्ञानज्ञान—प्रज्ञानज्ञान, इन तीनों ज्ञानों में से विज्ञान (बुद्धि), एवं प्रज्ञान (मन) के ज्ञान का तो हमें प्रत्यक्ष हो जाता है परन्तु महत्-ज्ञान बड़ा विलक्षण है। उसका यथार्थ स्वरूप हमारे लिए अविज्ञेय ही रहता है। यह केवल अनुमानगम्य है। आप अपने घर से निकल कर देवदर्शनार्थ जा रहे हैं। मार्ग में जाते हुए आप एक साथ तीन कर्म कर रहे हैं। 'गमन' प्रधान कर्म है। गतिरूप कर्म के साथ साथ ही मार्ग में आने वाले दृश्यों को देखना, अच्छे बुरे शब्द सुनना सुरभि-असुरभि ग्रहण करना आदि इन्द्रिय सम्बन्धी कर्म भी हो रहा है। साथ ही में आप अपने अन्तर्जगत् में कुछ सोचते भी जाते हैं। 'एक समय में एक ज्ञान एक ही कर्म कर सकता है' यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। इधर आप एक ही समय में तीन कर्म कर रहे हैं। अत इन तीनों स्वतन्त्र कर्मों के लिए अवश्य ही तीन ज्ञानधारायें माननी पड़ती हैं। ऐन्द्रियककर्म की प्रतिष्ठा प्रज्ञान-ज्ञान (मन) है, अन्तर्जगत् में प्रवाहित विचारधारा की प्रतिष्ठा विज्ञान-ज्ञान (बुद्धि) है, एवं तीसरे गतिकर्म का संचालक महद्ज्ञान (महानात्मा) है। तीनों अपना अपना काम करते हुए एक दूसरे के उपकारक बने हुए हैं। दूसरे शब्दों में तीनों को स्व-स्व कार्य निर्वाह के लिए शांतिरूप से परस्पर में एक दूसरे का आश्रय लेना पड़ता है। यदि कोई ज्ञान अन्य ज्ञान में सर्वात्मना आत्मसमर्पण कर देता है, तो उसका अपना कर्मधर्म बंद हो जाता है। यदि आप सुन्दर दृश्य देखने में इतर-ज्ञानों का समावेश कर लेते हैं

तो विचारधारा बन्द हो जाती है। यहाँ विज्ञान प्रज्ञान में डूब रहा है। यदि महत् भी इसी ओर झुक जाता है, तो इस इतर विषय की तल्लीनता से महत् का गतिकर्म भी अवरुद्ध हो जाता है, आप या तो वहीं स्तब्ध हो जाते हैं, अथवा ठोकर खाकर गिर पड़ते हैं। इसी प्रकार यदि विज्ञान में प्रज्ञान एवं महत् का लय है तो न आप ऐन्द्रियक कर्म कर सकते न चल सकते। एवमेव यदि महत् में प्रज्ञान विज्ञान का लय है तो न आप विचार कर सकते, न ऐन्द्रियक कर्म कर सकते। केवल चलने में ध्यान रहता है। मार्ग में कौन आया, कौन गया, कौन मिला, किसने क्या कहा, आदि किसी का कुछ भी भान नहीं होता। इसी को अनन्ययोग कहा जाता है। यही आत्मसमर्पण है यही विषयसिद्धि का मुख्य द्वार है। उक्त तीनों में से विचार एवं विषयानुभव द्वारा विज्ञान प्रज्ञान का स्वरूप विदित हो जाता है। परन्तु महद्ज्ञान का स्वरूपज्ञान नहीं होने पाता। कारण इसका यही है कि प्रज्ञान विज्ञान तो ज्ञाता 'अहंपदार्थ' के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं, परन्तु अहंपदार्थ (स्वयं ज्ञाता) उस महान् के गर्भ में है— "विज्ञातारं वा अरे केन विजानीयात्"। महद्गर्भित 'अहं' ही उस महान् को कैसे जान सकता है। महद्ज्ञान तो इस ज्ञाता का स्वरूपकर्म है। दूसरे शब्दों में महानात्मा महत्-प्रकृति पर्यवच्छिन्न महानात्मा ही सर्वज्ञाता है। वह अपने आपको क्या जाने। हम ज्ञानपूर्वक अन्न खाते हैं। अन्न को मुख में डालकर गले के नीचे उतार देना यह तो हमें विदित है। परन्तु भुक्त अन्न किस मार्ग की प्रेरणा से 'रसासृङ्मांसमेदो' आदि धातुओं में परिणत हो गया ? यह अविज्ञात है। यह सम्पूर्ण अविज्ञात प्रपञ्च इसी अननुमेय महद्ज्ञान पर अवलम्बित है।

आकृति-प्रकृति-अहंकृतिनिर्माण स्वरूप कर्म ही इस महानात्मा का मुख्य कर्म है। षोडशी-प्रजापति

प्रजापति के तीन विवर्त—नाम से प्रसिद्ध सर्वात्मा के 'ईश्वर-जीव-जगत्' ये तीन विवर्त हैं। इसी त्रिवर्त पर श्रीवैष्णवों (रामानुजों) का विशिष्टाद्वैत प्रतिष्ठित है। इन्हीं तीन स्थानों में आत्मतत्त्व प्रतिष्ठित है। तीनों में हो षोडशात्मा समान है फिर भी तीनों के स्वरूप में अन्तर क्यों हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर है— अव्यय, अक्षर, क्षर, इन तीन आत्मावयवों का तारतम्य वैचित्र्य। ईश्वरसंस्था में आत्मा का अव्ययभाग प्रधान रहता है अक्षर एवं क्षर गौण रहते हैं। यही कारण है कि ईश्वरसंस्था में अव्यय अक्षर क्षर-तीनों आत्मविवर्तों के नित्य प्रतिष्ठित रहने पर भी एकमात्र अव्यय को ही ईश्वर कहा जाता है, जैसा कि स्मृति कहती है—

> उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
> यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
>
> —गी० १५।१७।

दूसरी जीवसंस्था में मध्यस्थित अक्षर का विकास है, अव्यय क्षर, दोनों गौण हैं। अन्न खाना 'अन्न' अव्यय का कर्म नहीं अपितु अक्षर का कर्म है। 'पराप्रकृति' नाम से प्रसिद्ध अक्षर ही 'जीवसंस्था'

है। दूसरे शब्दों में जीवात्मा का स्वरूप एकमात्र अक्षर ही पर प्रतिष्ठित है, अध्यात्मसंस्था का एकमात्र लक्ष्य अक्षर ही है। इसी के बोध से (ग्रन्थिविमोक से) जीवात्मा अव्यय स्वरूप में परिणत होता हुआ) मुक्त हो जाता है। जीवस्वरूप अक्षर-प्रधान है, अतएव अव्यय अक्षर क्षर, तीनों के विद्यमान रहने पर भी 'अक्षर' को ही जीवभूता प्रकृति कहा गया है, जैसा कि भगवान् कहते हैं—

इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥—(गी० ७।५)

तीसरा विवर्त 'जगत्' है। इस में न अव्यय की प्रधानता है, न अक्षर की। प्रधान है यहाँ केवल 'क्षर'। क्षर से ही भूत का विकास होता है। "क्षरः सर्वाणि भूतानि" (गी० १५।१७) के अनुसार क्षर ही भौतिक विश्व है। सृष्टिसाक्षी अव्यय मन का पूर्ण विकास स्वयं अव्यय में होता है यही ईश्वर है। इसमें अर्थ एवं क्रिया गौण हैं ज्ञानतत्त्व प्रधान है। अव्यय के प्राणभाग का विकास अक्षर में होता है यही जीवसृष्टि का प्रवर्तक है। यह अक्षर क्रियामूर्त्ति है। जीवसंस्था में अर्थ एवं ज्ञान गौण हैं, क्रियातत्त्व प्रधान है। तीसरी वाक्कला की पूर्णविकास भूमि क्षर है। यही जगत् है। यह क्षर अर्थमूर्ति है। विश्वसंस्था में ज्ञान एवं क्रिया गौण है, अर्थतत्त्व प्रधान है। इस प्रकार ज्ञान क्रिया-अर्थमय मनः प्राण-वाङ्मूर्ति अव्यय ही क्रमशः अव्यय-अक्षर-क्षरसंस्था में परिणत होता हुआ ईश्वर जीव-जगत्, इन तीन विवर्तभावों में परिणत हो जाता है। तीनों एकमात्र मनःप्राणवाङ्मय अव्यय की ही विभूति हैं। अव्यय-तत्त्व की इसी सर्वव्यापकता का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥—(गी० ७।७)

अव्ययमूर्त्ति ईश्वर ज्ञानप्रधान होता हुआ सत्त्वप्रधान है अक्षरमूर्त्ति जीव क्रियाप्रधान बनता हुआ

(त्रिगुणात्मक पुरुषब्रह्म——रजःप्रधान है, एवं क्षरमूर्त्ति विश्व अर्थप्रधान बनता हुआ तमःप्रधान है।

सत्त्वमूर्त्ति अव्यय से प्राणमय ब्रह्मा अनुगृहीत हैं रजोमूर्त्ति अक्षर से अन्नाद्मय विष्णु अनुगृहीत हैं एवं तमोमूर्त्ति क्षर से वाक् अन्न अन्नमय महादेव अनुगृहीत हैं। सत्त्वभाव शुक्ल है, असङ्ग है। तमोभाव कृष्ण है ससङ्ग है। रजोभाव साम्य होने से रक्त (अनुरक्त-आसक्त) है। आत्मा के इन्हीं तीनों गुणों का आगे जाकर महत्प्रकृति में उदय होता है। 'अज' अव्यय की 'अजा' प्रकृति आत्मगुणों से त्रिगुणभावमयी बन रही है। आकृति का सम्बन्ध सत्त्वगुण से होता है प्रकृति का सम्बन्ध रजोगुण से होता है एवं आकृति का सम्बन्ध तमोगुण से होता है। महान् में त्रैगुण्यभाव का उदय क्यों हुआ ?, इस प्रश्न का यही उत्तर है। त्रिपुरुष पुरुष एक है, तो त्रिगुणा प्रकृति भी एक है। आत्मा सगुण है तो इसकी प्रकृति

भी सगुण है। आत्मा ज्ञान-क्रिया अर्थमय है, तो प्रकृति भी ज्ञान-क्रिया-अर्थमयी है। 'तत्तु समन्वयात्' (शा० सू० १।१।) इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति पुरुष के समन्वय से अक्षर पदार्थमात्र त्रिगुणभाव से नित्य आक्रान्त हैं।

स्वायम्भुव अव्यय, एवं पारमेष्ठ्य महान् दोनों अभिन्न हैं। महत् से नीचे बुद्धिरूप सूर्य है। बुद्धि से नीचे प्रज्ञानरूप चन्द्रमा है। चन्द्रमा से नीचे पृथिवी जल-तेज-वायु आकाश के पञ्चीकरण से उत्पन्न पञ्चभूतमयी शरीररूपा पृथिवी है। इनमें जीवप्रकृति के अधिष्ठाता अव्ययानुगृहीत अक्षर की योनि अव्यय आत्मगर्भित महान् ही है अतएव महान् का 'अक्षर' शब्द से भी व्यवहार कर दिया जाता है। जैसा कि निम्नलिखित श्रुति से स्पष्ट हो जाता है—

"भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि महद्ब्रह्मैकमक्षरम्।
...ब्रह्मैकमक्षरम् ॥ इति
एतद्ध्यक्षरं सर्वे देवा, सर्वाणि भूतान्यभिसम्पद्यते।"

—शत० १ ।७।१।४

अव्ययगर्भित अक्षरयुक्त क्षरमूर्त्ति महान् को जीवसंस्था समझिए। महत् से नीचे के बुद्धि-मन-पृथिवी जल-तेज-वायु आकाशात्मक शरीर को जगत् समझिए। शेष बचे हुए उत्तम पुरुष (अव्यय) को ईश्वर समझिए। इसी संस्थाक्रम को लक्ष्य में रखकर भगवान् कहते हैं।

भूमि–रापो–ऽनलो–वायुः–खं–मनो–बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥१॥
अपरेयम् — ———— ।
— इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥२॥

—गीता ७।४,५।

१—परापरगर्भितोऽव्ययपुरुषः पुरुषोत्तमः—अव्ययः—ईश्वरः
२—अव्ययक्षरगर्भितोऽपराविच्छिन्नो महान्—अक्षरः—जीवः
३—अव्ययाक्षरगर्भितः क्षरपुरुषः————क्षरः—जगत्
}→ एतावद्वा इदं सर्वम्

१—पुरुषोऽव्ययः—ज्ञानम्
२—परापरप्रकृतिरक्षरः—क्रिया

१— [
१-अव्ययमन — अव्यय ——> ज्ञानप्रधान ——> ईश्वर
२ अव्ययप्राण — अक्षर ——> क्रियाप्रधान ——> जीव
३-अव्ययवाक् — क्षर ——> अर्थप्रधान ——> जगत्
] ——> तदिदंसर्वं

२— [
१ अव्ययमनोऽवच्छिन्नोज्ञानप्रधान ईश्वर सत्वमूर्त्ति
२ अव्ययप्राणावच्छिन्न क्रियाप्रधानो जीवो रजोमूर्त्ति
३ अव्ययवागवच्छिन्नमर्थप्रधान जगत्—तमोमूर्त्ति
] ——> तदिदंसर्वं

३— [
१-अव्ययमनाऽवच्छिन्नोज्ञानप्रधान प्राणमयो ब्रह्मा सत्वमूर्त्ति
२ अव्ययप्राणावच्छिन्न क्रियाप्रधान अपूवाङ्मयोविष्णु रजामूर्त्ति
३-अव्ययवागवच्छिन्नोऽर्थप्रधान वाक्-अन्नान्नादमया महादेवस्तमामूर्त्ति
] ——> तदिदंसर्वं

४— [
१ अव्ययगर्भिताब्रह्मासत्वप्रवर्त्तकाज्ञानमया ऽहङ्कृतिमहान्
२-अक्षरगर्भिताविष्णु -रजप्रवर्तक क्रियामय प्रकृतिमहान्
३-क्षरगर्भितामहादेव -तम प्रवर्त्तकाऽर्थमय आकृतिमहान्
] ——> तदिदंसर्वं

पुरुष ——> प्रकृतिः

१
अव्यय —ज्ञानम्
ईश्वर अक्षरः—क्रिया ज्ञानम्—सत्वमहान् अहंकृति ——>
क्षर —अर्थ

२
अक्षर —क्रिया
जीव अव्यय—ज्ञानम् क्रिया—रजामहान प्रकृतिः ——>
क्षर—अर्थ

३
क्षर — अर्थ
जगत अव्यय —ज्ञानम् अर्थ —तमामहान आकृति ——>
अक्षरः—क्रिया

१—अपराप्रकृति परा—अर्पणं
८
(अपरेयं-प्रकृति)

अष्टधा — ८ —

१—बुद्धि (बुद्धि)[1]
२—मन (मन)

———

१—आकाश (खम्)
२—वायु (वायु)
३—तेज (अनल)
४—जलम् (आप)
५—पृथिवी (भूमि)

—विश्वम्

——इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्य्यते जगत् ॥

उक्त कथन से यही बतलाना है कि, जीवसंस्था का अन्यतम अधिष्ठाता एकमात्र महानात्मा ही है। एकाक्षरमूर्ति महद्ब्रह्म—एवं यह महानात्मा "महद्ब्रह्मैकमक्षरम्" के अनुसार अक्षरमूर्ति है। पूर्व की अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत् में जिस अन्तर्य्यामी का दिग्दर्शन कराया गया है, वह यही महदक्षर है। अव्यक्तावच्छिन्न अक्षर महद्रूप में परिणत होकर पहिले वस्तु की आकृति का निर्माण करता है,[1] अनन्तर अहंरूप से उस वस्तु के केन्द्र में प्रतिष्ठित होता हुआ, उसका नियत रूप से सञ्चालन करता हुआ अन्तर्यामी नाम से प्रसिद्ध होता है। महदवच्छिन्न किंवा महद्रूप ज्ञान से ही जीवसंस्था का सञ्चालन होता है। इसे (कर्म्मात्मा को) कुछ विदित नहीं शरीर के भीतर अपने आप सम्पूर्ण कार्य सुव्यवस्थित रूप से चल रहा है। यही महदक्षर किंवा महद्ज्ञान आकृति प्रकृति अहङ्कृति भेद का सञ्चालक बनता है। इसकी जैसी इच्छा होती है हमारी आकृति प्रकृति अहङ्कृति वैसी ही हो जाती है। हाँ, इसकी इच्छा का नियामक पूर्वजन्मकृत भावना वासना संस्कारपुञ्ज अवश्य ही मानना पड़ता है। पानी नीचे ही जाता है, अग्नि सदा ऊपर ही जाता है—'प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः" सूर्य्य को नियत समय पर उदयाचल पर आना ही पड़ता है, नियत समय पर ही अस्ताचलानुगामी बनना पड़ता है पृथिवी कभी क्रान्तिवृत्त को नहीं छोड़ती, चन्द्रमा कभी दक्षवृत्त का परित्याग नहीं करता, यह सब इसी नियतिरूप महदक्षर की महिमा है। मनुष्य के शृंग (सींग) नहीं होते, पशु के होते हैं। कारण यही महानात्मा है। मनुष्य का महान् सींग की इच्छा न कर ऊपर के दाँतों की इच्छा करता है। इसी इच्छा से सींगों के स्थान में ऊपर के दाँत बन जाते हैं। पशु का महान विचार करता है कि पशु में आक्रमण से अपने आपको बचाने के लिए हाथ नहीं है, मैंने इसके दोनों हाथों को आगे के दो पैर बना दिये हैं। अतः रक्षार्थ सींग बनाना आवश्यक है।

इसी स्वेच्छा से वह पशु के ऊपर के दाँत न बनाकर ऊपर के सींग बना देता है। जो अश्मासाम (घनसाम) दाँत बनता है वही सींग बनता है। महान् की इच्छा से वहाँ मनुष्य में दाँत बन गया है वही पशु में सींग बन गया है। सींग वाले जितने भी पशु हैं उनमें ऊपर के दाँत नहीं होते इसी अभिप्राय से ऐसी पशुप्रजा को "एकतोदत्" कहा जाता है[1]। एवं बिना सींग वाले इन पुरुषपशुओं का दोनों ओर दाँत होने से "उभयतोदत्" कहा जाता है। पक्षी का महान् अश्मासाम का न दाँत बनाता, न सींग। अपितु उसे वह मात्राभाग में प्रतिष्ठित कर देता है। वही मात्रा पक्षी की चञ्चु (चोंच) है। दाँत-सींग-चञ्चु, तीनों का उपादानद्रव्य एक अश्मासाम है। केवल महान् के इच्छा भेद से वही द्रव्य एक स्थान में दाँत एक स्थान में सींग एक स्थान में चञ्चु बन गया है। वानर (बन्दर) सदा ओणिभाग से बैठता है। इसमें विज्ञान की कमी है। अतएव इस वानर का महान् इसके ओणिभाग को आघात से बचाने के लिए इस स्थान पर घट्टा उत्पन्न कर देता है बैठने के लिए आस्तरण बना देता है। गुह्येन्द्रियों को परोक्षप्रिय महानात्मा गुप्त रखना चाहता है। मनुष्य में विज्ञान (बुद्धि) का विकास है। वह अपने बुद्धिबल से कार्पास (कपास) वल्कल आदि के वस्त्रों से अपने गुप्त अवयवों को ढक सकता है अतः मनुष्य के महान् ने यहाँ (गुप्ताङ्गों पर) अपनी ओर से आवरण लगाने की आवश्यकता न समझी, यह भार मनुष्य की बुद्धि पर छोड़ दिया गया। परन्तु पशुओं में बुद्धिमात्रा अल्पमात्रा में प्रतिष्ठित है। अतः वे स्वयं अपने बुद्धिबल से गुप्त अवयवों को वस्त्रादि से गुप्त रखने में असमर्थ हैं। इसलिए इनके महान् ने पुच्छ (पूँछ) एवं चमरपुच्छ द्वारा उपस्थ-गुद आदि गुप्ताङ्गों को अपनी ओर से आवृत कर दिया। पुरुष बुद्धिबल से अपने पैरों को उपानत् (जूते) अथवा और किसी साधन विशेष से कङ्कड़-पत्थर आदि के आघात से बचा सकता है अतः यहाँ महान् ने पैरों की रक्षा के लिए विशेष प्रयत्न नहीं किया केवल पाँचों एवं नखों को बस बना दिया। परन्तु पशु इसी बुद्धिबल की कमी से अपने पैरों का काँटे-कङ्कड़ आदि के आक्रमण से बचाने में असमर्थ थे अतः वहाँ महान् को शफ (खुर) बनाने पड़े। निदर्शनमात्र है। आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति इन तीनों भावों में व्यक्ति एवं जाति की अपेक्षा परस्पर में जो आप जो भेद देखते हैं, वैषम्य पाते हैं यह सब उसी महानात्मा का कर्म है। महान् के इसी सर्वाधिपत्य का निरूपण करते हुए महर्षि श्वेताश्वतर कहते हैं—

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा॥

—श्वे० उपनिषत् ५।३।

वह हमारी बुद्धि से परे है, अतः हम उसके ज्ञान का अनुभव नहीं कर सकते जैसा कि पूर्व में विश्वयोनिलक्षणमहानात्मा—कहा जा चुका है। उदर के रिक्त होते ही अपने आप जो भोजन की एक स्वाभाविकी इच्छा होती है वह महानात्मा की इच्छा है—"यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः"

(गी० उ० ५।२) के अनुसार स्वाभाविकी इच्छा का तत्त्व (प्रभवस्थान) एकमात्र त्रिगुणभावापन्न महानात्मा ही है। पूर्ण तृप्त होने पर बाजारू चटपटी चाट खाने की जो आगन्तुक अस्वाभाविक इच्छा है, वह मन से सम्बन्ध रखती है। उदितताकांक्षा (अपने आप उठी हुई इच्छा) महान् से सम्बन्ध रखती है, उत्थाप्याकांक्षा (संस्कारजनित आसक्ति के प्रभाव से जबरदस्ती उठाई गई अस्वाभाविक इच्छा) प्रज्ञानमन पर प्रतिष्ठित है। यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत् में हमने महान् को ही यज्ञात्मा कहा है। यही अन्नादान द्वारा आध्यात्मिक यज्ञ का सञ्चालन कर रहा है। इस यज्ञात्मा की स्वयं उदित इच्छा के अनुसार जो भी कर्म्म किए जाते हैं वे कभी बन्धन के कारण नहीं बनते। बन्धन का मूलकारण है—प्रज्ञानमन से उत्पन्न होने वाली उत्थाप्याकांक्षा से किया जाने वाला आसक्ति भावापन्न कर्म्म। यज्ञार्थ कृतकर्म्म दूसरे शब्दों में यज्ञ मूर्त्ति महान् की स्वाभाविक इच्छा से किया हुआ कर्म्म ईश्वरतन्त्रानुयायी बनता हुआ सर्वथा अबन्धन होता है जैसा कि—"यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः" (गी० ३।९) इत्यादि से स्पष्ट है।

मनुष्य एकमुद्रा से चिरकाल तक नहीं बैठ सकता। कभी उठ जाता है कभी बैठ जाता है। सुपुप्स्यविष्ठाता महानात्मा—बैठा हुआ कभी पैरों को सीधा कर देता है, कभी समेट लेता है। ये सब व्यापार इसी महदिच्छा पर निर्भर हैं। विज्ञान प्रज्ञान अपने आगे के विषय को जान सकते हैं, महान् इन दोनों से पर्वाक है अतएव हम महद्ज्ञान का अनुभव नहीं कर सकते। जाग्रदवस्था में महान्—विज्ञान—प्रज्ञान तीनों जाग्रत रहते हैं। दूसरे शब्दों में इन तीनों की जाग्रदवस्था ही जाग्रदवस्था है। महान् विज्ञान की जाग्रदवस्था स्वप्नावस्था है। एवं एकमात्र महान् की जाग्रदवस्था सुषुप्ति है। महानात्मा की सुषुप्ति मृत्यु है एवं महानात्मा का ग्रन्थिविमोक मुक्ति है। इस प्रकार ज्ञानत्रय के तारतम्य से जीवात्मा की 'जाग्रत्—स्वप्न—सुषुप्ति—मृत्यु—मुक्ति' ये ५ अवस्थाएँ हो जाती हैं। आप गहरी नींद में निमग्न हैं। इस सुषुप्तिकाल में विज्ञान प्रज्ञान दोनों सुप्त हैं। संस्कारावच्छिन्न प्रज्ञानमन विज्ञान सम्परिष्वक्त बनकर पुरीतति नाड़ी में चला गया है। न ऐन्द्रियक ज्ञान है न बौद्ध ज्ञान है। प्रातः जब आप सोकर उठते हैं तो आप कहने लगते हैं—"आज तो बड़े आनन्द से सोए"। हम आप से पूछते हैं कि, सुषुप्ति में विज्ञान प्रज्ञान, दोनों सुप्त थे फिर— 'सुखमहमस्वाप्सम्' कहने वाला सुषुप्त्यानन्द का अनुभव करने वाला कौन था ? उत्तर वही महान् होगा। महान् सदा जाग्रत रहता है। महान् में रहने वाला अहिंप्राण सदा रखवाली किया करता है। महान् जाग्रत है अतएव सब प्रतिष्ठ 'अहमस्मि' यह प्रत्यय सभी अवस्थाओं में अपरस्त रहता है। इस प्रकार तटस्थवृत्ति से विज्ञान प्रज्ञानवत् आप महद्ज्ञान का भी प्रत्यक्ष कर सकते हैं।

---

* इन पाँचों अवस्थाओं का सोपपत्तिक विवेचन माण्डूक्योपनिषत्–हिन्दी–विज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

धर्म।स्मर्गता में केवल मन को आत्मा समझने वाले, अतएव नाना ऊहापोहों में व्यस्त रहने वाले काल्पनिक दार्शनिकों की दृष्टि में भले ही भावादि कर्मों के सम्बन्ध में सन्देह रहे परन्तु पूर्ववर्ती वैज्ञानिकों की दृष्टि में सर्वथा विभक्त अध्यात्मसंस्थाओं के आधार पर प्रतिष्ठित वरन् कर्मकलापों में किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता। धर्मशास्त्रोक्त कर्मों का प्रधान सम्बन्ध महानात्मा-विज्ञानात्मा-प्रज्ञानात्मयुक्त कर्मात्मा, इन तीन अध्यात्मसंस्थाओं के साथ है। अतएव धर्मशास्त्र ने (स्मृतिशास्त्र ने†) इन्हीं तीनों को प्रधानता दी है। जैसा कि भगवान् मनु कहते हैं—

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ।
यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥१॥
जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥२॥
तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एव च ।
उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥३॥

—मनु १२।१२-१३-१४।

प्रज्ञानगर्भपरिच्छिन्न विज्ञानात्मा ही क्षेत्रज्ञ है यही कर्मात्मा को कर्म में प्रवृत्त कराने वाला कारयिता है, जैसा कि पूर्व के विज्ञानात्मप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। कर्म करने वाला आत्मा इस क्षेत्रज्ञ कारयिता से सर्वथा पृथक् है। यद्यपि साधारण दृष्टि के अनुसार जीवात्मा नाम से प्रसिद्ध कर्मात्मा ही कर्मकर्ता है परन्तु वास्तव में भूतात्मा ही कर्मकर्ता है। भूतात्मा से प्रकृत में महानात्मा अभिप्रेत है। महानात्मा गुणमय है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। सत्त्व-रज-तम-तीनों आत्मगुण महान् में ही विकसित होते हैं जैसा कि स्मृति कहती है—

---

† श्रुति वेदशास्त्र है और धर्म का इतिकर्तव्यतारूप से निरूपण करने वाला स्मृतिशास्त्र धर्मशास्त्र है। "श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः"। इस विषय का विशद विवेचन ईशोपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य प्रथम खण्ड में देखना चाहिए।

सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन् विद्यादात्मनो गुणान् ।
यैर्व्याप्येमान् स्थितो भावान् महान् सर्वानशेषतः ॥१॥
यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते ।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥२॥
सत्त्वं ज्ञानं, तमोऽज्ञानं, रागद्वेषौ रजः स्मृतम् ।
एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥३॥
(मनुः १२।२४–२५–२६)।

आकृति भूतमयी है, प्रकृति प्राणमयी है, अहङ्कृति मनोमयी है। भूतप्रधान आकृतिभाव के सम्बन्ध से **आकृति-प्रकृति-अहङ्कृतिभाव**— से ही इस महानात्मा को भूतात्मा कहा गया है। यही भूतों का जनक है। अपिच कर्म्मात्मा "अहङ्करोमि" इस अभिमान से ही कर्म्मकर्ता कहलाता है। यह अहंभाव उसी अहङ्कृति-महान् पर प्रतिष्ठित है। इसलिए भी महानात्मा के लिए—"यः करोति तु कर्म्माणि" यह कहना न्याय प्राप्त होता है। 'जीवात्मा' नाम से प्रसिद्ध कर्म्मात्मा तो नाममात्र का कर्म्मकर्ता है। वस्तुतः यह अर्जुनवत् निमित्तमात्र है। शुभाशुभ कर्म्मों की योनि तो महानात्मा ही है। उस में जैसे संस्कार रहते हैं, कर्म्मात्मा को वैसे ही कर्म्म करने पड़ते हैं। यदि महान् में सत्त्वगुण का विकास रहता है, तो इसे *सात्त्विक कर्म्म करने पड़ते हैं। रज के अनुग्रह से इसे †राजस कर्म्म में प्रवृत्त होना पड़ता है एवं तम की प्रधानता से‡ तामस कर्म्मों का अनुगमन करना पड़ता है। महान् ही जन्मप्रवृत्ति का मुख्य द्वार है। इन्हीं सब कारणों से महान् को ही कर्म्मकर्त्ता कहा जा सकता है। यही तो अन्तर्यामी-रूप से जैसा चाहता है, कर्म्मात्मा से वैसा ही करवा लेता है। इच्छा महान् की है, कर्म्म जीवात्मा का है। जिसकी इच्छा होती है, उस इच्छा से होने वाला कर्म्म उसी का कहलाता है। राजा की इच्छा से वध की इच्छा न रखता हुआ भी वधिक वधकर्म्म में

---

* वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥
(मनु १२।३१)

† आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥
(मनु १२।३२)

‡ लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥
(मनु १२।३३)

प्रवृत्त होजाता है। यह कर्म राजा का कर्म कहलाता है। "राजाने उसे दण्ड दिया है" यही व्यवहार होता है। ठीक यही परिस्थिति यहां समझिए। कर्म करता है जीवात्मा, परन्तु इच्छा है अन्तर्यामी महानात्मा की—"केनापि देवेन हृदि स्थितोऽहं यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि"। इसी लिए प्रमुत कर्मात्मा के द्वारा होने वाले कर्म की उपेक्षा कर इच्छाप्रवर्तक महान को ही कर्मकर्ता मान लिया है। इच्छा महान् की है कर्म जीवात्मा का है साधन प्रज्ञान है। इन तीनों के समन्वय से कर्म का स्वरूप निष्पन्न होता है। इस में इतना ध्यान रखना पड़ेगा कि, यदि प्रज्ञानमन महानात्मा की इच्छा के अनुगत रहता हुआ बुद्धि का अनुगमन करता हुआ कर्म का उपक्रम करता है, तब तो जीवात्मा बन्धन से पृथक् रहता है। यदि विज्ञान की उपेक्षा कर महदिच्छा को अपना अनुचर बनाता हुआ प्रज्ञानमन स्वतन्त्र हो जाता है तो तन्मय युक्त कर्म जीवात्मा के सुख दुःख का कारण बन जाता है। इसी दृष्टि से "येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु" यह कहागया है। अहंभावात्मक जीव प्राणिमात्रमें समानधर्मा है परन्तु महानात्मा विज्ञानात्मा की भांति विषमधर्मा है। आकृति-प्रकृति-किसी की नहीं मिलती। इसी पार्थक्य को बतलाने के लिए "सत्वः सर्वदेहिनाम्" यह कहा गया है।

प्रकारान्तर से यों समझिए कि महान-विज्ञान दोनों एक श्रेणि की वस्तु हैं। प्रज्ञान-जीव दोनों एक श्रेणि की वस्तु हैं। प्रज्ञानयुक्त जीवात्मा सब में समान है महानयुक्त विज्ञानात्मा सब में असमान है। महान और विज्ञान के तारतम्य से जीवात्मा के कर्मकलाप में स्वभावधर्मों का समावेश होजाता है। प्रज्ञान-जीव, दोनों भूतप्रधान हैं। इस भूतभाग से महान् और प्रज्ञान दोनों संश्लिष्ट रहते हैं। भूतों से युक्त ये चारों जीवात्मा को चारों ओर से वेष्टित कर इस के सांम्यविधाता बन हुए हैं। जीवात्मा को इन दोनों से जैसी सामग्री मिलती है इसे उसी के अनुसार सुख-दुःख भोगना पड़ता है। विज्ञानयुक्त इसी त्रिगुण महानात्मा के अनुग्रह से जीवात्मा को उत्तम-मध्यम-जघन्य-गतियों का आश्रय लेना पड़ता है। सत्व की आधारभूमि ज्ञानमय-मन है रज की प्रतिष्ठा क्रियामय प्राण है एवं तम का प्रभव अर्थमय वाक्तत्त्व है। मन प्राण-वाक्-मय आत्मा ही महान् के सम्बन्ध से सत्वरजस्तमोरूप से विकसित होता है। तभी तो इन्हें-आत्मगुण कहना न्यायसङ्गत होता है। मन प्राण-वाक् ये तीनों ही त्रिवृत्‌कृत हैं। इस त्रिवृत्-करण से आत्मा के प्रत्येक पर्व में मन-प्राण-वाक् तीनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। त्रिवृत्-करण से ही तीन के ९ विवर्त हो जाते हैं। इन ९ आत्मविवर्तों के कारण ही आत्मगुणाधारेण प्रतिष्ठित सत्वादि प्राकृतिक गुणों के भी अभिन्न परिलेखानुसार से ९ विवर्त होजाते हैं।

सत्वप्रकृतिक महान् उत्तमगति का कारण है रजःप्रकृतिक महान् मध्यमगति का कारण है एवं सत्व-रज स्तमोलक्षण महानात्मा—तमःप्रकृतिक महान् अधमगति का प्रवर्तक है। ये इस के सूक्ष्म विभाग हैं। सत्व-रज-तम तीनों ही उक्त त्रिवृत्‌करण से पुनः उत्तम-मध्यम अधम-भेद से तीन तीन भागों में विभक्त हैं। रजस्तमोगर्भित सुविलक्षण उत्तम सत्व है तम-सत्वगर्भित रज मध्यम सत्व है, रज-सत्व

विशेषविवरण—

हमारी असावधानी से इस तालिका का यथास्थान प्रकाशित न हो सका। अतः इसे स्वतन्त्ररूप से प्रकाशित कर पुनः समाविष्ट करना पड़ा, जिसका समावेश पाठकों को पृ० सं० २८२ में पृष्ठ की २८–२९ की पंक्तियों के मध्य में समझने का अनुग्रह करना चाहिए।

—सम्पादक

आ–	शुक्लमाषः	रक्तमाषः	कृष्णमाषः	–त्मा

शुक्लमाषः	रक्तमाषः	कृष्णमाषः
ज्ञानम्	क्रिया	अर्थः
मनः	प्राणः	वाक्

१–मनः– { १–मनः-सत्त्वम् [शु०], २ प्राणः-रजः [र०], ३–वाक्-तमः [कृ०] } ¹ सत्त्वम् [शु०]

२–प्राणः { १–प्राणः-रजः [र०], २–मनः-सत्त्वम् [शु०], ३–वाक्-तमः [कृ०] } ² रजः [र०]

३–वाक् { १–वाक्-तमः [कृ०], २–प्राणः-रजः [र०], ३–मनः-सत्त्वम् [शु०] } ³ तमः [कृ०]

गर्भित तम अधम्य सत्त्व है। इसी प्रकार रजस्तमोगर्भित सत्त्व उत्तम रज है, तमः-सत्त्वगर्भित रज मध्यम रज है रजःसत्त्वगर्भित तम अधम्य रज है। एवमेव तमोरजोगर्भित सत्त्व अधम तम है तमः-सत्त्वगर्भित रज मध्यम तम है एवं सत्त्वरजोगर्भित तम अधम्य सत्त्व है।

पहिले स्थूल योनियों का क्रम देखिए। सत्त्वप्रकृतिक जीव देवयोनिमें जन्म लेते हैं, रजःप्रकृतिक जीव मनुष्ययोनि धारण करते हैं एवं तम से अभिभूत जीव कृमि-कीट-पक्षी-पशु भेदभिन्न तिर्य्यक्योनि में आते हैं। इसी सामान्य गति का उल्लेख करते हुए मनु कहते हैं—

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः ।
तिर्य्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥१॥
—मनु १२।४०।

आगे जाकर ज्ञानजनित-भव एवं ज्ञानात्मक भावनासंस्कार, एवं कर्म्मजनित-भव एवं कर्म्मरूप वासनासंस्कार के तारतम्य से वह प्रत्येक गति पूर्वकथनानुसार उत्तम-मध्यम-अधम भेद से तीन तीन भागों में विभक्त होजाती है। धातु-उपधातु-रस-उपरस-विष-उपविष-ओषधि-वनस्पति-आदि स्थावर योनियाँ कृमि-कीट-मत्स्य-सर्प-कच्छप-गौ-अवि सामान्य पशु, मृग-गवयादि अन्य विशेष पशुयोनियाँ रजःसत्त्वगर्भित तमोमयी अधम्यगति से सम्बद्ध रहती हैं। हाथी-अश्व-शूद्र-म्लेच्छ-सिंह-व्याघ्र-वराह (शूकर) आदि योनियों का सत्त्वतमोगर्भिता रजोमयी मध्यमा तामसी गति से सम्बन्ध है। सुपर्ण (गरुड़पक्षी) कुटिल मनुष्य राक्षस, पिशाच, इन का रजस्तमोगर्भिता सत्त्वमयी उत्तमा तामसी योनि से सम्बन्ध है।

झल्ल (क्षत्रियों के वर्णसंकर) नट, मल्लयोद्धा, शस्त्रक्रयविक्रयकर्त्ता, धूर्त (जूआ) मद्यादि में प्रसक्त रहने वाले पुरुष, इन सब का रजः-सत्त्वगर्भिता तमोमयी अधम्या राजसी योनि से सम्बन्ध है। अभिषिक्त राजा जन्मना क्षत्रिय, राजाओं के कुलपुरोहित, वाग्युद्धमें अग्रणी प्राड्विवाकादि, इन सब का सत्त्वतमोगर्भिता रजोमयी मध्यमा राजसी योनि से सम्बन्ध है। गन्धर्व गुह्यक, यक्ष लौकिक व्यवहारों में निपुण लौकिकमनुष्य, सत्यधर्म्म में निरत सेवक, अप्सराएँ इन सब का रजस्तमोगर्भिता सत्त्वमयी उत्तमा राजसी योनि से सम्बन्ध है।

वानप्रस्थाश्रमी तपस्वी, सन्यासाश्रमी यति, जन्मना ब्राह्मण, पुष्पकादि विमानों के संचालक विद्याधर, खगोलीय सम्पूर्ण नक्षत्र, दितिपुत्र दैत्य, इन सब का सत्त्वरजोगर्भिता तमोमयी प्रथमा सात्त्विकी गति से सम्बन्ध है। यज्ञकर्त्ता याज्ञिक, मार्गपरीक्षक ऋषि, वेदप्राण साक्षात्कर्त्ता भौमदेवता एवं अभिमानी देवता, खगोलीय ग्रह, वत्सर पितर, साध्यादि देवता, इन सब का सत्त्वतमोगर्भिता रजोमयी मध्यमा सात्त्विकी योनि से सम्बन्ध है। ब्रह्मा-विश्वसृट्दक्षर्षि, धर्म्म, महान्, अव्यक्त-इन का रज

तमोगर्भिता सत्त्वमयी उत्तमा सात्त्विकी गति से सम्बन्ध है। इस प्रकार—"त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौतिकः" (मनु १२।५१) भगवान् मनु के इस शब्दों के अनुसार सम्पूर्ण भौतिक विश्व नितान्त इसी त्रिगुणमूर्ति महायोनि पर प्रतिष्ठित है। यदि त्रिधाकर्म के सूक्ष्म–सूक्ष्मतर–सूक्ष्मतम विभागों का विचार किया जाता है तो यह यो विवर्त–अनन्तकोटि में परिणत हो जाता है। अतीतानागतज्ञ महर्षियोंने चतुरशीतिलक्ष–(८४ ०० ० चौरासी लाख) संख्या पर इस योनिविभाग का विश्राम माना है। सर्वव्यापक इसी योनिचक्र को लक्ष्यमें रख कर उपनिषच्छ्रुति कहती है—

> यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः ।
> ऋषिं प्रसूतं कपिलं यमस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥
>
> (श्वे० ५।२)

उपर्युक्त मानव–आत्मविज्ञान के अनुसार विज्ञपाठकों का यह भलीभाँति विदित होगया होगा कि, पात्र महानात्मा–वास्तव में व्यापात्मसंस्था में एक ही आत्माका साम्राज्य नहीं अपितु उत्क्रम से अनेक उन्न्यायी हैं। इस विभिन्न उन्न्यायियों को व्यापक जो एक सत्ता उन्न्यायी है वह शास्त्रानविद्य के उक्त क्रमसंक्रम से सर्वथा बहिर्भूत है। अस्तु प्रकृत में महानात्मा का गुणानुवाद चल रहा है। सर्वाधिष्ठाता पितृमाय मूर्ति यह महानात्मा "शुक्र" में प्रतिष्ठित रहता है। हमारा (पुरुष का) शुक्र शुद्ध ओषधियों का (अन्न का) रस है। ओषधियों में यह रस चन्द्रमा से आता है। चान्द्र सौम्यरसगर्भित सौर आग्नेयरस से वनस्पतियों की उत्पत्ति होती है, एवं सौरसगर्भित चान्द्ररस से ओषधियों की स्वरूप निष्पत्ति है जैसा कि आरम्भ की 'अमृतारमभिज्ञानोपनिषत्" में विस्तार से बतलाया जाचुका है। शुक्लपक्ष में प्रधानरूप से पूर्णिमा–तिथि में सौरप्राण इतना सम्पूर्ण चान्द्रसोम का पान कर जाते हैं। अतः इन दिनों में यह चान्द्ररस पूर्णरूप से भूलोक में एवं भूलोक में प्रतिष्ठित ओषधियों में नहीं आने पाता। परन्तु जब चन्द्रमा सूर्य एवं पृथ्वी के मध्य में आजाता है तो इस कृष्णपक्षकाल में चान्द्रसोम को पृथ्वी पर आने का अवसर मिल जाता है। चान्द्रसोम में पितृप्राण प्रतिष्ठित है। इसी आधार पर 'विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति' यह कहा जाता है। पूर्व कथनानुसार अमावास्यातिथि में सोम अतिशय मात्रा से पृथिवी पर आता है अतएव अमाको पितृतिथि कहा जाता है। इन सब विषयों का आगे के प्रकरणों में विस्तार से निरूपण होनेवाला है अतः प्रकृत में केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि ओषधियाँ सोमरसमयी, किंवा सोमरसप्रधाना हैं। चान्द्रसोम में ही पारमेष्ठ्य महान् प्रतिष्ठित है। महान् ही पितर है। इस महन्मूर्ति पितृप्राणयुक्त ओषधिरस से ही रस–रक्त क्रमिक वितापकरण से रस–असृक्–मांस–मेद–अस्थि–मज्जा–शुक्र, इन सात धातुओं का स्वरूप निष्पन्न होता है। यही सौम्यशुक्र संतानसूत्र द्वारा सात पीढ़ी पर्य्यन्त वितत होता है। अर्थात् सात वंश पर्य्यन्त इस एक महान् का अंश व्याप्त रहता है।

महद्विवर्त्त—

१—रजस्तमोगर्भित-सत्त्व——मनः (ज्ञानम्) श्वेतवर्णः —उत्तमा सात्त्विकी गतिः
१– २—सत्त्वतमोगर्भित-रज——प्राण (क्रिया) रक्तवर्णः —मध्यमा सात्त्विकी गतिः
३—सत्त्वरजोगर्भित-तम——वाक् (अर्थः) कृष्णवर्णः —प्रथमा सात्त्विकी गतिः

सत्त्वं-मन श्वेतभा

—०—

१—सत्त्वतमोगर्भित-रज——प्राण (क्रिया) श्वेतवर्णः —श्रेष्ठा राजसी गतिः
२– २—रजस्तमोगर्भित-सत्त्व——मनः (ज्ञानम्) रक्तवर्णः —मध्यमा राजसी गतिः
३—सत्त्वरजोगर्भित-तम——वाक् (अर्थः) कृष्णवर्णः —कनिष्ठा राजसी गतिः

रजः प्राण रक्तभाव

—०—

१—सत्त्वरजोगर्भित-तम——वाक् (अर्थः) श्वेतवर्णः —निकृष्टा तामसी गतिः
३– २—सत्त्वतमोगर्भित-रज——प्राणः (क्रिया) रक्तवर्णः —मध्यमा तामसी गतिः
३—रजस्तमोगर्भित-सत्त्व——मनः (ज्ञानम्) कृष्णवर्णः —जघन्या तामसी गतिः

तमः वाक् कृष्णभाव

—०—

ओषधियों में दधि–घृत–मधु–अमृत, ये चार तत्त्व माने गए हैं। पार्थिव घनरस दधि है, आन्तरिक्ष्य सामान्य रस घृत है सौर दिव्य रस मधु है, पारमेष्ठ्य सौम्य रस अमृत है। अन्न का दाना भाग पार्थिव है यही दधि है—"दधि हैवास्य लोकस्य रूपम्"। आटे को गोंदने पर एक प्रकार के स्नेह (चिकनाइ) तत्त्व का प्रत्यक्ष होता है। यही आन्तरिक्ष्य तरलभाग घृत है—"घृतमन्तरिक्षस्य"। प्रत्येक अन्न में एक प्रकार का मिठास होता है। यही सौर दिव्य पदार्थ है। यही मधु है—"मध्वमुष्य" (शत० ७।५।१।३ कूर्म्म चितिब्राह्मण)। प्रत्येक अन्न में एक प्रकार का जायका होता है स्वाद होता है। यही चौथा अमृत है। इन चारों रसों के सम्बन्ध से सम्मूर्त्ति महान् आकृति–प्रकृति–अहंकृति का जनक बनजाता है। आकार आकृति है स्वभाव प्रकृति है इन्द्रियसामर्थ्य अहंकार, किंवा अहंकृति है। दधि-घृत के समन्वय से शरीराकृति का निर्म्माण होता है, घृत–मधुसे प्रकृतिभाव का उदय होता है, एवं मधु–अमृत से अहंकृति का जन्म होता है। इस से यह भी सिद्ध होजाता है कि आकृति–प्रकृति–अहंकृति–भावों का उत्तम–मध्यम–अधम–भाव प्रधानरूप से अन्न से ही सम्बन्ध रखता है। इन तीनों की स्वरूप–रक्षा के लिए, एवं विकास के लिए अन्न का नियन्त्रण (खान पान का नियन्त्रण) प्रत्येक परिस्थिति में अपेक्षित है। महदवच्छिन्न शुक्र से उत्पन्न होने वाली प्रजाके लिए आकार–स्वभाव–इन्द्रिय सामर्थ्य, तीनों कर्म्म–विपाकानुसार सर्वथा नियत रहते हैं। एक इमारे के वृक्ष को दूधसे सींचने पर भी वह पिप्पलवृक्ष के समान दीर्घकाय नहीं बन सकता। वृक्षादि का जितना आयतन (आकार–आकृति) नियत होता है वह बीजरूप से उसी महद्गर्भ में पहिले से ही प्रतिष्ठित रहता है। महानात्मा की इस बीजावस्था के वास्तविक स्वरूप को न समझ कर कितने ही दार्शनिक (आरम्भक) बीज में ही सम्पूर्ण वृक्ष मानते हैं। वृक्ष बीज में प्रतिष्ठित नहीं है, अपि तु उस की बीजावस्था वहां प्रतिष्ठित है। महानात्मा की प्रतिष्ठा शुक्र है इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जिस पुरुष का शुक्र अधिक मात्रा में खर्च होजाता है, उसकी आकृति–प्रकृति–अहंकृति, तीनों भाव बिगड़ जाते हैं। चान्द्र महानात्मा का यही संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन है।

दूसरा है प्रज्ञानात्मा। इसी चान्द्रभाग से सर्वेन्द्रियाधिष्ठाता प्रज्ञानात्मा (अतीन्द्रिय नामसे प्रसिद्ध चान्द्र–प्रज्ञानात्मा—सर्वेन्द्रिय मन) का स्वरूप निष्पन्न होता है। चन्द्रमा में पानी, और सोम दो तत्त्व हैं। पानी पारमेष्ठ्य है, सोम चान्द्र है। समान स्थानीय होने से दोनों दोनो में ओतप्रोत हैं। "श्रद्धा वा आपः" के अनुसार चान्द्र अप्तत्त्व श्रद्धा है। इसका प्रधान सम्बन्ध महान् से है। सोम से मन का सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में सोम-गर्भित श्रद्धा (आप) महान् है एवं अप्गर्भित सोम मन है। शुक्र आपोमय है सोम इसके गर्भ में है। मन सोममय है अप्तत्त्व इसके गर्भ में है। महान् की प्रतिष्ठा जहां शुक्र है, वहां मन की प्रतिष्ठा हृदय है—"हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु" (यजु० सं ३४।६)। महानात्मा शुक्र में रहता है, प्रज्ञानात्मा हृदय में रहता है। महानात्मा गर्भावसृष्ट है, प्रज्ञानात्मा उत्पन्न सृष्ट है। अर्थात् महानात्मा तो जन्मकाल में ही विकसित है। शुक्रमूर्त्ति महान् तो जन्म का ही कारण है, परन्तु प्रज्ञानात्मा का पूर्ण विकास जन्म के पीछे सोलहवें वर्ष में होता है। षोडशपर्वा चन्द्रमाके क्रमिक भाव से सम्बन्ध

रखने वाला प्रज्ञानमन सोलह वर्ष पर्य्यन्त अपरिपक्व रहता है अनन्तर उसमें आत्मनिर्भरता का उदय होता है। इसी आधार पर–"प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्र–मित्रवदाचरेत्" यह आभाणक प्रतिष्ठित है। शुक्रतत्त्व रसमयाक विराकलन से ही आगे जाकर ओज रूप में परिणत होता है। शुक्र पार्थिवधातु-प्रधान वा ओज आन्तरिक्ष वायव्यधातु प्रधान है। शुक्र में इसमें पार्थिव आन्तरिक्ष-दिव्य तीन धातु बतलाए हैं। शुक्र में तीनों हैं, ओज में आन्तरिक्ष वायव्य, दिव्य सौम्य, दो धातु हैं। अब विराकलन-प्रक्रिया से आन्तरिक्ष वायव्य धातु भी निकल जाता है, तो शुद्ध सोमरस रह जाता है। यही विशुद्ध दिव्य चान्द्ररस मन है। इस के साथ रोदसी त्रैलोक्य के पुलकानिशावा अथवा इन्द्रप्राण का सम्बन्ध रहता है। स्वौम्य एवं रोदसी भेद से त्रैलोक्य दो प्रकार का है। केवल पार्थिव अहर्गणों से सम्बन्ध रखने वाला त्रैलोक्य "स्वौम्य त्रैलोक्य" कहलाता है। इसी का नाम महापृथिवी है। इस महापृथिवी का त्रिवृत् स्तोम पृथिवी है, पञ्चदशस्तोम अन्तरिक्ष है, एवं एकविंश स्तोम धुलोक है। तीनों में क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य, देवता प्रतिष्ठित हैं। इन्हीं तीनों से वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञरूप पार्थिव कर्म्मात्मा का स्वरूप निष्पन्न होता है जैसा कि आगे की उपनिषत् में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। पृथिवी पृथिवी लोक है सौरमण्डल धुलोक है, दोनों के मध्य का स्थान अन्तरिक्ष है। यही दूसरी रोदसी त्रिलोकी है। इन तीनों में भी क्रमशः अग्नि–वायु–इन्द्र, ये तीन दिव्य देवता प्रतिष्ठित हैं। इन्हीं तीनों से आध्यात्मिक शुक्र–ओज–मन इन तीनों का निर्म्माण होता है।

स्वौम्यत्रिलोकी

महापृथिवी
- पृ॰ १–त्रिवृत्स्तोम–अग्नि–ततो वैश्वानरः
- अ॰ २–पञ्चदशस्तोम–वायु–ततस्तैजसः
- द्यौ॰ ३–एकविंशस्तोम–आदित्य–ततः प्राज्ञः

}—कर्म्मात्मा

रोदसीत्रिलोकी

- १–पृथिवी–अग्नि–ततः शुक्रम्
- २–अन्तरिक्षम्–वायु–ततः–ओजः
- ३–सूर्य्य–इन्द्र–ततः–मनः

उक्त क्रमानुसार मन में सोम, एवं सौर इन्द्रप्राण भेद से दो तत्त्व प्रतिष्ठित हैं। इस पर विज्ञान के प्रतिबिम्बित होने से यह भी चिदंश से युक्त हो जाता है। यह प्रतिबिम्ब चीज सोम पर प्रतिष्ठित होता है, इससे यह सोम चिन्मय बनता हुआ ज्ञानमय बन जाता है। अतएव मन का चिदंशयुक्त यह सोमभाग प्रज्ञा नाम से व्यवहृत होता है। प्रज्ञा एवं प्राण की समष्टि ही प्रज्ञानमन है। विज्ञान-प्रज्ञान, दोनों परस्पर प्राणेन्द्र के सम्बन्ध से सपरिष्वक्त हैं–"स वा एष प्रज्ञानात्मा विज्ञानात्मना सपरिष्वक्तः"। जब तक अध्यात्मसंस्था में प्रज्ञान मन प्रतिष्ठित रहता है तभी तक विज्ञान की स्थिति रहती है। चित्ताधार अध्यात्मक मन की स्वस्थता पर ही बुद्धि का विकास होता है–"स्वस्थे चित्ते बुद्धयः सस्फुरन्ति"। अपि च इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि यदि कुछ दिन तक अन्न नहीं खाया जाता है तो अन्नमय प्रज्ञानमन शिथिल हो जाता है। प्रज्ञान के शिथिल होते ही इसी पर प्रतिष्ठित रहने वाला चिद्रूपा बुद्धि शिथिल बन

जाती है। भूख मनुष्य की अक्ल जरा भी काम नहीं करती—"बुभुक्षित न प्रतिभाति किञ्चित्"। भूखे को कुछ नहीं सूझता। सूझना बुद्धि का काम है। अपने प्रतिष्ठाभरावक की शिथिलता से आज यह स्वयं भी अप्रतिष्ठित सी हो रही है।

बुद्धिप्रतिष्ठारूप यह प्रज्ञान-मन ही सम्पूर्ण इन्द्रियों का अभिष्ठाता है। इस में हमने सोम चित् प्राण ये तीन तत्त्व बतलाए हैं। सोम भूतभाग है चित् ज्ञानभाग है, प्राण प्राण तत्त्व है। वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र-मन, इन पाँच (वैदिक) इन्द्रियों के भेद से इस प्रज्ञान की ज्ञान भूत प्राण, इन तीनों कलाओं के पाँच पाँच विवर्त हो जाते हैं। पाँच प्रज्ञामात्रा हैं, पाँच भूतमात्रा हैं, पाँच ही प्राणमात्रा हैं। इन १५ हों कलाओं की मूलप्रतिष्ठा त्रिकल स्वयं प्रज्ञान है। 'प्रज्ञानोङ्कारविद्या' के अनुसार पञ्च भूतमात्रा मकार है पञ्च प्राणमात्रा उकार है, एवं पञ्च प्रज्ञामात्रा अकार है। सर्वालम्बन स्वयं प्रज्ञान अर्द्धमात्रा है। समष्टि ओङ्कार है। अत मात्रिक प्रज्ञान की प्रेरणा से ही सब इन्द्रियाँ अपना अपना नियत कर्म करने में समर्थ होती हैं। प्रज्ञानगत प्राणमूर्त्ति इन्द्र के सम्बन्ध से इन्द्रियों को इन्द्रिय कहा जाता है। सभी इन्द्रियाँ इन्द्रयुज हैं। स्वयं इन्द्रप्राण उक्थ है, आत्मा है अत एव इसे "मुख्यप्राण' कहा गया है। पाँचों ऐन्द्रियक प्राण अर्करूप हैं, अत एव इन्हें 'प्राणा" कहा गया है। ये ही इन्द्रिय प्राण 'अनुचीनप्राण' नाम से भी प्रसिद्ध हैं। 'नियतविषयत्वमिन्द्रियत्वम्" के अनुसार इन्द्रियों के स्व स्व विषय सर्वथा नियत हैं। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि जिन का विषय नियत है वे ही इन्द्रिय नाम से व्यव हृत होती हैं। "गुणानां च परामर्शादसम्बन्धः समत्वात्" के अनुसार गुणभूत इन्द्रियों का परस्पर में कोई सम्बन्ध नहीं है। असम्बन्ध ही इन का सम्बन्ध है, असान्वर्म्य ही इन का साम्वर्म्य है। सब अपने अपने रूप-रस-गन्धादि विषय-ग्रहण में स्वतन्त्र हैं। इन इन्द्रियों में मन सुखदुःख (अनुकूल वेदना-प्रतिकूल वेदना) का अनुभव करने वाला अतएव नियतविषयी बनता हुआ इन्द्रियकोटि में ही प्रविष्ट है। इस इन्द्रिय मन का वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति कर्मात्मा के प्राज्ञभाग से ही सम्बन्ध है। प्राज्ञ ही इन्द्रिय मन है। इसी के लिए "मन पञ्चानि मे हृदि" (अथर्व सं० १६।५।५) यह कहा गया है। इन्द्रियाधिष्ठाता प्रज्ञान मन स्वतन्त्ररूप से कर्म करने में समर्थ होता हुआ अपने ऊपर भावना वासना रूप से कर्मों का लेप कर लेता है। परन्तु प्राज्ञरूप इन्द्रिय मन केवल भोग में समर्थ है। यही कारण है कि विज्ञान-प्रज्ञान विरहित प्राज्ञ *केवल भोग कर सकता है नया संस्कार उत्पन्न नहीं कर सकता। पाँचों इन्द्रियों में प्रज्ञान अनुस्यूत रहता* है अत एव इस कर्मेन्द्रिय-मन कहा जाता है। यह स्वयं इन्द्रिय नहीं है, अत एव इसे अनिन्द्रियमन नाम से व्यवहृत करने में कोई आपत्ति नहीं होती।

---

* इन्द्र ऐन्द्रियाणि—अधि धारयामः।

अथर्व सं० १।३५।३।

इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु। इन्द्र तानि त आवृणे ॥

अथर्व सं० २०।२०।२।

अब तक आपने अध्यात्मसंस्था में एक ही मन समझ रक्खा होगा। परन्तु आजसे आप अपना प्रकरणोपसंहार— यह अवैदिक विश्वास बदल दीजिए। अध्यात्म में एक नहीं दो नहीं, तीन नहीं, अपितु चार मन हैं। अव्यय–महान्–प्रज्ञान–प्राण, भेद से मन चतुर्धा विभक्त है। अव्ययमन श्वोवसीयस् एवं श्वोवस्यसमनस्क नाम से प्रसिद्ध है। महत्-मन सत्त्व कहलाता है। प्रज्ञान मन सर्वेन्द्रिय है। एवं प्राण-मन इन्द्रियमन नाम से प्रसिद्ध है। प्राणमन कर्मात्मा की प्रतिष्ठा है प्रज्ञान मन विज्ञानात्मा की प्रतिष्ठा है महत्-मन अमृतात्मा की प्रतिष्ठा है। एवं अव्ययमन सब की प्रतिष्ठा है। इन में अव्यय मन का एक स्वतन्त्र विभाग है। महत्-विज्ञान प्रज्ञान, तीनों का एक स्वतन्त्र विभाग है। इन तीनों का क्रमगति से कोई सम्बन्ध नहीं है। *परन्तु इतना ध्यान रखिए कि आत्मबन्ध की मूलप्रतिष्ठा शुक्रतत्त्व पर प्रतिष्ठित पितृप्राणमूर्ति* महानात्मा ही है। सम्पूर्ण आत्मविवर्त्तों में से अध्याय एक मात्र महानात्मा के लिए ही किया जाता है। महान् के सम्बन्ध में अभी बहुत कुछ वक्तव्य है। क्यों कि इस ग्रन्थ का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व इसी पर अवलम्बित है। अतः आगे आने वाले पितृप्राणनिरूपण प्रकरण के लिए इसे छोड़ते हुए महत्व प्रकरण को यहीं समाप्त कर क्रमप्राप्त 'प्राणात्मा' की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

तदित्थं—आकृति, प्रकृति—अहंकृतिभेदेन त्रिकल —महत्—प्रज्ञानभेदेन
द्विकलो वाय महानात्मा, चन्द्रमा वा व्याख्यातो द्रष्टव्यः

समाप्ता चेयं आत्मविज्ञानाध्याये—'आत्मविज्ञानोपनिषदि' प्रथमायां प्रथमखण्डात्मिकायां

"महदात्मविज्ञानोपनिषत्"—पञ्चमी

५

— • —

भभ

समाप्ता चय

'महानात्मविज्ञानोपनिषत्' पचमी

५

—×—

अथ

'आत्मविज्ञानोपनिषदि'–(प्रथमखण्डे)

'प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्' षष्ठी

६

— —

(६) { १—अधिदैवतम्→पृथिवी (पूर्णमदः)
२—अध्यात्मम्→प्राण (पूर्णमिदम्) } (५)

अथ

श्राद्धविज्ञानान्तर्गत–'आत्मविज्ञानोपनिषदि' प्रथमायां—

"प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्"–षष्ठी

६

प्राणात्मा–वैकारिकात्मा–पृथिवी (५)

१—त्रिवृतोऽग्निः (वैश्वानरात्मा)
२—त्रिवृतो वायुः (तैजसात्मा) →प्रत्यगात्मा (१)
३—त्रिवृत आदित्य (प्राज्ञात्मा)
४—भूतायु (हंसात्मा) →प्रेतात्मा (२)
५—चित्याग्निः (भावात्मा) →शरीरात्मा (३)

सोऽयं पञ्चकलस्त्रिकलो वा प्राणात्मा–वैकारिकात्मगर्भित प्राकृतात्मा वा पृथिवी

१—वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
२—जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता २ अ० । २२, २७ ।

(६) प्राणात्मस्वरूपपरिचय —(ज्ञान—क्रिया—अर्थमय प्राणात्मा)

१—रयिर्न चित्रा सूरो न संदृगायुर्न प्राणो नित्यो न सूनुः ।
तक्वा न भूर्णिर्वना सिषक्ति पयो न धेनुः शुचिर्विभावा ॥ ऋक्सं० १।६६।१ ।

२—विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार ।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥ ऋक्सं० १०।५५।५ ।

३—युवा कमापि जनयन्निवीमा अशस्तिहा विधमनास्तुराषाट् ।
पीत्वी सोमस्य दिव आ वृधानः शूरो निर्युधाधमद्दस्यून् ॥ ऋक्सं० १०।५५।८ ।

४—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥ मुण्डको० ३।१।१ ।

५—समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ मुण्डको० ३।१।२ ।

६—एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ कठोप० २।५।१२ ।

७—गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः ॥ श्वे० उ० ५।७ ।

८—इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं 'भोक्त' 'त्याहुर्मनीषिणः ॥ कठोप०

९—प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी ।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ मुण्डको० ३।१।४ ।

१०—सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ श्वे० उ० ३।१४ ।

॥ ॐ प्राणात्मब्रह्मणे नमः ॥

प्राणात्मा—पृथिवी

'प्राणो ब्रह्म' त्युपास्व

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपिदृष्टः ॥ श्वे० उ० ५।८ ।
स एव माया परिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम् ।
स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः स एव जाग्रत् परितृप्तिमेति ॥ कैवल्योपनिषत् १।१२ ।
स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता स्वमायया कल्पितजीवलोके ।
सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति ॥ कै० १।१३ ।
पुनश्च जन्मान्तरकर्म्मयोगात्स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः ।
पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततः सुजातं सकलं विचित्रम् ॥ कै० १।१४ ।
एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी ॥ कै० १।१५ ।
जाग्रत्—स्वप्न—सुषुप्त्यादि प्रपञ्चं यत् प्रकाशते ।
तद् ब्रह्माऽहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥ कै० १।१७ ।
बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥ श्वे० उ० ५।८ ।
यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।
एवं धर्म्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानु विधावति ॥ कठोपनिषत् ४।१४ ।

यद्यपि सर्वशास्त्रमूर्द्धन्य स्वतःप्रमाणभूत वेदशास्त्र में आत्मस्वरूपनिरूपण के सम्बन्ध में किसी भी अविज्ञानमूला, तथा क्षणिकविज्ञानमूला भ्रान्ति—अंश में त्रुटि नहीं है। तथापि विज्ञानदृष्टि के विलुप्त प्राय होजाने से विज्ञानात्मक वेदशास्त्र के वास्तविक तात्पर्य्य से हम बहुत पीछे हट गये हैं अथवा तो बहुत आगे बढ़ गए हैं। एक दल कहता है–वेद में विज्ञान का अन्वेषण करना मृगमरीचिका है। यह ईश्वर की

पवित्र वाणी है (अध्याय २)। इस के द्वारा केवल ज्ञानोपासना कर्म्मकाण्डत्रयी का ही स्वरूप प्रतिपादित हुआ है। दूसरे दल का वेदार्थ के सम्बन्ध में इस से भी भयङ्कर मनोवृत्तियें हैं। ये महानुभाव वेद में विज्ञान अवश्य मानते हैं परन्तु उनकी विज्ञानदृष्टि पाश्चात्य-वर्त्तमान-परोक्षज्ञानप्रवर्त्तक-भौतिक (अतएव एकान्ततः अपार्थक) विज्ञान की ही अनुगामिनी बन रही है। वे केवल इसी में वेद का महत्त्व समझते हैं कि, वर्त्तमान भौतिक विज्ञान के उपासक प्रतीच्य-वैज्ञानिकों ने तार-वायरलेस-टेलिफोन-फोनोग्राफ-रेलवे-ट्रेन-बल्ब, आदि जो आविष्कार किए हैं, वे सब हमारे वेदशास्त्र में निहित हैं। फलतः मीमांसा-सङ्गति के एकान्ततः विरुद्ध मन्त्रार्थों की दुहाई करते हुए ये महाशय आविष्कारों का स्वप्न देख रहे हैं। कितने ही महानुभावों की दृष्टि में वेद केवल राष्ट्रनीति का निरूपण करने वाला नीतिशास्त्र है। एक सज्जन ने अपनी इसी काल्पनिक भावना के आधार पर दर्शपूर्णमास यज्ञ के सब मन्त्रों का राजनैतिक अर्थ करने का व्यर्थ प्रयास किया भी है। कितने ही अभिनिविष्ट कहते हैं कि वेद केवल अध्यात्मशास्त्र है। वेद में जितने भी पदार्थ आए हैं वे सब केवल आत्म समस्या से सम्बन्ध रखते हैं। कितने ही छायायुगप्रेमियों की दृष्टि में वेद केवल लगोलीय चरित्र का दूसरे शब्दों में ज्योतिर्विद्या का ही निरूपक है। इन सब प्रपञ्चियों को हम आगे देखा हुआ करेंगे। मध्यममार्गानुयायी अस्मदादि साधारण व्यक्तियों की दृष्टि में उक्त दोनों ही दल भ्रान्ति के उपासक बन रहे हैं। वेदार्थ के सम्बन्ध में सब से पहिला एवं मुख्य कर्त्तव्य यह होना चाहिए कि हम अपने कल्पित-सिद्धान्त को पुष्ट करने की दृष्टि से वेदमन्त्रों को न देखते हुए मीमांसाशास्त्र प्रतिपादित प्रसङ्ग उपोद्घात, हेतुता, अवसर, निर्वाहकैक्य, कार्य्यैक्यत्वैकत्वता, इन छओं सङ्गतियों की पूर्ण मीमांसा करते हुए, उपक्रम उपसंहार पर पूर्ण ध्यान रखते हुए, "शब्दप्रमाणका वयं, यदस्माकं शब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्" "इदं मनानुब्रूम्" 'लक्षणैकचक्षुष्कावयम्' तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ" इत्यादि आर्षसिद्धान्तों के अनुसार प्रत्येक विषय की सिद्धि के लिए शास्त्रीय प्रमाणों को आधार बनाते हुए ही आगे बढ़ें। तभी हम यथार्थ निश्चय पर पहुंच सकते हैं। अभिनिवेशमूलक मतवाद मनुष्य को सत्य मार्ग से सर्वथा च्युत कर देता है। यदि उक्त शास्त्र-दृष्टि से वेदार्थ का उपबृंहण किया जाता है, तो मन्त्र (मन्त्र)-ब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र में हमें विज्ञान, स्तुति इतिहास ज्ञान, कर्म्म उपासना ये ६ विषय उपलब्ध होते हैं इन ६ओं में से वेदरहस्य प्रतिपादक गाथा-नाराशंसी-रहस्य-निदान-कुम्भ्या, इन शब्दों के विभूतियोग द्वारा हम विज्ञान एवं इतिहास ये दो विषय स्मृतिगर्भ में विलीन हो चुके हैं। भारतीय विद्वानों की दृष्टि में वेद केवल स्तुति ज्ञान-कर्म्म-उपासना-इन चार ही विषयों का प्रतिपादक बन रहा है। विज्ञान एवं इतिहासदृष्टि के अभाव में ही आज हम वेद के वास्तविक अर्थ से पराङ्मुख बने हुए हैं। विशेषतः विज्ञान के अभाव में ही आज हम आत्म-परमात्म-परलोक-आत्मगति-श्राद्ध आदि विज्ञान सिद्ध विषयों के सम्बन्ध में भ्रम में पड़ रहे हैं। सब से पहिले आत्मा का ही विचार कीजिए।

आत्मा अखण्ड है निर्विकार है, सर्वव्यापक है अजन्मा है फिर भी शास्त्र का ही सिद्धान्त है कि मृत्यु के अनन्तर शरीर से उत्क्रान्त आत्मा कर्म्मफल-भोगने के लिए लोकान्तर में

जाता है, यह भी शास्त्रसम्मत पक्ष है शरीर के नष्ट होने पर आत्मा लोकान्तर में नहीं जाता, अपि तु वह यहीं विलीन होजाता है, यह भी वेदाभिमत ही सिद्धान्त है। शरीर छोड़ने से पहिले जब आत्मा अपना नया शरीर पहिले से निश्चित करलेता है, तभी पूर्व शरीर को छोड़ता है, इस सिद्धान्त को भी अशास्त्रीय नहीं माना जासकता। शरीर ही आत्मा है, शरीर से पृथक् आत्मा नहीं है, इस नास्तिकवाद का मूल भी शास्त्र ही है। आत्मा न विश्व का कारण है, न कार्य है उस असग तत्त्व का ससग विश्व से कोई सम्बन्ध नहीं है यह भी शास्त्र का ही कथन है। आत्मा ही विश्व का कर्ता है, यह भी शास्त्र ही कहता है। आत्मा ही विश्व बना हुआ है यह भी शास्त्र का ही सिद्धान्त है। कहीं विश्वपर्वमूत सूर्य्य को आत्मा बतलाया जारहा है। कहीं अग्नि को आत्मा कहा जारहा है। कहीं चार पुरुषों की समष्टि आत्मा बन रहा है। कहीं लोमत्वङ्मांसास्थि की समष्टि को आत्मा माना जारहा है। कहीं आत्मा को कृष्ण एवं स्थूल कहा जारहा है। कहीं आत्मा को मन प्राणवाङ्मय बतलाया गया है। इसी प्रकार-इन्द्र-सोम-प्राण-वायु-पानी-आकाश-वाक्-आदित्य-विष्णु-आदि तर पदार्थों को भिन्न-भिन्न स्थलों में आत्म शब्द स व्यवहृत किया गया है। निम्न लिखित भिन्न भिन्न शास्त्रीय प्रमाण इन्हीं भिन्न भिन्न पक्षों का समर्थन कर रहे हैं—

१—'(नित्य) विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ० आ० उप० ३।९।२८)।

२—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति० उप० २।१।१)।

३—'परं ब्रह्म परं सत्यं सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
अप्रमेयमनिर्देश्यमवाङ्मनसगोचरम् ॥"

४—"शुद्धं सूक्ष्मं निराकारं निर्विकारं निरञ्जनम् ।
अनन्तमपरिच्छेद्यमनुपममनामयम् ॥" (योगशिखोपनिषत् २ अ०।१६।१७)।

५—"स्थूलदेहविहीनात्मा सूक्ष्मदेहविवर्जितः ।
कारणादिविहीनात्मा तुरीयादिविवर्जितः ॥" (तेजोबिन्दूपनिषत् ४।७३)।

६—"अखण्डैकरसोऽहमानन्दोऽस्मिविवर्जितः ।
सर्वातीतस्वभावात्मा नादान्तर्ज्योतिरेव सः ॥" (तेजोबिन्दूपनिषत् ४।६)।

——✱——

१—"अथ यो हैवमेतमग्निं सावित्रं वेद, स एवास्मा-
ल्लोकात् प्रेत्य आत्मानं वेद" (तै० ब्रा० ३।१०।११।१)।

२—"एवमिव प्रेत्याभिसंभवितास्मि" (छां० उ ३ प्र० । १४ खं० । ४ मं०)।

३— 'तद्य इत्थं विदु०+++तेऽर्चिषमभि संभवन्ति०+++रमणीयां
योनिं वा कपूयां योनिं वा आपद्य रन्" (छां० उ० ५।१०)।

४—'द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥" (ऋक्सं० १ ।८८।१७)

५—"विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः ।
न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः ॥"

६—"शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वती मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽवर्तते पुनः ॥" गी ८।२६)।

———•———

१—"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते" बृ आ०उप० ४।२।११।४।४।६)।

२—'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥ (कठोपनिषत् ४।१५)।

३—"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥" (मुण्डकोपनिषत् २।२।८ ।

———•———

१—"यथास्तृणजलौकैवं देहि कर्म्मगतिं गतः ।
एवं तृणजलौकेयं देही कर्म्मगतिंगतः ॥" (श्रीमद्भागवत)

२—'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥" (गी० २।२)।

३— 'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' (व्या सू ३।१।१)।

४—"इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" (छां उ ५।९।१)।

———•———

१—"आत्मा वै तनू" शत० ६।७।२।६)।

२—"आत्मनो वाऽङ्गमानि सर्वाण्यङ्गानि प्रभवन्ति" शत० ७।५।२।५)।

३—"(शरीर) तत् सर्वमात्मा वाचमप्येति, वाङ्मयो भवति" (कौ० २।७)।

४—"वाग्वोआत्मा" (शत० ६।६।८।१६)।

५—आत्मावै वाग्वै सम्भवत सम्भवति" (शत० ७।१।१।२१)।

१—"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ (श्वे० उप० ६।८)।

२—"अनन्तश्चात्मा विश्वरूपा ह्यकर्ता" (श्वे० उ० १।६)।

१—"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
स बाहुभ्यां धमति संपतत्रैद्यावाभूमी जनयन् देव एक ॥" (श्वे० उ० ३।३)।

२—'एष देवो विश्वकर्म्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥" (श्वे० ४।१७)।

३—'तथाऽऽक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति" (मुण्डक० २।१।१)

४—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत, आकाशाद्वायु,
वायोरग्निः, अग्नेराप, अद्भ्य पृथिवी, पृथिव्या ओषधय" (तै० उप० २।१)।

१—'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥' (यजु सं० ३१।२)।

२—"मत्त परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ (गी० ७।७)।

३—'स वाह्याभ्यन्तरे देहे ह्यध ऊर्ध्वं च दिक्षु च ।
इत आत्मा ततोऽप्यात्मा नास्त्यनात्ममयं जगत् ॥" (महोपनिषत्० ६।१०)।

४—सर्वं खल्विदं ब्रह्म—मम वेद सर्वम्" (छां० उप० ३।१४।१)।

५—"सर्वमुम वेद प्रजापतिः" (शत० ३।७।१।४)।

६—"त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुष पादोस्येहा भवत् पुन" (यजुर्सं० ३१।४)।

७—"एषा ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥"
(यजु० ३२।४)।

———०———

१—"चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥"
(यजुर्वेद० ७।४२)

२—"प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः" (प्र० उ० १।८)।

———*———

१—"अग्निर्वै सर्वेषां देवानामात्मा" शत० १४।३।२।५)

१—"आत्मा वा अग्निः" (शत० ७।३।१।२)

१—अग्निरेव ब्रह्म" (शत० १।४।१।५)।

———*———

१—"स वै सप्तपुरुषो भवति। सप्त पुरुषा ह्ययं पुरुषो यच्चत्वार आत्मा
त्रयः पक्षपुच्छानि। चत्वारो हि तस्य पुरुषस्य आत्मा" (शत० ६।१।१।६)।

१—"चतुर्विधो ह्ययमात्मा" (शत० ७।१।१।१८)

———०———

१—"षाड्विध इतर आत्मा—लोमत्वङ्मांसमस्थिमज्जा" (तां० ब्रा० ४।१४)।

———०———

१—"तस्मादितर आत्मा मेद्यति च कृश्यति च" (तां० ब्रा० ४।१।०)

———*———

१—"एतन्मया वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः" (शत० १४।४।३।१०)

———*———

१—"पुरुषो वै संवत्सरः" (शत० १२।१।१)।

१—"स एव प्रजापतिरेव संवत्सरः" (ऐ० ६।१५)।

१—"स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः" (शत० १४।४।३।२२)।

———*———

१—"प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा-तं मामायुरमृतमित्युपास्व" (इन्द्रः)—कौ० ब० ३।२।१)।

२—"सोमो वै प्रजापतिः" (शत० ५।१।३।७) (सोम)।

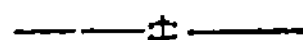
३—"प्राणो वै ब्रह्म" (शत० १४।६।१०।२) (प्राण)।

४—"अयं वै ब्रह्म योऽयं (वायु) पवते" (ऐ० ८।२८) (वायु)।

५—"अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तम्" (शत० १।१।१।१४) (आप)।

६—"मनोमयो भारूप आकाशात्मा" (छां० उप ३।१४।२) (आकाश)।

७—"वाग्वै ब्रह्म" (ऐ० ६।३) (वाक्)।



उपर्युक्त आत्मतत्त्व प्रतिपादक परस्पर में सर्वथा विरुद्ध शास्त्रीय सिद्धान्त हमें उलझन में डाल रहे
व्याख्यादोषमूला आत्मस्वरूपविप्रतिपत्ति—हैं। सत्यतत्त्व एक होसकता है अनेक नहीं ऐसी स्थिति
में कौन स सिद्धान्त को सत्य समझा जाय ?। हमारी दृष्टि से इन सारे प्रश्नों का एकमात्र उत्तर है आत्म स्वरूप को यथार्थ-प्रतिपत्ति। कहना अनुचित, साथ ही में अप्रासङ्गिक भी होगा परन्तु आपको यह मान लेना पड़ेगा कि आत्म-स्वरूप के सम्बन्ध में आज जो भ्रान्तियाँ फैल रही हैं, यह शास्त्र का दोष नहीं है, अपि तु व्याख्याताओं की कृपा का फल है। प्रत्येक विषय का सर्वथा परिष्कृत रूप से निरूपण करने वाला शास्त्र इन सम्प्रदायभक्त व्याख्याताओं की कृपा से दुरूह बन रहा है। व्याख्याताओं की दृष्टि में परमेश्वर-महेश्वर-ईश्वर-जीवेश्वर-आत्मा-आदि सब तत्त्व समानार्थक हैं। मन को दृष्टि में सर्वत्र अभेदवाद का साम्राज्य है। बस एकमात्र इसी व्याख्यादोष से सर्वथा विभक्त परमेश्वर-महेश्वरादि तत्त्व हमारे लिए अविज्ञात कोटि में प्रविष्ट रहते हुए सन्देह के कारण बन रहे हैं। आत्मस्वरूप परिचय के लिए पहिले इन भेदों का स्वरूपज्ञान परम आवश्यक है। अत एव अप्राकृत होते हुए भी इस प्रकरण में आत्मभेदों का संक्षिप्त स्वरूप परिचय पाठकों के समक्ष उपस्थित किया जाता है।

"आत्मा ह्यय प्रजापतिः" (शत० ४।६।१।१) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार आत्मतत्त्व को
आत्मभेदस्वरूपपरिचय—प्रजापति कहा जाता है। यह 'प्रजापति' शब्द बड़ा ही उलझा हुआ है।
श्रावयश्रुति के अवलोकन से आप को विदित होगा कि एक ही प्रजापति शब्द भिन्न भिन्न अर्थों के लिए सैकड़ों स्थानों में प्रयुक्त हुआ है। उदाहरण के लिए कुछ एक स्थलों का दिग्दर्शन यहां भी करा दिया जाता है।

"एष वै प्रजापतिर्यदग्निः" (तै० ब्रा० १।१।५।५)—"यो ह खलु वाव प्रजापतिः, स उ एवेन्द्रः" (तै० ब्रा० १।७।२।५)—"प्रजापतिर्वै मनः" (कौ० १०।१)—"एष प्रजापतिर्यद्धृदयम्" (शत० १४।

युक्त एक एक परमेश्वर हुए हैं। एक एक परमेश्वर (ब्रह्माण्ड) में स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य–चन्द्रमा–पृथिवी ये पांच पांच पर्व हैं। इन्हीं के सम्बन्ध से यह पञ्चपर्वा समष्टि—"पञ्चडिण्डीरा प्राजापत्या संस्था" नाम से प्रसिद्ध है। इन पांचों पर्वों में पहिला स्वयम्भू (जिस के कि महिमामण्डल में परमेष्ठी-सूर्यादि चारों प्रतिष्ठित हैं) 'आत्मप्रजापति' – 'परमप्रजापति' –"विश्वकर्म्माप्रजापति" –"अव्यक्तप्रजापति" "वेदप्रजापति" –"परात्परप्रजापति" इत्यादि विविध-नामों से प्रसिद्ध है। इन पांचों पर्वों की समष्टि हमारा एक विश्व है। सहस्रमूर्त्ति व्यापक महेश्वर के गर्भ में ऐसे ऐसे सहस्र सहस्र विश्व हैं। विश्वातीत परमेश्वर-विशेषोपाधिक वही महेश्वर विश्व का अधिष्ठाता बनता हुआ 'विश्वेश्वर' है। विश्वेश्वर के स्वयम्भू परमेष्ठी-आदि एक एक पर्व उपेश्वर है। एवं महापृथिवी से सम्बन्ध रखने वाली विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञ की समष्टि ईश्वर है। उक्त तालिकाओं से उपयुक्त आत्मसंस्थाओं का सम्यक् रूप से स्पष्टीकरण हो जाता है।

१— १—मायातीतुभ्या—सर्वबलशून्यो विशुद्धो रसः——→विशेषः ⎫ ⎬→ विश्वातीत परमेश्वर
 २—सर्वाश्रयपा—सर्वबलविशिष्टो रसः————→परात्पर ⎭

— —— * —— —

चतुर्धा वा इदं सर्वम्
२

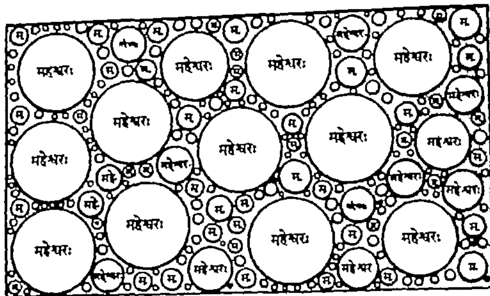
⎧ १—मायावच्छिन्नः सहस्रवल्शोऽव्ययमूर्त्तिः षोडशी→महेश्वरप्रजापति
⎨ २—पञ्चपर्वात्मको विश्वाधिष्ठाता ——————→विश्वेश्वरप्रजापति
⎨ ३—स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी (पृथक् २)→उपेश्वरप्रजापतय
⎩ ४—विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्त्ति साक्षी————→ईश्वरप्रजापति

—— * ——

एक ही आत्मतत्त्व अनेक भागों में कैसे विभक्त होगया ? इस प्रश्न का उत्तर है आत्मपरिग्रह आत्मपरिग्रहमूलक-आत्मस्वरूपभेद—परिग्रहों के तारतम्य से वह एक ही अनेक रूपों में परिणत होजाता है। प्रधान आत्मा है विश्वातीत असङ्ग परात्पर। इसी के आधार पर हमारा अद्वैत सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। यह आत्मा सर्वथा निर्बन्धक है। यद्यपि आत्मज्ञान प्रकरण का चरम लक्ष्य निर्बन्धक यही व्यापक आत्मा है, तथापि परिग्रहों से ससीम बने हुए सबन्धक अत एव अनेक रूपों में परिणत सबन्धक आत्मा का किंवा आत्मसंस्थाओं का भी आत्मज्ञान से बाहिर नहीं किया जासकता। वस्तुतस्तु विश्वगर्भ में रहने वाले हमारे अपेक्षा से तो आत्मज्ञान से जन्मस्थितिभङ्गहेतुभूत सबन्धकोपपन्न सबन्धक आत्मविवर्तों का ही महत्व अपेक्षित है। निर्बन्धक आत्मा निग्रहानुग्रह दोनों भावों से परे रहता हुआ अविज्ञेय है अनुपास्य है शास्त्रानधिकृत है। हम केवल सबन्धक आत्मा की ही जिज्ञासा करसकते हैं। वे हमारे ज्ञान का विषय बन सकता है। यही जन्मादि का कारण है यही सबन्धकोपपन्न है। आत्मतत्त्व निरूपक जिस वेदान्त दर्शन का हम ने उपक्रम किया था निर्बन्धक, जन्मस्थितिभङ्गमर्यादा से सर्वथा बहि

१ - परमेश्वरप्रतिकृति

अनन्तमहेश्वराधिष्ठाता—अमायी परमेश्वर —'अविज्ञेय'

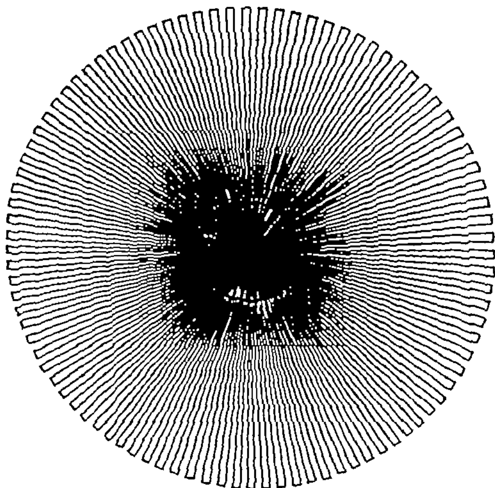


आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ (मनु)

२ – महेश्वरप्रतिकृति

सहस्रवल्शाऽश्वत्थमूर्त्तिर्महामायावच्छिन्नोऽनन्तविश्वाधिष्ठाता

महेश्वरप्रजापति –(१)'दुर्विज्ञेय'

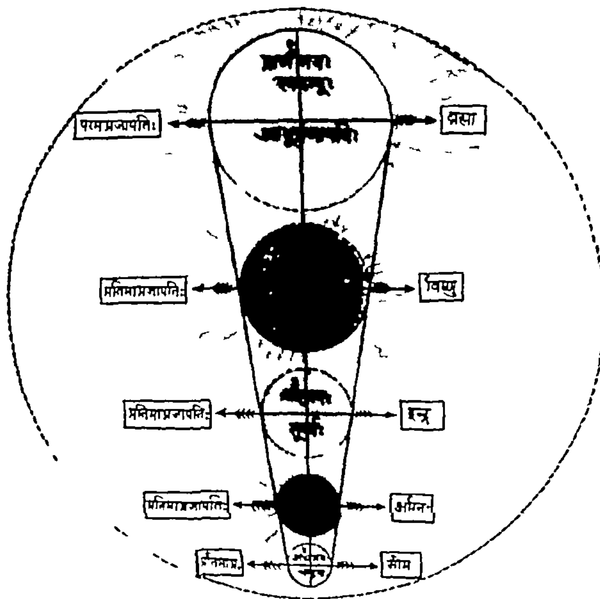


ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥

शर्मा आदर्श प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर

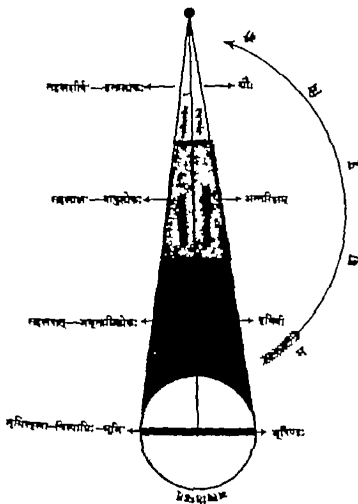
३—विश्वेश्वरप्रतिकृति

(स्वपूर्वार्धेन ... सप्तवितस्तिरूपो विश्वेश्वरप्रजापतिर्ज्ञेय



५ – ईश्वरप्रतिकृति —

विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञात्मक साक्षी–प्रजापति –"सुविज्ञेय"



त शास्त्रयोनित्व से सर्वेश्वर विम् अक्षयकात्मा का प्रतिपादक मानने का व्यर्थ का साहस कर रहे हैं, शारीरक प्रधान शारीरक शब्द से सक्षय-आत्मा की ओर लक्ष्य कराता हुआ—"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" "जन्माद्यस्य यतः" "शास्त्रयोनित्वात्" "सर्वधर्म्मोपपत्तेश्च" इस आरम्भ की सूत्रश्रुती से विस्पष्ट शब्दों में विश्वमूर्ति सलक्ष ब्रह्म का ही निरूपण कर रहा है। बहुत प्रयास रने पर भी हम अद्वैताभिमानी व्याख्याताओं के—"वेदान्त अखण्ड ब्रह्म का प्रतिपादक है" इस कल्पित अवैदिक सिद्धान्त का पोषक सम्पूर्ण प्रस्थानत्रयी (उपनिषत्-वेदान्तदर्शन-गीता) में एक भी वचन उपलब्ध न कर सके। भगवान् ही जाने इन शास्त्रभक्तों ने किस आधार पर इस कल्पित अद्वैतभाव को इतना महत्त्व देखा। साथ ही में नीरक्षीरविवेकी विद्वानों ने भी न मालूम किस आधार पर इस मिथ्या भ्रान्ति को अपना लिया।

अस्तु—परिग्रहों के सम्बन्ध से वही निर्धर्म्मक सर्वधर्म्मोपपन्न बन गया है, उसी का शास्त्र में निरूपण है यह निर्विवाद है। वे आत्मपरिग्रह माया, कला, गुण, विकार, अञ्जन आवरण, भेद से ६ भागों में विभक्त हैं। इन ६ धर्म्मों से परिगृहीत आत्मतत्त्व ही सर्वधर्म्मोपपन्न है। इन ६ ओं में माया कला का एक विभाग है, गुण-विकार का एक विभाग है, अञ्जन-आवरण का एक विभाग है। माया एवं कला अमृतपरिग्रह हैं, गुण एवं विकार ब्रह्मपरिग्रह हैं, अञ्जन एवं आवरण शुक्रपरिग्रह हैं। परिग्रहरूपा अमृतात्मा—ब्रह्मात्मा—शुक्रात्मा तीनों पृथक् पृथक् हैं। परिग्रह छोड़ देने पर—"तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते" (कठ ६।१) के अनुसार तीनों एक ही आत्मतत्त्व है। वही विशुद्ध आत्मा सपरिग्रहावस्था में तीन है परिग्रहशून्यावस्था में तीनों एक आत्मा है—"आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयं, त्रय सदयमेक—आत्मा" (शत १४।४।४।३)।

माया परिग्रह एकाकी है, निष्कल है। इसी को विश्व की अवान्तर सापेक्ष मायाओं की अपेक्षा 'महामायामात्रप्रवर्त्तक माया' परिग्रह—माया' कहा जाता है। इस माया परिग्रह के सम्बन्ध से वही परात्पर मायापुर से वेष्टित होता हुआ ससीम बनता हुआ "पुरुष" नाम धारण कर लेता है ("मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वे० उप० ४।१०) के अनुसार यही निष्कल विशुद्ध केवल सीमित आत्ममात्र महेश्वर कहलाता है। अभी—कलाओं का उदय नहीं है। कला ही विविध भाव की जननी है। अभी इस में वैविध्य का अभाव है। अत एव "न वैविध्यमेति" इस निर्वचन के अनुसार अव्यय नाम से व्यवहृत होता है। केवल—मायापरिग्रहोपाधिक अत एव निष्कल विशुद्ध अव्ययात्मक इसी मायी महेश्वर का स्वरूप बतलाती हुई गोपथश्रुति कहती है—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥ (गो० ब्रा० पू० १।२६)।

मायातीत परात्पर निरञ्जन है। यही निरञ्जन केवल मायासर्ग से मायी बना हुआ है परन्तु निष्कलता] अब भी इस की अक्षुण्ण है। यदि इस निष्कल अव्यय की उपासना की जाती है, तो समानरूप किंवा अभिन्नरूप होने से यह निरञ्जन परात्पर पद को प्राप्त हो जाता है। इसी अभिप्राय से उपनिषच्छ्रुति कहती है—

न भूमिरापो न च वह्निरस्ति न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरं च।
एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम् ॥
समस्तसाक्षिं सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम् ॥
(कै० ख० २ खं० ४)।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥
(मुण्डकोपनिषत् ३।१।८)।

विशुद्ध मायात्मक (ज्ञानात्मक) इस निष्कल अव्यय से ही कला नाम के परिग्रह से आगे जाकर कलासर्ग का उपक्रम होता है अत एव निम्नलिखित रूप से इस निरञ्जन को कलासर्ग का [मूलप्रतिष्ठा माना गया है—

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥ (श्वे० ५।१४)।

आगे जाकर 'कला' नाम के दूसरे परिग्रह का उदय होता। अनेक शब्दों में विभक्त 'योगमाया' षोडशकलाप्रवर्त्तक—कला' परिग्रह—का ही नाम कला है। यह कलात्मिका माया महामाया से नित्य-युक्त रहती है अत एव इसे योगमाया कहा जाता है। यही मोहमूलक नानात्वभाव की प्रथम भूमिका है— "योगमाया हरे-र्ह्येतत् तया सम्मोहितं जगत्'। इस के 'विष्णुमाया, रुद्रमाया, शिवमाया, अग्निमाया, सोममाया, इन्द्रमाया' आदि अनेक अवान्तर भेद हैं। अपरब्रह्मात्मिका अत एव 'कला' नाम से प्रसिद्ध इस योगमाया के उदय से वही अव्ययमूर्ति निष्कल महेश्वर षोडशकल बनता हुआ—'योगेश्वर' नाम धारण करलेता है। योगमाया ही योगेश्वर की योगेश्वरता है। यही सकल प्रजापति सोलह योगकलाओं के सम्बन्ध से षोडशी नाम से प्रसिद्ध है— 'षोडशकलं वा इदं सर्वम्' (कौ० ब्रा० ८।१)। इस दूसरी आत्मसंस्था का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है।

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥
(यजु० सं० ८।३६)।

पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल आत्मक्षर, सोलहवाँ अर्द्धमात्रिक वही परात्पर, इन की समष्टि ही षोडशी प्रजापति है। मायोपाधिक निष्कल महेश्वर, एवं कलोपाधिक सकल योगेश्वर, दोनों की एक संस्था है। यही अमृतसंस्था–पुरुषसंस्था–अमृतात्मसंस्था इत्यादि अनेक नामों से व्यवहृत की जासकती है। आरम्भ की अमृतात्मोपनिषत् में इसी संस्था का स्पष्टीकरण किया गया है।

कलाभाव के पीछे 'गुण' एवं 'विकार' नामक दूसरा आत्मपरिग्रह युग्म आता है। इस का प्रधान सगुण–सविकारभावप्रवर्त्तक 'गुण–विकार' परिग्रह—सम्बन्ध–अक्षरमूर्त्ति प्रकृतिभाव के साथ है। इसी अभिप्राय से—"विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्" (गी० १३। १९) यह कहा जाता है। गुणभाव के उदय से सत्यप्रजापति का उदय होता है। वही–पुरुषात्मा सर्वगुणसम्पन्न बनता हुआ (सत्व–रज–तमोगुण से युक्त होता हुआ) सत्यप्रजापति नाम से व्यवहृत होने लगता है। विकार सम्बन्ध से (पञ्चीकृत भूतों के सम्बन्ध से) वही सत्यप्रजापति सविकार बनता हुआ 'यज्ञप्रजापति' नाम से व्यवहृत होने लगता है। सत्य के आधार पर ही यज्ञ प्रतिष्ठित है। सत्य त्रयीब्रह्मात्मक है। त्रयीवेद ही त्रैलोक्यविद्या की मूल प्रतिष्ठा है। मौलिक वह सत्यप्रजापति है वही विकाररूप यौगिक अवस्था में आकर यज्ञप्रजापति है जैसा कि,पूर्व की 'यज्ञात्मोपनिषत्' में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इसी आधार पर—"सैषा त्रयी विद्या यज्ञः" (शत० १।१।४।१), "ते देवा अब्रुवन् यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै" (शत० ६।४।१।१८) इत्यादि निगम वचन प्रतिष्ठित हैं। महेश्वर–योगेश्वर का समन्वितरूप अव्यय प्रधान, अत एव अमृत नामक पुरुष था। सत्य–यज्ञ–प्रजापति का समन्वितरूप अक्षरप्रधान, अत एव ब्रह्म नामक मूलप्रकृति संस्था है। ब्रह्म शब्द बृंहण भाव का सूचक है। 'यतो बृंहणं भवति तद् ब्रह्म' "विमर्तिं सर्वं तद्ब्रह्म" इत्यादि के अनुसार 'भर्म्म' ही निरुक्त क्रमानुसार 'ब्रह्म' बना हुआ है। 'बृह' धातु से 'मन्' प्रत्यय करने से भी 'ब्रह्म' शब्द निष्पन्न हो जाता है। जो तत्त्व उपादान कारण बनता हुआ स्वस्वरूप से अविकृत रहता है, उसी अविकृत परिणामवाद के लिए 'बृंहण' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जिसप्रकार मकड़ी स्वस्वरूप से अविकृत रहती हुई जाल का उपादान कारण बनती है, एवमेव गुण-विकारयुक्त सत्य–यज्ञ ब्रह्म स्वस्वरूप से सर्वथा अविकृत रहता हुआ उपादान बनता है। इसी बृंहण भाव के कारण इस ब्रह्म कहा जाता है।—"यथाऽक्षराद्विविधाः सौम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति" (मुण्डक) 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' यहां ब्रह्मशब्द से जन्मस्थितिभङ्ग–हेतुभूत प्रकृतिरूप सत्य यज्ञात्मक गुणविकारमय इसी अक्षर ब्रह्म का ग्रहण समझना चाहिए।

गुण-विकार के अनन्तर आवरण–अञ्जनरूप तीसरा परिग्रह युग्म आता है। स्वच्छ आवरण सावरण–साञ्जनभावप्रवर्त्तक 'आवरण–अञ्जन' परिग्रह—अञ्जन है, मलिन आवरण आवरण है। काच–दीपक का अञ्जन है घट दीपक का–आवरण है। काच के आवरण से दीपप्रभा प्रकाशित अवरुद्ध

नहीं होती, परन्तु घट के आवरण से दीप प्रकाश सर्वथा अवरुद्ध होजाता है अज्ञान और आवरण में यही अन्तर है। इन में आवरण ही अहंभाव का प्रवर्त्तक माना गया है। यज्ञप्रजापति ही अव्ययम परिग्रह से विराट्रूप में परिणत होता है। इस के ईश्वर, एवं जीव भेद से दो विवर्त हैं। सात्त्विक अज्ञान से ईश्वर विराट् का उदय होता है, एवं पाप्मा नाम से प्रसिद्ध तामस अज्ञान से जीवभाव का उदय होता है। ईश्वरीय अज्ञान विभूति नाम से प्रसिद्ध है। इस के शोक-मद-दर्प-भूत-प्रभु, ये पांच अवान्तर भेद हैं। इन पांचों विभूति अज्ञानों से युक्त यज्ञप्रजापति ही ईश्वरविराट्-सर्वांशपति है। यही अंशात्मा १-पर्याय २-ऊर्म्मि, ३-आशय, ४-अवस्था ५-क्लेश ६-कर्म्म ७-विपाक, इन सात पाप्मारूप तामस अज्ञानों से जीवविराट्रूप में परिणत होजाता है। ईश्वर नित्यमुक्त है। वह कभी मुक्त रहे, कभी बन्धन में रहे इस पर्य्याय सम्बन्ध का उस में अभाव है परन्तु जीव विद्या कर्म्मानुसार कभी बन्धपर्य्याय से युक्त रहता है, कभी मुक्तपर्य्याय से युक्त रहता है। ईश्वर में क्षुधा-पिपासा,-शोक-मोह,-जरा-व्याधि इन ६ ऊर्म्मियों का (अन्तर्व्यवहारों का) अभाव है, वह एकरस है। इधर जीव जीव इन ६ ओं से नित्ययुक्त है। ईश्वर में भावना-वासनात्मक ज्ञान-कर्म्म संस्काररूप दोनों आशयों का अभाव है। और दोनों से मुक्त है। ईश्वर नित्यप्रबुद्ध, नित्यैकरस रहता हुआ जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति मोह-मूर्च्छा-मृत्यु इन छओं अवस्थाओं से विमुक्त रहता है। जीव ६ ओं से युक्त रहता है। ईश्वर नित्य कर्म्मठ बनता हुआ भी बुद्धियोग के प्रभाव से कर्म्मलेप से पृथक् रहता हुआ कर्म्म-विरहित कहलाता है। परन्तु जीव यज्ञ-तपो-दान लक्षण विद्यासापेक्ष प्रभृति सत्कर्म्म, इष्ट-आपूर्त, दत्त-लक्षण विद्यानिरपेक्ष प्रभृति सत्कर्म्म, सुरापान-अगम्यागमन-पशुहिंसा-स्तेय-भ्रूणहत्या-छलद्वारा धनोपार्जन आदि शास्त्र निषिद्ध विकर्म्मरूप असत्-कर्म्म बलतारून-फलासव-पादभ्रमण-तृणच्छेदन-वृथाहास्य आदि शास्त्रागति पदार्थविहित अकर्म्म (निरर्थककर्म्म) रूप असत् कर्म्म, एवं सर्वकर्म्ममूर्द्धन्य बुद्धियोगलक्षण, अतएव मुक्तिसाधक निष्काम कर्म्म इन कर्म्मों में से किसी न किसी कर्म्मानुष्ठान में नित्य रत रहता है। ईश्वर जाति-आयु-भोग, इन तीनों कर्म्मविपाकों से पृथक् रहता है, इधर जीव कर्म्मपरिपाकस्वरूप योनि-आयु-भोग से नित्य युक्त रहता है। इस का जैसा कर्म्म-परिणाम होता है उसी के अनुसार जाति मिलती है तदनुसार ही आयु मिलती है, तदनुसार ही भोग्य संपत्ति मिलती है। तीनों का अन्य से सम्बन्ध है। इसी आधार पर निम्न लिखित सूक्ति प्रचलित है—

> आयुः कर्म्म च वित्तं च विद्या निधन मेव च।
> पञ्चैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥

जीवस्व संपादक उपर्युक्त पाप्माओं का आगे सोपपत्तिक स्पष्टीकरण होने वाला है। यहाँ केवल यही **विभूति, तथा पाप्मा—** बतलाना है कि, अज्ञान की ही तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। ऐसा अज्ञान जो प्रकाश का अवरोधक न बने, उसे विभूति कहा जायगा। ऐसा अज्ञान, जो प्रकाश का अवरोधक हो न हो परन्तु प्रकाश को मलिन करदे, वह 'पाप्मा' कहलाएगा। एवं ऐसा अज्ञान, जो प्रकाश को ही रोकदे वह 'आवरण' कहलाएगा। इनमें विभूति अज्ञान ईश्वरस्वरूप समर्पक है। पाप्माज्ञान जीवस्वरूप समर्पक है एवं आवरण विश्व, एवं शरीर स्वरूप समर्पक है। आवरण से ही विश्वरूप ईश्वर का शरीर बनता है, एवं आवरण से ही शरीररूप जीव के विश्व का निर्माण होता है। श्वेत दर्पण दीपक के लिये विभूतिरूप अज्ञान है। कृष्ण दर्पण दीपक के लिए पाप्माज्ञान है एवं चारों ओर से कम्बल में सर्वथा लिप्त दर्पण दीपक के लिये आवरण है।

जीवप्रजापति को थोड़ी देर के लिये छोड़ दीजिए, केवल ईश्वर विराट् प्रजापति को ही अपना लक्ष्य **विराट्प्रजापति—** बनाइए। यह कहा जा चुका है कि, अज्ञान नाम के पाँचवें परिग्रह से यही यज्ञप्रजापति विराट् प्रजापति बन जाता है। यहाँ तक आत्मज्योति का यथेच्छ विकास रहता है, अतः आत्मा क्रिया चेतन व्यवहार इस विराट्संस्था पर्य्यन्त ही रहता है, आवरण से आत्मविकास एकान्ततः अवरुद्ध हो जाता है अज्ञभाव का उदय हो जाता है। यही पष्ठ विश्वप्रजापति है। यही उस विराट्प्रजापति का शरीर है। भौतिक पर प्रधान मत्य विश्व ही विश्वप्रजापति है। एक बात का विशेष ध्यान रखिए। पूर्व पूर्वसंस्था उत्तर उत्तर की संस्था से परिगृहीत रहती है। आवरण विश्वप्रजापति में साज्ञान विराट् सवि कार यज्ञ मगुण सत्य सकल षोडशी मायी महेश्वर चारों अन्तर्भूत हैं। सविकार यज्ञप्रजापति में सगुण सत्य, सकल षोडशी मायी महेश्वर तीनों अन्तर्भूत हैं। सगुण सत्यप्रजापति में सकल षोडशी, मायी महेश्वर दोनों अन्तर्भूत हैं। सकलषोडशी मायीमहेश्वर से नित्ययुक्त है। मायीमहेश्वर और अमायी परात्पर एक वस्तु है। विशुद्ध परात्पर विशुद्ध आत्मा है। यही परिग्रहधारा उक्त संस्थाओं परिणत हो रहा है— 'आत्मैवेदं सर्वम् एतदात्म्यमिदं सर्वम् ब्रह्मैवेदं सर्वम् सर्वं खल्विदं ब्रह्म, एक वा इदं विबभूव सर्वम्", इत्यादि श्रौत सिद्धान्तों का ध्यान विशेष कर सकता है ?।

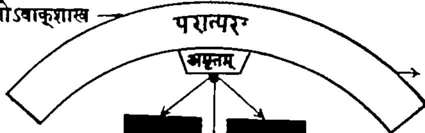
परात्पर ही एकमात्र आत्मा है विश्वप्रजापति ही एकमात्र शरीर है। शेष मध्य की महेश्वर—षोडशी—सत्य—यज्ञ—विराट्, ये पाँचों अवस्थाएँ आत्मन्वी (शरीरविशिष्ट आत्मा) हैं। परात्परात्मा का कोई शरीर नहीं है। वह विभु है, सर्वमहान् है—"महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति" श्रुति ने इस विभु (व्यापक) के लिए 'मत्वा' कहा है, 'ज्ञात्वा' नहीं कहा। वह केवल सत्तारूपा मानने की ही वस्तु है जानने की नहीं। ज्ञान तो ससीम आत्मा का ही होता है। महेश्वर आत्मन्वी है। स्वय

निष्कल महेश्वर इस आत्मसम्बन्धीभाव का आत्मा है, षोडशी–सत्य–यज्ञ–विराट्–विश्व इन पाँचों की समष्टि इस महेश्वरात्मा का शरीर है। यह पूर्णपुरुष सर्वत्र समानरूप से वृक्षवत् स्तब्ध रहता हुआ व्याप्त हो रहा है। इसी महेश्वरात्मा की व्याप्ति का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्–यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥ (श्वे० उ० ३।९)।

महेश्वरगर्भित षोडशी आत्मा है, सत्य-यज्ञ विराट् विश्वसमष्टि शरीर है। यही दूसरा आत्मसम्बन्धी सर्वधर्मोपपन्न पुरुषात्मा— है। महेश्वर–षोडशीगर्भित सत्यप्रजापति आत्मा है यज्ञ विराट् विश्व समष्टि शरीर है यही तीसरा आत्मसम्बन्धी है। महेश्वर-षोडशी-सत्यगर्भित यज्ञप्रजापति आत्मा है, विराट्-विश्व समष्टि-शरीर है। यही चौथा आत्मसम्बन्धी है। महेश्वर-षोडशी-सत्य यज्ञगर्भित विराट्प्रजापति आत्मा है, विश्व इस का शरीर है, यही पाँचवाँ आत्मसम्बन्धी है। मायादि सभी धर्मों की समष्टि विश्वप्रजापत्यवच्छिन्न महेश्वर प्रजापति के साथ ही सम्बन्ध रखती है। यहाँ से वहाँ तक एक ही आत्मतत्त्व व्याप्त है। यही सर्वधर्मोपपन्न नाम का दूसरा पदर्शक आत्मसम्बन्धी विवर्त है। निर्धर्मक विशुद्ध आत्मा दूसरा विवर्त है। आत्मसम्बन्ध में ये ही दो प्रधान दृष्टियाँ हैं।

सर्वधर्मोपपन्न आत्मसंस्था में अव्यय अक्षर क्षर, इन तीनों का ही साम्राज्य है। महेश्वर, और प्रजापति चतुष्टयी—षोडशी में अव्यय की प्रधानता है यही अमृतभाग है। सत्य, और यज्ञ प्रजापति में अक्षर की प्रधानता है यही ब्रह्मभाग है। यहाँ तक तो मृत्यु की प्रधानता नहीं है। क्षरात्मा में मृत्यु का अव्यय सम्भावना ही मृत्युधारा है। विराट् एवं विश्व में क्षरमूर्त्ति इसी मृत्युधारा की प्रधानता है। यही तीसरा शुक्रविवर्त है। जब तक शुक्र है तभी तक संसार है। शुक्र अतिक्रमण है—विश्वातिवर्त्तन है— "उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः"। यही आत्मा अव्ययरूपा अमृत (महेश्वर षोडशी) है यही आत्मा अक्षररूपा ब्रह्म (सत्य-यज्ञ) है, यही क्षररूपा शुक्र (विराट् विश्व) है। अमृतब्रह्मशुक्रमूर्त्ति-षोडशी सत्य-यज्ञ विराट्-विश्वावच्छिन्न सर्वव्यापक महेश्वर ही अश्वत्थ प्रजापति है। यही आरम्भ में बतलाई गई पहिली प्रजापतिसंस्था है। महेश्वर-षोडशीयुक्त सत्यप्रजापति विश्वेश्वर नाम की दूसरी प्रजापतिसंस्था है। महेश्वर षोडशी-सत्य-यज्ञ गर्भित विराट्प्रजापति सर्वेश्वर नाम की तीसरी-प्रजापतिसंस्था है एवं महेश्वर–षोडशी–सत्य–यज्ञगर्भित विराट्प्रजापति ईश्वर नाम की चौथी प्रजापतिसंस्था है। इन चारों प्रजापत्यसंस्थाओं का पूर्व के चित्रों से भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है। उपर्युक्त सम्पूर्ण विषय का परिलेखों से स्पष्टीकरण हो रहा है।







ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥ १ ॥
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नान्येति कश्चन ।
एतद्वै तत् ॥
—कठोपनिषत्

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥
—श्वे० उप० ३।९।








१ परात्परोपासका*	→परात्परानुयायिनः	→परमास्तिका गीतावाद्याः
२—अव्ययात्मोपासका	→पुरुषात्मानुयायिन	→वेदान्तिन
३—अक्षरानुगृहीतात्मक्षरोपासका	→सत्यात्मानुयायिन	→सांख्या
४—आत्मक्षरानुगृहीतविकारक्षरोपासका	→यज्ञात्मानुयायिन	→वैशेषिका
५—विकारक्षरानुगृहीतवैकारिकोपासका	→विराडात्मानुयायिन	→साम्प्रदायिकाः
६—वैकारिकविश्वोपासका	→विश्वानुयायिन	→लौकायतिका



१-विश्व-विराट्-यज्ञ-सत्य-षोडशीप्रजापतिरूपशरीरावच्छिन्नः—आत्मन्वी —मायी महेश्वर

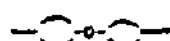
२-विश्व विराट्-यज्ञ-सत्यप्रजापतिरूपशरीरावच्छिन्नो महेश्वरात्मगर्भित आत्मन्वी-सकलः षोडशी प्रजापति

३-विश्व-विराट्-यज्ञरूपशरीरावच्छिन्नो महेश्वरषोडशीगर्भितः—आत्मन्वी —सगुण सत्यप्रजापति

४-विश्व विराड्रूपशरीरावच्छिन्न महेश्वरषोडशी सत्य मित —आत्मन्वी —सविकारो यज्ञप्रजापति

५-विश्वशरीरावच्छिन्नो महेश्वरषोडशीसत्ययज्ञ मित —आत्मन्वी —सम्भूतो विराट्प्रजापति

६-महेश्वरषोडशीसत्ययज्ञविराड्गर्भितस्तत्तच्छरीरात्मा —सावरणो विश्वप्रजापति



इस प्रकरण में प्रधानरूप से हमें जीवात्मा का स्वरूप बतलाना है। जीवात्मा का वैज्ञानिक स्वरूप जीवात्मस्वरूपोपक्रम—में आगे जाकर स्पष्ट होगा हां, परन्तु बहुत स्थिलों में चली आने वाली दार्शनिक भावना के अनुसार भी जीवात्मा का संक्षिप्त स्वरूप जान लेना अनावश्यक न होगा। जीवात्मा ईश्वरात्मा का अंश है एवं उपाधिभेद से वह नाना (अनेक) है। इस जीवनानात्वपक्ष को दृढमूल बनाते हुए निम्न लिखित वेदान्त सूत्र हमारे सामने आते हैं—

१—'अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके' ॥

२—'मन्त्रवर्णाच्च' ॥

३—'अपिच स्मर्यते' ॥ (शा॰ सू॰ २ अ॰ । ३ पा॰ (१७ अधि॰ । ४३ ४४ ४५ सू॰)

सदामायी पूर्ण पुरुष का स्वरूप बतलाइए। इस को हम महेश्वर कहते हैं। सम्पूर्ण प्रपञ्च इसी महेश्वर

* [illegible]

पृष्ठ सं० २६८ 'ख'—

१—१—मायापरिग्रह—मायी महेश्वरो निष्कल——आत्मन्वी	}	—महेश्वरप्रजापति १
२—२—कलापरिग्रह—सकल षोडशी——आत्मन्वी	}	
३—१—गुणपरिग्रह—सगुण सत्यप्रजापति——आत्मन्वी	}	—विश्वेश्वरप्रजापति २
४—२—विकारपरिग्रह—सविकारो यज्ञप्रजापति——आत्मन्वी	}	—प्रपेश्वरप्रजापति
५—१—अञ्जनपरिग्रह—साञ्जनो विराट्प्रजापति—आत्मन्वी	}	—ईश्वरप्रजापति ४
६—२—आवरणपरिग्रह—सावरणो विराट्प्रजापति—पशुम्	}	

प्रसंगागत यह जान लेना भी अनुचित न होगा कि आज जो भिन्न भिन्न * दर्शनों में विरोध पाया जाता है, उसका मुख्य कारण भी उपयुक्त आत्मसंस्थाओं का विवेकाभाव ही है। यदि आत्म संस्थाओं का पार्थक्य समझ लिया जाता है, तो भिन्न भिन्न एक एक आत्मसंस्था को प्रधान मान कर साथ ही में गौणरूप से इतर आत्मसंस्थाओं का भी दिग्दर्शन कराने वाले दर्शनों में कोई विरोध नहीं रह जाता। इस दृष्टि से जो महत्त्व एक आस्तिक दर्शन का है, वही महत्त्व नास्तिक दर्शन का है। यहाँ दर्शन वर्ग अप्रासंगिक है, अतः तालिकारूप से ही प्रकृत में दर्शनों का समन्वय बतला दिया जाता है।

---

* इस विषय का विशद विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' २ खण्ड 'क' विभाग 'आत्मपरीक्षा' में देखना चाहिए।

१ परात्परोपासका* →परात्परानुयायिनः →परमास्तिका गीताचार्य्याः
२—अव्ययात्मोपासका →पुरुषात्मानुयायिन →वेदान्तिनः
३—अक्षरानुगृहीताक्षरोपासकाः →सत्यात्मानुयायिन →सांख्या
४—आत्मक्षरानुगृहीतविकारक्षरोपासका →यज्ञात्मानुयायिन →वैशेषिका
५—विकारक्षरानुगृहीतवैकारिकोपासका →विराडात्मानुयायिन →साम्प्रदायिका
६—वैकारिकविश्वोपासका →विश्वानुयायिन →लौकायतिका



१–विश्व–विराट्–यज्ञ–सत्य–षोडशीप्रजापतिरूपशरीरावच्छिन्नः—आत्मन्वी —मायी महेश्वर
२–विश्व विराट्–यज्ञ–सत्यप्रजापतिरूपशरीरावच्छिन्नो महेश्वरात्मगर्भित आत्मन्वी–सकलः षोडशी प्रजापतिः
३–विश्व–विराट्–यज्ञरूपशरीरावच्छिन्नो महेश्वरषोडशीगर्भित—आत्मन्वी —सगुण सत्यप्रजापति
४–विश्व विराट्रूपशरीरावच्छिन्न महेश्वरषोडशी सत्य गर्भित—आत्मन्वी —सविकारो यज्ञप्रजापति
५–विश्वशरीरावच्छिन्नो महेश्वरषोडशीसत्ययज्ञगर्भित—आत्मन्वी —सम्पन्नो विराट्प्रजापति
६–महेश्वरषोडशीसत्ययज्ञविराट्गर्भितस्वतन्त्रात्मा —सावरणो विश्वप्रजापति



इस प्रकरण में प्रधानरूप से हमें जीवात्मा का स्वरूप बतलाना है। जीवात्मा का वैज्ञानिक स्वरूप जीवात्मस्वरूपोपक्रम–में आगे जाकर स्पष्ट होगा ही, परन्तु बहुत दिनों से चली आने वाली दार्शनिक भावना के अनुसार भी जीवात्मा का संक्षिप्त स्वरूप जान लेना अनावश्यक न होगा। जीवात्मा ईश्वरात्मा का अंश है एवं उपाधिभेद से वह नाना (अनेक) है। इस जीवनानात्वपक्ष को दृढमूल बनाते हुए निम्न लिखित वेदान्त सूत्र हमारे सामने आते हैं।

१–"अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके" ॥

२–"मन्त्रवर्णाच्च" ॥

३–'अपि च स्मर्यते' ॥ (शा० सू० २ अ०। ३ पा० १० अधि। ४३ ४४ ४५ सू०)

महामायी पूर्ण पुरुष का स्मरण कीजिए। इस ही हमने महेश्वर कहा है। सम्पूर्ण प्रपञ्च इसी महेश्वर

* परिदृश्य सत्तरमहर्षिर्यानिर्भेषु च ये-बम्यतरास्तेऽस्मो मतमधिवारत्वात् सर्वेषां प्रदेशा इति वर्षेममात्मज्ञम्भ्रम एवं सांख्ययोग समन्वयो द्रष्टव्य ।

का विभूति है। यही विशुद्ध अव्यय पुरुष है। यह पुरुष पुरुषत्वेन सर्वथा अजन्मा है। केवल अव्यय जीवरूप से कभी जन्म नहीं लेता। अपितु जीवभाव में परिणित होने के लिए इसे स्वभावभूत अन्तरंगप्रकृति नाम से प्रसिद्ध तद्युक्त अव्यक्त अक्षर का आश्रय लेना पड़ता है जैसाकि पूर्वेश्वर कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ (गी० ४।६)।

प्रकृतिविशिष्ट वही अव्यय पुरुष षोडशकल बनता हुआ षोडशीप्रजापति नाम से व्यवहृत होने लगा
चिदात्मा, चिदंश, चिदाभास—है जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। इस पुरुषात्मा की इसी

धारा के सम्बन्ध में प्रधानरूप से चिदात्मा, चिदंश, चिदाभास ये तीन विवर्तभाव होते हैं। सर्वव्यापक सहस्रवल्शाश्वर षोडशीपुरुष ही चिदात्मा है। दूसरे शब्दों में इस महेश्वर को चिदात्मा कह सकते हैं। यह गुणरहित स्वच्छ है इसमें यद्यपि चित् भी गति नहीं है। यह नित्य कूटस्थ है। अतः सर्वथा अजन्मा है। जीवस्वरूप का इस व्यापक चिदात्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। जीवात्म-प्रकरण में सर्वव्यापक इस चिदात्मा का, पूर्णेश्वर का भी नाम ग्रहण इसी प्रकार व्यर्थ है जैसे कि तत्सम निरञ्जन विश्वातीत परात्पर का सर्वथा व्यर्थ है। अतएव हम इसे यहीं छोड़कर चिदंश की ओर आपका ध्यान आकर्षित करते हैं। चिदंश प्रज्ञानात्मा शारीरकात्मा भेद से दो भागों में विभक्त है। विराट्–वैश्वानर–हिरण्यगर्भमूर्ति सौम्य त्रिलोकी में व्याप्त जिस ईश्वर प्रजापति का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है जीवात्मा इसी का अंश है। वह ईश्वर द्विधा विभक्त हो प्रकार से शरीरसंस्था में प्रविष्ट होता है। ईश्वर का जो अंश (चिदंश) प्रवर्ग बन कर अन्तर्याम (प्रतिबिम्ब) सम्बन्ध से शरीर में प्रतिष्ठित होता है वह तो शारीरात्माओं से संगृह होता हुआ 'शारीरकात्मा' (शरीराभिमानी जीवात्मा) कहलाता है एवं जो चिदंश प्रवर्ग बनता हुआ केवल साक्षीरूप से बहिर्याम (योग) सम्बन्ध से शरीरसंस्था में प्रविष्ट होता है वह शरीरोपाधिमुक्त प्रतीत होता हुआ भी शरीरबन्धन से शरीर के पाप्माओं से सर्वथा असंसृष्ट रहता हुआ "प्रज्ञानात्मा" नाम से प्रसिद्ध होता है। दोनों की प्रतिष्ठाभूमि एक ही शरीरवृत्ति है। दोनों हृदय प्रतिष्ठित हैं। केवल प्रतिष्ठा में तारतम्य है। एक निर्लेप है दूसरा सलेप है। एक भोक्ता है दूसरा भोग्य है।

इस प्रकार से दो सम्बन्ध हुए कि व्यापक चिदात्मा का शरीर के साथ विभूति सम्बन्ध है। इसका
योग–बन्ध–विभूति—अक्षर ईश्वरव्यापक चिदात्मा का चिदंशरूप से शरीर के साथ योग सम्बन्ध है एवं प्रवर्ग्यभूत चिदंश का शरीर के साथ बन्ध सम्बन्ध है। विभूतिसम्बन्धापन्नचिदात्मा व्यापक चिदा

निग्रहानुग्रह से परे रहता हुआ केवल भालम्बनमात्र है, आयपन है सम्राट है, अविनाशी है एक प्रकार से शाश्वत ब्रह्म (परात्पर) ही है। योगसम्बन्धावच्छिन्न चिदंश निग्रहानुग्रह का अधिष्ठाता है। इसी की शक्ति स जीवात्मा सञ्चालित है। उसका सर्वत्र समान वैभव था, इस का पर्वमात्र हृदय के साथ योग है। इसी चिदंशरूप प्रत्यगात्मा (ईश्वरात्मा) का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

ईश्वर सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया (योगमायया)॥गीता १८।६१)।

बन्धसम्बन्धावच्छिन्न चिदंश ही शरीराभिमानी जीवात्मा है। प्रत्येक शारीरक आत्मा के लिए प्रत्यगात्मा स्वतंत्र है। स्वप्ननियति में म प्रत्येक का प्रत्यगात्मा शारीरकात्मा की भांति शरीरोपाधिभेद स पृथक् बन रहा है। इस चिदंशरूप प्रत्यगात्मा को यद्यपि शरीरोपाधि युक्त बतलाया जाता है, परन्तु वस्तुत यह जीवमात्र में समान है। जीवशरीर में रहता हुआ जीवसहकारी यह चिदंश जीवमात्रका अनुग्राहक है। चिदंशमूल प्रत्यगात्मा एवं चिदंशरूप ही शारीरकात्मा के स्वरूप परिचय के लिए उदाहरणार्थ सौरसंस्था पर दृष्टि डालिये।

जलपूर्णपात्र, दर्पण, स्फटिकमणि, आदि के साथ सूर्य्यज्योति का सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध आतप (चमकज्योति प्रकाश) एवं प्रतिबिम्ब भेद से दो भागों में विभक्त है। जल-दर्पणादि पर सूर्य्य का (रश्मिन्यास के अनुसार) प्रतिबिम्ब प्रतिष्ठित होता है। यह प्रतिबिम्ब शरीरोपाधिकृत विलक्षण सम्बन्ध स यहीं बन्धन में आता हुआ प्रतिपात्रादि भेद से पृथक् पृथक् बन जाता है। एक पात्र को तोड़ दीजिए, केवल उसी के प्रतिबिम्ब का विलयन होगा शेष पात्रों के प्रतिबिम्ब ज्यों के त्यों अक्षुण्ण रहेंगे। सब प्रतिबिम्ब उस एक ही सूर्य्य के अंश हैं परन्तु पात्र आधार भेद स, एवं आधारों के पारस्परिक भेद से वह एक ही सवर्ण्यरूप से नानारूपों में परिणत हो रहा है। इन प्रतिबिम्बों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रतिबिम्बभाव के अतिरिक्त प्रत्येक पात्र-दर्पणादिरूप शरीर के साथ त्रैलोक्य में व्यापक सूर्य्य के आतप भाग ज्योतिर्भाग) का भी सम्बन्ध होता है। यह आतप भी यद्यपि उस उस में तत्तच्छरीरपर्य्याप्त है परन्तु प्रतिबिम्बवत् वह उस पात्र में प्रवर्ग्यरूप से प्रतिष्ठित नहीं है। अत एव हम इस त्रैलोक्यव्यापक एक ही सर्वसाधारण सर्वसमान वस्तु कहेंगे। यही परिस्थिति जीवेश्वर के सम्बन्ध में समझिए। विश्वव्यापक चिदात्मा सूर्य्यस्थानीय है। वह स्वस्वरूप स सर्वथा असम्बन्धा है। इस व्यापक चिदात्मा के चिदंश का सम्बन्ध प्रतिशरीर के साथ

चेतनारूप से एवं चिदाभास रूप से दो दो प्रकार से माना है। चेतना (चिद्व्याप्ति चित् प्रकाश) को आनपरमान्नी का समझिए, एवं चिदाभास को प्रतिबिम्बस्थानीय समझिए। यद्यपि चेतनारूप चिद्रश्मि सत्तारूप से सर्वत्र में आत्मन्वयम् व्याप्त है, तथापि यह सम्बन्ध सर्वत्र में बर्तमान है भावरूप से प्रतिष्ठित नहीं है। अतएव स्थूलदृष्ट्या शारीरोपाधिक किंवा शरीरपरिच्छिन्न बनता हुआ भी यह सर्वशरीरसाधारण है। प्रतिशरीर में व्याप्त उस चिदात्मा से अभिन्न यह इश्वरवस्तु जीवसहयोग से यथाकथंचित् जीवशब्द से भी व्यवहृत किया जा सकता है। यह 'ब्रह्म' है दूसरा चिदाभास "अंश" है। यह प्रकर्षरूप से प्रतिष्ठित होता हुआ प्रति शरीर में भिन्न है। इन दोनों में से स्वरूपात्मक चेतना भाव को लक्ष्य में रख कर ही— 'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्" (गी १३। १६।) 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्" (गी १३। २७।) "आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः" (ऋक्सं १। १६८। ४) इत्यादि कहा जाता है। वेदान्तदर्शन इसी सत्यभाषा रूप प्रत्यगात्मा को आत्मा (जीवात्मा) मानता हुआ जीवनानात्व का खण्डन करता है। उधर प्रतिशरीर में स्वरूप से सर्वथा विभिन्न जीवात्मा का ही निरूपण करने वाला सांख्य दर्शन जीवनानात्व का अनुगमन कर रहा है। इस प्रकार यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि एकमात्र चिदात्मा ही चिदात्मा प्रत्यगात्मा-शारीरकआत्मा भेद से तीन भावों में परिणत होकर सब कुछ बन रहा है। इन तीनों में हमारे आत्मप्रकरण में चिदात्मा बहिष्कृत है प्रत्यगात्मा एवं शारीरक आत्मा मात्र हैं। दोनों नित्य सहचारी हैं। एक असंग है दूसरा ससंग है। इनके इसी साहचर्य का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान व्यास कहते हैं—

> तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः।
> न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१॥
> कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते।
> स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते सदा ॥२॥

दार्शनिक दृष्टि से चिदाभासरूप कर्मात्मा का विवेचन हो चुका। अब विज्ञानदृष्टि से जीवात्मस्वरूप का विचार किया जाता है। जीवात्मा ईश्वरप्रजापति का ही अंश है, यह निर्विवाद है। साथ ही में पूर्व प्रतिपादित चारों प्रजापतियों में से विराट्–हिरण्यगर्भ–

* ५ ज्ञानेन्द्रियाँ ५–कर्मेन्द्रियाँ ५ विषय बुद्धि तथा १–मन इन की समष्टि से जीवात्मा नित्ययुक्त रहता है।

सर्वेश्वरमूर्ति अग्निसोम्यत्रिलोकी में प्रतिष्ठित तत्त्व का ही नाम ईश्वर प्रजापति है, यह भी सिद्ध विषय है। एतदंशभूत जीवात्म-स्वरूपपरिचय के लिए एकमात्र इसी त्रैलोक्य व्यापक ईश्वरप्रजापति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

'यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्। यदस्य त्वं, यदस्य च

विदित–अविदित–विदिताविदितातीत–आत्मविवर्त—देवेषु,अथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये

विदितम्। अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' –(केनोपनिषत्) इत्यादि औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार आत्मविवर्त विदितात्मा, अविदितात्मा, विदिताविदितातीतात्मा भेद से तीन भागों में विभक्त है। हम जानते हैं, कर्म करते हैं, ज्ञानकर्माभिव्यक्त अर्थों का ज्ञानकर्म द्वारा उपभोग करते हैं। जानना ज्ञानशक्ति है, करना क्रियाशक्ति है। ज्ञानकर्माभिव्यक्त तीसरा भाव अर्थशक्ति है। इन तीनों ही भावों का आपाततः-आविर्भाव आत्मा द्वारा सभी को सामान्यरूप से प्रत्यक्ष है। इन तीनों शक्तियों का विकास क्रमशः मघवा इन्द्र, मातरिश्वा वायु जातवेदा अग्नि इन तीन देवताओं से हुआ है। अग्नि अर्थशक्ति की प्रतिष्ठा है, वायुदेवता क्रियाशक्ति का प्रवर्तक है एवं इन्द्र ज्ञान के सञ्चालक हैं। इन तीनों देवताओं की समष्टि ही देवता सम्बन्ध से "देवसत्यात्मा" नाम से प्रसिद्ध है। यह भूतात्मा सबके लिए सर्वथा विदित है। ज्ञानक्रियार्थ मूर्ति, इन्द्रवाय्वग्निमय, इस देवसत्यात्मा का अनुभव पृथक्त्वानुसार सभी को हो रहा है। इसी आधार पर इसे—'विदितात्मा' कहा जा सकता है। इन तीनों का आधारभूमि एवं प्रकाशक ब्रह्मसत्यात्मा है। अव्यक्त-महान्-विज्ञान-प्रज्ञान-भूतात्मा इन सुप्रसिद्ध पाँच पर्वों की समष्टि ही ब्रह्मसत्या है। सर्वसाधारण मनुष्यों के लिए यह आत्मा अविज्ञात (न जाना हुआ) है। अतएव इसे 'अविदितात्मा' कहा जा सकता है। तीसरा विश्वव्यापक पुरुषात्मा ज्ञानुभवगम्य ज्ञान से विदित-अविदित दोनों भावों से परे रहता हुआ विदिताविदितातीतात्मा है। यही 'यदस्य त्वम्' वाक्य से अभिनीत ब्रह्मसत्यात्मा की परिभाषा है, यही 'यदस्य च देवेषु' वाक्य से अभिनीत देवसत्यात्मा का आलम्बन है। ये तीनों ही आधिदैविक बनते हुए आध्यात्मिक हैं। यदि आप स्थूलदृष्टि से अपने इन्हीं सत्य देव त्रिवर्त्ती को आत्मा समझते हैं, यदि इन्हीं के परिज्ञान से आप अपने को सुवेदा (आत्मज्ञानी) मान रहे हैं, तो विश्वास कीजिए। अभी आपने आत्मा का स्वरूप बहुत दभ्र (थोड़ा) समझा है। जिसके विकाश से यह आत्मज्योति में प्रविष्ट हो रहे हैं, वह विदिताविदितातीत षोडशीपुरुष ही मध्य आत्मा है। देवसत्यात्मा ब्रह्मसत्यात्मा दोनों इसी आत्मतत्त्व के विकास से महिमाशाली बन

रहे हैं— 'ब्रह्मणो वा विमये महीयसम् ।'' यह पुरुषब्रह्म पुरुष है, अव्ययप्रधान है। ब्रह्मसत्य अक्षरप्रधान है एवं देवसत्य क्षरप्रधान है। पुरुषब्रह्म को ही पूर्व में महेश्वरप्रजापति कहा गया है, ब्रह्मसत्य को ही समष्टिरूप से विश्वेश्वरप्रजापति एवं व्यष्टिरूप से उपेश्वरप्रजापति कहा गया है। एवं देवसत्य को ही विराट्मूर्ति ईश्वरप्रजापति कहा गया है। इन चारों संस्थाओं में से कर्मात्मा के साथ ईश्वरप्रजापतिरूप देवसत्यात्मा का ही सम्बन्ध है। आत्मपरिभाषाज्ञान के अभाव से देवसत्यात्मरूप ईश्वर को भिन्न महानुभावों ने सातवें आसमान की कोई अलौकिक-अविज्ञेय वस्तु समझ रक्खी है। विज्ञानदृष्टि के द्वारा आज हम आपको ईश्वर के साक्षात् दर्शन करा रहे हैं। ईश्वर का स्वरूप अग्नि-वायु-इन्द्र, तीन देवताओं से संपन्न हुआ है। तीनों देवताओं की प्रतिष्ठाभूमि महापृथिवी नाम से प्रसिद्ध स्तौम्यत्रिलोकी है। अब पहिले इसी का संक्षिप्त स्वरूप बतलाया जाता है।

पृथिवी—अन्तरिक्ष—द्यौ इन तीन लोकों की समष्टि त्रिलोकी है। यह त्रिलोकी आठ पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ —भागों में विभक्त है। इन आठों में से प्रकृत में रोदसीत्रिलोकी, स्तौम्यत्रिलोकी ये दो त्रिलोकियाँ ही अपेक्षित हैं। जिस प्रतिष्ठा पर आप सपरिवार-सशरीर सपरिग्रह प्रतिष्ठित हैं वह पृथिवीलोक है, यही भूलोक है। प्रत्यक्षदृष्ट सहस्रांशु सूर्य द्युलोक है, यही स्वर्लोक है। सूर्यरूपा द्यौः पृथिवीरूपा पृथिवी का अन्तरालप्रदेश अन्तरिक्ष है। यही भुवर्लोक है, जैसा कि श्रुतिवचनों से ही स्पष्ट होने वाला है। 'अन्तरिक्षायतना हि प्रजाः'' (शत ब्रा ४।८।११) 'यथायं पुरुषः (प्रजा) उभयत (पृथिव्या सूर्येण च) परिच्छिन्नो ऽन्तरिक्षमनुचरति' (शत १।१।२।४) इत्यादि निगम वचनों के अनुसार सम्पूर्ण प्रजा (चतुर्दशविध भूतसर्ग) भुवर्लोकात्मक इस अन्तरिक्ष में ही प्रतिष्ठित है। सूर्य एवं पृथिवी के अन्तराल (मध्य) में जो आकाश देखा जाता है वही—'अन्त -ईक्षते'' के अनुसार अन्तरीक्ष है। चूँकि यह सब कुछ इन दोनों लोकों के अन्तः (भीतर) प्रतिष्ठित है अत एव इसे अन्तर्यक्ष कहा जाता है। यही अन्तरीक्ष किंवा अन्तर्यक्ष (परोक्षप्रिय देवताओं, विद्वानों) की परोक्ष भाषा के अनुसार 'अन्तरिक्ष'' नाम से प्रसिद्ध है। अन्तरिक्ष के इसी स्वरूप को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

१—"तद्यदस्मिन्निदं सर्वमन्तः—तस्मादन्तर्यक्षम्। अन्तर्यक्षं ह वै नामैतत्—तदन्तरिक्षमिति परोक्षमाचक्षते' (जै उ १। ।४)।

२–"अन्तरेव वा इदमिति, तदन्तरिक्षस्यान्तरिक्षत्वम्" (तां० ब्रा० २०।१४।२)।

३–"सह हैवेमावग्रे (पृथिवीसूर्यौ) लोकावासतु । तयोर्वियतोर्योऽन्तरेणाकाश आसीत्–तदन्तरिक्षमभवत् । ईक्ष हैतन्नाम । तत पुरान्तरा वाऽइदमीक्षमभू दिति । तस्मादन्तरिक्षम्" (शत० ७।१।२।२३)।

४–"मध्य वाऽन्तरिक्षम्" (शत० ७।४।१।२६)

५–"छिद्रमिवेदमन्तरिक्षम्" (तां० ब्रा० ७।३।१८)।

"अन्तरिक्षेण हीमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे" (शत० १।२।१।१६) "एतेन इमौ लोकौ विष्टब्धौ" (जै० उ० १।२०।३) इत्यादि के अनुसार छिद्ररूप अनिरुक्त अन्तरिक्ष ही दोनों लोकों के स्वरूप को पृथक् पृथक् बतलाने वाला, दोनों का स्तम्भ (स्तम्भ-थंभा) स्थानीय है। अन्तरिक्षरूप आकाश ही "यह पृथिवी है" "यह सूर्य्य है" इस प्रकार पृथिवी तथा सूर्य्य के नामरूप का निर्वहिता है– "आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता"। यदि दोनों के मध्य में यह आकाशरूप अन्तरिक्ष न होता तो उक्त पार्थक्य व्यवहार असम्भव था। न केवल द्यावापृथिवी का ही, अपितु पदार्थमात्र के नामरूप भेद व्यवहार का सम्पादक एकमात्र आकाशात्मक अन्तरिक्ष ही है।

भूपिण्ड से एक निराकार प्राण निकल कर बड़ी दूर तक व्यापता एक मण्डल बनाता है। जहांतक यह प्राण व्याप्त है, वहांतक पृथिवीलोक की सत्ता मानी जाती है। इसी प्रकार जहांतक सौरप्राण की व्याप्ति है, वहांतक सूर्य्यलोक की सत्ता मानी जाती है। सूर्य्य के केन्द्र में अक्षररूप से प्रतिष्ठित होकर अर्करूप से बाहिर निकल कर वितत होने वाला तत्त्व ही "अक्षर" कहलाता है। 'स्वरोऽक्षरम्' (का० मा० ११६६) के अनुसार अक्षर को ही स्वर कहा जाता है। इसी अक्षररूप स्वर के सम्बन्ध से सूर्य्य को–"स्वरादेवा सूर्य्यः" शत० १।१।५।२१) इत्यादि के अनुसार स्वर्लोक कहा जाता है। विज्ञाननिष्ठ पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि, सूर्य्य से ऊपर की ओर परमधाम में प्रतिष्ठित यज्ञमूर्त्ति परमेष्ठी, एवं अव्यक्तमूर्त्ति स्वयम्भू इन दो लोकों में मनोमय अमृतप्रधान अव्ययपुरुष की प्रधानता है। सूर्य्य से नीचे की ओर मर्त्य धाम में भद्रमूर्त्ति चन्द्रमा, एवं भूतमूर्त्ति पृथिवी में वाङ्मय मृत्युप्रधान क्षरपुरुष की प्रधानता है–"तस्माद्यत्किञ्चावाचीनमादित्यात् सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्" (शत० १०।५।१।४)।

सर्वदेवता वाङ्मय-प्राणात्मक-अन्नमय-होने से त्रिकल बनते हुए महादेव हैं। पूर्व प्रतिपादित अश्वत्थमूर्ति महेश्वर का स्मरण कीजिए। इस अश्वत्थवृक्ष को ही आगमशास्त्र में "पुरुष्म" नाम से व्यवहृत किया गया है। हमारे सर्वदेवता दक्षिणामूर्ति भगवान् इस पुरुष्म के अधोभाग में प्रतिष्ठित हैं। अश्वत्थवृक्ष के अमृत-ब्रह्म-शुक्र, ये तीन विवर्त्त बतलाए गए हैं। अमृत विवर्त्त अव्ययप्रधान है ब्रह्मविवर्त्त अक्षरप्रधान है, एवं शुक्रविवर्त्त क्षरप्रधान है। क्षरतत्त्व वाङ्मय भूत की प्रतिष्ठा है, अक्षरतत्त्व प्राणमय देवता की प्रतिष्ठा है, एवं अव्ययतत्त्व मनोमय सत्यभात्मा की प्रतिष्ठा है। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम, ये पाँचों अक्षर प्राण-आप-वाक्-अन्नाद-अन्न, इन पाँच क्षरों से नित्ययुक्त रहते हैं।

इन पाँचों के १-२-२- इस क्रम से तीन विभाग होजाते हैं। प्राणमय ब्रह्मा का एक <u>दक्षिणामूर्ति शिवतत्त्व</u>—स्वतन्त्र विभाग है। इस पर अश्वत्थ महेश्वर के अमृत प्रधान अव्यय का अनुग्रह रहता है। आपोमय विष्णु, एवं वाङ्मय इन्द्र, इन दोनों का एक स्वतन्त्र विभाग है। 'इन्द्राविष्णू सयुजौ' कहलाते हैं। दोनों की समुच्चित अवस्था का नाम ही विष्णु है। जो इन्द्र है वही विष्णु है। अत एव विष्णु को उपेन्द्र कहा जाता है। इस पर ब्रह्म प्रधान अक्षर का अनुग्रह रहता है। एवं वाङ्मय इन्द्र, अन्नादमय अग्नि अन्नमय सोम, इन तीनों क्षरगर्भित अक्षरों का एक स्वतन्त्र विभाग है। इन तीनों की समष्टि ही महादेव हैं। इस पर शुक्रप्रधान भौतिक क्षर का अनुग्रह रहता है क्षरप्रधान होनेसे त्रिमूर्ति महादेव भूतनाथ हैं वाक्पति हैं। अक्षरप्रधान होनेसे द्विमूर्ति विष्णु सर्वश्रेष्ठ देवनाथ हैं प्राणपति हैं। अव्यय की प्रधानता से एकमूर्ति ब्रह्मा सर्वनाथ हैं, चित्पति हैं। ज्ञानमूर्ति ब्रह्मा, क्रियामूर्ति विष्णु दोनों ही ज्ञान-क्रिया के नीरूप होने से अप्रत्यक्ष हैं, दृष्टि से परे हैं। इन दोनों के ज्ञापक (परिचायक-लिङ्ग) अर्थमूर्ति भूतपति महादेव ही हैं। अतएव इनकी लिङ्गरूपसे उपासना की जाती है।

वाङ्मय व्यक्त भूतप्रपञ्च ही अव्यक्त का लिङ्ग है। शुक्रमूर्ति यह रुद्र किंवा भूतनाथ सम्मुख पुरुषरूप अश्वत्थ के सब से नीचे के स्थान में (रोदसी त्रैलोक्य में) प्रतिष्ठित हैं। रोदसी का यही रुद्र भोग करते हैं अत एव रोदसी को रुद्रपत्नी कहा जाता है। अन्नादमयी पृथिवी अग्निज्योति है अन्नमय अन्तरिक्ष चन्द्रज्योति है वाङ्मय सूर्य इन्द्रज्योति है। इन्हीं तीनों के सम्बन्ध से ये त्रैलोक्य व्यापक महादेव त्रिनेत्र बन रहे हैं। इसी दक्षिणामूर्ति शिव की उपासना का प्रकार बतलाता हुआ आगमशास्त्र कहता है—

दक्षिणामूर्ति. शिव

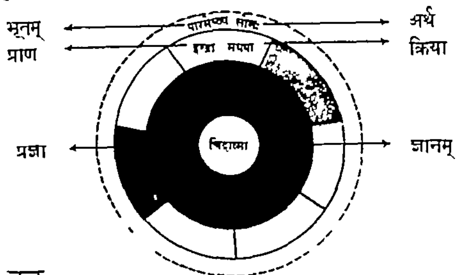
व्याख्यामुद्राक्षमालाकलशसुरभिसितैर्बाहुभिर्वामपादम् ।
बिभ्राणो जानुमूर्ध्ना वटतलनिहितश्चापस्तिर्यगूर्ध्वमाद्य ॥
सौवर्णे योगपीठे लिपिमयकमले सूपविष्टस्त्रिनेत्रः ।
क्षीराभश्चन्द्रमौलिर्वितरतु विपुलां शुद्धबुद्धिं शिवो नः ॥१॥

"द्यु रपिस्याद्व्ययम्" के अनुसार 'द्यु' शब्द अव्यय का भी वाचक है। अव्यय ही अपत्य वृक्षरूप में परिव्याप्त होरहा है। इस का परमप्रधान शुक्रभाग सर्वांश है, यही शिव अभिन्न हैं। क्षीरस्थौतिरात्मक स्थिर हिरण्मय मण्डल है। यही सौवर्ण योगपीठ है। इस में ही क-च-ट-त-पादि सभी लिपि का विकास होता है। यही वाग्मूर्ति महादेव का आसन है। सूर्य्य इन का मस्तक स्थान है। इस प्रकार पारमेष्ठ्य मण्डलस्थ चन्द्रमा है। इसीलिए इन्हें "चन्द्र मौलि" कहा जाता है।

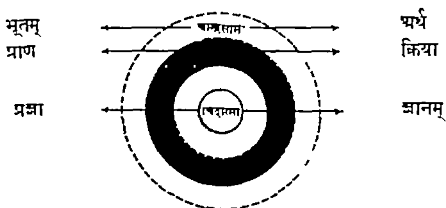
रोदसी त्रैलोक्य का सूर्य्य इस विश्वहर की बुद्धि है, चन्द्रमा इस का मन है, आन्त वायुर्वेष्टित भूपिण्ड—रिक्त वायु इस का हंसात्मा है, पृथिवी भोक्तात्मा स्थानीय है। इस

रोदसी त्रैलोक्य के सम्बन्ध में पाठकों को यह विशेष ध्यान रखना चाहिए कि, रोदसी के अन्त रिक्षरूप भुवर्लोक में चन्द्रमा-वायु-मरुत्वान् इन्द्र, ये तीन तत्त्व प्रतिष्ठित हैं। चान्द्रसोम एवं मरुत्वानिन्द्र दोनों अभिन्न रहते हुए वायुधरातल पर प्रतिष्ठित हैं। यह वायु स्थिर-चर-भेद से दो प्रकार का है। स्थिरवायु वराह नाम से प्रसिद्ध है, एवं चर वायु-वात (वात सत्वात मण्डल) नाम से व्यवहृत होता है। भूपिण्ड के चारों ओर स्थिर रहने वाला भूपिण्डस्वरूप समर्पक वायु ही वराह है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। इस पिण्डस्वरूप-समर्पक स्थिर वायु का भूपिण्ड में ही अन्तर्भाव है। दूसरा आन्तरिक्ष्य भुवर्लोक स्थानीय वायु ही सोम गर्भित इन्द्र की प्रतिष्ठा है। इस सोमगर्भित इन्द्रवायु का यथावस्थान के अनुसार "इन्द्र" कहा जाता है। सोमगर्भित इन्द्र वायु ही अन्तरिक्ष का प्रधान अधिष्ठाता है। इसी के लिए "इन्द्राय रीया प्रदा गृह्यन्ते" यह कहा जाता है। इस वात वायु में एक चतुर्थांश इन्द्र रहता है। यदि भी चर वायु है तो इस में २४ भाग इन्द्र है, ७४ भाग वायु किंवा वायव्य सोम है। इन मरु नामक इन्द्र वायु के अवान्तर ४९ विभाग हैं, जिन का निरूपण महविज्ञान में द्रष्टव्य है।

१ – सूर्य्य



२ – चन्द्र



भूपिण्ड किंवा पृथिवीलोक अन्नाद नाम की प्रकृति से युक्त है। यह पिण्ड पृथिवी अन्नादप्रकृति-आर् भूपिण्ड—(जिसे कि विज्ञान दृष्टि से हम पृथिवी न कहकर भू कहेंगे), अन्नादाग्निमयी है, साथ ही में वराह नामक स्थिर वायु से चारों ओर से नित्य वेष्टित है। आज आप जिस पिण्ड पृथिवी को अपने चर्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष कर रहे हैं किसी समय इस का दूसरा ही रूप था। आपोमय अर्णव समुद्र में पृथिवी 'कान्नालीकृतरूपा' थी। सर्वत्र पार्थिव भूत परमाणु इतस्ततः व्याप्त थे। सत्यसंकल्प प्रजापति की सत्यकामना से वायुद्वारा एक ही समय में चारों ओर से इन भूतपरमाणुओं का नियत प्रदेश में संघठन हुआ, कालान्तर में पृथिवी पिण्डरूप में परिणत होती हुई—"अभूत्-प्रतिष्ठा" इस निर्वचन के अनुसार भूमि नाम से प्रसिद्ध हो गई। वायुद्वारा ही आपोमय समुद्र में से कान्नालीकृतरूपा पृथिवी का पिण्डरूप से उद्धार हुआ अत एव यह वायुतत्त्व "वृणुते-इति वर, आहोतीति आह, वरोमावीं अहस्येति वराह" इस निर्वचन के अनुसार वराह नाम से प्रसिद्ध हुआ। आप जितने भी पिण्ड देख रहे हैं उन सब का स्वरूपसम्पादक यह वराह वायु ही है। सृष्टिविज्ञानसम्मत स्वयम्भू-परमेष्ठी आदि पांच पिण्ड हैं। पिण्डभाव-भेद से पिण्ड संपादक वराहवायु पांच स्वरूपों में प्रतिष्ठित होरहे हैं। स्वयम्भू पिण्ड सम्पादक वायु "आदिवराह" है परमेष्ठीपिण्ड का "यज्ञवराह" है सूर्यपिण्ड का "श्वेतवराह" है चन्द्रपिण्ड का 'ब्रह्मवराह' है एवं भूपिण्ड का स्वरूप समर्पक वराह वायु—"एमूष वराह" नाम से प्रसिद्ध है। यही वराह अन्वारम्भत्वा की अपेक्षा से "एवयावरुन्" नाम से प्रसिद्ध है। औपनिषदविज्ञान के अनुसार इस का * 'मातरिश्वा' यह साधारण नाम है। माता पृथिवी का नाम है। संकेत भाषा के अनुसार पृथिवी शब्द पिण्ड का वाचक है। जो वायु पिण्ड के-चारों ओर स्थिररूप से व्याप्त रहता है, वह 'मातरि (पृथिव्यां-अद्भुपलक्षिते पिण्डे)-श्वयत' इस निर्वचन से अवश्य ही मातरिश्वा नाम से व्यवहृत किया जासकता है।

प्रकृत में भूपिण्ड के सम्बन्ध से एकमात्र पार्थिव एमूषवराह ही अपेक्षित है। आ- अमि पार्थिव 'एमूषवराह—व्याप्य समन्तात्) ईम् (पृथिवीम्) वसति' इस व्युत्पत्ति से महर्षी निर्देश से अभिनीत यह पार्थिव वराह एमूष (आ इम्-वस) कहलाता है। यह अत्यन्त घनवायु है। घनता के कारण ही इस में स्थिरता का उदय होता है। व्युतमन्वरि

* 'मातरिश्वा' का विचार 'तदमिन्नपो मातरिश्वा दधाति' मन्त्र-भाष्य में द्रष्टव्य है।

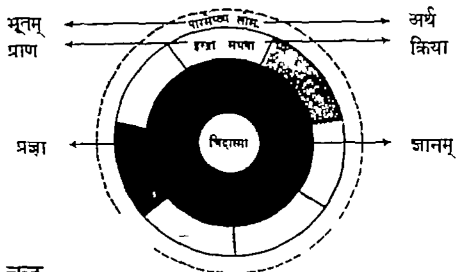
पृष्ठ २७७ का शेषांश

इस प्रकार सूर्य्य–चन्द्रमा–मरुत्वानिन्द्र–एमूषवराह–भूपिण्ड, भेद से इन पाँच तत्त्वों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। ये सब उसी महासत्यात्मक प्रजापतीन्द्र के अवयव हैं। दूसरे शब्दों में यह विभाग उपेश्वर से सम्बन्ध रखता है। १–सूर्य्य, २–इन्द्रगर्भित चन्द्रमा, ३–वायुवेष्टित भूपिण्ड तीनों क्रमशः वाक्–प्राण–अन्नाद् नाम की प्रकृतियाँ हैं। इन तीनों प्राकृतात्माओं में से सूर्य्य का 'विज्ञानात्मोपनिषत्' में, मरुत्वानिन्द्रगर्भित चन्द्रमा का 'महान' रूप से 'महदात्मविज्ञानोपनिषत्' में निरूपण किया जा चुका है। प्रकृत में वायुवेष्टित भूतात्मस्थानीय भूपिण्ड का ही निरूपण अपेक्षित है। उक्त विषय का स्पष्टीकरण परिलेखों से भलीभाँति हो जाता है।

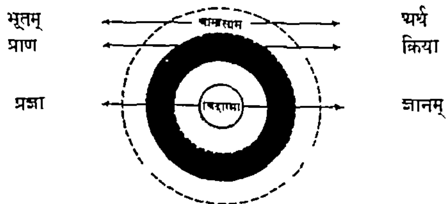
विशेष—

उक्त विषय का सन्निवेश पृ० सं० २७७ से आगे तथा २७८ से पूर्व समझना चाहिए।

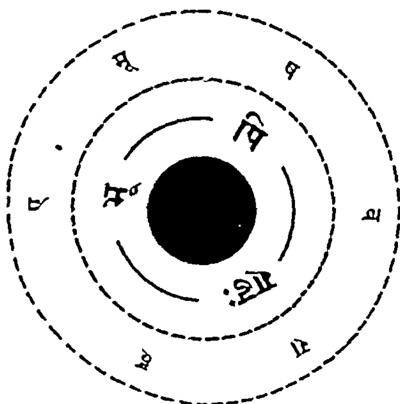
१ – सूर्य्य



२ – चन्द्र



३ - पृथिवी

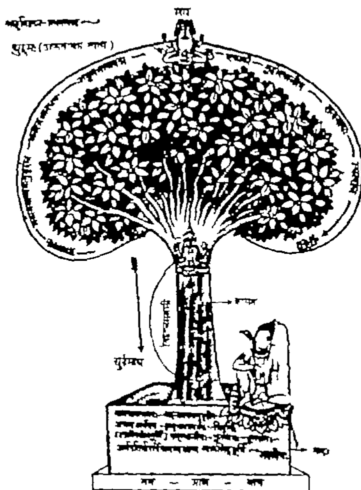


१ १–वाग्मयसामामयप्राणमयमति
२–दिव्यइन्द्रा मघवामनश्चणा मत्र —स्वर्लोक-सूर्य विज्ञानात्मना प्रतिष्ठा
३–चिद्गा विज्ञानात्मा

२ १–चन्द्रमामा भास्वर
२–इन्द्रा मरुत्वान वायव्य —भुवर्लोक-चन्द्रमा प्रज्ञानात्मना प्रतिष्ठा
३–चिदग प्रज्ञानात्मा

३ १–समुद्रगा गिरवापु
–निर्ग्रन्थि —भूलोक-पृथिवी-भूतात्मना प्र

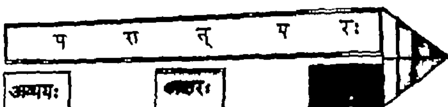
ऊर्ध्वमूल (अव्ययवृक्षः) अश्वत्थ



व्याख्याभूत्रापमालाकलशश्रुतिलिखित बाहुभिर्वामपार्श्वम्-
बिभ्राणो जानुमूर्ध्ना पदतलनिहितसम्भृति ध्रु ब्रु मा' घः ।
सौम्ये योगपीठे लिपिमयकमले सुपविष्टस्त्रिनेत्रः—
श्रीरामचन्द्रमौलिर्वितरतु विबुधां शुद्धबुद्धिं शिवो मे ॥

श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, जयपुर

त्रिमूर्ति —


प रा त् प रः
"नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टे केवलात्मने"
अव्ययः
१– आनन्द → प्रज्ञा → प्राण
१– विज्ञानम् → विष्णु → आप
२– मनः → इन्द्र → वाक्
१– मन → इन्द्र → वाक्
२– प्राण → सोम → अन्नम्
३– वाक् → अग्नि → अन्नादः
पुर्द्धम
स्वयम्भू ब्रह्मा
पुर्द्धमाधः
सत्यनाथो चित्पतिर्ज्ञानमूर्तिः
देवनाथो देवपतिः क्रियामूर्तिः
भूतनाथो भूतपतिरर्थमूर्तिः

मस्य" (शत०७।४।१।१६) के अनुसार इस भास्वरिदम वायु में घृत (स्नेहतत्त्व) भरा हुआ है। इसी घृताक्तप्रधान वायु से शूकर पशु का जन्म होता है। दूसरे शब्दों में शूकर के आत्मा में, इतर प्राणियों की अपेक्षा वराहवायु की प्रधानता है, इसी प्रधानता के कारण शूकर पशु को "वराह" कहा जाता है। वराह वायु को हमने स्तम्भ बतलाया है। भूपिण्ड की ओर ही इस का रुख रहता है, दूसरे शब्दों में यह भूपिण्डानुगत है। अतएव तत्प्राणप्रधान शूकर पशु सदा भूपिण्ड की ओर ही अपना 'थुथन' किए भूपृष्ठ से संलग्न (सट कर) होकर सर्पण करता हुआ ही चलता है। घृताक्त वायु की प्रधानतासे ही वराह में इतर पशुओं की अपेक्षा घृत (चर्बी) अत्यधिक मात्रा में रहता है, अत एव इसे मेदुर (मेदस्वी) कहा जाता है— (देखिए शत० ५।४।३।१९)। सोमयाज्ञी दीक्षित इसी के चर्म्म की उपानत् (जूता) पहिनता है। पृथिवी पूषाप्राण प्रधान है तन्मामय पार्थिव पूषाप्राण ही शूद्र का आत्मा है। दूसरे शब्दों में जिस के आत्मा में जन्म से पार्थिव पूषाप्राण की प्रधानता रहती है वही वर्णसृष्टि में शूद्र कहा जाता है। इसी आधारपर निम्न लिखित निगम वचन प्रतिष्ठित हैं—

१–"स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणम्। इयं (पृथिवी) वै पूषा। इयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च" (शत० १४।४।२।२५)।

२– इयं वै पृथिवी पूषा" (शत० २।५।४।७)।

देववर्णव्यवस्था–विज्ञान के अनुसार पूषाप्राण शूद्र है, यह पार्थिव तत्त्व है अतएव शूद्र, और शूकरपशु—पृथिवी से नित्य सम्बद्ध वराह वायु के साथ इस शौद्र पूषा प्राण का घनिष्ठ सम्बन्ध है। पूषाप्राणात्मक भूपिण्ड एवं तद्वेष्टनरूप वराह वायु के इसी तादात्म्य को लक्ष्य में रख कर इस वराह वायु को भी पूषा कह दिया जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"अयं वै पूषा योऽयं (वायुः) पवते। एष हीदं–सर्वं पुष्यति"

(शत० १४।२।१।९) इति।

इस परिस्थिति से बतलाना यही है कि, भौतिक सृष्टि में शूद्र–एवं शूकर पशु का समान स्थान है। शूद्रमनुष्य में जिस पूषाप्राण की प्रधानता रहती है शूद्रपशुरूप वराह पशु में भी उसी पूषाप्राण की प्रधानता है। ब्राह्मण मनुष्य के साथ ब्राह्मण अज पशु की, क्षत्रिय मनुष्य के साथ क्षत्रिय अश्वपशु की, वैश्य मनुष्य के साथ वैश्य गो पशु की यदि समानता है, तो शूद्रमनुष्य के साथ शूद्र वराह पशु की समानता है। यही कारण है कि वराहपशु को मलमार्जक शूद्र (महतर भंगी) ही

आश्रय रहते हैं। यही कारण है, जो कर्म महत्तर का है, वही कर्म शूकर पशु का है। प्रकारान्तर से दोनों ही मल का संग्रह करते हैं। मलभाग आसुर है। असुरप्राण आपोमय है, आपोमय, अतएव असुरप्राणप्रधान समुद्र गर्भ में से भूपिण्ड का उद्धार करना इसी वराह वायु का कार्य है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। दूसरे शब्दों में वराहवायु आसुर भाव का नाशक है। अतएव असुरभावप्रधान वाले मलीमस यवन आज भी वराहपशु से सहज वैर रखते हैं।

जिस समय इस वराह* वायु ने पिण्डनिर्म्माण प्रक्रिया आरम्भ की थी उस समय इसको एक वर्ष लगा था। एक सम्वत्सर के अनन्तर जब भूपिण्ड पूर्ण घन होगया, तभी यह वराह वायु इस के चारों ओर विकसित हुआ। कहने का तात्पर्य्य यही है कि पिण्डरूप घनभाव की निष्पत्ति के अनन्तर ही वराह को पूर्णरूप से जन्म लेने का अवसर मिलता है। इस प्रकार "भू" नाम से व्यवहृत प्राकृतसंस्था में भूपिण्ड–वराह वायु, इन दो भावों की सत्तासिद्ध हो जाती है। इन दोनों में से वराह वायु को थोड़ी देर के लिये छोड़ दीजिए, केवल भूपिण्ड को अपना लक्ष्य बनाइए।

भूपिण्ड को हमनें अन्नादप्रकृतिक बतलाया है। अग्नि–प्रस्तर ही आगे जाकर भूरभाव में परिणत होता हुआ अन्नाद नाम से व्यवहृत होने लगता है। अन्नादतत्त्व साक्षात् अग्नि है। यह अन्नादाग्नि विशकलनधर्म्मा है। संकोचधर्म्मा अन्नप्रकृतिक सोम के बिना यह अग्नि एक क्षण भी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। इस अन्न सम्बन्ध की नित्यता के कारण ही तो अग्नि को "अन्नाद्" (अन्नमत्तीति–अन्नादः – अन्न खाने वाला) कहना अन्वर्थ बनता है। अन्नादगर्भित अन्नसोम की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती अतएव अग्निसोममयी पृथिवी को केवल अग्निमयी ही मान लिया है— "अथैवाग्न्यायते नायम्"। जैसा कि निम्न लिखित श्रौत प्रमाणों से स्पष्ट है—

१—"आग्नेयी पृथिवी" (तां० ब्रा० १५।४।८)।
२—"इयं वा अग्निः" (शत ७।३।१।२५)
३—"अयं वै (पृथिवी) लोकोऽग्निः" (शत १४।६।१।१४)

---

* स (प्रजापतिः) वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत्। स पृथिवीमध आर्च्छत्। तस्या उपहत्योदमज्जत्। तत् पुष्करपर्णेऽप्रथयत्। तत् पृथिव्यै पृथिवीत्वम्। (तै० ब्रा० १।१।३।६)। इयती ह वा इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री। तामेमूष इति वराह उज्जघान। सोऽस्याः (पृथिव्याः) पतिः प्रजापतिः (शत १४।१।२।११)

४—"अग्निगर्भा पृथिवी" (शत० १४।६।४।२१) ।

५—"अय वा अग्निर्लोकः" (शत० १ ५।२।१३।) ।

पृथिवी-संस्था से सम्बन्ध रखने वाले अन्नाद अग्नि अन्न सोम, दोनों ही अमृत-मृत्यु-अमृत मर्त्यलक्षणा पार्थिवसंस्था—भेद से दो दो अवस्थाओं में विभक्त हैं। मर्त्य अग्नि, एवं मर्त्य सोम दोनों ही सुप्रसिद्ध तेज एवं जल नाम के मूत हैं। अग्निभूत, एवं जलभूत के समन्वय से ही भूपिण्ड बना है। पानी ही अग्नि के प्रबल स वराहवायुकद्वारा क्रमशः आप — फेन— मृत्—सिकता—शर्करा—अश्मा-अय हिरण्य' इस आठ अवस्थाओं म परिणत होता हुआ पिण्डरूप में परिणत होगया है। इन आठ अवयवों क कारण ही छन्दोविज्ञान के अनुसार इस पिण्ड पृथिवी को "गायत्री" कहा जाता है। कारण अष्टाक्षर छन्द का ही नाम गायत्री है। 'या वै सा गायत्री-आसीत् इयं वै सा पृथिवी" (शत० १।४।१।३४)। दूसरा है अमृतविभाग। अमृताग्नि, एवं अमृतसोम को 'देवता" कहा जाता है। इसी देवता के आधारपर मर्त्यभूत प्रतिष्ठित हैं। ये दोनों प्राणदेवता भूकेन्द्र से बद्ध होकर दूसरे शब्दों में केन्द्र का स्वप्रतिष्ठा न कर भूपिण्ड से बाहर निकलते हुए अपना एक स्वतन्त्र मण्डल बनाते हैं। यही प्राणमण्डल, किंवा देवमण्डल विज्ञानभाषा के अनुसार पुन पद्-गाहस्रा-महिमा विभूति' इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध है। याज्ञिक लोग अपनी यज्ञपरिभाषा के अनुसार इसी को 'वषट्कार" कहते हैं—"देवपात्रं वा एव यद् वषट्कारः" (शत० १ ७ २ १ । प्रत्येक वस्तु में पिण्ड एवं महिमा भेद से दो विभाग अवश्य रहते हैं। पिण्ड उस वस्तु का अन्तमण्डल है महिमा उस वस्तु का बहिर्मण्डल है। पिण्डरूप अन्तर्मण्डल स्पृश्य है इसे आप छू सकते हैं देख नहीं सकते। महिमा रूप बहिर्मण्डल दृश्यमण्डल है इसे आप देख सकते हैं, छू नहीं सकते। जिस वस्तु का आप स्पर्श करने में समर्थ हैं विश्वास कीजिए वह आपकी दृष्टि में कभी नहीं आसकता। साथ ही में जिसे आप देखने का अभिमान कर रहे हैं, स्वप्न म भी आप उसका स्पर्श नहीं कर सकते। इस प्रकार विज्ञानशास्त्र आपके चिरानुभूत कल्पित सिद्धान्तों का सर्वथा छिन्न भिन्न कर देता है। भूपिण्ड, एवं भूमहिमा का विचार कीजिए। अमृताग्निसोमगर्भित, मर्त्याग्निसोमप्रधान भूपिण्ड है। एवं मर्त्याग्निसोमगर्भित अमृताग्निसोमप्रधान भूमहिमा है। दूसरे शब्दों में भूपिण्ड में मर्त्यअग्नि सोमरूप भूतों का साम्राज्य है एवं भूमहिमा में अमृतअग्निसोमरूप देवताओं का प्रमुत्व है। मर्त्य भूपिण्ड में से अर्करूप से बाहिर निकलने वाले अमृतरूपप्राणमूर्त्ति अग्नि एवं सोम, बाहिर निकलते हुए अपनी पाँच संस्थाएँ बनाते हैं।

येऽसा त्रैलोक्य की अपेक्षा से बृहतीछन्द नाम से प्रसिद्ध विषुवद्वृत्त पर हिरण्मय से दैवासुरप्रतिस्पर्द्धा — प्रतिष्ठित सूर्य्य के चारो ओर सौर प्रकाशमण्डल के गर्भ में नियत क्रान्ति वृत्त पर समष्टि भूपिण्ड परिक्रमा लगाया करता है। परिक्रममाणा इस पृथिवी का अर्द्धभाग सदा सूर्य्य के सम्मुख रहता है एवं आधा भाग सदा विमुख रहता है। पृथिवी का जो भाग सूर्य्य की ओर रहता है, उस भाग की ओर सौर तत्त्व (प्रकाश) अविच्छिन्न रूप से पृथिवी पर आया है। इसी सौर प्रकाश के सम्बन्ध से इस ओर का पार्थिव प्राणाग्नि प्रकाशित रहता है। प्रकाश अग्नि का धर्म्म नहीं है अपितु "रूपं रूपं मघवा बोभवीति" (ऋक्सं० ३।५३।८) के अनुसार सौर मघवा इन्द्र ही प्रकाश-धर्म्मा है। अग्नि कृष्ण वायलक्षण है। इस ज्योतिर्म्मय इन्द्रप्राण के सम्बन्ध से सौरप्राणानुगत पार्थिव अग्नि मूलमवान होता हुआ भी 'देवता' नाम से व्यवहृत होने लगता है। इन्द्रप्राणगर्भित (सौरप्राणगर्भित), अतएव ज्योतिर्म्मय इसी पार्थिव सूर्य्यानुगत अग्नि को 'देवानां दूतः" कहा जाता है। पृथिवी का वह अर्द्धभाग जिस ओर सौरज्योति का सम्बन्ध नहीं होता उस ओर भी प्राणाग्नि प्रतिष्ठित है। क्योंकि वस्तु से निकलता हुआ यह प्राणाग्नि चारो ओर व्याप्त होता हुआ वस्तुवत्त बनकर महिमामण्डल का स्वरूपसम्पादक बनता है। सूर्य्य की विरुद्ध दिक् में प्रतिष्ठित अर्द्धमण्डलस्थ इस प्राणाग्नि में प्रकाश का अभाव है यह विशुद्ध कृष्णमूर्ति है तमोमय है अत एव आसुर माना गया है। तम और माया असुर की ही प्रातिस्विक सम्पत्ति मानी गई है—(शतपथ ब्रा० २।४।२।४)। अत एव आसुरप्राणप्रधान इस अर्द्ध पार्थिव प्राणाग्नि को 'असुराणां दूतः" कहा जाता है। देवदूत-अग्नि है, असुरदूत सुरक्षा है। इस प्रकार दिग्भेद से मण्डलावच्छिन्न एक ही पार्थिव प्राणाग्नि के दो रूप हो जाते हैं। दोनों की मूलप्रतिष्ठा सूर्य्येन्द्रमय अमृतमृत्युमय हृदय प्रजापति ही है। सूर्य्याभिमुखभागानुगता अतएव सर्वात्मना प्राणमयी पृथिवी सौर प्रकाश के कारण ज्ञान से 'दितिपृथिवी" (प्रकाश से वञ्चित पृथिवी) कहलाते हैं एवं सूर्य्यभागानुगता, अतएव ज्योतिर्मयी पृथिवी सौर प्रकाश के अविच्छिन्न सम्बन्ध से "अदितिपृथिवी" नाम से व्यवहृत हुई है। यही प्राक् अर्द्धभाग में अदिति है अर्द्धभाग से दिति है। अदिति में ज्योतिर्मय देवता प्रतिष्ठित हैं दिति में तमोमय असुरों का साम्राज्य है। पूर्व कथनानुसार दोनों इसी हृदय प्रजापति की महाजन्मा सन्तान हैं। दिति-अदिति दोनों इस हृदय प्रजापति की पत्नियाँ हैं। भूपिण्ड क्रान्तिवृत्त के द्वारा विनायक प्राप्त करता हुआ घूमता है। इस भूपरिभ्रमण से दिति-अदिति गर्भमें प्रतिष्ठित असुर एवं देवप्राण का परस्पर में सम्बन्ध सिद्ध होजाता है। यही देवता एवं असुरों का विग्रह है। दोनों के समन्वय से ही भौतिक जड़ चेतन पदार्थों की

उत्पत्ति होती है। अतएव प्रत्येक पदार्थ में अपेक्षाकृत तारतम्य से विभूतिमन्मन्मय देव-आसुर, दोनों भाव उपलब्ध होते हैं, जैसा कि आगे आने वाले कर्मात्मनिरूपण-प्रकरण में स्पष्ट होजायगा।

पार्थिव केन्द्राग्नितत्त्व पार्थिव प्रजा का अधिष्ठाता होने से 'प्रजापति" नाम से प्रसिद्ध

विस्रस्त-पार्थिव प्रजापति—६। अग्निमूर्ति यह प्रजापति अपने विशकलनरूप स्वरूप धर्म्म के कारण निरन्तर विस्रस्त होता रहता है। विस्रंसन प्रजापति का स्वाभाविक कर्म्म है। इस विस्रस्ति के कारण ही इस सोमगर्भित प्राणाग्नि की अग्नि-वायु आदित्य-दिक्सोम--भास्वरसोम, ये पाँच अवस्थाएँ हो जाती हैं। यहाँ इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए कि, रोदसी त्रिलोकी में जिन अग्निवायु सूर्य्य चन्द्रमा का दिग्दर्शन कराया गया है वे सबका पृथक् तत्त्व हैं, एवं उक्त अम्न्यादि स्वतन्त्र तत्त्व हैं। नाम साम्य मात्र से इन में सांकर्य्य का भ्रम नहीं करना चाहिए। विस्रस्त पार्थिव अग्नि रसरूप में परिणत होकर वाक् व आपारूपात्मक वषट्कार मण्डल में प्रतिष्ठित होता है। सौर अग्नि सम्वत्सराग्नि कहलाता है एवं पार्थिव अग्नि "उख्याग्नि" नाम से प्रसिद्ध है। विस्रस्त पार्थिव प्रजापति की क्षतिपूर्ति इसी सौर संवत्सराग्नि से होती है। कैसे होती है? इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए आत्मसंस्कार-विज्ञान की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

अग्निसोमात्मक जगत्" यह हमारा ध्रुव सिद्धान्त है। स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा

पट्शुक्रात्मक पार्थिव त्रिवर्त्त—पृथिवी इन पांच उपादानों की समष्टि ही विश्व है। यह विश्व शुक्र की प्रधानता से वास्तव में अग्निसोमात्मक ही बना हुआ है। अमृतभाव प्रधान वाक्—आप—अग्नि, मर्त्यभावप्रधान अग्नि—आपः—वाक् ये ६ तत्त्वप्रधान शुक्र ही विश्व के मूल उपादान हैं। इस ६ ओं में मध्य के दोनों अग्नियों का एक ही स्थान में समावेश है फलतः ५ ही विभक्त रह जाते हैं। वाङ्मय अमृत शुक्र का प्राणप्रकृतिक स्वयम्भू से सम्बन्ध है। आपोमय अमृत शुक्र का अप्प्रकृतिक परमेष्ठी से सम्बन्ध है, अमृताग्नि शुक्र एवं मर्त्याग्नि इन दोनों का वाक्प्रकृतिक सूर्य्य से सम्बन्ध है। मर्त्य आप शुक्र का अन्नप्रकृतिक चन्द्रमा से सम्बन्ध है। मर्त्यवाक् शुक्र का अन्नादप्रकृतिक भूपिण्ड से सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में यों कहा जासकता है कि जहाँ प्रकृति की अपेक्षा से विश्व के स्वयम्भू परमेष्ठी आदि पाँच पर्व क्रमशः प्राणमय—आपोमय—वाङ्मय—अन्नमय—अन्नादमय कहलाते हैं, वहाँ शुक्रापेक्षया वे ही क्रमशः अमृतवाङ्मय अमृतापोमय—अमृतमर्त्याग्निमय—मर्त्यापोमय—मर्त्यवाङ्मय,

* इन ६ ओं शुक्रों का सोपपत्तिक विवरण ईशोपनिषत् हिन्दी विज्ञान भाष्यान्तर्गत शुक्र निरुक्ति प्रकरण में देखना चाहिये।

इन नामों से व्यवहृत किए जा सकते हैं। यदि प्रकृतिभाव की दृष्टि से इन अग्नीषोमात्मक पाँचों का विचार किया जाता है तो स्वयम्भू प्राणाग्नि है, सूर्य वागग्नि है, पृथिवी अन्नादाग्नि है, परमेष्ठी आपोमय सोममूर्त्ति है, चन्द्रमा अन्नमय सोममूर्त्ति है। यदि शुक्र की दृष्टि से ही विचार किया जाता है तो स्वयम्भू वागग्नि है सूर्य अमृतमर्त्याग्नि है पृथिवी वागग्नि है। परमेष्ठी एवं चन्द्रमा आपोमय सोममूर्त्ति है।

भौतिकपिण्ड	प्रकृत्यपेक्षया	शुक्रापेक्षया	
१—आकाशात्मा स्वयम्भूः	प्राणाग्निमयः	अमृतवागग्निमय	अग्नि
२—वाय्वात्मा परमेष्ठी	अप्सोममय	अमृतआपोमय	सोमः
३—तेजोमय सूर्यः	वागग्निमय	अमृतमर्त्याग्निमय	अग्नि
४—अम्मूर्त्तिश्चन्द्रमाः	अन्नसोममय	मर्त्यापोमय	सोम
५—मृण्मयो भूपिण्ड	अन्नादाग्निमय	मर्त्यवागग्निमय	अग्नि

"अग्नीषोमात्मकं जगत्"—इत्याहुः।

इन में स्वायम्भुव अग्नि अपौरुषेय वेद सम्बन्ध से वेदाग्नि नाम से, यजु सम्बन्ध से पार्थिवाग्नि के विविध विवर्त—सार्वपाशुपाग्नि, सत्यावाक् के सम्बन्ध से सत्याग्नि, ब्रह्मा के सम्बन्ध से ब्रह्माग्नि, अव्ययतत्त्व के अवयवभूत अमृत के सम्बन्ध से अमृताग्नि इत्यादि अनेक नामों से प्रसिद्ध है।

सौर अग्नि पौरुषेय वेद के सम्बन्ध से पुरुषाग्नि, ज्योतिर्मयी गायत्री के सम्बन्ध से गायत्राग्नि, संवत्सरवृत्ति से संवत्सराग्नि, अङ्गिरा के सम्बन्ध से अङ्गिरोऽग्नि, देव प्राण के विकास से देवाग्नि, अव्ययतत्त्व के अवयवभूत ब्रह्मभाग के सम्बन्ध से ब्रह्माग्नि इत्यादि रूप से अनेक नामों से प्रसिद्ध है।

तीसरा पार्थिव अग्नि पञ्चमात्रिक वेद के सम्बन्ध से यज्ञाग्नि, अष्टाक्षर-सम्पन्ना तमोमयी गायत्री के सम्बन्ध से गायत्राग्नि, रुद्रभाव के सम्बन्ध से रुद्राग्नि, वरप्रधान भूत के सम्बन्ध से भूताग्नि, अव्ययतत्त्व के अवयवभूत शुक्र भाग की प्रधानता से शुक्राग्नि आदि विविध नामों से प्रसिद्ध है।

१—वागग्नि————शुक्र की अपेक्षा से
२—प्राणाग्नि————प्रकृति की अपेक्षा से
३—वेदाग्नि————अपौरुषेय वेद की अपेक्षा से
४—सार्वयाजुषाग्नि——यजुर्वेद की अपेक्षा से
५—सत्याग्नि————सत्यावाक् की अपेक्षा से
६—ब्रह्माग्नि————अक्षर ब्रह्म की अपेक्षा से
७—अमृताग्नि ————अमृत भाग की अपेक्षा से

—→ स्वयम्भू १

——:०:——

१—अमृतमर्त्याग्नि——शुक्र की अपेक्षा से
२—वागग्नि————प्रकृति की अपेक्षा से
३—पुरुषाग्नि ————पारुषेय वेद की अपेक्षा से
४—गायत्राग्नि————ज्यो० गायत्री की अपेक्षा से
५—संवत्सराग्नि ———संवत्सरापेक्षा से
६—अङ्गिरोऽग्नि————पारमेष्ठ्य अङ्गिरा की अपेक्षा से
७—देवाग्नि ————देवप्राण की अपेक्षा से
८—ब्रह्माग्नि ————ब्रह्म भाग की अपेक्षा से

—→ सूर्य २

——*——

१—मर्त्यवागाग्नि ———शुक्र की अपेक्षा से
२—अन्नादाग्नि ———प्रकृति की अपेक्षा से
३—यज्ञाग्नि ——— —यज्ञमात्रिक यज्ञ की अपेक्षा से
४—गायत्राग्नि ——— द्वामयी गायत्री की अपेक्षा से
५—ब्रह्माग्नि ——— महिमा के सम्बन्ध से
६—भूताग्नि————भूत की अपेक्षा से
७—शुक्राग्नि———— शुक्रभाग की अपेक्षा से

—→ पृथिवी ३

——०——

यद्यपि—"अन्नाद एवान्यतरोऽभवत् अन्नमन्यतर । अन्नाद एवाग्निरभवत्, पार्थिवाग्नि का अन्नाद रूप—अन्न सोम । अन्नादश्च वाऽइदं सर्वमन्नं च" (शत० ११ कां० ।१ अ०।६ ब्रा०।१६ कं०) इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार स्वायम्भुव सौर-पार्थिव, इन तीनों

हो अग्नियों का अग्निसम्बन्ध से अन्नाद कहा जासकता है एवं पारमेष्ठ्य चान्द्र, दोनों सोमों को अन्न कहा जासकता है। तथापि प्रकृतिभाव की अपेक्षा से केवल पार्थिव अग्नि को ही अन्नादाग्नि कहा जायगा, एवं केवल चान्द्रसोम को ही अन्नसोम कहा जायगा। मायादि पाँचों प्रकृतियों में अन्नादप्रकृति का केवल पृथिवी में, एवं अन्नप्रकृति का केवल चन्द्रमा में ही विकास होता है। अन्न केवल चान्द्रसोम है। इस न स्वायम्भुव अग्नि खाता, न सौराग्नि। इस की आहुति एक मात्र पार्थिव अग्नि में ही होती है। अन्न (चान्द्र) सोम को खाने वाला तो केवल पार्थिव अग्नि ही है इसलिए भी पार्थिव अग्नि को ही अन्नाद कहना न्यायप्राप्त होता है। अन्नाद अग्नि की अन्न व्यवस्था नियत है, और नागाग्नि का अन्नव्यवस्था अनियत है। उदाहरण के लिए पार्थिव अन्नादाग्नि-प्रधान पुरुष को हो लीजिए। हमारे लिए "सायंप्रातरश्नीयात्" (श्रौ० सू० ७।१) के अनुसार अन्नव्यवस्था सर्वथा नियत है। सायं प्रातः इसे नियतमात्रा में अन्न खाना पड़ता है। परन्तु सौर अग्नि निरन्तर अन्न खाया करता है। अन्नादाग्नि का अन्न अमावास्या चान्द्रसोम है सौराग्नि का अन्न ब्रह्मणस्पतिसोमगर्भित पारमेष्ठ्य आप है। स्वायम्भुव अग्नि केवल आपपानमात्र है। यहाँ प्रतिष्ठित होकर सौर, एवं पार्थिव अग्नि अन्न खाते हैं ऐसा संभव है। इस प्रकार यह मानलेने में कोई आपत्ति नहीं की जासकती कि केवल पार्थिव अग्नि ही "अन्नाद" है।

उपर्युक्त अग्नि अपनी अपनी संस्था के प्रजापति हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में स्वाभिप्राय के

हव्याग्नि और पुष्करपर्ण—सम्बन्ध में स्थान स्थान पर प्रजापति शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह प्रजापति शब्द किसी एक अर्थ से सम्बन्ध न रखता हुआ प्रकरणभेद से भिन्न-भिन्न तत्त्वों का ही सूचक बनता है। प्रकृत में अन्नादमूर्ति पार्थिव प्रजापति ही अभिप्रेत है। इस की 'अन्नाद, एवं उक्थ्य' भेद से दो प्रधान अवस्थायें हैं। जब तक पार्थिव अग्नि भूपिण्ड में प्रतिष्ठित रहता है तबतक वो अन्नाद नाम की पाँचवी प्रकृति से अनुगृहीत रहता हुआ यह 'अन्नादाग्नि' नाम से ही व्यवहृत होता है। यही अन्नाद विकसित होता हुआ भूपिण्ड से बाहिर निकलकर क्रमशः अग्न्यादि देवतारूप में परिणत होता हुआ 'उक्थ्याग्नि' नाम से प्रसिद्ध होता है। पूर्वोक्त महासत्य देवसत्य विज्ञान के अनुसार अन्नाद ब्रह्मसत्य का अवयव है। अतः अन्नादाग्निमूर्त्ति इस भूपिण्ड को हम "ब्रह्मसत्यात्मा" नामक भूतात्मा ही कहेंगे। दूसरा भावमूर्त्ति उक्थ्याग्नि देवमूर्त्ति है, अतः इसे देवसत्यात्मा नामक प्राणात्मा कहेंगे। हाँ तो निष्कर्ष यह निकला कि अन्नादाग्नि से भूपिण्ड का एवं उक्थ्याग्नि से उक्था पृथिवी नाम से प्रसिद्ध महापृथिवी का स्वरूप निष्पन्न हुआ

१ "इयं वै पुष्करपर्णम्" (शत० ७।४।१।१३)।
२—१ "वाक् पुष्करपर्णम्" (शत ६।४।१।७)।
३—"योनिर्वै पुष्करपर्णम्" (शत ६।४।१।७)।

}—पुष्करपर्णम्-पृथिवी

—०—

भूपिण्ड गार्हपत्यकुण्ड है। इस में रहने वाला अन्नादाग्नि गार्हपत्याग्नि है। स्वर्गाग्नि
अग्निचितिरहस्य—द्यौ ही आहवनीयकुण्ड है। पार्थिवअन्नाद ही प्राणप्रधान बनकर इस में

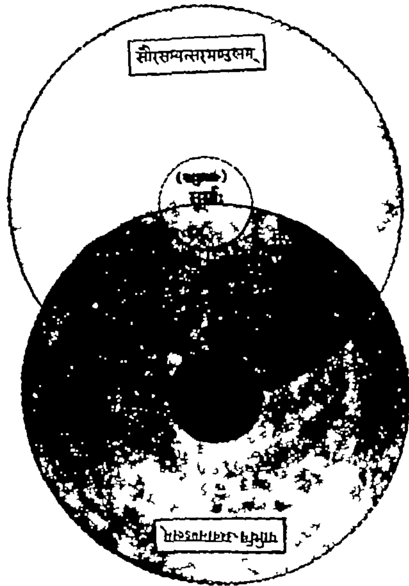
प्रतिष्ठित होता है, अत एव इस उक्थ आहवनीयाग्नि का आहुत (लगाया हुआ) कहा जाता है। यही कारण है कि, इस नित्य प्राकृतिक यज्ञ के आधार पर वितत वैध यज्ञ में गार्हपत्याग्नि को ही उत्पूर्वस्य आहवनीयकुण्ड में ऋत्विक् लोग प्रतिष्ठित करते हैं।

सौर सम्वत्सराग्नि पृथिवी की ओर निरन्तर आया करता है, ठीक इसके विपरीत पार्थिव विसस्त अन्नादाग्नि संवत्सर की ओर जाया करता है। सूर्य्य से आनेवाला सम्वत्सराग्नि सत्य धर्म्मा होने के कारण भूपिण्ड से टकराकर परावर्त्तित होता हुआ उसी अपने मण्डल (सम्वत्सर) में प्रतिष्ठित होजाता है। भूपिण्डाभाव से प्रतिफलित गायत्रीमात्रिक नाम से प्रसिद्ध—यौ वपेय वेदत्रयविच्छिन्न (ऋक्—यजुः—सामावच्छिन्न) सम्वत्सरमण्डल में प्रतिष्ठित अत एव सम्वत्सरात्मक यही सौराग्नि उक्थ स्वर्गाग्नि में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित होता हुआ इस पार्थिव अग्नि की पुष्टि का कारण बनता हुआ इस का अन्न बन जाता है। सीधे शब्दों में प्रति फलित संवत्सराग्नि पार्थिव अग्नि का अन्न है। पार्थिव अग्नि अस्मदादि प्रजा निर्म्माण में विसस्त (खर्च) होता रहता है। इस कमी की पूर्त्ति सम्वत्सराग्नि से ही होती है। सौर सम्वत्सर एवं पार्थिव स्वर्गाग्नि का एक स्थान पर समन्वय होता है। इसी सम्बन्ध से सम्वत्सराग्नि द्वारा पार्थिव अग्नि का संस्कार होता रहता है। दूसरे शब्दों में वेदत्रयविच्छिन्न, अतएव ऋग्-यजुः-साम मूर्त्ति सौर अग्नि की विसस्त पार्थिव अग्नि में चिति होती रहती है अत एव इस अग्निचय (अग्नि में अग्नि का आहुत होना ही अग्नि चय है) "चित्या-चिति-चयन" आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है।

विसस्त पार्थिवाग्नि प्राणरूपात्मक व्यापार से स्वयं त्रिलोकी में आता है अत एव
अर्क्य-महाव्रत-उक्थ्य परिचय—'अर्चन्नचरत्' इस ब्राह्मणोक्त निर्वचन के अनुसार इसे

"अर्क" कहा जाता है। यह अर्काग्नि यद्यपि प्रातिस्विकरूप से एक ही स्वरूप रखता है परन्तु इस की विस्रस्ति की पूर्त्ति (क्षतिपूर्त्ति) करने वाला अत एव अन्नाग्नि होते हुए भी "अस्म०

सौरसम्वत्सर



"स एष एवार्कः—यमेतमत्राग्निमाहरन्ति । तस्यैतदन्नं क्यं, योऽयमग्निश्चित ।
तदस्यै महुए । एष एव महान् । तस्यैतदन्न व्रतम् । तन्महाव्रतं मासत ।
एष उ एव उक्थं । तस्यैतदन्न यम् । तदुक्थ म्यक " (श १०।१।८।३४।)

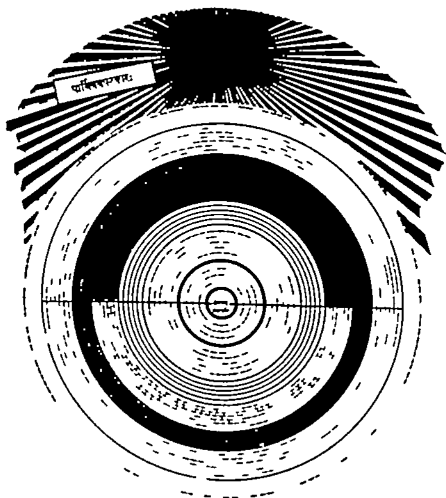
नाम से प्रसिद्ध ऋग्-यजु-सामरूप-सम्वत्सराग्नि के सम्बन्ध से इस के अर्क्य-महाव्रत-उक्थ्य, ये तीन रूप हो जाते हैं। भास्वररूप अन्नादाग्नि में आहुत होने वाला अन्न अन्नादभाव सम्बन्ध से आत्मसात् बनता हुआ आत्मा ही बन जाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर ऋषि ने अन्नावच्छिन्न पार्थिव अग्नि को 'अर्क्य-महाव्रत-उक्थ्य' नामों से स्पष्ट किया है। अर्क-महा-उक्-इन तीनों की समष्टि अन्नादाग्नि है, एवं-क्यम्-व्रतम्-थम् इन तीनों की समष्टि सम्वत्सराग्निरूप अन्न है। क्य-यजुरूप अन्न है। इस के सम्बन्ध से पार्थिव-अर्काग्नि 'अर्क्यम्' बना हुआ है। व्रत-सामरूप अन्न है। इस के सम्बन्ध से पार्थिव-महदग्नि 'महाव्रतम्' बना हुआ है। थं-ऋग्रूप अन्न है। इस के सम्बन्ध से पार्थिव उगग्नि "उक्थम्" बना हुआ है। इस प्रकार एक ही पार्थिव अग्नि ऋग्-यजु-साममय क्य-व्रत-थम्-सम्वत्सराग्निरूप अन्नभेद से त्रिमूर्ति बन रहा है। अन्नादाग्नि का ही परोक्ष-भाषा में-"उक्थम्" कहा जाता है। इस प्रकार ऋगादि सामात्मक सौर सम्वत्सराग्नि, एवं पार्थिव अन्नादाग्नि (अर्काग्नि) का परस्पर सम्बन्ध होता रहता है। जैसा कि परिलेख से स्पष्ट हो रहा है।

जिस स्थान पर अन्नावच्छिन्न सौर सम्वत्सराग्नि एवं विरल पार्थिव अन्नादाग्नि, इन पारस्परिक-सम्बन्धविषय—दोनों का समन्वय होता है, वही प्रदेश विराट्-पुरुष की आधार-भूमि है। दूसरे शब्दों में अग्निनिमित्तक का विराट् ही प्रतिष्ठा माना जा सकता है। इसी में पृथिवी के दिति, और अदिति ये भेद बन जाते हैं। भूपिण्ड के लिए भूमि, पृथिवी, दिति, अदिति, मेदिनी, सागराम्बरा मही, अचला इत्यादि अनेक शब्द व्यवहृत हुए हैं। मूर्तिकारकन इन सब में यद्यपि किञ्चित् पर्याय सम्बन्ध माने जाने पर भी विचार दृष्टया सभी शब्द भिन्न भिन्न वस्तुतत्त्व के वाचक हैं। सूर्यसिद्ध भूपिण्ड ही भूमि है। इसी को अग्नि कालाग्निमूर्ति कहा गया है। आगे जाकर भूपिण्ड से आगे प्रत्येक वस्तु के आधार पर प्रथन होता है। अर्थात् भूपिण्ड भावाग्नि-स्वरूप से बाहिर निकल कर अपना स्वरूप बनाता है। इस अग्नि के साथ वायु और वाक् साथ के तीन गुण भी हैं। वाक्-प्राण-अग्नि का समुच्चय रूप ही भूपिण्ड है। इन तीनों गुणों के आधार पर क्रमशः पृ-थि-वी इन तीन अक्षरों से पृथिवी शब्द बनता है। तात्पर्य यह कि इन प्रथाओं का। ... विष्णु-रूप का सम्बन्ध ही इस पृथिवी है। इस से कहा जाता है विष्णु के साथ भाव का सम्बन्ध है,

इन्द्र के साथ अग्नि का सम्बन्ध है। ब्रह्माक्षर सौम्य है विष्णुसोमाक्षर सौम्य है, इन्द्राग्नि पर वाङ्मय है। अग्निस्वरूप पार्थिवी संस्था 'अग्निर्मूर्धा' के अनुसार भूः (महापृथिवी) है आपस्वरूप दूसरी संस्था सौम्य भुवः है एवं वाक्स्वरूप तीसरी संस्था सौम्य स्वः है। केन्द्रस्थ वही तत्त्व रस रूप से ऊर्ध्वोगमन करते हुए अपनी तीन संस्थाएं बनाते हैं। वाङ्मय ब्रह्मा केन्द्र से बद्ध रहते हुए प्राणरूप से जहां तक वितत होते हैं वहां तक वाग्युक्त व्याप्त रहता है। यही सर्वाधारभूता सौम्यी पार्थिवी संस्था है। इस में एक सहस्र मन प्राणगर्भिता वाग् वितर्त माने जाते हैं। अत एव आलम्बन रूप यह वाक्स्तर "वाक्साहस्री" नाम से प्रसिद्ध है। इसी का दिग्दर्शन कराती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत् ।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् ॥
(ऋक्सं० १०।११४।८)

इन सहस्र वाक्-वत्सा में से ३०-३ वाक्-राशि का एक एक अहर्गण होता है। इस संख्या क्रम से १०१० वाग्रश्मियों के कुल ३३ अहर्गण होजाते हैं। १० अहर्गण शेष रह जाते हैं। यही उच्छिष्ट भाग रूप चौंतीसवाँ प्राजापत्य अहर्गण है—"प्रजापतिश्चतुस्त्रिंश"(शत ४।४।५।१)"। वाङ्मय ३३-अहर्गणों में तीन अहर्गणों का भोग तो भूकेन्द्रस्थ ब्रह्म-विष्णु-इन्द्र, इन तीन हृदयाक्षरों के साथ होजाता है। दूसरे शब्दों में तीन अहर्गण तो भूपिण्ड में ही अन्तर्भूत हैं। शेष भूपृष्ठ से आरम्भ कर पूर्ण वाङ्मण्डल में ३० अहर्गण भुक्त जाते हैं। इन ३० में से ६-६-अहर्गणों का एक एक स्वतन्त्र विभाग होता है। भूकेन्द्रस्थ ३ अहर्गणों के साथ ६ अहर्गणों को मिला दीजिए। इन ९ अहर्गणों का एक स्तोम त्रिवृत्स्तोम कहलाएगा। इस में ६ और मिला दीजिए। इन १५ अहर्गणों का दूसरा स्तोम पञ्चदशस्तोम कहलाएगा। और ६ अहर्गणों के योग से एकविंशस्तोम का, और ६ अहर्गणों के योग से त्रिणवस्तोम का, एवं और ६ अहर्गणों के योग से त्रयस्त्रिंशस्तोम का स्वरूप संपन्न होगा। इस प्रकार ९-१५-२१-२७-३३ इस क्रम से पांच प्रधान स्तोम होजायेंगे। यही पञ्चस्तोमात्मक वाङ्मण्डल बहिर्मण्डल कहलाएगा। जिसप्रकार अन्तर्मण्डलस्वरूप भूपिण्ड का एक निश्चित केन्द्र होता है एवमेव अहर्गणात्मक इस बहिर्मण्डल का भी एक स्वतन्त्र केन्द्र होता है। यह स्थान सत्रहवाँ अहर्गण माना गया है। ३३ का केन्द्र १७ वाँ ही बन सकता है। यही स्थान सप्तदशप्रजापति [illegible]



यप्रजापति, इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। यही ६ ठा सप्तदशस्तोम है। इस प्रकार मघमयी वाक् के ६ स्तोम होजाते हैं। इन्हीं ६ स्तोमों के कारण यह व क्रमसहज "वषटकार" कहलाया है। वाक् का षट्कार (६ स्तोम) ही "वाक्-षट्कार" है। परोक्ष-भाषानुसार वाक्-षट्कार ही वषट्कार है।

<u>वाङ्मय स्तोमविवर्त</u>—वाङ्मय वषट्कार में ३३ अहर्गण, किंवा ३ स्तोम बतलाए गए हैं। यदि और भी सूक्ष्म विचार किया जाता है, तो ४८ स्तोम हो जाते हैं। त्रयस्त्रिंशदहर्गणात्मक वषट्कार में एकविंश स्तोम पर्यन्त इन्द्रात्मक अग्निशुक्र व्याप्त है, त्रिणवस्तोमपर्य्यन्त विष्णुमय आपःशुक्र की महिमा है एवं त्रयस्त्रिंशस्तोम पर्यन्त वाङ्मय ब्रह्म का साम्राज्य है। ४८वें अहर्गण में विशुद्ध ब्रह्म प्रतिष्ठित है। अष्टाचत्वारिंशत्स्तोमात्मक वषट्कार में २१ पर्यन्त अग्नि २७ पर्यंत आपः, एवं ४८ पर्यन्त वाक् है। इन तीनों की आधारभूमि वही अग्निगर्भित इन्द्र सोमगर्भित विष्णु, एवं ब्रह्मगर्भिता वाक् है। जहां तक अग्निगर्भित इन्द्र व्याप्त है वह द्युलोक है, यही धा है। जहां तक विष्णुगर्भित अप्तत्त्व व्याप्त है, वह गोलोक है। एवं ब्रह्मगर्भित वाग्लोक ही धाक् है। केन्द्रस्थ अग्निगर्भित इन्द्र सोमगर्भित विष्णु, तथा ब्रह्म-युक्त वाक् तत्त्व ही वितत होकर ४८ पर्य्यन्त व्याप्त हुआ है। वाक् का यह वितान ही इस का प्रथन है। इसी लिए—"यदप्रथयत्" इस निर्वचन के अनुसार इस भीमविवर्त्त को 'पृथिवी' कहा जाता है। यह पृथिवी इस भूपिण्ड के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। दूसरे शब्दों में पृथिवी के केन्द्र में भूपिण्ड प्रतिष्ठित है। इस के चारों ओर प्रथम स्तर अग्नि का है। द्वितीय स्तर आप (जल) का है, एवं तृतीय स्तर वाक् का है।

इस स्तरभाव का यह अभिप्राय नहीं है कि, अग्नि के अनन्तर अप्स्तर का एवं अप्स्तर के अनंतर वाक्स्तर का आरम्भ होता है। अपितु तीनों स्तरों का उपक्रम भूकेन्द्र ही है। भूकेन्द्र से आरम्भ कर ४८ पर्य्यन्त व्यापक वाक्स्तर है। केन्द्र से ३३ पर्यन्त अप्स्तर है, एवं भूकेन्द्र से २१ पर्य्यन्त अग्निस्तर है। इसी लिए युग्म-अयुग्म स्तोमों की व्यवस्था केन्द्र से ही की जाती है। भूकेन्द्र से आरम्भ कर ३३ पर्यन्त प्रतिष्ठित रहने वाले अयुग्म त्रिवृत्-पञ्चदश-सप्तदश-एकविंश-त्रिणव-त्रयस्त्रिंश, ये ६ ओं स्तोम अयुग्मस्तोम हैं। एवं केन्द्र से ४८ पर्यन्त गायत्री के सम्बन्ध से चतुर्विंशस्तोम, त्रिष्टुप् के सम्बन्ध से चतुश्चत्वारिंशस्तोम एवं जगती के सम्बन्ध से अष्टाचत्वारिंशस्तोम, ये तीन छन्दोमास्तोम हैं। ये ही 'युग्मन्ति स्तोमानि" हैं।

भूपिण्ड पञ्चीकृत प्राणादि से निष्पन्न हुआ है। इसी अवस्था में इस में प्राणादि पाँचों

लोकसाहस्रा–स्वरूपपरिचय — भावों से नित्य युक्त, प्राणादि पाँचों परमेष्ठियों की सत्ता सिद्ध होजाती है। भूपिण्ड में प्राणमय ब्रह्मा, आपोमय विष्णु वाङ्मय इन्द्र, अन्नादमय अग्नि, अन्नमय सोम पाँचों का भोग सिद्ध है। ये पाँचों ही भूतात्मक प्राणात्मक (रसात्मक), भेद से दो भागों में विभक्त हैं। इन में भूतात्मक पाँचों से तो भूपिण्ड का निर्माण हुआ है, एवं प्राणात्मक पाँचों वषट्कारात्मिका पृथिवी के स्वरूप समर्पक हैं। भूपिण्ड में केन्द्र और पिण्ड, ये दो भाग हैं। इस के केन्द्र में ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–प्रतिष्ठित हैं। स्वयं पिण्ड भूतप्रधान अग्नि-सोममय है। इस प्रकार भूपिण्ड में पाँचों का भाग सिद्ध होजाता है। पृथिवी के २१ पर्यन्त अग्निगर्भित इन्द्र है ३३ पर्वे सामगर्भित विष्णु हैं एवं ४८ पर्यन्त ब्रह्मा है। इस स्तोम क्रम से पृथिवी में भूतप्रधान इन पाँचों का भी भोग सिद्ध होजाता है। स्वयम्भू का आ भाग प्रवर्ग्य बन कर पृथिवी में आता है वही ४८ स्तोम में प्रतिष्ठित हो कर पृथिवी की प्रातिस्विक वस्तु बन जाता है। परमेष्ठी का प्रवर्ग्य भाग ३३ पर प्रतिष्ठित है। एवं सूर्य्य का प्रवर्ग्य भाग २१ पर प्रतिष्ठित है। चन्द्रमा स्वयं पृथिवी का ही उपग्रह है। अष्टाचत्वारिंशस्तोम पृथिवी की अन्तिम परिधि है। इस का जगती छन्द से सम्बन्ध है। अत एव समस्त स्तोमों की भूपिण्डयुक्त इस महापृथिवी को हम– "जगती" कहेंगे। "यत्किञ्च जगत्यां जगत्" (ईशोपनिषत्) से यही जगती अभिप्रेत है। यदि ३३ वें अहर्गण पर्यन्त पृथिवीलोक अपेक्षित है तो ऐसी अवस्था में इसे हम जगती न कह कर "सागराम्बरा" कहेंगे। कारण ३३ का स्तर आपोमय है। यही सागर (अर्णवसमुद्र) अम्भयविच्छिन्न पृथिवी का आवरण बना हुआ है। यदि २१ त्रिणवस्तोमपर्य्यन्त पृथिवी लोक अपेक्षित है, तो ऐसी अवस्था में इस पृथिवी को हम "उरुधा" कहेंगे। कारण उरुधार्गि पर्यन्त ही व्याप्त है। यदि अन्तरिक्ष पर्य्यन्त पृथिवी लोक अपेक्षित होगा तो उस अवस्था में हम इसे "मेदिनी" कहेंगे। कारण मधुमाक्–मधर्वक भूलोक वायु अन्तरिक्षस्थानीय इसी पञ्चदश स्तोम में व्याप्त है। यदि केवल पिण्ड ही लक्ष्य रहेगा तो उस अवस्था में हम इसे "भूमि" कहेंगे। यही भवन का आभाव है। जगती–सागराम्बरा–उरुधा–मेदिनी–क्षिति–अवनि सब का भवन भाव से सम्बन्ध है अत इन सब को पृथिवी नाम से व्यवहृत किया जासकता है। पृथिवी इन का साधारण नाम है। परन्तु–पिण्डभाग केवल भूमि –धरा–धरित्री–धरणी–क्ष्मा–इत्यादि नामों से ही व्यवहृत होगा। फलतः विज्ञान काण्ड में भूमि और पृथिवी का परस्पर में पर्याय समझना एवं उस जगती आदि नामों में पर्याय सम्बन्ध मानना नितान्त असंगत हो जाता है।

ब्रह्म के सम्बन्ध से पूर्व में वाक्-साहस्री का दिग्दर्शन कराया गया है। प्रसंगोपात्त-लोक-वेद-साहस्री का भी नाम मात्र ज्ञान लेना अनावश्यक न होगा। अग्निमूर्ति इन्द्र ही वेद साहस्री का प्रवर्त्तक है। २१ पर्यन्त व्याप्त रहने वाला इन्द्रमूर्ति अग्नि अग्नि-वायु-आदित्य, इन तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। इन्हीं तीनों से क्रमशः पशुस्वरूप समर्पक, अत एव यज्ञमात्रिक नाम से प्रसिद्ध पार्थिव छन्दात्मक ऋक्-यजु साम का विकास होता है। यही वेदसाहस्री है। सोमगर्भित विष्णु ही लोकसाहस्री के प्रवर्त्तक हैं। ३३ पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाला विष्णुमूर्ति-सोम, किंवा आप ही भूकेन्द्र से ३३ पर्यन्त व्याप्त होता हुआ-'पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः-आप'-इन चार लोकों का आरम्भक बनता है। यही तीसरी लोकसाहस्री है। इसी अर्थ को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

"उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे न पराजिग्ये कतरश्चनैनोः।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्॥
(ऋक्सं० ६।६९।८)।

किं तत् सहस्रमिति ?—इमे लोकाः, इमे वेदाः अथो वागिति ब्रूयात्।"
(ऐ० ब्रा० ६।१५)।

भौम प्रपञ्च के सभी विवर्तों का संक्षेप से दिग्दर्शन कराया गया। अब केवल दिति-अदिति का स्वरूप अवशिष्ट रहता है। संक्षेप से उस का भी दिग्दर्शन करा इस आधिभौतिक प्रकरण को समाप्त किया जाता है।

अदिति-दिति विवर्त—पृथिवी का वह भाग जो सूर्य्य की ओर रहता हुआ प्रकाश से युक्त रहता है, उसी को पूर्व में हमनें-अदिति कहा है। उरुगायपृथिवी, १२ पार्थिव देवता, अग्निमयी चितानयज्ञ सब कुछ इसी अदिति के गर्भ में प्रतिष्ठित है। विराट प्रजापति नाम से प्रसिद्ध वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्त्ति स्वयं ईश्वर प्रजापति भी इसी अदिति के गर्भ से जन्म लेते हैं। अदिति पृथिवी ही जगन्माता है। भूपिण्डस्थ अग्नि की पूर्व में मर्त्य-अमृत, भेद से दो अवस्थाएँ बतलाई गई हैं। मर्त्य अन्तरग्नि मूल है, अमृत प्राणाग्नि रस है। यही रसाग्नि ऊपर जाता हुआ उक्थ नाम से प्रसिद्ध होता है। वाङ्मय वषट्कार के त्रिवृत् स्तोम पर्य्यन्त यह रसाग्नि घनभाव से रहता है, यही घनाग्नि अग्नि कहलाता है। पञ्चदशस्तोम पर्य्यन्त वितत होकर यही तरलावस्था में परिणत होजाता है। इसी तरलाग्नि को वायु कहा जाता

है। आगे आकर वितत होता हुआ यह अग्नि वाय्वावस्था में परिणत होजाता है। इस की स्थिति सप्तदशस्तोम पर है। विरलावस्थापन्न इसी अग्नि का आदित्य कहा जाता है। त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्न वषट्कार के मध्य भाग में अमृताग्नि का साम्राज्य है, एवं ऊर्ध्व भाग में सोम प्रतिष्ठित है। १६ पर्य्यन्त अग्नि है, १९ पर्य्यन्त सोम है, मध्यस्थ स्थान इस का कन्द्र है। यही आ हवनीय है। इस में ऊर्ध्वस्थित सोम की आहुति होती है। इसी सोमाहुति के कारण 'आहूयते यत्र सोमः' के अनुसार यह सप्तदशस्तोमावच्छिन्न आदित्याग्नि आहवनीय कहलाता है। आदित्याग्नि दाहक है सोम दाह्य है। दाह्य सोमाहुति से दाहक अग्नि प्रज्वलित हो जाता है। प्रज्वलित होकर यह एकविंश स्तोम पर्य्यन्त व्याप्त होजाता है। इस प्रकार १९ से १७ पर्य्यन्त मूल रूप से प्रतिष्ठित रहने वाले इस आदित्याग्नि का २१ स्तोम पर्य्यन्त वितान होजाता है। अग्नि पृथिवी-लोक का अधिष्ठाता माना जाता है इस सामान्य परिभाषा के अनुसार भूपृष्ठ से आरम्भ कर २१ स्तोमावच्छिन्न इस आग्नेय प्रदेश को हम अग्नि-पृथिवी मानने के लिए तय्यार हैं। अग्नित्रय को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाली सूर्य्यानुगता यह महापृथिवी ही "अदिति" है। अग्नि की इन्हीं तीन रसावस्थाओं का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

"आपो वाऽअर्कः। तद्यदपां शर आसीत्, तत्समहन्यत। सा पृथिव्यभवत्। तस्यामश्राम्यत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्त्तताग्निः। स त्रेधात्मानं व्यकुरुत–आदित्यं तृतीयं, वायुं तृतीयम्। स एष प्राणः (प्राणाग्निः–अमृताग्निः) त्रेधा विहितः" (शत० १०।६।५।२)।

त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न घनावस्थापन्न अग्नि की घनता में तारतम्य है। इसी तारतम्य से इस की अवान्तर आठ अवस्थाएं हो जाती हैं। तरलावस्थापन्न ऊर्ध्वमूर्त्ति वायु की अवान्तर ११ अवस्थाएं ही ११ रुद्र हैं। विरलावस्थापन्न आदित्याग्नि की अवान्तर १२ अवस्थाएं ही १२ आदित्य हैं। इस प्रकार अग्निप्रमुख आठ वसु, वायुप्रमुख ग्यारह रुद्र, इन्द्रप्रमुख १२ आदित्य भेद से ३१ मात्र देवता हो जाते हैं। त्रिवृत्-पञ्चदश, पञ्चदश-एकविंश, इन दो सन्धियों में रहने वाले दो प्राण अश्विनी नाम से प्रसिद्ध हैं। वही अग्नि पहिले अग्नि-वायु-आदित्य इन तीन स्वरूपों में परिणत होता है। फिर आगे इसी की अवान्तर ३३ अवस्थाएं हो जाती हैं। ये ही ३३ वहिन देवता हैं। इन्हीं को लक्ष्य में रख कर यजुः-श्रुति कहती है—

इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च।
मनोर्देवा यज्ञियास ॥ (ऋक्सं ८।३०।२)।

सम्पूर्ण देवता एकमात्र अग्नि के ही विवर्त्त हैं—"अग्निः सर्वा देवता"—'अग्नि पुरोगा सर्वे देवाः प्रीयन्ताम्'। उक्त तीनों अग्नियों में त्रिवृदवच्छिन्न घनाग्नि गार्हपत्याग्नि है यह एकाकी है। एकविंशोऽवच्छिन्न आदित्याग्नि आहवनीयाग्नि है, यह भी एकाकी है। मध्य के तरलाग्नि में आठ नाक्षत्रिक सप्त धाम प्रविष्ट रहते हैं। इन नाक्षत्रिक धिष्ण्य प्राणों के समावेश से यह आन्तरिक्ष्य अग्नि अष्टक बन जाता है। इस पद्धति क्रम से १—गार्हपत्य, ८ धिष्ण्य १ आहवनीय इस प्रकार पार्थिव अग्नि दशात्मक बन जाता है। यही दशाक्षर विराट् छन्द के अनुसार तन्मूर्त्ति विराट् भगवान् हैं जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। जिस प्रकार आग्नेय लोक पृथिवी कहलाता है एवमेव वायव्यलोक अन्तरिक्ष एवं आदित्यलोक द्यु नाम से प्रसिद्ध है। इस परिभाषा के अनुसार एक ही अग्नि की व्याप्ति के कारण जहाँ ६–१५–२१ स्तोमयुक्त महाप्रदेश को हमने महापृथिवी कहा था एवमेव इस महापृथिवी के गर्भ में प्रतिष्ठित ६–१५–२१, इन तीनों स्तोम प्रदेशों को क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य-द्वारा शासित होने के कारण क्रमशः पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ, इन नामों से व्यवहृत कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न घनाग्नि प्रदेश महा-पृथिवी के गर्भ में रहने वाला पृथिवीलोक है पञ्चदश स्तोमावच्छिन्न तरलाग्नि (वायु-) प्रदेश महापृथिवी के गर्भ में रहने वाला अन्तरिक्षलोक है, एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न विरलाग्नि (आदित्य-) प्रदेश महापृथिवी के गर्भ में रहने वाला द्युलोक है। इस प्रकार महापृथिवीरूपा अदिति के गर्भ में पृ० अ० द्यौ इन तीनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। विज्ञानभाषा में पृथिवी को माता कहा जाता है, द्यौ को पिता कहा जाता है—"द्यौष्पिता पृथिवि मातरध्रुगग्ने०" (ऋक् सं० ६।५१।५)। इस परिभाषा के अनुसार अदितिरूपा महापृथिवी त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पृथिवी स्थानीया बनती हुई माता है एकविंशस्तोमावच्छिन्न द्युस्थानीया होती हुई पिता है। अदिति के इसी स्वरूपविज्ञान को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं।

> अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
> विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥१॥
> (ऋक् सं० १।८९।१०)।
>
> अदितिर्द्यावापृथिवी ऋतं महदिन्द्राविष्णू मरुतः स्वर्बृहत्।
> देवाँ आदित्याँ अवसे हवामहे वसून्रुद्रान्त्सवितारं सुदंससम् ॥२॥
> (ऋक् सं० १०।६६।४)।

वसु का सविता-अग्नि-वायु आदित्य आदि सभी देवता यहीं प्रतिष्ठित हैं, इसी के पुत्र हैं। जैसा कि-अभियुक्त कहते हैं—

अदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरिन्दम।
आदित्या वसवो रुद्रा अश्विनौ च परन्तप। (वाल्मीकिरा०)

इन सब देवताओं का स्वरूपधर्म आगे की पितृदेवता-स्वरूपविज्ञानोपनिषद् में बतलाया जाने वाला है। प्रकृत में केवल यही जान लेना पर्याप्त होगा कि, भूपृष्ठ से लेकर वषट्कार के २१ वें स्तोम पर्यन्त व्याप्त महापृथिवी का सूर्य्याभिमुख, अत एव प्रकाशित, [illegible] ऊर्ध्व भाग ही अदिति पृथिवी है। स्तोम सम्बन्ध से ही इस महापृथिवीरूपा अदिति त्रिलोकी, किं वा स्वयं त्रिलोकी को "स्तौम्यत्रिलोकी" कहा जाता है। "या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी" (कठ ४।७) के अनुसार इस का प्राणाग्नि के साथ सम्बन्ध है, यह देवतामयी है। इस के सम्बन्ध में इतना और ध्यान रखना चाहिए कि, सौर सम्वत्सर प्राण के आगमन से ही इस का स्वरूप निष्पन्न होता है जैसा कि पूर्व के अव्यय-अक्षर-क्षर-प्रकरण में बतलाया जा चुका है। और तेज सावित्री रूप से भूपिण्ड पर आता है। भूपिण्ड के दोनों प्रान्तों को काटता हुआ वह आगे निकल जाता है। आगे जाकर भूच्छायारूप राहु का तिरस्कार करता हुआ वह सावित्र सौर प्रकाश पुनः मण्डलरूप में परिणत हो जाता है। त्रितमा सा सौर प्रकाश भूपृष्ठ से सम्बद्ध रहता है वह सत्य भाव के कारण मानस गोलक हुआ या पृथिवी से सम्बद्ध होने के कारण यह गायत्री नाम से प्रसिद्ध होता है। इसी को ग्रस्त कहा जाता है— (देखिए पृ० [illegible] ६१४)। जैसा आकार भू के सूर्य्य विरुद्ध दिक् में प्रतिष्ठित भूच्छाया का है ठीक वैसा ही आकार इस [illegible] का है। यही ज्योतिर्म्मय सौर [illegible] किं वा ज्योतिर्म्मय गायत्र अदिति की प्रतिष्ठा है। अदिति महाकाशी तमोमयी अर्द्ध भागात्मिका वषट्कार-पृथिवी दिति-पृथिवी है। यही असुरों की आवास भूमि है। दोनों का परस्पर में घनिष्ठ सम्बन्ध है। "देवेभ्यश्च जगत् सर्वम्" (मनु ३।२०) के अनुसार-अदितिमय देवता, एवं प्रकार से परिगृहीत दितिगर्भ में प्रतिष्ठित असुर ही त्रैलोक्य प्रजावर्ग में रहने वाली प्रजा के आरम्भक बनते हैं। इन दोनों में से त्रैलोक्य का विकास (देवता के सम्बन्ध से) केवल अदिति पृथिवी में ही होता है। इसी पार्थिव विकास को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

१—"इयं वै पृथिव्यदितिः, सेयं देवानां पत्नी" (शत० ५।३।१।४)।

२—"*तिस्रो वा इमा पृथिव्य । इयमहैका द्वे ऽस्या परे" (शत० ५।१।५।२१)

३—"अश्वा (अश्वरूपा) ह वा ऽइय भूत्वा मनुमुवाह" (शत० १४।१।३।२५)

४—"इय वै देव्यदितिर्विश्वरूपी" (तै० ब्रा० १।७।६।७)

५—"तस्या एतत् परिमित रूप यदन्तर्वेदि (भूपिण्ड)। अथैष भूमाऽपरिमितो यो +बहिर्वेदि (महापृथिवी) (ऐ० ८।५)।

६—"गायत्री वा ऽइय पृथिवी" (शत० ४।३।४।९)।

७—"पृथिव्यामिमे (पृथिवी—अन्तरिक्ष—द्यौरिमे त्रयो) लोकाः प्रतिष्ठिताः" (जै० उ० १।१०।२)।

———•———

भू-पिण्डों के सम्बन्ध से अबतक जो कुछ कहा गया है, वह आगे के परिलेखों से सर्वथा बुद्धिगम्य बन जाता है।

[illegible] — {
- ४८ [१—ब्रह्मा (प्राण)—अक्षरब्रह्मा
- ३३ { २—विष्णु (आप)—अक्षरविष्णु; ३—सोम (अन्नम्)—अक्षरसोम
- २१ { ४—इन्द्र (वाक्)—अक्षरेन्द्र; ५—अग्नि (अन्नाद)—अक्षराग्नि.

} —अक्षरत्वाय नमो नमः

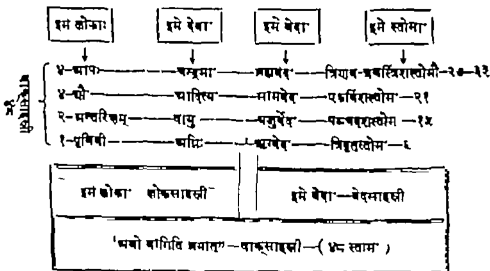
———•———

[illegible] {
- पिण्ड— { ५—अग्नि (अन्नाद)—क्षराग्नि; ४—सोम (अन्नम्)—क्षरसोम; ३—इन्द्र (वाक्)—क्षरेन्द्र } —अमृत शिवरूपाय
- अन्तर्यामी { २—विष्णु (आपः)—क्षरविष्णु (भगवतो विष्णुरूपिणे); १—ब्रह्मा (प्राण)—क्षरब्रह्मा (भूतात्मा ब्रह्मरूपाय)

} —भू—पिण्ड

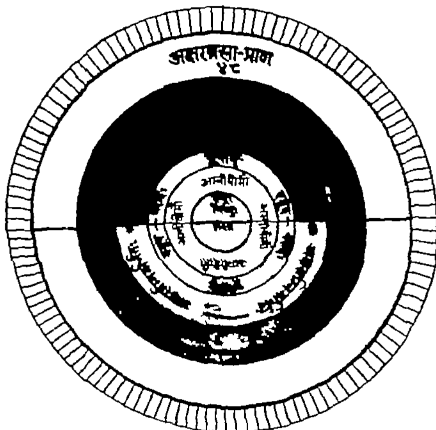
* भूपिण्ड एक पृथिवी है। स्तोमत्रयमुक्त महापृथिवी दूसरी पृथिवी है। इसी के गर्भ में प्रतिष्ठित [illegible] तीसरी पृथिवी है। इन तीनों में "इयमहैका" के अनुसार एक का भूपिण्ड से सम्बन्ध है, शेष दोनों का परम्परया महिमारूपेण से सम्बन्ध है यही तात्पर्य है।

+ [illegible] में भूपिण्ड इविर्वेद भी वेदि है। इसी को परिभाषा में अन्तर्वेदि कहा जाता है। एवं २१ स्तोमावच्छिन्ना महापृथिवी सोमयज्ञ की प्रतिष्ठारूपा महावेदि है। इसे ही बहिर्मण्डलपरिमित होने से 'बहिर्वेदि' कहा जाता है। महापृथिवी के इसी आत्मिक रूप के आधार पर—"भूमं वै बर्हिः" (शत० ७।३।१।११)। "एतावती वै पृथिवी, यावती वेदिः" (तै० ब्रा० ३।२।९।१२)—'तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथिवी—इति' (शत० १।२।५।७) 'वेदिर्वै परोऽन्तः पृथिव्याः' (तै० ३।३।९।९) इत्यादि निगमवचन प्रतिष्ठित हैं।



पूर्व के भौमविवर्त्त निरूपण से यह स्पष्ट हो जाता है कि, पृथिवी भिन्न वस्तु है एवं सर्वभूतान्तरात्मा—भूपिण्ड भिन्न वस्तु है। भूपिण्ड-भूतप्रधान है, पृथिवीमण्डल देवप्रधान है। भूतमय भूपिण्ड का अन्नाद प्रकृति से सम्बन्ध है, अन्नादतत्त्व ब्रह्मसत्य से सम्बन्ध रखता है। अत एव ईश्वरीय आत्मसंस्था-क्रम में हम इसे ब्रह्मसत्यात्मा, किंवा भूतात्मा कहेंगे। देवता मयी पृथिवी का प्राणात्मक यज्ञाग्नि से सम्बन्ध है। प्राणतत्त्व ही देवता है। इस का विकास-अदिति पृथिवीस्वरूप-समर्पक एकविंश स्तोम पर्य्यन्त है। इस प्रकार २१ पर्य्यन्त व्याप्त, अग्नि-वायु-आदित्यात्मक इस प्राणाग्नि को हम प्राणात्मा, किंवा देवसत्यात्मा नामसे व्यवहृत करेंगे। इसी देवसत्य का नाम विराट् प्रजापति है यही ईश्वर है। स्मरण कीजिए अश्वत्थात्म की पञ्चपुरुषीरा व्यवस्था का। ईश्वर को साक्षीसुपर्ण—सर्वभूतान्तरात्मा, इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जाता है। गुहानिहित विज्ञानात्मतत्त्व का प्रभावमाया से निरूपण करते हुए कहा जाता है कि, 'एक ही वृक्ष पर सुनहरे पक्ष (पत्त-पर) वाले जोड़ले दो पक्षी बैठे हैं। इन दोनों में एक पक्षी उस वृक्ष का फल खा रहा है, एक पक्षी फल खाने वाले की चौकसी कर रहा है'। इन दोनों पक्षियों का एक ही वृक्ष में प्रतिष्ठित रहना केवल अध्यात्मसंस्था की अपेक्षा से ही उपपन्न हो सकता है। पूर्वप्रतिपादित चिदात्मा—प्रत्यगात्मा—शारीरकात्मा इन तीनों में व्यापक बोधाग्नि चिदात्मा है। वह अन्नातीत बतलाया गया है। बाकी बचा हुआ प्रत्यगात्मा

भूविवर्त्त (क)



महिमा
{ जगती — — १–वाङ्मयो ब्रह्मा (अष्टाचत्वारिंशस्तोमावच्छिन्न – ४८) –वाक्साहस्री या –स्व

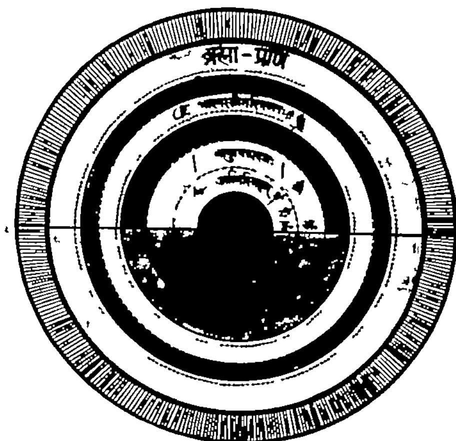
सागराम्बरा–२– { आपोमयो विष्णु (त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्न –३३)
(१–त्रिकसाम पारमेष्ठ्य (आप)–त्रयस्त्रिंशस्तोम –३३)
(२–भास्वरसोमश्चान्द्र (भ्राम) त्रिणवस्तोम –(२४) } गोसाहस्री–गौ भुव

—०—

उर्वी —३– { अग्निगर्भित –इन्द्र (एकविंशस्तोमावच्छिन्न – २१)
(१–आदित्य (दिव्याग्नि)–एकविंशस्तोम –२१)
२–वायु (तरलाग्नि)–(पञ्चदशस्तोम –१५)
३–अग्नि (घनाग्नि) (त्रिवृत्स्तोम ९) } अश्वसाहस्री याद–भू

मूर्त्ति { भू ——४– { ब्रह्म-त्रिविष्णुगर्भित–अग्नीषोमात्मका भूपिण्ड } –प्रतिष्ठा साम्यनाम

भूविवर्त्तम् (ख)



यज्ञ इन्द्रमवर्द्धयत्, यद् भूमिं व्यवर्त्तयत् ।
चक्राण ओपशं दिवि ॥

—ऋक्संहिता

श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, जयपुर

मूंचिवत्तंम (ग)

(चतुर्विंशस्तोमः) बाहु
अष्टाचत्वारिंशस्तोम

भासवस्तोमः — त्रिवृत्स्तोमः
त्रिणवस्तोमः
आ — पः
मस — वेदः

जगती पृ मि वै
प्रसा – प्राणप्रकृतिकः सर्वप्रतिष्ठा
योनिरसा – मह्
१ अपोनामिति सूक्त् – स्व

पृथिवी

अग्निः — वायुः
त्रिवृत्स्तोमः पञ्चदशस्तोमः
पृथिवी अन्तरिक्षम्
ऋग्वेदः यजुर्वेदः

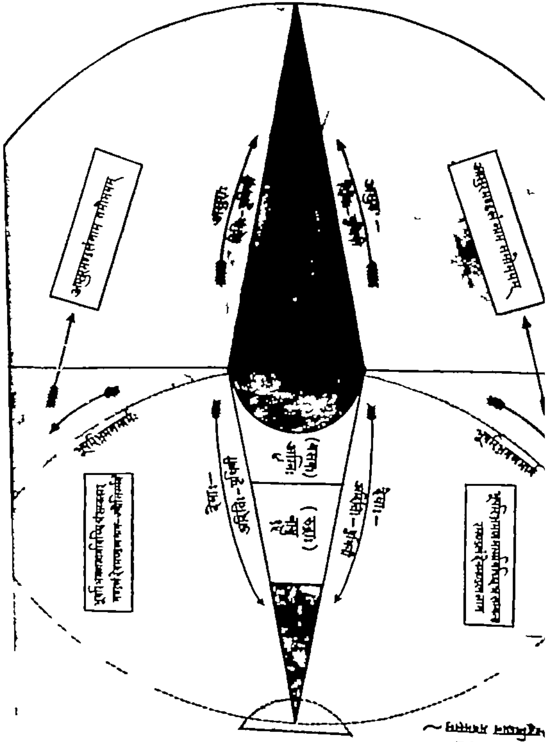
भूः भुवः

४८ ४८ ४८

प्राणमनोमया अधोभावः सौ

तदिद सर्वम

दित्यदितिमण्डलम्



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, जयपुर

वैज्ञानिकोंने इसे- 'सुपर्ण" (अच्छे पंख वाला) कहा है। अत एव इस सूक्तोत्तर कहा गया है- "वीर्य्यं वै सुपर्णा गरुत्मान्" (शत० १०।५ ।४।)। यही स्थिति आध्यात्मिक जीवात्मा की है। पक्षी अधिक से अधिक भू-वायु का उल्लंघन कर सकता है। परन्तु हमारा यह कर्म्मभोक्ता जीवात्मा तो सुदूरस्थित विविध लोकों में जाया करता है। यहाँ तक कि पृथिवी के २१ अहर्गण पर सूर्य्य है— 'एकविंशो वा इतः (पृथिवीलोकात्) आदित्य (तै० ब्रा० १।२।१०।३।) वहाँ तक यह जा सकता है। भला इस से अधिक दूर जाने की किस पक्षी में शक्ति है ? जीव के साथ प्रत्यगात्मरूप ईश्वर भी नित्य से बद्ध रहता हुआ घटाकाशादिवत् लोकान्तर में जाता है। ईश्वरगर्भित जीव लोकान्तर में क्या जाता है, मानो एक पक्षी लोकान्तर में घूम रहा है। यही इन दोनों की सुपर्णता है। इसी सुपर्णसादृश्य से शास्त्राचार्यों ने आत्मगति में आरूढ इस प्रेत जीव को "गरुड़"● नाम से व्यवहृत किया है। इसीलिए इन सयुजों को 'सुपर्ण' (अच्छे-शक्तिशाली पंखों) वाला पक्षी शब्द से व्यवहृत करना अन्वर्थ बन जाता है। अपिच, सुपर्ण शब्द का दूसरा अर्थ है—सुनहरा पंख। अग्नि को हिरण्यरेता कहा जाता है। हिरण्य ही सुवर्ण है। स्वयं अग्निचयमूर्ति भी इसमें साक्षी बना है। जीव भी इसी का अंश होता हुआ अग्निचयमूर्ति ही है। इस हिरण्य अग्नि के सम्बन्ध से भी इसे सुपर्ण (सुनहरी-आग्नेयपक्षवाला) कहना उचित होता है। अपिच, इन दोनों ही पक्षों का सुपर्णचिति नाम से प्रसिद्ध अग्निचिति से सम्बन्ध है। भूपिण्ड से निकलने वाला पार्थिव अग्नि ठीक पक्षी के आकार में परिणत होकर ही २१ स्तोम पर्य्यन्त वितत रहता है। और सम्वत्सर से युक्त होकर यह सम्वत्सर रूप ही बन जाता है। इसी रहस्य का वैज्ञानिकों ने सुपर्णाख्यान रूप से निरूपण किया है। पार्थिव अग्नि गायत्री है। यह सुपर्ण पक्षी बन कर ही २१ स्थ सूर्य्य से ऊपर रहने वाले सौम्य-गन्धर्वप्राणों से सुरक्षित पारमेष्ठ्य सोम का अपहरण करती है। इसी आधार पर निम्न लिखित विविध वचन प्रतिष्ठित हैं—

१— 'इमे वै लोका गायत्री" (शां ब्रा १२।१ ।५)।

२—"अग्निर्ह वाव राजन् गायत्रा सुपर्णम्' (मै स भा २)।

● यज्ञमय प्रेतात्मा शरीर से निकलकर जिन जिन लोकों में जाता है। वहाँ क्या क्या फल भोगता है, इत्यादि विषयों का निरूपण करने वाला आत्मगतिनिरूपणात्मक पुराण ही "गरुडपुराण" नाम से प्रसिद्ध है। यह प्राणी के प्रत्यक्ष और्ध्वदैहिक कर्मकलाप में तदनुसार इसी का श्रवण करते हैं।

३—"यद् गायत्री श्येनो भूत्वा दिव सोममाहरत्—तेन सा श्येनः"
(शत० ३। ।१।१२)।

४—"तृतीयस्यामितो दिव सोम आसीत्। त गायत्र्याहरत्" (तै० १।२।३।१०)।

५—"इमऽउ लोकाः संवत्सरः" (शत० ८। ।१।१७)।

६—"अग्निर्वाव संवत्सर" (तां० ब्रा० १७ १३।१७)।

उक्त वचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि, पार्थिव त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित गायत्र्याग्नि, संवत्सर, श्येन, आदि तत्त्व अपेक्षया भिन्न भिन्न नामों से व्यवहृत होते हुए भी अभिन्नत्वेन अभिन्नार्थ के ही बोधक हैं। इस पञ्चचितिक अग्नित्रयी का ही नाम ईश्वर, किं वा वेदसत्यात्मा है, यही संवत्सर प्रजापतिरूप महा सुपर्ण है। (१) का अक्षररूप जीव क्षुद्र सुपर्ण है। सुपर्ण की इसी सुपर्णता का दिग्दर्शन कराती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है—

ईश्वरः—१—'अथ ह याऽएष महासुपर्ण एव यत् सम्वत्सर। तस्य—यत् पुरस्ताद्विषुवतः षण्मासानुपयन्ति सोऽन्यतरः पक्ष। अथ यान् पश्चाद्रिहात् सोऽन्यतरः। आत्मा विषुवान्॥" (शत० १२।२।३।७)

जीव—२—"पुरुष सुपर्ण" (शत० ७।४।१।५)

हां इस सम्बन्ध में इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि, यदि सुपर्ण शब्द का "पञ्चचितिक अग्निमय पुरुष सुपर्ण है" यह अर्थ अभिप्रेत है, तब तो आत्मगति से कोई सम्बन्ध न रखने वाला स्थिरस्वरूप सम्वत्सरात्मक त्रैलोक्य व्यापक चिदात्मरूप ईश्वर ही सुपर्ण शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है। यदि सुपर्ण का—'आकाश में पर्णों से गमन करने वाला सुन्दर पक्षी सुपर्ण है" यह अर्थ है तो उस दशा में चिद्रूप शरीरोपाधिक मत्यगात्मेश्वर का ही मानी सुपर्ण शब्द से ग्रहण करना पड़ेगा। 'द्वा सुपर्णा०" इत्यादि में सुपर्ण शब्द से इसी आध्यात्मिक सुपर्णयुग्म का ग्रहण अपेक्षित है। कारण—दोनों सुपर्णों का समान (एक) वृक्ष में अवस्थान दोनों का सयुग् भाव अध्यात्मसंस्था में ही सम्भव होसकता है। अधिदैवतसंस्था का अध्यक्ष सम्वत्सरात्मक–चिदात्मक महासुपर्ण भौतिक विश्व का समानरूपसे साक्षी होता हुआ भी अपने इस व्यापकरूप से यह अध्यात्मसंस्था का साक्षी नहीं माना जासकता। साथ ही में उस व्यापक का इस परिच्छिन्न चिदात्मा के साथ समान वृक्ष

अतएव अक्षमोपरूप से प्रतिष्ठित ये पाँचों उस एक ही के उप (समीप) बैठे हुए हैं। अतएव इन्हें उपेश्वर कहा जाता है। शरीरेश्वर यद्यपि अव्ययेश्वर की अपेक्षा त्रिदशारूप था, परन्तु इन उपेश्वरों की अपेक्षा यह त्रिदशात्मा है उपेश्वर विंशा है। त्रिदशात्मा एक है विंशा पाँच हैं। इस प्रकार एक ही त्रिदशारूप ब्रह्म शरीरेश्वर त्रिदशात्मा, उपेश्वर विंशारूप भेद से दो भागों में विभक्त हो जाता है। इन दोनों में शरीरेश्वर विराड् अक्षरमूर्ति है, एवं उपेश्वर क्षराक्षरगर्भित अक्षरप्रधान है। इन दोनों का क्रमशः गुण विकार नाम के दो परिग्रहों से सम्बन्ध है। शरीरेश्वर सगुण सत्यप्रजापति है उपेश्वर सविकार–यज्ञप्रजापति है। तीसरा है विंशारूप देवविवर्त। इसके भी साक्षी भोक्ता रूप से दो विवर्त हैं। ब्रह्मसत्यात्मिका ब्रह्म के भूरूप अग्रभाग से सम्बन्ध रखने वाले पृथिवी विवर्त से ही इन दोनों का सम्बन्ध है। त्रैलोक्य व्यापक आग्नेयमूर्ति देव सत्यात्मा साक्षी है। यह यद्यपि उपेश्वरादि की दृष्टि से विंशा है, परन्तु जीवसृष्टि को अपने गर्भ में रखने के कारण जीवसृष्टि की अपेक्षा से यह त्रिदशात्मा ही कहा जायगा। इसी को भौतिक पार्थिव विवर्त में व्याप्त रहने के कारण "सर्वभूतान्तरात्मा" कहा जाता है। त्रिदशात्मरूप सर्वव्यापक (भौमत्रैलोक्य में व्यापक) इस सर्वभूतान्तरात्मा के आगे जाकर प्रज्ञानात्मा शारीरकात्मा भेद से दो विवर्त हो जाते हैं। त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित रहने वाला, केवल पार्थिव विवर्तरूप आधिभौतिक प्रपञ्च का साक्षी रहने वाला वही त्रिदशात्मा कहलाता है। अध्यात्म संस्था में प्रविष्ट होकर यही अपने दो रूप धारण कर लेता है। अव्ययपुरुष कर्म्म–ब्रह्म, भेद से दो भागों में विभक्त है। इन में ब्रह्मात्मा का सम्बन्ध आधिभौतिक संस्था से है। एवं कर्म्मात्मा का सम्बन्ध अध्यात्मसंस्था से है। इसी में फल भोगने के लिए प्राणी को आना पड़ता है। इस फलभोक्ता प्राणी के साथ वही हृदयस्थान में साक्षीरूप से सर्वप्राणी–समान वही त्रैलोक्य व्यापक साक्षी आत्मा सर्वभूतसाधारणापेक्षया एकरूप से किन्तु तत्तच्छरीरोपाधिभेद से तत्तच्छरीरावच्छिन्न बनता हुआ विंशा रूप से प्रतिष्ठित होता है। यही प्रज्ञानात्मा है। इस प्रकार एक ही कर्म्मात्मा के शाखारूप एक ही शरीर में (केन्द्र में) एक ही स्थान पर अभिन्नरूप से प्रतिष्ठित रहते हुए, अतएव 'सयुजौ' (जोड़ले) नाम से प्रसिद्ध ये दोनों प्रतिष्ठित हो रहे हैं। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं (एक) वृक्षं परिषस्वजाते ।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥
>
> —मुण्डकोपनिषत् (३।१।१।)

इन दोनों विवर्तों में प्रत्यगात्मरूप साक्षी चिदंश शरीरोपाधिक बनता हुआ भी, सूर्य्य आत्मगत्यधिष्ठाता—सुपर्णात्मा—आतपवत् चेतनारूप से सूर्य्यप्रतिबिम्बस्थानीय सर्वथा विभिन्न जीवात्माओं का समानोपकारक बनता हुआ उस त्रैलोक्य व्यापक साक्षी से अभिन्न है। अत इसका और उसका अभेद मानते हुए दोनों को एक ही तरह मान लिया जाता है। जो चिदात्मा है, वही शरीरोपाधिक परमार्थत निरुपाधिक रहता हुआ शरीर धर्मों से सर्वथा निर्लिप्त रहता हुआ प्रत्यगात्मा है। इसका उस सविकार यज्ञप्रजापति में अन्तर्भाव है। यही सर्वभूतान्तरात्मा नाम का पहिला दृवसत्यात्मा है। दूसरा जीवात्मा इसी का अंशरूप चिदाभास लक्षण शारीरकात्मा है। इस का अन्नात परिमह से सम्बन्ध है। यही सातन प्रतिशरीर भिन्न प्रत्यगात्मा मा स नित्य अविनाभूत भोक्ता जीवात्मा अपनी अपनी प्रातिस्विक भूतसंस्था का अभिमानी बनता हुआ ' भूतात्मा" नाम से प्रसिद्ध है। मधुरूप फल भोगने के कारण ही महर्षि कठ न इस "मध्वद" (मधुरूप फल खाने वाला) नाम से व्यवहृत किया है। इस मध्वद के साथ इस का इशिता अव्यय ईशान" नामस प्रसिद्ध सर्वभूतान्तरात्मा अमम्बद सदा साथ रहता है। जो जीव स्वान्तिक (समीपस्थ) इस ईश को न मानता हुआ अनीश बना रहता है, वह— "अनीशया शोचति मुह्यमान " के अनुसार क्लेशादि में फंसा रहता है। परन्तु जो जीव अपने प्रत्यगात्मरूप अपने इस ईशरूप को पहिचान लेता है वह—"अमुह्यमानो न शोचति, न शोचति"।

य इम मध्वद वेद आत्मान जीवमन्तिकात्।
ईशान भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत् ॥ (कठो० ४।५)।

इन दोनों में सर्वभूतान्तरात्मा नामक दृवसत्यात्मा ही ईश्वर है, भूतात्मा नामक वेवसत्यात्मा ही जीव है। दोनों में ईश्वर विशुद्ध आत्मक्षरमूर्ति है, जीव अव्ययाक्षरगर्भित आत्मक्षर मूर्त्ति है। यही आत्मविवर्त्त की तीसरी संस्था है। दोनों ही सुपर्ण नाम स व्यवहृत हुए हैं। सुपर्ण शब्द का भी विचार कीजिए। जिस प्रकार मनुष्य का सौन्दर्य्य उस के सदाचार पर अवलम्बित है, स्त्री का उत्कर्ष पातिव्रत्य पर निर्भर है एवमेव पक्षी का सौन्दर्य्य उसके पर्खों पर आश्रित है। पर्ण सम्बन्ध से ही वह पक्षी कहलाया है। पर्खों स पक्षी आकाश में विचरण किया करता है। जो पक्षी अपने पर्खों स आकाश में जितना अधिक दूर उड़ सकता है, वहां पर्खों की प्रशंसा है यही पर्खों का सौन्दर्य है। पर्णसौन्दर्य केवल उड़ने स सम्बन्ध रखता है। इतर पक्षियों की अपेक्षा गरुड़ पक्षी अधिक वेग स, अधिक दूर तक उड़ सकता है, अत एव इसके पर्ण इतर पक्षियों की अपेक्षा सुपर्ण (सुन्दर) माने जाते हैं। गरुड़ पक्षी क इसी पर्ण सौन्दर्य के कारण

वैज्ञानिकोंने इसे-"सुपर्ण" (अच्छे पत्र वाला) कहा है। अत एव इसे खगेश्वर कहा गया है-'वीर्य्यं वै सुपर्णा गरुत्मान्" (शत० १०।५ ।४।)। यही स्थिति आध्यात्मिक जीवात्मा की है। पक्षी अधिक से अधिक भू-वायु का लगपरा कर सकता है। परन्तु हमारा यह कर्ममात्रा जीवात्मा तो सुदूरस्थित विविध लोकों में आया करता है। यहाँ तक कि पृथिवी के २१ अहर्गण पर सूर्य्य है—"एकविंशो वा इत (पृथिवीलोकात्) आदित्य (तै० ब्रा० १।१।१०।१) वहाँ तक यह जा सकता है। भला इस से अधिक दूर जाने की किस पक्षी में शक्ति है ? जीव के साथ प्रत्यगात्मरूप ईश्वर भी नित्य सम्बद्ध रहता हुआ घटाकाशावियत् लोकान्तर में जाता है। ईश्वरगर्भित जीव लोकान्तर में क्या जाता है मानो यह पक्षी लोकान्तर में घूम रहा है। यही इन दोनों की सुपर्णता है। इसी सुपर्णसादृश्य से प्राणाचार्यों ने आत्मगति में आत्मा इस प्रेत जीव का "गरुड़"* नाम से व्यवहृत किया है। इसीलिए इन सद्गुणों को 'सुपर्ण' (अच्छे-रश्मियोंवाली पत्रों) वाला पक्षी शब्द से व्यवहृत करना अन्वर्थ बन जाता है। अपिच सुपर्ण शब्द का दूसरा अर्थ है—सुनहरी पक्ष। अग्नि को हिरण्यरेता कहा जाता है। हिरण्य ही सुवर्ण है। उधर अग्निप्रमूर्ति को ही हमने साक्षी कहा है। जीव भी इसी का अंश होता हुआ अग्निप्रमूर्ति ही है। इस हिरण्य अग्नि के सम्बन्ध से भी इसे सुपर्ण (सुनहरी-आग्नेय-पत्रवाला) कहना उचित होता है। अपिच, इन सातों ही पादार्थों का सुपर्णचिति नाम से प्रसिद्ध अग्निचिति से सम्बन्ध है। भूपिण्ड से निकलने वाला पार्थिव अग्नि ठीक पक्षी के आकार में परिणत होकर ही २१ स्तोम पर्य्यन्त वितत रहता है। और सम्वत्सर से युक्त होकर यह सम्वत्सर रूप ही बन जाता है। इसी रहस्य का वैज्ञानिकों ने सुपर्णाख्यान रूप से निरूपण किया है। पार्थिव अग्नि गायत्री है। यह सुपर्ण पक्षी बन कर ही २१ वें सूर्य्य से ऊपर रहने वाले सौम्य-गन्धर्वप्राणों से सुरक्षित पारमेष्ठ्य सोमका अपहरण करती है। इसी आधार पर निम्न लिखित निगम वचन प्रतिष्ठित हैं—

१—"इमे वै लोका गायत्री" (शं० ब्रा० १२।१।१६)।

२—"अग्निर्ह वाव राजन् गायत्री मुखम्" (जै० उ० ४। २)।

---

* मरणानन्तर प्रेतात्मा शरीर से निकलकर किन किन लोकों में जाता है ? वहाँ क्या क्या फल भोगता है ? इत्यादि विषयों का निरूपण करने वाला अध्यात्मविज्ञानात्मक पुराण ही "गरुड़पुराण" नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ के प्रस्तुत अन्तर्गतखण्ड आत्मपरीक्षा में तदुपयोगी इसी का प्रयत्न करते हैं।

३—"यद् गायत्री श्येनो भूत्वा दिव सोममाहरत्—तेन सा श्येनः"

(शत० ३। ।२।१२)।

४—"तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत् । त गायत्र्याहरत्" (ऐ० ११।३।१०। ।

५—"इमऽउ लोकाः संवत्सर" (शत ८ ।१।१०)।

६—"अग्निर्वाव संवत्सर" (तां० ब्रा० १७ १३।१७)।

उक्त वचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि, पार्थिव त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित गायत्राग्नि, संवत्सर, श्येन, आदि तत्त्व अपेक्षया भिन्न भिन्न नामों से व्यवहृत होते हुए भी अभिन्नेन अभिन्नार्थ के ही बोधक हैं। इस पञ्चचितिक आग्निचयी का ही नाम ईश्वर, कि वा वैश्वसत्वात्मा है, यही संवत्सर प्रजापतिरूप महा सुपर्ण है। इ ी का अशरूप जीव क्षुद्र सुपर्ण है। सुपर्णों की इसी सुपर्णता का विशदरूप करती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है—

ईश्वरः—१—' अथ ह शाऽएष महासुपर्णं एव यत् सम्वत्सरः । तस्य—यत् पुरस्ताद्विषुवतः षण्मासानुपयन्ति सोऽन्यतर पक्ष । अथ यान् षडुपरिष्टात् सोऽन्यतरः । आत्मा विषुवान् ॥" (शत० १२।२।३।७)

जीव —२—"पुरुष सुपर्ण" (शत ७।४।५।१)

हाँ इस सम्बन्ध में इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि, यदि सुपर्ण शब्द का "पञ्चचितिक अग्निमय पुरुष सुपर्ण है" यह अर्थ अभिप्रेत है, तब तो आत्मगति से कोई सम्बन्ध न रखने वाला विश्वस्वरूप सम्वत्सरात्मक त्रैलोक्य व्यापक विश्वात्मरूप ईश्वर ही सुपर्ण शब्द से व्यवहृत किया जासकता है। यदि सुपर्ण का—'आकाश में पक्षों से गमन करने वाला सुन्दर पक्षी सुपर्ण है" यह अर्थ है तो उस दशा में विश्वरूप शारीरोपाधिक प्रत्यगात्मेश्वर का ही वाची सुपर्ण शब्द न मानना पड़ेगा। 'द्वा सुपर्णा०" इत्यादि में सुपर्ण शब्द से इसी आध्यात्मिक सुपर्णयुग्म का ग्रहण अपेक्षित है। कारण—दोनों सुपर्णों का समान (एक) वृक्ष में अवस्थान दोनों का सयुग् भाव अध्यात्मसंस्था में ही सम्भव होसकता है। अधिदैवतसंस्था का व्यापक सम्वत्सरात्मक—विश्वात्मक महासुपर्ण भौतिक विश्व का समानरूपसे साक्षी भले ही मान लिया जाय पर अपने इस व्यापकरूप से यह अध्यात्मसंस्था का साक्षी नहीं माना जासकता। साथ ही में इस व्यापक का इस परिच्छिन्न विश्वात्मा के साथ समान वृक्ष

में अवस्थान, एवं सयुग्भाव भी उपपन्न नहीं होसकता। इस प्रकार त्रिकल आत्मा, त्रिकल ब्रह्म, त्रिकल देव, इन तीन युग्मों में आत्म विवर्त्त समाप्त है। उत्तर उत्तर का युग्म पूर्व पूर्व के आधार पर प्रतिष्ठित है। इस क्रम से देवसत्ययुग्म में शेष दोनों आत्म-ब्रह्मयुग्मों की सत्ता सिद्ध होजाती है। देवसत्यात्म-परिज्ञान से सब कुछ विज्ञात है। देवसत्यात्मयुग्म त्रिकल है, इसी आधार पर "त्रि सत्या ह देवाः" यह अनुगम प्रतिष्ठित है।

अपरिच्छिन्न का परिच्छिन्न बन जाना ही मृत्युबन्धन, यही मर्त्य भाव है। इस सीमा परिच्छिन्न-मृत्युघन— भाव के तारतम्य से विश्व पर्व्व में (महामाया के गर्भ में प्रतिष्ठित सब दोनों विवर्त्तों का हम मार्ग कह सकते हैं। इस दृष्टि से विशुद्ध मायातीत आत्मा केवल विश्वातीत अक्षर परात्पर ही है। यही साक्षी स्थिति है यही साक्षी उपनिषत् है। इस के गर्भ में प्रविष्ट सभी आत्मविवर्त्त परस्पर की अपेक्षा भोक्ता भी हैं, भोग्य भी हैं। साक्षी भी हैं, भोक्ता भी हैं। यदि इस आत्मयुग्म को ही लीजिए। अवान्तर युग्मों की अपेक्षा साक्षी बनता हुआ भी षोडशीगर्भित महदक्षर परात्परदृष्ट्या भोग्य है। परात्पर चिदात्मा है, पुरुष चिदंश है। परात्पर साक्षी है, पुरुष भोक्ता है। परात्पर प्रतिष्ठा है, पुरुष प्रतिष्ठित है। परात्पर भोक्ता है पुरुष भोग्य है। स्वयं आत्मविवर्त्त में निष्कल महदक्षर चिदात्मा है साक्षी है। षोडशी चिदंश है, भोक्ता है। इस की अपेक्षा ब्रह्म आत्मविवर्त्त भोग्य है, आत्मयुग्मसाक्षी है। स्वयं ब्रह्मसत्यविवर्त्त में पञ्चाक्षर साक्षी है, रूपाक्षर भोक्ता है। इस की अपेक्षा देवसत्यात्मविवर्त्त भोग्य है, ब्रह्मसत्यात्मयुग्म साक्षी है। स्वयं देवसत्यात्मविवर्त्त में त्रैधातव्यक्षर साक्षी है जीवप्रजापति भोक्ता है। सुवर्ण कश्यप इस अन्तिम सीमा का नाम है। कारण आत्मगति के साथ इस सब आत्मविवर्त्तों का ही सम्बन्ध है।

एक बात ध्यानमें रखिए। सभी आत्मसंस्थाओं में एकमात्र अव्यय की प्रधानता सामनस्कादि-पुरुषात्मा— है—"मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय" (गीता॰ ७।७)। अव्यय ही मन प्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी। अव्यय का आनन्दघन मन विज्ञानघन प्राण अर्थघन वाक् है। यही सी माया में बंधा अव्यय अक्षर-क्षर रूपमें विकसित होता है। स्वयं अव्यय मनःप्रधान होता हुआ ज्ञानप्रधान है। अक्षर प्राणप्रधान होता हुआ क्रियाप्रधान है। क्षर वाक्प्रधान बनता हुआ अर्थप्रधान है। मनःप्रधान से स्वयं आत्मरूप अव्यय प्रधान है ब्रह्मसत्यात्मयुग्म अक्षरप्रधान है देवसत्यात्मयुग्म क्षरप्रधान है। प्रत्येक में पुनः मनःप्राणवाङ्मयत्वात् ज्ञान एवं ज्ञानक्रियार्थमूर्ति अव्यय-अक्षर-क्षर का विकास है। परात्पर

के लिए आत्मयुग्म को ही लीजिए। इस में भी पहिले विशुद्ध पञ्चकल अव्यय नामक महेश्वर को लीजिए। इस की पांच कलाओं में से आनन्द विज्ञान का एक विभाग है। यह विभाग ज्ञान प्रधान बनता हुआ अव्ययप्रधान है। प्राणवाक् का स्वतन्त्र विभाग है। यह विभाग भय प्रधान बनता हुआ क्षरप्रधान है। मध्यस्थ उभयात्मक मन का स्वतन्त्र विभाग है। यह उभयात्मक बनता हुआ सन्तुस्थानीय बनता हुआ अक्षरप्रधान है। कवल सृष्टिसाक्षी त्रिकल अव्यय में मन ज्ञानघन बनता हुआ अव्ययप्रधान, प्राण क्रियाघन बनता हुआ अक्षरप्रधान, वाक् अर्थघना बनती हुई क्षरप्रधाना है। षोडशी संस्था में पञ्चकल अव्यय ज्ञानप्रधान बनता हुआ मनोमय, पञ्चकल अक्षर क्रियाप्रधान बनता हुआ प्राणमय, एवं पञ्चकल क्षर-अर्थप्रधान बनता हुआ वाङ्मय है।

महासत्यात्मरूप दूसरे युग्म का विचार कीजिए। इस में भी पहिले विशुद्ध अक्षरात्मक अव्ययपारीण ओंकारात्मक अक्षरेश्वर पर दृष्टि डालिए। प्रज्ञस्थानीय, पार्थिव संस्था का अनुग्राहक विशुद्ध अक्षरमूर्ति वही अक्षरेश्वर मकारात्मक अत एव वाक्प्रधान क्षर है। भ्रूगीव स्थानीय, सौरसंस्था का अनुग्राहक विशुद्ध अक्षरमूर्ति वही उकारात्मक अक्षरेश्वर प्राणप्रधान अक्षर है। एवं ओंकारस्थानीय, स्वायम्भुव संस्था का अनुग्राहक विशुद्ध अक्षरमूर्ति वही अकारात्मक अक्षरेश्वर मनःप्रधान अव्यय है। पर (अव्यय) परम (अक्षर) अवर (क्षर) रूप ओंकारात्मक विशुद्ध ही पारोवरीण विशुद्ध अक्षरमूर्ति अक्षरेश्वर नामक महासत्यात्मा है। इसे स्वरसंस्था में से प्रत्येक का विचार कीजिए। पहिले स्वयम्भू को लीजिए। * स्वयम्भू के वेद-सूत्र-नियति-भेद से तीन मनोता माने गए हैं। वेदमूर्ति वही स्वयम्भू ब्रह्माग्निरूप ज्ञान का प्रवर्त्तक बनता हुआ वेदावच्छेद से मनोमय बनता हुआ अव्ययप्रधान है। सम्बन्धसूत्रावच्छेदेन वही प्राणमय बनता हुआ अक्षरप्रधान है। नियति-सम्बन्ध से वही वाङ्मय बनता हुआ आत्मक्षरप्रधान है। इन तीनों विवर्त्तों का स्वरूप पूर्व की अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत् में बतलाया जा चुका है। इसी प्रकार परमेष्ठी नाम के उपेश्वर में इडा (मनोमय अव्यय , ऊर्क् (प्राणमय अक्षर) भोग (वाङ्मय क्षर) इस रूप से, सूर्य्योपेश्वर में ज्योति (वाङ्मय क्षर), गौ (प्राणमयम क्षर), आयु (मनोमय अव्यय) इस रूप से चन्द्रोपेश्वर में रेत (वाङ्मय क्षर), श्रद्धा (प्राणमय अक्षर) यश (मनोमय अव्यय)

* इस विषय का विशद स्पष्टीकरण ईशोपनिषत् विज्ञानभाष्य प्रथमखण्ड के पुरुषात्मादि-करणान्तर्गत "मनःप्राणवाङ्मय अव्यय की व्यापकता" नाम के प्रकरण में देखना चाहिए।

इस रूप से, एवं मूर्तिस्वरूप सर्वेश्वर में वाक् (वाङ्मय क्षर), गौ (प्राणमय अक्षर), द्यौ (मनोमय अव्यय), इस रूप से तीनों पुरुषों का अवस्थान सिद्ध हो जाता है।

सर्वान्त में देवसत्यात्मरूप तीसरे विवर्त्त का विचार कीजिए। इसमें भी साक्षीरूप परमात्मविवर्त्त पर पहिले दृष्टि डालिए। इसकी वैश्वानर–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञ, ये तीन कलाएँ हैं, जैसा कि मनुष्य में भी स्पष्ट होने वाला है। इनमें अर्थप्रधान वैश्वानर वाङ्मय क्षर की विकास भूमि है। क्रियाप्रधान हिरण्यगर्भ प्राणमय अक्षर से अनुगृहीत है। एवं सर्वज्ञ मनोमय अव्यय के अनुग्रह से युक्त है। इसी प्रकार भोक्ता (जीवसुपर्ण) देवसत्यात्मा की वैश्वानर–तैजस प्राज्ञ, ये तीनों कलाएँ क्रमशः क्षर–अक्षर–अव्यय से सम्बन्ध रखती हैं। यह है स्थूलनिदर्शन। यदि पराक्रमानुसार इस त्रिपुरुष की व्याप्ति के सूक्ष्म दर्शन किए जाते हैं, तो अन्ततः त्रिपुरुष पर विश्राम करते हुए, इसके द्वारा पञ्चकलपुरुष तद्द्वारा निष्कल पुरुष, सर्वान्त में उसी अव्यय परात्पर का आश्रय लेना पड़ता है—"एतदात्म्यमिदं सर्वम्"। उक्त विषय का निम्नलिखित तालिकाओं से स्पष्टीकरण हो जाता है।

१—आत्मन्वीविवर्त

- १
  - १– परात्परे मायापरिग्रहसम्बन्धात् सीमा सन्, मायोपाधिको विभक्तः पुरुषोऽव्ययः
  - २– अव्ययो ब्रह्म (योगमाया परिग्रहसम्बन्धात्, योगमायोपाधिकः योगमायी महेश्वरः
  - }—महेश्वरप्रजापतिः—अमृतात्मयुग्म (आत्मविवर्त्त)

———•———

- २
  - १– योगमायिपुरुषो गुणपरिग्रहयोगात्, पञ्चपुरुषीरूपस्मये महेश्वरः सम्पन्नः
    - } विश्वेश्वरप्रजापति
  - २– सम्परमपि विश्वपरिग्रहयोगात्, स पर पु० सन्त् भूः-एकैक-पुरुष पुरुष प्रत्येकेशा महात्मानः
    - }—उपेश्वरप्रजापतयः
  - }—ब्रह्मसत्यात्मयुग्म (ब्रह्मविवर्त्त)

———•———

१ —
१— सर्वहुतमूर्तिः वैश्वानरहिरण्यगर्भ- सर्वज्ञत्वात्मा प्रत्यगात्मा साक्षी सुपर्णः — ईश्वर
———
२— विराड्ग्निमूर्तिर्वै तैजस प्राज्ञ- कृतात्मा भावरूपविपरिणामात् शारीरात्मा मोक्ष सुपर्णः — जीव
— ईश्वरप्रजापतिः — देवसत्यासुग्म (देवविपत्ते)

———

२—चिदात्म—चिदंशविपर्व—

१—
१—सर्वेषामपिरिष्टरसमूर्तिरमायी-अखण्डः परात्पर ——— चिदात्मा—विशुद्धात्मा
२—षोडशकलो महामायी विश्वव्यापको महेश्वर ——— चिदंश —आत्मन्वी
———

२—
१—मायामात्रो निष्कलो विशुद्धोऽव्ययपुरुष ——— चिदात्मा—आत्मन्वी
२—अव्ययपराक्षरक्षररूप षोडशकलस्त्रिपुरुषः पुरुष ——— चिदंश—आत्मन्वी
———

३—
१—षोडशकलस्त्रिपुरुष पुरुषो महेश्वर ——— चिदात्मा—आत्मन्वी
२—सर्वेश्वर विश्वेश्वर-कृतरूपो ब्रह्मसत्यात्मा ——— चिदंश —आत्मन्वी
———

४—
१—अक्षरपारीणो परमेश्वरो ब्रह्मसत्यात्मा ——— चिदात्मा—आत्मन्वी
२—पृथक्संस्थाः स्व० प० सू० च० भू० इत्येवा रूपेश्वराः—चिदंश —आत्मन्वी
———

५—
१—रूपेश्वरविश्वेश्वररूपो ब्रह्मसत्यात्मा ——→ चिदात्मा—आत्मन्वी
२—अभिब्रह्ममूर्तिस्त्रैलोक्यव्यापको देवसत्यात्मा ——→ चिदंश —आत्मन्वी
———

६—
१—वैश्वानर हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्ति-मेघासंवत्सरात्मको महासुपर्णः → चिदात्मा—आत्मन्वी
२—वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्ति-शरीरोपाधिविशिष्ट-साक्षी सुपर्णः प्रत्यगात्मा → चिदंश —आत्मन्वी

———

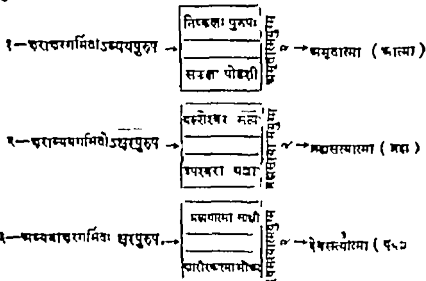
७—{ १—महासंवत्सरगर्भाभिन्नः साक्षी प्रज्ञानात्मा——चिदात्मा—आत्मन्वी
२—वै०-तैजसप्राज्ञकृतमूर्तिर्भोक्ता सुपर्णः शारीरकात्मा-चिदरा—आत्मन्वी

——*——

८—{ १—विरजमपापं-विशुद्धं शरीरम्-चिदात्मनः साक्षिणः
२—शरीरमपापं-विशुद्धं जगत्-चिदंशस्य भोक्तुः

——*——

३—त्रिपुरुषविवर्त



—मनःप्राणवाङ्मयविवर्त—

१—प्राणवाग्गर्भितं त्रिवृन्मनः——मनःप्रधानः—अमृतात्मा ज्ञानमयः
२—मनोवाग्गर्भितस्त्रिवृत् प्राणः——प्राणप्रधानः—महदात्मा क्रियामयः
३—प्राणमनोगर्भिता त्रिवृता वाक्——वाक्प्रधानः—देवसत्यात्मा-अर्थमयः

——————

४—मानमात्रपरिवर्त—

१— { १—आत्मा परात्पर————————आत्मा (साक्षी)
२—निष्कलाव्ययपुरुष षोडशीपुरुष—आत्मा (आत्मा

——•——

२– १—निष्कलोऽव्ययपुरुषः ———भोक्ता (साक्षी)
२—षोडशी महेश्वरः ———भोग्यः (भोक्ता)

—— ० ——

३– १—षोडशीपुरुषो महेश्वरः ———भोक्ता (साक्षी)
२—सोपेश्वरो सर्वेश्वरः ——— भोग्यः (भोक्ता)

—— ० ——

४– १—भवारपारीणो सर्वेश्वरः ———भोक्ता (साक्षी)
२—पञ्चोपेश्वराः पृथक् पृथक् ——भोग्यः (भोक्ता)

—— ० ——

५– १—सोपेश्वरो सर्वेश्वरः ———भोक्ता (साक्षी)
२—प्रत्यगात्माभिन्नो महासुपर्णः —भोग्य (भोक्ता)

—— ० ——

६– १—संवत्सरात्मको महासुपर्णः ——भोक्ता (साक्षी)
२—प्रत्यगात्मा साक्षी सुपर्णः ——भोग्यः (भोक्ता)

—— ० ——

७– १—महासुपर्णाभिन्नः साक्षी ———भोक्ता (साक्षी सुपर्णः)
२—शारीरको भोक्तात्मा ———भोग्यः (भोक्ता सुपर्णः)

—— ० ——

८—पुरुषात्मविवर्त्त—(पुरुष एवेद सर्वं यद् भूत यच्च भाव्यम्)

१—पञ्चकलाऽव्यया ज्ञान-काम-कर्ममूर्ति —

१—आनन्दविज्ञान (ज्ञानात्माव्ययः)→ज्ञानघनोऽव्ययः
२—मन (कामात्माव्ययः)———→क्रियाघनोऽक्षरः
३—प्राणवाक् (कर्मात्माव्ययः)— →अर्थघनः क्षरः

२—त्रिकलोऽव्यय सृष्टिसाक्षी—

१—ज्ञानमूर्तिर्मनः——— ज्ञानघनोऽव्ययः

२—क्रियामूर्तिः प्राणः ——— क्रियाघनोऽक्षरः

३—अर्थमूर्तिर्वाक् ——— अर्थघनः क्षरः

३—षोडशकलो महेश्वरः क्षराक्षरगर्भितोऽव्ययप्रधानः (सृष्टेरालम्बनम्)—

१—पञ्चकलोऽव्ययो मनोमयः—मनोऽव्ययरूपम्

२—पञ्चकलोऽक्षरः प्राणमयः—प्राणोऽक्षररूपम्

३—पञ्चकलः क्षरः वाङ्मयः—वाक् क्षररूपम्

४—सर्वेश्वरप्रजापतिर्विशुद्धाक्षरमूर्त्तिः

[illegible]

१—स्वायम्भुवसंस्थानुग्राहकः—ओङ्कारात्मको विशुद्धाक्षरमूर्त्तिर्मनोमयोऽकारः—अव्ययः

२—सौरसंस्थानुग्राहकः—भूर्भुवात्मको विशुद्धाक्षरमूर्त्तिः प्राणमय-उकार ——— अक्षरः

३—पार्थिवसंस्थानुग्राहकः—[illegible]त्मको विशुद्धाक्षरमूर्त्तिर्वाङ्मयो मकारः ——— क्षरः

५—सर्वेश्वरगर्भितः-अव्ययक्षरगर्भितोऽक्षरप्रधानः—उपेश्वर स्वयम्भूः (१)

१—वेदसत्यमूर्त्तिर्ब्रह्मा मनोमयः ——— अव्ययः (वेदाः)

२—सूत्रसत्यमूर्त्तिः कामात्मा प्राणमयः ——— अक्षरः (सूत्रम्)

३—नियतिसत्यमूर्त्तिः कर्मात्मा वाङ्मयः—क्षरः (नियतिः)

६—सर्वेश्वरगर्भितः—अव्ययक्षरगर्भिताक्षरप्रधानः—उपेश्वर—परमेष्ठी (२)

१—इदमूर्त्तिर्ब्रह्मप्रवर्त्तको मनोमयः—अव्ययः (इदम्)

२—ऋग् मूर्त्तिः क्रियाप्रवर्त्तकः प्राणमयः—अक्षरः (ऋक्)

३—सोममूर्त्तिरन्नप्रवर्त्तको वाङ्मयः—क्षरः (सोमः)

७—सर्वेश्वरगर्भितः—अव्ययक्षरगर्भिताक्षरप्रधानः—उपेश्वर सूर्यः (३)

१—आयुर्मूर्त्तिर्ज्ञानप्रवर्त्तको मनोमयः—अव्ययः (आयुः)

२—गौर्मूर्त्तिः क्रियाप्रवर्त्तकः प्राणमयः-अक्षरः (गौः)

३—ज्योतिर्मूर्त्तिरर्थप्रवर्त्तको वाङ्मयः—क्षरः (ज्योतिः)

८—परमेष्ठ्यक्षरगर्भित-अव्ययक्षरगर्भिताक्षरप्रधान-उपेश्वरश्चन्द्रमा (४)

१—यशोमूर्त्तिर्ज्ञानाधारो मनोमय—अव्यय (यश)
२—श्रद्धामूर्त्तिः क्रियाधारः प्राणमय—अक्षर (श्रद्धा)
३—रेतोमूर्त्तिरर्थाधारो वाङ्मय—क्षर (रेत)

— * —

९—परमेष्ठ्यक्षरगर्भित-अव्ययक्षरगर्भिताक्षरप्रधानः-उपेश्वरो भूपिण्ड (५)

१—द्यौमूर्त्तिर्ज्ञानसञ्चालको मनोमय—अव्यय (द्यौ)
२—गौमूर्त्तिः क्रियासञ्चालकः प्राणमय—अक्षर (गौ)
३—वाङ्मूर्त्तिरर्थसञ्चालको वाङ्मय—क्षरः (वाक्)

— * —

१०—अग्नित्रयमूर्त्तिः-अव्ययाक्षरगर्भितात्मक्षरप्रधान प्रत्यागात्मा साक्षी सुपर्णः (१)

१—सर्वज्ञमूर्त्तिरादित्यप्रधानो ज्ञानप्रधाना मनोमय—अव्यय (सर्वज्ञ)
२—हिरण्यगर्भमूर्त्तिर्वायुप्रधानः क्रियाप्रधाना प्राणमय-अक्षरः(हिरण्यगर्भ)
३—वैश्वानरमूर्त्तिरग्निप्रधानोऽर्थप्रधाना वाङ्मय—क्षर (वैश्वानर)

— * —

११—अग्नित्रयमूर्त्तिरव्ययाक्षरगर्भितात्मक्षरप्रधानः साक्षरणो-भोक्ता सुपर्णः (२)

१—प्राज्ञमूर्त्तिरादित्यप्रधानो० ——— अव्यय (प्राज्ञ)
२—तैजसमूर्त्तिर्वायु०——— ——अक्षरः (तैजस)
३—वैश्वानरमूर्त्तिरग्नि० ——— ——क्षरः (वैश्वानर)

अदिति के गर्भ में हमने विराट्प्रजापति की सत्ता बतलाई है। इसी विराट्प्रजापति को प्राणात्मोपनिषत् की उपनिषत्—हमने साक्षीपुरुष कहा है। यही हमारी इस प्राणात्मविद्योपनिषत् की मूल प्रतिष्ठा है। यही हमारा (जीवात्मा का) उपास्य ईश्वर है। पूर्वोक्त आत्मविवर्त्तों में से हम सुगमता पूर्वक इसी की उपासना कर सकते हैं, अत एव पूर्व की प्राणात्मसंस्थाचतुष्टयी में हमनें इसे सुविशेष कहा है। इस बात को न भूल जाइए कि, कर्म्म सदा विश्व से सम्बन्ध रखता है, उपासना एकमात्र अक्षरगर्भित देवता की ही होसकती है एवं ज्ञान का सम्बन्ध एकमात्र आत्मा के साथ ही है। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जासकता है कि, कर्म्मकाण्ड की मूलप्रतिष्ठा साक्षरण भौतिक विश्वरूप में परिणत आत्मा है, उपासना की आधारभूमि अक्षरगर्भित देवसत्यात्मा है, एवं ज्ञानकाण्ड का आलम्ब अमृतात्मस्वरूप अक्षरी पुरुष है। अथवा यों कहिए कि, भौतिक विश्व को साथ लेकर वही आत्मा साधन-साक्षरण बनता हुआ कर्म्म का

प्रवर्त्तक बनता है। प्राण (स्वयम्भू), आप (परमेष्ठी) वाक् (सूर्य्य), अन्न (चन्द्रमा) अन्नाद (भूपिण्ड) इन ब्रह्मसत्यात्मक पाँचों प्रकृतियों में नित्ययुक्त अग्नि वायु आदित्य को समष्टिरूप देवत्रयी को साथ लेकर महिरिज़ यही आत्मा उपासना का प्रवर्त्तक बनता है। एवं अपने विशुद्ध षोडशीरूप से यही ज्ञान का प्रवर्त्तक बनता है। सर्वातीत परात्पर (निराकार परमेश्वर) कर्म्म उपासना-ज्ञान तीनों धर्म्मों में बहिर्भूत होता हुआ सर्वथा निष्कर्म्म है। और सूक्ष्मविचार कीजिए। परात्परगर्भित अव्ययमूर्त्ति अमृतात्मा ज्ञानकाण्ड का, ब्रह्माव्ययगर्भित अक्षरमूर्त्ति ब्रह्मसत्यात्मानुगृहीत देवसत्यात्मा उपासनाकाण्ड का एवं अक्षराव्ययगर्भित क्षर (विकार क्षर) मूर्त्ति विश्व कर्म्मकाण्ड का आश्रय है। कर्म्म का भौतिक क्षरविवर्त्त से ही सम्बन्ध है—"क्षरः सर्वाणि भूतानि"। उपासना का कूटस्थ पर पकरूप से प्रतिष्ठित अतएव कूटस्थ नाम से प्रसिद्ध अक्षरविवर्त्त से ही सम्बन्ध है—"कूटस्थोऽक्षर उच्यते"। इसीलिए उपनिषदों ने इसी अक्षरप्रधान देवसत्यात्मा को किंवा देवसत्यसंस्था में विकसित अक्षर को उपास्य माना है जैसाकि श्रुति कहती है—

> धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत।
> आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥१॥
> प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
> अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥२॥ (मुण्डक २।२।४)

विशुद्ध अक्षर उपास्य नहीं है अपितु देवसत्यात्मगर्भित ब्रह्मसत्यावच्छिन्न अतएव ब्रह्म नाम से व्यवहृत सोपाधिक अक्षर ही उपास्य बनता है। यद्यपि उपासना का आश्रय ब्रह्म (ब्रह्मसत्यात्मक देवसत्यात्मा) है परन्तु प्रधान लक्ष्य वही अक्षर है। इन्हीं दोनों भावों को सूचित करने के लिए पहिले श्रुति ने 'लक्ष्यं तदेवाक्षरम्' यह कहा एवं आगे जाकर "ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते" यह कहा। ज्ञान का सर्वालम्बनरूप अव्ययविवर्त्त से ही सम्बन्ध है। इस आलम्बनरूप अव्ययप्रधान आत्मा को न आप उपासना कर सकते एवं न इस कर्म्म में समर्थ बनाया जा सकता। यह केवल बुद्धिगम्य (जानने की वस्तु) है—"तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः"। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर महर्षि कठ कहते हैं—

> एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
> एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ (कठोपनिषत् १।२।१६)

उपर्युक्त आत्मविवर्त के वैज्ञानिक पृथक्करण से असंस्कृतात्मा धर्मनिरपेक्ष विप्रों ने आज निराकार को उपास्यदेव मान रक्खा है। वहां उपास्य न निराकार आत्मा है न साकार आत्मा अपितु सगुण सविकार देवसत्यात्मा है। तभी तो इस उपास्य "देव" कहा जाता है, वहां निराकार की गाथा गाते रहने का कितना महत्त्व है? यह उन्हीं वेदभक्त निराकार-वादियों से पूछना चाहिए। हम तो विज्ञान प्रधान भारतवर्ष की इस अवैज्ञानिकता से सिवाय दुःखानुभव के और कर ही क्या सकते हैं।

१—षोडशीपुरुषोऽव्ययप्रधान ——————— ज्ञानकारकम्

२—ब्रह्मसत्यात्मगर्भितो देवसत्यात्माऽक्षरप्रधानः उपासनाकारकम्

३—पाञ्चभौतिक जगत् क्षरप्रधानम् ——————— कर्मकारकम्

———०———

१—क्षराक्षरगर्भितः—— अव्यय (अमृतात्मा) ——————— ज्ञानम्

२—क्षराव्ययगर्भित ——अक्षर (ब्रह्मसत्यगर्भित देवसत्यात्मा) —— उपासनम्

३—अक्षराव्ययगर्भित—क्षर (सर्वगर्भित वैकारिक जगत्) —— कर्म

———०———

इन तीनों विवर्तों से विज्ञ पाठकों को यह विदित हो गया होगा कि क्षराक्षरगर्भित अव्यय का ईश्वरसंस्था से सम्बन्ध है, क्षराव्ययगर्भित अक्षर का जीवसंस्था से सम्बन्ध है, एवं अक्षराव्ययगर्भित क्षर का जगत् संस्था से सम्बन्ध है। तीनों तीनों हैं इसलिए तीनों ही पूर्ण हैं— 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्"—"यदमुत्र तदन्विह'। विज्ञानभाषा के अनुसार इन तीनों को 'जगत्—ईश्वर—महेश्वर' नामों से व्यवहृत किया जाता है। जीवरूप भोक्ता सुपर्ण ईश्वररूप अक्षरप्रधान ब्रह्मसत्यात्मगर्भित उसी देवसत्यात्म नामक साक्षी सुपर्ण का अंश है, जैसा कि पूर्व में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है। न अव्यय जीव बनता, न क्षर। जीव बनता है देवसत्यात्मरूप अक्षर का अंश। अक्षर को पराप्रकृति कहा जाता है। यही जीवसृष्टि का प्रवर्तक है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

—— इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

यही अक्षर 'ब्रह्म तत्क्षरसमुद्भवम्' के अनुसार ब्रह्म है। प्रकृति को ही इसलिए ब्रह्म कहा जाता है। अक्षर-प्रतिपादक शारीरक दर्शन के 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' वाला सर्व धर्मोपपन्न यही अक्षरब्रह्म है। विश्व सम्बन्ध से आरम्भ में प्रतिपादित मायादि ६ कों परिग्रह

प मों का पूर्ण विकास नहीं होता है। ब्रह्मसूत्रभाष्य में "जन्माद्यस्य यतः" के अनुसार विशिष्ट ब्रह्म को जन्मस्थितिभङ्ग का कारण माना है। ऐसा ब्रह्म निर्धर्मक व्यापक तत्त्व नहीं हो सकता। वह तो एकमात्र अक्षर ही हो सकता है। कारण—"तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति" (मुण्डकोपनिषत् २।१।१) इत्यादि श्रुति अक्षर को ही जन्मस्थितिभङ्ग का कारण बतलाती है। "अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे। रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके (अक्षरे)" इत्यादि स्मृतियाँ भी उक्त गौण अर्थ का ही समर्थन कर रही हैं। ऐसी स्थिति में जो व्याख्याता अभिनिवेश में पड़कर अव्ययब्रह्म-प्रतिपादक वेदान्त दर्शन को अक्षरब्रह्म का प्रतिपादक मान रहे हैं, यह उनका मोहविलास ही समझना चाहिए। क्षर कार्यरूप जगत् है, अक्षर कारणरूप जगदीश्वर है, अव्यय कार्यकारणातीत सर्वालम्बन तत्त्व है। इन तीनों पुरुषों से अक्षर द्वारा सर्वेन्द्र जीवसृष्टि का विकास होता है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा।

यहाँ तक हमारा अनुमान है, पाठक इस आत्मविवर्त से ऊब गए होंगे। अच्छा तो <u>वैश्वानर–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञात्मक विराट् के दर्शन</u>—एक बार अपने आत्मस्वरूप (विराट् प्रजापति) के दर्शन कर विश्राम कीजिए। आकृति का स्वरूप बतलाते हुए इस में अग्नि-वायु-आदित्यात्मक, तीन स्वरूपों की सत्ता बतलाई गई है। अग्नि के ये तीन विवर्त जहाँ त्रिवृत्स्तोम के पूर्वक्रमानुसार ११ अवस्थाओं में परिणत हुए हैं, वहाँ पक्ष की अपेक्षा से इसकी १० अवस्थाएँ हो जाती हैं। दशाक्षरछन्द को ही विराट्छन्द कहा जाता है—"दशाक्षरा वै विराट्" (शत० १।१।१।२३)। पार्थिव प्राणाग्नि-तत्त्व दशाक्षर बनता हुआ अतएव विराट्संपत्ति से युक्त होता हुआ विराट् प्रजापति नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। त्रिवृत्स्तोमपर्यन्त व्याप्त गायत्र्याग्नि है, पञ्चदश पर्यन्त व्याप्त त्रिष्टुबाग्नि है, एवं एकविंश स्थान पर्यन्त व्याप्त [illegible] जगतीअग्नि है। इन तीनों अग्नियों की स्व स्व स्थानों में तो प्रधानावस्था रहती है, शेष दोनों लोकों में यही अङ्गरूप से व्याप्त रहते हैं। त्रिवृत्‌रूप पृथिवी पर्यन्त अग्नि प्रधानरूप से, पञ्चदश एवं एकविंश पर्यन्त अङ्गरूप से व्याप्त है। पञ्चदशरूप अन्तरिक्ष में त्रिष्टुब्रूप वाय्वग्नि प्रधान रूप से, एकविंश एवं त्रिवृत् में अङ्गरूप से व्याप्त है। एकविंशस्तोमरूप द्युलोक में इन्द्ररूप आदित्याग्नि प्रधानरूप से एवं त्रिवृत् पञ्चदश में अङ्गरूप से व्याप्त है। इस प्रकार महापृथिवी (अदिति पृथिवी) के अवयवभूत ९–१५–२१ स्तोमात्मक पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौः, तीनों में अग्नि-वायु-इन्द्र, तीनों की व्याप्ति सिद्ध हो जाती है। यह अवश्य समझ लेना चाहिए कि स्व स्व स्थान में तीनों की क्रमशः प्रधानता है। अतः अग्नि पृथिवी लोक का, वायु अन्तरिक्षलोक का, एवं आदित्य द्युलोक का अधिपति माना जाता है। स्वस्थान से अतिरिक्त तीनों की दोनों स्थानों में गौणता

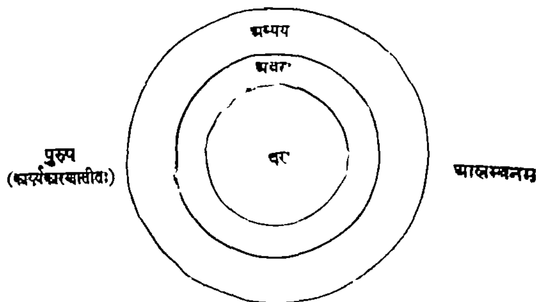
१—अव्ययसंस्था—पूर्णपुरुष

१—अव्ययसंस्था—पूर्णपुरुष

परावरगर्भित-अव्ययप्रधानः-ब्रह्म-देवसत्याधिष्ठाता

अमृतात्मा

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥



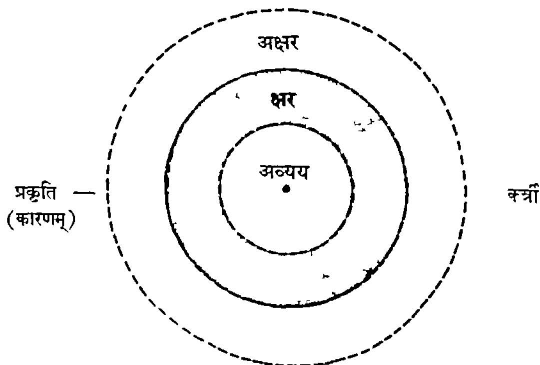
एतदालम्बनं श्रेष्ठ—एतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥

ज्ञानक्रियाधिष्ठाता

ज्ञानात्मा

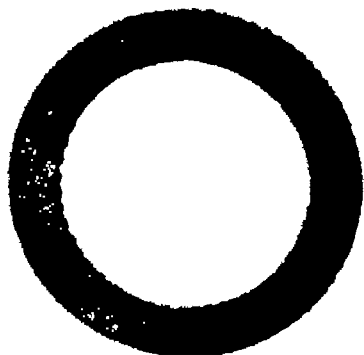
२ – अक्षरसस्था—पूर्णप्रकृति

क्षराव्ययगर्भित –अक्षरप्रधान ब्रह्मसत्यात्मक प्राकृतात्मा



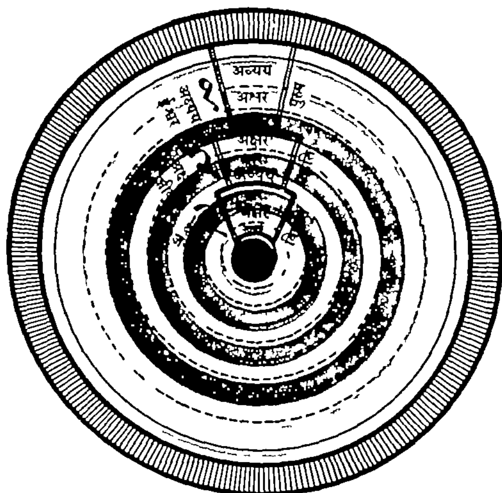
उपासनकाण्डाधिष्ठाता

क्रियात्मा



१ – समष्टि —

तदिदं सर्वम्



(विशिष्टाद्वैतमूर्त्ति —पुराणपुरुष)

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥१॥

है। [illegible] है। [illegible] [illegible] कहलाता है [illegible] कहलाता है [illegible] स्थित है। [illegible] वायु [illegible] ([illegible] वायु) [illegible] है। [illegible] वायु [illegible] कहलाता है। [illegible] वायु [illegible] स्थित है। [illegible] कहलाता है। [illegible] कहलाता है। [illegible] स्थित है। [illegible] [illegible] कहलाते हैं।

मातरिश्वा—
- १—"अयं वै वायुर्मातरिश्वा योऽयंपवते" ——— (शत० ६।४।३।४)
- २—"सर्वांदिशो (भूपिण्डस्य समन्तात्) ऽनुविवाति सर्वांदिशो ऽनुपवाति—स वा एष मातरिश्वैव" —(तै० ब्रा० ३।३।१५)

— ० —

पवः—
- १—"अयं वै पवो योऽयं (वायु) पवते"——(शत० ६। ।४।१४)
- २—"पवो ऽसा अस्या अवस्थानस्पष्टे"———(शत० ७।१।१।२)

— ० —

पवित्रः—
- १ "अयं वै पवित्रं योऽयं (वायु) पवते"—(शत० १।१ ३।२)
- २—"पवित्रं वै वायु" —— (तै० ब्रा० ३।२।५।११)

— ० —

वासवः
- १—"इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु" (शत० ३।५।२।४) ।
- २—"(वासवो वृत्रहा वृषा)" —(अमरः) ।

— ० —

मरुत्वान्
- १—"इन्द्रो वै मरुतां क्रीडि" (गो० उ० १।२३) ।
- २—"(इन्द्रो मरुत्वान्)"——(अमर ।

— ० —

मघवा
- १—"इन्द्रो वै मघवान्" (शत० ४।१। ।१४) ।
- २—"(मघवा बिडौजा)(अमर)

— ० —

अग्निः— (पृथिविप्रधानः)
- १—पवमानाग्नि—त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्नः पार्थिव—वसुरूप
- २—पावकाग्नि——पञ्चदशात्मा आन्तरिक्ष्य——रुद्ररूप
- ३—शुचिरग्निः ——एकविंशात्मा दिव्य ———आदित्यरूप

— ० —

वायुः— (आन्तरिक्षप्रधानः)
- १—मातरिश्वा वायु—त्रिवृत्० पार्थिवः——वसुरूपः
- २—यम वायुः ——पञ्चदशो आन्तरिक्षः रुद्ररूपः
- ३—पवित्रवायु——एकविंश दिव्यो——आदित्यरूप

— ० —

इन्द्रः— (द्युप्रधानः)
- १—वासव, इन्द्र—त्रिवृत्० पार्थिवः——वसुरूपः
- २—मरुत्वानिन्द्र——पञ्चदश० आन्तरिक्ष्य—रुद्ररूप
- ३—मघवानिन्द्र——एकविंश दिव्य—— आदित्यरूपः

अग्नि-वायु-इन्द्र (आदित्य) इन तीनों देवताओं के (प्रत्येक के) तीन-तीन रूप क्यों होगए ?, इस प्रश्न का समाधान तानूनप्त्रविज्ञान पर निर्भर है। जिस याज्ञिक प्रक्रिया-विशेष के कारण इन तीनों देवताओं के शरीर सुरक्षित रहते हैं। जिस यज्ञ के आधार पर इन के तनू गिरने नहीं पाते, वही यज्ञेष्टि "तानूनप्त्रेष्टि" नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिव अग्नि अर्थशरीरी है आन्तरिक्ष्य वायु क्रियाशरीरी है, एवं दिव्य इन्द्र ज्ञानशरीरो है। ज्ञान-क्रिया-अर्थ, तीनों स्वतन्त्र रह कर कभी विकसित नहीं होसकते। इन तीनों में अर्थ, एवं क्रिया के बिना ज्ञान यद्यपि स्वस्वरूप से रह सकता है, परन्तु अर्थ, एवं क्रिया बिना नित्यपन्थी ज्ञान को आलम्बन बनाए जीवित ही नहीं रह सकते। यदि ज्ञान को अर्थ, तथा क्रिया का सहकार प्राप्त नहीं होगा तो वह निर्विकल्पक बनता हुआ विज्ञान (भावना) कोटि से बाहिर मात्र निकल जायगा परन्तु इस की स्वरूप हानि नहीं होगी। "अयं घटः—अयं पटः—अहं जानामि" इस प्रकार का लौकिक ज्ञान बिना अर्थ (विषय) के कभी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। उधर क्षणिक क्रिया बिना ज्ञानाश्रित विषय (अर्थ) को अपना आधार बनाए सर्वथा अनुपपन्न है। इस प्रकार विरुद्धोपाधिक ज्ञान-क्रिया-अर्थ, तीनों को ही स्वस्वरूप सिद्धि के लिए परस्पर तीनों का सहयोग अपेक्षित है। जब तक तीनों पृथक् है —(यद्यपि ऐसा संभव नहीं है) तब तक तीनों ही आसुर मायापन्न नास्तिसार बल से अभिभूत होते हुए पराजित हैं। जब तीनों परस्पर मिल जाते हैं, इस बात की प्रतिज्ञा (शपथ) कर लेते हैं कि, असुरबल को नष्ट करने के लिए अपन सदा मिल जुल कर रहेंगे, कभी अलग नहीं होंगे, तो इस संघशक्ति के प्रभाव से तीनों का सम्पूर्ण पार्थिव त्रैलोक्य (सम्वत्सर) में एकच्छत्र शासन हो जाता है। सम्वत्सर में से असुर निकल जाते हैं। इसी शपथ (प्रतिज्ञा) के कारण इन के तनू नहीं गिरने पाते, अत एव शपथ को भी विज्ञान भाषा में "तानूनप्त्र" नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। देवताओं का यह तानूनप्त्र कर्म्म (शपथ कर्म्म) वरुण के घर में होता है। भूपिण्ड के चारों ओर अर्णव समुद्र व्याप्त है। यही आपोमण्डल वरुणप्राण प्रधान होने से वारुणलोक कहलाता है। इसी वारुण अप्तत्त्व के आधार पर इन्द्राविष्णु की स्पर्धा से यत्र-लोक वाक्-साहस्रियों का वितान होता है, जैसा कि— 'इन्द्रश्च विष्णू यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्" इत्यादि रूप से पूर्व में कहा जा चुका है। इस तानूनप्त्र का विशद रहस्य शतपथ की तानूनप्त्रेष्टि में देखना चाहिए—(शत० ३।४।१।)।

अग्नितत्त्व सदा गायत्रीछन्द से छन्दित रहता है। अष्टाक्षर गायत्री छन्द के सम्बन्ध से इस गायत्राग्नि की आठ मात्राएं हो जाती हैं। अष्टाक्षर गायत्रछन्दा अग्नि के ही अग्नि-वायु-इन्द्र ये तीन विवर्त्त बतलाए गए हैं। इस दृष्टि से पार्थिव अग्नि-(अग्नि)-आन्तरिक्ष्य अग्नि(वायु)-दिव्याग्नि-(इन्द्र), तीनों की आठ आठ मात्राएँ हो जाती हैं। पार्थिव अग्नि की आठ मात्राओं

रिक्ष विश्वामित्रों को यही एकर्षि रुद्र मूल प्रतिष्ठा है, अत एव इसे महर्षि कहा गया है। मध्यस्थ आन्तरिक्ष अग्नि अव्यय के प्राणभाग से अनुगृहीत मध्यस्थ विष्णु-अक्षर से सम्बन्ध रखता है। एवं दिव्य अग्नि अव्यय के मनोभाग से अनुगृहीत शीर्ष स्थानीय ब्रह्माक्षर से सम्बन्ध रखता है। इन तीनों में भी रुद्र क्षरप्रधान अक्षर है, विष्णु अक्षरप्रधान अक्षर है एवं ब्रह्मा अव्यय प्रधान अक्षर है। उपासना का प्रधान सम्बन्ध अक्षर से है, इस की प्रधानता अक्षरमूर्ति विष्णु में है, अत: उपासनाकाण्ड में विष्णु ही प्रधान माने जाते हैं। इसी प्रधानता के आधार पर प्रजा को "वैष्णवी" कहा जाता है। रुद्र क्षरप्रधान अक्षर है, जैसा कि श्रुति कहती है—

> क्षर प्रधानममृताक्षर हर क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
>
> तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥
>
> (श्वे १।१)

अत एव भारतवर्ष में विष्णु की उपासना की अपेक्षा रुद्रोपासना की कम प्रधानता है। उधर अव्यय-प्रधान अक्षरमूर्ति ब्रह्मा की उपासना का प्रचार तो और भी कम है। क्यों कि अव्यय प्रत्येक दशा में अनुपास्य ही रहता है।

१—वैश्वानरमूर्तिरग्नीषोमाक्षरमयः क्षरप्रधानः—रुद्रः
२—हिरण्यगर्भमूर्तिरक्षरमयोऽक्षरप्रधानः—विष्णुः
३—सर्वज्ञमूर्तिः क्षराक्षरमयोऽव्ययप्रधानः—ब्रह्मा
} —विराट्

इन तीनों की समष्टि ही विराट् है। विराट् की उपासना से ईश्वर उपासित होता है। जो एक एक अङ्ग (देवता) की उपासना करते हैं, वे भी परम्परया ईश्वर की ही उपासना करते हैं।

१—अन्नादाग्निः—पार्थिवः—अग्निः
२—विश्वाग्निः—आन्तरिक्ष्यः—वायुः
३—अन्नाग्निः—दिव्यः—इन्द्रः
} —समन्वयात् विराडुत्पत्तिः

—•—

१—गार्हपत्याग्निरेकः—पार्थिवः
२—धिष्ण्याग्निरष्टकः—आन्तरिक्षः
३—आहवनीयाग्निरेकः—दिव्यः
} —स एव रुद्रविष्णुब्रह्ममूर्तिर्दशकला विराट्

—•—

१–अर्थ	१–पवमान पार्थिवाग्निः (अर्थ) २–मातरिश्वा पार्थिववायु (क्रिया) ३–वासव—पार्थिवेन्द्र (ज्ञानम्)	त्रिमूर्त्तिरग्निरर्थप्रधान पार्थिव (१	पृथिवी
२–क्रिया	१–पावक—आन्तरिक्ष्योऽग्नि (अर्थ) २–यमा—आन्तरिक्ष्यो वायु (क्रिया) ३–मरुत्वान्–आन्तरिक्ष्य इन्द्र (ज्ञानम्)	त्रिमूर्त्तिर्वायुः क्रियाप्रधानः आन्तरिक्ष (८)	अन्तरिक्ष
३–ज्ञानम्	१–शुचि—दिव्याग्निः—अर्थ) २–पवित्र—दिव्याग्नि—क्रिया) ३–मघवा—दिव्य इन्द्र –(ज्ञानम्)	त्रिमूर्त्तिरिन्द्र–ज्ञानप्रधानो दिव्य (१)	द्यौ

त्रैलोक्य—विराट्समष्टिरीश्वर साक्षी

पाठकों को स्मरण होगा कि, इस विराट् प्रकरण के आरम्भ में हमने महिमा–पृथिवी में रहने वाले अमृतभावापन्न अग्नि, एवं सोम, दोनों की संभूत पांच अवस्थाएँ बतलाई हैं—(देखिए पृ० सं० २८४)। पार्थिव अग्नि वायु आदित्य, तीनों को पूर्व में उक्थ अर्क-भेद से दो दो अवस्थाएँ बतलाई हैं। इन दोनों में उक्थावस्था मूलप्रतिष्ठा बनती हुई आत्मा है, एवं अर्कावस्था तूलप्रतिष्ठा बनती हुई प्राण है। प्राणों की अनुचीन, मुख्य, भेद से दो जातियाँ हैं। मुख्यप्राण आत्मा है। यही उक्थ है, इसी को छान्दोग्यश्रुति ने उद्गीथ कहा है। इस उक्थ (बिम्ब) रूप उद्गीथात्मक आत्मप्राण से निकलने वाले पञ्चप्राण अनुचीन नाम से व्यवहृत होते हैं। ये अङ्गप्राण हैं। "यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश" (मुण्डकोपनिषत् ३।१।९ के अनुसार आत्मप्राणरूप उस मुख्य प्राण में ये पांच अनुचीन अङ्ग प्राण नित्य युक्त रहते हैं। वह मुख्य प्राण अग्नीषोमात्मक है। अत एव उससे निकलने वाले ये पांचों अङ्गप्राण भी अग्नीषोमात्मक ही हैं। इन में तीन अग्निप्रधान हैं, दो सोम किंवा अप्प्रधान हैं। ये पांचों उसी उद्गीथ की उपासना किया करते हैं। यही उद्गीथ उक्थ एवं श्रेष्ठ प्राण माना गया है। मुख्यप्राण के इसी आत्मभाव का निरूपण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

> "अथ ह य एवायं मुख्यप्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे।
> तं हासुरा ऋत्वा विदध्वंसुः+++आगाता ह वै का-
> मानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते" (छां० १।२)।

में से ४ मात्रा पर तो स्वयं अग्नि प्रतिष्ठित होता है। एवं शेष चार में से २ पर वायु, २ पर इन्द्र प्रतिष्ठित है। इस प्रकार अग्रभाग में अग्नि की सत्ता सिद्ध हो जाती है एवं अर्द्धभाग में वायु, तथा इन्द्र दोनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। फलतः पार्थिव अग्नि अग्नि वायु इन्द्रात्मक बनता हुआ सर्वमूर्त्ति बन जाता है। अग्नि अर्थ है वायु क्रिया है, इन्द्र ज्ञान है। अग्नि यद्यपि त्रिमूर्त्ति है, तथापि प्रधानता अर्थमूर्ति अग्नि की ही है। अत—इस त्रिदेवमूर्त्ति अग्नि को अर्थशक्ति का ही अधिष्ठाता माना जाता है। पृथिवी एक विश्व है, अन्तरिक्ष एक विश्व है, द्युलोक एक स्वतन्त्र ही विश्व है। इन तीनों विश्वों के अग्नि-वायु-इन्द्र, ये तीन नर हैं। त्रिमूर्त्ति तापधर्मा अग्नि इन्हीं विश्वनरों के समन्वय से संपन्न हुआ है। अत एव इसे "वैश्वानर" कहा जाता है। यह त्रैलोक्य में व्याप्त है इसी आधार पर "वैश्वानरो यतते सूर्य्येण"(ऋक्सं १।९८।१। आ यो द्यां भात्या-पृथिवीम्" यह कहा जाता है। ठीक यही व्यवस्था आन्तरिक्ष्य वायु, दिव्य इन्द्र की आठ आठ मात्राओं के सम्बन्ध में समझिए। वायु में से चार में वायु, २-२-में अग्नि-इन्द्र हैं। इन्द्र में से चार में स्वयं इन्द्र, २-२-में अग्नि-वायु हैं। यही त्रिमूर्त्ति वायुप्रधान अत एव क्रियाप्रधान वायु हिरण्यगर्भ नाम से त्रिमूर्त्ति इन्द्र प्रधान अत एव ज्ञान प्रधान इन्द्र सर्वज्ञ नाम से प्रसिद्ध है। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि पार्थिव अग्नि अग्नि है, इसमें सोमस्थानीय वायु-इन्द्र की आहुति से वैश्वानर का जन्म होता है। वायु अग्नि है, इसमें अग्नीन्द्र की आहुति से हिरण्यगर्भ प्रकट होता है। एवं इन्द्र अग्नि है, इसमें अग्निवायु की आहुति होने से सर्वज्ञ का विकास होता है। सर्वज्ञ (ज्ञान) की प्रतिष्ठा हिरण्यगर्भ (क्रिया) है हिरण्यगर्भ की प्रतिष्ठा वैश्वानर (अर्थ) है। वैश्वानर की प्रतिष्ठा भूपिण्ड है। भूपिण्ड से आरम्भ कर त्रिकलयुक्त त्रिमूर्त्ति इत्याकार अग्निमूर्त्ति विराट पुरुष खड़ा हुआ है। समष्टि रूप से एक अग्नि ही विराट् है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

> दश वा एतानग्नींश्चिनुते। अष्टौ धिष्ण्यान्, आहवनीयं च-
> गार्हपत्यं च। तस्मादाहुर्विराडग्निरिति। दशाक्षरा हि विराट्। तान्नु
> सर्वान्नक्र इमेवाग्निरस्तु-स्त्यग्निरिति। एतस्यैवैतानि सर्वाणि रूपाणि"
> (शत० १।३।१। ११।) इति॥

वैश्वानर इसके पाद हैं, हिरण्यगर्भ हृदयस्थानीय है, सर्वज्ञ शिरःस्थानीय है भूपिण्ड प्रतिष्ठा है जैसा कि पूर्व का इसका प्रकृति में स्पष्ट कर दिया गया है। अग्नित्रयमूर्त्ति सम्वत्स रात्मक यह विराट्प्रजापति स्वसिसृक्षा से पवित्रबोल्व धारण कर लेता है। विराट् अग्निमूर्त्ति है यह अन्नाद की ही अवस्थान्तर है। अन्न सोम के बिना यह अप्रतिष्ठित है। फलतः विराट् का

अग्निसोममूर्त्ति मानना आवश्यक हो जाता है। एक स्थान पर अग्नि आधार है सोम आधेय है, यही पति है। अन्यत्र सोम आधार है, अग्नि आधेय है, यही पत्नी है। सोमगर्भित अग्नि वृषा है, अग्निगर्भित सोम योषा है। वृषा पुरुष है, योषा स्त्री है। दोनों स्वतन्त्र विराट् हैं। दोनों में १०-१० कला अग्नि विद्यमान है। केवल अग्नि सोम की प्रधानता अप्रधानता का तारतम्य है। दोनों एकमूर्त्ति बन कर त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित हैं। दोनों में प्रधानता अतएव अग्नि पुरुष की ही है, अतः विराट को पुरुष शब्द से ही व्यवहृत कर दिया जाता है। योषा-वृषात्मक इसी विराट्-मिथुन से प्रजोत्पत्ति होती है। पति-पत्नी-भाव से यह विराट् सर्वत्र विराजमान हो रहा है। यह "विराजते" से ही विराट् नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। हमारे प्रकरण का यही साक्षी सुपर्ण है। तन्त्र परिभाषा के अनुसार यही 'पक्षीराज' नाम से प्रसिद्ध है। उपनिषत् परिभाषा के अनुसार यही 'सर्वभूतान्तरात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। यज्ञपरिभाषानुसार यही 'सर्वहुतयज्ञ' नाम से प्रसिद्ध है। अध्यात्मभाषानुसार यही 'प्रत्यगात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। विज्ञानभाषा में यही 'देवसत्यात्मा' नाम से प्रसिद्ध है—"सोऽनुष्टव्य , स विजिज्ञासितव्यः, स उपासितव्यः, सोऽन्वेष्टव्य"। इस में आवरण मूलक क्लेशकर्मादि का अभाव है। अत एव इस का—"क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" यह लक्षण किया जाता है।

इसी त्रैलोक्य व्यापक अग्निमूर्त्ति विराट की रुद्ररूप से भी उपासना की जासकती है, ब्रह्मरूप से भी की जासकती है, विष्णुरूप से भी की जासकती है। क्यों कि सर्वशक्तियुत अग्नि का अध्यय के भागभाग से अनुमेहोत इन्द्र-सोम-अग्नि समष्टिरूप तीनों अक्षरों से सम्बन्ध है। अक्षरत्रय समष्टि ही रुद्र, किंवा शिव है। यह मूल में सब की प्रतिष्ठा बना हुआ है। व्यक्त मूर्त्ति वरप्रधान बनता हुआ यह दयार्द्रित शीघ्र ही आत्मसात् होजाता है अत एव इसे "आशुतोष" कहा जाता है। यही रुद्र त्रैलोक्यव्याप्ति रूप में परिणत होते हुए विष्णु और ब्रह्मा की प्रतिष्ठा बनते हुए विश्वाधिप बन रहे हैं, जैसा कि भगवान् श्वेताश्वतर कहते हैं -

> यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
> हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ (श्वे० ३।४)

इस का पार्थिव प्राणाग्नि से सम्बन्ध है, इसी को ऋषिविज्ञान के अनुसार वेद में पवमान कहा है। रुद्रमूर्त्ति पवमानाग्नि प्राणरूप होने से 'ऋषि' है। अत इस प्रकार शब्द से व्यवहृत किया गया है—"अग्निर्ऋषिः पवमान-इति" (ऋ० ९।६६)। ऋषिमूर्त्ति आग्ने

दिव्य दिव्याग्नियों की यही एकर्षि रुद्र मूल प्रतिष्ठा है, अत एव इसे महर्षि कहा गया है। मध्यस्थ आन्तरिक्ष्य अग्नि अव्यय के प्राणभाग से अनुगृहीत मध्यस्थ विष्णु-अक्षर से सम्बन्ध रखता है। एवं दिव्य अग्नि अव्यय के मनोभाग से अनुगृहीत शीर्षस्थानीय ब्रह्माक्षर से सम्बन्ध रखता है। इन तीनों में भी रुद्र क्षरप्रधान अक्षर है, विष्णु अक्षरप्रधान अक्षर है एवं ब्रह्मा अव्ययप्रधान अक्षर है। उपासना का प्रधान सम्बन्ध अक्षर से है, इस की प्रधानता अक्षरमूर्ति विष्णु में है, अत एव उपासनाकाण्ड में विष्णु ही प्रधान माने जाते हैं। इसी प्रधानता के आधार पर प्रजा को "वैष्णवी" कहा जाता है। रुद्र क्षरप्रधान अक्षर है, जैसा कि श्रुति कहती है—

क्षर प्रधानममृताक्षर हर क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥
(श्वे० १।१०)

अत एव भारतवर्ष में विष्णु की उपासना की अपेक्षा रुद्रोपासना की कम प्रधानता है। उधर अव्यय-प्रधान अक्षरमूर्ति ब्रह्मा की उपासना का प्रचार तो और भी कम है। क्यों कि अव्यय प्रत्येक दशा में अनुपास्य ही रहता है।

१—वैश्वानरमूर्तिरिन्द्राग्निसोमाक्षरमयः क्षरप्रधानः—रुद्रः
२—हिरण्यगर्भमूर्तिर्वैरग्न्यक्षरमयोऽक्षरप्रधानः——विष्णुः
३—सर्वज्ञमूर्तिश्च शान्तरमयोऽव्ययप्रधानः——ब्रह्मा
—विराट्

इन तीनों की समष्टि ही विराट् है। विराट् की उपासना से ईश्वर उपासित होता है। जो एक एक अङ्ग (देवता) की उपासना करते हैं, वे भी परम्परया ईश्वर की ही उपासना करते हैं।

१—अन्नादाग्निः—पार्थिवः——अग्निः
२—विश्वाग्निः—आन्तरिक्ष्यः——वायुः
३—अन्नाग्निः—दिव्यः——इन्द्रः
—समन्वयात् विराडुत्पत्तिः

१—गार्हपत्याग्निरेकस्त्र—पार्थिवः
२—धिष्ण्याग्निरन्तरिक्ष—आन्तरिक्ष्यः
३—आहवनीयाग्निरेकत्र—दिव्यः
—स एव रुद्रविष्णुब्रह्ममूर्तिर्देवकला विराट्

१–मर्त्य	१–पवमानः पार्थिवाग्निः (मर्त्य) २–मातरिश्वा पार्थिववायुः (क्रिया) ३–वासवः—पार्थिवेन्द्रः (ज्ञानम्)	त्रिमूर्तिरग्निरर्थप्रधानः पार्थिवः (१)	[illegible]
२–क्रिया	१–पावकः—आन्तरिक्ष्योऽग्निः (मर्त्य) २–यमः—आन्तरिक्ष्यो वायुः (क्रिया) ३–मरुत्वान्–आन्तरिक्ष्य इन्द्रः (ज्ञानम्)	त्रिमूर्तिर्वायुः क्रियाप्रधानः आन्तरिक्ष्यः (८)	[illegible]
३–ज्ञानम्	१–शुचि—दिव्याग्निः— मर्त्य) २–पवित्र—दिव्याग्निः— क्रिया) ३–मघवा—दिव्य इन्द्र —(ज्ञानम्)	त्रिमूर्तिरिन्द्रः—ज्ञानप्रधानो दिव्यः (१)	[illegible]

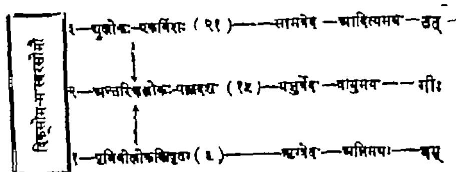
एकाकी—विराट्प्रजापतिरीश्वर साक्षी

पाठकों को स्मरण होगा कि, इस विराद् प्रकरण के आरम्भ में हमने महिमा–पृथिवी में रहने वाले अमृतभावापन्न अग्नि, एवं सोम, दोनों की संभूय पांच अवस्थाएँ बतलाई हैं— (देखिए पृ सं॰ २८४)। पार्थिव अग्नि, वायु आदित्य, दोनों को पूर्व में उक्थ अर्क-भेद से दो दो अवस्थाएँ बतलाई हैं। इन दोनों में उक्थावस्था मूलप्रतिष्ठा बनती हुई आत्मा है, एवं अर्कावस्था तूलप्रतिष्ठा बनती हुई प्राण है। प्राणों की अनुचीन, मुख्य, भेद से दो जातियाँ हैं। मुख्यप्राण आत्मा है। यही उक्थ है, इसी को छान्दोग्यश्रुति ने उद्गीथ कहा है। इस उक्थ (बिम्ब) रूप उद्गीथात्मक आत्मप्राण से निकलने वाले पञ्चप्राण अनुचीन नाम से व्यवहृत होते हैं। ये अङ्गप्राण हैं। "यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश" (मुण्डकोपनिषत् ३।१।९. के अनुसार आत्मप्राणरूप उस मुख्य प्राण में ये पांच अनुचीन अङ्ग प्राण नित्य युक्त रहते हैं। वह मुख्य प्राण अग्नीषोमात्मक है। अत एव उससे निकलने वाले ये पांचों अङ्गप्राण भी अग्नीषोमात्मक ही हैं। इन में तीन अग्निप्रधान हैं, दो सोम किंवा आपप्रधान हैं। ये पांचों प्राण उद्गीथ की उपासना किया करते हैं। यही उद्गीथ उक्थ एवं श्रेष्ठ प्राण माना गया है। मुख्यप्राण के इसी आत्मभाव का निरूपण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

> "अथ ह य एवायं मुख्यप्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे।
> तं हासुरा ऋत्वा विदध्वंसुः+++आगाता ह वै का–
> मानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते" (छां॰ १।२।)।

उद्गीथ में 'उत्–गी–थम्' ये तीन अक्षर (किन्तु, व्यञ्जन ८) हैं। 'उत्'-एक अक्षर है, 'गी' दूसरा अक्षर है 'थम्'-तीसरा अक्षर है। उत्-सर्वोच्चभाव का सूचक बनता हुआ शिरःस्थानीय है, 'गी'-मध्यगत भाव का सूचक बनता हुआ हृदयस्थानीय है, थम्-स्थितिभाव का सूचक बनता हुआ पादस्थानीय है। अन्त–मध्य–मूल, प्राण की इन तीन अवस्थाओं के लिए ही क्रमशः उत्–गी–थम् ये तीन अक्षर प्रयुक्त हुए हैं। तीनों में 'उत्' इन्द्राग्निसोमाक्षर है 'गी' विष्ण्वक्षर है, 'थम्' ब्रह्माक्षर है। त्रिमूर्तिरूप यही पञ्चमूर्ति सम्पूर्ण त्रैलोक्य का उद्गीथ (प्रभव प्रतिष्ठा-परायण) है। द्यौ-सामवेद-आदित्य, तीनों का 'उत्' से सम्बन्ध है। अन्तरिक्ष-यजुर्वेद-वायु, इन तीनों का 'गी' से सम्बन्ध है। पृथिवी ऋग्वेद–अग्नि, इन तीनों का थम्–अक्षर से सम्बन्ध है। पृथिवी ही स्तोमभेद से पृ० अं० द्यौ, तीन रूप में परिणत हो रही है। ऋग्वेद ही वितान के तारतम्य से ऋक्–यजु– साम-रूप में परिणत हो रहा है। अग्नि ही अवस्था भेद से अग्नि–वायु–आदित्यरूप में परिणत हो रहा है। तीनों लोकों में प्रतिष्ठित तीनों वेदों से सत्यशरीरी तीनों देवता ही उत् गी-थम् हैं। यही प्राण का सुपरिचित विराट् पुरुष है। यद्यपि अग्नि–वायु–आदित्य, तीनों ही प्राणमय हैं, तथापि आदित्य में प्राण की प्रधानता है। वायु में वाक्तत्त्व की प्रधानता है। अग्नि में अन्न की प्रधानता है। प्राणमय आदित्य उत् है, वाङ्मय–वायु गी है, अन्नमय अग्नि थम् है, समष्टि उद्गीथम् है। उत्रूप आदित्य अकार है, गीरूप-वायु उकार है, थम्रूप अग्नि मकार है, समष्टिरूप उद्गीथ ओंकार है। "अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवः, यः प्रणवः स उद्गीथः" (छां० १।५) के अनुसार यही प्रणव है। प्रणव की अकार कला का विकास आदित्यप्रधान सर्वज्ञ में है, उकार कला का विकास वायुप्रधान हिरण्यगर्भ में है एवं मकार का विकास अग्निप्रधान वैश्वानर में है। इस दृष्टि से हम ईश्वर प्रजापति का भी प्रणवमूर्तित्व सिद्ध होजाता है— 'तस्य वाचकः प्रणवः'। निष्कर्ष यही हुआ कि उक्त रूप अग्नि–वायु–आदित्य की समष्टि ही 'थम्–गी–उत्' रूप उद्गीथ प्राण है। यही मुख्य प्राण है [illegible] है। इस त्रिरूप उद्गीथात्मकरूप प्राणात्मा के अर्क ही पञ्च प्राण हैं। उक्थाग्नि की अर्कावस्था आग्नेयप्राण है, उक्थवायु की अर्कावस्था वायव्यप्राण है, उक्थ आदित्य की अर्कावस्था ऐन्द्रप्राण है। भास्वर सोममय प्राण सौम्यप्राण है, दिक्सोमावच्छिन्न प्राण आप्यप्राण है। ये पाँचों अनूचीन प्राण उस ईश्वरात्मरूप मुख्य प्राण के इन्द्रिय स्थानीय हैं, जैसाकि अध्यात्मविवेचन से स्पष्ट होजायगा। इसी प्राणरहस्य को लक्ष्य में रख कर साममति कहती है—

“अथ खलु-उद्गीथाक्षराण्युपासीत इति (आदेशः)। प्राण एव उत्, प्राणेन ह्युत्तिष्ठति। वाक्-गीः, वाचो ह गिर इत्याचक्षते। अन्नं थम्, अन्ने हीदं सर्वं स्थितम्। द्यौरेव उत्, अन्तरिक्षं गी, पृथिवी थम्। आदित्य एव उत्, वायुर्गीः, अग्निस्थम्। सामवेद एव उत्, यजुर्वेदो गी, ऋग्वेदस्थम्” (छां० उ० १।३)। ‘ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत” (छां० १।४) ॥ इति ॥



मुख्यप्राणः—आत्मा—मही—

सोमात्मकः—वाङ्० पृ० अ० द्यौ० सौ० भा० इति पञ्च, पृ०अ०द्यौ०आ०इति चत्वारो वा लोकाः प्रतिष्ठिताः

५—दिक्सोमः उक्थ——आपः
४—भास्वरसोमः उक्थः—सोमः
} समष्ट्यात्मको ऽ० हि० सर्वलोकाः — आधार भूमिः

३—दिव्याग्निरुक्थ—आदित्य-तत्प्रधानः सर्वज्ञः—अकारः प्रथमाक्षरः-उत्
२—आन्तरिक्ष्याग्निरुक्थः-वायु-तत्प्रधानो हिरण्यगर्भः-उकारो द्वितीयाक्षरः गी
१—पार्थिवाग्निरुक्थ—अग्नि-तत्प्रधानो वैश्वानरः—मकारस्तृतीयाक्षरः थम्
} उद्गीथम्

अनूचीनप्राण,-अङ्गानि

आत्मा विराट्	——→प्राणा — विराड्विभूतय	
अव्याप:	५-त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्ना आप्याः अर्काः (आप्यप्राणाः)	पारमेष्ठ्य
अव्यसोम:	४-त्रिणवस्तोमावच्छिन्ना सौम्या अर्काः (सौम्यप्राणाः)	पारमेष्ठ्य
अव्यादित्य	३ एकविंशस्तोमावच्छिन्ना-दिव्या अर्काः (इन्द्रप्राणाः)	त्रैलोक्य
अव्यवायु	२-पञ्चदशस्तोमावच्छिन्ना-आन्तरिक्ष्या अर्काः (वायव्यप्राणाः)	त्रैलोक्य
अव्याग्नि:	१-त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्नाः पार्थिवा अर्काः (आग्नेयप्राणाः)	त्रैलोक्य

१—ब्रह्माक्षर ——— प्राण ——— मन (सर्वज्ञो ब्रह्मा)
२—विष्णुरक्षर ——— वाक् ——— श्री (हिरण्यगर्भो विष्णु)
३—इन्द्राग्निसोमाक्षर —— अन्नम् ——— वाम् (वैश्वानरो रुद्र)
} मुख्य-प्राणात्मा

——— * ———

षष्ठीस्वरूप विराट्प्रजापति साक्षी देवसत्यात्मा है। वही ईश्वर है इस में कोई सन्देह नहीं। साथ ही में षष्ठीस्वरूप यह विराट्प्रजापति भोक्ता देवसत्यात्मा है, इसमें भी कोई सन्देह नहीं। तथापि जिस प्रकार जीवात्मा एकाकी न रहता हुआ अपने परिकर के साथ रहता है, एवमेव यह ईश्वर भी अपने परिकर के साथ नित्य सम्बद्ध रहता है। जीवात्मा में 'शरीर-प्राण-आत्मा विभूति मन-बुद्धि-महत्-अव्यक्त-पुरुष' इत्यादि परिकर हैं। अतः परिकरविशिष्ट जीव ही जीवरूप से व्यवहृत कर दिया जाता है। एवमेव भू विभूति-चन्द्रमा-सूर्य्य-परमेष्ठी-स्वयम्भू-पुरुष इत्यादि परिकरों से ईश्वरात्मा कभी पृथक् नहीं होता, अतएव परिकरविशिष्ट ईश्वर ही ईश्वर कहलाने योग्य है। ईश्वरीय संस्था में जितने आत्मा हैं, उन सब की आधारभूमि वही षोडशीपुरुष है। दूसरे शब्दों में समष्टि में एकरूप से व्याप्त रहता हुआ भी षोडशीपुरुष व्यष्ट्यात्मोपाधि भेद से प्रत्येक का स्वतन्त्ररूप से आलम्बन बना हुआ है—"अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्"। इसी विभक्तभाव के कारण ईश्वरीय, एवं जैवसंस्था में अनेक कलाएं होजाती हैं। इन विशेषकलाओं का विचार आगे कीजिए। अभी दोनों की सामान्य कलाओं पर दृष्टि डालिए एक ओर ईश्वरसंस्था को रख लीजिए, दूसरी ओर जीवसंस्था को रख लीजिए। दोनों का संस्थान-क्रम आपको समान मिलेगा। संयती-क्रन्दसी-रोदसी भेद से ईश्वर में तीन त्रैलोक्य हैं। रोदसी

भूः है, अन्तरिक्ष भुवः है, समष्टी स्वः है। प्रत्येक लोक त्रिवृत्‌भाव से पुनः 'भू' भुवः-स्व ' भेद से तीन-तीन लोकोंमें विभक्त है। इस प्रकार यद्यपि तीन के ६ लोक हो जाने चाहिए थे। परन्तु रोदसी त्रिलोकी का स्वर्लोक क्रन्दसी त्रैलोक्य का भूलोक बन जाता है, एवं क्रन्दसी का स्वर्लोक संयतीत्रैलोक्य का भूलोक बन जाता है। इस क्रम से दो लोकों का मध्य में अन्तर्भाव हो जाता है ६ के स्थान में सात ही लोक रह जाते हैं। एक-एक लोक एक-एक वितस्ति है। अतएव सप्त लोकात्मक ईश्वर को 'सप्तवितस्तिकाय' कहा गया है। एक वितस्ति में १२ अङ्गुल होते हैं। संभूय सात वितस्तियों के ८४ अङ्गुल हो जाते हैं। ईश्वरात्मक विराट् पुरुष अपनी अङ्गुलियों के प्रमाण से ८४ अङ्गुलात्मक है। जीव इसी का अंश है, फलतः इस में भी इस जीव के अङ्गुलि प्रमाण से ८४ अङ्गुल ही माने जाते हैं। अन्तर दोनों में केवल इतना ही है कि, ईश्वरीय परिमाण जहाँ वितस्ति नाम से व्यवहृत होता है, वहाँ जीव परिमाण प्रादेश नाम से प्रसिद्ध है। वितस्ति जहाँ १२ अङ्गुल की है वहाँ प्रादेश १०॥ (साढे दस) अङ्गुल का माना गया है। सप्त चितिमय, अतएव सप्तलोकात्मक अग्नि से अग्निमूर्ति ईश्वर जहाँ सप्तवितस्तिरूप होता हुआ ८४ अङ्गुल का है, वहाँ गायत्राग्नि की चितिक सम्बन्ध से अग्निमूर्ति जीव अष्ट प्रादेशमित होता हुआ ८४ अङ्गुल का है। गायत्राग्नि से ही जीवसंस्था का स्वरूप निर्माण हुआ है। गायत्राग्नि अष्टा क्षर बनता हुआ गायत्री छन्द से छन्दित (सीमित) है। एक-एक अक्षर एक-एक स्वतन्त्र मात्रा है। एक गायत्राग्नि ऐसे आठ मात्राओं की समष्टि है "प्रादेशमितो वै प्राणः (कौ० ब्रा०-२।२।) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक प्राण की व्याप्ति प्रादेशमित है। ब्रह्मरन्ध्र से कण्ठ पर्य्यन्त एक प्रादेश कण्ठ से हृदयपर्य्यन्त दूसरा प्रादेश, हृदय से नाभिपर्य्यन्त तीसरा प्रादेश नाभि से ब्रह्मग्रन्थिपर्य्यन्त चौथा प्रादेश, यहाँ से गोड़ों तक दो प्रादेश, यहाँसे पादपर्य्यन्त दो प्रादेश, संभूय पुरुषशरीर में आठ प्रादेश हैं। सब के संकलन से ८४ अङ्गुल हो जाते हैं। एक ७ मास का शिशु भी अपनी अङ्गुली के परिमाण से ८४ अङ्गुल का है, साढे तीन हाथ का एक दीर्घकाय मनुष्य भी अपनी अङ्गुली के परिमाण से ८४ अङ्गुल का ही है। यह समानता सर्वात्मना केवल पुरुष (मनुष्य) के साथ ही समन्वित होती है अन्य प्राणियों के साथ नहीं, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा।

ईश्वर यदि पादस्थानीय वैश्वानर भाग से भूपिण्ड पर खड़ा है, तो तत्समानधर्म्मा पुरुष भी अपने पैरों से इसी भूपिण्ड पर प्रतिष्ठित है। पैर से आरम्भ कर हृदयपर्य्यन्त रोदसी त्रैलोक्य है। हृदय से आरम्भ कर तालुमूल पर्य्यन्त क्रन्दसी त्रैलोक्य है, एवं वहां से आरम्भ कर ब्रह्मरन्ध्र पर्य्यन्त संयती त्रैलोक्य है। ईश्वरीय संस्थावत् ब्रह्मरन्ध्र में स्वयम्भू प्रतिष्ठित है

तालुमूल में प्रज्ञान (वाग्मयी) रूप में परमेष्ठी प्रतिष्ठित है, हृदय में प्रज्ञानचन्द्रमा के आधार पर विज्ञानसूर्य प्रतिष्ठित है। ईश्वरशरीररूप विश्व के केन्द्र में यदि सूर्य है, तो जीवशरीर रूप विश्व के केन्द्र में विज्ञानात्मा प्रतिष्ठित है—"आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्"। पाद से हृदय पर्य्यन्त पृथिवी लोक की प्रधानता है। तीनों में पुनः भूः-भुवः-स्वः का विकास है। पृथिवीरूप भूलोक की प्रतिकृति ब्रह्मग्रन्थि (गुदस्थान) है, यही पुच्छ प्रतिष्ठा है, प्रतिष्ठा ही पृथिवी है—(शत० ६।५।१।१६)। ब्रह्मग्रन्थि से आरम्भ कर पादमूल पर्य्यन्त पार्थिव प्राण की ही प्रधानता है, अतएव इस प्रदेश को हम महिमापृथिवी मानने के लिए तय्यार हैं। पादमूल से आरम्भ कर घुटनों तक त्रिवृत्स्थानीय पृथिवी लोक है यही सौम्य त्रिलोकी का भूलोक है। यहाँ से वक्षोमूल तक का प्रदेश पञ्चदश स्थानीय अन्तरिक्ष लोक है, यही सौ० का भुवर्लोक है। यहाँ से नाभि पर्य्यन्त एकविंश स्थानीय द्युलोक है। यही सौ० का स्वर्लोक है। तीनों की समष्टि रोदसी त्रिलोकी का भूलोक है। नाभि, एवं हृदय के मध्य का प्रदेश रोदसी त्रिलोकी का अन्तरिक्ष आकाशात्मक भुवर्लोक है, विज्ञान प्रज्ञान प्रतिष्ठारूप हृदयस्थान रोदसी का द्युलोकात्मक स्वर्लोक है। तीनों की समष्टि रोदसी त्रिलोकी है। हृदयरूप द्युलोक क्रन्दसी त्रिलोकी का भूलोक है हृदय से तालु मूल तक का प्रदेश क्रन्दसी का अन्तरिक्ष लोकात्मक भुवर्लोक है, एवं तालु स्थान क्रन्दसी का द्युलोक स्थानीय स्वर्लोक है। यही संयती त्रैलोक्य का भूलोक है, शिरोगुहा संयती का भुवर्लोक है, ब्रह्मरन्ध्र संयती का स्वर्लोक है। इस प्रकार ईश्वर विश्ववत् जीवसंस्था में सातों लोकों का संस्थान सिद्ध हो जाता है। यहाँ केवल विषमता इतनी ही है कि जीवात्म अध्यात्मसंस्था में रोदसी त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित है, एवं अधिदैवत में सौम्यत्रिलोकी में प्रतिष्ठित है। सौम्यत्रिलोकी का द्युलोक स्थानीय, रोदसी त्रिलोकी का भूलोक स्थानीय ब्रह्म ग्रन्थिस्थान वैश्वानर की प्रतिष्ठा है। नाभि, और ब्रह्मग्रन्थि का मध्य स्थान तैजस की प्रतिष्ठा है। एवं स्वयं नाभि प्राज्ञ की प्रतिष्ठा है। हृदय का अध. प्रदेश चन्द्रात्मक प्रज्ञान की एवं हृदय सूर्यात्मक विज्ञान की, तालुस्थान महत् की ब्रह्मरन्ध्र स्वयम्भू की प्रतिष्ठा है। हृदय से ब्रह्मरन्ध्र पर्य्यन्त आग्नेय है। इस के आधार पर तीन आग्नेय प्राण, दो सौम्य प्राण प्रतिष्ठित हैं। मुख में रहने वाला सौम्य (भास्वरसौम्य) प्राण इन्द्रियमन है, वाक् (मुख) अग्निप्रधान है प्राण (नासिका) वायुप्रधान है चक्षु आदित्यप्रधान है, श्रोत्र दिक्सोम प्राणप्रधान है। अधि-दैवत में ये पाँचो सौम्य त्रिलोकी में ही प्रतिष्ठित हैं। भूतायु का अंश ही अध्यात्म में हंसात्मा है भूपिण्डांश ही वाचात्मा है। इस प्रकार दोनों संस्थाओं के सम्बन्ध में—"यदेवेह तदमुत्र।

"यदमुत्र तदन्विह" यह श्रौत सिद्धान्त सर्वात्मना संगत होजाता है, जितने पदार्थ ईश्वरसंस्था में हैं, उतने तो जीवसंस्था में हैं ही, परन्तु महापराधवश जीवसंस्था में कुछ और भी पदार्थ सम्मिलित होजाते हैं। वे ही आगन्तुक पाप्मा ईश्वर और जीव के पार्थक्य के कारण हैं। यदि इन प्रतिबन्धकों को हटा दिया जाता है, तो जीव अपना जीवत्व छोड़ता हुआ ईश्वरकोटि में प्रविष्ट होजाता है।

ईश्वरसंस्था—

षोडशीपुरुषः—अमृतात्मा

१—सत्यलोकः१——स्वयम्भूः .... स्वः
२—तपोलोकः२——० .... भुवः
३—जनलोकः३——परमेष्ठी .... स्वः .... भूः } स्वायम्भुवीत्रिलोकी = ब्रह्म
४—महर्लोकः——० .... भुवः
५—स्वर्लोकः३——सूर्यः—स्वः——भूः } पारमेष्ठ्यत्रिलोकी = ब्रह्म

६—भुवर्लोकः४—{ १ चन्द्रमा, २ वायु, ३ नक्षत्रनिम्न }—भुवः } रोदसी त्रिलोकी = ब्रह्म

७—भूलोकः—५—{
 .... हि० सौ० प्राण (५)
 .... मा० सौ० प्राणः (४)
 सर्वज्ञ .... ऐन्द्रप्राण——(३)
 हिरण्यगर्भ .... वायव्यप्राण—(२)
 वैश्वानर .... आग्नेयप्राण—(१)
 पृथिव्युपरागो भूवायु
 भूपिण्ड
} भूर्लोका प्राणाः } सौम्यत्रिलोकी } = ब्रह्म

ईश्वर—

1—स्वयम्भूः—सत्यलोकः .... स्वः
२—सूत्रवायु—तपोलोकः .... भुवः
३—परमेष्ठी—जनस्थान .... स्वः .... भूः
४—शिववायु—महर्लोक .... भुवः
५—सूर्य्यः—स्वर्लोकः—स्वः .... भूः
६—चन्द्रमाः—भुवर्लोकः—भुवः
७—पृथिवी—भूर्लोकः—भूः

(५–७: रोदसीत्रिलोकी; ३–५: क्रन्दसीत्रिलोकी; १–३: संयती त्रिलोकी)

जीवसस्था—

षोडशीपुरुष —अमृतात्मा

१-सत्य—१—अव्यक्तात्मा (अक्षरम्) .... स्वः
२-तप .... (शिरोगुहा) .... भुवः
३-जनत्—२—महानात्मा (महत्तत्त्व) .... स्वः .... भूः
४-मह .... (उरोगुहा) .... भुवः
५-स्व—३—विज्ञानात्मा (हृदयम्) .... स्वः .... भूः

६-भुव—४—
- १ आम्भ् महानात्मा
- २ शुक्रमूर्त्तिर्वैश्वानरात्मा
- ३ महानात्मक भास्कर

(उदरगुहा) भुवः

७-भू—५—
- .... मनः (५)
- .... श्रोत्रम् (४)
- प्राज्ञ चक्षुः (३)
- तैजस प्राणः (२)
- वैश्वानर वाक् (१)
- हंसात्मा (वस्तिगुहा)
- शारीरम्

भूः

मध्यमोरवाग्नि—पुरुष

१—ब्रह्मरन्ध्र से कण्ठपर्य्यन्त (१ प्रादेश १० अङ्गुल)
२—कण्ठ से—हृदयपर्य्यन्त („)
३—हृदय से—नाभिपर्य्यन्त („)
४—नाभि से—ब्रह्मग्रन्थिपर्य्यन्त („)
५—ब्रह्मग्रन्थि से—अर्द्धसक्थपर्य्यन्त („)
६—अर्द्धसक्थ से—जानुकपालपर्य्यन्त („)
७—जानुकपाल से—अर्द्धपादपर्य्यन्त („)
८—अर्द्धपाद से—गुल्फपर्य्यन्त („)

देह—पुरुष

जिस प्रकार वै० हि० सर्वज्ञ की समष्टि का नाम ईश्वर है, एवमेव वै०—तैजस—प्राज्ञ, इन तीनों के समुच्चितरूप को ही जीवात्मा कहते हैं। जीवात्मा का वैश्वानर भाग अन्नप्रधान बनता हुआ शरीर रसादि सप्तधातु-उपधातुओं का निर्माण करता है। तैजसात्मा क्रिया का प्रवर्त्तक है। गर्भाशय में आरम्भ में शुक्र रूप में प्रतिष्ठित गर्भ प्रादेश पर्य्यन्त कैसे फैल गया ?, एवं वही बाहर निकल कर पालनधारक होता हुआ ३॥ हाथ लम्बा कैसे होगया ?, इन प्रश्नों का समाधान क्रियामूर्त्ति इसी तैजसात्मा पर ही अवलम्बित है। एवं विषय-भोग करना तीसरे ज्ञान प्रधान प्राज्ञात्मा का काम है। यह प्राज्ञ आत्मा अन्तरतम है। इसका अन्तर्य्याम सम्बन्ध शुक्र के द्वारा होता है, बहिर्य्याम सम्बन्ध प्रपञ्च से होता है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। वास्तव में यद्यपि पञ्चसत्यात्मा का यह प्राज्ञ भाग ही भोक्तात्मा है, परन्तु यह तैजस-वैश्वानर से अविनाभूत रहता है, अत तीनों के समुच्चित रूप को ही भोक्तात्मा मान लिया जाता है। इस शेष पञ्चसत्य के सर्वज्ञादि तीनों विवर्त्तों का दिग्दर्शन कराया जाचुका है। अब क्रमप्राप्त जीव पञ्चसत्य के तीनों जरदात्माओं का क्रमशः दिग्दर्शन कराया जाता है।

त्रिवृत् पृथिवी, पञ्चदश अन्तरिक्ष, एकविंश द्यु, ये तीन विश्व हैं, तीनों विश्वों के प्रवर्ग्यमूर्त्ति—वैश्वानरात्मा—सोमपात् (अधिष्ठाता-अधिष्ठाता) क्रमशः अग्नि-वायु आदित्य, तीन नर हैं, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। पार्थिव अग्निनर में आन्तरिक्ष्य वायुनर तथा दिव्य इन्द्रनर की आहुति होने से अग्नि-वायु इन्द्र, तीनों का यजन (संमिश्रण) होता है। इस रासायनिक संयोग लक्षण अन्तर्य्याम सम्बन्धात्मक याग से जो एक अपूर्व सांयौगिक, वैकारिक भाव उत्पन्न होता है वही वैश्वानर नाम से प्रसिद्ध है। अग्नि-वायु-इन्द्र-तीनों ही प्राण

मित्रों हैं। प्राणमय होने से तीनों ही रूप-रस गन्ध-स्पर्श शब्द, इन मात्राओं से शून्य है। परन्तु पञ्चप्रवस इन तीनों प्राणियों से उत्पन्न वैश्वानर में ताप है। सर्वाङ्गशरीर में वह व्याप्त है। पार्थिव प्राणाग्नि अपान है, आन्तरिक्ष्य प्राणाग्नि व्यान है दिव्य प्राणाग्नि प्राण है। इन तीनों में प्राणापान क्रियाशील हैं, मध्यस्थ व्यान स्थिर है। यह स्थिरधर्मा व्यान ही यज्ञ•परिभाषा में उपांशुसवन (शिला सिल) नाम से प्रसिद्ध है, एवं क्रियाशील पार्थिव अपान अन्तर्याम विधाओं दिव्य प्राण उपांशु नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि श्रुति कहती है—

> "प्राण एवास्य (यज्ञात्मानः) उपांशुः, व्यान उपांशुसवनः,
> उदान (अपान) एवान्तर्यामः" (शत ४।१।१।१)।

यदि उपांशुसवन रूप व्यान दृषत् (सिल) है तो उपांशु एवं अन्तर्याम रूप प्राणोदान (प्राणापान) उपल (लोढ़ी) हैं। उपांशुसवन रूप स्थिर शिला पर होने वाला उपांशु अन्तर्यामी रूप प्राणापान व्यापार ही "उपांश्वन्तर्याम" नाम से व्यवहृत हुआ है। पार्थिव प्राण मूलग्रन्थि से जब ऊपर की ओर (हृदय की ओर) आता है, तो उस समय यह समान नाम से व्यवहृत होने लगता है। ज्यों ज्यों यह ऊर्ध्वगमन करता है, त्यों त्यों व्यानशिला पर आता हुआ दिव्य प्राण पार्थिव प्राणापान से ऊपर (कण्ठ-प्रदेश की ओर बढ़ने लगता है, इस अवस्था में वही दिव्य प्राण उदान नाम से व्यवहृत होने लगता है। चरम सीमा पर (मूर्धग्रन्थि नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मरन्ध्र पर) पहुँचने के अनन्तर यह प्राण प्रत्याघात से वापस लौट कर हृदय की ओर आने लगता है। इस आगच्छत् अवस्था में वही दिव्य प्राण प्राण कहलाने लगता है। ज्यों ज्यों व्यानशिला पर आता हुआ पार्थिव समान प्राण इस दिव्य प्राण के आघात से नीचे की ओर (गुदस्थान की ओर) जाने लगता है। इस आगच्छत् अवस्था में वही पार्थिव प्राण अपान कहलाने लगता है। चरम सीमा पर (मूलग्रन्थि नाम से प्रसिद्ध मूलग्रन्थि पर) पहुँचने के अनन्तर यह अपान प्रत्याघात से वापस लौट पड़ता है। ज्यों ज्यों यह समानावस्था में परिणत होता हुआ ऊपर बढ़ने लगता है त्यों त्यों प्राणावस्था में परिणत दिव्य प्राण ऊपर जाता हुआ उदानभाव में परिणत होने लगता है। प्राणापान की इसी निर्गच्छत्-आगच्छत् अवस्था का नाम "प्राणदपानत्" है। प्राणाग्निमयी सौर रश्मियों में प्राण जो ताप (गर्मी) देखते हैं वह इसी प्राणदपानत् व्यापार की महिमा है। "अस्य प्राणदपानती" (यजु सं ३।६।)।

● उदान के सम्बन्ध में व्यानप्राण के कोष भाग ही अभिप्रेत है। उसी प्राणापान व्यापार का संबन्ध होता है।

इसी पर्वेग से प्राण-अपान-व्यानरूप इन्द्र अग्नि-वायु के समन्वय से शरीर-सत्या में तापक यवा अपूर्ण अग्नि उत्पन्न हो जाता है। यही आध्यात्मिक वैश्वानर है। क्रियामूर्ति तैजसात्मा ज्ञानमूर्ति प्राज्ञात्मा, दोनों की मूल प्रतिष्ठा यह वैश्वानर है। एवं इस की प्रतिष्ठा व्यान है। व्यानाधार पर प्रतिष्ठित यह वैश्वानर रुधिररूप आशय में व्याप्त रहता है। शरीर में जहाँ तक रुधिर की व्याप्ति है, वहीं तक वैश्वानराग्नि व्याप्त है। यहीं तक वैश्वानराभिन्न तैजस प्राण व्याप्त हैं, इसी आधार पर "यावानु वै रसस्तावानात्मा" यह कहा जाता है। केश लोम-नखाग्र भागों में रसरूप रुधिर का अभाव है। प्राणाग्नि से वारित (निवारित-अप्रविष्ट) मल भाग (अग्नि का उच्छिष्ट भाग) ही निवारित होने से वार हैं, वार ही वाल किंवा बाल (केशलोम) हैं। 'स्न'-रूप इन्द्रियप्राणशून्य मल भाग ही "स्न-खम्" के अनुसार नख है। लोक भाषा में यही नाखून (खम् से विरहित भाग) है। यहाँ अग्निरस का अभाव है। अतएव इन में आत्मा नहीं रहता। अतएव इन के निकृन्तन से कोई पीड़ा नहीं होती, अपितु भार (बोझ) उतरता सा मालुम होता है। केश नखों का जो मूलभाग रसाग्निरूप रुधिर में अन्तःप्रविष्ट रहता है उसमें अवश्य ही आत्मा है। यही कारण है कि यदि नापित की असावधानी से उस रसमय, अतएव आत्ममय केशनखमूल पर क्षुरिका (उस्तरा) से किसी प्रकार का आघात होजाता है, तो पीड़ा होने लगती है। अतएव आत्मव्याप्ति के सम्बन्ध में-"आलोमभ्य आनखाग्रेभ्यः" यह कहा जाता है। हम शरीर का जहाँ छूते हैं, गरम पाते हैं, यही वैश्वानर की दृष्टि (त्वक् प्रत्यक्ष) है एवं कान-न के बन्द करलेने से जो एक भक्-भक् शब्द सुनाई पड़ता है, वह इसकी श्रुति (श्रोत्रप्रत्यक्ष) है। शरीर में अधिक भाग पानी का है, जैसा कि अमृतरसमविज्ञानोपनिषत् में "अपात्मकत्वात् भूयस्त्वात्" इत्यादि सूत्रार्थ के सम्बन्ध में कहा जाचुका है। शरीररूप पात्र में पानी भरा है, नीचे के स्तर में वैश्वानर अग्नि प्रज्वलित हो रहा है। इसी अग्नि से वह पानी खौल रहा है। खौलते हुए पानी का जो शब्द है वही अनाहतनाद है। कान नाक बन्द करने पर हम इस को सुनते हैं। नाद शब्द को कहते हैं। 'संयोगाद्विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः" (वै० द० २।२।३१) इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार शब्द आघात से उत्पन्न होता है। परन्तु यह शब्द बिना आघात के उत्पन्न होता हुआ अनाहत है। वैश्वानर की इसी दृष्टिभक्ति का निरूपण करती हुई मैत्री श्रुति कहती है—

"अन्यत्राप्युक्तमयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेद-
मन्नं पच्यते, यदिदमद्यते, तस्यैष घोषो भवति, यमेतत् ...

ऽन्नाद्यविधाय गृनाति । स यदान्नमभिप्यन् भवति, नैन वीर्यं गृनाति । स वा एष पञ्चधात्मानं विभज्य निहितो गुहायां मनोमय, प्राणशरीर, भारूप, सत्यसंकल्प, आकाशात्मा"

(छू० भा० ३।५)।— (जै० ब्रा० २।६१) इति ।

[illegible] भक्ति [illegible] आकाश [illegible] आकार में ही वास्तव वैश्वानर का जन्म होता है। अतएव वैश्वानर स्वरूप में प्रतिष्ठित है, इसी [illegible] आत्मा की रचना हुआ [illegible] सत्ता है। वैश्वानर के इसी सर्वलौकिक रूप का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति कहती है—

'स एको नानद्न् । स पञ्चधात्मानं विभज्यते, य प्राणोऽपान, समान उदान, व्यान इति । अथ य ऊर्ध्वमुत्क्रामति, एष वाव स प्राण । अथ योऽयं अवाङ् सञ्चरति एष वाव सोऽपान । अथ येन वैतानुगृहीतेऽस्ये वाव स व्यान ।

अथ योऽयं स्थविष्ठो धातुरन्नस्यापाने स्थापयति, अणिष्ठो धातुं अङ्गे अङ्गे समानं नयति एष वाव स समानसंज्ञा । उत्तर व्यानस्य रूपं चैतासामन्तरा प्रसूतिर्यश्चोदानस्य । अथ योऽयं पीताशितमुद्गिरति, निगिरति इति वै वाव स उदान । [illegible] मभिमवति [illegible] उपांशु व्यान अयानं अग्नि [illegible] । [illegible] उपरि [illegible] मायुषं । [illegible] । अथ स पुरुष वा विश्वानर ।" (मै० २।८।) इति ।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥१॥
न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥२॥

(कठोपनिषत् ५।१४)

यद्यपि पूर्व कथनानुसार अग्नि–वायु–इन्द्र तीनों का समुच्चित रूप ही वैश्वानर है। परन्तु आधार भाव की मुख्यता के कारण प्रधानता इसमें अग्नि की है। अग्नि योनि है वायु–इन्द्र–रेत है। दूसरे शब्दों में अग्नि आधार है, वायु इन्द्र आधेय है। चतुर्मात्रिक अग्नि है, त्रिमात्रिक वायु है, द्विमात्रिक इन्द्र है, जैसा कि ईश्वरीय पञ्चसत्यनिरूपण में बतलाया जा चुका है। अग्नि का प्रथममात्रा से सम्बन्ध है। अर्थ भौतिक है। वैश्वानर में इसी की प्रधानता है। क्रियामूर्त्ति तैजस, तथा ज्ञानमूर्त्ति प्राज्ञ, दोनों इसमें सुप्त हैं। अतएव जिन असंज्ञ जीवों में (लोष्ठ पाषाण धातु आदि जड पदार्थों में) केवल वैश्वानर का विकास होता है, न उनमें क्रियारूप वृद्धि व्यापार देखा जाता न उनमें भोग-सामर्थ्य देखा जाता। दूसरे शब्दों में लोकभाषा में धातुजीव जड़पदार्थ आदि नामों से प्रसिद्ध जीवों की जीवन सत्ता यही वैश्वानर है। अतएव इन्हें विज्ञान भाषा में 'ऐकात्मक' जीव कहा जाता है दर्शन भाषा में यही "अमन" (जड़) नामसे प्रसिद्ध हैं।

शरीर में शिरा धमनी स्नायु भेद से तीन प्रकार की नाड़ियाँ हैं। रक्तवहन करने वाली नाड़ियाँ "शिरा" हैं। वायु वहन करने वाली धमनी हैं। एवं ज्ञान का संचार करने वाली नाड़ियाँ 'स्नायु' हैं। इन तीनों में से वैश्वानर के साथ रक्तवाहिनी शिरा नाम की नाड़ियों का ही सम्बन्ध है। रक्ताग्नि ही वैश्वानर का आशय (स्थानप्रधान) है जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है। इन्हीं के द्वारा वैश्वानर अग्नि का सर्वाङ्ग शरीर में सञ्चार होता है। भुक्त अन्न का परिपाक करना, केशलोमादि उत्पन्न करना, भुक्तान्न का रसासृङ् मांसादि धातुओं में परिणत करना उत्पन्न धातुओं को स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रखना, सर्वशरीरप्रधान वैश्वानर का ही कर्म है। साथ ही में वागिन्द्रिय, चक्षु आग्नेय प्राण (समान अपान), शरीरसंस्था इनकी प्रतिष्ठा भी यही वैश्वानर है। भूताग्नि के सम्बन्ध से इस वैश्वानर को हम 'भूतात्मा' कह सकते हैं। इस वैश्वानर का प्रभव त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न

आधिदैविक वैश्वानरावच्छिन्न पार्थिव आन्तरिक्ष्य शुक्र है प्रतिष्ठा प्राणमयि है, योनि अन्न है, आधार सर्वाङ्ग शरीर है। त्रिमूर्ति इस वैश्वानर का स्वरूप निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

"स एष एव वैश्वानरो य इमे स लोकाः। इयमेव पृथिवी विश्वमग्निर्नरः।
अन्तरिक्षमेव विश्वं वायुर्नरः। द्यौरेव विश्वमादित्यो नरः॥" (शत० ९।३।१।३)



पार्थिव पञ्चदश स्थान में वायुतत्त्व की प्रधानता है। वहाँ हृदय में वायु प्रतिष्ठित है। इस तैजसात्मा–क्रियामूर्ति —वायु के साथ पार्थिव अग्नि, एवं दिव्य आदित्य का समन्वय होता है। चतुर्मात्रिक वायु में त्रिमात्रिक अग्नि एवं द्विमात्रिक आदित्य का प्रवेश होता है। इस प्रकार वायुप्रधान वायु-अग्नि-आदित्य के समन्वय से जो सोपाधिक श्वासप्रश्वासरूप से प्रत्यक्षानुभूत अनुप भाव उत्पन्न होता है, वही "तैजसात्मा" है। यहाँ वायु योनि है, अग्नि एवं आदित्य रस है। दूसरे शब्दों में वायु आधार है, अग्नि है। अग्नि-आदित्य आयतन है सोम है। तैजस में प्रधानता वायु की ही है। ऊपर वायु ही एकमात्र क्रियातत्त्व का अधिष्ठाता है, अतः वायुप्रधान इस तैजसात्मा को इस प्रकार ही क्रियामूर्ति मानने के लिए तय्यार हैं। "तेजो वै वायुः" (तै० ब्रा० ३. ९।१९) के अनुसार वायु तेज है। इसी के सम्बन्ध से यह क्रियात्मा "तैजसात्मा" कहलाया है। ओषधि-वनस्पतियों में वैश्वानर के साथ साथ इस तैजसात्मा का भी विकास रहता है। ज्ञानप्रधान प्राज्ञ आत्मा यहाँ सुप्त है, अतएव इन्हें 'अन्तःसंज्ञ' कहा जाता है—"अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः"। दो आत्माओं के विकास के कारण ही इन्हें विज्ञानभाषा में "द्व्यात्मक" जीव माना गया है। ये ही उद्भिज्ज जीव हैं। इनका मूल ऊर्ध्वाङ्ग गर्भ में प्रतिष्ठित रहता है अतः इन्हें मूलजीव भी कहा जाता है। तैजस के विकास … इन का ऊर्ध्व गमन होता है यही क्रियामूर्ति तैजसात्मा का स्वरूप निदर्शन है।

इस तैजसात्मा का प्रधान सञ्चारपथ वायुवाहिनी धमनी नाम की नाड़ियों में है। इन्हीं नाड़ियों के द्वारा यह वैश्वानर द्वारा निर्मित धातुओं का वायु द्वारा सर्वाङ्ग शरीर में संचार करता हुआ धातुओं को पुष्ट करता है। यदि तैजसात्मा न होता तो वैश्वानरीय रस कभी पुष्टाकार में परिणत न होता। शरीरगत दूषित मलों का निकालना, शरीरधातुओं का सर्वाङ्गशरीर में प्रचार करना, धातुओं का पुष्टिगत करना, श्वासप्रश्वास का सञ्चालन

करना, इस तैजसात्मा के मुख्य कर्म्म हैं। प्राणेन्द्रिय (नामन्त्रिय), वायव्यप्राण (व्यान) भोग इनकी प्रतिष्ठा भी यही तैजसात्मा है। वायुतत्त्व प्राणप्रधान होता हुआ ही क्रियामूर्त्ति है। इसी भाव के सम्बन्ध से हम इसे 'प्राणात्मा" नाम से व्यवहृत करसकते हैं। यही तैजसात्मात्मा का दूसरा विवर्त है। इस तैजसात्मा का प्रभव पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न आधिदैविक हिरण्यगर्भावच्छिन्न आन्तरिक्ष्य वायु प्रधान अग्न्यात्मक शुक्र है प्रतिष्ठा हृदय है योनि अन्न है, आशय सर्वाङ्गशरीर है।

पार्थिव एकविंशस्तोम में आविरन (इन्द्र-) तत्त्व प्रतिष्ठित है। इस इन्द्र तत्त्व के साथ ज्ञानमूर्त्ति-प्राज्ञात्मा—पार्थिव अग्नि, एवं आन्तरिक्ष्य वायु का सम्बन्ध होता है। यहाँ इन्द्र चतुर्मात्रिक है अग्नि द्विमात्रिक है, एवं वायु भी द्विमात्रिक है। अतएव इन्द्र की प्रधानता सिद्ध होजाती है। इन्द्र योनि है, अग्नि एवं वायु रेत है। इन्द्र आधार है, अग्नि है अग्नि-वायु आधेय हैं, सोम है। इन्द्रतत्त्व एकविंशस्तोमावच्छिन्न द्युलोक की वस्तु है। इसके ऊपर ही त्रिणव-त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्न पारमेष्ठ्य श्रौत्र सोम प्रतिष्ठित है। इस सोम का भी इन्द्र के साथ, सम्बन्ध हो जाता है। सोम महत्तत्त्व है, महान् ही ज्ञानघन चिदात्मा की योनि है। अतएव (महत्सोम सम्बन्ध से) इस इन्द्र में चिच्छक्ति (ज्ञानशक्ति) का विकास होजाता है। इन्द्र सोम चिद्घन तीनों की समष्टि विम्ब इन्द्र है। इसके गर्भ में अग्नि वायु प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार सोमचिद्गर्भित इन्द्रप्रधान-इन्द्र अग्नि-वायुमूर्त्ति इस तीसरे विम्ब आत्मा का ज्ञानमयत्त्व भली भांति सिद्ध होजाता है। इसी ज्ञान के सम्बन्ध से इसे प्राज्ञात्मा' कहा जाता है। चिद्विशिष्ट सोम प्रज्ञा है, तद्युक्त प्राण इन्द्र है। प्रज्ञाप्राण की समष्टि ही प्राज्ञात्मा है। इन्द्र ही चिदंश रूप ब्रह्म के समीपतम है इसी आधार पर इसके लिये—'स हि नेदिष्ठं पस्पर्श' (केनोपनिषत्) यह कहा जाता है। भोग का ज्ञान से ही प्रधान सम्बन्ध है अतः इस प्राज्ञ को ही हम प्रधानतया "भोक्तात्मा" कहने के लिए तैय्यार हैं। नागदन्त (खूंटी) में टंगे हुए एक दर्पण में आने जाने वाले पदार्थों का प्रतिबिम्ब विकसित होता रहता है। प्रतिबिम्ब रूप से वे पदार्थ दर्पण के उदर में भुक्त होजाते हैं। यही दर्पण का भोक्तृत्व है। जिस के उदर में जो वस्तु चली जाती है वह भोग्य है भोग्य को उदर में रखने वाला अत्ता ही भोक्ता है। यही भोग मात्रा की साधारण मीमांसा है। बिना ज्ञान पदार्थ के यह भोग्य भोक्तृभाव उदित नहीं होसकता। एक पाषाण न प्रतिबिम्बों का भोक्ता होसकता, न प्रतिबिम्ब पाषाण के उदर में भुक्त होसकते। दर्पण ज्ञान है, अतः यहाँ भोक्तृभोग्य भाव का उदय सुलभ है। वैश्वानर-तैजस प्राज्ञ तीनों में महत् सोम सम्बन्ध से एकमात्र प्राज्ञ ही प्रविष्ट है। इन्द्रिय मन-बुद्धि के संयोग जनित व्यापार से आने वाले प्रतिबिम्ब स्वाभाविक विषय

संस्कार यहीं प्रतिबिम्बित होते हैं। यही संस्कारों की आवास भूमि है। विषय संस्कार रूप से प्राज्ञोदर में भुक्त हैं अतः इसी को भोक्तात्मा मानना उचित होता है।

इस प्राज्ञात्मा का प्रधान रूप से ज्ञानवाहिनी स्नायु नाम की नाड़ियों से सम्बन्ध है। इन्हीं नाड़ियों के द्वारा यह ज्ञानधारा सर्वत्र व्याप्त रहती है। यदि कहीं भी किसी प्रकार की भी पीड़ा होती है, तो इसी प्राज्ञ प्राण से तत्क्षण उसका अनुभव होजाता है। यही प्राज्ञ सुख-दुःख भोक्ता है। यही संस्कार वश जन्म लेता है। यही पाप पुण्य का फल भोक्ता है। यद्यपि स्थावर उक्थ्य नाम से प्रसिद्ध कृमि-कीट-पक्षी पशु पुरुष पांचों में प्राण का विकास है दूसरे शब्दों में पाँचों में ही वै० तै० प्राज्ञ तीनों आत्माओं का विकास है परन्तु प्राज्ञ का पूर्ण विकास तो पुरुष में ही होता है। वै० तै० प्राज्ञ का समष्टि रूप यह स्वयम्भ्वात्मा अर्थ क्रियाज्ञानमय है। यह अव्ययात्मा अव्यय नाम से प्रसिद्ध मनःप्राणवाङ्मय वही अव्यय विश्वेश्वर आत्मा के आधार पर प्रतिष्ठित है। जिस नर नाम में आत्मा की मनः-प्राण-वाक्, इन तीनों कलाओं का पूर्ण विकास होता है, परसृष्टि में वही परतत्त्व पुरुष कह लाता है। धातु-मूल पशु पक्षी आदि वर्ग में पुरुष नहीं कहलाते। कारण इन में वै० तै० प्रा० अल्पमात्रा में अवस्थित हैं। मनुष्य में तीनों का पूर्ण विकास है अतः यही पुरुष कहलाता है। और और जीवों की अपेक्षा वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ के पूर्ण विकास के कारण एक मात्र पुरुष ही उस अव्ययेश्वर प्रजापति के नेदिष्ठ (निकटतम) कहलाता है। इसी विज्ञान के आधार पर—"पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्" (शत० २।५।१।१।) यह कहा जाता है। वैश्वानर अर्थशक्ति प्रधान है, यह अव्ययेश्वर की वाक् कला का विकास है। तैजस क्रियाशक्ति प्रधान है यह अव्यय की प्राण कला का विकास है। प्राज्ञ ज्ञानशक्ति प्रधान है यह अव्यय की मनः कला का विकास है। इस प्रकार यह विश्वसत्त्व वस्तु मनःप्राणवाङ्मय अव्ययेश्वर के परभाग का भाग कर अग्नि वायु इन्द्र को अपना स्वरूप समर्पण करता हुआ वैश्वानर तैजस प्राज्ञरूप से चिदात्मना जीवस्वरूप में परिणत होता है — 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (गीता)

भूतात्मा वैश्वानर प्रज्ञात्मा तैजस भोक्तात्मा प्राज्ञ, तीनों परस्पर अविनाभूत हैं। तीनों मिल कर ही आध्यात्मिक कर्मकलाप का संचालन करने में समर्थ होते हैं। कर्म में ज्ञान क्रिया अर्थ तीनों का सहयोग अपेक्षित है। अतएव उक्त तीनों की समष्टि को हम 'कर्मात्मा' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। साथ ही में तीनों के अविनाभाव से समष्टि को भी वैश्वानरदृष्ट्या भूतात्मा, तैजसदृष्ट्या प्रज्ञात्मा प्राज्ञदृष्ट्या भोक्तात्मा कहा जा सकता है। इन तीनों में से प्राज्ञात्मा का सम्बन्ध एकविंशस्तोमावच्छिन्न आधिदैविक सर्वज्ञावच्छिन्न दिव्य

इन्द्र प्रधान अन्नात्मक शुक्र है, प्रतिष्ठा ब्रह्मरन्ध्र है योनि अन्न है, आशय सर्वाङ्गशरीर है। इस के अतिरिक्त पार्थिव रसरस प्रधान होने से हिरण्मय नाम से प्रसिद्ध यह पार्थिव प्राणपुरुष प्रपद से भी प्रविष्ट होता है। अतएव उत्पन्न शिशु के पैरों में ही सर्वप्रथम चेतना का विकास देखा जाता है। विषयानुभव, सुख-दुःख भोग, धातुवर्ग का यथाव्यवस्थित संचालन, इत्यादि प्राण के मुख्यकर्म्म हैं। साथ ही में मन, चक्षुरिन्द्रिय दिव्यप्राण, आदि की प्रतिष्ठा भी यही है।

पूर्व कथन से निष्कर्ष यह निकला कि अग्नि-वायु आदित्य प्रधान वैश्वानर-तैजस प्राज्ञ की समष्टिरूप, ज्ञान-क्रिया अर्थ शक्तिमय उक्तत्रिलोकी में प्रतिष्ठित वै० हि० सर्वज्ञमूर्त्ति साक्षी एवं सत्य का अंशभूत चिद्‌विशिष्ट स्वसत्य ही "जीवात्मा" है। स्थूलशरीर के नष्ट होजाने पर यही कर्म्मात्मा कर्म्मफल भोगने के लिए लोकान्तर में जाता है। इस जीवात्मा का स्वरूप सुपर्ण (गरुड़पक्षी) जैसा है। पांच अग्नियों की चिति से इसका स्वरूप निष्पन्न हुआ है। प्रकारान्तर से चार आत्मा, दो पक्ष पुच्छ प्रतिष्ठा, इस प्रकार सात अवयवों से इसका चयन हुआ है। विज्ञानभाषा में यही चिति सुपर्णचिति नाम से प्रसिद्ध है। चान्द्र मन भोगसाधन है। चान्द्र विवर्त्त में सोम पितृप्राण, इन तीनों तत्त्वों का समावेश है। प्राण इन्द्र है, सोम भूत है। इसी के संबन्ध से यहाँ पितृरस प्रतिष्ठित हुआ है। अतएव यह चान्द्र सोम भी दिव्य इन्द्र वश प्रज्ञा नाम से ही व्यवहृत होता है, जैसा कि पूर्व की महदात्मविज्ञानोपनिषत् में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इस प्राज्ञ प्राण की समष्टि ही प्रज्ञान मन है। बिना इस के विषयभोग संभव नहीं है। साथ ही में बिना बुद्धि एवं इन्द्रियों के भी भोग अनुपपन्न है। इसी आधार पर उक्त भोक्तात्मा का—"आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" (कठोपनिषत् १।३।४।) यह लक्षण किया जाता है। अव्यक्त महानात्मा-विज्ञान-महद्युक्त प्रज्ञान-शरीर की समष्टि ब्रह्मसत्य है, एवं वैश्वानर तैजस-प्राज्ञ की समष्टि देवसत्य है। यह चान्द्र प्रज्ञान के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता इस के बिना भोग ही नहीं बन सकता अतएव ब्रह्मसत्यांशभूत इस चान्द्र प्रज्ञान का "एतद्वै देवसत्यं यच्चन्द्रमा" के अनुसार देवसत्यरूप उक्त प्राज्ञप्र जीवात्मा में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है। यह तो हुआ भूपिण्ड के आधार पर वितत पार्थिव उपमा त्रिलोकी में सम्बन्ध रखने वाले कर्म्मात्मा का संक्षिप्त स्वरूप परिचय। अब स्पूपवराह नाम से प्रसिद्ध पार्थिव दिव्य वायु (भूवायु) से निष्पन्न होने वाले हंसात्मा की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

शुक्र शोणित के समन्वितरूप में औपपातिक कर्म्म मात्रा जीवात्मा गर्भाशय में प्रविष्ट वायुपति हंसात्मा—होता है ज्यों ज्यों पार्थिव मात्रा की वृद्धि होती है त्यों त्यों गर्भ पुष्ट होने लगता है। ऋतुकाल में पिता पानिगत आप व रुधिर में सौम्य शुक्र की आहुति देता है। सिक्त बीज औपपातिक आत्मा से अनुगृहीत रहता हुआ एक अहोरात्र की प्रतिष्ठा के अनन्तर कलल रूप में परिणत होजाता। ईषद्घनपर्युन्लघुपमावापन्न शुक्रशोणित समष्टि ही कलल है। सात रात्रि में बुद्बुदावस्था होती है। एक पक्ष में पिण्ड निष्पत्ति होती है। एक मास में कठिनता आती है। दो मास में मस्तक बनता है तीन मास में पाद निर्माण होता है। चतुर्थ मास में अंगुलियाँ, उदर, एवं कटि प्रदेश सम्पन्न होते हैं। पञ्चम मास में मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) बनता है। षष्ठमास में नासा चक्षु श्रोत्र की स्वरूप निष्पत्ति होती है। सप्तम मास में जीवनीय शक्ति उद्बुद्ध होती है। अष्टम मास में सर्वाङ्ग निष्पत्ति होती है। (इन सब अङ्गोपाङ्गों की बीजावस्था के अनुसार महर्षि चरक के मतानुसार सब की एक साथ ही प्रथम मास में पूर्ण निष्पत्ति होजाती है—(देखिए चरक शा [illegible]।) पिता के रज (शुक्र) की अधिकता से पुरुष (लड़का) प्रजा माता के रज (शोणित) की अधिकता से स्त्री (लड़की) प्रजा के चिन्ह बनते हैं। दोनों की समानता से नपुंसक प्रजोत्पत्ति होती है, एवं विषमता में शुक्राहुति व्यर्थ जाती है। शुक्राहुति के समय यदि पिता का चित्त व्याकुल रहता है उस समय उसकी जिस इन्द्रिय में जिस अवयव में विकार रहता है वही विकलावस्था प्रजा में उत्पन्न होजाती है। अन्ध-खञ्ज कुब्ज वामन-बधिर अतिरिक्ताङ्ग आदि विकृत भावों का यही कारण है। योनिगत आप व वायु शुक्रगत सोमवायु दोनों आत्मिक मार्ग वायुओं का यदि परस्पर संघर्ष होजाता है तो वहाँ का 'व्यपामरुत्' नाम से प्रसिद्ध रेतोधा मातरिश्वा वायु दो भागों में विभक्त होता तथा शुक्र को दो भागों में विभक्त कर देता है। इस विभाग से शुक्र से यमज (जोड़ली) सन्तान उत्पन्न होजाती है। यदि व्यपामरुत् के तीन चार अथवा इससे अधिक विभाग होजाते हैं तो उतनेमें ही स्वतन्त्र गर्भ बन जाते हैं। इसी वायु-विकार की कृपा से एक ही समय में सात सात गर्भों की स्थिति देखी गई है। इस गर्भ स्थिति क्रम से महान (हम यहाँ बतलाना है कि गर्भ नवमास पर्यन्त रहता है।) नवम मासानन्तर प्रसवमरुत् के प्रतापान से जब यह गर्भाशय से बाहर निकल कर मूर्च्छित होता है तो इसके साथ उसी पार्थिव विकार वायु का सम्बन्ध

---

* आर्तवे रेतसः पूर्वं [illegible]।
[illegible] ॥ (आयुर्वेद)

होने लगता है। इस वायु में अश्मा सोम रहता है। वायुद्वारा अश्मा सोम की घनता उत्पन्न शिशु में धीरे धीरे प्रविष्ट होने लगती है। यदि माता पिता सबल, एवं पूर्ण स्वस्थ होते हैं, तो इन के मिथुनभाव से उत्पन्न शिशु में पृथिवी की एक साम्वत्सरिक परिक्रमा के अनन्तर ही इस में अश्मासोम * "दन्त" (दांत) रूप से प्रतिष्ठित हो जाता है। अश्मासोमगर्भित पशुपवायु एक वर्ष में ही प्रविष्ट हो जाता है, इस की सत्ता का द्योतक दांत ही है। पृथिवी का पार्थिवत्मिक प्राण पूषा है। यह अश्मासोम विरहित है। एक वर्ष तक बच्चे में इसी पार्थिव पूषा-प्राण की प्रधानता रहती है, अत एव इस काल में बच्चे के दांत उत्पन्न नहीं होते। इसी विज्ञान के आधार पर—"तस्मादादुरदन्तक पूषा" (शत० १।७।४।७) यह कहा जाता है। जब तक दांत उत्पन्न नहीं होते, तबतक भूस्थिर वायु प्रविष्ट नहीं होता दूसरे शब्दों में प्रविष्ट होकर भी स्थिर नहीं होता। दन्तपङ्क्ति उत्पत्ति के महकाल में ही प्रविष्ट होने वाला यही वायव्यांश "हंसात्मा" नाम से प्रसिद्ध है हंसात्मा के उपादानभूत वायु का एमूष वराह रूप से पूर्व में निरूपण किया जा चुका है, अत यहां पिष्टपेषण की आवश्यकता नहीं है। प्रकृत में केवल हंसात्मा के कुछ एक कर्मों का दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

हंसात्मा का उपादान भूवायु है एक वर्ष के पार्थिव परिभ्रमण से शरीर में जब घनता (प्रतिष्ठा) आजाती है, तभी दांत उत्पन्न होते हैं, यह कहा जा चुका है। तभी हंसात्मा उत्पन्न होता है। भूवायु तब तक स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है, जब तक कि भूपिण्ड स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है। ठीक इसी प्रकार यह वायव्य हंसात्मा भी तबतक शरीर से अवश्य ही बद्ध रहता है जब तक कि शरीरधातु प्रतिष्ठित रहते हैं। जीवात्मा नाम से प्रसिद्ध पूर्वोक्त कर्म्मात्मा के शरीर से निकलते ही अव्यक्त-महान् विज्ञान-प्रज्ञान, आदि सब आत्मा उत्क्रान्त होजाते हैं। परन्तु शरीर-पिण्ड से सम्बन्ध रखने वाला यह हंसात्मा यहीं, इसी भौतिक मर्त्य शरीरपिण्ड के साथ बद्ध रह जाता है। यह तबतक शरीर-पिण्ड से बद्ध रहेगा, जब तक कि शरीर भौतिक धातु अग्नि के सम्बन्ध से विशकलित न कर दिए जायेंगे। इस की उत्पत्ति दन्तोत्पत्ति सम काल में बतलाई गई है। अत एव जिस बालक के दांत पैदा नहीं होते, धर्म्मशास्त्र उसे केवल भूमि में गाड़ने का आदेश दिया है। परन्तु दांत पैदा होने के अनन्तर यदि शव को नहीं जलाया जाता है तो हंसात्मा को शरीर के साथ बंधा रहना पड़ता है। कर्म्मात्मा अपने गृह रूप शरीर को छोड़ कर लोकान्तर में कर्म्म भोगने के लिए चला जाता है, परन्तु हंसात्मा प्राय

* पहिले बीचे के दांत क्यों उत्पन्न होते हैं ?, पीछे के क्यों सदा ऊपर के नीचे एवं विरल क्यों होते हैं। ? एवं बरीबसी क्यों होती है ?, इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए शतपथ विज्ञानभाष्य द्रष्टव्य है।

एक शोणित के समन्वितरूप में औपपातिक कर्म्म मोक्ता जीवात्मा गर्भाशय में प्रविष्ट
वायुमूर्चि इसात्मा—होता है। ज्यों ज्यों पार्थिव मात्रा की वृद्धि होती है त्यों त्यों गर्भ पुष्ट होने
लगता है। ऋतुकाल में पिता योनिगत आप्य रुधिर में सौम्य शुक्र की आहुति देता है। सिक्त
बीज औपपातिक आत्मा से अनुगृहीत रहता हुआ एक अहोरात्र की प्रतिष्ठा के अनन्तर कलल
रूप में परिणत होजाता। ईषद्घनवर्त्तु लबुदबुदभावापन्न शुक्रशोणित समष्टि ही कलल है। सात
रात्रि में बुदबुदावस्था होती है। एक पक्ष में पिण्ड निष्पत्ति होती है। एक मास में कठिनता
आती है। दो मास में मस्तक बनता है तीन मास में पाद निर्म्माण होता है। चतुर्थ मास में
अंगुलियाँ, जठर, एवं कटि प्रदेश सम्पन्न होते हैं। पञ्चम मास में मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी)
बनता है। षष्ठमास में नासा चक्षु श्रोत्र की स्वरूप निष्पत्ति होती है। सप्तम मास में जीव
नीय शक्ति प्रबुद्ध होती है। अष्टम मास में सर्वाङ्ग निष्पत्ति होती है। (इन सब अङ्गोपाङ्गों
की जीवावस्था के अनुसार महर्षि चरक के मतानुसार म॰ की एक साथ ही प्रथम मास में पूर्ण
निष्पत्ति होजाती है–(देखिए चरक सं शा॰ ३।) पिता के रेत (शुक्र) की अधिकता से पुरुष
(लड़का) प्रजा माता के रज (शोणित) की अधिकता से स्त्री (लड़की) प्रजा के पिण्ड बनते
हैं। दोनों की समानता से नपुंसक प्रजोत्पत्ति होती है एवं विषमता में शुक्राहुति व्यर्थ जाती है।
शुक्राहुति देते समय यदि पिता का चित्त व्याकुल रहता है उस समय उसकी जिस इन्द्रिय में
जिस अवयव में विकार रहता है वही विकृतावस्था प्रजा में उत्पन्न होजाती है। अन्ध-खञ्ज
कुब्ज वामन-बधिर अतिरिक्ताङ्ग आदि विकृत भावों का यही कारण है। योनिगत आग्नेय
वायु, शुक्रगत सौम्यवायु दोनों आङ्गिरस भागव वायुओं का यदि परस्पर संघर्ष होजाता है,
तो वहाँ का "एवयामरुत्" नाम से प्रसिद्ध रेतोधा मातरेश्वा वायु सो दो भागों में विभक्त
होता हुआ शुक्र को दो मार्गों में विभक्त कर देता है। भिन्न भिन्न ऐसे शुक्र से यमज (जोड़ली)
सन्तान उत्पन्न होजाती है। यदि एवयामरुत् के तीन चार अथवा इससे अधिक विभाग होजाते
हैं तो उतनेमें ही स्वतन्त्र गर्भ बन जाते हैं। इसी वायु-विभेद की कृपा से एक ही समय में सात
सात गर्भों की स्थिति देखी गई है। इस गर्भोत्पत्ति क्रम से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि,
गर्भ उत्तरोत्तर घन बनता जाता है। नवम मासामन्तर एवयामरुत् के प्रभाव से अब यह गर्भा
शय से बाहिर निकल कर भूमिष्ठ होता है तो इसके साथ उसी पार्थिव स्थिर वायु का सम्बन्ध

* अधिके रेतसः पुंसः कन्याकारार्थ्याधिके ।
तयोः साम्ये नपुंसकम् परमेश्वरी ॥ (अमरकोष)

आज भी प्रतिष्ठित हैं। इतना ही नहीं दृष्टिनिरोधरूपा संयमविद्या से आज भी इन का साक्षात् कार किया जासकता है। यही हंसात्मा दर्शनभाषा में—"अभिमानी" देवता नाम से प्रसिद्ध है। "अमुक देवताने दर्शन दिए" "अमुक मनुष्य आज हमें स्वप्न में दिखलाई दिया" "अमुक प्रतात्मा आज हमें दीखा, और उसने यह कहा" यह 'अमुक' शब्द वाच्य यही हंसात्मा है।

मनुष्य जब घोर निद्रा में (बेखबर) सोजाता है, तो उस का हंसात्मा उसकी रक्षा किया करता है। आप सो रहे हैं। कर्म्मात्मा प्रज्ञान विज्ञान को साथ लेकर पुरीतति नाड़ी में प्रविष्टि होरहा है। ऐसी अचेतनावस्था में यदि एक विषधर सर्प आप की ओर आता है, अथवा ऊपर की छत गिरना चाहती है, अथवा कोई शत्रु आक्रमण करने आरहा है, अथवा और कोई आकस्मिक आपत्ति आरही है, तो इस समय आप अकस्मात् हड़बड़ा कर जग पड़ते हैं, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव है। यह कर्म्म उसी हंसात्मा का है। घोर विपत्ति में यही हंसात्मा विचार में स्फूर्ति डाल कर, अथवा अन्य योनि में आकर संकेतद्वारा आपको सावधान कर देगा। आप किसी विषय की गुत्थी (ग्रन्थि) सुलझाने में व्यस्त हो रहे हैं। एक व्यक्ति आप के सामने से कुछ बड़बड़ाता हुआ निकल जाता है। वह उस समय ऐसी बात बोलता है, जिस से आप की गुत्थी सुलझ जाती है। यह उसी हंसात्मा का संकेत है। बच्चे का हंसात्मा निर्मल, अत एव सत्यवादी होता है। इसी लिए शकुन परीक्षक बच्चे से प्रश्न कर उस के निर्णय के आधार पर शुभाशुभ की व्यवस्था कर लेते हैं। योग प्रक्रियाविशेष से यह हंसात्मा सिद्ध होजाता है एवं इस से यथेच्छ काम लिया जाता है। यही सिद्धि पातञ्जल योगदर्शन में—"छायापुरुषसिद्धि" कहलाती है। आप सोते समय जरा दृढ़ भावना से यह विचार कर लीजिए कि, मुझे आज प्रात ३ बजे उठना है। घोर निद्रा में निमग्न रहते हुए भी आप अपने उसी संकल्पित समय में जग पड़ेंगे। इस सम्बन्ध में हम आपसे प्रश्न करेंगे कि, कर्म्मात्मा–विज्ञान–प्रज्ञान, सब इस समय सुप्त थे फिर किसने आप को जगाया? इस प्रश्न का एकमात्र समाधान यही हंसात्मा होगा। साथ ही में यह भी स्मरण रखिए कि, कर्म्मात्मा जिस समय शरीर छोड़ता है उस समय शरीर की सुखी, अथवा दुःखी जैसी अवस्था होती है उस का हंसात्मा भविष्य में उसी अवस्था से युक्त रहता है। जीवित अवस्था में भी जो अवस्था शरीर की होती है, वही अवस्था हंसात्मा की रहती है। शरीर के बाहर देश पर यह स्वायम्भुवमूत सूत्रवायु में विचरा करता है। सौर प्रकाश इस का घोर शत्रु है चान्द्रज्योति इस का परम मित्र है। हंसात्मा अब रहेगा छाया में, एवं चन्द्रिका में। धूप में यह क्षणमात्र भी नहीं रहसकता। इसी हंसात्मा के स्वरूप परिचय के लिए

देव प्रतिमाओं के चारों ओर, विशेषत: शिरोमण्डल के चारों ओर एक ज्योतिर्मण्डल बनाया जाता है। जिन का हंसात्मा सात्त्विक-पवित्र-ज्ञान युक्त रहता है, उन मनुष्यों के शरीर के, एवं मुख मण्डल के चारों ओर भी एक कान्तिमण्डल रहता है। अतितेजस्वी के मुख पर साधारण व्यक्ति की आंखें नहीं ठहर सकतीं। यह मण्डल वहीं हंसात्मा का है। तामस हंसात्मा का बहिर्मण्डल धूम्रवर्ण रहता है। इसी वायुमय हंसात्ममण्डल को लोकभाषा में— 'वातावरण' कहा जाता है। इस के परिज्ञान से मनुष्य के मानसिक भाव विदित होजाते हैं। कारण, मनुष्य अपने मन में जैसा संकल्प करता है उस का हंसात्ममण्डलात्मक वातावरण, किंवा बहिर्मण्डल वैसे ही भावों से युक्त होजाता है। मार्मिक विद्वान् इस से उस के अन्तर्भावों का पता लगा लेते हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

'तस्मादाहुः 'मनो वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति'—इति। मनसा संकल्पयति तद्-प्राणमपिपद्यते प्राणो वात वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष मन। तस्मा-देतदृषिणाभ्यनूक्तम्—

"मनसा सङ्कल्पयति तद्वातमपिगच्छति।
वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मन ॥" (शत ३।४।२।६)।

इस हंसात्मा का प्रभव मूवायु है, प्रतिष्ठा बहिर्मण्डल है योनि संवत्सर चक्र है, आधार स्थूल शरीर है। ईश्वर शरीर में यही यमूषवराह नाम से प्रसिद्ध है, एवं जीव शरीर में यही 'हंसात्मा' नाम से व्यवहृत होता है। "त्रिवृत च हंसयोः" (अथर्वसं० १०।८।१७) 'हंसो वायुरवः' (यजुः २४।३५) 'वायु शुचायम्' (शत १।४।४।३ इत्यादि मन्त्र। आम्नायोक्त प्रमाणों के अनुसार ही यह वायव्यात्मा "हंसात्मा" नाम से प्रसिद्ध है। लोकभाषा में जिस तत्त्व के लिए—हंसा उड़ गया, शरीर रह गया" यह किंवदन्ती प्रचलित है वह हंसा' (पक्षी) यही हंसात्मा है। हंसात्मा का यही संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन है।

<u>प्राण—आप—वाक्—अन्न—अन्नाद</u>, इन पांचों पुरुषार्थों का पञ्चीकृत रूप ही 'भूपिण्ड' <u>भूतात्मा—भूतमूर्तिः</u>—है पांचों ही अभिमूर्ति हैं, जैसाकि पूर्व प्रकरणों में कई स्थलों में स्पष्ट किया जाचुका है। अग्नि आपस भाव से अन्वित रहने के कारण भूताग्नि माना जाता है। इस

गायत्र भाव के कारण प्राणादि पाँचों पुरञ्जनों की (प्रत्येक की) आठ आठ मात्रायें होजाती हैं। इन में चार मात्रा में प्राणादि स्वयं रहते हैं, शेष चार मात्रायें इतर पुरञ्जनों में रहतीं हैं, यही प्रक्रिया पञ्चीकरण नाम से प्रसिद्ध है। इन में यदि चतुर्मात्रिक अन्नाद है, एवं—प्राण-आप-वाक्-अन्न, ये चारों एक एक मात्रिक हैं तो पञ्चीकृत अन्नाद का स्वरूप निष्पन्न होता है। यही पञ्चीकृत अन्नाद विज्ञान भाषानुसार "भूत" किं वा महाभूत नाम से प्रसिद्ध है। इसी पञ्चीकृत अन्नादप्रधान पञ्च महाभूतात्मक भूत से भूपिण्ड निष्पन्न हुआ है। प्राण आकाश है, आप वायु है, वाक् तेज है, अन्न जल है, अन्नाद मिट्टी है। "पृथिवी वै सर्वेषां भूतानां रस" (शत० १४।४।४।१) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार भूपिण्ड में पाँचों महा भूतों का समन्वय है, तभी तो इस का सर्वभूत-रसमूर्त्तित्व सिद्ध हो सकता है। इन्हीं पञ्चात्मक पञ्च महाभूतों से शरीरयष्टि का निर्म्माण होता है।

माँस अस्थि-कपाल त्वचा-मेद मज्जा शुक्र, आदि आपेक्षिक घन भाग पृथिवी है। स्वेद-मूत्र-रस-असृक्-लाला-कफ, आदि तरलभाग जल है। शरीर ऊष्मा (गर्मी) तेज है श्वासप्रश्वासादि वायु है। विवर आकाश है। इस प्रकार शरीरसंस्था में पाँचों महाभूतों का सर्वथा प्रत्यक्ष होरहा है। पञ्च महाभूतों से निष्पन्न होने वाले ये शरीर महाभूत "सत्त्वभूत," किंवा भूतभौतिक नाम से प्रसिद्ध हैं। सत्त्वभूतों के मूल महाभूत हैं, महाभूतों के मूल अपञ्चीकृत भूत हैं इन के मूल अणुभूत हैं, इन के मूल पञ्चतन्मात्रा नाम से प्रसिद्ध गुणभूत हैं। इन्हें ही (जो कि सर्वथा अयौगिक हैं) भारतीय विज्ञान ने "तत्त्व" नाम से व्यवहृत किया है। इन्हीं तत्त्वों की चरम यौगिक अवस्था शरीररूप सत्त्वभूत हैं। इन्हीं के सम्बन्ध से इस शरीर को भूतात्मा कहा जाता है। पार्थिव वन्या त्रिकोणी से सम्बन्ध रखने वाला कर्म्मात्मा भी पार्थिव प्राणप्रधान भूतमय बनता हुआ भूतात्मा है इधर शरीर भी भूतात्मा है। उधर वायव्य हंसात्मा भी भूतात्मा है। तीनों में अन्तर केवल इतना ही है कि, कर्म्मात्म-हंसात्मरूप भूतात्मा प्राणप्रधान होते हुए अन्तरात्मा हैं, एवं भूतप्रधान शरीररूप भूतात्मा बाह्यात्मा है। इन्हीं तीनों भूतात्मविवर्तों के पार्थक्य का विस्पष्ट निरूपण करती हुई श्रौती श्रुति कहती है—

"कोऽयमात्मेत्याख्या यो ऽयं सितासितैः कर्म्मफलैरभिभूयमानः सदसद्योनिमापद्यत इति । अवाच्योर्ध्वां वा गतिं द्वन्द्वैरभिभूयमानः परिभ्रमति । अस्ति खल्वन्योऽपरो भूतात्माख्यो योऽयं सितासितैः परिभ्रमति, इत्यस्य (प्रोक्तात्मकस्य मोक्तृभूतात्मन) उपन्यासव्याख्यानम् । पञ्चतन्मात्रा भूतशब्देनोच्यन्ते । अथ पञ्चमहाभूतानि भूतशब्देनोच्यन्ते । अथ तेषां यत् समुदय तच्छरीरमित्युक्तम् । अथ यो ह खलु वाव शरीर इत्युक्त स "भूतात्मा" इत्युक्तम्" (मै० उ० ३ म) इति ।

इस शरीररूप भूतात्मा का प्रभव भूपिण्डोपादानक शुक्र-शोणित की समष्टि है मविष्य आत्मा है, योनि अन्न है भाराम सम्पूर्ण अध्यात्मसंस्था है । यही इस आत्मसमाधिकरण का पांचवाँ विवर्त्त है ।

इस प्रकार भूपिण्ड, भूवायु त्रिवृत्स्तोमरूप पृथिवी में प्रतिष्ठित वैश्वानर, पञ्चदश अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठित हिरण्यगर्भ, एकविंश० द्युलोक में प्रतिष्ठित सर्वज्ञ, इन पांच पार्थिव विभूतियों से क्रमशः शरीररूप भूतात्मा, वायुरूप हंसात्मा, वैश्वानरांशभूत वैश्वानरात्मा, हिरण्यगर्भांशभूत तैजसात्मा सर्वज्ञांशभूत प्राज्ञात्मा, इन पांच आध्यात्मिक प्रपञ्चों का स्वरूप होजाता है यह अब तक के प्रकरण से भलीभांति सिद्ध होजाता है । साथ ही में यह भी सिद्ध होजाता है कि इन पांचों विवर्त्तों में वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ की समष्टि ही मोक्तात्मा किंवा कर्म्मात्मा है यही लोकान्तर में कर्म्मभोगार्थ जाया करता है । साथ ही में विज्ञ पाठकों को यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उक्त पांचों विवर्त्तों में किसी विवर्त्त के साथ श्राद्धकर्म्म का कोई सम्बन्ध नहीं है । केवल शयाभाव का सम्बन्ध यामवत हंसात्मा के साथ है जैसा कि आगे के श्राद्धप्रकरण में स्पष्ट होजायगा ।

- पार्थिव—भूपिण्ड
  - अध्यात्म / कर्म्मात्मा
    - ३-४—सर्वज्ञ ——२१—एक० द्यौ ————→प्राज्ञात्मा (५)
    - २-४—हिरण्यगर्भ—१५—पञ्च अ० ————→तैजसात्मा (४)
    - १-३—वैश्वानर——९——त्रि वृ ————→वैश्वानरात्मा (३)
  - भूत
    - २-१—भूवायु——पभूभवायु ————→हंसात्मा (२)]—हंसात्मा
    - १-१—भूपिण्डम् —पञ्चमहाभूतानि————→शरीरम् (१)]—भूतात्मा]—भूतात्मा

प्रकरणारम्भ से अब तक आधिदैविक-आध्यात्मिक, इन दो संस्थाओं का स्वरूप सर्वज्ञ-अल्पज्ञसमतुलन—निरूपित हुआ है उसमें दोनों ही समानधर्मा हैं। जितनी कलाएँ ईश्वर में हैं ठीक उतनी ही कलाएं जीव में हैं। ये सब तो दोनों के स्वरूपधर्म हैं। इन के अतिरिक्त विभूति-पाप्मा, ये दो विभाग बच जाते हैं। इन दोनों में से विभूति भाग ईश्वर का स्वरूप धर्म है साथ ही में उस में पाप्मा का अभाव है। जीव में रहने वाली विभूति पाप्मा के अभाव में जीव का स्वरूप धर्म है, एवं पाप्मा के रहने पर वही विभूति आश्रित धर्मकोटि में प्रविष्ट हो जाती है। यही जीवेश्वर की पहिली विषमता है। ईश्वर पूर्णेन्द्र है, सर्वज्ञ है सर्वशक्ति है, सर्ववित् है। जीव अर्द्धेन्द्र है, अल्पज्ञ है, अल्पशक्ति है, अल्पवित् है। यही जीवेश्वर की दूसरी विषमता है। इन सब विषमताओं का मूल पाप्मा ही है। इन पाप्माओं का ईश्वर संस्था से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह जीवात्मा की स्वतन्त्र कमाई है स्वतन्त्र कमाई क्या है, प्रज्ञापराध है, बन्धन के मूल हैं। यद्यपि बन्धन मुक्ति लक्षणा विभूति का भी यह संग्रह करता है, परन्तु चित्त-मोह से मुग्ध बना हुआ यह विशेषरूप से बन्धन के हेतुभूत पाप्माओं का ही संचय करता है। पशु-पक्षी-आदि इतर प्राणियों प्राज्ञ भाग की अल्पता से प्रज्ञापराध करने में असमर्थ हैं। एकमात्र मनुष्य ही प्रज्ञा की पूर्णमात्रा लेकर उस से अनुचित लाभ उठाता हुआ प्रज्ञापराध कर बैठता है। इस की स्वतन्त्रता प्रज्ञापराध के कारण इसी के बन्धन का कारण बन जाता है। जब से सृष्टिक्रम चला है तब से अद्यावधि देवता-असुर-पितर-पशु, आदि किसी भी प्राणी ने ईश्वरीय सत्य-नियमों का उल्लङ्घन नहीं किया है। कारण इस का यही है कि इनमें किसी में भी पूर्णमात्रा नहीं है अतएव इन में से कोई भी ईश्वर प्रजापति के विरुद्ध नहीं है। एकमात्र मनुष्य ही ईश्वरीय सम्पूर्ण सम्पत्ति प्राप्त कर नियति का अतिक्रमण करने लगता है—

"ता इमाः प्रजास्तथैवोपजीवन्ति, यथैवाभ्य प्रजापतिर्व्यदधात्। नैव देवा अतिक्रामन्ति न पितरः, न पशवः। मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति" (शत० [illegible])।

"देव-पितर-पशुरादि सब ही अपनी ईश्वरीय मात्रा को पूर्णरूप से न लेने के कारण, साथ ही में प्रज्ञाबल से अपने मुक्ति का अधिष्ठाता बनने के कारण मानवजन्म सर्वश्रेष्ठतम, अत एव दुर्लभ है"—यह आर्षमहर्षि (पुराण) का निश्चित सिद्धान्त है। परन्तु प्रज्ञापराध जनित पाप्माओं से आक्रान्त होकर मुक्ति के स्थान में यह अपने आपको और भी अधिक बन्धन में डाल देता है।

पूर्व में विभूति को हमनें आत्मा के सम्बन्ध से जीव का आगमिक धर्म्म कहा है, एवं आत्मा के अभाव में उसी को स्वरूप धर्म्म कहा है। इन विभूतियों के सम्बन्ध में इतना स्पष्टीकरण और कर लेना चाहिए कि कुछ विभूतियाँ तो ऐसी हैं, जो आत्मा के रहने, न-रहने,-दोनों अवस्थाओं में स्वरूपधर्म्म ही बनी रहती हैं। एवं कुछ विभूतियाँ ऐसी हैं जो आत्मा के रहने पर भी स्वरूप-धर्म्मरूप में परिणत होजाती हैं। जीवभाग के विभूति-धाम-प्रपञ्च को थोड़ी देर के लिए छोड़िए। पहिले ईश्वरीय विभूति का विचार कीजिए। सब का क्रम के अनुसार ईश्वर में २८९ (दोसौ निवासी) जो विभूति-कलाएं होजाती हैं एवं ७१ (इकहत्तर) आत्म कलाएं हो जाती हैं। सम्भूय स्थूलदृष्टि से ईश्वर विराट् ३५४ (तीन सौ चौवन) कलाओं से युक्त बनजाता है। आत्मकलाओं का दिग्दर्शन कराया जाचुका है। प्रथम-विभूति-कलाओं के नामों का समावेश कर दिया जाता है। इस ईश्वरीय विभूति के भी सामान्य विशेष रूप से दो विभाग हैं। इन में सामान्य विभूतियाँ २११ (दोसौ ग्यारह) हैं, विशेष विभूति ४१ (इकतालीस) हैं। सम्भूय २५२ होजाती हैं। इन में २११ सामान्य विभूतियाँ ईश्वर, जीव दोनों में समान हैं, एवं ४१ विशेष विभूतियाँ असाधारण हैं। इन में से प्रथम सामान्य विभूतियों का ही दिग्दर्शन कराया जाता है।

१—ऋषय (१) —(विरूपास इद् ऋषय)

सब से पहिली विभूति 'ऋषि' है। असत् प्राण को ही ऋषि कहा जाता है। यही विभूतिलक्षण 'ऋषि' तत्त्व—सृष्टि के मूल-प्रवर्त्तक हैं। इस ऋषि प्राण की ब्रह्मर्षि-देवर्षि-महर्षि-परमर्षि-आदि अनेक जातियाँ हैं। "विरूपास इद् ऋषयस्त इद् गम्भीरवेपसः" (ऋक्सं० १०।६२।५) के अनुसार यद्यपि ऋषि प्राण अनन्त हैं परन्तु सृष्टि दशा में १२ ऋषि प्राणों को ही ईश्वर की प्रधान विभूति माना गया है। आप वसिष्ठ कश्यप—भरद्वाज—जमदग्नि आदि जितनें ऋषि नाम सुना करते हैं विश्वास कीजिए ये सब मौलिक प्राणों के नाम हैं। यह ऋषि प्राण वेदमूर्त्ति है इसी आधार पर "ऋषिर्वेदमन्त्रः" यह कहा जाता है। जिस ऋषि प्राण का जिस विज्ञान ने आर्षदृष्टि से सर्व प्रथम साक्षात् कार किया आविष्कार किया प्रथम द्रष्टा वह विज्ञान उसी ऋषि प्राण नाम से प्रसिद्ध होगया। वसिष्ठ अगस्त्य-विश्वामित्रादि मौलिक ऋषिप्राणों के प्रथम द्रष्टा विज्ञान ही वसिष्ठ-अगस्त्य-विश्वामित्रादि नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। इस ऋषि प्राण का—"रूपरसगन्धस्पर्शशून्यमप्रमतप्राणाम महद्रसं प्राणतत्त्वम्" यह लक्षण किया जासकता है। यह रूप रसादि से पृथक् होता हुआ

सीरूप है, अत एव यह उसे नहीं रोकता। एक ही बिन्दु (Point) में अनन्त प्राण समा सकते हैं। जिसे आप शक्ति (Force) कहते हैं, थोड़ी देर के लिए उसे ही आप ऋषि प्राण कह सकते हैं। प्राण सामान्य शब्द है। ऋषि-पितर-देव-असुर-गन्धर्व, सभी प्राण हैं। परन्तु जो सौ ब्रह्म वेदमूर्ति असत् प्राण है, उसे ही ऋषि कहा गया। इस ऋषिप्राण की विकास-भूमि ईश्वरीय संस्था का "स्वयम्भू" भाग है। दूसरे शब्दों में अपौरुषेय वेदमूर्ति स्वायम्भुव असत् प्राण को ही ऋषि कहा जाता है। शास्त्रसृष्टि का इसी ऋषि प्राण से सम्बन्ध है। इस विभूति का प्रधान कर्म है—ज्ञानतत्त्वप्रसार। हमारे अध्यात्म में इस ईश्वरीय संस्था का जो ऋषि भाग आता है, वही 'ऋषिऋण' नाम से प्रसिद्ध है। स्वाध्यायस्वरूप ज्ञान दान ही ऋषिऋण का शोधक है। बिना अध्ययनाध्यापन (वेदाध्ययनाध्यापन) के हमारा आत्मा कभी ऋषिऋण से मुक्त नहीं होसकता। आगे की सम्पूर्ण विभूतियाँ इसी ऋषि विभूति पर प्रतिष्ठित हैं अत एव हम इसे मूलविभूति कह सकते हैं। जब कुछ नहीं रहता, तब एकमात्र इसी असत्प्राण का साम्राज्य रहता है। यही आगे जाकर पितर-देवादि का उपादान बनता हुआ विश्वसृष्टि का कारण बनता है—(देखिए शत० ६।१।१)। इस विभूति के प्रधान १२ कहलाते हैं।

२—पितरः (८)—

विजातीय अनेक, अथवा दो मौलिक ऋषि प्राणों के रासायनिक संयोग से उत्पन्न होने वाला विभूतिलक्षण-पितृतत्त्व—रासा यौगिक अपूर्वभाव ही पितृतत्त्व है। भार्गव-आङ्गिरस प्राण के समन्वय से ही पितर की स्वरूप निष्पत्ति होती है। यही पितर प्राण मैथुनी सृष्टि का प्रथम आरम्भक है, अत एव इसे पितर (माता-बाप) कहा जाता है। भार्गव प्राण सौम्य है, आङ्गिरस प्राण आग्नेय है। दोनों ही पारमेष्ठ्य तत्त्व हैं। इन पारमेष्ठ्य तत्त्वों के समन्वय से उत्पन्न, दूसरे शब्दों में ऋषिप्राण के समन्वय से उत्पन्न इन पितरों की आठ जातियाँ हैं, जैसा कि आगे की पितृस्वरूपनिरूपणोपनिषत् में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। अभी प्रकरण सङ्गति के लिए केवल यही जानलेना पर्याप्त होगा कि अनेक ऋषि प्राणों के योग से उत्पन्न, मैथुनी सृष्टि का मूल प्रवर्त्तक परमेष्ठी से सम्बन्ध रखने वाला यौगिक अग्निगर्भित सोम प्रधान तत्त्व (आग्नेय प्राणगर्भित सौम्यप्राण) ही पितृविभूति है।

३–असुराः (९९)—

परमेष्ठी में प्रतिष्ठित भृगु की सौम्यावस्था का सम्बन्ध पितरों से है एवं घनावस्थारूप
विभूतिलक्षण–असुरतत्त्व —आप्य भाव का सम्बन्ध असुरों से है। दूसरे शब्दों में आप्य घार
मय प्राण का ही नाम असुर है। यह असुर प्राण संख्या में भी देवताओं से त्रिगुण है, एवं
उत्पत्ति में भी प्रथम है। कारण परमेष्ठी के अनन्तर ही देवावास भूमिरूप सूर्य्य का उदय होता
है। जबर देवता ३३ हैं तो आप्य असुर प्राण ९९ हैं। ये ही असुर प्राण जातियाँ—वृत्र,
नमुचि, अरक, त्वष्टा विरूपाक्ष, किमात, आकुली, आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। तम प्रदान
करना इस असुर प्राण का मुख्य कर्म है। देवता यदि ज्ञान प्रधान हैं तो असुर बलप्रधान हैं।
असुर एवं पितर दोनों विभूतियों का ईश्वरीय संस्था के दूसरे परमेष्ठी विवर्त के साथ
सम्बन्ध है।

४–देवाः (३३) —

परमेष्ठी के आङ्गिरस नाम के सतोवा में सोम-सम्बन्ध द्वारा जो एक ज्योतिर्मय प्राण
विभूतिलक्षण–देवतत्त्व —उत्पन्न होता है, वही द्योतनात् देवता नाम से प्रसिद्ध है। आङ्गिरस
की घनावस्था अग्नि है तरलावस्था वायु है विरलावस्था आदित्य है। तीनों के आगे जाकर
३३ विभाग होजाते हैं, जैसा कि पूर्व के अदिति प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है।
अग्नि–वायु–आदित्यमूर्त्ति इन ३३ गौं प्राणदेवताओं की विकासभूमि ईश्वरीय संस्था का तीसरा
विवर्त सूर्य्य ही है। यही वह प्रजापति की चौथी विभूति है। इस देवप्राण का जो प्रवर्ग्य या
आध्यात्म का आरम्भक बनता है वही "देवप्राण" नाम से प्रसिद्ध है। ज्योतिष्टोमादि यज्ञ ही
इस दुरावरण के निराकरणार्थ उपयुक्त माने गए हैं।

५–मनवः (४)—

सूर्य्य संस्था के केन्द्र में रहने वाली यह विभूति जो विराड्रूप से अण्डज–पिण्डज–
विभूतिलक्षण–मनुतत्त्व —स्वेदज–उद्भिज्ज, इन चारों प्रजाओं का आरम्भक बनती है वही
"मनु" नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि आरम्भ के "अमृतासमविज्ञानोपनिषत्" के मन्वन्तर
निरूपण में विस्तार से बतलाया जाचुका है। अतः यहां पिष्ट पेषण की आवश्यकता नहीं है।

यहां केवल यही समझना बस होगा कि, अश्वादि भेद से चार प्रकार का यह मनुस्तत्त्व सूर्य्य की ही विभूति है। मनुस्तत्त्व ही मानव विकास की मूल प्रतिष्ठा है।

६—गन्धर्वाः (२७)—

सोमतत्त्व को आग्नेयप्राण प्रधान असुरों के आक्रमण से सुरक्षित रखने वाला सौम्य विभूतिलक्षण—गन्धर्वतत्त्व—वायव्य प्राण ही गन्धर्व नाम से प्रसिद्ध है। गन्धर्व को अप्सरा। प्राण का भी उपलक्षण समझना चाहिये। क्योंकि जहां गन्धर्व प्राण रहता है, वहां अप्सरा प्राण अवश्य रहता है। गन्धर्व प्राण ही चपलता—विलासिता का प्रवर्त्तक है। इस के २७ रूप हैं। इन सब का चन्द्रमा से सम्बन्ध है। अत एव गन्धर्व को हम चान्द्रविभूति कहने के लिए तय्यार हैं।

७—ग्रहाः (४)—

चान्द्र सोम अर्कस्य से वायव्यान्तरिक्ष में व्याप्त रहता है। वायु पात्र में प्रतिष्ठित यह विभूतिलक्षण—ग्रहतत्त्व—चान्द्र नाम ही "ग्रह" नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्रह जिस वायु में प्रतिष्ठित रहता है, वहां वायु ग्रहपात्र" नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रह सोम से ही ग्रहयाग निष्पन्न होता है। उस ग्रह तत्त्व की उपांशु—अन्तर्याम—उपांशुसवन—मरुत्वतीय—ऐन्द्र—वायव्य—मैत्रावरुण—आदि ४ जातियां हैं। यह एक प्रकार के गैस हैं। इन्हीं के समन्वय तारतम्य से विश्वयाग सञ्चालित है। शतपथ ब्राह्मण के चतुर्थकाण्ड में इन चालीसों ग्रहों का सुविशद—सोमपरिक वैज्ञानिक निरूपण हुआ है। हम ऐसा विश्वास रखते हैं कि, जिस दिन भारतीय विद्वान् इन ब्राह्मणिक चारु। ४० ग्रहों को पहिचान कर इन से काम लेने लगेंगे, उस दिन पश्चिम का गैसकाण्ड इस म काण्ड में ही मस्त हो जायगा। परन्तु आवश्यकता है परीक्षा की। इस ग्रहविभूति का भी चन्द्रमा से ही सम्बन्ध है।

८—पशवः (५)—

त्रिवृत् पृथिवी पञ्चदश अन्तरिक्ष, एकविंश द्यु, इन तीनों लोकों के सम्मिश्र मार्गों के विभूतिलक्षण—पशुतत्त्व— समन्वय से रस्य से जो एक धनात्म्यभाव उत्पन्न होता है, वही पशु—विभूति है। इस पशुविभूति के 'छन्दः—पोष—सलिल—अग्नि—अन्न' भेद से अवान्तर पांच विभाग हैं। पांचों ही पशु महापृथिवी रूप द्यावापृथिव्य हैं। इन पांचों में जो अग्नि नाम का पशु है, उस के पुनः—अवान्तर पांच विभाग हैं। वे ही पांचों ग्रामेय पशु पुरुष—अश्व—गौ—अवि—अज, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। ये पांचों ही पशु प्राणात्मक हैं। जिस प्राणी पशु में

जिस मात्रापशु की प्रधानता रहती है, वह प्राणोपशु उस मात्रापशु के नाम से ही व्यवहृत होता है। इस पशुविभूति का सम्बन्ध त्रैलोक्य त्रिलोकी रूप महापृथिवी से ही है। पवन वश में इन पांचों पशुप्राणों से क्रमशः पांचों प्राणी पशुओं के भक्तों की स्थिति होती है।

९—जीवाः (१)—

संसक्त जीव, असंसक्त जीव, असंग जीव (जीव-जीव, मुक्त जीव-वायु जीव), इस विभूतिलक्षण-जीवतत्त्व—तीनों जीवों की समष्टिरूप जीव विवर्त्त ईश्वर की अन्तिम विभूति है। जीवमात्र ईश्वर की महिमा है, विभूति है, ईश्वर के गर्भ में प्रविष्ट है, विभूति सम्बन्ध से ही ईश्वर जीवों में व्याप्त हो रहा है। उक्त तीनों जीव भूपिण्ड पर प्रतिष्ठित हैं, अतः ईश्वरीय संस्था के अन्तिम विवर्त्तरूप भूपिण्ड को ही जीवविभूति का आलम्बन माना जासकता है।

इस प्रकार क्रमशः स्वयम्भू की विभूतिरूप १२ ऋषि, परमेष्ठी की विभूति रूप ८ पितर एवं ९९ असुर, सूर्य की विभूति रूप ३३ देवता, एवं ४ मनु, चन्द्रमा की विभूति रूप २७ गन्धर्व, एवं ४० ग्रह, महापृथिवी की विभूति रूप ५ पशु, भूपिण्ड की विभूतिरूप तीन प्रकार के जीव संकलन से कुल २३१ सामान्य विभूतियाँ होजाती हैं।

सामान्य विभूतयः—

सामान्यविभूतयः—२३१ —०—

(१)—१२—ऋषयः]——स्वयम्भू

(२)—८—पितरः }——परमेष्ठी
(३)—९९—असुराः

(४)—३३—देवाः }——सूर्य्यः
(५)—४—मनवः

(६)—२७—गन्धर्वाः }——चन्द्रमाः
(७)—४०—ग्रहाः

(८)—५—पशवः]——महापृथिवी }——पृथिवी
(९)—३—जीवाः]——भूः

२३१

* इस विषय का विस्तृत निरूपण शतपथ विज्ञान भाष्यान्तर्गत पशुविज्ञान विज्ञान प्रक... में देखना चाहिए।

स्व०— १–ऋषयः—"विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपसः ।
ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे ॥"—ऋक्सं० १०।६२।५ ।

—पितर —"त्वं सोम प्र चिकितो मनीषा त्वं रजिष्ठमनु नेषि पन्थाम् ।
तव प्रणीती पितरो न इन्दो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः ॥
—ऋक्सं० १।९१।१ ।

पर०— ३–असुराः—"इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः ।
जघान नवतीर्नव (१६) ॥"—ऋक्सं० १।८४।१३ ।

४–देवा —"इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च (३३) ।
मनोर्देवा यज्ञियासः ॥"—ऋक्सं० ८।३०।२ ।

सू०— ५–मनवः—"पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा ॥"—अथर्वसं० ६।१९।१ ।

६–गन्धर्वाः —"अप्सरसां गन्धर्वाणां मृगाणां चरणे चरन् ।
केशी केतस्य विद्वान्सखा स्वादुर्मदिन्तमः ॥"—ऋक्सं० १०।१३६।६

चं०— ७–ग्रहाः—"सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ।
छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादश ॥"
—ऋक्सं० १०।११४।५

८–पशवः —"यद् मर्त्तं तव देवता पाकाय विश्वरूपति ।
त्वां यज्ञे पशवः समासते समिद्धमपिशर्वरे ॥"—ऋक्सं० १।६।७

पृ०— ९–जीवाः —"परामामाध्वराणां कुमारी अभि मातरि ।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि ॥"—ऋक्सं० ५।७८।९

अब क्रमप्राप्त विशेष विभूतियों का विचार कीजिए। ये विभूतियाँ २१ भागों में विभ
। इन्हीं विभूतियों का संक्षेप से दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

१—विद्याविभूति (४)—

पहली सर्वालम्बन विभूति विद्या है। इस का उदय सूर्य्य में होता है, अतः हम इसे सूर्य्य-विद्याचतुष्टयीलक्षणा–विद्याविभूति—विभूति मानने के लिए तय्यार हैं। सूर्य्यसंस्था में धिषणा–प्राण, ये दो विभाग हैं। इन में धिषणा भाग ज्ञानप्रधान बनता हुआ विद्याविभूति का अधिष्ठाता बनता है। यही धिषणात्मक विद्याभाग धर्म-ज्ञान-वैराग्य ऐश्वर्य, इन चार भागों में विभक्त होता हुआ विद्यात्मक आनन्दविज्ञानमनोमय अव्ययपुरुष के प्रसाद का कारण बनता है। दूसरे शब्दों में सौर धिषणा चतुष्टयी से अव्यय का विद्याभाग विकसित होता है। अत एव इस बुद्धिरूप धिषणा को "विद्याविभूति" कहा जाता है। जीवसृष्टि में जिस जीव में इन चारों विद्याओं का पूर्ण विकास होता है, वह ईश्वर के समकक्ष होता हुआ अवतारपुरुष कहलाता है। जैसा कि अभियुक्त कहते हैं—

> ऐश्वर्य्यस्य च समग्रस्य धर्म्मस्य यशस श्रियः।
> ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरिणा ॥१॥
> उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
> वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥२॥

ईश्वर में विद्याभाव की प्रधानता है। उधर जीव में विद्या के साथ साथ वाच्या रूप अविद्या भाग का भी प्राबल्य रहता है। यही जीव का जीवत्व है। हमारे में (अध्यात्मसंस्था में) जो धर्म्म–ज्ञान–वैराग्य–ऐश्वर्य भावों का उदय होता है वह एक मात्र ईश्वरविभूतिरूप धिषणात्मक सौर विद्याभाग की ही महिमा है। इस विभूति के प्रभाव से जीवात्मा अविद्या–अस्मिता–रागद्वेष–अभिनिवेश रूप अविद्या चतुष्टयी के आवरण से विमुक्त होता हुआ विषय किल्बिष नष्ट कर मुक्त होजाता है। इस विद्या विभूति की प्राप्ति का उपाय है–उद्गीथ रूप से सूर्य्य की उपासना जिस का कि प्रकार छान्दोग्यादि उपनिषदों में विस्तार से बतलाया गया है। देखिए श्री च १ प्र० । "श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ०" (यजु स ३१।२२) के अनुसार भी एवं लक्ष्मीपति सूर्य्यनारायण के अतिरिक्त दूसरा कौन ऐश्वर्य प्रदाता 'य एवैष

आदित्ये पुरुषस्तमेवाहमुपासे' (कौ० ब्रा० ४।४)—"असङ्गोऽयम् पुरुषो न सज्जते, न व्यथते, न रिष्यति" (बृ० उ० ४।३।१५) इत्यादि रूप से उपस्तुत, विश्व के प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त रहते हुए भी सर्वथा असङ्ग सौरविज्ञान तत्त्व के अतिरिक्त दूसरा कौन वैराग्यभाव का उदय कर सकता है। "धियो यो नः प्रचोदयात्" (यजुःसं० २२।६ , "त्रयी वा एषा विद्या तपति" (शत० ४।०।४।५।२) "त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः" इत्यादि श्रौतस्मार्त्त सिद्धान्तों के अनुसार त्रयीमूर्त्ति, अत एव ज्ञानमूर्त्ति, अत एव च सविता (प्रेरयिता-) प्राणात्मक सूर्य्य के अतिरिक्त दूसरा कौन हमारी बुद्धि में ज्ञानोदय कर सकता है। प्रकृति सिद्ध नियति भाव के सञ्चालक, विश्व-सम्राट्, अत एव अक्षरमूर्त्ति शास्ता नियन्ता सूर्य्य के अतिरिक्त और कौन हमारी बुद्धि को धर्म्ममार्ग पर आरूढ़ रख सकता है। इस प्रकार सर्वात्मना यह सिद्ध होजाता है कि, सौरविज्ञान भाग ही ईश्वर की विद्याविभूति है एवं इस के धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य ऐश्वर्य, ये चार पर्व हैं। साथ ही में यह भी सिद्ध होजाता है कि, जीवात्मा में यह विद्या विभूति जन्मना, एवं उद्गीथोपासनारूप कर्म्मणा उभयथा सूर्य्य से ही आती है।

२—कामविभूतिः (२)—

दूसरी है काम नाम की महाविभूति। अव्यय मन से सम्बन्ध रखने वाले मन का रेता महाविभूतिलक्षणा-कामविभूति—रूप यह काम ही विश्व का मूल है। इसी काम विभूति से ईश्वर प्रजापति सत्-असत् के आधार पर असद्भावों का ग्रन्थिबन्धन कर सृष्टि के अधिष्ठाता बनते हैं एवं इसी काम से ग्रन्थिविमोक द्वारा मुक्ति के प्रवर्त्तक बनते हैं। ईश्वर की इसी महा विभूति का स्वरूप बतलाते हुए ऋषि कहते हैं—

> कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
> सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥
>
> —(ऋक्सं० १०।१२९।४)।

"एकोऽहं बहु स्याम्" "स एषत-सोऽकामयत भूयान्त्स्यां प्रजायेय" इत्यादि काम विभूतियों से ही ईश्वर प्रजापति विश्व, एवं तदुपलक्षित प्रजोत्पत्ति में समर्थ हुआ है। इस काम की मूल प्रतिष्ठा अव्ययमन है जैसा कि ऊपर कहा जाचुका है। इस लिए इस काम

क—"सिसृक्षा" "मुमुक्षा" ये दो रूप होजाते हैं। मन रस-बलात्मक होने से उभयात्मक है। रसानुग्राहक काम मुमुक्षा (मुक्ति की कामना) है, बलानुग्राहक काम सिसृक्षा (सृष्टि की इच्छा) है। मुमुक्षावश निवर्तक मन है सिसृक्षावश प्रवर्तक मन है। शब्दार्थ की अभिन्न मर्यादा के अनुसार सुख का वाचक "कम्" है। भौतिक सृष्टि में नित्य अन्तर्मुख रहता हुआ भी मन सुखरूप से सर्वथा असङ्ग है। अत एव इस असङ्ग मन के लिए "अकार" का संकेत है। शब्दसृष्टि में 'अकार' कण्ठताल्वादि के अभिघात से सर्वथा असंस्पृष्ट रहता हुआ निर्लेप है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए कामना होती है। उदाहरण के लिए सीव कामना को सामने रखिए। हम जो भी विषय प्राप्त करना चाहते हैं पहिले उस की कामना होती है। कामना विषय प्राप्ति का प्रथमद्वार है। बिना कामना के विषय प्राप्ति असम्भव है। इसी कामना से हमारा मन प्राप्तव्य विषयमय (विषयाकाराकारित) बन जाता है। इस बौद्ध विषय से मन सुख का अनुभव करने लगता है, अत एव इस बौद्ध विषय की "कम्" (सुखम्) संज्ञा रख दी गई है। मन इस विषय में डूबा रहता है। चारों ओर विषय व्याप्त रहता है। दूसरे शब्दों में मन सर्वतो विषय से घिरा रहता है। इसी विषय स्थिति का ध्यान में रख कर ऋषियों ने इस मनोवृत्ति को "काम" शब्द से व्यवहृत किया है। काम शब्द की "क्-अ-म्-अ"-यह परिस्थिति है। कम् रूप विषय अकार रूप मन में ओत है, मन रूप अकार विषय रूप कम् में प्रोत है। यही दोनों का (मन-एवं विषय का—अकार एवं कम् का) ओतप्रोत भाव सम्बन्ध है। सुखांशभूत ककार के आगे मनोमूर्ति अकार है। इस प्रकार कम् के मध्य में क-अ-म-इस रूप से अकार बैठा है (सुखरूप विषय के मध्य में सुखभोक्ता मन बैठा है)। सुखांशरूप मकार के आगे भी म्-अ-इस रूप से मनोमूर्ति अकार बैठा है। इस प्रकार मन विषय के बाहिर भीतर, सब ओर व्याप्त हो रहा है। इस क-म अ-की सम्मिलित अवस्था ही "कामः" है। ध्यान रखिए, एक शिल्पी पहिले अपने मनो धरातल में अभिलषित चित्र बनाता है। यही मानसिक ([illegible]) चित्र है। विषयरूप चित्र पहिले मन में प्रतिबिम्बित होता है। यही इस का चित्रकाम (चित्रनिर्माणेच्छा) है। इसी काम रूप चित्र से आगे इसे भौतिक रूप दिया है। इस लिए हम कह सकते हैं कि, काम में बौद्ध विषय प्रतिष्ठित रहता है। इस काम के काम और इच्छा ये दो रूप हैं। इन में कामात्मक काम का ईश्वरीय विभूति से सम्बन्ध है, एवं इच्छात्मक काम का जीवविभूति से सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में ईश्वर का

इच्छा "क्षोभ" कहलाती है, जीव का काम "इच्छा" शब्द से व्यवहृत होता है। कामत्वेन दोनों समान होते हुए भी दोनों सर्वथा विभक्त तत्त्व हैं।

यदि विषय के साथ मन की आसक्ति होजाती है, तो विषय प्रधान बन जाता है मन गौण रहजाता है। दूसरे शब्दों में मन विषयमय बन जाता है। यहां मन गुण है, विषय प्रधान हैं। इस विषयासक्तिप्रधान काम को काम न कह कर हम "इच्छा" कहेंगे। इट अन्न है, सम्पूर्ण-विषय मन के भाग्य बनते हुए इट्रूप अन्न हैं। आसक्तिवश मन इस इडन्न में सुप्त है। अत एव विषय में सुप्त, विषयाधीन मन ही—"इट-विषयात्मकमन्न-तत्र सुप्त मन"—"इट-तत्र शेते" के अनुसार "इच्छा" है। इसी विषयानुबन्धिनी इच्छा को "उत्थाप्याकाङ्क्षा" कहा जाता है। इच्छारूप यही काम आसक्ति का मूल बनता हुआ बन्धन का कारण है। इस का सम्बन्ध एकमात्र जीव के साथ ही है। ठीक इस के विपरीत यदि अनासक्ति पूर्वक मन का विषय के साथ सम्बन्ध होता है, तो ऐसी अवस्था में मन प्रधान रहता है, एवं विषय गौण होजाते हैं। यहां मन प्रधान है विषय गुण हैं। इस अनासक्तिमूलक काम को हम—"काम" ही कहेंगे। ईश्वर में इसी कामविभूति की प्रधानता है। यदि जीवात्मा इस कामविभूति का अनुगामी बन जाता है तो शरीर यात्रा निर्वाहक मात्र आगत विषय उस के प्रधान मन पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते। ऐसा काम अकाम है, ऐसे काम से कृत कर्म्म अकर्म्म हैं। ऐसी इच्छा अनिच्छा, किं वा ईश्वरेच्छा है। इसी को दर्शन भाषा में— "उत्थिताकाङ्क्षा" (स्वाभाविकी इच्छा) कहा जाता है। इस कामप्रधाना अनासक्तिमूला इच्छा से होने वाली अन्तःप्रवृत्ति (विषय भोग) यज्ञार्थ कहे गये हैं, आत्मार्थ कर्म्म हैं, अत एव ये अबन्धन हैं। इन के अतिरिक्त जो कर्म आसक्ति से के बनते हुए विषय प्रधान बन जाते हैं, ये यज्ञ (आत्म) मर्यादा से बहिर्भूत होते हुए बन्धन के कारण बन जाते हैं- "यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः" (गीता ३।९)। नियमित समय पर भूख लगना स्वाभाविक कामना है, उत्थिताकाङ्क्षा है। इस कामना के शान्त करने के लिए विषय संग्रह करना अबन्धन कर्म्म है। आप भोजन से तृप्त होगए। सामने चाट वाले को देख कर चाट खाने की इच्छा हो पड़ती है। यही उत्थाप्याकाङ्क्षा है, यही बन्धन का मूल है। भूख लगी, भोजन कर लिया, प्यास लगी, पानी पी लिया, गरमी लगी पंखा झल लिया। बैठे बैठे थक गए, टहलने लगे, ये सब उत्थिताकाङ्क्षा मूलक अबन्धन कर्म्म हैं। बिना भूख स्वादवश सदा मद

में कुछ डालते रहे, बिना प्यास के ही सोडा–लेमन आइसक्रीम आदि को गले के नीचे उतारते रहे, बिना आवश्यकता के ही विपुल व्यायाम (मिचली के पट्ठे) से शरीर को कम्पित करते रहे, बिना प्रकाम के ही इधर उधर भटकते रहे, सोते रहे, ये सब अत्याज्याकामूलक कम्पन कर्म हैं। ऐसा इच्छारूप काम विभूति नहीं अपितु पाप्मा है। ईश्वर नित्य काम होता हुआ भी निर्लेप है। ब्रह्म का काम निष्काम है। अतएव—"कुर्वन्नपि न लिप्यते"। ऐसी काम विभूति ईश्वर में सहज सिद्ध है। जीव में भी यद्यपि यह सहज सिद्ध है, परन्तु यहां यदि पाप्मा आ जाते हैं, तो इस का सहजभाव आवृत होजाता है। बतलाना इस काम प्रपञ्च के प्रकरण में यही है कि, ईश्वरीय काम सिसृक्षा–मुमुक्षा इन दो भागों में विभक्त है। इन दोनों की प्रतिष्ठा श्वोवसीयस नाम से प्रसिद्ध अव्यय मन है। इधर जीव के निवृत्ति काम की प्रतिष्ठा बुद्धियुक्त मन है एवं प्रवृत्ति काम की प्रतिष्ठा विषय प्रधान मन है।

३–कर्म्मविभूतिः (७)—

और विद्याभाग का निरूपण करते हुए हमनें बतलाया है कि सूर्य्य में धिषणा–प्राण अनुष्ठानलक्षणा–कर्म्मविभूति—नाम के दो तत्त्व प्रतिष्ठित हैं। इन दोनों में से प्रथम धिषणा भाग विद्याविभूति की मूल प्रतिष्ठा है, एवमेव प्राणभाग कर्म्मविभूति की आलम्बन भूमि है। सूर्य्यप्राण त्रयीमय है। इसी त्रयी प्राण के आधार पर स्तोत्र–शस्त्र–ग्रह रूप यज्ञकर्म्म का वितान होता है। और ऋक्तत्त्व से शस्त्रकर्म्म का, और सामतत्त्व से स्तोत्रकर्म्म का एवं और यजुस्तत्त्व से ग्रहकर्म्म का स्वरूप निष्पन्न होता है। स्तोत्र औद्गात्र कर्म्म है, शस्त्र हौत्र कर्म्म है एवं ग्रह आध्वर्यव कर्म्म है। अग्नि द्वारा हौत्र कर्म्म, वायु द्वारा आध्वर्यव कर्म्म एवं आदित्य द्वारा औद्गात्र कर्म्म सम्पन्न होता है। इस प्रकार प्रकृति मण्डल में (ईश्वर संस्था में) यह यज्ञ कर्म भावमूर्त्ति सूर्य्यदेवता पर प्रतिष्ठित है— "सैषा त्रय्येव विद्या तपति" (शत० १०।५।२।२)। कर्म्मत्रयसमष्टिरूप यज्ञ कर्म्म सौर प्राण का प्रथम कर्म्म है। इसी यज्ञ कर्म्म से यह सौर प्राण ऋतुरूप संवत्सर रूप में परिणत होकर सम्पूर्ण प्रजा को उत्पन्न करता है—"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा"। प्रकृति मण्डल में जितने भी कर्म हैं उन सब में श्रेष्ठतम यही यज्ञ कर्म है। जिस यज्ञकर्म्म से प्रजोत्पत्ति होती है जो यज्ञ कर्म्म प्रजा की स्थिति का कारण है, जो यज्ञकर्म्म यज्ञेश्वर का स्वरूप सम्पादक है, जो यज्ञकर्म्म समष्टि–

व्यापि रूप से सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होरहा है, उस यज्ञकर्म्म से बढ़ कर दूसरा कौनसा कर्म्म श्रेष्ठ होसकता है ? अत एव— 'इषे त्वोर्जेत्वा वायवस्थ देवो वः प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे' (यजुर्वे० १।१ इस मन्त्र का व्याख्यान करते हुए भगवान याज्ञवल्क्य ने— "यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म्म—तस्मतदाह श्रेष्ठतमाय कर्म्मण" ।(शत० १।७।१।५) यह कहा है। इस यज्ञकर्म्म के अवान्तर अनेक भेद हैं, जिन का कि संक्षिप्त निदर्शन पूर्व की विज्ञानोपनिषत् में किया जाचुका है।

सौर प्राण सावित्राग्निमय है। इस प्राणमूर्त्ति सावित्राग्नि में निरन्तर पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पति सोम की आहुति हो रही है। इसी आहुति से सौरप्राणाग्नि प्रकाशित बन रहा है—'स्व ज्योतिषा वितमा वव्रये' (ऋक्सं० १।६१।२२)। इस प्रकाशित प्राणाग्नि में पारमेष्ठ्य आहुत सोम, एवं स्वयं प्राणाग्नि, इन दोनों का समन्वय है। दूसरे शब्दों में सोमाग्नि का समन्वित रूप ही सौर प्रकाश है। यह प्रकाश ही ईश्वर प्रजापति की तपो विभूति है। सूर्य्य क्या तप रहा है, ईश्वर प्रजापति तप कर्म्म का अनुष्ठान कर रहे हैं तपश्चर्या कर रहे हैं। तपोमूर्त्ति यह सौर प्राण (सोमगर्भित, अत एव प्रकाशित सम्वत्सरावच्छिन्न सावित्राग्नि) पृथिवी—बुध—मङ्गल—बृहस्पति—शनि—वेपसेमा, आदि स्व-उपग्रहों के पोषण में प्रवर्ग्यरूप से निरन्तर खर्च हो रहा है। ईधर परमेष्ठी में से इस में निरन्तर सोम आहुत होता रहता है। अत एव उपग्रह रूप लोक, एवं तत्र प्रतिष्ठ प्रजाओं में प्रवर्ग्य रूप से निरन्तर अपना प्राण समर्पित करता हुआ भी सूर्य्य स्वमात्रा से क्षीण नहीं होने पाता। बिना किसी स्वार्थ के सूर्य्य इस प्रकार निरन्तर अपने प्राणों का खर्च करता रहता है यही सौर प्राण का दूसरा तप कर्म्म है। इस तपो रूप प्राणाग्नि में इमने सोम अग्नि इन दो तत्त्वों का समन्वय बतलाया है। सोम भृगु है, अग्नि अङ्गिरा है। भृगु-अङ्गिरा का समन्वय ही तप का प्रवर्त्तक है इसी आधार पर "भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्" (यजु:सं० १।१८) यह कहा जाता है। अपने प्राणों का निरन्तर अन्योपयोग में खर्च करना ही तप है। इसी आधार पर तप का— 'एतद्वै तप इत्याहुर्यत् स्वं ददाति' यह लक्षण किया जाता है। यही सौरप्राण सम्वत्सर रूप में परिणत होकर स्वयं तपो मूर्त्ति बनता हुआ सब को तपा रहा है। इसी तप के सम्बन्ध से ग्रीष्म ऋतु के दोनों मास (ज्येष्ठ-आषाढ़) तप तपस्य नाम से प्रसिद्ध हैं। सूर्य्य के इसी तपःस्वरूप को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

से अभिभूत होजाता है। ऐसी अवस्था में यज्ञ-तपो-दान तीनों इष्ट—आपूर्त—दत्त इन रूपों में परिणत होजाते हैं। ये तीनों पार्थिव कर्म्म हैं। वस्तुतस्तु—"प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः" (प्रश्नोपनिषत्) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार कर्म्ममात्र का प्रवर्त्तक सौरप्राण ही है परन्तु पार्थिवप्राण से आक्रान्त होकर पार्थिवरूप में परिणत होता हुआ वह सब क्रिया भाग से विरहित हो जाता है। इसी आधार पर इष्ट—आपूर्त—दत्त नाम की कर्म्मश्रेणी को वेदान्ति ने—"क्रियानिरपेक्षसत्कर्म्म" इस नाम से व्यवहृत किया है। पृथिवी गृह (घर) है। पृथिवी का अग्नि—गृहपति इस से सम्बन्ध रखने वाले पार्थिव कर्म्म "इष्ट" हैं। अन्न पृथिवी प्राकृतिक नद नदियों का इधर उधर बहकर प्रजा का पालन करना, ओषधि। वनस्पतियों का परोपकारार्थ परिपक्व होना, ये सब "आपूर्त" हैं। गुफा—पर्वत कन्दरा-आदि आदि भूमि रूप से पार्थिव विवर्तों का दूसरों के उपयोग में आना ही दत्त है। इन तीनों प्राकृतिक क्रिया निरपेक्ष कर्म्मों के आधार पर क्रमशः प्रतिष्ठित पञ्चयज्ञादि नित्यकर्म्म, एवं गृहाग्नि से सम्बन्ध रखने वाले पाकयज्ञ नाम से प्रसिद्ध गृह्यकर्म्म "इष्टकर्म्म" हैं। ये कर्म्म स्वार्थ मूलक हैं। वापी—कूप—तडाग—धर्म्मशाला—पाठशाला आदि बनवाना आपूर्त कर्म्म है। एवं असमर्थों को देना दत्त कर्म्म है। आपूर्त और दत्त का परार्थ से सम्बन्ध है। इन तीनों ही पार्थिव कर्म्मों में शास्त्र ज्ञान अपेक्षित है। सरस्वती के अन्यतम शत्रु, एवं लक्ष्मी के अनन्य भक्त भी इन तीनों कर्म्मों में निष्ठा रखते जाते हैं। ईश्वरीय अवस्था में ये तीनों पार्थिव कर्म्म भी निष्काम भाव से सम्बन्ध रखते हुए अनुष्ठित हैं। यदि जीव भी निष्काम बुद्धि से इन में प्रवृत्त होता है, तब तो वह भी मुक्त ही होजाता है। आसक्ति की प्रधानता में ये ही तीनों पार्थिव विभूतियाँ एकमात्र पितृस्वर्ग प्राप्ति का कारण बनती हैं।

इन पार्थिव कर्म्मों के दिति, अदिति भेद से दो विभाग हो जाते हैं। अदिति कर्म्म सत् कर्म हैं, दिति कर्म्म तम प्रधान होते हुए असत् कर्म्म हैं। पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाले दिति अदिति दोनों विवर्त्तों का स्वरूप पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है। प्रकरण समन्वय के लिए केवल इतना स्मरण करलेना पर्य्याप्त होगा कि, सूर्य्य की ओर रहने वाला भूभाग सौर प्राण सम्बन्ध से प्रकाशित रहता है विरुद्ध भाग अप्रकाशित रहता है। प्रकाशित पार्थिव विवर्त्त अदिति है, अप्रकाशित भूच्छायारूप पार्थिव भाग दिति है। उपर्युक्त इष्ट—आपूर्त—दत्त कर्म्मों का सम्बन्ध अदिति पृथिवी से है, एवं हिंसा स्तेय—आलस्यादि तमोमय कर्म्मों का

रूप दिति भाग से सम्बद्ध है। ऐसे कर्म्म "विद्यानिरपेक्ष असत्" कर्म्म कहलाते हैं। मादक वस्तु का सेवन-हिंसा-स्तेय, ये तीनों कर्म्म इष्ट-आपूर्त-दत्त-के प्रतिद्वन्द्वी भाग हैं। दूसरे को देना जहां दत्त है, वहां दूसरे का ज्ञान लेना स्तेय है। दूसरे का पालन करना जहां आपूर्त है, वहां दूसरे का नाश करना हिंसा है। अपने आत्मज्ञान को विकसित करना जहां इष्ट कर्म्म है, वहां मद्यादि मादक पदार्थों से अपने ज्ञान को तिरोहित कर लेना अनिष्ट कर्म्म है। सूर्य्य उत्तर में है, उत्तरपथ स्वर्गपथ है।

"विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः ।
न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः ॥"

उक्त श्रौत सिद्धान्त के अनुसार उपर्युक्त विद्यासापेक्षप्रवृत्तिसत्कर्म्माधिकारी उत्तर मार्ग रूप देवयान का आश्रय लेते हुए देवस्वर्ग में जाते हैं। विज्ञिशास्त्र के अनुसार पृथिवी दक्षिणादिक् में मानी गई है। पृथ्वी सम्बन्धी (अदिति पृथिवी सम्बन्धी) विद्यानिरपेक्षप्रवृत्तिसत्कर्म्माधिकारी दक्षिणायन का आश्रय लेते हुए पितृस्वर्ग में जाते हैं। एवं दिति पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाले विरुद्धकर्म्माधिकारी (विद्यानिरपेक्ष शास्त्रनिषिद्ध कर्म्माधिकारी) तमोमय नरक लोकों के अधिकारी बनते हैं। ईश्वरीय सत्ता में सौरकर्म्म-अदिति कर्म्म-दितिकर्म्म, तीनों ही अनासक्तिभाव के कारण विभूतिकोटि में प्रविष्ट मान लिए गए हैं। यदि दैवीसम्पत् दैवीविभूति है, तो आसुरीसम्पत् आसुरी विभूति है। सदसत् (अच्छा बुरा), सब उस के गर्भ में निहित है। उस का दोनों पर समान रूप से निग्रहानुग्रह चलता है। इस प्रकार कर्म्मविभूति के सम्बन्ध में इस कर्म्म के (ईश्वरसंस्था की अपेक्षा से), सौर यज्ञ तप-दान, अदिति पृथिवी से सम्बद्ध पार्थिव इष्ट-आपूर्त दत्त, दितिकर्म्म, सात कर्म्म होजाते हैं। जीवसत्ता के क्रम से ९ विभाग होजाते हैं। इन ९ में से अन्त के तीन जीवापेक्षया पाप्मा हैं। बाकी के ६ निवृत्तिपक्ष में आत्मरूपा विभूतियाँ हैं। प्रवृत्तिपक्ष में संसाररूपा विभूतियाँ हैं।

जीवसत्ता के इन ९ विभागों में से विद्यासापेक्ष यज्ञ-तप-दान, इन तीनों की प्रतिष्ठा सूर्य्य है। विद्यानिरपेक्ष इष्ट-आपूर्त दत्त, इन तीनों सत्कर्म्मों की प्रतिष्ठा अदितियुक्त पार्थिव-शुक्रभाग है। विद्यानिरपेक्ष अनिष्ट-हिंसा-स्तेय, इन तीनों असत्कर्म्मों की प्रतिष्ठा दिति

युक्त पार्थिव कृष्णप्राण है। प्रकारान्तर से यों समझिए। सूर्य्य को मन-प्राण-वाङ्मय बतलाया है। सूर्य्य की इन तीनों कलाओं से क्रमशः ज्ञान क्रिया अर्थ, का विकास होता है। मन वासना का जनक है, प्राण विक्षेप की प्रतिष्ठा है एवं वाक् आवरण की जननी है। इन तीनों का क्रमशः सूर्य्य-अदितिमय अन्तरिक्ष दितिपृथिवी, इन भागों में विकास होता है। स्वयं सूर्य्य मनःप्रधान होता हुआ ज्ञानप्रधान है। अतएव सौर कर्म्म विद्यासमुच्चित कर्म्म कहा जाता है। सत्त्व का ज्ञान से सम्बन्ध है, अतः इस कर्म्मत्रयी को हम सात्त्विक कर्म्म कह सकते हैं। अदितिमय अन्तरिक्ष प्राणप्रधान होता हुआ क्रियाप्रधान है। यहाँ विद्याभाग गौण है। अतएव इस अदिति-कर्म्मत्रयी को विद्यानिरपेक्ष कहा गया है। रजोगुण का क्रिया से सम्बन्ध है। अतः यह कर्म्म विवर्त्त "राजसकर्म्म" कहला सकता है। दितिमय पार्थिव भाग वाक्प्रधान बनता हुआ अर्थप्रधान है। यहाँ चित्तमोह की प्रधानता है। अतएव इस कर्म्म को 'असत् कर्म्म' कहा गया है। तमोगुण का आवरणरूप वाङ्मय अर्थ से सम्बन्ध है, अतः इसे "तामस कर्म्म" कहा जासकता है। इन तीनों में दो आत्मा की विभूतियाँ हैं, तीसरा विभाग ऊपर से तो विभूति, किन्तु बीच में पाप्मा है। मन-प्राण-वाक् तीनों ही त्रिगुणतत्त्व हैं। अतएव प्रत्येक कर्म्म तीन-तीन भागों में विभक्त होजाता है। कर्म्मविभूति † का यही संक्षिप्त स्वरूप परिचय है।

१-विद्यासमुच्चितसत्कर्म्म—

१—यज्ञः (मनोमयः) —ज्ञानमयः
२—तपः (प्राणमयम्) क्रियामयम्
३—दानम् (वाङ्मयम्)—आवरणमयम्
} सौरकर्म्मविभूति (मनोमयं सात्त्विक कर्म्म)

—— × ——

२—विद्यानिरपेक्षसत्कर्म्म—

१—इष्टम् (प्राणो) —काम
२—आपूर्त्तम् प्राण) विकार
३—दत्तम् (वाक्) अनर्थ
} अदितिकर्म्मविभूति (प्राणमय राजस कर्म्म)

—— × ——

† इस विषय का विशद विवेचन गीताविज्ञानभाष्यान्तर्गत कर्म्मयोगरहस्य खण्ड के प्रकरण में देखना चाहिये।

३–विद्यानिरपेक्षासत्कर्म—

१—अनिष्टम् (मनो०) –काम०
२—हिंसा (प्राण०) –निषेध०
३—स्तेयम् (वाक्० आचरण०)

} दितिकर्मविभूति (वाङ्मय तामस कर्म)

—— ०×० ——

ईश्वरसंस्थापेक्षया विभूतिकर्म्माणि—सप्त (७)

आ०	१—यज्ञकर्म्म	अ०	१—इष्टकर्म्म	१—दितिकर्म्म
वि०	२—तपःकर्म्म	वि०	२—आपूर्तकर्म्म	
भू०	३—दानकर्म्म	भू०	३—दत्तकर्म्म	

—— •×० ——

जीवसंस्थापेक्षया विभूतिकर्म्माणि—षट् (६)

आ० वि० भू०	१—यज्ञकर्म्म	मौलिविभूतिः	अ० वि० भू०	१—इष्टकर्म्म	पार्थिवविभूतिः
	—तपःकर्म्म			२—आपूर्तकर्म्म	
	३—दानकर्म्म			३—दत्तकर्म्म	

—— • ——

४—शुक्रविभूति —— (६)

चौथी विभूति शुक्र* है। जिस विभूति के द्वारा ईश्वरात्मा विश्व का उपादान बनने में समर्थ होता है, वही शुक्रविभूति है। यह शुक्र अमृत–मृत्यु, भेद से दो भागों में विभक्त है प्रत्येक की पुनः तीन तीन अवस्थाएं हो जाती हैं। सम्भूय ६ शुक्र हो जाते हैं। यही ६ ओं शुक्र विज्ञानभाषा में अमृतवाक्–अमृतआपः–अमृताग्नि, मर्त्याग्नि, मर्त्य आप –मर्त्यावाक्, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। अमृत वाक्शुक्र स्वयम्भूपुर का, अमृत आपःशुक्र परमेष्ठीपुर का, अमृताग्निशुक्र, एवं मर्त्याग्निशुक्र दोनों सूर्यपुर के, मर्त्याप

---

* इस विषय का विशद विवेचन ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्यान्तर्गत (प्रथमखण्ड) चतुष्पाद् ब्रह्मनिरूपण प्रकरण के 'शुक्रनिरुक्ति' प्रकरण में देखना चाहिये।

एक चान्द्रपुर का, एवं सर्वे बाण एक पृथिवीपुर का उपादान है। जब तक यह एकविभूति है, तभी तक एकमूला-विश्वविभूति (संसार) है। एकमेवाद्वितीयत्व की व्यवस्था करवाती है।

—— ० ——

५—प्राणविभूति —(१७)

पाँच वीं प्राणविभूति है। इस प्राणविभूति के तीन प्रधान विवर्त हैं। १ अव्ययसत्यात्मक प्रतिष्ठालक्षणा-आत्मविभूति—अव्ययप्राण है, २ देवसत्यात्मक देवप्राण है। पांच साक्षात् प्राण हैं। सम्भूय १७ प्राण हो जाते हैं। स्वयम्भू ब्रह्म है, इसका अर्कस्थ मुख्यप्राण परोरजा है। परमेष्ठी ब्रह्म है इस का अर्कप्राण वारुण है। सूर्य्य ब्रह्म है, अर्कप्राण ऐन्द्र है। चन्द्रमा ब्रह्म है, अर्कप्राण सौम्य है। भूपिण्ड ब्रह्म है, अर्कप्राण आग्नेय है। स्वयम्भू-परमेष्ठी आदि पांचों पर्वों की समष्टि ब्रह्मसत्य है। अत एव वसुविभूतिरूप इन पांचों को हम 'ब्रह्मप्राण' कह सकते हैं।

सौम्यत्रिलोकी में प्रतिष्ठित सर्वज्ञ हिरण्यगर्भ-वैश्वानरमूर्ति देवसत्यात्मा प्रसिद्ध है। इन में से सर्वज्ञ ब्रह्म है इसका अर्कप्राण प्राण है। हिरण्यगर्भ ब्रह्म है, इस का अर्कप्राण व्यान है। वैश्वानर ब्रह्म है, इसका अर्कप्राण अपान है। सर्वज्ञप्रतिष्ठारूप २१ स्तोमावच्छिन्न द्युलोक से अन्तरिक्ष की ओर आता हुआ दिव्य प्राण प्राण है, स्वर्लोक की ओर जाता हुआ वही व्यान है। इसी प्रकार वैश्वानर की प्रतिष्ठारूप त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पृथिवी लोक से अन्तरिक्ष की ओर आता हुआ पार्थिवप्राण समान है, भूर्लोक की ओर जाता हुआ वही अपान है। इस प्रकार प्राणापान के दो दो रूप हो जाने से इस पार्थिव प्राण के पांच विभाग हो जाते हैं। यह देवसत्य के अर्क हैं अतः इन पांचों को "देवप्राण" कहा जा सकता है।

सूर्य्य में सप्तावयव ऋषिप्राण का विकास अवश्य होता है। सामान्य विभूति में जिस सप्तप्राणात्मक ऋषितत्त्व का दिग्दर्शन कराया गया है उस से यह ऋषिप्राण सर्वथा विभिन्न है। ये ऋषिप्राण देवप्राण के पितामह स्थानीय हैं, ये साक्षात् ऋषिप्राण देवप्राण के पूर्वगामी हैं। दूसरे शब्दों में ये ऋषिप्राण पितृद्वारा देवताओं के जनक हैं। ये ऋषिप्राण दैवत नहीं हैं। सूर्य्य देवम है। यहाँ, इसी देवप्राण से इस सात सहस्रादि विश्व प्राणों का विकास

होता है। इसी को उपनिषत् परिभाषा के अनुसार प्रद्रप्राण भी कहा जाता है। यही साकञ्ज सप्तर्षि, आदि नामों से भी प्रसिद्ध हैं। इन्हीं का दिग्दर्शन कराती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजाः।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः॥
—ऋक्सं० १।१६४।१५

अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना॥२॥
—शत० ब्रा० १४।५।२।५

सृष्टिक्रमानुसार ऋषि से पितर पितर से, देवता उत्पन्न होते हैं। परन्तु यहां विपरीत क्रम है। सौर प्राणरूप देवता से इन साकञ्ज ऋषिप्राणों का विकास होता है, अतएव इनके लिए 'ऋषयो देवजाः' यह कहा गया है। स्वायम्भुव विभूतिरूप ऋषि अमृतप्रधान थे, सौर विभूतिरूप ये ऋषि मृत्युप्रधान होते हुए विरूप हैं। इन सातों में चार प्राण सदा मध्य में रहते हैं, दो प्राण क्रमशः दोनों पार्श्व में रहते हैं, एक प्राण सदा मूल में रहता है। इसी अभिप्राय से—'चत्वार आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छं प्रतिष्ठा' (शत० ६।१।१।६) यह कहा जाता है। प्रत्येक पदार्थ का शरीर (पिण्ड) इसी सप्तर्षिरूप साकञ्ज प्राण के संस्थान पर प्रतिष्ठित है। शरीरीय संस्था में सूर्यप्राणप्रधाना सर्वज्ञसंस्था शिरोगुहा है हिरण्यगर्भसंस्था उरोगुहा है वैश्वानरसंस्था उदरगुहा है भूपिण्ड वस्तिगुहा है। इन चार स्थानों में समानरूप से इस साकञ्जप्राण की स्वतन्त्र स्थिति होती है। ममूष चारों गुहाओं के २८ प्राण हो जाते हैं। ये अट्ठाईसों प्राण मुख्यविभूति हैं। पूर्वोक्त प्राणोदानादि पञ्चप्राण पार्थिव विभूति है, पञ्च ब्रह्म प्राण ब्रह्मसत्यविभूति है। इनके अतिरिक्त इन्हीं की अवान्तर विभूतियों से देवदत्त धनञ्जय इस आदि भेद से अनन्त प्राण हो जाते हैं। केवल व्यानप्राण के ही ७२०० (बहत्तर हजार) भेद हो जाते हैं। इस प्राणविभूति के सम्बन्ध में अधिक विस्तार नहीं किया जा सकता। इस विषय की अधिक जिज्ञासा रखने वालों को 'प्राणोपनिषत् (प्रश्नोपनिषत्)—हिन्दी विज्ञानभाष्य' देखना चाहिए। प्रकृत में प्राणविभूति के सम्बन्ध में केवल यही जान लेना पर्याप्त होगा कि ५—ब्रह्म प्राण ब्रह्मसत्यात्मा की ५—देवप्राण देवसत्यात्मा की एवं ७ गुहा

प्रस्त सूर्य्य की विभूतियाँ हैं। सम्भूय १७—प्राण हो जाते हैं। प्राणविभूति का यही संक्षिप्त दिग्दर्शन है।

—— * ——

५—ब्रह्मप्राणाः—ब्रह्मसत्यात्मनि प्रतिष्ठिता विभूतिरूपा —

१—स्वायम्भुवार्कप्राण—परोरजा
२—पारमेष्ठ्यार्कप्राण—वारुणः
३—सौरार्कप्राणः—ऐन्द्र
४—चान्द्रार्कप्राणः—सौम्यः
५—भौमार्कप्राण—आग्नेय

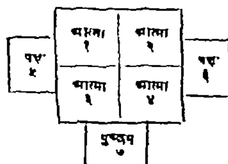
—— × ——

६—देवप्राणाः—देवसत्यात्मनि प्रतिष्ठिता विभूतिरूपाः पार्थिवा —

[illegible]
११-द्यौ { १—सर्वज्ञे प्रतिष्ठित गतिभावयुक्तो दिव्यप्राणः —————— प्राण
२—सर्वज्ञे प्रतिष्ठित आगतिभावयुक्तो दिव्यप्राणः —————— उदान }
१५ अन्त० [३—हिरण्यगर्भे प्रतिष्ठित—स्थितिभावयुक्त आन्तरिक्ष्यप्राणः —— व्यान
३-पृथिवी { ४—वैश्वानरे प्रतिष्ठित—गतिभावयुक्तः पार्थिवप्राणः —————— समान
—वैश्वानरे प्रतिष्ठितः—आगतिभावयुक्तः पार्थिवप्राणः —————— अपान }

७—सावयवप्राणा -सूर्यात्मकसर्वज्ञ हिरण्य०-वैश्वा०-भूपिण्डेषु तत्तद्गुहासु चितिरूपेण प्रतिष्ठिता सौरविभूतिरूपाः सौरा

७



४—आत्मप्राणाः
२—पक्षप्राणौ
१—पुच्छप्रतिष्ठाप्राणः

७—सप्त सावयवप्राणाग्नयः

—— •×• ——

६—ज्ञान कर्म्मेन्द्रियविभूति —(५)

इस ६ ठी विभूति का सम्बन्ध वयुनवित केवल पार्थिव अग्नि के साथ ही समझना चाहिये। जीवनयात्रासाधनलक्षणा ज्ञान-कर्म्मेन्द्रियविभूति— वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ मूर्त्ति ईश्वर आत्मा है। चन्द्रमा इस का प्रज्ञानमन है, सूर्य्य इसकी बुद्धि है, परमेष्ठी इसका महानात्मा है, स्वयम्भू इसका आत्मा है, षोडशी इसका आव्यय आत्मा है। जब सब विवर्त्त इसमें ज्यों के त्यों (ओकवस) प्रतिष्ठित हैं तो अवश्य ही ज्ञानकर्म्मेन्द्रियों का भी यहाँ सम्बन्ध मानना पड़ेगा। मानना क्या पड़ेगा, है ही। यदि ईश्वरसंस्था में ज्ञानकर्म्मेन्द्रिय विवर्त्त न होता, तो जीवसंस्था में इन्द्रियों का विकास असम्भव था। अब देखना यह है कि, त्रिमूर्त्ति देव सत्यात्मा इस साक्षी ईश्वर की इन्द्रियों का स्वरूप कैसा है ? ईश्वरवस्तु भूपिण्ड के आधार पर प्रतिष्ठित महापृथिवी में प्रतिष्ठित है। भूपिण्ड यदि मर्त्याग्निसोममय है, तो यह पृथिवी (त्रैलोक्य त्रिलोकीरूपा महापृथिवी) अमृताग्निसोममयी है। इन दोनों की व्यक्त, अव्यक्त, भेद से दो दो अवस्थाएँ हैं जिनका कि दिग्दर्शन पूर्व में कराया जा चुका है—(देखिए पृ० संख्या १२१)। पूर्व की प्राणविभूति में प्राणसत्यांशभूत अतएव प्राणप्राण नाम से प्रसिद्ध त्रिष भौम आग्नेय प्राण का दिग्दर्शन कराया गया है इसी की घन-तरल-विरल, भेद से तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में एक ही अग्नि—अग्नि वायु, इन्द्र इन तीन स्वरूपों में परिणित हो रहा है। एक व्यक्ताग्नि के तीन रूप बन रहे हैं एक साहस्री की तीन साहस्रियाँ बन रही है, एक आत्मा त्रिकल बन रहा है। भूपृष्ठ से आरम्भ कर ३३ वें स्तोम तक का वषट्कार मण्डल आपप्रधान होता हुआ परमेष्ठी है—"आपमेव परमेष्ठी"। इस आप परमेष्ठी के गर्भ में समाहित भूपिण्ड प्रतिष्ठित है—"अप्सु भूमिरिव श्रिता"। (गोपथब्राह्मण)। यह आप पारमेष्ठ्य तत्त्व सोम है। ऐसी अवस्था में यह सिद्ध हो जाता है कि भूपृष्ठ से अथवा भूकेन्द्र से आरम्भ कर ३३ तक सोमपरायण है। इस सोमपरायण के त्रिवृत्स्तोम तक व्यक्तरूप घनाग्निमूर्त्ति सहस्रभावापन्न वैश्वानरात्मा प्रतिष्ठित है, सोमपरायण के पञ्चदश स्तोमपर्य्यन्त व्यक्तरूप तरलाग्निमूर्त्ति सहस्रभावापन्न सर्वज्ञ प्रतिष्ठित है। इन तीन स्तोमों में यो व्यक्ताग्नित्रयी प्रधान है, सोम गर्भ में है। अतः इन तीनों को अग्नि शब्द से ही व्यवहृत कर दिया जाता है। आगे के त्रिणव त्रयस्त्रिंश (२७-३३-), इन दो स्तोमों में सोम की प्रधानता है, यहाँ अग्नि गर्भ में है। अतएव सोमप्रधान अग्निकर्म इस अग्निगर्भित सोम लोक को—"अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः" इत्यादिरूप से सोमलोक ही नाम दिया जाता है। यही सोमलोक चन्द्रमा की प्रतिष्ठा है। इसी आधार पर

देवात्मा में—"अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा" यह क्रम माना गया है। चान्द्रसोम चिदंश से युक्त होकर ज्ञानमूर्ति बना हुआ है, एवं वाय्वग्नि स्वयं क्रियामूर्ति है। इस प्रकार पञ्चर्षि सिवा वह मेरव वरुणाग्निसोममूर्ति इस पञ्चसत्यात्मा में सोमरूप अर्थ, चिद्रूप ज्ञान, प्राणरूप क्रिया तीनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इन तीनों के प्रधानरूप से ५ विवर्त हो जाते हैं। तीनों ही तत्त्व पाँच भागों में विभक्त होकर प्रतिष्ठित हो गए हैं। इनकी पूर्वोक्त पञ्चावस्था ही पञ्च आत्मा है, एवं इन पाँचों की अर्थावस्था इन्द्रियाँ हैं। पाँचों का ज्ञानांश ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, प्राणांश कर्मेन्द्रियाँ हैं। दूसरे शब्दों में भूतप्राणगर्भित ज्ञानांश ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, ज्ञानगर्भित प्राणांश कर्मेन्द्रियाँ हैं, प्राणज्ञानगर्भित भूतांश भूतमात्रारूप इन्द्रियों के विषय हैं। इन्हीं पाँच पाँच स्थानों के कारण ज्ञान–प्राण–भूत, तीनों की पाँच पाँच अवस्थाएँ हो जाती हैं। संभूय पन्द्रह कलाएँ हो जाती हैं। इन १५ दों का अधिष्ठाता यही अव्यय सर्वसत्यात्मा है,—"षोडशकलं वा इदं सर्वम्।"

अध्यात्म में जो स्थान वागिन्द्रिय का है, वही यहाँ सोमगर्भित आग्नेय वाक्प्राण है। दूसरे शब्दों में यही ईश्वर की वागिन्द्रिय है। यही वाक् नामों की अधिष्ठात्री है। वागिन्द्रिय के आधार पर ही नाम विवर्त प्रतिष्ठित है। प्राण (प्राण) स्थानीय सोमगर्भित वायव्य प्राणभाग है। यही गन्धमात्रा का, एवं स्पर्श का आलम्बन है। चक्षु स्थानीय सोमगर्भित आदित्यप्राणभाग है। रूपों का अधिष्ठाता यही है। इन्द्रियमनःस्थानीय अग्नि(?)गर्भित भास्वर सौम्यप्राणभाग है। श्रोत्रस्थानीय अग्निगर्भित दिक्सौम्यप्राणभाग है। दर्शनाभिमत ११ इन्द्रियों का इन्हीं पाँच में अन्तर्भाव हो जाता है। प्रज्ञानभेद से ये ही पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, प्राणभेद से ये ही पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। संभूय १० इन्द्रियाँ हो जाती हैं। ईश्वर में इन इन्द्रियों का सर्वतः विकास है। जीवात्मा नियतेन्द्रिय है, ईश्वर सर्वेन्द्रिय है। इसका कारण इसकी पूर्णता ही है। ईश्वर अपूर्ण है। अतएव इसके प्राण के मध्य में से सभी शक्तियाँ चारों ओर समानरूप से वितत होती हैं। ईश्वरशरीर का प्रत्येक अवयव सुन सकता है, देख सकता है, बोल सकता है, गन्धग्रहण कर सकता है। बस जीवेश्वर की इन्द्रियों में यही वैषम्य है। इन्द्रियों के सर्वत विकास के कारण ही वह सर्वज्ञ-सर्वकर्म्मा-सर्वशक्ति-सर्ववित्, इत्यादि नामों से व्यवहृत होता है। इसी ईश्वरीय इन्द्रियभाव का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

साथ ही में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, आपके (जीव के) शरीर में आँख कान नाक, आदि इन्द्रियों का जैसा आकार है, उसकी इन्द्रियों का वैसा आकार नहीं है। दूसरे शब्दों में वह आप जैसा शरीर नहीं रखता। उसका शरीर सर्वथा गोलाकार है। उसमें शक्ति रूप से ही इन्द्रियों का विकास है। इसी अभिप्राय से शक्त्यपेक्षया ईश्वर को शक्तिरूप-चक्षुरादि इन्द्रिययुक्त मानती हुई भी श्रुति इसे आकारभाव के अभाव के कारण अपाणिपाद-अवश्य बता रही है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥
(श्वे० ३।१९)

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्॥

(३३) ५—अग्निगर्भिता—उक्थाप	(आत्मा)	सर्वज्ञ	उक्थाग्निसोममूर्तिः आत्मा (मुख्यप्राण)
(२७) ४—अग्निगर्भित—उक्थसोम	(आत्मा)	सर्वज्ञ	
(२१) ३—सोमगर्भित—उक्थादित्य	(आत्मा)	सर्वज्ञ	
(१५) २—सोमगर्भित—उक्थवायु	(आत्मा)	हिरण्यगर्भ	
(९) १—सोमगर्भित—उक्थाग्नि	(आत्मा)	वैश्वानर	

(३३) ५—आग्नेयार्कप्राणगर्भिता—अर्काप	(प्राण)	→श्रोत्रेन्द्रियम्	अर्काग्निसोममय प्राणः (अनूपीना आत्मा)
(२७) ४—आग्नेयार्कप्राणगर्भित—अर्कसोमः	(प्राण)	→इन्द्रियं मनः	
(२१) ३—सौम्यार्कप्राणगर्भित—अर्कादित्य	(प्राण)	→चक्षुरिन्द्रियम्	
(१५) २—सौम्यार्कप्राणगर्भित—अर्कवायु	(प्राण)	प्राणेन्द्रियम्	
(९) १—सौम्यार्कप्राणगर्भित—अर्काग्नि	(प्राण)	→वागिन्द्रियम्	

मूलमात्रा ५	प्रज्ञामात्रा ५	प्राणमात्रा ५
१—दिक्सोमो ——	दिङ्मूर्त्तिः सौम्यचिद्रूपा प्रज्ञा ——	दिक्सौम्यप्राणः प्राणः
२—भास्वरसोमो ——	भास्वरसौम्यचिद्रूपा प्रज्ञा ——	भास्वरसौम्यप्राणः प्राणः
३—ऐन्द्रसोमो ——	ऐन्द्रसौम्यचिद्रूपा प्रज्ञा ——	ऐन्द्रप्राणः प्राणः
४—वायव्यसोमो ——	वायव्यसौम्यचिद्रूपा प्रज्ञा ——	वायव्यप्राणः प्राणः
५—आग्नेयसोमो ——	आग्नेयसौम्यचिद्रूपा प्रज्ञा ——	आग्नेयप्राणः प्राणः
धर्मः	ज्ञानम्	क्रिया
धर्मो मूलप्रतिष्ठा ——→	धर्माधारे ज्ञानप्रवृत्तिः ——→	ज्ञानाधारे कर्मप्रवृत्तिः

षोडशकलो देवसर्वात्मा—ईश्वर

७—पूर्णेन्द्रत्वविभूतिः (१)—

पूर्णेन्द्रता ईश्वर की विभूति है। इसी पूर्णता ने इसे "आप्तकाम" बना रक्खा है। इसी सर्वव्याप्तिलक्षणा-पूर्णेन्द्रविभूति—आत्मकामना से यह काममय रहता हुआ भी निष्काम है। ईश्वर की इसी पूर्णता में स्त्रीपुम्भाव समाविष्ट है। अपने अर्द्ध भाग से यह पुरुष बन रहा है, अर्द्ध भाग से स्त्री बन रहा है। सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–वैश्वानर की समष्टि ही ईश्वर है, यह पाठक न भूले होंगे। इस ईश्वर का रोदसी त्रिलोकी के अधिष्ठाता कश्यपप्रजापति के साथ ही सम्बन्ध है। सूर्य्य द्वादश प्राणसमष्टि है। इन १२ प्राणों में ८ आत्मस्वरूप समर्पक, वायु भावानिधाता ऐन्द्र, एवं ऐन्द्र, सर्वभूतक सर्वत्रव्यान प्राण ही "इन्द्र" नाम से प्रसिद्ध है। यह इन्द्र प्राण (सौरप्राण) कूर्म्माकृति में परिणत होकर ही सम्पूर्ण विश्व का प्रभव बनता है—

"एतद् रूपं कृत्वा प्रजा असृजत्, यदसृजत्–अकरोत्तद्, यदकरोत्तस्मात् कूर्म्मः। कश्यपो वै कूर्म्मः। तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य" इति (शत० ७।५।१।५)।

'कश्यपात् सकलं जगत्'। इसी सौर प्राणमूर्त्ति (इन्द्रमूर्त्ति) कश्यप प्रजापति के गर्भ में, वस्तुतः हमारा पूर्वोक्त ईश्वर तत्त्व प्रतिष्ठित है। सौरप्राण ही तो सम्वत्सर में परिणत होता है। सम्वत्सर प्रजापति ही तो इस त्रैलोक्य देवसत्य प्रजापति है।

इस कश्यप प्राण के रश्मिमण्डल–अरश्मिमण्डल, भेद से दो विभाग हैं। किसी निरभ्र ग्राम में आप आइए। यहाँ चारों ओर का भूपिण्ड आप को समतल दिखाई

देगा, साथ ही में चारों ओर का हरिज्ञन (क्षितिज-Horizon) आकाश से संलग्न दिखाई देगा। यही दृश्य कश्यप प्रजापति की साक्षात् प्रतिकृति (चित्र) है। जैसा स्वरूप कूर्म्म (कच्छप) का है, ठीक वैसा ही स्वरूप कश्यप का है, अत एव इसे "कूर्म्म" नाम से व्यवहृत किया गया है इस सौर संस्थात्मक कश्यप किंवा कूर्म्मप्रजापति के चारों ओर पारमेष्ठ्य अपूतत्त्व व्याप्त है। दूसरे शब्दों में प्राणमूर्ति सम्वत्सरात्मक कश्यप समुद्र गर्भ में प्रतिष्ठित है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर मन्त्रश्रुति कहती है—

> अपां गम्भन्त्सीद मा त्वा सूर्योऽभिताप्सीन्माग्निर्वैश्वानरः ।
>
> अच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्वानु त्वा *दिव्यो वृष्टिः सचन्ताम् ॥
>
> —(यजुः १३।३०)

आपोमय-चतुर्थ लोक के गर्भ में प्रतिष्ठित त्रैलोक्यमूर्ति इस कश्यप प्रजापति का त्रिवृत् स्थानीय वैश्वानराग्निमय पार्थिवरस दधि (पय) है, पञ्चदशस्थानीय हिरण्यगर्भवायुमय आन्तरिक्ष्य रस घृत (तरल) है, एकविंश स्थानीय सर्वज्ञ आदित्यमय दिव्यरस मधु (विरल) है, एवं स्वयं पारमेष्ठ्य रस अमृत (सोम) है। दधि भाग से हमारे अस्थि मांसादि घन भागों का, आन्तरिक्ष्य घृत रस से मेद-मज्जा-कफ-लाला-असृक्-रस-आदि तरल भागों का, दिव्य मधु रस से शुक्र का, एवं पारमेष्ठ्य अमृत रस से मन का निर्म्माण होता है। इन्हीं चारों रसों से तो कश्यप प्रजापति प्रजा निर्म्माण में समर्थ होते हैं। यही अवस्था अदृश्य मध्यस्थ कूर्म्म प्रजापति की है। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि, दृश्यकूर्म्म में वह स्वरूप सपादिका अदिति के सम्बन्ध से सूर्य्य की प्रधानता है, एवं अदृश्य कूर्म्म में रश्मिस्वरूप संपादिका दिति के सम्बन्ध से चन्द्रमा का साम्राज्य है। इस प्रकार खगोलात्मक (आकाश गोलात्मक) कश्यप मध्यस्थ भूपिण्ड के मध्य पतित होने से दो भागों में विभक्त होरहा है। ऊपर के ऊर्ध्व कटाह में और अग्नि की प्रधानता है, अधोऽवस्थित अधर कटाह में चान्द्र सोम की प्रधानता है। एक ही आदर्शप्रजापति अग्नि-सोम की प्रधानता से दो भागों में विभक्त हो रहा है। इस का अग्निमुख्य ऐन्द्रभाग पुरुष है, सोममुख्य ऐन्द्र भाग स्त्री है। आधा इन्द्र प्राण अग्निप्रधान बन कर पुरुष बन रहा है आधा इन्द्र प्राण सोमप्रधान बनता हुआ स्त्री कहला रहा है। दोनों की समष्टि पूर्णेन्द्र रूप कश्यप प्रजापति है। इस के इसी दाम्पत्य स्वरूप का निरूपण करता हुआ मानव शास्त्र कहता है—

---

* वारिभिस्त्वा इति।

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः॥ (मनु १।३२)

अपने हृदय भाग रूप सूर्यप्रधान पुरुषभाग से यही पुरुषसृष्टि का कारण बनता है, चान्द्र भागप्रधान परमेष्ठी भाग रूप स्त्रीभाग से यही स्त्रीसृष्टि का उपादान बनता है। दोनों भावों की समष्टि का समुच्चय पूर्णेन्द्र है, यही पूर्ण पुरुष है। इसी के लिए—"पूर्णमदः" यह कहा जाता है।

—०—

८—सत्यसंकल्पत्व—(१)

सत्यसंकल्पत्व विभूति—

पूर्णमूर्ति ही ईश्वर के सत्य संकल्प की प्रतिष्ठा है। सत्यत्व, सत्यरूप सार्व ही सत्य है। यद्यपि अल्पात्मसंस्था में भी सत्य का कुछ अंश समन्वित हो सकता है। परन्तु जीव अपूर्ण होने से पूर्ण सत्य की मर्यादा से च्युत हो जाता है। अत एव इस के लिए "अनृतसंहिता वै मनुष्याः" (शत॰ …) यह कहा जाता है। ईश्वर हमारे पूर्ण ईश्वर होता हुआ पूर्ण सत्य रूप है। इसी पूर्णता के बल पर ईश्वर के हृदय से जो भी संकल्प उठता है वह सर्वथा सत्य (त्रिकालाबाधित) होता है।

९—एकरसत्व—(१)

एकरसत्व विभूति—

पूर्णता ही ईश्वर के एक रसत्व का कारण है। जो वस्तु अपूर्ण होती है, वही अनेक रस होती है। यदि एक पात्र में आधा पानी है, तो उस में ऊर्मियों (लहरों) का उदय होता रहेगा। यह ऊर्मि भाव ही पानी का रसत्व है। यदि पानी ऊपर तक भरा रहता है तो ऊर्मियाँ शान्त हो जाती हैं। ईश्वर पूर्णेश्वर है अत एव वह सर्वदा ही एकरस है। इस के गर्भ में प्रतिदिन असंख्य भले ही ऊर्मि भाव से नित्य आक्रान्त रहें, परन्तु वह तो समष्टि रूप से समुद्रवत् सर्वथा शान्त रहता हुआ एकरस ही है।

—०—

१०—एकावस्थत्व—(१)

एकावस्थत्व विभूति—

जिस प्रकार जीवात्मा जाग्रत–स्वप्न–सुषुप्ति–आदि ३ अवस्थाओं में परिवर्तित होता रहता है, वैसे यह इन अवस्थाओं से एकान्ततः विमुक्त है।

सु प्रज्ञा में यह नित्य जागृत रहता हुआ सदा एक ही अवस्था से युक्त है। परिच्छिन्न वस्तु को अनेक अवस्थाओं में परिवर्तित होने का अवसर मिल सकता है, परन्तु जो पूर्ण है, एक रस है, वह किस प्रदेश में परिवर्तित हो। फलतः उस में अपरिवर्तनमात्ररूपत्व एकावस्थत्व सिद्ध हो जाता है। इसी विभूति का निरूपण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

> य एषु सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्म्मिमाण ।
> तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
> तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्व्वे तदु नात्येति कश्चन "एतद्वै तत्" ।
> (कठ० ५।८) ।

—:o:—

११–१२—विश्वव्यापकत्व, एव विश्वसृष्टत्व—(२)

अपनी ज्ञान–क्रिया–अर्थ शक्ति से यही सम्पूर्ण विश्व को (सौम्य त्रिलोकी रूप पार्थिव विश्वव्यापकत्व, विश्वसृष्टत्व विभूति—विश्व को) उत्पन्न कर आत्मरूप से सब में प्रविष्ट हो रहा है। सम्पूर्ण भूत इस में प्रविष्ट हैं, सब भूतों में यह प्रविष्ट है अत एव श्वेताश्वतरादि ने इसे "सर्वभूतान्तरात्मा" कहा है। "प्रजापति सर्वमसृजत, यदिदं किञ्च। स आत्मन्नेव (आत्मनि–एव) प्रजातिमधत्त"। इन्हीं दोनों विभूतियों का उल्लेख करती हुई श्रुति कहती है—

> अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
> विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१॥
>
> —श्वे० उ० ५।१३ ।

—:o:—

१३–१४–१५—"सर्वसाक्षित्व, सर्ववशित्व, एव कर्म्माध्यक्षत्व–(३)

पूर्वोक्तप्रज्ञा के प्रभाव से ही यह अपने विश्व, एवं प्रजा का प्रत्यगात्मरूप से साक्षी सर्वसाक्षित्व, सर्ववशित्व, कर्म्माध्यक्षत्व विभूति—बनता हुआ साक्षीसुपर्ण नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। यही प्रत्यगात्मरूप से शारीरकात्मा (भोक्ता सुपर्ण) की प्रतिष्ठा बनता हुआ अन्तर्य्यामी रूप से अपने नियतिबन्धन से उस पर शासन करता हुआ "वशी" ((वश ।

रखने वाला) बन रहा है। यही नियति द्वारा हमारे कर्म्मों की प्रवृत्ति का कारण बनता हुआ कर्म्माध्यक्ष बन रहा है। इन्हीं तीनों विभूतियों का स्वरूप परिचय कराते हुए ऋषि कहते हैं—

> एको देव सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
> कर्म्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।
> एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।
> तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥
>
> —श्वे० उप० ६।११।१२।

—— o ——

१६–पाप्मासंसृष्टत्व—(१)

ईश्वरसंस्था के उदर में ही सदसत् सब कुछ प्रतिष्ठित है। पाप्माओं से संसृष्ट जीव भी पाप्मोऽसंसृष्टत्व विभूति—इसी के गर्भ में प्रतिष्ठित है। परन्तु निष्काम कर्म्म के प्रभाव से सब में रहता हुआ भी यह इन पाप्माओं से पृथक् रहता है। क्लेशादि पाप्मा इस पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते। यही तो ईश्वर की ईश्वरता है— 'पश्य मे योगमैश्वरम्'। इसी विभूति का स्पष्टीकरण करते हुए—"क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वरः" यह कहा जाता है।

—— o ——

उक्त विभूतियों से युक्त अग्नि–वायु–आदित्य की समष्टि रूप अत एव अग्नि–वायु–आदित्यमय तत्पुरुष इसी सर्वभूतान्तरात्मा वैश्वानर–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञमूर्ति साक्षी देवसत्यात्मा का संग्रह रूप से निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

> अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
> वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥१॥
> तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्य्यः सोमात् पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम्।
> पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूताः ॥२॥
> तस्माद्दृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।
> संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्य्यः ॥३॥

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥४॥
सप्तप्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्तहोमाः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥५॥
अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात् स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥६॥
पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ॥७॥
(मुण्डक० २।१)

कठोपनिषत्

१—अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥८॥
२—वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥९॥
३—सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥१०॥

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥११॥
तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥१२॥

—— ० ——

पूर्व में जिस आत्मसंस्था का सामान्य विभूति कलाओं का, एवं विशेष विभूति कलाओं का दिग्दर्शन कराया गया है, यदि उन सब का संकलन किया जाता है, तो ईश्वरसंस्था

में निम्न लिखित क्रम से २२६ कलाएँ होजाती हैं। इन के सम्बन्ध में भी यह ध्यान रखना चाहिए कि, यह संख्या व्यवस्था सर्वथा नियत ही नहीं है। अनन्त की विभूतियाँ भी अनन्त ही हैं। उनकी गणना कौन कर सकता है। उदाहरण के लिए इस की एकमात्र रुद्र विभूति को ही लीजिए। सामान्य दृष्टि से "एको रुद्रः" के अनुसार यहां रुद्र इस की एक विभूति मानी गई है, वहां रुद्र को ही अवान्तर विभूतियों के सम्बन्ध में 'असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्" यह कहा जाता है। अत एव अन्त में —"सहस्रधा महिमानः सहस्रम्" इत्याद्युपनिषद्मूलक 'सर्वमिदमानन्त्यम्" इसी सिद्धान्त पर विश्राम मानना पड़ता है।

१—आत्मकलाविभागा —(७२)

- १—परात्परकला ⎫
- १—अव्ययकला ⎬—अर्धमात्रा
- १—अक्षरकला ⎪
- १—आत्मक्षरकला ⎭
- १—आत्मकला]—अकार
- १८—प्राणकला]—उकार
- १—पशुकला]—मकार

—— ० ——

७२—कला अव्ययमूर्तिरीश्वरप्रजापतिः — ईश्वरात्मा—साक्षी — ॐ

२—सामान्यविभूतिकलाविभागा —(२२१)—(देखिए पृ० सं० ३५०)

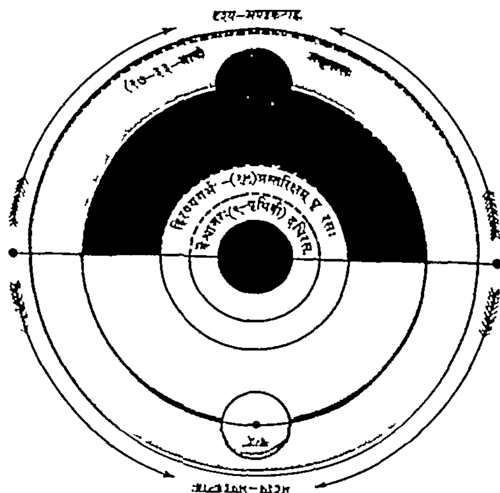
३—विशेषविभूतिकलाविभागा —(५१)

- १—विद्याविभूति—(४)।
- २—कामविभूतिः—(२)।
- ३—कर्मविभूति—(७)।
- ४—गुरुविभूति—(६)।
- ५—प्राणविभूति—(१७)।
- ६—शान्तकर्मप्रियत्व०—(२)।
- ७—पूर्वोत्पन्नत्वादि०—(१)।
- ८—सम्यगवस्थानत्व०—(१)।
- ९—एकरसत्व०—(१)।
- १०—पवमानत्व०—(१)।
- ११—विश्वव्यापकत्व०(१)।
- १२—विश्वधारकत्व०—(१)।
- १३—सर्वमाधिपत्य०—(१)।
- १४—सर्वनियन्तृत्व०—(१)।
- १५—सर्वाधिष्ठातृत्व०—(१)।
- १६—पाप्मापहत्व (१)

(५१)

पूर्णेन्द्रविभूतिरूप, कश्यपप्रजापति पश्यक साक्षी

सोमगर्भितसावित्राग्नि –अह –पुरुष (अदितिमण्डलम्)



अग्निगर्भित माम –रात्रि –स्त्री (दितिमण्डलम्)

						आत्मा-अंशः	[illegible]	पयाव भगाः		गल-नाम (?)	निर्वाण (?)	
[illegible]	१	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible] २८	[illegible]	[illegible]	[illegible] ६४		१२-[illegible]	४१	
	२	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible] २९	[illegible] १८	[illegible]	[illegible] ६४		८-[illegible]	१-[illegible] (४)	[illegible] (१)
	३	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible] ३०	[illegible]	[illegible]	[illegible] ६६		३१-[illegible]	२-[illegible] (१)	[illegible]
	४	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible] ३१	[illegible]	[illegible]	[illegible] ६६		२-[illegible]	३ [illegible] (८)	[illegible] (१)
[illegible]	१	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible] ३१	[illegible]	[illegible]	[illegible]			४ [illegible] (६)	[illegible] (१)
	२	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible] ३३	[illegible]	[illegible]	[illegible]		[illegible]	५ [illegible] (१६)	[illegible] (१)
	३	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible] ३४	[illegible]	[illegible]	[illegible] ७०			६-[illegible] (४)	[illegible] (१)
[illegible]	४	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible] ३५	[illegible] ४४	[illegible]	भूतगमः ७१		[illegible]	८-[illegible] (१)	[illegible] (१)
	६	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]			९-[illegible]	[illegible]

ईश्वरीय विभूतियों का दिग्दर्शन समाप्त हुआ। अब क्रमप्राप्त वैश्वानर-तैजस-पारपात्री भोक्तात्मा—प्राज्ञ मूर्ति भोक्ता जीव की विभूतियों, एवं पाप्माओं का संक्षिप्त निरूपण कर इस प्राणात्मविद्यामोपनिषत् को समाप्त किया जाता है। जीवात्मा एक पथिक है। उसे कण्टकाकीर्ण अनेक मार्ग पार करने पड़ते हैं। अपनी प्रज्ञापराधमूला असावधानी से यह पथभ्रष्ट बनता हुआ लक्ष्यस्थान (ईश्वरीय जगत्) में पहुँचने में असमर्थ रहता है। यात्री यात्रा करने अकेला नहीं जाता, अपितु यात्रोपयोगी अनेक उपकरणों को साथ लेकर, खान पीने की सामग्री (पाथेय) जुटा कर, सब प्रकार का प्रबन्ध करके ही यात्रा करने निकलता है। इस जीवयात्री का भौतिक शरीर रथ है। ज्ञान-कर्मेन्द्रियाँ चपल घोड़े हैं। प्रधान मन प्रग्रह (लगाम) है। बुद्धि सारथि है। भावना वासनात्मक संस्काररूप कर्म-फल खान पीने की सामग्री है। इस यात्री का बुद्धिरूप सारथी यदि सावधान रहता है, तो वह सारथी मनोरूप लगाम से इन्द्रिय रूप अश्वों को उत्पथ नहीं जाने देता। अपितु सावधानी के साथ यात्री को ठीक लक्ष्य स्थान पर पहुँचा देता है। यदि सारथी असावधानी कर बैठता है तो उस के हाथ से लगाम (मन) छूट जाती है, घोड़े बिगड़ जाते हैं, रथ टूट जाता है, यात्री क्षत विक्षत होता हुआ पथभ्रष्ट होजाता है। ऐसी अवस्था में इस यात्री का सब से प्रधान, एवं प्रथम यह आवश्यक कर्त्तव्य होना चाहिए कि, वह सदा अपने बुद्धिरूप सारथी के हाथ में मनोरूप लगाम को सौंपे रहे। यदि जीवात्मा का कर्म बुद्धिपूर्वक होता है, तो वह कभी बन्धन में नहीं पड़ता, कभी पथभ्रष्ट नहीं होता। यही कर्म बुद्धियोग है। इस में मन बुद्धि के वश में रहता है। यदि कर्म मनःप्रधान बन जाता है, तो बुद्धि निर्बल होजाती है। आत्मा का मन के साथ योग होजाता है, बुद्धियोग विच्छिन्न होजाता है। ऐसा यात्री कभी लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकता। ऐसे जीव की क्या परिस्थिति होती है ?, इस प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

इस निदर्शन से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि मन—बुद्धि-इन्द्रियाँ, [illegible] जीवात्मा की विभूतियाँ—से भोग साधन हैं। भोक्ता जीव पशुपति है, [illegible]

मन–बुद्धि इन्द्रियाँ प्राणप्रधानीय ज्ञान से प्राप्त है। एवं इस धारा द्वारा आत्मा जिन ऐहलौकिक पारलौकिक भोगों का भोग करता है, वे सब भोग्य विषय पशु है। भोगरूप पशु (सांसारिक विषय) बन्धन के कारण नहीं हैं, अपितु पाप्मा बन्धन के कारण हैं। ईश्वर भी सम्पूर्ण विश्व, एवं विश्वप्रजा का भोग करता है, परन्तु विभूति द्वारा। जीव भी यदि विभूति को प्रधान बना कर ही भोग करता है, तो वह भी ईश्वरवत् कभी बन्धन में नहीं पड़ सकता। अब देखना यह है कि, जिन विभूतियों से जीव भोगरत रहता हुआ भी निर्लिप्त रहता है, वे विभूतियाँ कौनसी हैं। एवं जिन पाप्माओं के कारण यह बद्ध हो जाता है वे पाप्मा कौन से हैं?।

ईश्वरसंस्था में ७२ आत्मकलाओं से अतिरिक्त २११ तो सामान्य विभूतियाँ बतलाई गई हैं, एवं ५१ विशेष विभूतियाँ बतलाई हैं। वहाँ यह भी कहा गया है कि, २११ सामान्य विभूतियाँ जीवेश्वर में समान हैं। अतः इन का निरूपण करने की प्रकृत जीव प्रकरण में कोई आवश्यकता नहीं है। शेष ५१ विशेष विभूतियों के संस्थान में अन्तर है, यह भी कही चुके। स्थालीपुलाकन्याय से यहाँ इन विशेष विभूतियों का ही दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

जीव में प्रधान रूप से विद्या, काम, कर्म्म, शुक्र, प्राण ज्ञानेन्द्रिय–कर्म्मेन्द्रिय, ये सात विभूतियाँ हैं। सातों में से पहिले विद्याविभूति को ही लीजिए। इस के जन्म काल से ही सूर्य्य द्वारा जो विद्या भाग अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है वही इस की विद्याविभूति है। इस के धर्म्म–ज्ञान–वैराग्य ऐश्वर्य, ये चार विवर्त हैं, जैसा कि ईश्वरीय विद्याविभूति प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। यदि निष्कामभाव है, तब तो यह विद्याचतुष्टयी बन्धविमोक का कारण बनती हुई विभूति है सकामभाव में यही अविद्या से आवृत होकर अन्तर्हित होजाती है। इस अवस्था में जीवात्मा अपनी इस विद्याविभूति को खो बैठता है।

दूसरी है काम नाम की महा विभूति। बुद्धिपूर्विका इच्छाकाङ्क्षा ही काम विभूति है। ईश्वरात्मा में यह विभूति अव्यय मन से सम्बन्ध रखती थी, एवं जीवसंस्था में इस कामविभूति का चान्द्र प्रज्ञान (सर्वेन्द्रिय मन) से सम्बन्ध है। यही विशेषता है। यदि इस मन की कामना बुद्धिपूर्विका है तब तो यह अबन्धन का कारण बनती हुई कामरूपा विभूति है। यदि बुद्धि का प्राधान्य नहीं है विषय का प्राधान्य है तो ऐसी दशा में वह काम

विभूति पथ से च्युत होता हुआ "इच्छा" रूप पाप्मभाव में परिणत होजाता है, जैसा कि कामविभूति प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है। तीसरी विभूति कर्म्म है। इस का उदय सूर्य्य के प्राण भाग से होता है। तीन कर्म्म सौर हैं तीन पार्थिव हैं। ये छओं निष्काम भाव में विभूति हैं, सकाम भाव में ये ही पाप्मा हैं। चौथी विभूति शुक्र है। इस के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य है। ऐहिक-आमुष्मिक, भेद से कर्म्मकलाप दो भागों में विभक्त है। वाणिज्य—राज्य-सेवा—शिल्प—कला—संगीत, आदि सांसारिक कर्म्म ऐहिक कर्म्म हैं। यज्ञ—तप—दान—इष्ट—आपूर्त्त—दत्तादि—आमुष्मिक हैं। एक का फल प्रत्यक्ष दृष्ट है, दूसरे विभाग का फल श्रुति सिद्ध मात्र होने से आनुश्रविक है। ऐहिक कर्म्मों का फल हमें इसी लोक में मिल जाता है। हम इन कर्म्मों का फल इसी शरीर से, यहीं देख लेते हैं, अत एव प्राधानिक दर्शन ने इन लौकिक कर्म्मों के फल को "दृष्ट" नाम से व्यवहृत किया है। परन्तु—"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि शास्त्रीय अनुशासनों से सम्बन्ध रखने वाले पारलौकिक कर्म्मों का फल इस शरीर से न मिल कर परलोक में मिलता है। यह फल केवल सुना हुआ है चर्म्म चक्षुओं के परे की वस्तु है। अत एव उक्त दर्शन में यह "आनुश्रविक" (सुना हुआ) नाम से सम्बोधित हुआ है। केवल आप्तवचन को सुन कर उसी पर विश्वास कर के स्वर्गादि सुख साधक कर्म्मों में हम प्रवृत्त होजाते हैं। इन दोनों प्रकार के कर्म्मों का मूल है भावना-वासना संस्कार। आत्मा ज्ञानकर्म्ममय है। "ज्ञायते, अथ च किञ्चित् क्रियते" के अतिरिक्त हमारे समीप अन्य तीसरी सम्पत्ति का अभाव है। इन में से ज्ञान द्वारा आत्मा पर (प्रज्ञान मन से अनुगृहीत कर्म्मात्मा पर उस में भी विशेषतः प्राण भाग पर) जो ज्ञानीय संस्कार होता है, वही भावना नाम से प्रसिद्ध है। एवं कर्म्मजनित संस्कार वासना नाम से व्यवहृत हुआ है। भावना-वासना संस्कार की चिति (समूह) ही विज्ञानभाषा में "बीजचिति" नाम से प्रसिद्ध है। यही बीजचिति जन्म—मृत्यु की मूल प्रतिष्ठा है। इन दोनों चितियों में भी कर्म्ममयी बीजचिति ही प्रधान है। यह कर्म्म आत्मा में प्रक्रम, अभिक्रम रूप से प्रतिष्ठित रहता है। एक एक कर्म्म प्रक्रम है कर्म्मसन्तान अभिक्रम है। उदाहरणार्थ पाककर्म्म को लीजिए। चूल्हा—इन्धन—दीपशलाका—फूत्कार—स्थाली—चढ़ाना, आदि पाक कर्म्म के साधक अवान्तर सब कर्म्म (प्रत्येक) एक एक स्वतन्त्र प्रक्रम है। इन अनेक प्रक्रम कर्म्मों से पाक कर्म्म

रूप एक अभिक्रम कर्म्म का स्वरूप निष्पन्न होता है। जैमिनि दर्शन के अनुसार प्रारब्ध कर्म्म प्रक्रम है, पुरुषार्थ कर्म्म अभिक्रम है। अनेक प्रारब्ध कर्म्मों से एक पुरुषार्थ कर्म्म का स्वरूप निष्पन्न होता है। चौपाटी के मैदान से हम विक्टोरिया गार्डन जाते हैं। एक पैर उठाते हैं, दूसरा आगे धरते हैं। इन में एक एक पाद विन्यास (पांवड़ा) एक एक प्रक्रम है, ऐसे ऐसे अनेक प्रक्रम मिल कर गतिरूप एक अभिक्रम रूपा महागति का स्वरूप निष्पन्न होता है। इसी महागति के आधार पर—'हम आज विक्टोरिया गार्डन गये थे' ये अक्षर निकलते हैं। इसी प्रकार अशन–शयन–पान–पठन–पाठन, आदि प्रत्येक कर्म्म का प्रक्रम अभिक्रम रूप दो दो अवस्थाओं से आक्रान्त समझना चाहिए। अनन्त प्रक्रम गर्भित ऐसे अनेक अभिक्रम कर्म्म वासना रूप से आत्मपरातल पर प्रतिष्ठित रहते हैं। इन सब अभिक्रम कर्म्मों की समष्टि को "कर्म्मव्यूह" कहा जाता है। निर्धूतकिल्बिष आत्मा आगत, एवं अतीत कर्म्मों से मुक्त हो सकता है। दूसरे शब्दों में बुद्धियोगानुयायी आत्मा ज्ञानाग्नि के प्रभाव से सञ्चित कर्म्मों को जला कर आगन्तुक कर्म्मसंस्कारों का द्वार अवरुद्ध कर विशुद्ध मुक्ति का अधिकारी बन सकता है। परन्तु जो अभिक्रम कर्म्म चल पड़ा है, उस का तब तक क्षय असम्भव है जब तक कि तद्गत सम्पूर्ण प्रक्रम कर्म्मों का भोग समाप्त नहीं हो जाता है। यही कर्म्म "प्रारब्ध कर्म्म" कहलाए हैं—"प्रारब्धकर्म्मणां भोगादेव क्षयः"। हां जो मुक्तात्मा होते हैं वे अभिक्रम (प्रारब्ध) कर्म्म फल भोगते हुए भी तज्जनित प्रत्यवाय, दुःखादि से सर्वथा अस्पृष्ट रहते हैं। इसी कर्म्मविज्ञान को लक्ष्य में रख कर भगवान् कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ (गी० २४ ।

१

उपर्युक्त ज्ञान कर्म्ममय जिन भावना–वासना–संस्कारों को जन्म मृत्यु चक्र का कारण बतलाया गया है उन दोनों का क्रमशः व्यक्त संसार एवं अव्यक्त प्रकृति से सम्बन्ध है। वासनात्मक कर्म्म व्यक्त संसार की ओर ले जाता है भावनारूप ज्ञान अव्यक्त प्रकृति की ओर आकर्षित करता है। एक ऐहलौकिक प्रवृत्ति का कारण है, दूसरा पारलौकिक प्रवृत्ति का हेतु है। दूसरे शब्दों में एक दृष्ट है दूसरा आनुश्रविक है। परिणाम में दोनों ही दुःख के मूल हैं। यदि यथासम्भव, निष्काम कर्म्मयोग, बुद्धियोगानुसम्पादक, ज्ञानयोग के द्वारा इन वासना भावनात्मक चक्र को नष्ट कर दिया जाता है, तो आत्मा व्यक्त संसार, एवं अव्यक्त प्रकृति,

दोनों से पृथक् होता हुआ उस व्यक्ताव्यक्त से परे रहने वाले अव्यय पुरुष में लीन होजाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर सर्वज्ञ ईश्वरकृष्ण कहते हैं—

> दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।
> तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥ (सांख्यकारिका २)

कहना यह है कि, दृष्ट-एवं आनुश्रविक फल से सम्बन्ध रखने वाले, ऐहिकामुष्मिक भावना वासनारूप विषयसंस्कार ही जीवात्मा के पुनः पुनः होने वाले जन्म मृत्यु के कारण हैं। इस उपादान कारणता के सम्बन्ध से ही इस संस्कार पुञ्ज को "शुक्र" कहा जाता है।

पृथिवी का मूल भाग, दूसरे शब्दों में पार्थिव भौतिक रूप से ही वासना का कारण है। अतः हम इस शुक्रविभूति को पार्थिव विभूति मानने के लिए तैय्यार हैं। इतर सम्पूर्ण विभूतियों की मूल प्रतिष्ठा यही शुक्रविभूति है। शुक्रविभूति ही काम की जननी है। इस के बिना जन्म नहीं, जन्म के बिना इतर विभूतियों का उदय असंभव। इस शुक्रविभूति के साथ ऊष्मा का भी सम्बन्ध रहता है। शुक्र को पार्थिव कहा गया है। उधर पृथिवी में रहने वाला अग्नि चित्य-चितेनिधेय भेद से दो भागों में विभक्त है। चित्याग्नि भूत है, चितेनिधेयाग्नि प्राण है यही ऊष्मा है। मूल भाग वासना का जनक है, प्राणभाग ऊष्मा का प्रभव है। दोनों परस्पर में नित्य सम्बद्ध हैं। इन दोनों में प्रधानता ऊष्मा भाग की ही है। जब तक शरीर में गर्मी प्रतिष्ठित रहती है, तभी तक शुक्र स्व स्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है। जिस समय ऊष्मा उत्क्रान्त हो जाती है, उस के अव्यवहितोत्तरकाल में ही यह शुक्र भी जन्मान्तर का कारण बनने के लिए शरीर से उत्क्रान्त हो जाता है। "शुक्र" अग्नि भाव है। यही ताप-रूप शोक का जनक है। तन्मय शुक्र भी जन्म मृत्युरूप शोकावेश का ही प्रवर्तक है। जब तक शुक्र है तभी तक जीव जीव है। चूंकि शुक्र के आधार पर ही जीव का स्वरूप प्रतिष्ठित रहता है अत एव इस के दुःख मूल होने पर भी (जीवापेक्षया) इसे विभूति मान लिया गया है। जो विद्वान् निष्काम भाव से आत्मब्रह्म की उपासना करते हैं वे ही इस संस्काररूपा शुक्रवृत्ती का अतिक्रमण कर मुक्त होने का अधिकार प्राप्त करने में समर्थ होते हैं—'उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः'।

पांचवीं विभूति प्राण है। इस के ७-सौरगुहाप्राण, ३ मध्यप्राण, ५-देवप्राण भेद से १० विवर्त हैं जिन का कि स्वरूप परिचय इतरीय प्राण विभूति निरूपणावसर में कराया जा

चुका है। इन में से गुहामायात्मक साकस्त्र प्राण शरीर की चारों गुहाओं में समान क्रम से प्रतिष्ठित हो रहे हैं। अध्यात्म में इन के २८ विभागों का स्पष्ट विकास है। अत: यहाँ सात के स्थान में (संख्या क्रम के अनुसार) हम २८ गुहा प्राण मानेंगे। परोरजा-चार आदि पाँच ब्रह्मप्राण हैं, प्राणापानादि पाँच देवप्राण हैं। समूह १८ प्राण होजाते हैं। गुहामायानुगुणी का सम्बन्ध क्रम इसलिए-दो प्राण दोनों नेत्र विवरों में, दो प्राण दोनों नासा विवरों में, दो प्राण दोनों श्रोत्रगोलकों में, एक मुख में प्रतिष्ठित है। सातों में ६ सयुक् हैं जोड़ते हैं, सातवाँ मुख स्थानीय प्राण एकाकी है। यह सप्तक शिरोगुहा का सञ्चालक है। दो हाथ, दो स्तन दो फुफ्फुस, हृदय, इन सातों में दूसरा सप्तक प्रतिष्ठित है। यह सप्तक उरोगुहा का सञ्चालक है। यकृत् (जिगर), प्लीहा (तिल्ली), दो क्लोम, दो वृक्क, नाभि, इन सातों में तीसरा सप्तक प्रतिष्ठित है। यही उदरगुहा का सञ्चालक है। दो जांघें, मूत्र-रेतसी दो अण्ड, गुद, इन सातों में चौथा सप्तक प्रतिष्ठित है। यही वस्तिगुहा का संचालक है।

६-७-वीं विभूति ज्ञान-कर्मेन्द्रियाँ हैं। स्वायम्भुव-पारमेष्ठ्य-सौर-पार्थिव-मायातत्त्व क्रमशः चित्-प्राण रयि-प्राण, विपश्चा-प्राण, भूत-प्राण इन नामों से प्रसिद्ध हैं। एवमेव चान्द्र प्राण प्रज्ञा-प्राण भेद से दो भागों में विभक्त है। प्रज्ञा भाग सोम के कारण ज्ञानप्रधान है। प्राण भाग क्रियाप्रधान है। ज्ञानक्रियामय प्रज्ञा-प्राणात्मक चान्द्ररस ओषधियों में प्रतिष्ठित होता है। ओषधियाँ पार्थिव भूत से उत्पन्न हुई हैं। फलतः ओषधियों में प्रज्ञा-प्राणात्मक चान्द्र रस एवं पार्थिव भूत भाग की सत्ता सिद्ध हो जाती है। यद्भुक्त ओषधिरूप अन्न शरीराग्नि में आहुत होकर रस-मल के क्रमिक विभाजन से क्रमशः रस-असृक्-माँस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र-ओज-धातुओं में परिणित होता हुआ अन्ततः अपने विशुद्ध रूप से "मनो" रूप में परिणत होता है। इस प्रकार प्रज्ञा-प्राण-भूतमय अन्न से उत्पन्न इस मन में भी इन तीनों कलाओं की सत्ता सिद्ध होजाती है। इन तीनों में से पार्थिव भूत भाग- नाम, गन्ध, रूप, शब्द, अन्नरस, कर्म्म, सुखदुःख, आनन्द रति प्रजाति, इच्छा, धी- भेद से दश मात्रों में विभक्त है। दूसरे शब्दों में भूत मात्रा १० हैं। इन के सम्बन्ध से ही प्रज्ञा-प्राणात्मक मन को भी अर्करूप से १० भागों में विभक्त हो जाना पड़ता है। उक्त १० सों भूतमात्राओं में से गन्ध-रूप-रस-शब्द-धी-सुख दुःख, इन पांच मात्राओं का प्रज्ञा भाग से सम्बन्ध है, शेष कर्म्मप्रधान हैं। ज्ञानप्रधान भाग ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, कर्मप्रधान भाग

कर्म्मेन्द्रियाँ हैं। श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-जिह्वा-घ्राण, ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, वाक्-पाणि-पाद-पायु उपस्थ ये पांच कर्म्मेन्द्रियाँ हैं। प्रज्ञाभाग प्राण में ओत है, प्राणभाग प्रज्ञा में प्रोत है। इसी तादात्म्यभाव को लक्ष्य में रख कर महर्षि कौषीतकि कहते हैं—

"यो वै प्राण—सा प्रज्ञा, या वा प्रज्ञा—स प्राणः।
या वै प्रज्ञा स प्राणः, यः प्राणः सा प्रज्ञा।
स ह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः॥" (कौ० उ० ३।३)।

इस से बतलाना यही है कि, प्रज्ञाप्रधान ज्ञानेन्द्रियों में भी प्राणमात्रा है एवं प्राणप्रधान कर्म्मेन्द्रियों में भी प्रज्ञामात्रा है। अत एव ज्ञानेन्द्रियों में भी क्रियाभाव प्रतीत होता है, एवं कर्म्मेन्द्रियों में भी ज्ञान का आभास होता है। वस्तुतस्तु भूतमात्रा—रूप-रस-गन्ध स्पर्श शब्द, भेद से पांच ही भागों में विभक्त हैं। यही प्रज्ञा-प्राण युक्त होकर १० भागों में विभक्त होजाती हैं। पांच प्रज्ञा मात्राएँ ज्ञानेन्द्रियों की प्रतिष्ठा हैं पांच प्राणमात्राएँ कर्म्मेन्द्रियों की प्रतिष्ठा है। यह इन्द्रियविभूति प्रज्ञा प्राणात्मक प्रज्ञान मन से सम्बन्ध रखती हुई परम्परया चन्द्रमा से सम्बन्ध रखने के कारण चान्द्रविभूति कहलाती है। प्रज्ञान इन्द्र के सम्बन्ध से ही इन दशों विवर्तों को "इन्द्रिय" शब्द से व्यवहृत किया जाता है।

जीवात्मा की इन सातों विभूतियों के अवान्तर भेदों का यदि संकलन किया जाता है, तो कुल ४० विभूतियाँ होजाती हैं, जैसा कि निम्न लिखित तालिका से स्पष्ट होजाता है—

१—विद्याविभूतिः (४)—धर्म्म—ज्ञानम्—वैराग्यम्—ऐश्वर्यम्→सौरविभूति
२—कामविभूति (१)—एकविध—विषयप्रवणकविध→चान्द्रविभूति
३—कर्म्मविभूति (६)—यज्ञ-तप-दानम्-(सौरविभूति), इष्ट आपूर्त-दत्त→पार्थिवविभूति
४—शुक्रविभूति (२)—१ भावना २ वासना→पार्थिवविभूतिः
५—प्राणविभूति (१०)—पञ्च प्रजाप्राणाः पञ्च देवप्राणाः सप्त गुहाप्राणाः
मांसविभूति——दैवविभूति सूर्य्यविभूति
६—ज्ञानेन्द्रियवि० (५)—श्रोत्र—त्वक्—चक्षु—जिह्वा—घ्राण } चान्द्रविभूति
७—कर्म्मेन्द्रियवि० (५)—वाक—पाणि—पाद—उपस्थ-पायु } चान्द्रविभूति

७——→(४०) सदिय चत्वारिंशत्

१—सप्तमो विद्योः—धर्म्म, ज्ञानम्, वैराग्यम्, परत्वमिति——४
२—मनस् क्रिया काम ————————१
३—षट् कर्म्माणि—धात्वादीनिद्वापसारवाणि————६
४—ऐहिकामुष्मिकयोरैश्वानुर्भविकयोर्विषयमामयोरुपजनहत्तुमत-भावनानामसामिम इ शुक्रे }—२
५—द्रव्य—रस—गुणाभिरेम १८ विभक्ता प्राणा ————१०
६—श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-जिह्वा-घ्राणमिति पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि——५
७—वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थ-इति पञ्च कर्म्मेन्द्रियाणि——५

चत्वारिंशत् ४०

इति जीवविभूतयः

इन सात विभूतियों के अतिरिक्त जीवसंस्था में आठ प्रकार के पाप्मा रहते हैं। ये ही पाप्मा मोक्षात्मा के बन्धन के कारण हैं। जीवात्मा की ईश्वरता के, दूसरे शब्दों में मोक्ष मुख्य के साक्षी सुमर्थभाव में परिणत होने में ये ही पाप्मा प्रतिबन्धक हैं। जीव एवं ईश्वर में स्वच्छ भेद डालने वाले ये ही पाप्मा हैं। इन आठ पाप्माओं की अवान्तर-कक्षाएँ हो जाती हैं। क्रम-प्राप्त क्रमशः इन्हीं पाप्माओं का दिग्दर्शन कराया जाता है।

१—ऊर्म्मिः—(६)

ऊर्म्मि शब्द का अर्थ है लहर—वीचि—तरङ्ग। यह संसार रस बल का समुद्र है। षडूर्म्मिस्वरूपपरिचय——रसरूप समुद्र में बलात्मिका तरङ्गें स्वभावतया से हलचल-दोलायमान रहती हैं। इस पत्र तरङ्गों की अवस्थाविशेष ही क्षुधा (भूख—पिपासा (प्यास), शोक (मनोवेदना)—मोह (चित्त वैकल्य) जरा (बुढ़ापा)—व्याधि (रोग), इन नामों से प्रसिद्ध हैं। भूतात्मा आसक्ति कर्म में रत रहता हुआ इन ६ ओं ऊर्म्मियों में से एक न एक

से नित्य आक्रान्त रहता है। इन ६ ओं ऊर्म्मियों में से सब से प्रधान ऊर्म्मि क्षुधा है। यह अशनाया नाम का महापाप्मा है—"पाप्मा वै अशनाया"। जीवात्मा में निरन्तर किसी न किसी की भूख बनी रहती है। एक विषय की क्षुधा शान्त होती है, दूसरी का उदय होजाता है। यही अवस्था पिपासा की है। सांसारिक आपत्तियों का आक्रमण सहने में यह असमर्थ है। कारण इस का यही है कि, जिस संसार चक्र के गर्भ में जीवात्मा प्रतिष्ठित है, वह इस अध्यात्म संस्था की अपेक्षा कहीं अधिक बल रखता है। प्रकृति का आघात सदा प्रबल होता है। इस को सहने में असमर्थ इस का मन व्याकुल हो पड़ता है। शरीर में मन के क्षोभ से जो एक प्रकार की जलन (संताप) होती है, वही "शुक्" भाव है। शुक् वृत्ति ही "शोक", किंवा सन्ताप है। यही तीसरी ऊर्म्मि है। यदि यह शोकाग्नि पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, तो मन इस प्रवृद्धतम शोकाग्नि से अभिभूत होता हुआ अपने ज्ञानमय विकास स्वरूप से तिरोहित हो जाता है। उस समय मन को कुछ भी भान (ज्ञान) नहीं होता। सुषुप्ति अवस्था में मन की जो दशा होती है शोकावेग में मन की वही दशा हो जाती है। यद्यपि इन्द्रियां सुप्त हुए हैं, मन पुरीतति नाडी में नहीं है, इसलिए तो इस अवस्था को सुषुप्ति नहीं कहा जासकता। साथ ही में जाग्रदवस्था में इन्द्रियद्वारा ज्ञानानुभवरूप मन का जो व्यापार होना चाहिए, उस का भी यहां अभाव है, इसलिए इस अवस्था को जाग्रदवस्था भी नहीं कहा जासकता। वस्तुतः यह दोनों की मध्यावस्था है। इस में एक प्रकार की स्तम्भवृत्ति रहती है। जिस वृत्ति के लिए लोकभाषा में "मैं थका रह गया" "हक्का बक्का रह गया" इत्यादि शब्द प्रयुक्त होते हैं वही वृत्ति यह मध्यम वृत्ति है। आत्मकल्याणेच्छु को सांसारिक आपत्ति से बचने के लिए, संसर्ग दोष से बचने के लिए इसी मध्यम वृत्ति का आश्रय लेना चाहिए—"मध्यां वृत्तिं समाश्रयेत्"। दूसरे हम को पागल समझें, मोहमत्त समझें, उन्मत्त समझें, अमनस्थापित मानते रहें, इसी में हमारा कल्याण है। इसी जड़वृत्ति का दिग्दर्शन कराते हुए अभियुक्त कहते हैं—

नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्—न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥

ऐसा कृत्रिम मोहभाव जहां आत्मशान्ति का कारण है, वहां यह प्राकृतिक शोक समुत्थानमूलक मोह वास्तव में जड़भाव का कारण है। इस में जाग्रत सुषुप्ति, दोनों अवस्थाओं

का सम्मिश्रण है। इसी अभिप्राय से भगवान व्यास ने इस को "मुग्धेऽर्द्धसम्पत्ति" (शा० सू० ३।२।१०) यह लक्षण किया है। गीताविज्ञान के अनुसार अज्ञान से आवृत ज्ञान ही मोह है। अद्ध ज्ञान किंवा यत्किञ्चित् ज्ञान ही मोह है। मोह ही भय का मूल कारण है। पूर्ण अज्ञान में भी भय का अभाव है—"अज्ञान तस्य कारणम्" (पातञ्जल महाभाष्य० १।१।२)। एवं पूर्ण ज्ञान भी अभय भूमि है—"विज्ञान तस्य कारणम्"। भय होता है-अर्द्धज्ञान स्वरूप मोह से। यही भयभूमिका मोह नाम की चौथी ऊर्म्मि है।

प्रत्येक मनुष्य प्रतिक्षण जीर्ण होता रहता है। आयु के २५ वर्ष पर्य्यन्त शरीरावयव पुष्ट होते हैं। ५ वर्ष पर्य्यन्त समान रूप से रहते हैं। ३० के अनन्तर विशेषतः ५ वर्षों इन्द्र के प्रबल होजाने से अधिक मात्रा से शरीर मात्राओं के निकल जाने से शरीरावयव क्रमशः शिथिल होते जाते हैं। यही जराभाव हम की नित्य मृत्यु कहलाती है। यही जरा नाम की पाँचवीं ऊर्म्मि है। हीनयोग–अतियोग–मिथ्यायोग–अयोग, महापराधमूलक इन चार दुष्ट भावों से मिथ्याहार-विहार करता हुआ जीवात्मा अनेक प्रकार के शारीरिक कष्ट भोग लेता है। खाना चाहिए सेर भर, खाया पाव भर ही, यह हीनयोग है। सेर के स्थान में ४ सेर खा गए यही अतियोग है। खाना चाहिए प्रकृति के अनुकूल अन्न, खा गए प्रकृति से विरुद्ध अन्न- यही मिथ्यायोग है। जिस समय अन्न का आत्मा के साथ योग करना चाहिए, उस समय तो खाया नहीं को विश्राम कर के अतिरिक्त समय में भोजन किया यही अयोग है। महापराधमूलक ये ही चार विषमयोग रोगोत्पत्ति के कारण हैं। भूततत्त्व के अवमर्श युत एवं भ्रमूल सहित मनुष्य से महापराध होना स्वाभाविक है, फलतः रोग का आक्रमण होना भी स्वाभाविक ही है—"शरीरं व्याधिमन्दिरम्"। यही व्याधि नाम की ६ ऊर्म्मि है। इन ६ ऊर्मियों में दो-दो के तीन युग्म हैं। तीनों युग्मों से प्रत्येक युग्म की प्रथम कला आधार है दूसरी आधेयरूपा है। पिपासा के रहने पर क्षुधा नहीं भी रह सकती परन्तु क्षुधा है, तो पिपासा अवश्य है। साथ ही में अन्न से क्षुधा शान्त कर लेने पर पिपासा अवश्य उदित होती है एवं क्षुधा के साथ साथ ही इस पिपासा को भी शान्त करना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार शोक ही मोह की मूल प्रतिष्ठा है। पहिले शोक है, फिर मोह है। जरा ही व्याधि का

बहुगम स्थान है। जरा और व्याधि का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी भाव का बड़ी प्रसाद भाप में दिग्दर्शन कराते हुए एक महात्मा कहते हैं—

यम सेना की विमल ध्वजा अब *"जरा" दृष्टि में आती है।

करती हुई युद्ध रोगों से देह हारती आती है।

१—क्षुधा २—पिपासा	१—शोकः २—मोह	१—जरा २—व्याधि	षडूर्म्मयः

जिस प्रकार महासमुद्र में प्रक्षिप्त एक काष्ठ लहर समुद्र की उत्ताल तरङ्गों से इतस्ततः दोलायमान रहता है इसी प्रकार विश्वरूप समुद्र में काष्ठ स्थानीय यह भोक्तात्मा उपर्युक्त बल रूप ऊर्म्मियों से इतस्ततः बन्भ्रम्यमाण रहता है।

—— ०×० ——

२—अवस्था—(६)

दूसरा पाप्मा अवस्था नाम से प्रसिद्ध है। जीवात्मा जाग्रत–(जागना), स्वप्न

षडवस्थास्वरूपपरिचय——(सपना) सुषुप्ति (सोना), मोह (विक्षिप्तता), मूर्च्छा (बेहोशी), मृत्यु (शरीरावसान) इन अवस्थाओं में से अवश्य ही किसी एक न एक अवस्था से युक्त रहता है। अध्यात्मसंस्था में महान् (सत्त्व) विज्ञान (बुद्धि) प्रज्ञान (मन) भेद से तीन स्वतन्त्र ज्ञान धाराएं प्रवाहित रहती हैं। इन तीनों में महानात्मा प्रधान है, यही चिदात्मा की प्रतिष्ठा है, जैसा कि पूर्व की महदात्मविज्ञानोपनिषत् में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इसी महद्ज्ञान से विज्ञान (बुद्धि) प्रकाशित रहता है विज्ञान से प्रज्ञान प्रकाशित रहता है। प्रज्ञान मन के द्वारा यही ज्ञानप्रकाश इन्द्रिय द्वारों से निकल कर विषयों को प्रकाशित करता है। विषयज्ञान में मनोज्ञान की प्रधानता है। बहिर्जगत के भौतिक विषयों के परिज्ञान के लिए मानस ज्ञान का इन्द्रियों के द्वारा बाहिर निकलना सर्वथा अपेक्षित है। जिस समय मन का इन्द्रियों के द्वारा विषय जगत के साथ सम्बन्ध होता है उसी स्थिति में यह मान

* जरा–वृद्धावस्था, जरा–मौत की भी।

समझना चाहिए कि, इस दशा में महान्–विज्ञान–प्रज्ञान–इन्द्रियाँ–चारों जागृत हैं, उद्बुद्ध हैं। चारों अपना काम कर रहे हैं। इन चारों विवर्तों की जागृदवस्था ही "जाग्रदवस्था" है। दूसरे शब्दों में इन्द्रिय सहकृत जागृदवस्थापन्न प्रज्ञान ही जागृदवस्था का अभिष्ठाता है॥

जब इन्द्रियाँ अपना काम करना छोड़ देती हैं, इन्द्रिय द्वार अवरुद्ध होजाते हैं, तो उस समय प्रज्ञान मन के पास बाहिर के विषयों का आगमन बन्द होजाता है। उस समय केवल भावना वासना रूप सांस्कारिक विषय ही रहते हैं। संस्कारात्मक इसी विषय समष्टि को "अन्तर्जगत्" कहा जाता है। प्रज्ञान मन (विज्ञान प्रकाश से अनुप्राणित रहता हुआ सांस्कारिक विषयों के आधार पर नवीन रचना किया करता है। मन की इसी अवस्था का नाम "स्वप्नावस्था" है। यह अवस्था सुषुप्ति, एवं जागृदवस्था के मध्य की अवस्था है, अत एव इसे "सन्ध्यावस्था" भी कहा जासकता है। "सन्ध्ये सृष्टिराह हि"—"निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च" (शा० द० ३।२।१) "सूचकश्च हि" (शा० दर्शन ३।२।४) इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार जागृत्–सुषुप्ति की सन्धि में रहने वाली इस स्वप्नावस्था में प्रज्ञान मन नवीन नवीन कल्पनाएं किया करता है। यह मानस कल्पनाएं शुभाशुभ फल को सूचित करती हैं। इस स्वप्नसृष्टि के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त समझना चाहिए कि, जागृदवस्था में इन्द्रियों के द्वारा जिन बाह्य विषयों का (स्वप्नद्रष्टा) साक्षात्कार करता है स्वप्न में उन्हीं इन पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है। हां संस्कारों के समन्वय में अवश्य ही विशृङ्खलता हो जाती है। स्वप्न में आप वही बात देख सकते हैं सुन सकते हैं, जो कि जागृदवस्था में देख–सुन चुके हैं। एक मनुष्य स्वप्नावस्था में अपने आप को आकाश में उड़ता हुआ देखता है। आप प्रश्न करेंगे कि जागृदवस्था में यह आकाश में कभी नहीं उड़ा था फिर स्वप्न में यह अनुभव कैसे उत्पन्न हुए? इस का उत्तर वही संस्कार विशृङ्खलता है। इस व्यक्ति ने आकाश में पक्षी का उड़ना देखा है। उस का संस्कार इस के प्रज्ञा भाग पर अङ्कित है। स्वप्न में इस के मन का उस उड़ने के साथ सम्बन्ध हो जाता है। फलतः यह अपने आप को उड़ता हुआ समझने लगता है। यही अवस्था असमञ्जस–अटपटाङ्ग प्रतीत सम्पूर्ण स्वप्न दृश्यों के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। इसी अभिप्राय से—बृहदारण्यक श्रुति कहती है—

"स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देव कुरुते बहूनि।
उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन्॥

अथो खल्वाहु —जागरितदेश एवास्यैष इति । यानि ह्येव जाग्रत् पश्यति, तानि सुप्त इति" (श० ब्रा० ६।३।१३।१४)।

कहना यही है कि, विज्ञानसहकृत संस्कारावच्छिन्न अन्तर्मुख प्रज्ञान मन ही स्वप्नावस्था का अधिष्ठाता है । यहाँ केवल अन्तर्जगत् का भोग है । आगे जाकर विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मा को साथ लेता हुआ पुरीतति नाम से प्रसिद्ध हृदयस्थ व्यान नाड़ी में प्रविष्ट हो जाता है । चिद्विशिष्ट महानात्मा ही इस व्यानात्मिका पुरीतति नाड़ी की प्रतिष्ठा है, यहीं विज्ञान अपीत हो जाता है । दूसरे शब्दों में अपने चिज्ज्योतिर्मय स्वस्वरूप में लय आता है । विज्ञान का स्वतन्त्र प्रकाश तिरोहित हो जाता है । बस प्रज्ञानावच्छिन्न विज्ञान की इस स्वस्वरूप में अपीति ही स्वपिति नाम की सुषुप्ति अवस्था है ।

चौथी अवस्था मोह है । ऊर्म्मि वाला मोह स्तब्ध वृत्ति थी, इस अवस्था सम्बन्धी मोह का विक्षिप्तता से सम्बन्ध है । किसी आकस्मिक प्रबल आघात से, मादक पदार्थों के अत्यधिक मात्रा में सेवन से शक्ति परिमाण से अधिक ज्ञान तन्तुओं को काम में लाने से, इत्यादि इत्यादि कारणों से मनुष्य के स्नायुतन्तु (ज्ञानतन्तु) शिथिल होजाते हैं । ज्ञान तन्तुओं के आधार पर होने वाले सुव्यवस्थित इन्द्रिय व्यापारों की व्यवस्था टूट जाती है । विवेक नष्ट हो जाता है, मन उत्पथगामी बनता हुआ इन्द्रिय स्वातन्त्र्य का कारण बन जाता है । यही अवस्था मोह (पागलपन) है ।

यदि मोह की मात्रा पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है, तो मन मतिमूर्च्छित हो जाता है । कारण इस का यही है कि, इन्द्रियों से उन की नियत एवं परिमित शक्ति के अनुसार ही यदि काम लिया जाता है, तो वे स्वस्वरूप से सुरक्षित रहतीं हैं । परन्तु मोहावस्था में इन्द्रिय संयम टूट जाता है । किस इन्द्रिय से कितना काम लेना, यह विवेक जाता रहता है । मुग्ध (पागल) आदमी यदि दौड़ना आरम्भ कर देता है तो वह घन्टों निरन्तर दौड़ता ही करता है । बोलना आरम्भ कर देता है तो अनर्गल बोला ही करता है । इस नैरन्तर्य्य से इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती है । अन्ततोगत्वा इन्द्रियाँ अपना काम करना छोड़ देती हैं, निश्चेष्ट हो कर आदमी धरा पर गिर जाता है । यही "मूर्च्छा" है । इस प्रकार प्रवृद्ध मोह ही इस मूर्च्छावस्था का कारण बन जाता है ।

पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर के साथ जीवात्मा का बद्ध रखने वाला और सूत्र ही "आयु" नाम से प्रसिद्ध है। इस्प्रात्मक और आत्मसूत्र ही हमारी आयु का प्रतिष्ठा है। जब तक शरीर, एवं आत्मा आयुसूत्र से बद्ध है, तभी तक जीवन सत्ता है। सामान्य सृष्टि विज्ञान के अनुसार सूर्य्य से एस ३६०० (छत्तीस हजार) आयुस्सूत्र आते हैं। प्रतिदिन एक एक आयुसूत्र का भोग समाप्त हो जाता है। इस क्रम से ३६०० दिन की समष्टि रूप १०० वर्ष में आयुसूत्र निःशेष हो जाता है। इसी आधार पर—"शतायुर्वै पुरुष" यह श्रौत सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। जिस दिन यह आयुस्सूत्र सर्वथा निःशेष हो जाता है उस दिन जीवात्मा का पाञ्चभौतिक शरीर-बन्धन दूट जाता है। यही अवस्था मृत्यु नाम की १० वीं अवस्था है।

३—अविद्या—(४)

हरतरीय विद्याविभूति का निरूपण करते हुए हमने सूर्य्य में *विद्या–प्राण* नाम के अविद्यास्वरूपपरिचय —दो धातु बतलाए हैं। इन दोनों में विप्रात्मभाग विद्या है, प्राज्ञभाग कर्म्म है। सत्-असत् भेद से दोनों ही दो दो भागों में विभक्त हैं। विद्या—अविद्या विज्ञानभाग प्रधान प्रधान हैं, सम्भूति–विनाश प्राणभाग प्रधान हैं। धर्म-ज्ञानादि चार विद्या भागों के, अधर्म्म—अज्ञान—आसक्ति—अनैश्वर्य्य ये चार विपर्य्यय हैं। इन चारों अविद्या-बुद्धियों से कर्म्म ज्ञानादि चारों विद्या भाग दब जाते हैं। अज्ञान अविद्या है। किसी भी विषय के यथार्थ स्वरूप को न जानना ही अविद्या है। अभिनिवेश ही अधर्म्म है। "हम ऐसा नहीं करते, यह नहीं मानते, हम तो ऐसा ही करेंगे" इस प्रकार का दुराग्रह (हठधर्म्मी) ही अधर्म्म का मूल है। ऐसे अभिनिविष्ट (दुराग्रही) का मनोरञ्जन सर्वथा असंभव है। राग-द्वेष आसक्ति है। मन का तद्भीभूत विषय के रंग में रञ्जित हो जाना, तल्लीन हो जाना ही राग है। यह राग अनुकूल-प्रतिकूल भेद से दो अवस्थाओं में परिणत रहता है। अनुकूलराग राग है, प्रतिकूलराग द्वेष है। एक मैली जिस प्रकार सदा मन पर बना रहता है इस से भी

---

* इन १० वीं अवस्थाओं का वोपपत्तिक वैज्ञानिक निरूपण माण्डूक्योपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

कहीं अधिक शत्रु ख्याति पर खड़ा रहता है। दोनों के साथ बन्धन का पूर्ण सम्बन्ध है। इन दोनों का मूलप्रभव रजोगुण है। ये दोनों आसक्ति के मूल हैं। दोनों बन्धन समानीय हैं, अत एव रागद्वेष की समष्टि का आसक्ति शब्द से भी व्यवहार किया गया है। आत्मा में सम्पूर्ण विभूतियाँ स्वभावतः प्रतिष्ठित हैं। तथापि मनुष्य सदा—"आज मेरे पास अमुक वस्तु नहीं है, आज यह नहीं है, आज यह नहीं है" इस तृष्णा में लिप्त रहता है। दूसरे शब्दों में यह सदा अशक्तता का अनुभव किया करता है। यही भावना का अनैश्वर्य है। इस अवस्था में आत्मस्वरूप के विकास का अभाव है, अत एव इसे 'अस्मिता" (विकासाभाव) कहा जाता है। उक्त कथनानुसार राग द्वेष को एक वस्तु मान लेने पर अधर्म–अज्ञान–आसक्ति–अनैश्वर्य्य ये चार ही अविनाभाव बन जाते हैं। धर्मबुद्धियोग से अधर्म का, ज्ञानबुद्धियोग से अज्ञान का, वैराग्यबुद्धियोग से आसक्ति का एवं ऐश्वर्यबुद्धियोग से अनैश्वर्य्य का निराकरण किया जा सकता है। योगदर्शन ने—अज्ञान को अविद्या शब्द से, अनैश्वर्य्य को अस्मिता शब्द से, आसक्ति को राग द्वेष शब्द से, अधर्म्म को अभिनिवेश शब्द से व्यवहृत करते हुए क्लेशरूप चार अविद्या बुद्धियों को पञ्च क्लेश माना है—"अविद्यास्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः" (यो० द० २।३)। अविद्याचतुष्टयात्मक यही तीसरा महा भय यह पाप्मा है।



४—वन्ध—(३)

यह जन्ममोक्ष कर्म्मात्मा नाना दुःखों से प्रायः सदा घिरा रहता है। काम–क्रोध–षडरिपुरूपपरिचय—काम–मोह–मद–मात्सर्य–अविद्या–अस्मिता–रागद्वेष–अभिनिवेश–ज्वर–वातव्याधि–आदि दुःख आध्यात्मिक दुःख हैं। इनमें भी ज्वर–उदरशूल–शिरःशूल–पादशूल–(गृध्रसी)–पाण्डुरोग–छर्दी–हिक्का–श्वास–उपदंश–कर्णशूल–राजयक्ष्मा—आदि रोग प्रधानरूप से स्थूलशरीर पर आक्रमण करते हैं। काम क्रोध मोहादि षड्रिपु सूक्ष्मशरीर पर प्रधान रूप से आक्रमण करते हैं, एवं अविद्यादि क्लेशचतुष्टयी प्रधान तया कारणशरीर पर आघात करती है। स्थूल–सूक्ष्म–कारण शरीरत्रयी ही आध्यात्मिक

सम्बन्ध है। प्रकारान्तर से रस-असृक्-मांस मेद अस्थि मज्जा शुक्र, ये सात धातु वाङ्मय स्थूलशरीर की प्रतिष्ठा हैं। काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद मात्सर्य, ये ६ धातु प्राणमय सूक्ष्मशरीर की प्रतिष्ठा है एवं क्रमशः अनुभूती के आधार पर प्रतिष्ठित भावना वासना नाम के दो शुक्र मनोमय कारणशरीर की आधारभूमि हैं। 'त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्' के अनुसार तीनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि एक शरीर व्याकुल रहता है तो शेष दोनों भी म्लान रहते हैं। वासना भावना संस्कार की जागृति से सूक्ष्मशरीर सप्तधातु समष्टिरूप स्थूलशरीर, दोनों क्षुब्ध हो जाते हैं। शरीरपात से मन खिन्न रहता है मनोवेदना से शरीर से काम क्रोधादि सब धातु निरपेक्षभाव रहते हैं। यदि तीनों के धातु सम हैं तो स्वस्थता है, विषमता में दुःख है अशान्ति है, क्षोभ है। इस विषमता का मूल कारण एकमात्र प्रज्ञापराध ही है। प्रज्ञापराध मन का दोष है। अत एव आध्यात्मिक पूर्वोक्त त्रिविध दुःखों का कारण भी यही मन है, एवं बुद्धियोग के प्रभाव से सुख का कारण भी एक मात्र यही मन है। जैसा कि अभियुक्त कहते हैं—

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।
अशुद्धं कामसङ्कल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥१॥
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥२॥
(ब्रह्मबिन्दूपनिषत्)

अन्नपान सम्बन्धी वैषम्य विशेषतः स्थूलशरीर को हानि करता है, धातु सम्बन्धी वैषम्य विशेषतः सूक्ष्मशरीर को क्षुब्ध करता है एवं संस्कार सम्बन्धी वैषम्य विशेषतः कारण शरीर के क्षोभ का कारण बनता है। सबों का मूल प्रज्ञापराधमूलक मन ही है। साथ ही में पूर्व कथनानुसार सामान्य रूप से तीनों वैषम्य तीनों पर भी आक्रमण किए बिना नहीं रहते। यही कारण है कि, भारतवर्ष के परम वैज्ञानिक प्राणाचार्यों ने प्रकृति के आधार पर ही औषधि का विधान किया है। विज्ञान की चरम सीमा पर पहुँचने का गर्व करने वाला आधुनिक चिकित्सकसमाज (एलोपैथिक चिकित्सक-डाक्टर) आज भी इस प्रकृति विज्ञान से कितने ही अंशों में अपरिचित है यह कहने में कोई आपत्ति न होगी। उदाहरण के लिए कुछ एक बातें वर्तमान चिकित्सा पद्धति में ऐसी मिलती हैं जो "अंधेर नगरी अबूझ राजा, टके सेर भाजी, टके सेर खाजा" वाली किंवदन्ती को सर्वात्मना चरितार्थ कर रही हैं।

इन तीनों दुःखों से कर्म्मात्मा का विकास अवरुद्ध हो जाता है, वह स्वस्वरूप से आवृत हो जाता है, अत एव इस दुःखत्रयी को हम बन्धत्रयी शब्द से व्यवहृत करने के लिए तय्यार हैं। "पाप" नाम से प्रसिद्ध घोरपापतम दुःखमय पाप्मा का यही संक्षिप्त विवेचन है।

—— ०: ——

५—कर्म्मविपाक—

कर्म्मपरिपाक ही कर्म्मविपाक है। इसके फल जाति आयु-भोग भेद से तीन भागों में कर्म्मविपाकस्वरूपपरिचय— विभक्त हैं। संस्कारवश जन्म लेने वाला प्राणी संस्कारवश ही जो कर्म्म करता है, प्रज्ञान मन पर उस कृत कर्म्म का वासना संस्कार अङ्कित हो जाता है। यही संस्कारपुञ्ज इस प्राणी के उत्तर (आगामी) जन्म का कारण बनता है। पार्थिव प्रजा से सम्बन्ध रखने वाली प्रकृति में प्रधानरूप से सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी, ये तीन ही विवर्त हैं। पार्थिव प्राणियों के साथ इन्हीं तीनों का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। ये ही तीनों क्रमशः आयु–जाति–भोग की प्रतिष्ठा बनते हैं। षट्त्रिंशत्सहस्र (३६०००) बृहतीप्राणात्मक बृहती छन्द (विषुवद्वृत्त Equator) पर प्रतिष्ठित सूर्य्य ही आत्मस्वरूपसमर्पक आयु के अधिष्ठाता हैं जैसा कि पूर्व के अवस्थापाप्मा में कहा जा चुका है। चान्द्रसोम ही भोगपिण्ड में परिणत होकर भोग की प्रतिष्ठा बनता है। एवं त्रिवृत् पञ्चदश एकविंश-भूपिण्ड भेद से चतुर्धा विभक्त पृथिवी ही क्रमशः ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य शूद्र प्रधान योनियों की प्रतिष्ठा बनती है। पृथिवी में जितनी भी योनियाँ हैं, प्रत्येक में उक्त जाति, किंवा वर्णविभाग समानरूप से व्यवस्थित है—'न्यायोऽयं मेरवैणोक्तः पदार्थेष्वखिलेष्वपि ([illegible]संग्रह)। प्राणी जैसा कर्म्म करता है, तदनुरूप ही उसे जाति मिलती है, तदनुरूप ही आयु एवं भोग मिलते हैं। यही भाग्य है, भागधेय है, विधि का अटल विधान है। जाति आयु-भोग (त्रिवर्ग), तीनों उत्पत्ति के साथ ही सम्बन्ध रखते हैं, जैसा कि अभियुक्त कहते हैं—

आयुः कर्म्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च
पञ्चैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥१॥

इन तीनों का विकास तदनुरूप गुण-कर्म्मों से ही होता है। किन्तु जाति के जैसे केवल गुणकर्म्म निरर्थक हैं, गुणकर्म्म में जैसे जाति परिवर्त्तन का सामर्थ्य नहीं है एवमेव बिना

रागादिरोगान् सततानुषक्तानशेषकायप्रसृतानशेषान् ।
औत्सुक्यमोहारतिदान् जघान यो पूर्ववैद्याय नमोऽस्तु तस्मै ॥ (अ० हृ० १)

हमारे आचार्यों ने उन्हीं औषधियों का विधान किया है, जो स्थूलशरीर की रक्षा करती हुई—कारण एवं सूक्ष्मशरीर पर किसी प्रकार का आघात नहीं करती हैं। जिस प्रकार स्थूलशरीर की चिकित्सा करने वाले आयुर्वेदशास्त्र को इतर दोनों शरीरों की रक्षा का ध्यान रखना पड़ता है तथैव सूक्ष्मशरीर की चिकित्सा करने वाले धर्मशास्त्र, एवं कारणशरीररूप आत्मा की चिकित्सा करने वाले उपनिषच्छास्त्र, एवं वेदान्तशास्त्र को स्थूलशरीर की रक्षा का पूरा ध्यान रखना पड़ता है। देश-काल-पात्र-द्रव्य श्रद्धादि की पूर्ण परीक्षा कर के ही धर्माज्ञाओं का विधान है एवं इसी परिस्थिति के अनुसार अधिकारी के भेद से व्यवस्थित ही आत्मोपासना विहित है। यह है आध्यात्मिक दुःख का संक्षिप्त दिग्दर्शन। इस दुःख का चिकित्सक आगम बने हैं।

दूसरा आधिभौतिक दुःख है। वन्य हिंसक पशुओं का आक्रमण अन्य शत्रुओं का आक्रमण, मोटर-साइकल-तांगा-बग्घी आदि से आघात ये सब आधिभौतिक आक्रमण हैं। इन सब का चिकित्सास्थान राजदरबार एवं तत्सम्बन्धी न्यायालय है। भूकम्प विद्युत्पात अनावृष्टि अतिवृष्टि झंझावात (आंधी)-उल्कापात घोरशीत-घोरगर्मी-अकाल दुर्भिक्ष जनपदविध्वंसिनी (महामारी), आदि सब आधिदैविक आक्रमण हैं। आध्यात्मिक आधिभौतिक आक्रमणों का सम्बन्ध व्यक्ति से है, अतः इनका शुभाशुभ फल भी व्यक्ति को ही भोगना पड़ता है। परन्तु इस तीसरे आक्रमण का सम्बन्ध राष्ट्र से है। जिस राष्ट्र में राजा एवं प्रजा वर्ग पाप कर्म में लिप्त हो जाते हैं, वहां का प्रकृतिमण्डल क्षुब्ध होजाता है। क्षुब्ध प्रकृतिमण्डल ही भूकम्पादि आक्रमणों का कारण बनता है। यह राष्ट्र के पाप का फल है अतः इसका आक्रमण किसी व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध न रखता हुआ समूचे राष्ट्र के साथ सम्बन्ध रखता है। इस की चिकित्सा प्रकृतिरहस्यवेत्ता कर्मठ वैदिक ब्राह्मण हैं। वे ही यज्ञकर्म द्वारा प्रकृति के क्षोभ को शान्त करने में समर्थ हैं। इसी दुःखत्रयी का निरूपण करते हुए आचार्य कहते हैं—

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥ (सां० का० १)

यही पाप्मा है। ईश्वरीय पूर्णता विभूति में पूर्णेन्द्ररूप कश्यप प्रजापति का स्वरूप बतलाया गया है। इन दोनों अयज्ञकटाहों के सौराग्निप्रधान दश्य अयज्ञकटाह से पुरुष का, एवं आम्र सोमप्रधान अदृश्य अयज्ञकटाह से स्त्री का स्वरूप निर्माण होता है। दूसरे शब्दों में पुरुष-स्त्री में आधा आधा इन्द्रप्राण ही प्रतिष्ठित रहता है, अतएव जीव सृष्टि को 'अर्द्धेन्द्रसृष्टि' कहा जाता है। 'वाजश्च मे प्रसवश्च मे०' इत्यादि मन्त्र समष्टिरूप अर्द्धेन्द्रसूक्त इसी रहस्य का प्रतिपादन करता है। (शुक्ल यजु: सं० १८ अ०)। जीव में आये खगोल के मध्य का वृत्त विषुवद्वृत्त नाम से प्रसिद्ध है। यही विषुवत् प्राण जीव में मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) रूप से प्रतिष्ठित होता है। आधा विषुवद्वृत्त पुरुष में आता है, आधा अदृश्य विषुव स्त्री में आता है। स्त्री पुरुष के सममूल होने से ही पूर्ण विषवद्वृत्त का स्वरूप संगृहीत होता है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि पुरुष आधा है, इसके अर्द्धभाग की पूर्ति स्त्री से होती है— "सोऽयमाकाशः पत्न्या पूर्यते"। बिना दाम्पत्यभाव के वह पूर्णपुरुषात्मक यज्ञपुरुष के साथ योग करने में असमर्थ है। इस यज्ञाधिकारप्राप्ति के लिये पूर्णतासम्पादक पत्नीसम्बन्ध नितान्त अपेक्षित है। बिना पत्नी के यज्ञकर्म कथमपि संपन्न नहीं हो सकता। अत एव (यज्ञसिद्धि के लिए ही) एक पुरुष अपनी प्रथम स्त्री के अभाव में अन्य स्त्री के साथ परिणय कर सकता है। यही कारण था कि मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र को अश्वमेध यज्ञ की सिद्धि के लिए जगन्माता सीता की सुवर्ण प्रतिमा का सम्बन्ध करना पड़ा। सचमुच बिना पत्नी के पुरुष अपूर्ण है। "एकाकी न रमते, सद्वितीयमैच्छत् पतिम पत्नी च" यह श्रौत सिद्धान्त सर्वसम्मत है। अत एव पत्नी को अर्द्धांगिनी माना गया है।

हमने कितने ही कल्पनारसिकों के श्रीमुख से यह कहते सुना है कि 'ज्यौतिषशास्त्र का सिद्धान्त एवं गणित भाग तो ठीक है किन्तु फलितांश सर्वथा निरर्थक है। फलितांश की निस्सारता बतलाते हुए उक्त महानुभाव कहते हैं कि—"ज्योतिष के सिद्धान्त के अनुसार अमुक प्रहयोग में जो व्यक्ति उत्पन्न हो, उस जन्म से ब्राह्मण होना चाहिए, उसके गृह का द्वार पूर्व की ओर होना चाहिए, उसका वर्ण कृष्ण होना चाहिए, इत्यादि। हम देखते हैं कि, उसी याग में भूमण्डल में अनेक स्थानों में अनेक प्राणी उत्पन्न होते हैं। मान लीजिए, पूर्वोक्त याग में एक मनुष्य योरोप में उत्पन्न होते हैं। आपके उपर्युक्त फलों में से वहाँ एक का भी समन्वय नहीं होता। एवं

गुणकर्म्म के जाति का भी विकास असम्भव है। एस वर्ण आचारर्शून्य बनते हुए वर्णाधम (निम्न वर्ण) ही कहलाते हैं। वर्णप्रतिष्ठा के लिए प्रकृति (जाति) एवं संस्कार (गुणकर्म), दोनों का समन्वय अपेक्षित है। इसी उभय विज्ञान को लक्ष्य में रखकर वासिष्ठादि महर्षियों ने चातुर्वर्ण्य का—"*प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं संस्कारविशेषाच्च" (वासिष्ठस्मृति)—यह लक्षण किया है। कर्म्मविपाक, किंवा विपाक नाम के पाप्मा का यही संक्षिप्त निरूपण है।

—— • ——

६—आशय (भोगहेतु)—(२)

उपयुक्त सम्पूर्ण विभूतियों, एवं सम्पूर्ण पाप्माओं की आश्रयभूमि शुभाशुभ शरीर ही है। इसी आयतन में प्रतिष्ठित होकर भोक्तात्मा कर्म्मभोगम में समर्थ होता है। अतएव इस शुभाशुभ शरीर को हम "भोगहेतु" मानने के लिए तैयार हैं। सुन्दर स्वस्थ-शामन आकृतियुक्त शरीर शुभ शरीर है। अस्वस्थ-मोटा-हीनाङ्ग-अतिरिक्ताङ्ग-भीषण आकृतियुक्त शरीर अशुभ शरीर है। एक भद्रमूर्त्ति है तो दूसरे अभद्रमूर्त्ति को देखते ही चित्त में उद्वेग उत्पन्न हो जाता है। शुभ कर्म्म से शुभ शरीर मिलता है, अशुभ कर्म्म से अशुभ शरीर प्राप्त होता है। "आलोमभ्य आनखाग्रेभ्यः" के अनुसार भोक्तात्मा लोम नखाग्रों को छोड़कर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। व्याप्ति स्थान को ही आशय कहा जाता है। अतएव आत्मव्याप्तिस्थानीय भोगहेतुभूत इन दोनों शरीरों को आशय नाम का पाप्मा कहा जा सकता है।

१—पञ्चविंश-पञ्चदशात्वीन्द्रियागर्भिता त्रिवृता पृथिवी भोक्तात्मनः—प्रभवः
२—धर्म्मं भोक्तात्मनः ———————————— प्रतिष्ठा
३—अपरब्रह्म—भोक्तात्मनः ———————————— योनिः
४—शुभाशुभशरीरे भोक्तात्मनः ———————————— आशयः

—— ० ——

७—अपूर्णत्व—

सातवाँ पाप्मा अपूर्णता है। उक्त सम्पूर्ण पाप्माओं की अपेक्षा यह पाप्मा म अधिक है। अपूर्णत्वस्वरूपपरिचय— ईश्वर, एवं जीव में प्रतिबन्ध लगाने वाला, दूसरे शब्दों में ईश्वरांशभूत जीव को ईश्वरता से च्युत करने वाला यही पाप्मा है। श्री-पुम्भाव का स्वरूप समझने भी

---

* इस विषय का विशद विवेचन "वैदेहु वर्ण्णभेद नाम के निबन्ध में देखना चाहिए।

यही आठवाँ पाप्मा है। इस पाप्मा से छुटकारा पाने के लिए पहिले सात पाप्माओं से निस्तार पाना आवश्यक है। बन्धपर्याय, मुक्तपर्याय, नाम के इन पर्यायों का भी इसी संसाररूप पाप्मा में अन्तर्भाव है।



ये आठों ही पाप्मा प्रज्ञापराधमूलक बनते हुए जीवात्मा की स्वतन्त्र (अपनी) कमाई है। ईश्वर में इन पाप्माओं का आत्यन्तिक अभाव है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि "जीव ईश्वर का अंश माना गया है। साथ ही में ईश्वर में उक्त पाप्माओं का अभाव है। इसके साथ ही ईश्वर की व्यापकता भी सर्वसिद्ध पदार्थ है। फिर यह पाप्मधर्म्म जीवसंस्था में कहां से आए? इसी प्रश्न का समाधान करते हुए महर्षि कठ कहते हैं—

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्म्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानु विधावति ॥ (कठोपनिषत् ४।१४)

भूतल पर एक बड़ा पर्वत है पर्वत पर एक दुर्ग (किला) है, दुर्ग पर आकाश से वृष्टि होती है। नभस्थ शुद्ध जल दुर्ग पर आते ही पर्वतकन्दराओं में जाता हुआ खण्ड खण्ड रूप में परिणत होता हुआ दुग्ध एवं पर्वत की मलिनता से मलिन हो जाता है। यही अवस्था यहां है। वे ही ईश्वरीय गुण शरीररूप भूपिण्ड पर प्रतिष्ठित प्रज्ञानरूप दुर्ग में आकर पर्वतस्थानीय, किंवा पर्वतावयवस्थानीय जीवसंस्था में आकर प्रज्ञापराधवश मल-भ्रम से युक्त होते हुए पाप्मारूप में परिणत होजाते हैं। ईश्वरवत् जीव भी सर्वथा विशुद्ध है ईश्वरीय जो गुण जीव में आते हैं, वे भी विभूतिरूप ही हैं। परन्तु प्रज्ञापराध की कृपा से वे ही गुण दोषरूप में परिणत होजाते हैं। 'गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति, ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः।' । न स्वतन्त्र पदार्थों में न गुण, अथवा दोष नहीं देखे जाते, दोनों के सम्बन्ध के वैचित्र्य से यहाँ गुण-दोष का उदय होजाता है।

इस प्रकार ७ विभूति ८ पाप्मा, मन-बुद्धि, इन सबको सामग्रियों को लेकर ही भोक्ता यात्री यात्रा के लिए इस धरातल पर अवतीर्ण होता है। सात विशेष विभूतियों के अवान्तर भेद ५० हैं, एवं आठ पाप्माओं के अवान्तर भेद ३६ हैं। संभूय ८६ कलाएँ होजाती हैं। इनके अतिरिक्त २३१ सामान्यविभूतिकलाओं का सम्बन्ध यहाँ ईश्वरवत् विद्यमान है।

अवस्था में ज्योतिष का फलितभाग केवल विडम्बनामात्र रह जाता है।" इस विप्र विपत्ति के सम्बन्ध में हमें कवल यही निवेदन करना है कि जिस हेतु को आगे रख कर फलित पर उक्त आक्षेप किया जाता है, वह हेतु ही अप्रतिष्ठित है। जिस ग्रहयोग में जो व्यक्ति उत्पन्न होता है, वह ग्रहयोग सम्पूर्ण विश्व में कवल उसी क लिए नियत है। दूसरे शब्दों में एक समय में विश्व में एक ही व्यक्ति उत्पन्न होता है। इश्वरीय पूर्णेन्द्र विभूति प्रकरण में जिस कूर्म का स्वरूप बतलाया गया है, उस की एक निदर्श कम्द्र बिन्दु बनती है। रेतोधा पिता जब गर्भाशयगत शोणितरूपा योनि में मातरिश्वा वायुद्वारा रेत का आधान करता है उसी समय शुक्र में कम्द्र बनाता हुआ कूर्मरस चारों ओर स व्याप्त लगता है। वही कूर्मरस गर्भ-पुष्टि का कारण बनता है। इस स्थिति में इस गर्भ की उसी ग्रहसंस्था रहती है, खगोल में तदनुरूप ही इसके भागों का लगन होता है। भुवनकोश (भूवृत्त) में भी ३६० अंश है एवं ग्रहगणित भूत ज्योतिश्चक्र (खगोल) में भी ३६० ही अंश है। भूपिण्ड की अपेक्षा कई सहस्र गुणित बृहत्सूर्य खगोल के जिस एक छोटे से भाग में] समा रहा है, उस खगोल की महत्ता का अनुमान लगा कर इसके भागों की व्याप्ति को लक्ष्य में रखिए। इस खगोलीय महावृत्त के ३६० भागों के साथ भूगोलीय ३६० अंशों का समन्वय होता है। भूपिण्ड पर जो अंश एक अणुमात्र का व्यवधान रखता है, खगोल म वही अन्तर इससे कई सहस्रगुणित हो जाता है यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं की जासकती। साथ ही में सम्पूर्ण ग्रह घुकर्षण से घूम रहे हैं। उसी दशा म यह भ मान लेने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती कि—"एक काल में एक क्षण में एक ही माता के गर्भ से उत्पन्न होने वाली यमज सन्तानों की भी ग्र-हस्थाओं में बड़ा अन्तर है।" जब ग्रहसंस्था ही व्यक्तिभेद से भिन्न है, तो फलसाम्य कैसे संभव है। सुवर्ण के इस सम्बन्धी पूर्व आक्षप एकान्ततः शिथिलम हो जाता है। अस्तु प्रकृत में यही वक्तव्य है कि जीव सर्वेन्द्र होने से अपूर्ण है। अपूर्णता अल्पता है। अल्पता ही दुःख की आवासभूमि है। अपूर्णतारूप इस सातवें पाप्मा का यही संक्षिप्त विवरण है।

८—संसार

पूर्वोक्त सातों पाप्माओं का एकमात्र फल है—संसार समुद्र में जीवात्मा का इतस्ततः संसार (गमनागमन) स्वरूपपरिचय— विविध योनियों में गमनागमन। जब तक इन के साथ उपर्युक्त पाप्माओं का सम्बन्ध रहता है, तब तक इसे संसारचक्र में घूमना पड़ता है।

यही आठवाँ पाप्मा है। इस पाप्मा से छुटकारा पाने के लिए पहिले सात पाप्माओं से निस्तार पाना आवश्यक है। बन्धपर्याय, मुक्तपर्याय, नाम के इन पर्यायों का भी इसी संसाररूप पाप्मा में अन्तर्भाव है।



ये आठों ही पाप्मा प्रज्ञापराधमूलक बनते हुए जीवात्मा की स्वतन्त्र (अपनी) कमाई है। ईश्वर में इन पाप्माओं का आत्यन्तिक अभाव है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि "जीव ईश्वर का अंश माना गया है। साथ ही में ईश्वर में उक्त पाप्माओं का अभाव है। इसके साथ ही ईश्वर की व्यापकता भी सर्वसिद्ध पदार्थ है। फिर यह पाप्मधर्म जीवसंस्था में कहां से आए? इसी प्रश्न का समाधान करते हुए महर्षि कठ कहते हैं—

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानु विधावति ॥ (कठोपनिषत् ४।१४)

मूतल पर एक बड़ा पर्वत है, पर्वत पर एक दुर्ग (किला) है, दुर्ग पर आकाश से वृष्टि होती है। सर्वथा शुद्ध जल दुर्ग पर आते ही पर्वतकन्दराओं में आता हुआ खण्ड खण्ड रूप में परिणत होता हुआ गुण, एवं पर्वत की मलिनता से मलिन हो जाता है। यही अवस्था यहां है। वे ही ईश्वरीय गुण शरीररूप भूपिण्ड पर प्रतिष्ठित प्रज्ञानरूप दुर्ग में आकर पर्वतस्थानीय किंवा पर्वतावयवस्थानीय जीवसंस्था में आकर प्रज्ञापराधरूप मल-भाग से युक्त होते हुए पाप्मारूप में परिणत होजाते हैं। ईश्वरवत् जीव भी सर्वथा विशुद्ध है ईश्वरीय जो गुण जीव में आते हैं, वे भी विभूतिरूप ही हैं। परन्तु प्रज्ञापराध की कृपा से वे ही गुण दोषरूप में परिणत होजाते हैं। 'गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति, ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः।' । दो स्वतन्त्र पदार्थों में जो गुण अथवा दोष नहीं देखे जाते, दोनों के समन्वय के वैचित्र्य से वहाँ गुण-दोष का उदय होजाता है।

इस प्रकार ७ विभूति, ८ पाप्मा, मन-बुद्धि, इन समस्त सामग्रियों को लेकर ही भोक्ता यात्री यात्रा के लिए इस धरातल पर अवतीर्ण होता है। सात विशेष विभूतियों के अवान्तर भेद ५० हैं, एवं आठ पाप्माओं के अवान्तर भेद ४६ हैं। संभूय ९६ कलाएँ होजाती हैं। इनके अतिरिक्त २३१ सामान्यविभूतिकलाओं का सम्बन्ध यहाँ ईश्वरवत् विद्यमान है।

इनके अतिरिक्त प्राण क्रिया शब्द स्पर्श प्रकाश-जल अन्न, ये सात अन्न और होजाते हैं। इन सातों अन्नों का कर्मविपाक नामक आत्मा में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है, अमूक जीवसंस्था में १०८ कलाओं की सत्ता सिद्ध हो जाती है, जैसा कि आगे की तालिकाओं से स्पष्ट होजाता है।

ईश्वरप्रजापति पूर्णेन्द्र होता हुआ पूर्णपद है। अतएव "अह्–अम्" इस स्थिति में अह् का अकार पद का अन्त भाग बनता हुआ अम् का आ ही बन जाता है—'अ-उ-अम्' यह स्थिति होजाती है। गुण-पूर्वरूप से 'ओम्' शब्द निष्पन्न होजाता है। ईश्वर की उपनिषत् यही ओङ्कार है—"तस्योपनिषदोमिति"। उधर जीवप्रजापति अर्धेन्द्र रहता हुआ पूर्णेश्वर कोटि से परिच्छिन्न रहता हुआ अपद है। जीव सम्बन्धी "अह्-अम्" इस स्थिति का अह् का हकार अपद जीव का अन्त भाग बनता हुआ अपदान्त है। अतएव यह रूप भाव से वञ्चित रहता हुआ "ओम्" न बन कर 'अहम्' ही रह जाता है। "तस्योपनिषदहमिति" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा की उपनिषत् "अहङ्कार" ही है। जब तक अहङ्कार है, तभी तक जीव जीव है। जिस दिन इसका अहङ्कार नष्ट होजाता है, उस दिन पूर्णपरमात्मा का अंश होता हुआ यह पूर्णेश्वर में विलीन होजाता है—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥ (कठ० ४।१५)।

यह है जीवेश्वर-अपत्राणका संक्षिप्त दिग्दर्शन। हमें आशा ही नहीं अपितु दृढ़ विश्वास है—

प्रकरणोपसंहार—कि इस आत्मोपनिषत् के सम्यक् परिशीलन से आत्मविषयिणी जिज्ञासा सर्वात्मना शान्त होजायगी, एवं आत्मस्वरूप को न जानने के कारण श्राद्ध के सम्बन्ध में जो शङ्कायें उपस्थित होती हैं उनका भी समूलोच्छेद होजायगा।

१—क्षुत्पिपासे शोकमोहौ जरामृत्यू इति षट् ——ऊर्मयः——६
२—जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयो मोहमूर्छाविस्मयाः इति षट्——अवस्था——६
३—अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा—इति पञ्च——क्लेशाः——५
४—अध्यात्माधिभूताधिदैवतमेकम् त्रयो——पन्था——३
५—अस्याम्युर्भोगा इत्याम्नाति, चेति दश——कर्मविपाकाः——१०
६—धर्माधर्मौ भोगहेतू द्वौ——आशयौ——२

देवसत्यात्मकलापरिलेख —

		अनुष्टुप्—अर्द्धमात्रा				आत्मा अकार	प्राण उकार		पशव मकार	सामान्यविभूतय २२१	विशेषविभूतय ४०	पाप्मान ३३
ब्रह्म——स	१	परात्पर: १	अव्यय: १०	अक्षर १९	क्षर २८	अव्यक्तात्मा ३७	[illegible]– ४६	प्राणी ४७	[illegible] ६४	११—[illegible]	१—[illegible]—४	१—[illegible]—१
	२	परात्पर: २	अव्यय: ११	विष्णुरक्षर: २०	क्षर: २९	महानात्मा ३८	रवि– ४८	प्राणी ४९	वायु ६५	८—पितर: ११—असुर:	२—[illegible]—१	२—[illegible]—१
	३	परात्पर: ३	अव्यय: १२	इन्द्रोऽक्षर: २१	क्षर ३०	विज्ञानात्मा ३९	चन्द्र ५	प्राणी ५१	[illegible] ६६	३३—देवा: ४—[illegible]	३—[illegible]—६	३—[illegible]—५
ईश्वर	४	परात्पर: ४	अव्यय: १३	सोमोऽक्षर: २२	अव्ययम् ३१	प्रज्ञानात्मा महानात्मा ४०	प्रज्ञा– ५२	प्राणी ५३	[illegible] ६७	१०—[illegible] ४—[illegible]	४—[illegible]—२	४—[illegible]—३
देवसत्यात्मगर्भा	१	परात्पर: ५	अव्यय: १४	ब्रह्मोऽक्षर: २३	[illegible] ३२	प्राज्ञात्मा ४१	पितृ– ५४	प्राणी ५	[illegible] ६८	५—[illegible]	५—[illegible]—१७	५—[illegible]—१
	२	परात्पर: ६	अव्यय: १५	वायुरक्षर: २४	[illegible] ३३	तैजसात्मा ४२	वायु– ५६	प्राणी ५७	[illegible] ६९		६—[illegible]—५	६—[illegible]—२
	३	परात्पर: ७	अव्यय: १६	अग्निरक्षर: २५	[illegible] ३४	वैश्वानरात्मा ४३	अग्नि– ५८–	प्राणी ५९	[illegible] ७०		७—[illegible]—४	७—[illegible]—१
→त्यात्मा	४	परात्पर: ८	अव्यय: १७	भूतासुरक्षर: २६	[illegible] ३५	हंसात्मा ४४	वायु– ६	प्राणी ६१	भूतरस ७१	[illegible]	[illegible] ४	८—[illegible]—१
	६	परात्पर: ९	अव्यय: १८	भूताग्निरक्षर २७	भूतान्तर ३६	भूतात्मा (शरीरम्) ४५	भूत– ६२	प्राणी ६३	ओषधिवनस्पतय: ७२			[illegible] ११

१७१– कला मक.—अहङ्कारमूर्तिरयं देवसत्यात्मा—भोक्ता

७—स्त्रीपुरुषाऽऽयामात्मना द्विधाभावात् —— —— —अपूर्णत्वम्——१

८—संसार—बन्धपर्याय, मुक्तपर्याय -इति भेद——परात्मा ——२

८—पाप्मानः———————→पाप्मानः—षट्त्रिंशत्—३६

—— ×०——   ——•×•——

आत्मकलाविभागाः———२०

सामान्यविभूतिकलाविभागाः—२११

विशेषविभूतिकलाविभागाः——४

पाप्मकलाविभागाः ———३६

संभूय मीलितसंख्यायां ——— २७१ कला ।

——•×•——

इत्यात्मविज्ञानोपनिषदि प्रथमाया—

प्राणात्मविज्ञानोपनिषत् ६—

समाप्ता

——०——

समाप्ता चेयं-आत्मविज्ञानोपनिषत्

प्रथमा

१

——•——

समाप्तश्चाय श्राद्धविज्ञाने प्रथमखण्डः

१

——।——

ॐ शान्तिः ! शान्तिः ! ! शान्तिः ! ! !

——•——

४२–जीवात्मा की अशान्ति का मूल कारण–

अव्ययपुरुष 'आनन्द–विज्ञान–मनः प्राण–वाक् भेद से पञ्चकोशात्मक माना गया है। पञ्चकोशात्मक इस अव्ययपुरुष के विद्यामय, अविद्यामय भेद से दो विभाग रहते हैं। आनन्दविज्ञानमनोमय यही अव्ययपुरुष सत्वप्रधान बनता हुआ विद्यामय है यही मुक्तिसाक्षी ज्ञानात्मा है। मनःप्राणवाङ्मय यही अव्ययपुरुष तमप्रधान बनता हुआ कर्म्मामय है, यही अविद्यामय है यही दर्शकसाक्षी कर्मात्मा है। मुक्तिसाक्षी विद्यामय दर्शकसाक्षी कर्म्मामय से आवृत रहता है। इसका कारण यही है कि—'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम्' के अनुसार गुणत्रयात्मिका योगमाया के द्वारा ही यह कर्म्मामय दर्शकधर्म' में प्रवृत्त होता है। इस योगमाया के सम्पर्क से ही अध्यात्मसंस्था का आनन्दविज्ञानमनोमय विद्यामय तो स्वभावतः आवृत रह जाता है एवं मनःप्राणवाङ्मय अविद्यामय प्रकट बन जाता है। यह अविद्याप्राबल्य ही आध्यात्मिक जीव की अशान्ति का मूल कारण है।

योगमाया अक्षरात्मिका है अक्षर मध्यस्थ है। इस मध्यस्थता से इसके त्रिगुणभाव का आधार 'विज्ञानात्मा' बनता है। अव्यक्त–महान्–विज्ञान–प्रज्ञान–भूतात्मा इन पाँच शरीरात्माओं में सौर विज्ञानात्मा (बुद्धि) ही मध्यस्थ है। यही अक्षरात्मिका, अतएव मध्यस्था योगमाया का क्रमभोग होता है। बुद्धितत्त्व में चार विद्याभाव हैं चार अविद्या भाव हैं जिनका पूर्व प्रकरण में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। धर्म ज्ञान वैराग्य, ऐश्वर्य्य ये चार विद्यातत्त्व हैं। इनके विकास से यही बुद्धि 'विद्याबुद्धि' कहलाती है। अभिनिवेश अविद्या आसक्ति अस्मिता ये चार अविद्यातत्त्व हैं। इनके विकास से यही बुद्धि 'अविद्याबुद्धि' कहलाने लगती है। अविद्याचतुष्टयी क्लेशप्राप्ति का कारण बनती हुई 'क्लेश' नाम से व्यवहृत हुई है एवं विद्याचतुष्टयी क्लेशनिवृत्ति का कारण बनती हुई भग नाम से व्यवहृत हुई है। जीवात्मा अक्षरप्रधान है, अक्षर गुणत्रयप्रधान है। अतएव तम्प्रधाना जीवसंस्था में गुणत्रयानुगता अविद्यात्मिका क्लेशचतुष्टयी प्रधान बनी रहती है एवं इनकी प्रधानता से इन्द्रात्मिका विद्यात्मिका भगचतुष्टयी आवृत रहती है, और यही आध्यात्मिक जीव की अशान्ति का मूल कारण है।

क्लेशात्मिका अविद्याबुद्धिचतुष्टयी से अव्ययात्मा के कर्म्मात्मक अविद्याभाग को तो प्रोत्साहन मिलता है एवं ज्ञानात्मक विद्याभाग आवृत हो जाता है। भगात्मिका विद्याबुद्धिचतुष्टयी से अव्ययात्मा के ज्ञानात्मक विद्याभाग को तो प्रोत्साहन मिलता है तथा कर्म्मात्मक अविद्याभाग आवृत हो जाता है। इस स्थिति से निष्कर्ष यह निकला कि, विद्याबुद्धि का यदि अव्ययात्मा के साथ योग हो जाता है तो अव्ययात्मा का विद्याभाग स्वरूपतः से विकसित हो जाता है फलस्वरूप सर्वविध क्लेशों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। यदि अविद्याबुद्धि का अव्ययात्मा के साथ योग सुरक्षित रहता है तो अव्ययात्मा का विद्याभाग आवृत बना रहता है, फलस्वरूप सर्वविध क्लेश अनायासेन प्राप्त रहते हैं। धर्म्मादि बुद्धिचतुष्टयी से क्योंकि अव्यय के विद्याभाग का उपकार होता है। अतः विद्योपकारकत्वात् इस बुद्धिचतुष्टयी को 'विद्याबुद्धि' कहना अन्वर्थ बनता है। अधर्म्मादि बुद्धिचतुष्टयी से क्योंकि अव्यय के अविद्याभाग को प्रोत्साहन मिलता है अतः अविद्योपकारकत्वात् इस बुद्धिचतुष्टयी को 'अविद्याबुद्धि' कहना अन्वर्थ बनता है। बुद्धि इसलिए 'विद्याबुद्धि' कहलाती है कि, इससे अव्यय का विद्याभाग उपकृत है। बुद्धि इसलिए 'अविद्याबुद्धि' कहलाती है कि, इससे अव्यय का अविद्याभाग उपकृत है।

महद्बुद्धि विद्योपकारकत्वात् विद्याबुद्धि है, क्रूरबुद्धि अविद्योपकारकत्वात् अविद्याबुद्धि है, यही निष्कर्ष है। जीवसंस्था में स्वभावतः क्रूरबुद्धि का प्राधान्य है, और यही आध्यात्मिक जीव की अशान्ति का मूल कारण है।

४३–गीता का प्रतिपाद्यनिष्कर्ष—

'यदेव विद्यया–करोति, श्रद्धया–उपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति (छां० उप० १।१।१०।) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार विद्या, श्रद्धा उपनिषत्, के सहयोग से किया जाने वाला कर्म्म बलवत्तर होता है। यहाँ उपनिषत् शब्द मौलिक उपपत्ति से सम्बन्ध रखता है। मौलिक उपपत्ति के परिज्ञान से 'इदमित्थमेव नान्यथा' इत्याकारक विश्वास का उदय हो जाता है, जैसाकि उप० भू० प्रथमखण्ड के 'उपनिषच्छब्दरहस्य' प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। मनोयोग का नाम 'श्रद्धा' है, जो उपनिषत्परिज्ञान पर अवलम्बित है। कार्य्य-कारणसम्बन्ध–परिज्ञान ही 'विद्या' है। जिस प्रकार से पद्धति से आत्मा का लक्ष्य के साथ योग होता है–वह विशेष प्रकार–जो कि कार्य्यकारणसम्बन्धपरिज्ञानात्मक है–ही 'विद्या' है। महद्बुद्धिचतुष्टयी का अव्ययात्मा के विद्याभाग के साथ योग हो जाना ही जीवात्मा की शान्ति का मूलकारण है। यह योग कैसे हो? इसके लिए विद्या–उपनिषत्–श्रद्धा–तीनों साधन अपेक्षित हैं। योग के मौलिक स्वरूप का परिज्ञान 'योगोपनिषत्' है। योग के साथ मनोयोग हो जाना 'योगश्रद्धा' है। एवं कार्य्यकारणसम्बन्धपरिज्ञानात्मक योगप्रकार जान लेना 'योगविद्या' है। इसप्रकार योगविद्या (योगानुष्ठानप्रकार) योगश्रद्धा, एवं योगोपनिषत् तीनों के समन्वय से ही क्रूरनिर्विण्ण महद्बुद्धि का अव्ययविद्या के साथ योग सम्भव है। सम्पूर्ण गीताशास्त्र का यही निरूपणीय विषय है। अव्यय ब्रह्म है, तत्प्राप्तिप्रकारभूता विद्या 'ब्रह्मविद्या' है। ब्रह्मविद्या के द्वारा प्राप्तव्य अव्ययविद्या के साथ होने वाला बुद्धि का योग 'योग' है। ब्रह्मविद्या और योग ये दो ही तो गीता के मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं। इसीलिए तो गीताध्यायोपसंहार में– इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु–'ब्रह्मविद्यायां–योगशास्त्रे' यह उद्धृत हुआ है जिसका तात्पर्य है–'अव्ययविद्यायां बुद्धियोगशास्त्रे'। अव्यय–अक्षर–क्षर–भक्ती में से यहाँ गीता मुख्यरूप से 'अव्ययब्रह्म निरूपक शास्त्र' है, वहाँ बुद्धि ज्ञान, भक्ति, कर्म्म–योगों में से मुख्यतः 'बुद्धियोग' निरूपक शास्त्र है। अव्ययब्रह्म का स्वरूपविश्लेषण करते हुए तत्प्राप्तिप्रकारभूता अव्यय–ब्रह्मविद्या का निरूपण करना, तथा उसके साथ होने वाले महद्बुद्धियोग का निरूपण करना ही गीता का प्रतिपाद्यनिष्कर्ष है।

४४–गीतानुगता विद्या, और योग—

भगवद्गुरुत्वी के सम्बन्ध से अव्ययब्रह्मविद्यारूप योगप्राप्तिप्रकार चार भागों में विभक्त हैं। वे विद्यापद चारों प्रकार ही राजर्षिविद्या–सिद्धविद्या–राजविद्या–आर्षविद्या इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। यही गीता की विद्याचतुष्टयी है जिसका हमें अधिक विश्लेषण करना है। दूसरा है–'योग' पदार्थ। बुद्ध्यात्मिका योगमाया के आवरण से आवृत अतएव स्व–विद्याभाग से अविकसित असम्प्रज्ञात–अव्ययात्मा को विद्याकला से प्रकाशित करने का साधन–उपाय ही 'बुद्धियोग' है। विद्याबुद्धि का अव्यय के विद्याभाग से योग हो जाना ही विद्यानुगत बुद्धियोग है जिसके लिए–'ददामि बुद्धियोगं तम्' कहा गया है। ऐसी विद्याबुद्धि से युक्त अतएव स्वविद्याभाग से विकसित विद्यामय भी 'बुद्धियुक्त' नाम से व्यवहृत किया जायगा, जैसाकि–'बुद्धं विषयस्त

योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् (४।१।) इस गीतावचन से प्रमाणित है। यहाँ स्पष्ट ही भगवान् ने योग को 'अव्यय' शब्द से व्यवहृत किया है। इसप्रकार बुद्धियोगप्राप्ति–उपायरूप साम्ययोग भी बुद्धियोग है, अव्यय के साथ युक्ता बुद्धि भी बुद्धियोग है एवं ऐसी विद्याबुद्धि से युक्त विद्यात्मा भी बुद्धियोग है। राजर्षिविद्यानुगता वैराग्यबुद्धि का योग वैराग्यबुद्धियोग है, इससे 'आसक्ति' नाम के प्रतिद्वन्द्वी (अविद्याबुद्धि) की निवृत्ति होती है। सिद्धविद्यानुगता ज्ञानबुद्धि का योग ज्ञानबुद्धियोग है, इससे 'अविद्या' नाम के प्रतिद्वन्द्वी की निवृत्ति होती है। राजविद्यानुगता ऐश्वर्य्यबुद्धि का योग ऐश्वर्य्यबुद्धियोग है, इससे 'अस्मिता' नाम के प्रतिद्वन्द्वी की निवृत्ति होती है। एवं आर्षविद्यानुगता धर्म्मबुद्धि का योग धर्म्मबुद्धियोग है, इससे 'अभिनिवेश' नामक प्रतिद्वन्द्वी निवृत्त होता है। यही सम्पूर्ण गीताशास्त्र का संक्षिप्त इतिवृत्त है। चार विद्याएँ, चार योग यही गीताशास्त्र का तात्त्विक विषय है। चारों विद्याओं में राजर्षिविद्या अव्ययविद्या है, शेष तीनों विद्याएँ परोक्षानुगता हैं। चारों योगों में वैराग्यबुद्धियोग भगवद्योग है, शेष तीनों योग परोक्षानुगत योग हैं, जिनका लोकसंग्रहदृष्टि से संशोधनपूर्वक भगवान् ने गीताशास्त्र में संग्रह कर लिया है। यही गीता की विद्या के तथा गीता के योग का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है।

४५–धर्म्म, और नीति का साहचर्य्य—

उक्त चारों विद्याओं में से सर्वान्त की आर्षविद्या का तथा तदनुगत धर्म्मबुद्धियोग का गीता के ११ वें अध्याय से आरम्भ कर १८ वें अध्यायपर्य्यन्त ८ अध्यायों में प्रतिपादन हुआ है। सर्वप्रथम हमें इसी विद्या–योगविभूति की मीमांसा करनी है। इस विद्या-योग की प्रतिष्ठा 'धर्म्म' तत्त्व है। अतः विद्या-योगविभूति की मीमांसा से पहिले दो शब्दों में धर्म्म तत्त्व का स्वरूपपरिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक होगा। धर्म्मशब्द के साथ 'नीति' शब्द बिना ही निमन्त्रण के उपस्थित हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा और शरीर, दोनों नित्य सम्बद्ध हैं, एवमेव धर्म्म और नीति का भी भारतीय दृष्टिकोण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। नीति शरीर-स्थानीया है, धर्म्म आत्मस्थानीय है। नीति वही नीति है, जो धर्म्म स्वरूप का संरक्षण करती है। धर्म्म वही धर्म्म है, जो अपने आधार पर प्रतिष्ठित नीति को लोकाभ्युदय में प्रवृत्त रखता है। ऐसी नीति अनीति है, जो धर्म्म स्वरूप पर आक्रमण कर उसे स्वरूपच्युत कर देती है। ऐसा धर्म्म अधर्म्म है, जो नीति को लोकसंग्रह की विघातिका बना देता है। इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य बना कर धर्म्म, एवं नीति का समन्वय कीजिए।

४६–धर्म्मपद्धति, और नीतिपद्धति—

अध्यात्मसंस्था का जिस पद्धति से जीवननिर्वाह होता है, वह पद्धति ही अध्यात्मसंस्था का धर्म्म तथा नीति है। अध्यात्मसंस्था में आत्मा, और शरीर, ये दो मुख्य विभाग हैं। आत्मपर्व अन्तर्मुख है, शरीरपर्व बहिर्मुख है। अन्तर्मुख आत्मतत्त्व इन्द्रियातीत है, बहिर्मुख शरीरतत्त्व इन्द्रियग्राह्य है, प्रत्यक्ष है। आत्मा और शरीर के इन स्वरूपभेदों के आधार पर ही धर्म्म तथा नीतिमार्ग व्यवस्थित हुए हैं। प्राणप्रधान आत्मा भूतप्रधान शरीर की प्रतिष्ठा है, अतएव धर्म्म को नीति की प्रतिष्ठा कहा जाता है। दृश्यप्रपञ्च स्थावर–जङ्गम (जड़–चेतन) भेद से दो भागों में विभक्त है। स्थावरप्रपञ्च 'स्थिर' है, जङ्गमप्रपञ्च 'चलन्' है। स्थिर (जड़-प्रपञ्च), और चलन् (चेतन प्रपञ्च) दोनों इन भौतिक प्रपञ्चों की मूलप्रतिष्ठा धर्म्म ही माना गया है। इसी आधार पर–'धर्म्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। प्राणात्मक धर्म्म–

धर्म के आधार पर प्रतिष्ठित भूतात्मक नीतिपथ आगे जाकर 'धर्म्मपथ' में ही अन्तर्भूत होजाता है। यही कारण है कि अन्तर्भूत धर्म्म, एवं बहिर्भूता नीति के विभिन्न स्वरूपयुक्त होने पर भी भारतीय दृष्टिकोण से नीति भी धर्म्ममार्ग ही मान लिया गया है। तात्पर्य्य–भारतीय परिभाषा में नीति वही नीति है जिसकी प्रतिष्ठा धर्म्म है। धर्म्ममार्गच्युत विशुद्ध नीतिमार्ग यहाँ अनीतिपथ ही माना गया है। लोकव्यवहार नीतिमार्ग पर प्रतिष्ठित है पारलौकिक श्रेयस धर्म्म है। यदि लौकिक चातुरी केवल चातुरी है, इससे केवल लौकिक स्वार्थसाधन, साथ ही आत्मविश्वासविरामावपूर्वक पारलौकिक श्रेयस की हानि होती है, तो ऐसी चातुरी यहाँ नीति न मान कर अनीति ही मानी गई है। 'या लोकद्वयसाधिनी तनुभृतां सा चातुरी चातुरी' इस लोकसूक्ति के अनुसार चातुरी (नीति) वही चातुरी है जिससे लोकव्यवहारसंरक्षणपूर्वक आत्मश्रेयस सुरक्षित बना रहता है। शरीरव्यवहार आत्मव्यवहारानुकूल बना रहे, यही यहाँ की नीति है आत्मव्यवहार शरीर–व्यवहारानुकूल बना रहे, यही यहाँ का धर्म्म है। और इस दृष्टिकोण से धर्म्म–और नीति के पृथक्‌वर्त्ता होने पर भी दोनों का एकत्र समन्वय होरहा है। इस समन्वय से कभी दोनों के संघर्ष का अवसर उपस्थित नहीं होता। यदि कभी किसी प्रसङ्ग पर नीतिमार्ग धर्म्ममार्ग पर आक्रमण करता हुआ प्रतीत होने लगता है, तो उस दशा में यहाँ उस नीतिमार्ग की उपेक्षा कर दी जाती है। दोनों के कादाचित्क संघर्ष में धर्म्म का ही समादर किया जाता है। धर्म्मविरुद्ध नीतिमार्ग यहाँ सर्वथा उपेक्षणीय ही माना गया है। धर्म्ममार्ग का स्वरूपोपदेष्टा वेदवित् ब्राह्मण है, नीतिमार्ग का संरक्षक मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा है। राजा का नीतिमार्ग ब्राह्मण के धर्म्ममार्ग को आधार बना कर ही प्रवृत्त होता है। अतएव भारतीय नीतिमार्ग का प्रवर्त्तक–संरक्षक राजा यहाँ निष्कर्षतः धर्म्ममार्ग का ही संरक्षक माना गया है। राजा की राजनीति धर्म्ममार्ग का ही संरक्षण करती है। यहाँ आकर हम यह कहते हैं कि यहाँ धर्म्म और नीति कहने भरके लिए दो विभिन्न पथ हैं। वस्तुतः दोनों अभिन्न हैं। वेदशास्त्रसिद्ध धर्म्म ही यहाँ की राजनीति की मूलप्रतिष्ठा है, जिसका निम्न लिखित शब्दों में स्वरूपविश्लेषण हुआ है।

> *क्रमेण शृणु राजेन्द्र ! यया नीत्या नियुज्यते ॥*
> *आत्मा, सुतो, वा भार्य्या वा, तदिहैकं शृणुष्व मे ॥१॥*
> *ज्ञानवृद्धांस्तपोवृद्धान् वयोवृद्धान् सुदर्शनान् ॥*
> *सेवेत प्रथमं विप्रानसूयापरिवर्जितान् ॥२॥*
> *तेभ्यश्च शृणुयान्नित्यं वेदशास्त्रविनिर्णयम् ॥*
> *यद्ब्रूयुस्ते च तत् कार्य्यं प्राज्ञैश्चैवन्नृपश्चरत् ॥३॥*
>
> —कालिकापुराण–राजनीति वि० अ० ८४ अ० ।

५७–मतवाद की निर्मीमांसा—

नीतिमार्ग धर्म्ममार्ग पर किस दशा में प्रतिष्ठित रहता है ?, इस प्रश्न का उत्तर आत्मप्रधानता पर निर्भर है। आत्मस्वरूप का सम्बन्ध इन्द्रतत्त्व से एवं शरीरस्वरूप का सम्बन्ध वरुणतत्त्व से माना गया है, जैसा कि भूमिका प्रथमखण्ड में 'शुक्लकृष्णपदार्थ' नामक प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादन किया जाचुका है। पूर्व–

देशों में इन्द्र का प्राधान्य है वरुण गौण है। अतएव इन्द्रानुगत आत्मतत्त्व वहाँ प्रधान है वरुणानुगत शरीर गौण है। आत्मा के आधार पर वहाँ शरीर प्रतिष्ठित है। आत्मा के प्राधान्य से ही वहाँ आत्मा वहाँ समुन्नत है वहाँ वरुण-गौणता से शरीर कष्ट है। पश्चिम दिशा के दिक्पाल वरुण पश्चिम देशों में प्रधान हैं, इन्द्र गौण है। अतएव वरुणानुगत शरीर वहाँ प्रधान है इन्द्रानुगत आत्मा गौण है। शरीर के आधार पर वहाँ आत्मा प्रतिष्ठित है। शरीरप्राधान्य से ही वहाँ शरीर वहाँ समुन्नत शुक्ल है वहाँ इन्द्र-गौणता से आत्मा तमोऽभिभूत है। यहाँ नीति धर्म्म के लिए है वहाँ धर्म्म नीति के लिए है। यहाँ धर्म्म नीति का आधार है, वहाँ नीति धर्म्म का आधार है। यहाँ दोनों के संघर्ष में नीति की उपेक्षा की जाती है वहाँ दोनों के संघर्ष में धर्म्म की उपेक्षा की जाती है। यहाँ का प्रत्येक धर्म्म प्राकृतिक बनता हुआ धर्म्म है वहाँ का धर्म्म मानवीय कल्पना से सम्बन्ध रखता हुआ 'मत' है। और यही धर्म्म तथा मत में परोक्ष का अन्तर है जिसे न समझ कर ही मतवाद की भाँति भारतीय धर्म्म भी वर्त्तमान शिक्षित-प्रजा की दृष्टि में एक अनावश्यक साथ ही शान्तिविघातक तत्त्व बनता जारहा है।

४८—मतवाद का स्वरूपपरिचय—

मतवाद और धर्म्म के तात्त्विक स्वरूप का निर्णय कर के ही हमें भारतीय धर्म्म की उपादेयता की मीमांसा करनी चाहिए। तत्तत्समयविशेषों में तत्तत्सामयिक परिस्थिति के अनुसार तत्तत्समय के व्यवहार-कुशल बुद्धिमान् समाजनेताओं के द्वारा सामाजिक स्थिति के संरक्षण के लिए तत्तत्समय के लिए ही जो नियमोपनियम बनाए जाते हैं उन तत्सामयिक-काल्पनिक-नियमोपनियमों की समष्टि का ही नाम 'मतवाद' है। भारतवर्ष में प्रच लित सम्प्रदायें पश्चिमी देशों में प्रचलित विभिन्न धर्म्मादि सब मानवीय मत से सम्बन्ध रखते हुए मतवाद हैं। जो भारतीय सम्प्रदाय वेदधर्म्म पर प्रतिष्ठित हैं (थीं) उनको छोड़ कर समस्त विश्व के धर्म्मों को केवल 'मतवाद' ही कहा जायगा। सृष्टिप्रारम्भ से आरम्भ कर प्रलयपर्य्यन्त समानरूप से प्रवर्त्तित स्वतःसिद्ध शाश्वत नियमोपनियमसमष्टि ही 'धर्म्म' है जिसके उद्भव का प्रचार-प्रसार का एकमात्र श्रेय प्रातःस्मरणीय उन गम्भीर तत्त्वद्रष्टा महर्षियों को ही मिला है जिनकी दृष्टि का आधार वेदशास्त्र है, एवं जिनकी दृष्टि से *यह मानवधर्म्म मनुस्मृति में प्रतिपादित* हुआ है। धर्म्म कभी नहीं बदलता, बदलते हैं— मतवाद। धर्म्म और नीति में कभी संघर्ष उपस्थित नहीं होता। संघर्ष होता है—मतवाद, तथा नीति में। यही कारण है कि पश्चिमी देशों में धर्म्म नामक मतवाद के साथ नीति का भयानक संघर्ष होता रहा है। धर्म्म में विज्ञान तर्क युक्ति आदि का समादर है। अतः इनमें संघर्ष के कारण उपस्थित ही नहीं होसकते। मतवाद में केवल अन्धश्रद्धा है वहाँ विचारस्वातन्त्र्य का द्वार सर्वथा अवरुद्ध है। अतएव केवल अभिमान के बल पर पुष्पित ऐसे मतवादों में धर्म्म का अन्त हो जाना स्वाभाविक है। रूस के साम्यवाद ने इसी मतवाद के भ्रम से धर्म्म और ईश्वर की उपेक्षा करने में ही अपना कल्याण समझा। साम्यवाद को जन्म देने वाले मार्क्स धर्म्म की परिभाषा उनके लक्ष्य में न आई। मानते हैं मतवादात्मक धर्म्म ही विश्वकी अशान्ति *का कारण है। क्योंकि इसमें व्यक्तिवाद की मूलप्रतिष्ठारूप अहङ्कार का नियन्त्रण असम्भव है। मतवाद व्यक्तिगत* स्वार्थ को प्रोत्साहित करता है। यही वैयक्तिक स्वार्थ ही अनार्थिसिद्धि का कारण बनता है। दुःख है कि भारतीय सनातनधर्म्म का स्थान भी आज सम्प्रदायात्मक मतवाद ने छीन लिया है अथवा तो छीनता जारहा है। सभी सम्प्रदायवादी अपने अपने स्थान पर प्रतिष्ठित रहते हुए साथ ही वैदिक धर्म्म रक्षा में आत्मसमर्पण

करते हुए जहाँ उपादेय, अतएव संरक्षणीय हैं वहाँ अपने अपने सामयिक दृष्टिकोण को ही प्रधानता देते हुए, अपने आप ही को कल्याण का प्रवर्त्तक समझते हुए, साथ ही इतर सम्प्रदायों की निन्दा कर समाज-संघठन तोड़ने का महापातक करते हुए सर्वथा अनुपादेय अतएव उपेक्षणीय ही हैं। सम्प्रदायवाद की घातक प्रतिच्छाया के अनुग्रह से ही आज धर्म्म की सार्वभौमिकता अस्तप्राय बन रही है। जो सनातनधर्म्म किसी युग में सम्पूर्ण विश्व की शान्ति का सन्देशवाहक था वही आज सम्प्रदाय के रंग से रञ्जित होकर अशान्ति का कारण बन रहा है। सम्प्रदायवाद" के घातक अभिनिवेश (दुराग्रह-हठधर्म्मी) से ही साम्यवाद के मूलभूत 'समदर्शन' का विनाश हुआ है एवं समदर्शन का विनाश ही समाजशान्ति का उच्छेदक बना है।

शासनसत्ता के अनुग्रह से पश्चिमी देशों का पूर्व-देशों से सम्बन्ध हुआ। इस सम्बन्ध से दोनों की पुरातन संस्कृतियों का परस्पर आदान-प्रदान हुआ। परिणाम क्या हुआ !, यह भी एक अनुसन्धान की सामग्री है, जिसका दो शब्दों में विश्लेषण कर देना अप्रासङ्गिक न माना जायगा। हमनें उनसे क्या लिया ! इसका उत्तर स्पष्ट है। विजेता की संस्कृति विजितों को विवश बन कर स्वीकार करनी पड़ती है। फलतः हमनें उनकी संस्कृति सभ्यता आदर्श साहित्य, को ही अपने अभ्युदय का कारण समझा। अपनापन खो कर हम सर्वात्मना 'दासधर्म्म' में दीक्षित हो गए। हमारे वे सब आचार-व्यवहार हमारी ही दृष्टि में केवल ढोंग बन गए, जिनका हमनें उनके आचार-व्यवहार से विरुद्ध गमन देखा। उन्हें हम से क्या मिला !, सब कुछ। इसप्रकार इस पारस्परिक सम्बन्ध में हमनें सब कुछ खो दिया, और उन्होंनें सब कुछ पालिया। वे वे ही बने रह कर जहाँ सब कुछ पा गए, वहाँ हमनें 'वे' बन कर सब कुछ खो दिया। हमनें वैदिक सिद्धान्तों की उपेक्षा की, उन्होंने वैदिक संस्कृति का मुक्तकण्ठ से यशोगान किया। हमनें भारतीय अध्यात्मवाद" को केवल कल्पना समझा उन्होंनें इसी को शान्ति का कारण माना। उनके इस दृष्टिकोण की प्रामाणिकता के लिए एक दो उदाहरण उद्धृत कर देना भी अनावश्यक न माना जायगा।

४६-पश्चिमी साम्यवाद पर एक दृष्टि—

जर्मनी के अधिनायक हर हिटलर के आध्यात्मिक गुरु सुप्रसिद्ध दार्शनिक 'नीत्शे' महोदय ने प्रायः विश्व के सम्पूर्ण मतों (ISM) का तथा मजहबों (RELISEON) का अध्ययन किया। इनके अध्ययन से आप इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'मत और मजहब, दोनों मानवजीवन की स्वाभाविक शान्ति के अन्यतम शत्रु हैं। न तो इनसे राष्ट्र का बौद्धिक विकास ही हो सकता, एवं न इनसे मानव की व्यक्तिसंस्था का ही कोई अभ्युदय सम्भव। क्योंकि इनके नियम संकुचित, अतएव दासता के प्रवर्त्तक हैं"। आगे जाकर जब नीत्शे को यह विदित हुआ कि, धर्म्मतत्व मत और मजहब से कोई विभिन्न वस्तु है जिसमें बुद्धि-तर्क-विज्ञान का समादर है जिसकी दृष्टि उदार है जिसके नियम विकसित हैं तो वे धर्म्मतत्व के परिज्ञान के लिए व्यग्र हो पड़े। आपने वैदिक-ग्रन्थों का अध्ययन किया। इस वेदस्वाध्याय के अनन्तर वेदसिद्ध सनातनधर्म्म के सम्बन्ध में आपकी यह धारणा हो गई कि-"वेद से बढ़ कर कोई भी उत्तम वैज्ञानिक ग्रन्थ नहीं है एवं न वेदसिद्ध मानवधर्म्म के अतिरिक्त कोई धर्म्म ही'। मानवधर्म्मप्रतिपादक 'मनुस्मृति' के सम्बन्ध में आपका यह कथन था कि- इसमें सूर्य्य का सा प्रकाश है। इसमें मानवजीवन को सफल बनाने वाले वैज्ञानिक-तत्वों का विश्लेषण हुआ है। यदि मनुष्य मनु महाराज के बताए हुए सामाजिक नियमों का पालन करे, तो वह कभी दुःखी नहीं रह सकता'। सुप्रसिद्ध वेदाभ्यासी सर्वमी मेक्समूलर महोदय के भी

इस सम्बन्ध में ये ही विचार थे। आपने एक समय एक महत्त्वपूर्ण परिषद् (सभा) में समादरपूर्वक से इस सम्बन्ध में अपने ये विचार प्रकट किए थे कि—"यदि मुझ से पूछा जाय कि, किस देश के वायुमण्डल में मानसिक विकास की ऐसी विभूतियाँ उत्पन्न हुई हैं जिन्होंने जीवन-विज्ञान के गूढ़तम रहस्यों पर विचार किया है जिनके अध्ययन की आवश्यकता प्लेटो, और काण्ट जैसे दार्शनिकों को भी है ?, तो मैं भारत की ओर इशारा करूँगा"। डॉक्टर मैक्समूलर की सम्मति में— 'वेद संसार का सर्वोत्तम ग्रन्थ है और भारतीय मन से सुसंस्कृत लोग'। बर्लिन विश्वविद्यालय के संस्कृत प्रोफेसर माननीय स्यूडर्स साहिब ने वर्णव्यवस्थानुसार सामाजिक स्थिति का स्वतन्त्र अध्ययन किया। परिणाम में आप इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि—"यदि महात्मा कार्ल मार्क्स (रूस के साम्यवाद के आचार्य) अपने जीवन में एक बार भी मनु धर्म के लिए मनुस्मृति का अवगाहन कर लेते तो बहुत सम्भव था कि, वे साम्यवाद के प्रवर्तक होने के बजाय वैदिक-साम्यवाद के एक समर्थ प्रचारक बन जाते। किन्तु योरोप का दुर्भाग्य था कि उन्हें ऐसा अवसर ही प्राप्त न हुआ"। जिस युग में पश्चिमी विद्वानों की रुचि वेद-स्वाध्याय की ओर अधिकाधिक बढ़ती जा रही थी, उस रुचि को देख-सुन कर उस युग के सुप्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता आइन्स्टीन महोदय आतुर हो पड़े। आप अपने समय के कट्टर नास्तिक थे। आपका विश्वास था कि मनुष्य स्वयं ही अपना निर्माता है इस मानवीय शक्ति से बढ़ कर कोई अन्य शक्ति नहीं है। इस दृष्टिकोण को सिद्धान्त बना कर आपने वेद-धर्म की कटुपरीक्षा आरम्भ की। सब से पहिले आपने गीता का अध्ययन आरम्भ किया। केवल एक महीने के स्वाध्याय से ही आपका दृष्टिकोण बदल गया। वेदशास्त्रसम्मत पुनर्जन्म आदि सिद्धान्तों पर पूर्ण विचार करते हुए आपने यह स्वीकार कर लिया कि— 'अणु, तथा परमाणुओं की सुसूक्ष्म शक्तियों का आधार अवश्य ही सर्वव्यापक विश्वात्म सर्व तत्त्वासिद्ध पदार्थ है जिसे स्वीकार किए बिना मानव का अभ्युदय असम्भव है"। आगे जाकर आपने यह विचार प्रकट किया कि, "उच्चतम शिखर पर पहुँच कर विज्ञान धर्म के गुह्यतम-आधिभौतिक तत्त्व में विलीन हो जाता है"। इसी प्रकार मिसेज मारकोई, मैली, स्टोव प्रॉल आदि विदुषियों, और विद्वानों ने भी मुक्तकण्ठ से वेद-धर्म की उपादेयता स्वीकार कर सुप्त भारतीयों का उद्बोधन किया है।

पश्चिमी विद्वान् इस प्रकार जहाँ उत्तरोत्तर हमारे धर्म की ओर आकर्षित होते जा रहे हैं वहाँ आत्मविस्मृति में निमग्न हम भारतीय,-विशेषतः शिक्षित भारतीय-उनके पूर्वभाव का अनुकरण करना ही अपना परमपुरुषार्थ मान रहे हैं। अपने धर्म का विरोध और पश्चिमी (रूस के) साम्यवाद का समर्थन करते हुए भारतीय सभ्यता पर कुल्हाड़ा के पीछे दौड़ते हुए हम अपने हाथों ही अपने सर्वनाश का आमन्त्रण करते हुए 'प्रगति के सुख स्वप्नों की आकस्मिक कल्पना में तल्लीन हो रहे हैं। जैसाकि कहा गया है कॉर्ल मार्क्स का साम्यवाद धर्म के लिए साम्यवाद है। वस्तुतः यह विशुद्ध विषमवाद है। मानते हैं कि, जहाँ तक आर्थिक समस्या का प्रश्न है वहाँ तक मार्क्स की विचारधारा थोड़ा सुधार कर सकती है। मार्क्स का यह कहना कि,—"भूमण्डल गरीब, मजदूर, और किसान के लिए प्राप्त है, जो उसे अपने अधिकार का ज्ञान नहीं होने देता" कहना किसी सीमा पर्यन्त सत्य है। हम स्वयं मतवादरूपेण मजहब को शान्ति का शत्रु मान रहे हैं। परन्तु इससे आगे बढ़ने में साम्यवाद से अभ्युदय नहीं माना जा सकता। प्रोफेसर स्यूडर्स के शब्दों में मार्क्स को केवल युरोपीय मतों का ही ज्ञान था जिनमें दोषों का कहना अनिवार्य है। अतएव मजहब से ऊब कर उन्होंने उसका विरोध किया। धर्म क्या है ? धर्म और मत में क्या अन्तर है ?, इस प्रश्न के समाधान का क्योंकि उन्हें अवसर नहीं मिला अतएव उन्होंने 'साम्यवाद' की सृष्टि कर डाली। जिसका

और ईसाइमत (मत) में परस्पर पर्य्याप्त संघर्ष हुए हैं । मार्क्स के युग में भी योरोप में मतवादों के अत्याचार ने प्रबलरूप धारण कर रक्खा था । ईसाईमत का पालन–पोषण राजाओं तथा क्रूर पूँजीपतियों के द्वारा होता था । और इसप्रकार ईश्वर के नाम पर गरीबों का चूँसा हुआ रक्तकोष उसी प्रकार पूँजीपति पादरियों के उपासनामन्दिरों में सञ्चित होता रहता था जैसकि वर्त्तमान भारत के पूँजीपतियों के द्वारा पुष्पित पल्लवित सम्प्रदायाचार्य्यों के कोष मुग्ध अन्धभक्त आस्तिकप्रजा के शोषणकर्म्म से संग्रहीत प्रचुरद्रव्यराशि से परिपूर्ण हैं । ऐसी स्थिति में मार्क्स ने जो कुछ किया, ठीक किया । धर्म्म के नाम पर मतवाद का पोषण करने वालों के लिए यदि मार्क्स इस से भी कठिन दण्डव्यवस्था करते तो हम उनका भी अभिनन्दन ही करते । परन्तु दुःख है कि धर्म्म के तात्त्विक स्वरूप न जानने कारण अनीश्वरवादात्मक ऐसे साम्यवाद का उनकी ओर से आविष्कार हो पड़ा जो कहने भर के लिए शान्ति का कारण बनता हुआ भी तत्त्वतः अशान्ति का ही जनक सिद्ध हुआ । आध्यात्मिक ज्ञान ही आत्मसंयम और इच्छादमन की मूलभित्ति है । आध्यात्मिक ज्ञानात्मक ईश्वरीय धर्म्म से वञ्चित मार्क्स के भौतिक साम्यवाद में भी मतवाद की भाँति आत्मसंयम, और इच्छादमन का अभाव है । अतएव केवल अर्थवादात्मक साम्यवाद आत्मशान्ति से कोसों दूर रहता हुआ मानवजीवन को सुशान्त बनाए रखने में नितान्त असमर्थ है, जिसका प्रत्यक्षप्रमाण रूसकी अर्थलिप्सा ही पर्य्याप्त है * ।

५०–भारतीय साम्यवाद और धर्म्मदृष्टि–

भारतीय साम्यवाद की मूल भित्ति वह धर्म्म है जिसके सत्य अहिंसा दया अस्तेय आत्मसंयम, इच्छा दमन आदि गुण माने गए हैं । एवंविध धर्म्म से ही साम्यवाद विश्वशान्ति का कारण बन सकता है, जो साम्यवाद गीता के शब्दों में 'समत्वयोग' कहलाता है । समदर्शन ही इस समत्वयोग की आधारशिला है एवं यही भारतीय साम्यवाद की मौलिक परिभाषा है जिसे न समझ कर वर्तमान युग के कतिपय राष्ट्रीय नेतामहतों नें गीता के साम्यवाद के साथ मार्क्स के साम्यवाद की तुलना कर डालने की भ्रान्ति कर डाली है । क्या पूँजीपति होना दोष है ? नहीं । क्या सब समानरूप से सुखी रह सकते हैं ?, जब कि सुख–दुःख प्राप्ति का स्वकर्म–संस्कारों से सम्बन्ध है ?, नहीं । फिर साम्यवाद का क्या अर्थ ? । साम्यवाद यही आदेश करता है कि यह ठीक है कि अमुक व्यक्ति अपने कर्म्मों से ही दुःखी है । परन्तु मानवता के नाते तुम्हारा यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि, तुम उसके दुःख में हाथ बँटाओ । प्रकृतिसिद्ध अव्यवस्था से उसकी पारिवारिक स्थिति को सँभालो । यह भावना तभी हो सकती है जब आत्मा में दया–करुणा–अहिंसा–सर्वभूतहितरति, आदि गुणों का विकास हो । इन गुणों का विकास तभी सम्भव है जब कि आत्मा धर्म्ममार्ग पर आरूढ हो । धर्म्मभावना के आधार पर प्रतिष्ठित समदर्शनमूला साम्य–भावना ही पूँजीपतियों की प्रकृतियों में सहज उदारता का समावेश कर सकती है । और धर्म्मात्मिका यह सद्भावना ही दुःखी–असमर्थ–अनाथवर्ग को कष्ट में भी शान्ति का रसास्वादन करा सकती है । यही हमारा धर्म्ममूलक साम्यवाद है जिसके सृष्टा हैं महर्षि (ब्राह्मण), एवं

---

* श्वेतक्रान्तिमूलक भारतीय साम्यवाद तथा रक्तक्रान्तिमूलक प्रतीच्य साम्यवाद इन दोनों विभिन्न दृष्टिकोणों का विशद विवेचन 'भारतीय हिन्दूमानव, और उसकी भावुकता' नामक खण्डचतुष्टयात्मक समालोचक निबन्ध के 'श्वेतक्रान्ति का महान सन्देश' नामक तृतीयखण्ड में देखना चाहिए ।

संरक्षक हैं–राजर्षि (क्षत्रिय)। धर्म्म मार्ग के उपदेशक ब्राह्मण एवं धर्म्मानुगत नीतिमार्ग के संरक्षक क्षत्रिय दोनों ही विभाग प्रायः लुप्त हैं। ऐसी स्थिति में सर्वप्रेयसंरक्षक गुप्तस्थान (वैश्यस्थान–पूँजीपति) यदि उच्छृङ्खल न बने तो महा आश्चर्य है। और उभय रक्षाकर्म से वञ्चित ऐसे पूँजीपतियों के द्वारा श्रमजीवियों का उत्पीड़न न हो, तो महा आश्चर्य है। तभी तो हम मानिनियों से निवेदन करने की धृष्टता कर रहे हैं कि, यदि हम वास्तव में भारत राष्ट्र का अभ्युदय चाहते हैं, तो सर्वप्रथम हमें दरिद्र सामान्य प्रजा के दुःखों का सहयोगी बनना पड़ेगा। इसके लिए पूँजीपति वैश्यसमाज का ध्यान धर्म्ममूलक लक्ष्य की ओर आकर्षित करना पड़ेगा। इसके लिए धर्म्मानुगत नीतिमार्ग के संरक्षक क्षत्रियसमाज का आश्रय लेना पड़ेगा। एवं क्षत्रियसमाज की राजनीति को धर्म्मानुगता बनाए रखने के लिए वेदशास्त्रसम्मत मानवधर्म्म के उपदेशक ब्राह्मणवर्ग का आश्रय लेना पड़ेगा। अन्त में ब्राह्मणवर्ग को वर्त्तमान सम्प्रदायवाद (मतवाद) की संकुचित दृष्टि से बचा कर इसे शाश्वत आर्ष–मानवधर्म्म में पुनः दीक्षित करने के लिए विलुप्तप्राय वेदविज्ञान का पुनः उद्धार करना पड़ेगा। तभी भारतीय धर्म्म और नीति की उक्त परिभाषाएँ पुष्पित पल्लवित हो सकेंगी, जिनका विशद वैज्ञानिक विवेचन अन्य निबन्ध में हुआ है।

५१–आत्मानुगत धर्म्मतन्त्र, और शरीरानुगत नीतितन्त्र–

उक्त धर्म्म और नीति स्वरूप विश्लेषण का निष्कर्ष यही हुआ कि आत्मतन्त्र धर्म्मप्रधान है, शरीरतन्त्र नीतिप्रधान है। धर्म्मप्रधान आत्मा के आधार पर ही तो नीतिप्रधान शरीर प्रतिष्ठित है। नीतिप्रधान शरीर तो धर्म्मप्रधान आत्मा की आश्रयभूमि है। दोनों में मुख्य यद्यपि धर्म्मप्रधान आत्मा है, तथापि आत्मस्वरूप का रक्षा–विकास तो शरीरस्थिति पर ही अवलम्बित है। शरीर ही तो धर्म्मात्मक आत्मा का वह बाह्य वेष्टन है, जिसके स्वस्थ–सक्षम रहने पर ही आत्मा स्वधर्म्मानुगमन में समर्थ बनता है। इसी आधार पर–'शरीरमाद्यं खलु धर्म्मसाधनम्' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। इसी से यह भी सिद्ध हो गया कि बिना नीतिमार्ग को आगे किए धर्म्म रक्षा असम्भव है। विशुद्ध धर्म्म दूसरे शब्दों में नीतिनिरपेक्ष धर्म्म कभी सुरक्षित नहीं रह सकता। स्वधर्म्म रक्षा के लिए प्रत्येक दशा में नीतिमार्ग का अनुगमन अपेक्षित है। और इसीलिए भारतीय धर्म्म के साथ भारतीय राजनीति का घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। अतएव राजनीति का सञ्चालक भारतीय शास्ता यहाँ धर्म्म स्थापक–धर्म्मसंरक्षक माना गया है। अतएव स्वधर्म्म के अनन्यनिष्ठ भगवान् कृष्ण ने–'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' को आधार बना कर स्व–धर्म्म रक्षा के लिए समय समय पर नीतिमार्ग का अवलम्बन किया है। शिखण्डी को आगे कर अर्जुन से भीष्म पर प्रहार कराना, 'अश्वत्थामा हत–नरो वा कुञ्जरो वा' के आधार पर द्रोण का वध कराना, भीम के द्वारा दुर्य्योधन की जङ्घा पर गदाप्रहार करवाना, रथचक्र के भूमि में फँस जाने पर असहाय कर्ण पर प्रहार करवाना ये सब नीति मार्ग के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं, जिनका स्वधर्म्म रक्षा के लिए स्वयं भगवान् की ओर से प्रयोग हुआ है। यह ध्रुव सत्य है कि बिना नीतिमार्ग के धर्म्ममार्ग कभी सुरक्षित नहीं रह सकता। तभी तो यहाँ धर्म्म के साथ नीति का अभेद सम्बन्ध माना गया है। नीतिमार्ग भी तो एक प्रकार का धर्म्म ही है। इसीलिए तो शास्ता के राजनैतिक मार्ग को यहाँ 'राजधर्म्म' नाम से ही व्यवहृत किया गया है। दुःख है कि, अब कुछ एक विद्वानों में इस देश में यह भ्रान्ति उत्पन्न हो गई है कि, धर्म्ममार्ग एक स्वतन्त्र पथ है एवं राजनीति एक स्वतन्त्र पथ है, दोनों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारा अपना तो इस सम्बन्ध में ऐसा

मन्तव्य है कि, इसी भ्रान्ति ने भारतीय साम्राज्य का अपहरण किया है। विगत शताब्दियों के धर्म्मप्रिय भारतीय राजाओं में धर्म्म भावना का अनुचित समादर करते हुए आक्रान्ताओं को बार बार क्षमा कर अपना और अपने साम्राज्य का नाश कर लिया जिसके उदाहरण भारत के अन्तिम सम्राट् पृथिवीराज चौहान हैं।

५२—मताभिनिवेश के दुष्परिणाम—

मताभिनिविष्ट यवनों के अनन्तर राजनीतिकुशल विदेशी शासकों की इस देश पर अनुग्रहदृष्टि हुई। नीति के तात्त्विक स्वरूप को भुला देने वाले हम भारतीयों के हृदय में पुनः इस आशङ्का का जन्म हो पड़ा कि, कहीं ये नवागन्तुक अतिथि भी हमारे धर्म्म पर तो प्रहार न कर बैठेंगे। यही हमारी निर्बलता का मुख्य बीज था। हम भूल चुके थे इस सिद्धान्त को कि, नीतियुक्त धर्म्म पर कोई भी आक्रान्ता अपना आक्रमण सफल नहीं बना सकता। हम तो उक्त भ्रान्ति के अनुग्रह से कोरे धार्म्मिक बने रह गए थे। 'दूसरों की कमजोरी से लाभ उठाना सबसे बड़ी बुद्धिमानी है' राजनीति के इस अव्यर्थ सिद्धान्त का मर्म्म समझने वाले उन नवागन्तुकोंने भारतभूमि पर पैर रखते ही हमारी इस कमजोरी का पता पा लिया। फिर क्या था। महारानी विक्टोरिया के शासनकाल में यह घोषणा कर दी गई कि 'हमारी राजनीति किसी के धर्म्म में कोई हस्तक्षेप न करेगी'। हम भ्रान्त भारतीयों ने बड़ी प्रसन्नता से इस घातक घोषणा का अभिनन्दन करते हुए अपनी नग्न मूर्खता का स्वरूप विदेशी शासकों के सम्मुख रखने में अपने आपको गौरवान्वित माना। भूतमिथ्याप्रधान उनकी राजनीति के प्रयोग आरम्भ हुए, इस कौशल से कि जिनके द्वारा अप्रत्यक्षरूप से हमारा सर्वस्व दिन दहाड़े लुटने लगा। हम धर्म्म-धर्म्म चिल्लाते रहे और उनकी राजनीति के महोदर में हमारा धर्म्म, साहित्य, संस्कृति सभ्यता आचारव्यवहार, शिल्प कला, वाणिज्य, सब कुछ विलीन होते गए। आगे जाकर उक्त घोषणा की भी उपेक्षा आरम्भ हुई। लेजिस्लेटिव में अन्तर्जातीय विवाहादि कानून उपस्थित होने लगे। उनके द्वारा नहीं, भारतीयों के ही द्वारा। इसलिए कि राजनीति के व्यामोह ने उन्हें धर्म्म स्वरूपज्ञान से सर्वथा वञ्चित कर दिया था। तभी तो आज के शिक्षित भारतीयों के यह अनर्गल प्रलाप देखे-सुने जा रहे हैं कि विवाह का धर्म्म से क्या सम्बन्ध ?, खान पान से धर्म्म का क्या सम्बन्ध ?। मानों इनकी दृष्टि में धर्म्म तो एक वह लोकातीत-अव्यवहार्य्य पदार्थ है जिसका मानवसमाज के ऐहिक प्रत्यक्षजीवन से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। जहाँ हमारी राजनीति तक धर्म्ममूला थी वहाँ हमारा धर्म्मपथ भी धर्म्म सीमा से बहिष्कृत मान लिया गया। तब कहीं जाकर हमारे धर्म्मनेताओं (पण्डितसमाज) की आँखें खुलीं। विक्टोरिया की घोषणा दोहराई गई। परन्तु सुनता कौन था। व्यवहारजगत् में उसी की सुनी जाती है जिसके हाथ में नीतिशास्त्र सुरक्षित रहता है। वह धर्म्मनेताओं के पास है कहाँ। फिर इन निर्बलों की कौन सुने और क्यों सुनें। आज भी तो हम उसी भ्रान्तभावना को दोहराने का पाप कर रहे हैं। किसी भी धार्म्मिकमञ्च पर चले जाइए। पहिली घोषणा यह होगी कि 'हमारी यह संस्था, यह सभा राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। हमारा लक्ष्य एकमात्र धर्म्म प्रचार है'। घोषणा करने वालों से क्या हम यह पूँछ सकते हैं कि, धर्म्मावतार ! क्या राजनीति धर्म्म नहीं है ?। क्या आपके धर्म्म शास्त्रों में राजनीति का निरूपण नहीं हुआ ?, क्या आपकी राजनीति को धर्म्म (राजधर्म्म) नाम से व्यवहृत नहीं किया गया ?। फिर आपने किस आधार पर यह मान लिया कि, धर्म्म का नीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। स्मरण रखिए, यदि अब भी इसी भ्रान्ति में पड़े रहे तो धर्म्म रक्षा तो आप क्या करेंगे,—अपनी रक्षा भी आप न कर सकेंगे। धर्म्म को मूलप्रतिष्ठा बनाइए, राजनीति को धर्म्म प्रयोग का द्वार बनाइए। तभी तो आपके राष्ट्र का अभ्युदय सम्भव है। उधर विदेशियों

की नकल करने वाले वर्तमान राष्ट्रवादियों से हम यह निवेदन करेंगे कि पश्चिमसभ्यतानुग्रह से उनके सम्मुख धर्म का जो स्वरूप उपस्थित हुआ है, नीतिमर्यादित, अतएव रचनात्मक मार्ग से सर्वथा बहिष्कृत वह धर्म वस्तुतः मतवाद है, शान्तिविघातक सम्प्रदायविशेष है। एतावता ही भारतीय सिद्धानसिद्ध धर्म की ओर से उनका उपरत हो जाना अपेक्षित नहीं है। उन्हें यह नहीं भुला देना चाहिए कि, जिस अहिंसा के आधार पर वे भारतवर्ष के अभ्युदय की कामना कर रहे हैं, जिस राजनीति के द्वारा वे साम्यवाद के सुख स्वप्न देख रहे हैं, वह अहिंसा वह साम्यवाद समन्वयसंनातुगत बनता हुआ धर्ममूलक ही है। बिना धर्म को आधार बनाए न तो उनका राष्ट्रकल्पना ही कभी पुष्पित पल्लवित हो सकती एवं न धर्मवञ्चित, अतएव काल्पनिक अहिंसावाद को ही वे सुरक्षित रख सकते।

५३–धर्म, और अधर्म्म वंशपरिचय—

अहिंसावादी राष्ट्रीय नेता कहा करते हैं जगत् को अपना मित्र समझो। अहिंसा को मुख्य बनाओ!! सुखामतम्!!! परन्तु कैसे?। क्या यह विशुद्ध राजनीति–मार्ग विश्वमैत्री का अनुगामी बन सकता है जिसका तमोगुणप्रधान राष्ट्रोपासक बाह्य व्यवहार से सम्बन्ध है?। अर्थकामपरायण आचरणस्वरूप से अपेक्षित हिंसापथ को अपनाने वाले राजनीति–पथ में क्या अहिंसावाद सुरक्षित रह सकता है?। कभी नहीं। यह तो धर्मभावना को मूलाधार बनाने पर ही सम्भव है। क्योंकि मैत्री, अहिंसा, सन्तोष सर्वभूतात्मदृष्टि आदि गुण धर्म से ही सम्बन्ध रखते हैं। हमारे राष्ट्रीय नेता दयालुता से भी एक बार भी भारतीय धर्म तत्त्व पर दृष्टि डालने का अनुग्रह कर लेते तो धर्म के प्रति उनकी यह उपेक्षा न होती। धर्माधर्म्मवंशों का दिग्दर्शन कराते हुए शास्त्र ने हमें बतलाया है कि, दक्षप्रजापति की १ कन्याओं में ११ कन्याओं का धर्म के साथ पाणिग्रहण हुआ है। इन ११ पत्नियों से धर्म के ११ पुत्र उत्पन्न हुए हैं, यही धर्म वंश है। वे पत्नियाँ क्रमशः श्रद्धा मैत्री, दया शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया उन्नति, बुद्धि मेधा तितिक्षा, ह्री (लज्जा), मूर्ति, इन नामों से प्रसिद्ध हैं (श्रीमद्भागवत)। भागवतोक्त इन ११ पत्नियों के क्रमशः श्रद्धा से ऋत (सत्य) नामक पुत्र उत्पन्न हुआ है। मैत्री से प्रसाद (आत्मविश्वास) दया से अभय शान्ति से सुख तुष्टि से सन्तोष, पुष्टि से गर्व (आत्माभिमान) क्रिया से योग (कर्मबुद्धियोग) उन्नति से दर्प (आत्मनिर्भरता–स्वावलम्बिता) बुद्धि से अर्थ (ज्ञानसम्पत्ति), मेधा से स्मृति तितिक्षा (सहनशक्ति) से क्षेम ह्री से प्रश्रय एवं मूर्ति से नरनारायण (नर एवं नारायण ईश्वर, दोनों का सहकल्पन) नामक पुत्र उत्पन्न हुए हैं। नर, नारायण को यदि पृथक् माना जाता है तो ११ के स्थान में चौदह संख्या हो जाती है। पुराणशास्त्रों में इसी धर्मवंश का निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

> श्रद्धा–लक्ष्मी–धृति–स्तुष्टि–पुष्टि–र्मेधा–तथा क्रिया।
>
> बुद्धि–र्लज्जा–वपु–शान्ति–सिद्धि–कीर्ति–स्त्रयोदशी ॥
>
> पत्न्यर्थं प्रतिजग्राह धर्मो दाक्षायणीः प्रभुः ॥ १ ॥

श्रद्धा-कामञ्च, श्री-दर्पं, नियमं धृतिरात्मजम् ॥

सन्तोषञ्च तथा तुष्टिः, लोभं पुष्टिरसूयत ॥ २ ॥

मेधा-श्रुतं, क्रिया-दण्डं, नय-विनयमेव च ॥

बोधं बुद्धिः, स्तथा लज्जा विनयं, वपु-रात्मजम् ॥ ३ ॥

व्यवसायं प्रजज्ञे वै, क्षेमं शान्तिरसूयत ।

सुखं सिद्धिः, यशः कीर्तिरित्येते धर्म्मसूनवः ॥ ४ ॥

अधर्मवंश का निरूपण करते हुए शास्त्र ने कहा है—हिंसा अधर्म्म की पत्नी है, इससे अनृत (मिथ्याभाषण) नामक पुत्र उत्पन्न हुआ है। निकृति नाम की कन्या उत्पन्न हुई है, जिसके गर्भ से नरक, और भय नाम के दो पुत्र (अधर्म्म के दौहित्र) उत्पन्न हुए हैं। नरक का विवाह माया से हुआ है भय का विवाह वेदना से हुआ है। माया से मृत्युपुत्र उत्पन्न हुआ है, वेदना से दुःखपुत्र उत्पन्न हुआ है। मृत्यु से जरा व्याधि, शोक तृष्णा क्रोधादि पुत्र उत्पन्न हुए हैं। यही अधर्म्म का संक्षिप्त वंशविस्तार है, जो वर्तमान युग में सर्वात्मना पुष्पित पल्लवित हो रहा है। और निश्चयेन यही अधर्म्मवंश आज वर्तमान राष्ट्रकल्पना का मूलाधार बनता हुआ हिंसा, मिथ्याभाषण माया वेदना व्याधि शोक तृष्णा, क्रोधादि का उत्तेजक सिद्ध हो रहा है। (मार्कण्डेयपुराण)। ब्रह्मचर्य्य तप, व्रत दान नियम क्षमा शौच, सन्तोष, अहिंसा सुशान्ति, इन दश भावों से युक्त धर्म्म ही आत्मसंयमपूर्वक इन्द्रियदमन का कारण बनता हुआ उस भारतीय साम्यवाद का पोषक बनता है जिसमें धर्म्मात्मक आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले 'समदर्शन' को प्रधान बना कर नैत्यात्मक शरीर से सम्बन्ध रखने वाला विषमवर्त्तन (प्रकृतिभेदसिद्ध विभिन्न व्यवहार) पुष्पित पल्लवित हुआ है। ठीक इसके विपरीत इन्द्रियपरायणता अनृत, कृपणता उच्छृङ्खल आहारविहार, अशुचि, हिंसा, अशान्ति, इत्यादि भावों से युक्त अधर्म्म ही आत्मसंकल्पपूर्वक इन्द्रियस्वच्छन्दप्रवृत्ति का कारण बनता हुआ उस पाश्चात्य साम्यवाद का पोषक बन रहा है जिसमें आत्मापकर्षमूलक अधर्म्मजनित विषमदर्शन तथा शरीरानुगत समवर्त्तन (प्रकृतिभेदविरुद्ध अप्राकृतिक समानाधिकार) पुष्पित पल्लवित हो रहे हैं। दोनों साम्यवादों में से कौन उपादेय है ?, इस प्रश्न के निर्णय का भार विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ते हुए इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से यही निवेदन करना पर्य्याप्त समझते हैं कि किसी भी कार्य्य पद्धति की किंवा सिद्धान्त की उपयोगिता उसके फल से निर्णीत होती है। परस्पर में हम एक दूसरे के शत्रु बने रहें अर्थलिप्सा में निमग्न रहें व्यक्तिप्रतिष्ठा में मदोन्मत्त बने रहें और ऐसा करते हुए विभिन्नप्रकृति वाले यच्चयावत् मनुष्यों को समानाधिकार का पाठ पढ़ाते हुए उन्हें स्वेच्छानुगत अविचारसिद्ध विप्लव कर्म्मपथ से च्युत करते रहें एवंविध विषमदर्शनानुगत समवर्त्तनप्रधान पाश्चात्य साम्यवाद एक कार्य्य पद्धति है। इसका फल क्या हुआ ?, यह आज प्रत्यक्ष हो चुका है। इसी दुष्कल्पना से आज न केवल भारत ही, अपितु सम्पूर्ण विश्व का मानवसमाज अशान्तिप्रद स्थिति में निमग्न हो रहा है। इसी फल से इसकी उपयोगिता स्पष्ट है। परस्पर में मैत्रीभाव रखो, अर्थलिप्सा से बचे रहो, व्यक्ति-

को नकल करने वाले वर्त्तमान राष्ट्रवादियों से हम यह निवेदन करेंगे कि पश्चिमसभ्यतानुग्रह से उनके सम्मुख धर्म्म का जो स्वरूप उपस्थित हुआ है नीतिनयवर्जित, अतएव रचनात्मक मार्ग से सर्वथा बहिष्कृत वह धर्म्म वस्तुतः मतवाद है, शान्तिविघातक सम्प्रदायविशेष है। यथार्थता ही भारतीय विज्ञानसिद्ध धर्म्म की ओर से उनका लक्ष्य हो, अन्य भेद-कल्पना नहीं है। उन्हें यह नहीं भुला देना चाहिए कि, जिस अहिंसा के आधार पर वे भारतवर्ष के अभ्युदय की कामना कर रहे हैं, जिस राजनीति के द्वारा वे साम्यवाद के सुख स्वप्न देख रहे हैं वह अहिंसा वह साम्यवाद समदर्शनानुगत बनता हुआ धर्म्ममूलक ही है। बिना धर्म्म को आधार बनाए न तो उनकी राष्ट्रकल्पना ही कभी पुष्पित पल्लवित हो सकती, एवं न धर्म्मवञ्चित, अतएव वास्तविक अहिंसावाद को ही वे सुरक्षित रख सकते।

५३—धर्म्म, और अधर्म्म वंशपरिचय—

अहिंसावादी राष्ट्रीय नेता कहा करते हैं जगत् को अपना मित्र समझो! अहिंसा को मुख्य बनाओ!! कृष्णार्पणम्!!! परन्तु प्रेम!। क्या यह विशुद्ध राजनीति-मार्ग विश्वमैत्री का अनुगामी बन सकता है जिसका तमोगुणप्रधान स्वार्थपोषक बाह्य व्यवहार से सम्बन्ध है?। धर्मकर्म-स्वार्थ आवरणवश में उपेक्षित हिंसामय की अनुमान बाण राजनीति-पथ में क्या अहिंसावाद सुरक्षित रह सकता है?। कभी नहीं। वह तो धर्म्मभावना को मूलाधार बनाने पर ही सम्भव है। क्योंकि मैत्री, अहिंसा, सन्तोष, सर्वभूतहितरति, आदि गुण धर्म्म से ही सम्बन्ध रखते हैं। हमारे राष्ट्रीय नेता दयावश होके भी एक बार भी भारतीय धर्म्म तत्त्व पर दृष्टि डालने का अनुग्रह कर लेते तो धर्म्म के प्रति उनकी यह उपेक्षा न होती। धर्म्माधर्म्मवंशों का निरूपण करते हुए शास्त्र ने हमें बतलाया है कि, दक्षप्रजापति की ६ कन्याओं में १३ कन्याओं का धर्म्म के साथ पाणिग्रहण हुआ है। इन १३ पत्नियों से धर्म्म के १३ पुत्र उत्पन्न हुए हैं यही धर्म्मवंश है। वे पत्नियाँ क्रमशः श्रद्धा मैत्री, दया शान्ति तुष्टि, पुष्टि, क्रिया उन्नति, बुद्धि मेधा तितिक्षा, ह्री (लज्जा), मूर्त्ति, इन नामों से प्रसिद्ध हैं (श्रीमद्भागवत)। भागवतोक्त इन १३ पत्नियों से क्रमशः श्रद्धा से शुभ (सत्य) नामक पुत्र उत्पन्न हुआ है। मैत्री से प्रसाद (आत्मविकास) दया से अभय शान्ति से सुख तुष्टि से मुद पुष्टि से गर्व (आत्माभिमान) क्रिया से योग (धर्म्मबुद्धियोग) उन्नति से दर्प (आत्मनिर्भरता-स्वावलम्बिता) बुद्धि से अर्थ (लक्ष्यप्राप्ति), मेधा से स्मृति तितिक्षा (सहनशक्ति) से क्षेम ह्री से प्रश्रय एवं मूर्त्ति से नरनारायण (नर जीव, नारायण ईश्वर, दोनों का युग्मरूप) नामक पुत्र उत्पन्न हुए हैं। नर, नारायण को यदि पृथक् माना जाता है तो १३ के स्थान में चौदह संख्या हो जाती है। पुराणान्तरों में इसी धर्म्मवंश का निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

श्रद्धा-लक्ष्मी-धृति-स्तुष्टि-पुष्टि-र्मेधा-तथा क्रिया।
बुद्धि-र्लज्जा-वपुः-शान्ति-सिद्धिः-कीर्त्ति-स्त्रयोदशी॥
पत्न्यर्थं प्रतिजग्राह धर्म्मो दाक्षायणीः प्रभुः॥ १ ॥

श्रद्धा—कामञ्च, श्री—दर्पं, नियमं धृतिरात्मजम् ।।
सन्तोषञ्च तथा तुष्टि, र्लोभं पुष्टिरसूयत ।। २ ।।
मेधा—श्रुतं, क्रिया—दण्डं, नयं—विनयमेव च ।।
बोधं बुद्धि, स्तथा लज्जा विनयं, वपु—रात्मजम् ।। ३ ।।
व्यवसायं प्रजज्ञे वै, क्षेमं शान्तिरसूयत ।
सुखं सिद्धि, र्यशः कीर्त्तिरित्येते धर्म्मसूनवः ।। ४ ।।

अधर्म्मवंश का निरूपण करते हुए शास्त्र में कहा है—हिंसा अधर्म्म की पत्नी है, इससे अनृत (मिथ्याभाषण) नामक पुत्र उत्पन्न हुआ है। निकृति नाम की कन्या उत्पन्न हुई है, जिसके गर्भ से नरक, और भय नाम के दो पुत्र (अधर्म्म के दौहित्र) उत्पन्न हुए हैं। नरक का विवाह माया से हुआ है, भय का विवाह वेदना से हुआ है। माया से मृत्युपुत्र उत्पन्न हुआ है, वेदना से दुःखपुत्र उत्पन्न हुआ है। मृत्यु से जरा व्याधि, शोक तृष्णा क्रोधादि पुत्र उत्पन्न हुए हैं। यही अधर्म्म का संक्षिप्त वंशविस्तार है, जो वर्त्तमान युग में सर्वात्मना पुष्पित पल्लवित हो रहा है। और निश्चयेन यही अधर्म्मवंश आज वर्त्तमान राष्ट्रकल्पना का मूलाधार बनता हुआ हिंसा, मिथ्याभाषण माया, वेदना व्याधि, शोक तृष्णा, क्रोधादि का उत्तेजक सिद्ध हो रहा है। (मार्कण्डेयपुराण)। ब्रह्मचर्य्य, सत्य, तप, दान नियम क्षमा शौच, अस्तेय, अहिंसा सुशान्ति, इन दश अङ्गों से युक्त धर्म्म ही आत्मसंयमपूर्वक इन्द्रियदमन का कारण बनता हुआ उस भारतीय साम्यवाद का पोषक बनता है जिसमें धर्म्मात्मिका आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले 'समदर्शन' को प्रधान बना कर भौतिकात्मक शरीर से सम्बन्ध रखने वाला विषमवर्त्तन (प्रकृतिभेदसिद्ध विभिन्न व्यवहार) पुष्पित पल्लवित हुआ है। ठीक इसके विपरीत इन्द्रियारामता असत्य, कृपणता उच्छृङ्खल आहारविहार, अशुचि, हिंसा, अशान्ति, इत्यादि अङ्गों से युक्त अधर्म्म ही आत्मवञ्चनापूर्वक इन्द्रियस्वच्छन्दता का कारण बनता हुआ उस पाश्चात्य साम्यवाद का पोषक बन रहा है जिसमें आत्मावरणमूलक अधर्म्म जनित विषमदर्शन तथा शरीरानुगत समवर्त्तन (प्रकृतिभेदविरुद्ध अस्वाभाविक समानाधिकार) पुष्पित पल्लवित हो रहे हैं। दोनों साम्यवादों में से कौन उपादेय है ?, इस प्रश्न के निर्णय का भार विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ते हुए इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से यही निवेदन करना पर्य्याप्त समझते हैं कि किसी भी कार्य्य पद्धति की किंवा सिद्धान्त की उपयोगिता उसके फल से निर्णीत होती है। परस्पर में हम एक दूसरे के शत्रु बने रहें, अर्थलिप्सा में निमग्न रहें, व्यक्तिप्रतिष्ठा में मदोन्मत्त बने रहें और ऐसा करते हुए विभिन्नप्रकृति वाले यच्चयावत् मनुष्यों को समानाधिकार का पाठ पढ़ाते हुए उन्हें स्ववर्णोचितानुगत अधिकारसिद्ध नियत कर्म्मपथ से च्युत करते रहें एवंविध विषमदर्शनानुगत, समवर्त्तनात्मक पश्चिमी साम्यवाद एक धर्म्मपद्धति है। इसका फल क्या हुआ ?, यह आज प्रत्यक्ष हो चुका है। इसी राष्ट्रकल्पना से आज न केवल भारत ही, अपितु सम्पूर्ण विश्व का मानवसमाज अप्रत्याशित सङ्कटों में निमग्न हो रहा है। इसी फल से इसकी उपयोगिता स्पष्ट है। परस्पर में मैत्रीभाव रक्खें, अर्थलिप्सा से बचे रहें, व्यक्ति-

महिमा के मोह में न पड़ें और ऐसा करते हुए विभिन्नप्रकृतिक मनुष्यों को विभिन्न कर्मों में प्रतिष्ठित रखते हुए उन्हें स्वपद पर आरूढ बनाए रहें। एवंविध समन्वयानुगत विषमवर्त्तनात्मक पूर्वी साम्यवाद एक कर्म-पद्धति है पूर्व परीक्षित सिद्धान्त है। इसका फल क्या हुआ था?, यह उस अतीत भारत से पूछिए, जिसमें सुख-शान्ति का पूर्ण साम्राज्य था इसी फल से इसकी आवश्यक उपादेयता प्रमाणित है और प्रमाणित है भारतीय समन्वयानुगत आत्मयुक्त धर्म, तथा विषमवर्त्तनानुगत शरीरयुक्त नीति की उपादेयता। यही धर्म और नीति का प्रासङ्गिक स्वरूपविश्लेषण है।

५४–धर्मस्वरूपजिज्ञासा–

साम्यवाद के प्रसङ्ग में पूर्व में हमनें जिस धर्म'तत्त्व का यशोगान किया उसका तात्त्विक स्वरूप परिचय भी अपेक्षित है। मनु, याज्ञवल्क्यादि धर्माचार्यों ने धर्म के जो लक्षण किए हैं वे सुप्रसिद्ध हैं। तत्तद्-स्मृति ग्रन्थों में उनका अवलोकन किया जा सकता है। धर्म' के मूलभूत विज्ञानतत्त्व के विलुप्तप्राय हो जाने से पश्चिमी विज्ञान के चाकचिक्य से प्रभावित होने वाले वर्तमान शिक्षित भारतीयों की दृष्टि में केवल शब्दप्रमाणात्मक स्मार्त धर्म'लक्षणों का विशेष महत्त्व नहीं है। अतएव प्रस्तुत परिच्छेदों में हमें विज्ञानदृष्टि से ही धर्म'तत्त्व का स्वरूपपरिचय कराना है जिस परिचय के अनन्तर किसी भी वैज्ञानिक को धर्म' की शाश्वत उपयोगिता में कोई सन्देह नहीं रह सकता। 'धर्म शब्द का अक्षरार्थ है—'धारण करने वाला'। धारणार्थक धृञ' धातु से ('धृञ धारणे भ्वादि–गा सु ग्र१।२८७) 'मन्' प्रत्यय के द्वारा 'धर्म' शब्द निष्पन्न हुआ है। किस को धारण करने वाला कौन तत्त्व धर्म है? यह प्रश्न उपस्थित हुआ। इस प्रश्न के समाधान के लिए हमें सर्वप्रथम 'धारण' का अर्थ करने की आवश्यकता हुई। क्योंकि 'धारण' अर्थ आधार धेयभाव से भी सम्बन्ध रखता है। सम्पूर्ण पदार्थों को पृथिवी ने धारण कर रक्खा है। इस दृष्टि से पृथिवी पार्थिव पदार्थों का धर्म' है। शरीर पर वस्त्र है, वस्त्रों पर रंग है मेज पर पुस्तक है दवात में स्याही है। क्या इन सामान्य-सर्वानुभूत धारणाभावों का ही नाम धर्म है?। तब तो अधर्म भी धर्म बन जाएगा। क्योंकि अधर्म लक्षण पाप के आधार पर भी तो अधर्मवादि प्रतिष्ठित रहते हैं। क्या धारणार्थक धर्म की यही तात्त्विक परिभाषा है?।

५५–स्वधर्म, परधर्म–परिभाषा–

प्रश्न के समाधान के लिए वैज्ञानिकों ने धर्म तत्त्व के 'स्वधर्म' 'परधर्म' भेद से दो भेदविभाग माने हैं। जिस तत्त्व से जिस भौतिक पदार्थ का स्वरूप धृत रहता है वही धारक तत्त्व उस भौतिक पदार्थ का स्वधर्म है। इस स्वधर्म के आश्रित अन्य आगन्तुक धर्म' ही उस भौतिक वस्तु के लिए परधर्म है। यदि परधर्म आश्रित भौतिक पदार्थ की स्वरूपहानि नहीं करते उसके स्वरूपरक्षक स्वधर्म को हानि नहीं पहुँचाते तब तक तो वे परधर्म आश्रितधर्म कहलाते हैं। यदि इन परधर्मों से पदार्थ के स्वधर्म की हानि हो जाती है तो वे ही परधर्म अधर्म कहलाने लगते हैं। इसप्रकार स्वधर्म आश्रितधर्म' अधर्म भेद से धर्म तत्त्व के तीन विवर्त हो जाते हैं। आश्रितधर्म अधर्मात्मक परधर्म प्रत्येक दशा में भयावह ही बना रहता है जैसा कि—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' वचन से प्रमाणित है। भौतिक विज्ञान (पदार्थविद्या) की दृष्टि से पहिले तीनों के उदाहरणों का समन्वय कीजिए। अपने संघाता नि

च तेजःसंयोगात्' (वै द ५।२।८) सिद्धान्तानुसार 'ध्रुव' नामक घनाग्निधर्म्म के समावेश से वही पानी संघातभाव में परिणत होता हुआ तुषार (बर्फ) बन जाता है, एवं 'भर्ग' नामक तरलाग्निधर्म्म के समावेश से वही पानी द्रवभाव में परिणत हो जाता है। जल में द्रवधर्म्म विज्ञानदृष्ट्या सांसिद्धिक (नित्य) नहीं है अपितु नैमित्तिक है। घनाग्नि पानी को घन बना देता है तरलाग्नि तरल बना देता है। पानी को तरलरूप में परिणत करने वाला तरलाग्नि पानी में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रविष्ट हो रहा है। आत्मसमर्पणसम्बन्ध ही अन्तर्य्याम सम्बन्ध कहलाता है। तरलाग्नि के तापलक्षण स्वधर्म्म ने जल के प्रति आत्मसमर्पण कर अपने ताप धर्म्म को जल के द्रवस्वरूप स्वधर्म्म में परिणत कर रक्खा है। वही ताप द्रवस्वरूप से जल का स्वधर्म्म बन रहा है। यही द्रवत्व जल का स्वरूपलक्षण स्वधर्म्म है। क्योंकि इसी द्रवधर्म्म की सत्ता में द्रवलक्षण जल की स्वरूपसत्ता है। जिस दिन यह द्रवत्व उत्क्रान्त हो जाता है, उसी क्षण जल का स्वरूप ही उत्क्रान्त हो जाता है। अतएव स्वधर्म्मरूप इस द्रवत्व को हम जल का स्वरूपधारक स्वधर्म्म कहने के लिए सन्नद्ध हैं। स्वधर्म्म युक्त इस जल को किसी पात्र में रख कर हमनें इन्धन के संयोग से इसमें आग्नेय ताप का बहिर्य्याम-सम्बन्ध से प्रवेश कराया। पानी गरम हो गया। यह आगन्तुक तापधर्म्म जलाश्रित बनता हुआ जल का आश्रित धर्म्म लक्षण परधर्म्म है। इसके आ जाने से पानी का कुछ बनता नहीं निकल जाने से पानी का कुछ बिगड़ता नहीं। अतएव इसे आगन्तुकधर्म्म कहना अन्वर्थ बनता है। यदि अग्निसंयोग तीव्र कर दिया जाता है, तो आगन्तुक तापधर्म्म प्रवृद्ध बन जाता है। प्रवृद्ध तापधर्म्म जल को वाष्परूप में परिणत कर उसका स्वरूपनाश कर देता है। इस दशा में आश्रितधर्म्मलक्षण यही ताप जल के स्वधर्म्म का स्वरूप-विघातक बनता हुआ अधर्म्मलक्षण परधर्म्म बन जाता है। इसप्रकार बहिर्य्यामसम्बन्ध से प्रविष्ट आगन्तुकधर्म्म चरम सीमा पर पहुँच कर अधर्म्म बन जाता है। यही परधर्म्मात्मक अधर्म्म स्वधर्म्म का उच्छेदक बनता हुआ धर्म्मीपदार्थ के स्वरूपनाश का कारण बन जाता है। इस धर्म्म तत्त्व-निर्वचन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि जिस प्राणात्मिका शक्ति के आधार पर वागात्मक (भूतात्मक) पदार्थों का यथा स्वरूप प्रतिष्ठित, सुरक्षित रहता है वह धारक शक्तितत्त्व ही उस पदार्थ का धर्म्म, किंवा स्वधर्म्म है। एवं जिसके समावेश से पदार्थधर्म्मोच्छेदद्वारा पदार्थस्वरूप विनष्ट हो जाता है, वही उस पदार्थ के लिए अधर्म्म किंवा भयावह परधर्म्म है। जब तक धर्म्मी पदार्थ स्वधर्म्म से युक्त है, धर्म्म पर प्रतिष्ठित है तभी तक उस की स्वरूपस्थिति है। ताप-प्रकाश सूर्य्य के धर्म्म हैं इनके निकल जाने पर सूर्य्य का कोई स्वरूप नहीं। शैत्य प्रकाश आह्लादादि चान्द्रधर्म्म हैं इनके अभाव में चन्द्रमा का कोई मूल्य नहीं। तत्तत् पदार्थों की तत्तत् विभिन्नप्रकृति के भेद से विभिन्न तत्तत् स्वधर्म्म हीं तत्तत् पदार्थों के भिन्न भिन्न धर्म्म हैं। इसप्रकार प्रकृतिभेद से एक ही धर्म्म आगे जा कर चेतनधर्म्म अचेतनधर्म्म पशुधर्म्म मानवधर्म्म देवधर्म्म, गन्धर्वधर्म्म आदि अनन्त शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त हो जाता है। इसी से यह भी सिद्ध हो गया कि जो धर्म्म किसी के लिए स्वधर्म्म है वही धर्म्म प्रकृति वाले के लिए अधर्म्म है। शैत्यधर्म्म चन्द्रमा का जहाँ स्वधर्म्म है वहीं शैत्यधर्म्म अग्नि के लिए परधर्म्म बनता हुआ अधर्म्म है। इसी प्रकृति भेद के आधार पर धर्म्माधर्म्म की व्यवस्था हुई है। यही क्यों, देश-काल-पात्र-द्रव्य श्रद्धा के तारतम्य से वही धर्म्म परिस्थितिविशेष में अधर्म्म बन जाता है वही अधर्म्म धर्म्म बन जाता है। निरपराध का मारना अधर्म्म है अपराध आततायी को मार देना धर्म्म है। वही हिंसा एक स्थान पर अधर्म्म बन रही है अन्यत्र वही धर्म्म बन रही है। इसीलिए तो धर्म्म का कोई नियत लक्षण नहीं किया जा सकता। देश-कालादि की

अनुरूपता से धर्म्म का स्वरूप तात्कालिक बन कर ही हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। इसी आधार पर आगे चलकर धर्म्म के–देशधर्म्म जातिधर्म्म कुलधर्म्म आदि अनेक विवर्त हो जाते हैं। इसी आधार पर धर्म्माचार्य्यों ने धर्म का निम्न लिखित यौगिक लक्षण किया है—

देशे काल उपायेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम् ।
पात्रे प्रदीयते यत्तत् सकलं धर्म्मलक्षणम् ॥

—व्या स्मृ० १।६।

यस्मिन् देशे य आचारो व्यवहारः कुलस्थितिः ।
तथैव परिपाल्योऽसौ यदा वशमुपागतः ॥

—या० स्मृ आ० १। ३४३।

जड़ हो अथवा चेतन पशु हो अथवा मनुष्य, देवता हो अथवा ऋषि जिसकी जैसी प्रकृति है, जिसका जैसा वर्ण है वर्णानुगत उस प्राकृतिक वीर्य्य की स्वरूपरक्षापूर्वक जो धारक तत्त्व उस वस्तुतत्त्व की स्वरूपरक्षा करता है वही उस वस्तुतत्त्व का धर्म्म है। हृदय में प्रतिष्ठित अन्तर्य्यामी ही प्रकृतितत्त्व है। वही प्रकृति उस वस्तुतत्त्व को नियतपथानुगामी बनाए रखती है। अतएव इस प्रकृति को 'नियतितत्त्व' कहा गया है। यही नियत सत्यभाव धर्म्मतत्त्व है (देखिए शत० ब्रा० १४।४।२।२६।) जिसका वर्णविवर्त्तसृष्टि के नियमन के लिए ब्रह्म की ओर से प्रादुर्भाव हुआ है। यही वह सनातन तत्त्व है, जिसका मौलिक विज्ञान तो श्रुतिशास्त्र (वेदशास्त्र) में निरूपित हुआ है एवं व्यवहार्य्य आदेश स्मृतिशास्त्र में उद्धृत हुए हैं जैसा कि गीताभूमिका 'ख' विभाग के आर्षधर्म्म प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। प्रकृतिभेद के आधार पर सुव्यवस्थित यही वैज्ञानिक धर्म्मभेद भारतीय सनातनधर्म्म की मूलप्रतिष्ठा है। वैज्ञानिक विभिन्न धर्म्म धारा ही व्यवहारदशा को अभ्युदय का अनुगामी बनाता हुआ इसे निःश्रेयसप्रवर्त्तक बनाता है। इसी आधार पर महर्षि कणाद ने धर्म्म का लक्षण किया है—

'यतोऽभ्युदय–निःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः' ।

—वैशेषिक दर्शन १।१।२।

१६–धर्म्मविशयविप्रतिपत्ति, और तन्निराकरण—

यदि लक्षण धर्म्म प्राकृतिक है तो इसके लिए आदेश की आवश्यकता क्यों हुई ?। पशु, पक्षी, ऋषि देवता गन्धर्व, सभी तो प्राकृतिक धर्म्मों में बिना किसी की प्रेरणा के ही आरूढ़ हैं। मनुष्य भी जब प्राकृतिक ही है तो उसके लिए शास्त्रानुशासन क्यों आवश्यक माना गया है, यह प्रश्न उपस्थित होता है। जिसका समाधान है–मनुष्य का स्वाभाविक अनृतलक्षण असत्यभाव। अनृत मानव ही इसकी योनि बनता है। फलतः सत्यधर्म्म से स्वभावतः वञ्चित है। अतएव मानवधर्म्म 'अनृतसंहित' ही माना गया है। इसी प्राकृतिक अनृतभाव के कारण मनुष्य प्रमादग्रस्त बनता हुआ अपने स्वाभाविक मानवधर्म्म से स्खलित हो जाता है जैसा कि निम्न लिखित श्रुति से भी प्रमाणित है—

---

* अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति। तेन पूतिरन्तरतः। (शत० १।१।१।१)
सत्यमेव देवा, अनृतं मनुष्या (शत० १।१।१।४)।

"ता इमा' प्रजा'–यथैवोपजीवन्ति–यथैवास्य' प्रजापतिर्व्यदधात् । नैव देवा अतिक्रामन्ति, न पितर', न पशव । मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति" ।

—शत० ब्रा० २।४।२।५,६, ।

अज्ञानमूलक अतएव अनृतात्मक मानवानुगम प्रज्ञापराध से होने वाले इस मर्य्यादातिक्रमण के निरोध के लिए ही इसके लिए शास्त्रोपदेश अपेक्षित हुआ । कैसा शास्त्रोपदेश ? जिस के प्रवर्त्तक वे आप्तमहर्षि वे जिन्होंने इन्द्रियातीत गुह्यतम प्राकृतिक रहस्यों का साक्षात्कार किया एवं उन्हीं के आधार पर मानवधर्म्मात्मक प्राकृतिक नियमोपनियमों का शब्दरूप से सम्पादन किया । आज्ञारूप, विधि–निषेधात्मक वही सम्पन्न शब्दराशि अनुशासनधर्म्म के सम्बन्ध से–शास्त्र कहलाया जिसका निर्वचन गी० भू० प्रथमखण्डान्तर्गत 'शास्त्रशब्दनिर्वचन प्रकरण' में किया जा चुका है । वही शास्त्र मानव कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य का अन्यतम तथा निर्भ्रान्त निर्णायक माना गया, जिसके सम्बन्ध में स्वयं गीताचार्य्य की–'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ' यही सम्मति प्राप्त हुई है । तात्पर्य्य–श्रुति–स्मृति–पुराण–निबन्धों में प्रतिपादित, एवम्भूतात्मनिष्णात महर्षियों के द्वारा अनुष्ठित प्रकृतिसिद्ध मानव–कर्म्मकलाप ही धर्म्म है जिसके अनुगमन में मानव की स्वरूप–रक्षा है । जिसके परित्याग के मानव का स्वरूपविनाश है । यही भारतीय वैज्ञानिक धर्म्म का संक्षिप्तस्वरूप परिचय है जिसका यथावत् बोध प्राप्त करने के अनन्तर कोई भी इसकी उपयोगिता का विरोध नहीं कर सकता । इस धर्म्म–परिभाषा को अवगत कर लेने पर हमारे नवशिक्षित भारतीयों को यह स्वीकार कर लेना पड़ेगा कि धर्म्म केवल पारलौकिक निःश्रेयस का ही साधक नहीं है, अपितु इसका ऐहलौकिक अभ्युदय के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध है । हमारे ऐहिक, आमुष्मिक, सम्बन्धयावत् कर्म्मकलापों का साफल्य धर्म्मानुगमन पर ही सम्भव है । धर्म्मानुगत कर्म्म ही गीतापरिभाषा में सत्कर्म्म हैं शेष धर्म्म विरुद्ध कर्म्म विकर्म्म अकर्म्म बनते हुए आत्म–शरीर–पतन के ही कारण हैं–'तस्माद्धर्म्मं परमं वदन्ति' ।

५७–विज्ञानसिद्ध धर्म्म के अवान्तर भेद—

यों तो विज्ञानसिद्ध इस धर्म्म के अनन्त भेद हैं परन्तु बुद्धियुक्त मानववर्ग की दृष्टि से इसका कतिपय संस्थाओं से भी विश्लेषण किया जा सकता है । निरन्तर यज्ञ तपोदान लक्षण नियमानुरिक्षत प्राकृतिकर्म्म का अनुगमन करते रहना सात्त्विक भावपूर्वक वैराग्य तत्त्वज्ञान में रत रहना निरन्तर त्रिभुवन–स्तुति का अनुगामी बने रहना ये सब देवधर्म्म हैं तदनुगामी मनुष्य भूदेव हैं । बाहुपराक्रम से काम लेना मनस्विता को आधार बनाए रखना युद्धव्यापार में निरत रहना विशुद्ध नीतिमार्ग का अनुगमन करना ये सब दैत्यधर्म्म हैं तदनुगामी मनुष्य दैत्य हैं । ज्ञानयोग में रत रहना, ब्रह्मविज्ञान का अनुगमन करना इत्यादि–सिद्धधर्म्म हैं तदनुगामी मनुष्य सिद्ध हैं । नृत्य गीत–वाद्य–में रत रहना सरस्वती की उपासना करना ये सब गान्धर्वधर्म्म हैं तदनुगामी मनुष्य गन्धर्व हैं । भारत के शास्त्रों में प्रवृत्त रहना, विज्ञानतत्त्वानुगमन करना सरस्वती की उपासना करना ये सब विद्याधरधर्म्म हैं तदनुगामी मनुष्य विद्याधर हैं । यावत् शिल्प–कलाओं में निपुण बने रहना गान्धर्वविद्यानिष्ठ बने रहना, शिवोपासना में रत रहना, ये

एष किम्पुरुषधर्म्म है, तदनुगामी मनुष्य किम्पुरुष है। ब्रह्मचर्य्य, मानवहित, योगाभ्यासरति, सर्वत्रकामचारित्व, ये सब पैतृकधर्म्म हैं, तदनुगामी मनुष्य पितर है। ब्रह्मचर्य्य, नियमित आहारविहार, बनवास, ध्यान गरिमा, नियमोपनियम सेवन इत्यादि आर्षधर्म्म हैं, तदनुगामी मनुष्य ऋषि है। शास्त्रस्वाध्याय, ब्रह्मचर्य्य, दान, यजन, यथार्थवचन, अनायास, शौच, माङ्गल्य, शिव-शास्त्रपालन इत्यादि मानवधर्म्म हैं, तदनुगामी मनुष्य मानव है। बलवत्त्व, ऐन्द्रियक भोग, स्वाध्याय, शिवपूजन, अहङ्कार, क्रोध इत्यादि गुह्यकधर्म्म हैं, तदनुगामी मनुष्य गुह्यक है। परदारगमन, परधनलोलुपता, स्वामक्षोभास्नादि धर्म्म राक्षसधर्म्म हैं, तदनुगामी मनुष्य राक्षस है। परदारगमन, अविवेकता, मद्य-मांससेवन, अज्ञान, अपवित्रता, असत्यभाषण इत्यादि पैशाचधर्म्म हैं, तदनुगामी मनुष्य पिशाच है। सुकेशी नामक राक्षस के प्रश्न करने पर महर्षियों ने इन्हीं द्वादश धर्म्मश्रेणियों का विश्लेषण किया है।

सुकेशिरुवाच—किं लक्षणो भवद्धर्म्मः, किमाचरणसत्क्रिय ।
यमाश्रित्य न सीदन्ति देवाद्यास्तु, तदुच्यताम् ॥
ऋषय ऊचु —योनयस्तु द्वादशैता सदृशम्मारभ राक्षस ।
ब्रह्मणा कथिताः पुण्या द्वादशैव गतिप्रदा ॥
—वामनपुराण ११ अध्याय।

५८—प्राकृतिक—धर्म्मस्वरूपपरिचय——

देव, दैत्य, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, किम्पुरुष, पितर, ऋषि, गुह्यक, राक्षस, पिशाच, ये ग्यारह सुप्रसिद्ध देवयोनियाँ हैं। इनका ईश्वरशरीर में यथास्थान आवास है। मनुष्य में इन ग्यारहों का समावेश हुआ है। जिस मनुष्य में जिस प्राकृतिक देव-दैत्यादि का प्राधान्य जन्मतः रहता है, वह तत्प्राधान्यानुगत तद्धर्म्म की ओर ही अभिमुख रहता है। इसी आधार पर वेदयुग में मानवसमाज में ही उक्त बारह श्रेणिविभाग थे। तात्पर्य यही है कि, मनुष्य तत्तद्धार्म्मिकधर्म्मों का अनुगमन करता हुआ अपने आपको तत्तद्भावों से युक्त कर सकता है। इन द्वादश धर्म्मयोनियों में मानवप्रजानुगत मानवधर्म्म इसलिए सर्वापेक्षया महत्त्वपूर्ण माना जायगा कि, इसमें ईश्वरवत् सर्वधर्म्मों का समन्वय हो रहा है। जो 'सर्वधर्म्मोपपत्तेश्च' सिद्धान्त ईश्वर के लिए प्रयुक्त हुआ है वह अंशभूत पुरुष के लिए भी घटित हुआ है। इसी आधार पर 'पुरुषो ह वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' यह निगम प्रतिष्ठित हुआ है। मनुष्य अपने से उच्चभूमिका में पहुँच कर देवता बन सकता है। निम्न भूमिका में पहुँच कर यही राक्षस, पिशाचादि का अनुगामी बन सकता है। जिस कोटि के धर्म्म का यह अनुगमन करेगा यह उसी रूप में परिणत हो जायगा। क्योंकि पुरुष के श्रद्धारूप का अपना कोई रूप नहीं है। अपितु अपने यजन के अनुरूप ही श्रद्धा को परिणत हो जाना पड़ता है। 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः'—'यं यमायथोपासते तदेव भवति' इत्यादि श्रौत-स्मार्त सिद्धान्तों के अनुसार अपने तदनुगत श्रद्धा ही इसके धर्म्म की आधारशिला बनती है। यही कारण है कि, भगवान् के परमात्म-

मद्देयों के स्वरूप में परिणत हो जाने से आज हम भारतीयों की श्रद्धा स्वधर्म से विमुख होती जा रही है एवं परधर्म का अनुगमन करती जा रही है। स्वयं भारतीयों की दृष्टि में उनका वेदसिद्ध सनातन-धर्म आज अश्रद्धेय बना हुआ है एवं मतवादलक्षण परधर्म इनकी दृष्टि में श्रद्धेय बनता जा रहा है। यह व्यामोह तभी दूर हो सकता है, जब कि हम भारतीय उस मानवधर्म का वास्तविक स्वरूपपरिचय प्राप्त करें जिसमें समाजव्यवस्थापक चातुर्वर्ण्यधर्म तथा व्यक्तिस्वरूपरक्षक आश्रमधर्म पुष्पित पल्लवित हुए हैं। भगवती श्रद्धा से यही कामना करते हुए धर्म्मस्वरूपपरिचय उपरत हो रहा है *।

आर्षविद्या के आधार पर प्रतिष्ठित धर्म्म नाम की विद्याबुद्धि से युक्त 'धर्म्मबुद्धियोग' नामक योग ही गीताशास्त्र में 'निष्कामकर्म्मयोग' नाम से व्यवहृत हुआ है। इस दृष्टि से गीता को 'कर्म्मयोगशास्त्र' कहा जा सकता है। 'कहा जा सकता है' इस साधारण वाक्य का प्रयोग इस लिए किया जा रहा है कि निष्काम-कर्म्मयोग गीताशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय नहीं है। मुख्य प्रतिपाद्य विषय है–ब्रह्मविद्या के आधार पर प्रतिष्ठित वैराग्य नामकी विद्याबुद्धि से युक्त 'वैराग्यबुद्धियोग' नामक योग, जो गीताशास्त्र में 'बुद्धियोग'–'योग'–'समत्वयोग' इत्यादि नामों से व्यवहृत हुआ है। और इस दृष्टि से गीताशास्त्र को प्रधानतः 'बुद्धि-योगशास्त्र' कहना ही सर्वात्मना सुसङ्गत बनता है। ऐसी स्थिति में जिन अर्वाचीन (विद्वान्) गीताव्याख्याताओं ने गीताशास्त्र को एकदेशतया जो 'कर्म्मयोगशास्त्र' नाम से व्यवहृत कर दिया है वह उनका आपाततरमणीय अतएव अमान्य सिद्धान्त ही माना जायगा। इसी अमान्य सिद्धान्त को प्रधानता देते हुए आज सर्वसाधारण के मुख से, विशेषतः गीताभक्त राष्ट्रीय दल के श्रीमुख से यह कहते सुना गया है–कि, गीता केवल निष्काम-कर्म्म का उपदेश दे रही है। आद्य से इति पर्य्यन्त गीता में मुख्यरूप से केवल निष्कामकर्म्मयोग का ही प्रतिपादन हुआ है। भ्रान्ति का पर्य्यवसान यहीं समाप्त नहीं होजाता। अपितु जब हम उन निष्कामकर्म्म-पक्षपातियों की ओर से उपस्थित की गई कर्म्मपरिभाषा पर दृष्टि डालते हैं, तो हमें आश्चर्यचकित इस-लिए रह जाना पड़ता है कि जिस गीताशास्त्र को आधार बना कर वे अपने कर्म्मवाद का स्वरूप सामान्य प्रजा के सम्मुख उपस्थित करने के लिए आगे बढ़ते हैं उस कल्पित कर्म्मवाद का गीताशास्त्र में एक शब्द से

---

* उक्त धर्म्मस्वरूपपरिचय–प्रकरण में हमने यत्रतत्र धर्म्म को 'प्रकृतिसिद्ध' धर्म्म कहा है जिसका अर्थ होता है 'प्राकृतधर्म्म'। प्रकृति जब अपने प्रकृतिसिद्ध विलक्षण स्वभाव से परिवर्त्तनशीला है, तो तद्रूप प्राकृतधर्म्म 'शाश्वतसनातन' कैसे हुआ? यह प्रश्न उपस्थित होता है, जिसका भाष्यभूमिकात्मक सामयिक निबन्ध में विस्तार से समाधान हुआ है। प्रकृत में यही ध्यान कर सन्तोष कर लेना चाहिए कि, पूर्व में 'विद्या' स्वरूप प्रसङ्ग में हमने अक्षर–क्षर–मूला जिन परा–अपरा–विद्याओं (विश्वविद्याओं) का दिग्दर्शन कराया है प्राकृत धर्म्म का इन्हीं प्राकृत पराऽपरविद्याओं से सम्बन्ध है जिसे हम 'विश्वधर्म्म' भी कह सकते हैं। सर्वाधारभूत अव्ययात्मा ही इस प्राकृत विश्वधर्म्म की प्रतिष्ठा है। प्रतिष्ठात्मक यही अव्ययात्मधर्म्म–'शाश्वतस्य च धर्म्मस्य' (गीता) के अनुसार शाश्वत सनातनधर्म्म है जो सर्वथा अप्राकृत (पुरुषात्मक) है। इस शाश्वत आत्मधर्म्म पर प्रतिष्ठित विश्वधर्म्म ही प्राकृतधर्म्म है जिसे 'प्रतीकधर्म्म' माना गया है। आत्म-धर्म्मानुगत यह प्रकृतिधर्म्म भी आत्मस्वरूप का संग्राहक बन जाता है। एतावता ही विभिन्न भावाक्रान्त इस प्राकृतधर्म्म को भी (प्रतीकधर्म्म को भी) 'शाश्वत सनातनधर्म्म' उपाधि से समन्वित मान लिया है। इस व्यवच्छेद–दृष्टि को लक्ष्य बना कर ही अब निरूपित 'धर्म्म' स्वरूप का समन्वय करना चाहिए।

भी कहीं भी समर्थन नहीं हुआ है। भारतीय वेदादि शास्त्रों में वर्णाश्रमकर्म्म विरोधी, हीनाचारविहारयुक्त जो उच्छृङ्खल कर्म्मवाद एकान्ततः निषिद्ध माना गया है, समत्वलक्षण विषमदर्शनयुक्त, अतएव अव्यव-हार्य्य, अतएव विकर्म्म'-अकर्म्मात्मक जो अशास्त्रीय कर्म्म स्वयं गीताशास्त्र में पदे पदे निन्द्य घोषित हुआ है, निष्कामकर्म्म'भक्त राष्ट्रीय गीताभक्तों की दृष्टि में निन्द्य-निषिद्ध अशास्त्रीय कर्म्मवाद ही आज गीता का निष्काम कर्म्मयोग बना हुआ है। यदि वे शास्त्रसिद्ध गीतासम्मत वर्णाश्रमधर्म्मानुगत निष्काम वैदिककर्म्म को आगे कर गीता को निष्कामकर्म्मप्रधान घोषित करने का अनुग्रह करते तब भी किसी सीमापर्य्यन्त उन का अपराध क्षम्य था परन्तु जब हम यह देखते हैं कि, गीताके नाम की अनन्यभक्ति प्रकाशित करते हुए जब वे गीता से एकान्ततः विरुद्ध अपने कल्पित कर्म्मवाद को ही गीतासम्मत मानने-मनवाने की धृष्टता कर रहे हैं तो कहना पड़ता है कि अभी वे गीताशब्द के अक्षरार्थ से भी अपरिचित हैं। सब के साथ समानरूप से व्यवहारकर्त्ते ईश्वरीय सृष्टि में सब को समानाधिकार प्राप्त है वर्णाश्रमव्यवस्था एवं तदनुगत अधिकारसिद्ध पृथक्-पृथक् नियत कर्म्म केवल प्राचीनों की भ्रान्त कल्पना है इत्यादि भाषणप्रलाप का अहर्निश विधान करने वाले इन राष्ट्रीय निष्कामकर्म्मयोगियों को सम्भवतः अद्यावधि यह भी विदित न हुआ-होगा कि, 'निष्कामकर्म्मयोग' का शब्दार्थ भी क्या है ?। यह तो है उनकी प्रशास्यस्थिति और वैसा है उन का कर्म्मयोग एवं सर्वोपरि गीताशास्त्र का अवलम्बन एवैकमध्ययनमपि ।

५६–निष्कामशब्द की निरर्थकता—

निष्कामशब्द का अर्थ है–'बिना कामना-इच्छा-के किया गया कर्म्म'। तटस्थवृत्ति से विचार कीजिए, क्या बिना इच्छा के कर्म्मप्रवृत्ति सम्भव है ?। इसी निष्कामकर्म्म' का दूसरा पर्य्यायवाची है-'फलाशा का सर्वथा परित्याग' जिसका-'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' इस वचन से ही स्पष्टीकरण हुआ है। यहां आकर 'निष्कामकर्म्म' का सिद्धान्ततः अर्थ होता है 'किसी भी फलप्राप्ति की इच्छा न रखते हुए कर्म्म करना'। शास्त्र कहता है कर्म्म करने वाला कर्म्मात्मा ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तिमय है। कारण-उस का स्वरूप 'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः' इत्यादि औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार मन-प्राण-वाङ्-मय है। मनःपर्व ज्ञानशक्तिप्रधान है प्राणपर्व क्रियाशक्तिप्रधान है एवं वाक्पर्व अर्थशक्ति-प्रधान है। इसके इन तीनों पर्वों से क्रमशः काम तप श्रम इन तीन विभिन्न व्यापारों की प्रवृत्ति होती है। ज्ञानमय मन से किंवा मनोमय ज्ञान से सर्वप्रथम 'इदं कुर्य्याम्, इदं मे स्यात्' इत्याकारक 'काम' (कामना-इच्छा) का उदय होता है। जिसके लिए वेद ने कहा है-'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' (ऋक्सं० १।१२९।४)। कामना मन का ही रेत है एवं प्रत्येक कर्म्मप्रवृत्ति से पहिले इच्छा उदित होना अनिवार्य्य है। लौकिक-पारलौकिक-सत्-असत्-कोई सा भी कर्म्म हो प्रत्येक के मूल में मनोमयी कामना प्रतिष्ठित है। इस कामनाप्रवृत्ति का उदय का मूल कारण है-'फलाशा'। यदि हमें यह बोध हो जाए अथवा हो बोध करा दिया जाय कि अमुक कर्म्म करने से कोई फल नहीं मिलेगा तो यह सुस्पष्ट है कि, उस कर्म्म में हमारी प्रवृत्ति ही न होगी। 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते' इस लौकिक न्याय के अनुसार बिना प्रयोजन-फल को लक्ष्य बनाए एक मूढ भी किसी काम में हाथ नहीं डालता। मुख से 'निष्काम' शब्द का उच्चारणमात्र कर देने की कथा तो दूसरी है। नहीं, तो हम पूछते हैं क्या विश्व का बड़े से बड़ा विद्वान् नेता अपने हृदय पर हाथ रख कर शपथ-पुरस्सर यह

यह सम्भव है कि, 'हम तो बिना फलेच्छा के ही, बिना कामना के ही कर्म कर रहे हैं' ?। फलेच्छा की व्याप्ति में अन्तर हो सकता है। किसी की फलेच्छा संकुचित हो सकती है, किसी की विशाल। परन्तु फलेच्छा का रहना प्रत्येक दशा में अनिवार्य इसलिए है कि बिना इच्छा के प्राणव्यापारलक्षण तप (मन-कृति-चेष्टा) असम्भव है एवं बिना तप के वाग्व्यापारलक्षण श्रम (शरीरव्यापारलक्षण बहिर्व्यापार) असम्भव है। हम क्षुद्रप्राणियों की तो बात ही क्या, जब कि सम्पूर्ण विश्व का अधीश्वर स्वयं जगदीश्वर भी स्वकर्मसिद्धि के लिए काम-तप-श्रम-लक्षणा व्यापारत्रयी का ही अनुगमन करता है, जैसाकि—'प्रजापतिर्वा इदमग्र एक आसीत्, सऽकामयत—'एकोऽहं बहु स्याम्'। सोऽकामयत, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्'। तस्य श्रममानस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य ततो रसो निरवर्तताग्निः इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। प्रत्येक कर्म सर्वप्रथम कामना सापेक्ष है। हाथ हिलाना एक कर्म है। सर्वप्रथम 'हाथ हिलाऊँ' इस कामना का उदय होता है, यह कर्मात्मा की मनःकामना का व्यापार है। इस मानसेच्छा के अव्यवहितोत्तर काल में ही प्राणव्यापारलक्षण तप हो पड़ता है। इच्छा के होते ही हृदय से आरम्भ कर हस्तपर्यन्त हाथ उठाने का अन्तर्व्यापार हो पड़ता है, जिसे वेदभाषा में तप, दर्शनभाषा में कृति, व्यवहारभाषा में यत्न-चेष्टा एवं सामान्यभाषा में 'कोशिश' कहा गया है। यही प्राणव्यापार है, जिसका हमें अन्तर्जगत् में अनुभव होता है। इस अन्तर्व्यापार के अव्यवहितोत्तरकाल में ही वाग्व्यापारलक्षण बहिर्व्यापार हो पड़ता है, हाथ हिल पड़ता है। यही कर्ममात्र की सामान्य-अनिवार्य व्यवस्था है। मूलाधार ज्ञानमय मन इसमें क्रमानुपूर्वक सर्वप्रथम इच्छा का उदय, तदनन्तर कृति का उदय, अनन्तर कर्म (बहिर्व्यापार) का उदय एवं इच्छा-कृति-कर्म इन तीनों आत्मव्यापारों से कर्म की स्वरूपनिष्पत्ति। इसी क्रमसम्बन्ध का निम्न लिखित वचनों से समर्थन हुआ है—

ज्ञानजन्या भवेदिच्छा, इच्छाजन्या कृतिर्भवेत् ॥
कृतिजन्यं भवेत् कर्म, तत्तत् कृत्यमुच्यते ॥१॥
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ॥
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत् कामस्य चेष्टितम् ॥२॥
—मनुः २।४।

६०—फलत्यागानुगत निष्कामकर्म का महान् व्यामोहन—

बिना श्रम (शरीरव्यापार) के कर्मसिद्धि असम्भव, बिना तप (प्राणव्यापार) के श्रम असम्भव, एवं बिना काम (मनोव्यापार) के तपःप्रवृत्ति असम्भव। फलतः सर्वथा सर्वकर्मसिद्धियों की अन्तिम विश्राम-भूमि कामना हुई। अब बतलाइए, भारत निष्काम कर्म का क्या महत्त्व रहा ?। निष्काम शब्द का यह अक्षरार्थमात्र क्या आपके कल्पित निष्कामभाव को सुरक्षित रख सकेगा ?। यदि हाँ, तो अनुग्रह कर बतलाइए कैसे ?। यदि नहीं, तो साथ में ही यह कहना छोड़ दीजिए कि निष्कामकर्म केवल कहने मात्र की वस्तु है, व्यवहारदशा में इसका कोई उपयोग नहीं। आप प्रश्न करेंगे—यदि ऐसा था किया है, तो भगवान् ने यह कैसे किस आधार पर कह डाला कि 'तुम फलाशा को छोड़ते हुए कर्म करो'। उत्तर में हम आप से निवेदन करेंगे कि, भगवान् ने तो कहीं भी यह नहीं कहा है कि, 'तुम कर्म के उद्देश्य बनाए बिना निरुद्देश्य

अपेक्ष्य कर्म्म में प्रवृत्त हो जाओ' । अपितु ठीक इसके विपरीत युद्धकर्म्म के लिए अर्जुन को प्रोत्साहित करते हुए भगवान् ने यही कहा है कि -'तुम्हें अवश्य इस क्षत्रियवर्णोचित इस युद्धकर्म्म में इसलिए प्रवृत्त होना चाहिए कि, इस युद्धकर्म्म में तेरा दोनों भांति लाभ है । मर गया तो स्वर्ग मिलेगा और बचा तो साम्राज्य सुख का उपभोग करेगा—'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' (गी० २।३७)। इसी फल को आगे कर भगवान् अर्जुन को युद्ध के लिए समुद्यत करते हैं-'तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय ! युद्धाय कृतनिश्चयः । स्वर्ग, और साम्राज्यसुखोपभोग,-फलों को उद्देश्य बना कर अर्जुन को युद्धकर्म्म में प्रवृत्त करने वाले भगवान् ने 'फलाशा छोड़ते हुए कर्म्म करो' यह कहाँ किससे कब कह डाला ! कम से कम उपलब्ध गीताशास्त्र में तो हमें कहीं भी ऐसी भगवदुक्ति उपलब्ध नहीं हुई । फिर आपने किस आधार पर अपने कल्पित निष्कामवाद को भगवत्सम्मत बतलाने का साहस कर डाला ! । उत्तरिए, सम्भवतः गीता के 'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' इस वाक्य ने आपको भ्रम में डाल दिया है । हमने निष्कामकर्म्मवादियों को प्रायः गीता के इस वाक्य का उच्चारण करते सुना है । और इसका यह अर्थ भी सुना है कि भगवान् कहते हैं 'तुम केवल निष्कामकर्म्म करो, फल की इच्छा न करो' । सम्भवतः इसी भ्रान्त अर्थ ने आपको भ्रान्त निष्कामकर्म्मवादी बना डाला है । सुना है कि आपने स्वयं गीता का अध्ययन नहीं किया । केवल सुन-सुना कर ही आप गीताविद् बन गए । नहीं, तो उक्त वाक्य के सम्बन्ध में आपको भ्रान्ति न होती । लीजिए, पूरा श्लोक उद्धृत करते हुए आज हम इसके अर्थ से सम्बन्ध रखने वाली भ्रान्ति का निराकरण किए देते हैं । श्रूयताम् ! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम् ! !

कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्म्मफलहेतुर्भूः, मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि ॥ (गीता२।४७)।

६१-कर्म्म, और कर्म्मफल-मीमांसा—

"ते कर्म्मणि एव अधिकारः फलेषु कदाचन मा (अधिकारबुद्धिं कुरु, इति शेषः) कर्म्मफलहेतुः मा भूः । ते अकर्म्मणि सङ्गः-मा (भूत्-इति शेषः)" इत्यन्वयात्मक श्लोक का अक्षरार्थ यही है कि-'तेरा कर्म्म में ही अधिकार है (अतएव) फल में कभी अधिकार बुद्धि न कर । (तू) कर्म्म फल का कारण न बन (साथ ही) तेरा अकर्म्म में राग न हो" । अब तात्पर्य्यार्थ पर दृष्टि डालिए । अग्नि प्रज्वलित होता रहे, और पानी गरम न हो, यह असम्भव है । खाते रहें, और मोटे न बनें यह असम्भव है । तात्पर्य्य अनुकूल कर्म्म यदि यथोचित है तो अवश्यमेव वह फल का जनक बनता है । कोई भी कर्म्म व्यवस्थितरूप से किया जाने पर अवश्यमेव तदनुरूप फल उत्पन्न करता है । इसप्रकार कर्म्म तत्त्व 'कर्म्म और कर्म्मफल' इन दो भागों में विभक्त रहता है । अब अधिकार का प्रश्न उपस्थित होता है । हम आप से पूछते हैं कि, इन दोनों में से किस पर आपका अधिकार है ? । कर्म्म, और कर्म्मफल दोनों के जनक क्या आप ही हैं ? । इसी सम्बन्ध में भगवान निर्णय करते हैं-तुम कर्म्म मात्र के अधिकारी हो, फल के प्रति तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है । बात यथार्थ है । जो जिस कार्य्य का कारण प्रवर्तक होता है वही उस कार्य्य का अधिकारी माना गया है । फलोत्पादक कर्म्म का कारण कर्म्मात्मा है, अतएव कर्म्मात्मा अवश्य ही कर्म्माधिकारी माना जा सकता है, माना जाता है । परन्तु कर्म्मफल का कर्म्मात्मा कारण नहीं है । कर्म्म फल कर्म्मात्मा (हम) उत्पन्न नहीं करता ।

कर्म्मफल उत्पन्न होता है–'कर्म्म' से । अतः कर्म्म को ही कर्म्मफल का कारण (प्रवर्त्तक–जनक) माना जायगा। और ऐसी स्थिति में कर्म्म को ही कर्म्मफल का अधिकारी माना जायगा। स्वयं पाचक (रसोइया) पाकद्रव्यरूप फल (भोग्य पदार्थ) का कारण नहीं है, अपितु पाचक का पाकद्रव्यसम्पादनानुरूप पाककर्म्म ही पाकद्रव्य का कारण बनता है। अध्यात्मभाषा में–हम स्वयं कर्म्मफल उत्पन्न नहीं करते, अपितु हमारा सुव्यवस्थित कर्म्म ही कर्म्मफल का जनक बनता है। बस 'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' वचन से इसी विभक्त अधिकारमर्य्यादा का विश्लेषण हुआ है। भगवान् यही कहना चाहते हैं कि, तुम्हारा (कर्म्मकर्त्ता का) अधिकार केवल कर्म्म में है अतएव कर्म्मफलों के कारण बनने की अनधिकार चेष्टा मत करो। बात अभी पूरी स्पष्ट नहीं हुई। अतएव उत्तरार्द्ध में भगवान् को कहना पड़ा कि, 'मा कर्म्मफलहेतुर्भूः'। तुम कर्म्मफल के कारण मत बनो। भगवान् का अभिप्राय यही है कि कर्म्मफल के हेतु तुम नहीं हो अपितु तुम्हारा कर्म्म कर्म्मफल का हेतु है। कारण–तुम कर्म्मफल उत्पन्न नहीं करते अपितु तुम्हारे कर्म्म से कर्म्मफल उत्पन्न होता है। जब कर्म्मफल के तुम कारण हो ही नहीं, तो बलात् तुम कर्म्मफल में अधिकारबुद्धि का समावेश क्यों कर रहे हो!

६३–अधिकारानुगत कर्म्म—

अब जब भगवान् के इस कथन से भ्रान्ति में पड़ कर कर्म्म की ओर से उदासीन हो सकते हैं। जिस कर्म्मफल को ही लक्ष्य बना कर मनुष्य कर्म्म में प्रवृत्त होता है, उसे यदि कह दिया जाय कि 'तुम्हारा फल में कोई अधिकार नहीं है तुम्हारा अधिकार है केवल कर्म्म में। फल का नाम लेना भी तुम्हारा अपराध है', तो अवश्यमेव वह अज्ञ मनुष्य अधिकारमर्य्यादा के तत्त्व से अपरिचित रहता हुआ कर्म्म की ओर से उदासीन बन सकता है। वह यह समझता हुआ कि, 'जिस फल के लिए मैं कर्म्म करने जा रहा हूँ, उस फल पर जब मेरा अधिकार ही नहीं है, तो मैं कर्म्म करूँ ही क्यों!' कर्म्म छोड़ बैठेगा और अकर्म्म बन जायगा जो भगवान् को किसी भी दशा में अभीप्सित नहीं है। इसीलिए अन्त में भगवान् को यह कहना पड़ा कि–'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि' जिसका एक तात्पर्य्य यही है कि–'अधिकारमर्य्यादा का तत्त्व न समझने के कारण कहीं तुम अकर्म्म में आसक्ति न कर बैठना कर्म्म न छोड़ बैठना। विश्वास रक्खो! कर्म्म कभी निरर्थक नहीं जाता। यदि तुम अनन्यनिष्ठा के साथ कर्म्मस्वरूपसम्पादन कर लोगे तो अवश्यमेव उससे फल उत्पन्न होगा। और वह फल तुम्हें ही प्राप्त होगा। तुम फल के अधिकारी नहीं हो, इसका तात्पर्य्य यह न समझो कि, तुम फल से वञ्चित हो रहे हो। अरे! कर्म्म पूरा हो गया तो फल तुम्हारे लिए ही सुरक्षित है। हमारा अभिप्राय तो यही है कि, कर्म्मानुष्ठानकाल में तुम फल की कामना से बचे रहो। यह तभी सम्भव है, जब कि तुम यह समझलो कि, कर्म्म के कारण तुम हो और फल का कारण कर्म्म है। इसका निश्चित परिणाम यह होगा कि, तुम अनन्यनिष्ठा से कर्म्म में अवश्य प्रवृत्त रहोगे, कभी अकर्म्म में (कर्म्मपरित्याग में) तुम्हारी प्रवृत्ति न होगी। साथ ही फल भी यथासम्भव (कर्म्मस्वरूप परिपाकानन्तर) तुम्हें मिल जायगा। अतः अधिकारमर्य्यादा के इस तत्त्व को न समझ कर कभी तुम्हें अकर्म्मसङ्गी (कर्म्मपरित्यागी) नहीं बन जाना चाहिए। 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि' वाक्य का यही एकप्रकार का सामान्य दृष्टिकोण है।

यथेच्छ कर्म्म में प्रवृत्त हो जाओ' । अपितु ठीक इसके विपरीत युद्धकर्म्म के लिए अर्जुन को प्रोत्साहित करते हुए भगवान् ने यही कहा है कि –'तुम्हें अवश्य इस क्षत्रियकर्मोचित इस युद्धकर्म्म में इसलिए प्रवृत्त होना चाहिए कि, इस युद्धकर्म्म में तेरा दोनों भाँति लाभ है । मर गया तो स्वर्ग मिलेगा जीत गया तो साम्राज्य सुख का उपभोग करेगा—'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' (गी २।३७।) । इसी फल को आगे कर भगवान् अर्जुन को युद्ध के लिए सन्नद्ध करते हैं-'तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय ! युद्धाय कृतनिश्चयः । स्वर्ग और साम्राज्यसुखोपभोग,–फलों को उद्देश्य बना कर अर्जुन को युद्धकर्म्म में प्रवृत्त करने वाले भगवान् ने 'फलाशा छोड़ते हुए कर्म्म करो' यह कहाँ किससे कब कह डाला ?, कम से कम उपलब्ध गीताशास्त्र में तो हमें कहीं भी ऐसी भगवदुक्ति उपलब्ध नहीं हुई । फिर आपने किस आधार पर अपने कल्पित निष्कामवाद को भगवत्सम्मत बतलाने का साहस कर डाला ? । ठहरिए, सम्भवतः गीता के 'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' इस वाक्य ने आपको भ्रम में डाल दिया है । हमने निष्कामकर्म्मवादियों को प्रायशः गीता के इस वाक्य का उच्चारण करते सुना है । और इसका यह अर्थ भी सुना है कि, भगवान् कहते हैं 'तुम केवल निष्कामकर्म्म करो, फल की इच्छा न करो' । सम्भवतः इसी भ्रान्त अर्थ ने आपको भ्रान्त निष्कामकर्म्मवादी बना डाला है । सुना है कि आपने स्वतः गीता का अध्ययन नहीं किया । केवल सुन–सुना कर ही आप गीताविद् बन गए । नहीं तो उक्त वाक्य के सम्बन्ध में आपको भ्रान्ति न होती । लीजिए, पूरा श्लोक उद्धृत करते हुए आज हम इसके अर्थ से सम्बन्ध रखने वाली भ्रान्ति का निराकरण किए देते हैं । श्रूयताम् ! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम् ! !

> कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
> मा कर्म्मफलहेतुर्भू, मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि ॥ (गीता२।४७) ।

६१–कर्म्म, और कर्म्मफल–मीमांसा—

"ते कर्म्मणि एव अधिकारः फलेषु कदाचन मा (अधिकारबुद्धिं कुरु, इति शेष) कर्म्मफलहेतु मा भूः । ते अकर्म्मणि सङ्गः–मा (भूत्–इति शेषः)' इत्यन्वयात्मक श्लोक का अक्षरार्थ यही है कि–'तेरा कर्म्म में ही अधिकार है (अतएव) फल में कभी अधिकार बुद्धि न कर । (तू) कर्म्मफल का कारण न बन (साथ ही) तेरा अकर्म्म में सङ्ग न हो । अब तात्पर्य्यार्थ पर दृष्टि डालिए । अग्नि प्रज्वलित होता रहे, और पानी गरम न हो, यह असम्भव है । चलते रहें और मार्ग न कटे यह असम्भव है । तात्पर्य्य अनुकूल कर्म्म यदि स्वाभाविक है तो अवश्यमेव वह फल का जनक बनता है । कोई भी कर्म्म स्वस्वरूपलक्षण से किया जाने पर अवश्यमेव तदनुरूप फल उत्पन्न करता है । इसप्रकार कर्म्मतत्त्व 'कर्म्म और कर्म्मफल' इन दो धाराओं में विभक्त रहता है । अब अधिकार का प्रश्न उपस्थित होता है । हम आप से पूँछते हैं कि, इन दोनों में से किस पर आपका अधिकार है ? । कर्म्म और कर्म्मफल दोनों के जनक क्या आप ही हैं ? । इसी सम्बन्ध में भगवान् निर्णय करते हैं–तुम कर्म्म मात्र के अधिकारी हो, फल के प्रति तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है । बात यथार्थ है । जो जिस कार्य्य का आरम्भ प्रवर्त्तक होता है, वही उस कार्य्य का अधिकारी माना गया है । फलात्मक कर्म्म का आरम्भ कर्म्मात्मा है अतएव कर्म्मात्मा अवश्य ही कर्म्माधिकारी माना जा सकता है, माना जाता है । परन्तु कर्म्मफल का कर्म्मात्मा आरम्भ नहीं है । कर्म्मफल कर्म्मात्मा (हम) उत्पन्न नहीं करता ।

कर्म्मफल उत्पन्न होता है-'कर्म्म' से । अतः कर्म्म को ही कर्म्मफल का कारण (प्रवर्त्तक-जनक) माना जायगा । और ऐसी स्थिति में कर्म्म को ही कर्म्मफल का अधिकारी माना जायगा । स्वयं पाचक (रसोइया) पाकद्रव्यरूप फल (मोज्य पदार्थ) का कारण नहीं है अपितु पाचक का पाकद्रव्यसम्पादनानुरूप पाककर्म्म ही पाकद्रव्य का कारण बनता है । लक्षभाषा में-हम स्वयं कर्म्मफल उत्पन्न नहीं करते, अपितु हमारा सुव्यवस्थित कर्म्म ही कर्म्मफल का जनक बनता है । यस 'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन' वचन मे इसी विभक्त अधिकारमर्य्यादा का विश्लेषण हुआ है । भगवान् यही कहना चाहते हैं कि, तुम्हारा (कर्म्मकर्त्ता का) अधिकार केवल कर्म्म में है अतएव कर्म्मफलों के कारण बनने की अनधिकार चेष्टा मत करो । बात अभी पूरी स्पष्ट नहीं हुई । अतएव उत्तरार्द्ध में भगवान् को कहना पड़ा कि 'मा कर्म्मफलहेतुर्भूः'। तुम कर्म्मफल के कारण मत बनो । भगवान् का अभिप्राय यही है कि कर्म्मफल के हेतु तुम नहीं हो, अपितु तुम्हारा कर्म्म कर्म्मफल का हेतु है । कारण-तुम कर्म्मफल उत्पन्न नहीं करते अपितु तुम्हारे कर्म्म से कर्म्मफल उत्पन्न होता है । जब कर्म्मफल के तुम कारण हो ही नहीं, तो बलात् तुम कर्म्मफल में अधिकारबुद्धि का समावेश क्यों कर रहे हो !

६३-अधिकारानुगत कर्म्म—

अब जन भगवान् के इस कथन से भ्रान्ति में पड़ कर कर्म्म की ओर से उदासीन हो सकते हैं । जिस कर्म्मफल को ही लक्ष्य बना कर मनुष्य कर्म्म में प्रवृत्त होता है, उसे यदि कह दिया जाय कि 'तुम्हारा फल में कोई अधिकार नहीं है तुम्हारा अधिकार है केवल कर्म्म में । फल का नाम लेना भी तुम्हारा अपराध है', तो अवश्यमेव यह अज्ञ मनुष्य अधिकारमर्य्यादा के तत्त्व से अपरिचित रहता हुआ कर्म्म की ओर से उदासीन बन सकता है । वह यह समझता हुआ कि 'जिस फल के लिए मैं कर्म्म करने जा रहा हूँ, उस फल पर जब मेरा अधिकार ही नहीं है, तो मैं कर्म्म करूँ ही क्यों !' कर्म्म छोड़ बैठेगा और अकर्म्मण्य बन जायगा जो भगवान् को किसी भी दशा में अभीप्सित नहीं है । इसीलिए अन्त में भगवान् को यह कहना पड़ा कि-'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि', जिसका एक तात्पर्य्य यही है कि-'अधिकारमर्य्यादा का तत्त्व न समझने के कारण कहीं तुम अकर्म्म में आसक्ति न कर बैठना कर्म्म न छोड़ बैठना । विश्वास रक्खो । कर्म्म कभी निरर्थक नहीं जाता । यदि तुम अनन्यनिष्ठा के साथ कर्म्मस्वरूपसम्पादन कर लोगे तो अवश्यमेव उससे फल उत्पन्न होगा । और वह फल तुम्हें ही प्राप्त होगा । तुम फल के अधिकारी नहीं हो, इसका तात्पर्य्य यह न समझो कि, तुम फल से वञ्चित हो रहे हो । अरे ! कर्म्म पूरा हो गया तो फल तुम्हारे लिए ही सुरक्षित है । हमारा अभिप्राय तो यही है कि, कर्म्मानुष्ठानकाल में तुम फल की कामना से बचे रहो । यह तभी सम्भव है, जब कि तुम यह समझलो कि कर्म्म के कारण हम हैं और फल का कारण कर्म्म है । इसका निश्चित परिणाम यह होगा कि तुम अनन्यनिष्ठा से कर्म्म में अवश्य प्रवृत्त रहोगे कभी अकर्म्म में (कर्म्मपरित्याग में) तुम्हारी प्रवृत्ति न होगी । साथ ही फल भी यथासमय (कर्म्मस्वरूप परिपाकानन्तर) तुम्हें मिल जायगा । अतः अधिकारमर्य्यादा के इस तत्त्व को न समझ कर कभी तुम्हें अकर्म्मसङ्गी (कर्म्मपरित्यागी) नहीं बन जाना चाहिए । 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि' वाक्य का यही एकप्रकार का सामान्य दृष्टिकोण है ।

६४—'कर्मण्येवाधिकारस्ते' का समन्वय—

अब एक दूसरे तात्त्विक दृष्टिकोण से उक्त वाक्य का समन्वय कीजिए। क्रिया कर्म है जिसका गुणमूर्ति के तारतम्य से स्वरूप सम्पन्न हुआ है *। गुणात्मक यह क्रियारूप कर्म ही क्रिया और अर्थ भेद से दो भागों में परिणत होता हुआ 'कर्म, और अकर्म' नाम से व्यवहृत हुआ है। प्रत्येक भौतिक पदार्थ गुणकृत्यात्मक है जैसा कि—'गुणकृतो व्यक्तम्' से प्रमाणित है। इसी दृष्टिकोण से नास्तिकदर्शन के—'अर्थक्रियाकारित्वं सत्' इस महाशय का समन्वय हुआ है। तात्पर्य यही है कि क्रियासमष्टि ही सत्त्वस्थिति की चरम सीमा पर पहुँच कर निष्क्रियभाव में परिणत होती हुई अर्थस्वरूप में प्रकट होती है। निष्क्रिय अर्थ क्रियात्मक कर्म का ही उत्तररूप है। अर्थ का पूर्वरूप क्रियात्मक कर्म है कर्म का पूर्वरूप ज्ञान है। वही ज्ञान मनों के क्षेत्र में कर्म बनता है वही कर्म वाक्‌चिति में अर्थ बनता है। व्यवहार वाक्‌चिति के प्रभाव में एकरूप बना हुआ ज्ञानतत्त्व ही वाक्‌चिति के तारतम्य से मनोमय ज्ञान प्राणमय कर्म वाङ्मय अर्थ इन तीन विवर्त्त भावों में परिणत हो रहा है जैसा कि 'आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्'—'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म' इत्यादि श्रुतियों से प्रमाणित है। ज्ञान कर्म अर्थ तीनों में ज्ञान भी निष्क्रिय बनता हुआ 'अकर्म' तत्त्व है एवं कर्मान्त का अर्थ (भौतिक विवर्त्त) भी निष्क्रिय बनता हुआ 'अकर्म' है। ज्ञानात्मक अकर्म तत्त्व तो अवश्य ज्ञानधर्म्म में समन्वित बनता है अतएव इसके साथ तो फलासक्ति का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। अतएव न—'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि' का अकर्म ज्ञानात्मक अकर्मतत्त्व से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत् अकर्म्मणि च कर्म यः' इस श्लोक में पठित 'अकर्म' शब्द—'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः'—'अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा उपवर्णित ज्ञानात्मक अमृतलक्षण अकर्म ब्रह्म एवं क्रियात्मक मृत्युलक्षण कर्म, दोनों के अन्तरान्तरीभाव-सम्बन्ध के स्पष्टीकरण से जहाँ ज्ञानलक्षण अकर्म ब्रह्म का वाचक है वहाँ—'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि' का 'अकर्म' शब्द सङ्ग शब्दमर्यादा से अर्थात्मक अकर्म का ही वाचक माना जाएगा। क्योंकि अर्थ ही आसक्तिरूप सङ्ग का जनक बनता है। इस दृष्टि से हम इस वाक्य के 'अकर्म्मणि' का अर्थ 'फल' करेंगे। कर्म तो क्रियालीन कर्म है। इस कर्म से उत्पन्न संस्काररूप फल अर्थलीन अकर्म है। भगवान् कहते हैं इस अकर्म रूप फल में तुम्हारा सङ्ग (आसक्ति) नहीं होना चाहिए। यही दूसरा तात्त्विक दृष्टिकोण है। फल के सङ्ग का तो क्या तारतम्य?, एवं फलसङ्ग से हानि क्या हो सकती?, पर विस्तारभय से 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि' का मर्म इसमें नहीं आ सकता अतः दो शब्दों में इसका स्पष्टीकरण भी कर लीजिए।

६५—इच्छा, और बन्धन-मीमांसा—

इच्छा, कर्म कर्मजनित फल और फलासक्ति, इन चार परिस्थितियों में से बन्धन का कारण कौन?, पहिले इसी प्रश्न की मीमांसा कीजिए। इच्छा (कामना) क्या बन्धन का कारण है?। देखते हैं—इच्छा से सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण सम्पन्न हुआ भी 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' श्रवण से सेच्छा से उत्पन्न विश्व

---

* गुणपूर्वापर्यं समूहः क्रमजन्मनाम् ।
बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ॥

के गर्भ में रहता हुआ भी सर्वकर्म्मा जगदीश्वर बन्धन से रहित है। इसी से सिद्ध है कि इच्छा बन्धन का कारण नहीं है। कैसी इच्छा ?—स्वेच्छा न कि परेच्छा। स्वेच्छा, और परेच्छा में महदन्तर का अन्तर है। स्वाभाविक-नियत कर्म्मों की अधिष्ठात्री इच्छा स्वेच्छा कहलाई है इसी को विज्ञानभाषा में 'काम' कहा गया है। 'कम्' सुख का वाचक है 'अकार' मन का वाचक है। सुख में ओतप्रोत मन का नाम ही 'काम' है। 'क-अ-म्-अः' के समन्वय से ही 'काम' शब्द निष्पन्न हुआ है। जिसका भाव है—'सुख, मन सुख विषयानुगत मन तभी सुखी-शान्त रह सकता है जबकि विषय उसकी इच्छा के आधीन बने रहते हैं। विषय ही मन का अन्न है। इस अन्न पर अपना प्रभुत्व रखने वाला विषयों को दास बनाए रखने वाला मन ही सुखानुशायी बनता हुआ 'कामः' है, यही इसका अबन्धनरूप है। यही कामात्मिका इच्छा स्वेच्छा है। ईश्वर इस कामात्मिका इच्छा को मूल बना कर कर्म्म में प्रवृत्त होता है। अतएव वह स्वयं विषयों पर अपना प्रभुत्व रखता है विषय उसके दास बने रहते हैं। ऐसा स्वाभाविक अहम् कामभाव रहता हुआ भी बन्धन से विमुक्त है। अतएव गीतापरिभाषा में ऐसा स्वेच्छात्मक कामभाव 'निष्कामभाव' कहलाया है। निष्कामभावात्मिका इच्छा ही काम, कामना स्वेच्छा, आत्मेच्छा, ईश्वरेच्छा, इत्यादि नामों से व्यवहृत हुई है।

दूसरी है—'परेच्छा'। आत्मा स्व है, बाह्यविषय 'पर' है। विषयों के अभिचार से अभिभूत यही स्वेच्छा (आत्मेच्छा) पर विषयानुगता बनती हुई 'परेच्छा' बन जाती है। परेच्छात्मिका यही विषयेच्छा काम न कहला कर केवल 'इच्छा' शब्द से इसलिए सम्बोधित हुई है कि, इसमें कामवत् मन विषयों को अपना दास नहीं बनाए रहता अपितु स्वयं अभावात्मक विषयों का (भोग्य का) दास बन कर अपना स्वाभाविक शान्तरूप आत्मविकास आवृत कर लेता है और यही विषयदास बने हुए मन की दुःखावस्था है जिसका 'इच्छा' शब्द से अभिनय हुआ है। भोग्य विषय अभावात्मक होने से 'इट्' है तत्र मुग्ध मन ही 'इट्-अन्ने तत्र शेते मनः' निर्वचन से इच्छात्मक है। विषयदासता में मन की स्वाभाविक शान्ति का इसलिए उच्छेद हो जाता है कि विषय अनन्त है। अनन्त विषयों के कारण मन की बुद्धियोगानुगता एकाग्रमनस्कता का निरोध हो जाता है। इस अनुधावन से मन मलिन हो पड़ता है। यह मालिन्य ही कामकामी (इच्छानुवर्ती) मन की अशान्ति का कारण बन जाता है—'स शान्तिमाप्नोति, यः—निष्कामः, इच्छाधीनस्तु कामकामी न शान्तिमाप्नोति'—('स शान्तिमाप्नोति न कामकामी' (गी० २।२।))। यही इच्छा परेच्छा, विषयेच्छा जीवेच्छा आदि नामों से व्यवहृत हुई है। तात्पर्य—विषयपरावर्त्तिनी इच्छा इच्छा है, एवं यह विषयासक्तिप्रवर्त्तिका बनती हुई बन्धन का कारण है। मनोऽभ्यावर्त्तिनी इच्छा काम है यही निष्कामभाव है एवं यह विषयासक्तिनिवर्त्तिका बनती हुई अबन्धना है।

अभी विषय सर्वात्मना स्पष्ट नहीं हुआ। इच्छाद्वयी के स्पष्टीकरण के लिए सुप्रसिद्ध दार्शनिक-शब्दद्वयी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। दर्शन में 'उत्थिताकांक्षा' और 'उत्थाप्याकांक्षा', ये दो शब्द उक्त दो स्वेच्छा परेच्छाओं के लिए प्रयुक्त हुए हैं। अपने आप उठी हुई इच्छा उत्थिताकांक्षा है यही स्वेच्छा आत्मेच्छा किंवा बन्धननिवर्त्तिका ईश्वरेच्छा है। इस इच्छा का उद्गम तो यद्यपि मन में ही होता है। परन्तु यह मन बुद्धि का दास बना रहता है। बुद्धिदास मन प्रज्ञा—घोर देवोपलक्षण बुद्धितत्त्व के अव्यक्त धर्म्म से आक्रान्त रहता हुआ अपने स्वाभाविक ज्ञान—आनन्द—स्नेहात्मक धर्म्म से अभिभूत रहता है।

अन्यत्र इस बुद्धियुक्त मन 'उस महत्तत्त्वगत' न्याय न पुण्यापुण्यविमर्शकारी की भ्रान्ति में पृथक् न बचा है। 'या बुद्धेः परतस्तु सः' के अनुसार बुद्धि में भी नाहं कर्ता अभिमानता प्रतिष्ठित है। बुद्धियुक्त मन में बुद्धिलक्षण में इस अभिमानता का स्वाभाविक अनुकूल-अनुसार रहता है। अतएव बुद्धियुक्त मानस इच्छा सर्वसङ्कल्प में परिणत रहती हुई बन्धनविमर्शिका बनी रहती है। यही उपेक्षाकांक्षा का महित मार्गस्वरूप है। विषयविमर्शविनिर्मुक्त स्मृति के द्वारा उत्पन्न यह इच्छा उपास्याकांक्षा है यही बन्धनविमर्शिका धीरेच्छा है। इस इच्छा का उदय नैष्कर्म्य में ही है। परन्तु यह मन बुद्धि का बन्धन नाम प्रकार रहता है। बुद्धिमानी यह मन अन्तर्बुद्धिकर्म का आश्रय बना हुआ है स्पष्ट रूप में प्रधान बना रहता है। अतएव बुद्धि का स्वाभाविक विषयासक्त संस्कारनिष्ठ कर्मिता से मुक्त हो जाता है। कर्मिताबुद्धि में युक्त ऐसा मन सुखदुःख-संस्कारों में स्वच्छन्द आसक्त हो जाता है। बुद्धि और मन के मध्य में व्यवहित कल्पना (संकल्पना) प्रतिष्ठित है। मनःप्रभाव से कल्पना मनोवृत्त्यनुगत बना हुआ मानस इच्छा का निर्माण बना रहता है। अतएव मानस इच्छा सर्वसङ्कल्प में परिणत होती हुई बन्धनकारिका बनी रहती है। यही उपास्याकांक्षा का महित मार्गस्वरूप है। जिसके कारण पर स्वप्रकृति के अनुकूल आहार विहार कर्म जिस इच्छा से सम्पादित होते हैं वह स्वाभाविक इच्छा ही उपेक्षाकांक्षा है। प्रतिकूल स्वप्न से प्रतिबिम्बित इस रूप आहार-विहारों की अधिकारी ही यह इच्छा ही उपास्याकांक्षा है। उपेक्षाकांक्षात्मिका कल्पनात्मिका इच्छा में संस्कारशक्ति नहीं होती अतएव ऐसी धीरेच्छा बन्धनविमर्शिका है। उपास्याकांक्षात्मिका इच्छात्मिका इच्छा में संस्कारशक्ति का उदय होता है अतएव यही इच्छा बन्धन प्रवर्तक है।

६६–कर्म और बन्धन-मीमांसा—

इच्छा बन्धन का कारण है कि नहीं?, प्रश्न की मीमांसा समाप्त हुई। अब कर्म को लक्ष्य बनाइए। क्या कर्म बन्धन का कारण है?, इस प्रश्न की भी यही मीमांसा है जो इच्छाकारण प्रश्न की मीमांसा पूर्व में हुई है। उपेक्षाकांक्षा से स्वतन्त्र स्वाभाविक कर्म यथाप्राप्त कहलाता है। एवं ऐसा कर्म नियतकर्म बना हुआ अबन्धन है जैसे–'यथाप्राप्त कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः' इत्यादि भगवद्वचन में स्पष्ट है। यथाप्राप्त का तात्पर्य है–स्वविहित विषयकर्म। प्रकृति सिद्ध स्वधर्म स्वाभाविक माना गया है। इस नियतात्मक कर्म का बन्धनाभाव स्पष्ट है। उनके इसी बन्धन से विमुक्त-बन्धन होता रहता है। जिसमें इस बन्धन में प्राप्त रहता हुआ भी स्थिर बन्धन धनात्मक नियमनात्मक है इससे अनासक्त है। यदि मानव का कर्म भी उपेक्षाकांक्षा को मान बना कर विषयानुगत के लिए प्रवृत्त है तो उसका भी यह कर्म प्रत्यय (विषयभाव) बना हुआ वैकल्पिक न्याय से विमुक्त बन कर बन्धन बन जाता है। मानव की अपनी इच्छा का वैकल्पिक मार्ग से सम्बन्ध है। स्वाभाविकमूला इच्छा उपास्याकांक्षा है। तन्मूलक कर्म स्वानुगत वैराग्य के सम्बन्ध से त्रिगुणात्मक बना हुआ आसक्ति का बन्धन बन जाता है। अन्यत्र उपास्याकांक्षा से स्वतन्त्र इतर कर्म स्वनिष्ठा में परिणत रहता हुआ बन्धन बन जाता है। विशेषतः स्वतन्त्र कर्म अविचारित कर्म है जिसे नैष्कर्म्यकर्म कहा गया है। यही प्रकृतिसिद्धस्वकर्म है। अविचारित कर्म चाहे हो अथवा निषेध वह उस अधिकारी का स्वकर्म है। एवं स्वकर्मनिष्ठ ऐसे अविचारित कर्म की इच्छा धीरेच्छा नहीं है अपितु विषयेच्छा है। अतएव ऐसा कर्म एकान्त बन्धन

है । उदाहरण के लिए–हिंसात्मक वधकर्म्म में नियुक्त वधिक के वध कर्म्म की इसलिए निन्दा नहीं होती कि इस कर्म्म में वधिक की इच्छा का समावेश नहीं है अपितु लोकतन्त्रात्मक शासक की इच्छा से प्राप्त अधिकारसम्पत्ति के पालन के लिए वह वधकर्म्म में प्रवृत्त होता है। 'केनापि देवेन हृदि स्थितेन, यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' ही अधिकारकर्म की व्याख्या है। इच्छा उसकी निमित्तमात्र हम, फिर बन्धन कैसा ? । 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्' से भी इसी अबन्धन युद्धकर्म्म का समर्थन हुआ है। अधिकारसिद्ध कर्म्म तथा ईश्वरेच्छा (उत्थिताकांक्षा–कामना) मूलक बनते हुए निष्कामकर्म्म हैं और ये अबन्धन हैं। ये ही गीतापरिभाषा में 'सहजकर्म्म' कहलाए हैं, जिनके लिए भगवान् ने–'सहजं कर्म्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत्' यह व्यवस्था की है। जीवेच्छा–(उत्थाप्याकांक्षा)–मूलक, अतएव व्यक्तित्वार्थानुगत, कर्म्म कामनामय बनते हुए सकामकर्म्म हैं, एवं ये सबन्धन हैं। 'काम्यानां कर्म्मणां न्यासं, संन्यासं कवयो विदुः' से इसी के परित्याग का आदेश हुआ है। तात्पर्य्य–ईश्वरेच्छाप्रवृत्त कर्म्म अबन्धन है, तथा जीवेच्छाप्रवृत्त कर्म्म आसक्ति के द्वारा सबन्धन हैं।

६७–फल, और बन्धन–मीमांसा—

क्या फलों से बन्धन होता है ?, प्रश्न के समाधान से पहिले फल के स्वरूप का अन्वेषण कीजिए। ईश्वर ने कर्म्म किया इस कर्म्म से फल उत्पन्न हुआ वही ईश्वर का अन्तर्जगत् कहलाया। 'संस्कार' का ही नाम अन्तर्जगत् है। अन्तर्जगत् ही कर्म्मजनित फल है। संस्कारप्रवर्त्तक जीवात्मा को लक्ष्य बना कर अन्तर्जगत् के स्वरूप का विश्लेषण कीजिए। 'सदसच्चाहमर्जुन !' के अनुसार 'अहं'–शब्दवाच्य जीवात्मा ज्ञानकलारूप अमृतात्मक सत् एवं कर्म्मकलारूप मृत्युरूप असत्, दोनों की समष्टि है। अपनी ज्ञानकला से जीवात्मा जानता है कर्म्मकला से कर्म्म करता है। जानाति, करोति इन दो व्यापारों पर ही जीव का पुरुषार्थ विश्रान्त है। इन दोनों कलाओं के व्यापार से जीवात्मा पर (जीवाभिन्न प्रज्ञानमनोधरातल पर) भावना वासना नामक दो प्रकार के संस्कार लचित होते रहते हैं। हम कुछ कर नहीं रहे, चुपचाप बैठे हैं परन्तु अपने मैत्रजगत् में केवल ज्ञान के सहारे नवीन नवीन कल्पनाएँ करते रहते हैं। यही ज्ञानीय व्यापार है। इससे जो ज्ञानात्मक संस्कार उत्पन्न होता है, वही ज्ञानफल है। यही ज्ञानजनित संस्कार 'भावना' कहलाया है। इसी प्रकार कर्म्म करने से जो मन पर एक प्रकार का अतिशय प्रतिष्ठित हो जाता है वही कर्म्मजनित फल है यही 'वासना संस्कार कहलाता है। भावना, वासना-संस्कार ज्ञानीय, कर्म्मात्मक विषयभेद से आर्त्तस्य हैं। इन आर्त्तस्य, उभयविध संस्कारों की राशि ही हमारा 'अन्तर्जगत्' है। यही हमारे जीवन की मूलप्रतिष्ठा है। संस्कारों के उन्मूलन से जीव मुक्त हो जाता है। हम अपनी आंखों से जिन सूर्य्य–चन्द्र–पशु–पक्ष्यादि विषयों को देखते हैं रसना से जिन स्वादों का अनुभव करते हैं नाक से जिन गन्धों का आघाण करते हैं मनसे जिन विषयों का मनन करते हैं इन्द्रियानुभूत उन सब विषयों का हमारे सांस्कारिक अन्तर्जगत् से ही सम्बन्ध है। हम हमारे ज्ञानकर्म्म से ईश्वरीय अन्तर्जगत् (जीवापेक्षया बहिर्जगत्) के आधार पर इन्द्रियों के द्वारा निर्म्मित अपने सांस्कारिक अन्तर्जगत् का ही ऐन्द्रियक अनुभव करते हैं। विश्वास कीजिए। जो सूर्य्य हम देखते हैं, वह हमारा बनाया हुआ सांस्कारिक सूर्य्य है। प्रकृतिसिद्ध सूर्य्यचन्द्रादि के आधार पर हमारे मानस पटल पर सांस्कारिक चन्द्र सूर्य्यादि का तात्कालिक निर्म्माण होता है। तत्त्वात्मक वेदविज्ञान से वह दूरी भी हमारे अन्तर्जगत् में ही उत्पन्न हो जाती है। अतएव भान ऐसा होने लगता है मानों हम सूर्य्य

को आकाश में किधर देख रहे हैं। वस्तुतः यह पृथ्वी, यह चन्द्र सूर्य हमारे अन्तर्जगत् में ही प्रतिष्ठित है। यही ऐन्द्रियक विषयों के सम्बन्ध में पठित है। प्रकृतिसिद्ध ईश्वरीय सूर्य्य तो भूपिण्ड से भी कहीं सहस्रगुणित बृहत्प्रमाण है। उसे हम कैसे देखते हैं ?। एक बात और—प्रकृतिसिद्ध सूर्य्यादि पदार्थ ईश्वर के ज्ञानात्मक अन्तर्जगत्-धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च ईश्वर का अन्तर्जगत् है। जब एक जीव अन्य जीव के भी अन्तर्जगत् को नहीं देख सकता तो वह ईश्वरीय अन्तर्जगत् का साक्षात्कार कैसे कर सकता है ?। अन्य व्यक्ति अमुक समय क्या कल्पना कर रहा है उसमें कौन कौन सांस्कारिक ज्ञान-कर्म्म (भावना-वासना) प्रतिष्ठित हैं ?, यह दूसरा व्यक्ति नहीं जान सकता। इसी आधार पर वैज्ञानिकों ने यह स्थिर किया है कि, प्रत्येक आत्मा स्व-स्व अन्तर्जगत् का ही द्रष्टा है। एवं प्रत्येक का अन्तर्जगत् उसके प्रातिस्विक ज्ञानकर्म्म से ही सम्पन्न हुआ है जो सम्पत्स्वरूप भावना-वासना-संस्कारात्मक है।

उक्त स्थिति का ईश्वरीय कर्म के साथ समतुलन कीजिए। तत्तात्सिद्ध सूर्य्य-चन्द्रादि युक्त पाञ्चभौतिक महाविश्व ईश्वरीय ज्ञानकर्म्म से समुत्पन्न ईश्वरीय अन्तर्जगत् है। यह विश्व ही ईश्वरीय कर्म्म से उत्पन्न वह फल है जो अन्तर्जगत् रूप से सदा ईश्वरीय ज्ञानकर्म्माधार पर प्रतिष्ठित रहता है। इसप्रकार ईश्वर स्व ज्ञान कर्म्म जनित विश्वरूप फल से नित्य युक्त है। देखते हैं—विश्वात्मक फल से नित्य-युक्त रहता हुआ भी ईश्वर ईश्वरकर्म्म मूला—निष्कामभावात्मिका कामना के सम्बन्ध से फल में आसक्त नहीं है। अतएव यह फल रहता हुआ भी ईश्वरस्वातन्त्र्य पर आक्रमण नहीं कर रहा। ठीक इसीप्रकार जो जीवात्मा अपने ज्ञान-कर्म्म-व्यापार का मूल ईश्वरेच्छा बना लेता है उस जीवात्मा के ईश्वरेच्छानुगत ज्ञानकर्म्म से समुत्पन्न फलात्मक भावना-वासनासंस्कारलक्षण अन्तर्जगत् जीवस्वातन्त्र्य पर आक्रमण नहीं कर सकता। यदि जीव अपनी स्वार्थमूला उपाप्यापेक्षा को मूल बना कर कर्म्म फल उत्पन्न करता है तो इस फल के प्रति उसकी अवश्यमेव आसक्ति हो जाती है। और इसका (जीवेच्छानुगत) ज्ञानकर्म्म से उत्पन्न ऐसा सांस्कारिक फल अवश्यमेव जीवस्वातन्त्र्य का विघातक बन जाता है।

६८—फलासक्ति, और बन्धन-मीमांसा—

अब शेष रह जाती है—'फलासक्ति जिसका मूल है—मानव जीवेच्छा। यह आसक्ति ही जीवपारतन्त्र्य का मूलकारण है जिसके मूल में राग-द्वेष व्यवस्थित हैं जिन रागद्वेषों का 'रागद्वेषवियोगनुगत वैराग्यबुद्धियोग स्तम्भ में विस्तार से विश्लेषण किया जाने वाला है। इसप्रकार इच्छा कर्म फल फलासक्ति चारों में से जीवेच्छानुगता फलासक्ति का ही बन्धनप्रवर्त्तकत्व सिद्ध हो जाता है। इच्छा रखिए, परन्तु ईश्वरेच्छात्मिका इच्छा, बन्धन न होगा। कर्म्म कीजिए परन्तु ईश्वरेच्छानुगत यज्ञार्थकर्म्म कभी बन्धन न होगा। फलाभि-मुख बने रहिए, परन्तु इच्छा को ईश्वरेच्छारूप में परिणत रखिए, कभी फल आत्मस्वातन्त्र्य पर आक्रमण न करेंगे। ऐसा करने पर फलासक्ति स्वतः निवृत्त हो जायगी, फलों (संस्कारों) के साथ ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध न होगा। ऐसी इच्छा रखते हुए भी आप निष्काम कहलाऐंगे ऐसी निष्कामभावना से किया हुआ कर्म्म भी निष्कामकर्म्म कहलाएगा ऐसे कर्म्म से उत्पन्न फल (संस्कार) भी आपके स्वाभाविक आत्म-विकास को आवृत न कर सकेंगे। इसप्रकार अकर्म्म रूप फल के प्रति सङ्ग (आसक्ति) न रखते हुए आप केवल कर्म्म के ही क्षेत्र बने रहेंगे। फलभोक्ता भी बन जाएँगे फलासक्ति से भी बचे रहेंगे। इसी तत्त्व को लक्ष्य बना कर भगवान् ने कहा है—'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि' (अकर्म्मात्मके सांस्कारिके फले ते सङ्ग—आसक्ति माभूत्)।

६६–फलसङ्गस्वरूपविश्लेषण—

फलसङ्ग (फलासक्ति) का क्या तात्पर्य ?, एवं फलासक्ति से हानि क्या हो जाती है ?, प्रश्नों के समाधान की चेष्टा की गई। परन्तु अभी यथावत् स्पष्टीकरण नहीं हुआ। सहजभाषा में स्पष्टीकरण कीजिए। आप अधिकारसिद्ध कर्म में प्रवृत्त हुए, कर्म प्रवृत्ति का लक्ष्य बनाया आपने कर्म जनित फल को, क्योंकि बिना फल को उद्देश्य बनाए तो आप फलजनक कर्म में प्रवृत्त ही नहीं हो सकते। यहाँ तक परिस्थिति ठीक ठीक बनी रही। फलोद्देश्य को सफल बनाने के लिए आपने तदनुकूल कर्म आरम्भ किया। कर्म काल में आपने बार बार भावी फल की ओर अनुधावन आरम्भ कर दिया। और यही एक ऐसी भयङ्कर भूल हो गई, जिससे आपका कर्म'कौशल बिगड़ गया। आपकी मानस शक्तियाँ परिमित हैं। एक समय में सर्वात्मना एक ओर ही इस शक्ति के समावेश से कर्म स्वरूप सर्वात्मना सुसम्पन्न बन सकता है। आपने अपनी शक्ति को कर्म' के साथ साथ भावी फल की चर्वणा में भी समाविष्ट कर दिया। कर्म में जिस अनन्यशक्ति का समावेश होना चाहिए था, न हो सका। कर्म अपूर्ण रह गया। पूर्ण कर्म' ही तो पूर्ण फल का जनक बना करता है। अनन्यभावात्मिका पूर्णशक्ति के समावेश से ही तो कर्म पूर्णता का कारण बनता है। जब आपने कर्मानुष्ठानकाल में बार बार फलचर्वणा की ओर मानस–शक्तियों का दुरुपयोग कर डाला तो जिस पूर्ण शक्ति के समावेश से कर्म' स्वाङ्गीण बनता है, वह पूर्णशक्ति पूर्ण कहाँ रही ?। यही क्यों कभी कभी तो इस फलचर्वणा का यह दुष्परिणाम होता देखा गया है कि फलचर्वणात्मिका फलासक्ति में (काल्पनिक फल की आसक्ति में) ही मन की अधिक शक्ति समाविष्ट हो जाती है। और उस शेखचिल्ली की भाँति तब हमारी आँखें खुलती हैं जब हम देखते हैं कि, फलजनक कर्म हमने पूरा किया नहीं, कर्म'–(पुरुषार्थकर्म) साधक अर्त्वर्य कर्मों का स्वरूप और बिगाड़ लिया। उदाहरण के लिए एक उस पाचक को लक्ष्य बनाइए, जो सब सामग्री लेकर पाककर्म में प्रवृत्त हो रहा है। पाचक रसोई बनाने बैठा। पाचक का पाककर्म पुरुषार्थ–कर्म है। क्योंकि पाककर्म से समुत्पन्न पाकफल का (सिद्ध–सम्पन्न–द्रव्यों का) पुरुषोपभोग से सम्बन्ध है। चूल्हा जलाना बटलोई चढ़ाना, दुग्ध–शर्करा–तन्दुल–आदि का उसमें प्रक्षेप करना आदि आदि अनेक कर्मों से पाककर्म का स्वरूप सम्पन्न होता है। इन अनेक कर्मों से पुरुषार्थलक्षण पाककर्म का स्वरूप सम्पन्न होता है। अतएव इन पुरुषार्थसाधक पाचक के अवान्तर कर्मों को हम 'क्रत्वर्थ कर्म' (अपुरुषार्थ कर्म', तत्साधक अवान्तरकर्म क्रत्वर्थकर्म') कह सकते हैं। दुर्भाग्य से पाचक इन कर्मों के साथ साथ ही फलचर्वणा आरम्भ कर देता है। कल्पना करने लगता है–अहा ! आज ऐसी बढ़िया रसोई बनेगी कि खाने वाले प्रसन्न हो जायँगे। खीर ऐसी बनेगी, साग वैसे सुस्वादु बनेंगे। इन कल्पनाओं का परिणाम यह होगा कि मन की जिस अवधानशक्ति से पाचक के क्रत्वर्थकर्म' पुरुषार्थकर्म को सर्वाङ्गीण बनाते हुए कर्म फल (पाकद्रव्य) को पूर्ण करने वाले थे वे क्रत्वर्थ कर्म फलचर्वणाजनिता अनवधानता से विकृत हो जायँगे। दाल जल जायगा खीर या तो कच्ची रह जायगी, अथवा जल जायगी, साग में नमक अधिक गिर जायगा। इसप्रकार कर्म काल में फलचर्वणा से फलजनक कर्म और तत्साधक क्रत्वर्थकर्मों का स्वरूप विकृत हो जायगा परिणामस्वरूप कर्म फल आशाजनक न बन सकेगा।

मान लेते हैं–पाचक पाककर्म में बड़ा कुशल है। वह आँख मीच कर भी अन्दाज से जो भी करेगा, पाकफल उसी से निर्विघ्न पूर्ण होजायगा। इस स्थिति में फलचर्वणा में क्या दोष रहा ?, जब कि

फलचर्व्वणा करते हुए भी पातक का पातकत्व सुरक्षित होगया ? इसका उत्तर है–आसक्तिरूप बन्धन। फलचर्व्वणा फलासक्ति है। इससे आत्मा में फलसंस्कार के साथ अभिष्वङ्गलक्षण बन्धन होजायगा जो अभिष्वङ्गलक्षण स्मृति के द्वारा फलकामना की ओर मनको आकर्षित करता हुआ उसकी स्वाभाविक शान्ति भङ्ग किया करता है। इसी सम्पूर्ण परिस्थिति को लक्ष्य बना कर भगवान् कहते हैं–भाई ! तुम्हारा अधिकार केवल फलजनक कर्मों के लिए नियत है। कर्म्म करना तुम्हारा कर्त्तव्य है कर्म फलोंको उत्पन्न करना तुम्हारा काम नहीं। यदि तुमने अनन्य-निष्ठा से कर्म का स्वरूप सर्वाङ्गीण बना लिया तो फल अवश्य उत्पन्न होगा। अतएव फल की चिन्ता–चर्व्वणा–छोड़ कर तुम केवल कर्म के अधिकारी बने रहो, अपने आपको कर्म्म का हेतु बनाओ, कर्म्मफल का हेतु मत बनाओ। क्योंकि कर्म्मफल का हेतु तुम नहीं, तुम्हारा कर्म्म है। यदि तुम फलाभिलाषापेक्षा करते हुए कर्म के साथ साथ (कर्म्मानुष्ठान काल में) फल का भी हेतु अपने आप को बना लोगे तो कर्म्म में अनन्यता न रहेगी, कर्म स्वरूप अपूर्ण रह जायगा, फलतः कर्म्मफल सुरक्षित न हो सकेगा। यदि पुरुषार्थाभाव से कर्म फल सुरक्षित बन भी जायगा तो फलासक्ति से तुम अपने आप को न बचा सकोगे, जो फलासक्ति आत्म–अशान्ति आत्मबन्धन का कारण मानी गई है। अतएव हम आग्रह करते हैं कि, तुम अकर्म रूप फल में आसक्ति न रक्खो–'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि'। ऐसा करने से तुम्हारे कर्त्तव्य–पुरुषार्थकर्म्म भी सर्वाङ्गीण बन जायँगे इस कर्म्मकौशल से फल भी सुरक्षित हो जायगा और सबसे बड़ा लाभ होगा कि, तुम फलासक्ति से भी बच रहोगे। इसप्रकार फलकामनासक्ति-परित्याग के अनुग्रह से तुम करते हुए भी लिप्त न बनोगे-'कुर्वन्नपि न लिप्यते'+'न करोति न लिप्यते'०।

७०–इच्छानिबन्धना कर्म्ममीमांसा–

'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते' श्लोक की उक्त मीमांसा से स्पष्ट है कि, इस श्लोक का यह तात्पर्य सर्वथा असङ्गत है कि, 'तुम बिना इच्छा के कर्म्म करो'। भला ऐसी असम्भव आज्ञा भगवान् दे भी कैसे सकते थे। नाहीं इससे फलाशात्याग का समर्थन हुआ है। प्रत्येक कर्म की प्रवृत्ति भी कामनापूर्वक ही होगी, फल आशा रक्खें अथवा न रक्खें सुरक्षित कर्म से फल भी अवश्य ही उत्पन्न होगा। फल (संस्कार) का आत्मा से सम्बन्ध भी अनिवार्य होगा। ऐसी स्थिति में भ्रान्त कर्म्मवादियों के इच्छारहित निष्कामकर्म्म का फलकामनात्याग का क्या अर्थ रहा ?, यह उन्हीं कल्पित निष्कामकर्म वादियों से पूँछना चाहिए। क्या निष्कामकर्म गीता का सिद्धान्त नहीं है ? ! है और अवश्य है। परन्तु न तो–'हम बिना इच्छा के कर्म करते हैं अतएव हमारा कर्म निष्काम है' यह कहने मात्र से ही कर्म निष्काम बन जाता एवं न ऐसे कथनमात्र पर अवलम्बित स्वेच्छाचारविहारलक्षण उच्छृङ्खल कर्म्म ही गीताभिमत कर्म माना जासकता। अपितु गीतासम्मत 'निष्काम' शब्द का अर्थ है–ईशेच्छा एवं निष्कामकर्म्म का अर्थ है–ईशेच्छानुगत प्राकृतिक कर्म। हमारी अध्यात्मसंस्था में ईश्वर, जीव, दोनों प्रतिष्ठित हैं ईश्वरेच्छा कामना है जीवेच्छा इच्छा है। ईश्वरीय कामना से युक्त कर्म प्राकृतिक कर्म निष्कामकर्म है। जैसे इच्छा से

---

० ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
गीता

युक्त कर्म्म' इन्द्रियानुगत विषयानुगति से सकामकर्म्म हैं। सकामकर्म्म प्रत्येक दशा में फलासक्त्युन्मुख बनते हुए सबन्धन हैं, निष्कामकर्म्म फलासक्तिविरहित रहते हुए अबन्धन हैं और यही गीता का कर्म्म मार्ग है जिसकी मूलप्रतिष्ठा 'आर्षविद्या' मानी गई है, जिसका स्वरूपविश्लेषण ही प्रकृत स्तम्भ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

ईश्वरेच्छा सहज इच्छा है, यह स्वयं उत्थित होती हुई उत्थिताकांक्षा' कहलाई है। अतएव तदनुगत निष्कामकर्म्म भी गीतापरिभाषा में सहजकर्म्म कहलाए हैं। जो यह कहते हैं–'हम तो निष्कामकर्म्म करते हैं सचमुच वे बड़ी भ्रान्ति में हैं। उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि, निष्कामकर्म्म होते हैं किए नहीं जाते। 'करिष्यस्यवशोऽपि तत्' के अनुसार निष्कामकर्म्म अपने आप होते रहते हैं हमें निमित्त बना कर वे स्वत प्रवृत्त होते रहते हैं। इनमें हमारी (जीव की) इच्छा का अणुमात्र भी समावेश नहीं है। यदि हम यह कहते समझते हैं कि 'हम निष्काम कर रहे हैं' तो यह निष्कामकर्म्म कहाँ रहा ?। अहन्तामूला इच्छा का तो हमने आरम्भ में ही समावेश कर दिया। चाहिए, करते हैं कर रहे हैं करेंगे आदि सब व्यवहार जीवेच्छाप्रधान बनते हुए सकामकर्म्म हैं। और इन्हीं का अनुगमन करने वाले वर्त्तमानयुग के गीताप्रेमी अभिनिवेश किया करते हैं 'हम तो गीता के आदेश का पालन कर रहे हैं'। कैसी भ्रान्ति है ?।

७१–आर्षविद्याप्रतिष्ठात्मक ऋषितत्त्व—

छोड़िए इस विवाद को। आप जो गीता को कर रही है उसका समन्वय कीजिए। यह सिद्ध होचुका है कि गीताकर्म्म वाद विशुद्ध शास्त्रीय कर्म्म वाद है। क्योंकि शास्त्रीय कर्म्म ही प्राकृतिक हैं प्राकृतिक कर्म्म ही ईश्वरेच्छानुगत सहज कर्म्म हैं जिनकी मूलप्रवृत्ति 'ऋषिवंश' से हुई है। अतएव यह कर्म्मात्मक धर्म्म पथ 'आर्षधर्म्म' नाम से व्यवहृत हुआ है। अतएव तन्मूला विद्या आर्षविद्या' कहलाई है। ऋषि ही ईश्वरीय कर्म्म की प्रतिष्ठा कैसे है ?। इसके लिए ऋषिमूलक सृष्टिविज्ञान का विश्लेषण आवश्यक होगा। वही संक्षेप से आर्षधर्म्म प्रेमियों के सम्मुख उपस्थित किया जारहा है।

धर्म्म' अधर्म्म पाप–पुण्य सत्–असत् अहः–रात्रि, विश्व आदि आदि में से जिस समय किसी की सत्ता न थी, तो उस समय क्या था ?, दूसरे शब्दों में जब कुछ न था तो क्या था ?, इस सृष्टिकारणात्मक प्रश्न का उत्तर देते हुए तत्त्वद्रष्टा ऋषि ने हमें बतलाया कि–'आज जिस विश्वप्रपञ्च को तुम सद्रूप से अपने अनुभव का अवलम्बन बना रहे हो सृष्टि से पहिले सत्–दृष्टि (विद्यमान विश्वप्रपञ्च) से पहिले यह सब कुछ 'असत्' ही था। (और यह असत् ही इस सदात्मक विश्व का मूलप्रभव था)–'असद्वा इदमग्र आसीत्'। सत् का अर्थ होता है– भाव। असत् का अर्थ माना गया है–'अभाव'। क्या भावात्मक (सत्तात्मक) विश्व का मूलकारण अभावार्थक असत् है ?, नहीं। क्योंकि अभाव किसी का उपादानकारण नहीं बन सकता। जो स्वयं 'नास्ति रूप है वह अस्ति का कारण कैसे बन सकता है ?। फिर श्रुति के असत् का क्या अर्थ ?, इसी प्रश्न को लक्ष्य बना कर श्रुति ने स्वयं आगे चल कर यह प्रश्न किया कि सद्विश्व का कारण अभावात्मक असत् तो बन नहीं सकता। फिर उस कारणात्मक असत्' का क्या स्वरूप ? 'किं तदसदासीत्–इति'? । श्रुति स्वयं उत्तर देती है–'सृष्टि का मूलकारणरूप वह असत् तत्त्व (अभावात्मक असत् नहीं, अपितु) 'ऋषि' नामक 'असत् तत्त्व ही था – ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्। ऋषि शब्द

भी सन्देहास्पद है। अरण्य-भृगुरिराम की अनेकधा ख्याति देखी-सुनी जाती है। वेदतत्त्वद्रष्टा वसिष्ठ-कश्यपादि मानव ऋषि भी ऋषि कहलाए हैं। यही क्यों, सर्वसाधारण की दृष्टि में तो 'ऋषि' शब्द का अर्थ मानव ऋषि ही है जो सत्-सृष्टिमर्यादा में अन्तर्भुक्त रहते हुए 'असत्रूपा ऋषि मर्य्यादा से बहिष्कृत हैं। अतएव प्रश्न होना स्वाभाविक ही है कि-'सृष्टिरूप का मूलभूत असद्रूपा ऋषि क्या वस्तुतत्त्व है?-किं ते ऋषय-इति?' । इसी ऋषितत्त्व का परिचय कराती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है-'प्राणतत्त्व का ही नाम ऋषि है-'प्राणा वा ऋषयः । प्राण को ऋषि क्यों कहा गया?, इस प्रश्न का समाधान करती हुई अन्त में श्रुति कहती है-'उन प्राणों ने इस विसर्ग से पहिले क्योंकि इस विसर्ग की इच्छा करते हुए श्रम, और तप से गमन किया था अतएव-'इच्छन्त श्रमेण तपसा अरिषन्' इस निर्वचन से वैज्ञानिकों ने उस सृष्टिमूलक प्राणतत्त्व को 'ऋषि नाम से व्यवहृत किया-'स यत् पुरास्मात् सर्वस्मात्-इदमिच्छन्तः श्रमेण तपसा अरिषन्-तस्मात्-ऋषयः" (देखिए-शत० ब्रा० ६।१।१।१)।

रूप रस, गन्ध स्पर्श शब्द, इन पाँचो गुणभूतों (तन्मात्राओं) से असंस्पृष्ट अनवकाशस्थ (स्थान न रोकने वाला) अतएव अमूर्त अतएव केवल शक्त्यात्मक, अतएव इन्द्रियधर्मों से अतीत अतएव च इन्द्रिय-अग्राह्य तत्त्वविशेष ही विज्ञानभाषा में 'प्राण नाम से व्यवहृत हुआ है। इस प्राण के समावेश से ही भौतिक वस्तु 'प्राणी कहलाई है जिसके जड़प्राणी चेतनप्राणी, भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। पाषाण लोष्ट आदि जिन पदार्थों को हम 'जड़' कहते हैं, उनमें भी वह प्राणात्मा विद्यमान है, केवल इन्द्रियविकास का अभाव है। अतएव चेतन अचेतन का मूलविभाजक इन्द्रिय, और इन्द्रियाभाव ही माना गया है न कि प्राणाप्राणभाव, जैसाकि-'सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं, निरिन्द्रियमचेतनम्' इत्यादि से भी प्रमाणित है। प्रत्यक्ष में भी जड़पदार्थों के 'जायते अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते अपक्षीयते नश्यति' इन नैगमिक षड्भावविकारों के द्वारा प्राण का अनुमान हो रहा है। पाषाण जब पुराना हो जाता है तो उसके तपन्नक भौतिक परमाणु स्वतन्त्र हो जाते हैं। जो पाषाण अपनी युवावस्था में दृढ़ावयव था, वही वृद्धावस्था में जाकर शीर्ण शीर्ण हो जाता है, उसके अवयव साधारण से बलप्रयोग से च्युत कर दिए जाते हैं, और उस दशा में पाषाण के लिए हमारे मुख से यही निकलता है कि 'अब पत्थर में दम नहीं रहा'। यह अनुभूत 'दम' ही हमारा 'प्राण तत्त्व है जिसे हम देखते नहीं, किन्तु शक्तिरूप से अनुमान अवश्य लगा लेते हैं। इसप्रकार प्राणतत्त्व की जड़-चेतनोभयव्याप्ति सर्वात्मना सिद्ध हो जाती है। श्रुति ने इस प्राणतत्त्व को 'असत्-'ऋषि इन दो नामों से व्यवहृत किया है। जिस भौतिक जड़-चेतन पदार्थ में जब तक प्राणतत्त्व अन्तर्य्यामिसम्बन्ध से समाहित रहता है, तभी तक वह पदार्थ सत्तामात्र (अस्तिभाव) में परिणत रहता हुआ सत् (विद्यमान) कहलाता है। प्राणोत्क्रान्ति ही तत्तत् पदार्थों की सत्ता की उत्क्रान्ति है। सत्तोत्क्रान्ति ही उस पदार्थ को असत् (अभाव) रूप में परिणत करती है। अतएव कहा और माना जा सकता है कि, पदार्थ प्राणसमावेश से ही 'सत्' कहलाते हैं। जिसमें प्राण रहता है वही 'सत्' है, क्योंकि वस्तुतः प्राण ही 'सत्' है इसका सद्भाव ही वस्तुसद्भाव की मूलप्रतिष्ठा है। 'घटे घटाभावः' एतन्मूलक 'सामान्ये सामान्याभावः इस न्याय के अनुसार सद्भाव में सद्भाव का अभाव है। जैसे मनोमय, प्राणमय इत्यादि इसी न्याय के अनुसार 'अमना अप्राणः' कहलाता है जिसका तात्पर्य होता है-'मनोरूप-प्राणरूप"। तथैव यह सत्प्राण भी असत् कहलाया है। जिसमें सत् (प्राण) रहता है वह भौतिक वस्तु 'सत्' है। सत् (प्राण) में सत् (प्राण) कैसे रहेगा कैसे रहेगा? एकमात्र इसी आधार पर सर्वथा सत्तत्त्व भी

प्राणतत्त्व विज्ञानभाषा में 'असत्' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसका तात्पर्य्य निकलता है—'तद्रूप' । इसीलिए तो 'असद्वा इदमग्र आसीत्' श्रुति का अन्यत्र 'सदेवेदमग्रे सोम्य असदासीत् कथमसतः सज्जायेत' इस रूप से समन्वय हुआ है । असत् ही सृष्टि का मूल था एवं वह सत् था । अभावात्मक असत् से भावात्मक सृष्टि उत्पन्न भी कैसे हो सकता था । 'तत् सदासीत्' से भी प्राण के इस स्वभाव का ही विश्लेषण हुआ है । तात्पर्य्य—प्राणतत्त्व की शुद्ध सद्रूपता ही इसके 'असत्' नाम व्यवहार का मूलकारण है ।

असत्लक्षण उक्त प्राणतत्त्व के सम्बन्ध में श्रुति ने 'इच्छया-श्रमेण-तपसा' कहते हुए इसके साथ इच्छा तप, श्रम, सृष्टि के इन तीन सामान्य अनुबन्धों का सम्बन्ध माना है । इच्छा मन का व्यापार है, मन ज्ञानप्रधान है । तप प्राण का व्यापार है प्राण क्रियाप्रधान है । एवं श्रम वाक् का व्यापार है वाक् अर्थप्रधाना है । ज्ञानमय मन की इच्छा क्रियामय प्राण का तप अर्थमयी वाक् का श्रम सृष्टिकर्म्म में तीनों अपेक्षित हैं, जैसाकि 'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते' इत्यादि श्लोकमीमांसा करते हुए पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है । इच्छात्मक ज्ञानमय मन की अव्यय विकासभूमि है, यह सृष्टिकर्म्म का आलम्बन कारण बनता है, जिसे विज्ञानभाषा में 'अधिष्ठान' कहा गया है शब्दपरिभाषा में 'स्फोट' कहा गया है । तपोलक्षण क्रियामय प्राण अक्षर की विकासभूमि है जो शब्दपरिभाषा में 'स्वर' कहलाता है । यही सृष्टि का निमित्तकारण बनता है । एवं श्रमात्मक अर्थमय वाक्तत्त्व क्षर की विकासभूमि है, जो विज्ञानभाषा में 'आरम्भण एव' शब्दपरिभाषा में 'वर्ण' कहलाता है यही सृष्टि का उपादानकारण बनता है । आलम्बन, निमित्त, उपादान इन तीन कारणों के एकत्र समन्वय से ही सृष्टि कार्य्य का विकास हुआ है । इसी आधार पर तार्किकों का 'कारणसमुदायस्यैव कार्य्यं प्रति कारणत्वम्'—'(न तु कारणस्य)' यह सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है । उत्पन्न कार्य्यरूप वस्तु के स्वरूपविश्लेषण से भी हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है । प्रत्येक पदार्थ में पदार्थ का 'रूप' पदार्थ का 'कर्म्म' पदार्थ का 'नाम' इन तीन विभागों का समन्वय उपलब्ध होता है । रूप-कर्म्म-नाम, तीनों पदार्थ के मर्त्यभाव हैं । 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' के अनुसार नामपर्व वागात्मक वाक्तत्त्व पर प्रतिष्ठित है कर्म्मपर्व प्राणात्मक प्राणतत्त्व पर प्रतिष्ठित है, एवं रूपपर्व अव्ययात्मक मनःपर्व पर प्रतिष्ठित है । मन-प्राण-वागाधारेण प्रतिष्ठित रूप-कर्म्म-नाम की समष्टि ही पदार्थ का पदार्थत्व है । इस विश्लेषण से हमें यह मान लेना पड़ेगा कि केवल प्राणतत्त्व ही सृष्टि का मूल नहीं है अपितु इच्छात्मक मन श्रमात्मिका वाक्, दोनों से युक्त तपोलक्षण प्राण ही सृष्टि का मूल है । इसी लिए श्रुति को 'इच्छया-श्रमेण-तपसा' कहना पड़ा है । इच्छया-मन सम्बन्ध का सूचक है श्रमेण वाक्सम्बन्ध का सूचक है एवं तपसा स्वयं प्राण के सम्बन्ध का सूचक बन रहा है । यदि ऐसा है तो फिर श्रुति ने 'असत्' का अर्थ केवल प्राण ही क्यों किया ? तब तो श्रुति को 'किं तदसदासीत्' प्रश्न के उत्तर में कहना चाहिए था । 'मन आसीत्, प्राण आसीत्, वाक् आसीत्' । इस प्रश्न का भी निराकरण कर लीजिए ।

७२—अधिप्राण की सर्वात्मकता—

अव्ययप्रधान, इच्छारूपकिमन ज्ञानमय मन सृष्टिकर्म्म में आलम्बनरूप से अपेक्षित अवश्य है, परन्तु अपने स्वाभाविक ज्ञानप्राधान्य के कारण यह 'कर्म्म' मर्य्यादा से असंश्लिष्ट रहता हुआ गतिशून्य है ।

* 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्—मृत्तिकेत्येव सत्यम्' ( )।

एकमेव अक्षरात्मक अमृतशक्तिघन, अर्थमय वाक्तत्त्व ही यद्यपि सृष्टि का उपादान बनता है। परन्तु अपने स्वाभाविक स्थितिधर्म्म से यह जड़ है, गतिशून्य है। सृष्टिकर्म्म कर्म्म है, क्रियामय है, क्रियाप्रधान है, व्यापारसापेक्ष है। यह धर्म्म एकमात्र अक्षरात्मक, तपःशक्तिघन क्रियामय प्राणतत्त्व का ही है। प्राण ही गतिधर्म्मा है। इसके अग्रगामी बनने पर मन की इच्छा और वाक् का श्रम सृष्टिकर्म्म में सफल होता है। यहीं देख लीजिए न। आप केवल बड़ी बड़ी इच्छाएँ करते रहें, किसी कर्म्म की सिद्धि नहीं होगी। आपके सन्निकट श्रमात्मक शरीर भी है, श्रमात्मक अन्य द्रव्यादि भौतिक वाक् साधन भी हैं। परन्तु जब तक आप प्राणव्यापार (चेष्टा) को अग्रगामी न बना लेंगे तब तक आपकी इच्छा, आपका श्रम कभी सफल न होगा। इसी से एक तत्त्व और निकल आया। कितने एक मनुष्य हाथ-पैर हिलाते या प्रतीत होते हैं। परन्तु देखते हैं फिर भी उनका कर्म्म सर्वात्मना सफल नहीं होता। कारण यही है कि उन्होंने इच्छा भी की, शरीरानुगत श्रम भी किया परन्तु प्राणव्यापारलक्षण तप को उन्होंने गौण बना डाला। प्राणव्यापार-लक्षण तप का इच्छा और श्रमने ग्रास कर लिया। अतएव इनका कर्म्म सफल न हो सका। यही वर्तमान प्रगतियों का हाल है। हमें अपने यच्चयावत् आयोजनों में सफलता क्यों नहीं मिलती? जब कि हम इच्छा करते हैं, परिश्रम करते हैं, चेष्टा भी करते हैं?। उत्तर है—तप का अभाव, प्राणव्यापार की शिथिलता। प्राणव्यापारात्मक 'तप' का ऋषियों ने लक्षण किया है—'यदन्ते तप इत्याहुर्येषु स्वं ददाति'। बड़ा महत्त्वपूर्ण लक्षण है। 'जिसे ही वैज्ञानिक 'तप' कहते हैं जिसमें कर्म्मानुगामी स्वयं अपने आपका दान कर देता है' यही लक्षणवाक्य का तात्पर्य है। यही तप गीतापरिभाषा में 'अनभिसन्धि' कहलाता है। अपनी आभ्यन्तर शक्तियों का सर्वस्व दान ही तप है, यही आत्मसमर्पण है। यही वास्तविक प्राणव्यापार है, यही कर्म्म साफल्य का मूलाधार है। यदि हमारी स्वदान के स्थान में 'परदान' की ओर प्रवृत्ति है, यदि हम अपने प्राण को ध्यानशिला पर रख कर उपांश्वन्तर्याम द्वारा उसे संघर्ष में नहीं डाल सकते तो स्वप्न में भी हमारे परपदार्थ-ग्रासात्मक ये वर्तमान निस्तत्त्व आयोजन कभी श्रेयःप्राप्ति का कारण नहीं बन सकते। निवेदन प्रकृत में यही करना है कि मनः-प्राण-वाक्—तीनों में मन भी स्वतः निष्क्रिय है, वाक् भी स्वतः निष्क्रिया है। सक्रिय है एकमात्र अक्षरात्मक वह प्राणतत्त्व, जो ज्ञानमय मन और अर्थमयी वाक् दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित रहता हुआ उस ओर के मनोमय ज्ञान से ज्ञानमय, इस ओर के वाङ्मय अर्थ से अर्थमय एवं स्वानुगता प्राणमयी क्रिया से युक्त रहता हुआ ज्ञान-क्रियार्थमय बन कर सर्वात्मक बनता हुआ सृष्टिकर्म्म में समर्थ हो जाता है। प्राण ही 'मातरिश्वा (गतिधर्म्मा)' है। इसके गमन से ही इच्छात्मक मन श्रमात्मिका वाक् दोनों उन्मुख बनते हैं। एकमात्र प्राण के इसी गतिधर्म्म से श्रुति ने अक्षरात्मक प्राण को ही प्रधानरूप से सृष्टिकर्म्म का प्रवर्तक माना है, जैसाकि निम्न लिखित उपनिषच्छ्रुति से भी प्रमाणित है—

> यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
> तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य! भावाः प्रजायन्ते, तत्र चैवापियन्ति॥

स्वयं गीताशास्त्र भी इसी मौलिक सिद्धान्त का अनुगमन कर रहा है। अव्ययतत्त्व पुरुष है। अक्षरतत्त्व अव्यक्तप्रकृति नाम की 'पराप्रकृति' है। एवं क्षरतत्त्व व्यक्तप्रकृति नाम की 'अपराप्रकृति' है। पुरुष मनोमय है, पराप्रकृति (अव्यक्ताक्षर) प्राणमयी है, अपराप्रकृति (व्यक्तक्षर) वाङ्मयी है। 'अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे' गीतावचन श्रुति के—'अक्षरात् सोम्य! भावाः प्रजायन्ते' से समन्वित है। एवं—'रात्र्यागमे

७३–सप्तर्षिलक्षण ऋषिप्राण का परिचय—

विविधरूपों से युक्त उक्त प्राणलक्षण, असत् नामक ऋषितत्त्व का 'सप्तर्षि' नामक विशेष विभाग (जाति) ही सृष्टि का मूल बनता है। 'चत्वार आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छं प्रतिष्ठा' रूप से इन सहचर (साथ रहने वाले) सात प्राणों का ४–२–१ इस क्रम से सन्निवेश हुआ है, जिसका हम अपनी शरीरसंस्था में प्रत्यक्ष कर सकते हैं। कण्ठारम्भ से आरम्भ कर मूलारम्भपर्य्यन्त वितत शरीरयष्टि के चार समविभाग कर डालिए। इनमें चार प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं। इस प्राणचतुष्टयी के आधार पर ही पक्ष–पुच्छप्राण प्रतिष्ठित रहते हैं अतएव छन्दोपेक्षया इस प्राणचतुष्टयी को आत्मा नाम से व्यवहृत कर दिया गया है। दक्षिण हस्तपाद दक्षिण पक्ष है, वाम हस्तपाद वाम पक्ष है मेरुदण्ड की अन्तिम अधःसीमारूप त्रिकास्थि पुच्छ है तत्र प्रतिष्ठित प्राण इसलिए 'प्रतिष्ठा' (पुच्छं प्रतिष्ठा) कहलाता है कि, जब तक अध्यात्मसंस्था में त्रिकास्थिगतप्राण स्वस्वरूप से विकसित रहता है, तभी तक इसके आधार पर शरीरयष्टि तनी रहती है। (वृद्धावस्था में) इस प्राण के मूर्च्छित हो जाने पर कमर झुक जाती है। इस प्रकार शिरोभाग को छोड़ कर मध्याङ्ग (धड़) हस्तपाद, त्रिकास्थि, इन तीनों स्थानों में क्रमशः आत्मप्राणचतुष्टयी पक्षप्राणद्वयी, पुच्छप्राण ये सात प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं। सातों प्राण अव्ययमनस्त्वेन अमृतात्मक हैं, एवं वाक्त्वेन मर्त्य हैं। इन सातों का अमृतरस ही 'श्री' नामक प्राण कहलाता है। यह श्रीप्राण शिरोभाग में प्रतिष्ठित रहता है। अतएव तन्त्रपरिभाषा में बलि पशु का शिरोभाग 'श्री' कहलाता है। तात्पर्य्य–ऋषिप्राण की 'सप्तर्षि' जाति ही 'सप्तपुरुषपुरुषात्मक पुरुष-प्रजापति' कहलाता है। यही सृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथभाष्य में द्रष्टव्य है।

सप्तर्षिलक्षण प्रजापति सर्वप्रथम मनोलक्षण आलम्बन के आधार पर अपने वाग्गर्भित प्राणभाग से तत्त्वात्मक वेद का प्रवर्त्तक बनता है जो वेदतत्त्व ऋक्–साम से अनुगृहीत रहता हुआ 'यजुः' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। यत् प्राणात्मक ऋषि है 'जू' वाक्तत्त्व है। वाक्–प्राण की समष्टि ही 'यजुः' है। स्थितिप्राकृतिक वागावस्था 'जू है'। गतिप्राकृतिक प्राणभाग 'यत्' है। मन के आधार पर प्रतिष्ठित 'यत्' नामक ऋषिप्राण के गत्यात्मक व्यापार से 'जू' नामक वाक्तत्त्व के उपादानद्वारा आगे की पारमेष्ठ्यादि सृष्टियों की प्रवृत्ति हुई है। इसप्रकार सम्पूर्ण विश्व उक्त प्राणात्मक ऋषि के व्यापार से ही उत्पन्न हुआ है। प्राणात्मक ऋषि वेद की पूर्वावस्था है, स्वयं तत्त्ववेद ऋषिप्राण की उत्तरावस्था है। अतएव 'ऋषिर्वेदमन्त्रः' इत्यादिरूप से ऋषि, और वेद का तादात्म्य मान लिया गया है। इस ऋषितत्त्व को ही हमने अव्यक्त 'प्रकृति' कहा है। इसी आधार सांख्य ने प्रकृति को ही विश्वकर्मा मान लिया है। प्रकृति से वेद के द्वारा समुत्पन्न विश्व, एवं विश्वप्रजा वर्ण–आश्रमभेद से दो भागों में विभक्त रहती है जिसका 'गीता भू 'ख' विभागान्तर्गत 'वर्णाश्रमव्यवस्था-विज्ञान' में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। प्रकृति (ऋषिप्राण) अपने त्रिगुणभाव से आगे जाकर विभिन्नधर्म्मानुगता बन जाती है। विभिन्न धर्म्मानुगता प्रकृति से समुत्पन्न वर्णों में भी प्रकृत्यनुसार ही धर्म्म (प्रकृति–स्वभाव–स्वधर्म्म) विभक्त हुआ है। स्वयम्भू मनु नामक प्राणतत्त्व (अव्यक्तप्रकृति) से समुत्पन्न विश्व एवं उसके प्राकृतिक नियतिलक्षण धर्म्म का ही नाम 'आर्षधर्म्म' है। ऋषिप्राण क्योंकि इस धर्म्मप्रवृत्ति की मूलप्रतिष्ठा है अतएव वर्ण–आश्रमात्मक यह प्राकृतिक धर्म्म 'आर्षधर्म्म' कहलाया है। ऋषिप्राण ही स्वयम्भू मनु है, अतएव तन्मूलक इस प्राकृतिक धर्म्म को 'मानवधर्म्म' भी कहा जा सकता है। प्रकृति (प्रजापत्यात्मक-प्राण)–'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि' के अनुसार नित्य है, सनातन है, अतएव लोकव्यवहार

प्रतीपस्ते तन्त्रवाग्भवक्रसंज्ञके' गौतावर श्रुति के–'तत्र चेतापिपश्चि' से समनुमित हैं। अतएव–'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति ने 'इच्छन्त–श्रमेण–तपसा' द्वारा सृष्टिकर्म्म में मनः–प्राण–वाक्–तीनों का सहयोग स्वीकार करते हुए भी 'ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्–प्राणा वा ऋषयः–ते यत्पुरा–तस्माद् ऋषयः' यह कह कर गतिकर्म्मा प्राणात्मक, अव्यक्त प्राणतत्त्व को ही सृष्टिकर्म्म का प्रथम प्रवर्त्तक माना है। गतिधर्म्म से ही यह प्रथमपुनी तपोमूर्ति प्राणतत्त्व 'ऋषि' कहलाया है।

प्राणतत्त्वरूप इस गतिकर्म्मा ऋषितत्त्व के 'सप्तर्षि'–'पञ्चर्षि'–'द्वयर्षि'–'एकर्षि' आदि अनेक विवर्त हैं। इनके भी आगे जाकर असंख्य विवर्त हो जाते हैं। इन असंख्य आधिदैविक ऋषिप्राणों के आधार पर आगे जाकर पितृप्राण देवप्राण असुरप्राण गन्धर्वप्राण पशुप्राण मानवप्राण आदि आदि अनेक विवर्त हो जाते हैं। इसप्रकार यह ऋषिप्राण विविधरूपात्मक बनता हुआ असंख्य, अतएव अनादि अनन्तादि साधारण व्यक्तियों के लिए अचिन्त्य–अविज्ञेय ही बना रहता है। गम्भीरमूल इन ऋषियों का परिज्ञान ऋषिदृष्टि पर ही अवलम्बित है जिससे मनुष्यदृष्टि सर्वथा वञ्चित रहती है। ऋषितत्त्व के इसी वैविध्य को लक्ष्य बना कर ऋषि तत्त्वज्ञानपूर्वक श्रुति ने कहा है—

> विरूपास इदृषयः, त इद् गम्भीरवेपसः।
> ते अग्नेः परिजज्ञिरे, तेऽङ्गिरसः सूनवः॥
>
> —ऋक्सं०

मनोमय अव्यय 'शाश्वतधर्म्म' नामक परात्पर से अविनाभूत रहता हुआ 'शाश्वतब्रह्म' है। प्राणमय अक्षरतत्त्व इन्द्र है। वाङ्मय क्षरतत्त्व सोमगर्भित अग्नि है। अव्यय, अक्षर, क्षर–समष्टि षोडशीप्रजापति है। अव्यय प्राणमय अक्षर, किंवा अक्षरात्मक प्राणतत्त्व ही 'योऽयं मध्यतस्तम्' निर्वचन से इन्द्र है यही अव्यक्त स्वयम्भू नामक 'मनु' है। इसप्रकार मनोमय अव्यय तथा वाङ्मय क्षर, दोनों से नित्य अविनाभूत, अतएव मनःप्राणवाङ्मय अव्यक्तप्राणमय स्वयम्भू को ही सृष्टि का प्रवर्त्तक माना गया है। इसी अव्यक्तात्मक रूप को लक्ष्य बना कर ही भगवान् मनु ने कहा है—

> १—ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
> महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥
>
> —मनु १।६–७।
>
> २—योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
> सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥
>
> ३—एतमेके वदन्त्यग्निं, मनुमन्ये, प्रजापतिम्।
> इन्द्रमेके, परे प्राण–मपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥
>
> ४—एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः।
> जन्म–वृद्धि–क्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत्॥
>
> मनु १२।१२३–१२४।

भाषा में यही धर्म्म 'सनातनधर्म्म' नाम से सुप्रसिद्ध हुआ है। ऋषिप्राण से कैसे विश्व उत्पन्न हुआ है?, उत्पन्न विश्व के प्राकृतिक धर्म्मों का क्या स्वरूप है?, कारणभूत ऋषिप्राण के साथ कार्य्यभूत विश्वधर्म्म का क्या सम्बन्ध है?, इत्यादि प्रश्नों का समाधान करने वाली कार्य्य-कारण-विज्ञानात्मिका ऋषिप्राणानुगता ऋषिविद्या (प्राणविद्या-वेदविद्या) ही 'आर्षविद्या' है, तदनुगत प्राकृतिक वर्णाश्रमधर्म्म ही वैदिक कर्म्मयोग है, जिसका ज्योतिरूप गीतापरिभाषानुसार 'धर्म्मबुद्धियोग' नाम से व्यवहृत हुआ है।

७४—ऋषिप्राणात्मिका आर्षविद्या—

'आर्षविद्या' शब्द का अर्थ है—'ऋषि की विद्या'। यह ऋषिविद्या 'तत्त्वात्मिका शब्दात्मिका', भेद से दो भागों में विभक्त है। तत्त्वात्मिका आर्षविद्या ईश्वरीय विद्या है, शब्दात्मिका आर्षविद्या मानव-ऋषि विद्या है। मानव-ऋषिविद्या से ही तत्त्वात्मिका आर्षविद्या का बोध होता है। ईश्वरीय आर्षविद्या वाच्य है, मानव-ऋषिविद्यात्मिका आर्षविद्या वाचक है। यह शब्दब्रह्मविद्या है, वह अर्थब्रह्मविद्या है। अर्थब्रह्मविद्या के मूल प्राणविध ऋषि हैं, शब्दब्रह्मविद्या के मूलप्रवर्त्तक प्राणीविध मनुष्य-ऋषि हैं। मानव-ऋषिवंश में परम्परया प्रतिष्ठित यही आर्षविद्या 'वेदविद्या' कहलाई है जिसमें प्रतिपादित प्राकृतिक कर्म्म 'विद्यासमुचित प्रवृत्त कर्म्म' कहलाया है, एवं जिसके यज्ञकर्म्म, तपःकर्म्म, दानकर्म्म ये तीन अवान्तर मुख्य पर्व माने गए हैं। तात्पर्य्य इस विश्लेषण का यही है कि, अतीतानागतज्ञ, विविक्तवेदितव्य अधिगतयाथातथ्य भारतीय महर्षियों ने चिरकाल के तपोयोग से (प्राणव्यापार से) प्रादुर्भूता अतीतानागतपरिज्ञानमूला योगजदृष्टि (ऋषिदृष्टि, आर्षदृष्टि) से प्रकृति के प्राणात्मक ऋषितत्त्वों का साक्षात्कार किया। जिन तत्त्ववेत्ता मानवों ने जिस प्राणात्मक ऋषि, का एवं तदनुगत विश्वकर्म्म का सर्वप्रथम साक्षात्कार किया, वह मानव, एवं उस मानव के वंश में समुत्पन्न तत्प्राणपरीक्षक वंशज उस प्राणऋषि के नाम से ही प्रसिद्ध हुए। सर्वमूलभूत अव्यक्त स्वयम्भू प्राण के परीक्षक 'स्वयम्भू मनु' कहलाए। इसीप्रकार वसिष्ठ, कश्यप, विश्वामित्र, अङ्गिरा, भृगु, अत्रि, दक्ष, रुद्र, आदि आदि प्राणों के प्रथमद्रष्टा तत्त्ववेत्ता तत्तत् वसिष्ठादि नामों से ही प्रसिद्ध हुए, जो नाम इन मानव ऋषियों के 'यशोनाम' माने गए हैं। स्वयम्भू मनु इस ऋषिविद्या के मूलप्रवर्त्तक माने गए। क्योंकि प्रकृति में अव्यक्त स्वयम्भू ही ऋषिविद्या का मूल है। स्वयम्भू मनु से आरम्भ कर आगे की मानव ऋषिपरम्परा में ही ऋषिप्राणात्मिका इस आर्षविद्या का प्रधानरूप से परम्परया प्रचार रहा। अतएव मानवधर्म्मशास्त्रात्मिका यह ऋषिविद्या, 'आर्षविद्या' नाम से प्रसिद्ध हुई।

७५—मानवऋषिवंशानुगता आर्षविद्या—

पूर्व के 'विद्यास्वरूपपरिचय' नामक परिच्छेद में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, निगमागमविद्या परविद्या है, अपराविद्या है। त्रिगुणात्मिका योगमाया के सम्बन्ध से यह अपराविद्या-(वेदविद्या, वेदोक्तकर्म्मकाण्ड) त्रिगुणभावापन्ना है, जैसा कि—'त्रैगुण्यविषया वेदा' इत्यादि भगवद्वचन से प्रमाणित है। सम्पूर्ण विश्व विश्वप्रजा, एवं विश्वप्रजा के प्राकृतिक कर्म्म त्रिगुणात्मिका प्रकृतिमूलक बनते हुए त्रिगुण-

साधारण है। सर्वत्र त्रिगुणभाव का साम्राज्य है *। इसी त्रिगुणभाव के कारण धर्म्म-अक्षरमूलक भी वे विषयकाम (वैदिक यज्ञविधान) तदनुगत बने हुए हैं। त्रिगुणभावापन्न ऐसे प्रवृत्ति-लक्षण वैदिक कर्म्म व्यक्ति-स्वार्थ के परिपोषक बनते हुए आसक्तिमूलक हैं। अतएव एवंविध कर्म्मयोग बन्धन का प्रवर्तक बनता हुआ त्याज्य है। भूपिष्ठ में परम्परया प्रचलित आर्षविद्यानुगत कर्म्मयोग प्रवृत्तिप्रधान ही बना हुआ था।

आज भी तो वेदधर्म्म प्रतिपादक ब्राह्मणग्रन्थों में— 'अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिरूप से कामनानुगत त्रिगुणभाव का ही प्राधान्य उपलब्ध हो रहा है। तभी तो भगवान् ने स्वयं वेद को ही त्रिगुणात्मक बतलाया है। क्या भगवान् वेदशास्त्र एवं तन्मूलक स्मार्त्तविधानरूप कर्म्मयोग के विरोधी हैं ? । नहीं, सर्वथा नहीं। 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ' — 'यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत्' इत्यादिरूप से वेदशास्त्र एवं तन्मूलक मानवधर्म्मशास्त्र को कर्त्तव्य-कर्म्म निर्णायक माननेवाले यज्ञादि कर्म्मों की अवश्य-कर्त्तव्यता का समर्थन करने वाले पदे पदे शास्त्रानुगत वर्णाश्रममूलक नियत स्वधर्म्मपालन के लिए प्रेरित करने वाले सर्वोपरि गीतोपदेश के मुख्य पात्र अर्जुन को क्षत्रियवर्णोचित शास्त्रीय युद्धकर्म्म' में प्रवृत्त करने वाले भगवान् वेदशास्त्र एवं तन्मूलविनिहित कर्म्मयोग को त्याज्य ठहराते होंगे यह कल्पना भी अनुचित है। भगवान् का विरोध केवल आसक्ति से है फलतृष्णा कामनाकाङ्क्षा से है। क्योंकि यह त्रिगुणात्मिका है। भगवान् केवल त्रिगुणभाव का विरोध कर रहे हैं। इसीलिए तो—'त्रैगुण्यविषया वेदा' के अनन्तर ही भगवान् ने—'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' रूप से अपने मन्तव्य का स्पष्टीकरण कर दिया है। यह बतलाया जा चुका है कि, ईश्वरकामना तदनुगत कर्म्म तज्जनित फल फलासक्ति, चारों में से फलासक्ति ही बन्धन का कारण है। फलासक्ति का मूल जीवकामना है—जीवस्वरूप योगमायानुगत है, योगमाया त्रिगुणात्मिका है। इसके परिणाम से जीव ईश्वरानुगत बनता हुआ त्रिगुणातीता स्थिति में परिणत हो जाता है। और उस दशा में पहुँचने पर इसका कर्म्म आसक्तिजनक के स्थान में आसक्तिनिवर्तक बन जाता है। अतएव इसे 'नियतकर्म्म' कहा गया है। प्रवृत्तकर्म्म भी प्राकृतिक बनता हुआ 'धर्म्म' कहलाता है। परन्तु यह कर्म्म आगे जाकर फलासक्तिरूप में परिणत होता हुआ आत्मावरक बन कर 'अधर्म्म' रूप में परिणत हो जाता है। आर्षधर्म्ममार्ग तद्भाव से अन्यथात्वा अधर्म्म बन जाता है। अतएव भगवान् ने इस आर्षसम्प्रदायानुगत कर्म्मयोग में यह संशोधन आवश्यक माना है कि तुम कर्म्म अवश्य करो, परन्तु अपनी (जीव की) कामना को प्रधान न बना कर उसे ईश्वरार्पित कर दो। इससे तुम्हारा कर्म्ममार्ग भी सुरक्षित रहेगा कर्म्मफल भी यथावसर उत्पन्न हो जायगा उसका तुम उपभोग भी कर लोगे साथ ही बन्धन से भी बचे रहोगे। यही आर्षविद्यानुगत गीतोक्त 'परमबुद्धियोग' है जिसे हम 'संशोधित कर्म्मयोग' कह सकते हैं। इसका प्रचलन ब्राह्मणवर्ग में ही प्रचार रहा है। इसीलिए आज भी तो ब्राह्मण के लिए लोक में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि—'अमुक ब्राह्मण बड़ा कर्म्मठ है' कर्म्म-धर्म्म ही तो ब्राह्मण का स्वरूप है।

---

* न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥
गी १८।४ ।

७६–वर्णाश्रमव्यवस्थानुगता आर्षविद्या—

वर्णाश्रम–व्यवस्थानुगत, वेदशास्त्रसिद्ध कर्मकलाप ही कर्मयोग है। यही धर्म्म है। तन्मूला वेदविद्या ही आर्षविद्या है। कामभावात्मक यही कर्मयोग त्रिगुणात्मक बनता हुआ सकाम बन्धन है। निष्कामभावात्मक यही कर्मयोग त्रिगुणातीत बनता हुआ 'धर्म्म बुद्धियोग' है। लोकप्रचलिता योगनिष्ठा (कर्म्मयोग) और भगवत् सम्मता योगनिष्ठा (धर्म्म बुद्धियोग) में यही महान् अन्तर है। यही गीता का निष्कामकर्म्मयोग है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा है–वेदशास्त्र एवं तन्मूलिका वर्णाश्रमव्यवस्था। त्रिगुणभाव के परित्याग से दृष्टि 'सम' हो जाती है अतएव ऐसा कर्म्म योग 'समत्वयोग' बन जाता है। समदर्शनानुगत, अतएव आत्मनि-अपक्षपात के साथ ही प्रकृतिभेदभिन्न विविध वर्णानुगत विभिन्न व्यवहारानुगत अतएव लोकाभ्युदयप्रवर्त्तक, शास्त्रसिद्ध ऐसा समत्वयोग ही गीता का 'साम्यवाद' है यही निष्कामकर्म्मयोग है, जिसका स्वरूप न जान कर केवल अपनी विशुद्ध कल्पना के आधार पर कल्पित वर्णाश्रमविरोधी, त्रिगुणाभावापन्न, उच्छृङ्खल, विषमदर्शनानुगत–समव्यवहारात्मक प्रतीच्य साम्यवाद के साथ हमारे वर्त्तमान राष्ट्रीय गीताभक्त समतुलन करने का अक्षम्य अपराध करते हुए 'अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः ... परियन्ति मूढाः, अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' को सर्वात्मना चरितार्थ बना रहे हैं।

७७–प्राचीनाभिमता कर्म्मयोगनिष्ठा—

सांख्यनिष्ठा त्यागमूला है, योगनिष्ठा संग्रहमूला है। सांख्यनिष्ठा प्राचीनाभिमत ज्ञानयोग है, इसमें कर्म्म का परित्याग है। योगनिष्ठा प्राचीनाभिमत कर्म्मयोग है इसमें कामना का संग्रह है। और इस दृष्टि से दोनों लोकनिष्ठाएँ बुद्धियोगसम्पत् से वञ्चित रहती हुई पृथक्–पृथक् बन रही हैं। भगवान् ने योगात्मिका कर्म्मनिष्ठा के सम्बन्ध में यही आदेश दिया कि, तुम केवल इसे ही (कर्म्मयोग को ही) उभयनिष्ठात्मक बना डालो। यह तभी सम्भव है जबकि तुम अपने कर्म्म योग में त्याग और संग्रह दोनों का समन्वय कर लोगे। त्याग करो कामना का (जिसका तात्पर्य्य है–फलेच्छा का परित्याग), संग्रह करो ईश्वरानुगत प्राकृतिक कर्म्म का। काम-त्याग से तुम्हारी यही कर्म्म योगनिष्ठा ज्ञानयोगनिष्ठा बनती हुई आत्मविकासप्रवर्त्तिका बन कर निःश्रेयस-(मुक्ति)-साधिका बन जायगी, एवं यही कर्म्म योगनिष्ठा कर्म्म संग्रह से कर्म्म योगनिष्ठा बनती हुई लोकसंग्रहप्रवर्त्तिका बन कर अभ्युदय–(भुक्ति)–साधिका बन जायगी। इसप्रकार उभयात्मिका ऐसी योगनिष्ठा (कर्म्म योग–धर्म्म बुद्धियोग) से तुम्हारे ऐहिक–आमुष्मिक दोनों पुरुषार्थ सिद्ध हो जायेंगे।

७८–भगवत्सम्मता धर्म्मबुद्धियोगनिष्ठा —

ठीक इसके विपरीत, यदि तुमने अपने शास्त्रीय कर्म्म योग को फलेच्छानुगत बनाते हुए केवल संग्रह का अनुगमन किया तो, ऐसा कामनामय कर्म्म तुम्हारी लौकिकस्थिति का संरक्षक बनता हुआ भी तुम्हें तुम्हारे परमपुरुषार्थलक्षण आमुष्मिक आत्मनिःश्रेयस से वञ्चित रख देगा। और तुम–स्वर्ग–सुख भोगने पर भी—'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' के अनुसार–'जायस्व म्रियस्व' इस दुःखमय–अशान्त–भवभय–चक्र से अपना ... न कर सकोगे। 'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' के अनुसार कामत्याग से तुम्हारी ...निष्ठा 'सांख्यनिष्ठा' बनती हुई मुक्तिप्रदात्री बन जायगी, यही योगनिष्ठा कर्म्म संग्रह से 'योगनिष्ठा' ... भुक्तिप्रदात्री बन जायगी। और इसप्रकार इस संयोजित–'धर्म्म बुद्धियोग' लक्षण उभयनिष्ठात्मक,

भावापन्न हैं। सर्वत्र त्रिगुणभाव का साम्राज्य है *। इसी त्रिगुणभाव के कारण आम्नाय-आगममूलक भी ये विश्वकर्म्म (वैदिक प्रवृत्तिकर्म्म) त्रयानुगत बने हुए हैं। त्रिगुणभावापन्न ऐसे प्रवृत्ति-लक्षण वैदिक कर्म व्यक्ति-स्वार्थ के परिपोषक बनते हुए आसक्तिजनक हैं। अतएव पर्य्यवसित कर्म्मयोग बन्धन का प्रवर्त्तक बनता हुआ त्याज्य है। भूपिण्ड में परम्परया प्रचलित आर्षविद्यानुगत कर्म्मयोग प्रवृत्तिप्रधान ही बना हुआ था।

आज भी तो यज्ञकर्म्म प्रतिपादक ब्राह्मणग्रन्थों में— 'अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिरूप से कामनानुगत त्रिगुणभाव का ही प्राधान्य उपलब्ध हो रहा है। तभी तो भगवान् ने स्वयं वेद को ही त्रिगुणात्मक बतलाया है। क्या भगवान् वेदशास्त्र एवं तत्सिद्ध यज्ञादिलक्षण कर्म्मयोग के विरोधी हैं ?। नहीं, सर्वथा नहीं। 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ'–'यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत्' इत्यादिरूप से वेदशास्त्र, एवं तन्मूलक मानवधर्म्मशास्त्र को कर्त्तव्य-कर्म्म निर्णायक माननेवाले यज्ञादि कर्म्मों की अवश्य-कर्त्तव्यता का समर्थन करने वाले पदे पदे शास्त्रानुगत वर्णधर्म्ममूलक विशुद्ध स्वधर्म्म पालन के लिए प्रेरित करने वाले सर्वोपरि गीताशास्त्र के मुख्य पात्र अर्जुन को क्षत्रियवर्णोचित, शास्त्रीय युद्धकर्म्म में प्रवृत्त करने वाले भगवान् वेदशास्त्र, एवं तत्प्रतिपादित कर्म्मयोग को त्याज्य ठहराते होंगे यह कल्पना भी अनुचित है। भगवान् का विरोध केवल आसक्ति से है जीवानुगता स्वात्म्याकांक्षा से है। क्योंकि यह त्रिगुणात्मिका है। भगवान् केवल त्रिगुणभाव का विरोध कर रहे हैं। इसीलिए तो–'त्रैगुण्यविषया वेदाः' के अनन्तर ही भगवान् ने–'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' रूप से अपने मन्तव्य का स्पष्टीकरण कर दिया है। यह बतलाया जा चुका है कि ईश्वरकामना तदनुगत कर्म्म तज्जनित फल फलासक्ति, चारों में से फलासक्ति ही बन्धन का कारण है। फलासक्ति का मूल जीवकामना है —जीवस्वरूप योगमायानुगत है, योगमाया त्रिगुणात्मिका है। इसके परित्याग से जीव ईश्वरानुगत बनता हुआ त्रिगुणातीता स्थिति में परिणत हो जाता है। और उस दशा में पहुँचने पर इसका कर्म्म आसक्तिजनक के स्थान में आसक्तिनिवर्त्तक बन जाता है। अतएव इसे 'निवृत्तकर्म्म' कहा गया है। प्रवृत्तकर्म्म भी प्राकृतिक बनता हुआ 'धर्म्म' अवश्य है। परन्तु यह धर्म्म आगे चलकर फलासक्तिरूप में परिणत होता हुआ आत्मावरक बन कर 'अधर्म्म' रूप में परिणत हो जाता है। आर्षधर्म्ममार्ग त्रिगुणभाव से अन्ततोगत्वा अधर्म्म बन जाता है। अतएव भगवान ने इस श्रुति-सम्प्रदायानुगत कर्म्मयोग में यह संशोधन आवश्यक माना है कि, तुम कर्म्म अवश्य करो, परन्तु अपनी (जीव की) कामना को प्रधान न बना कर उसे ईश्वरार्पित कर दो। इससे तुम्हारा कर्म्ममार्ग भी सुरक्षित रहेगा कर्म्मफल भी यथावसर उत्पन्न हो जायगा उसका तुम उपयोग भी कर लोगे साथ ही बन्धन से भी बचे रहोगे। यही आर्षविद्यानुगत गीतोक्त 'परमबुद्धियोग' है जिसे हम 'संशोधित कर्म्मयोग' कह सकते हैं। इसका प्रधानतः भारतवर्ष में ही प्रचार रहा है। इसीलिए आज भी तो भारत के लिए लोक में यह किम्वदन्ती प्रचलित है कि–'अमुक भारत बड़ा कर्म्मठ है' कर्म्म-धर्म्म ही तो भारत का स्वरूप है।

---

* न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्-त्रिभिर्गुणैः ॥
गी० १८।४० ।

७६–वर्णाश्रमव्यवस्थानुगता आर्षविद्या —

वर्णाश्रम-व्यवस्थानुगत, वेदशास्त्रसिद्ध कर्म्मकाण्ड ही कर्म्मयोग है। यही धर्म्म है। तन्मूला वेदविद्या ही आर्षविद्या है। कामनात्मक यही कर्म्मयोग त्रिगुणात्मक बनता हुआ बन्धन है। निष्कामभावात्मक यही कर्म्मयोग त्रिगुणातीत बनता हुआ 'धर्म्म बुद्धियोग' है। लोकप्रचलित योगनिष्ठा (कर्म्म योग) और भगवत् सम्मता योगनिष्ठा (धर्म्म बुद्धियोग) में यही महान् अन्तर है। यही गीता का निष्कामकर्म्मयोग है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा है–वेदशास्त्र एवं तन्मूलिका वर्णाश्रमव्यवस्था। त्रिगुणभाव के परित्याग से दृष्टि 'सम' हो जाती है, अतएव ऐसा कर्म्म योग 'समत्वयोग' बन जाता है। समदर्शनानुगत, अतएव आत्मनि श्रेयःप्रवर्त्तक, साथ ही प्रकृतिभेदभिन्न विभिन्न वर्णानुगत विभिन्न व्यवहारानुगत, अतएव लोकाभ्युदयप्रवर्त्तक, शास्त्रसिद्ध ऐसा समत्वयोग ही गीता का 'साम्यवाद' है यही निष्कामकर्म्म योग है, जिसका स्वरूप न जान कर केवल अपनी विशुद्ध कल्पना के आधार पर निर्मित, वर्णाश्रमविरोधी, त्रिगुणभावापन्न उच्छृङ्खल विषमदर्शनानुगत–समव्यवहारात्मक प्रतीच्य साम्यवाद के साथ हमारे वर्त्तमान राष्ट्रीय गीताभक्त समतुलन करने का अक्षम्य अपराध करते हुए 'दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' को सर्वात्मना चरितार्थ बना रहे हैं।

७७–आर्षीनाभिमता कर्म्मयोगनिष्ठा—

सांख्यनिष्ठा त्यागमूला है, योगनिष्ठा संग्रहमूला है। सांख्यनिष्ठा आर्षीनाभिमत ज्ञानमार्ग है, इसमें कर्म्म का परित्याग है। योगनिष्ठा आर्षीनाभिमत कर्म्मयोग है इसमें कामना का संग्रह है। और इस दृष्टि से दोनों आर्षनिष्ठाएँ बुद्धियोगधर्म्म से वञ्चित रहती हुई पृथक्-पृथक् बन रही हैं। भगवान् ने योगाभिमत कर्म्मनिष्ठा के सम्बन्ध में यही आदेश दिया कि, तुम केवल इसे ही (कर्म्म योग को ही) उभयनिष्ठात्मक बना डालो। यह तभी सम्भव है, जबकि तुम अपने कर्म्म योग में त्याग और संग्रह दोनों का समन्वय कर दोगे। त्याग करो कामना का (जिसका तात्पर्य्य है–फलेच्छा का परित्याग) संग्रह करो वैश्यानुगत प्राकृतिक कर्म्म का। काम त्याग से तुम्हारी यही कर्म्म योगनिष्ठा ज्ञानयोगनिष्ठा बनती हुई आत्मविकासप्रवर्त्तिका बन कर निःश्रेयस-(मुक्ति)-साधिका बन जायगी, एवं यही कर्म्मयोगनिष्ठा कर्म्मसंग्रह से कर्म्म योगनिष्ठा बनती हुई लोकसंग्रहप्रवर्त्तिका बन कर अभ्युदय-(भुक्ति)-साधिका बन जायगी। इसप्रकार उभयात्मिका ऐसी योगनिष्ठा (कर्म्म योग-धर्म्म बुद्धियोग) से तुम्हारे ऐहिक-आमुष्मिक दोनों पुरुषार्थ सिद्ध हो जायँगे।

७८–भगवत्सम्मता धर्म्मबुद्धियोगनिष्ठा —

ठीक इसके विपरीत यदि तुमने अपने शास्त्रीय कर्म्म योग को कामनानुगत बनाते हुए केवल संग्रह का अनुगमन किया तो, ऐसा कामनामय कर्म्म तुम्हारी लोकस्थिति का संरक्षक बनता हुआ भी तुम्हें तुम्हारे परमपुरुषार्थलक्षण आमुष्मिक आत्मनिःश्रेयस से वञ्चित रख देगा। और तुम-स्वर्ग-सुख भोगने पर भी—'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' के अनुसार– आवागमन प्रवाह रूप दुःखमय-अशान्त-भवभय-चक्र से अपना त्राण न कर सकोगे। 'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' के अनुसार कामत्याग से तुम्हारी यही योगनिष्ठा 'सांख्यनिष्ठा' बनती हुई मुक्तिप्रदात्री बन जायगी, यही योगनिष्ठा कर्म्म संग्रह से 'योगनिष्ठा' बनती हुई भुक्तिप्रदात्री बन जायगी। और इसप्रकार इस भगवत्प्रतिपादित–धर्म्म बुद्धियोग' लक्षण, उभयनिष्ठात्मक,

निष्कामकर्म्मयोगात्मक कर्म्मयोग से तुम उन फलों को प्राप्त कर लोगे जिसकी मूलप्रतिष्ठासिद्ध, ब्रह्मकर्म्मनिष्ठा-निष्ठा ही 'आर्षविद्या' कहलाई है।

७९–धर्म्मबुद्धियोगात्मक कर्म्मयोग का समन्वय—

विभिन्न दृष्टियों से आर्षविद्या एवं तदनुगत धर्म्मबुद्धियोग का स्वरूपविश्लेषण किया गया। अब एक अन्य दृष्टि से इसका समन्वय किया जाता है। 'धर्म्म' तत्त्व का स्वरूप-परिचय कराते हुए हमनें यह स्पष्ट किया है कि –'प्रकृतिसिद्ध-प्रकृतिभेदभिन्न-वर्णाश्रमानुगत-विभिन्न-कर्म्म कर्म्म का ही नाम 'धर्म्म' है। इस कर्म्मात्मक धर्म्म तत्त्व के ही आगे जाकर 'विधिधर्म्म' 'कर्म्मात्मकधर्म्म' 'सांस्कारिकधर्म्म' भेद से तीन विभाग हो जाते हैं। 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' (प्रतिदिन सन्ध्या करो) 'अहरहः स्वाध्यायो ऽध्येतव्य' (प्रतिदिन शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए), इत्यादि आदेशनावाक्य जिन आदेशों का विधान कर रहे हैं वे आदेशात्मक विधिवचन ही 'विधिधर्म्म' हैं। मन्वादिशास्त्र इस विधिधर्म्म के सम्बन्ध से ही 'धर्म्मशास्त्र' कहलाए हैं। विधि के साथ साथ इनमें निषिद्ध धर्म्मों (अधर्म्मात्मक धर्म्मों) का भी समावेश हुआ है। 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' (किसी को कष्ट न दो) 'नक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' उगते हुए सूर्य्य को नहीं देखना चाहिए) इत्यादि निषेधों का भी धर्म्मशास्त्र में ही संग्रह हुआ है। कर्म्मात्मक धर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाने के कारण धर्म्म (कर्म्म) प्रतिपादक विधि-निषेध-वाक्यों का संग्रहात्मक शास्त्र 'तात्स्थ्यन्याय' से धर्म्मशास्त्र (धर्म्मप्रतिपादकशास्त्र) कहलाया है जिन शास्त्रात्मक, विधिनिषेध-वाक्यात्मक धर्म्मों को हम 'विधिधर्म्म' कह सकते हैं। शास्त्र ने जैसा करने की आज्ञा दी वैसा हमनें किया। जिसका निषेध किया, वह न किया। इस अनुष्ठेय कर्म्म का नाम ही 'कर्म्मात्मकधर्म्म' है, और यही धर्म्म का वास्तविक स्वरूप है। विधिधर्म्म केवल आदर्शधर्म्म है। जब तक धर्म्म केवल शब्दों में सीमित है तब तक वह धारणमर्य्यादा से बहिष्कृत रहता हुआ हमारा कोई उपकार नहीं कर सकता। आचरण करने पर ही धर्म्म धारणात्मक बनता हुआ हमारी स्वरूपरक्षा करता है। अतएव सनातनधर्म्म 'क्रियात्मकधर्म्म' माना गया है। 'आत्मना धृतः सन् आत्मनः स्वरूपं रक्षति' ही धर्म्म का स्वरूपलक्षण है। विधि निषेध वचनों को (विधिधर्म्म को) हमारा आत्मा धारण नहीं करता। धारण करता है वह विधिप्रतिपादित कर्म्म को। अतः कर्म्म को ही धर्म्म कहना चरितार्थ बनता है। यह विधिधर्म्म जहाँ शब्दशास्त्र में सुरक्षित रहता है वहाँ कर्म्मात्मक वास्तविक धर्म्म धर्म्मी में सुरक्षित रहता है। यही 'कर्म्मात्मकधर्म्म'-नामक दूसरा धर्म्मविभाग है।

८०–ज्ञानकर्म्मात्मिका धर्म्ममीमांसा—

कर्म्मात्मक धर्म्म ज्ञानगर्भित है। अतएव इस कर्म्मात्मक धर्म्म के आगे जाकर ज्ञानप्रधान कर्म्म, कर्म्मप्रधान धर्म्म ये दो विभाग हो जाते हैं। ज्ञानात्मक धर्म्म से जो संस्कार उत्पन्न होता है वह 'भावनाधर्म्म' कहलाया है एवं कर्म्मात्मक धर्म्म से उत्पन्न संस्कार वासनाधर्म्म कहलाया है। हमारे ज्ञानाचरण और कर्म्माचरण से संस्कार उत्पन्न होते रहते हैं। ये उत्पन्न भावना-वासनासंस्कार भी ज्ञानकर्म्मवत् आत्मा के साथ युक्त रहते हुए 'धर्म्म' नाम से ही व्यवहृत हुए हैं। इसी संस्कार-धर्म्म पुञ्ज का नाम विज्ञानभाषा में 'अदृष्ट' है। यही अदृष्टधर्म्म आगे ज्ञानकर्म्मप्रवृत्ति का कारण बनता है। यदि उक्त निर्देशानुसार

है तो आत्मा जीवन्मुक्त बन जाता है। अतएव मानना पड़ेगा कि, जब तक सांस्कारिक धर्म्म है, तभी तक अध्यात्मसंस्था की स्वरूपरक्षा है। इन्हीं से जन्म-कर्म्म-चक्र प्रवाहित रहता है। यही भावनावासना संस्कारात्मक सीमित 'सांस्कारिकधर्म्म' है, जिसे हम कर्म्मात्मकधर्म्म से उत्पन्न 'फल' भी कह सकते हैं।

८१—एकादशेन्द्रियाधिष्ठाता कर्म्मात्मा—

क्या फल बन्धन का कारण है ?' प्रश्न की मीमांसा करते हुए पूर्व में यह बतलाया गया है कि अध्यात्मसंस्था का स्वरूपरक्षक उसका अन्तर्जगत् है एवं भावना-वासनात्मक संस्कारपुञ्ज से ही इस अन्तर्जगत् का निर्म्माण हुआ है। यही सांस्कारिक अन्तर्जगत् ज्ञानकर्म्मजनित फल है जो ईशधर्मानुगत बनता हुआ कभी बन्धन का कारण नहीं बनता। ईश्वरधर्मानुगत संस्कार जहाँ आत्मधर्म्म है, वहाँ यही जीवधर्मानुगत बनता हुआ 'अभिनिवेश' नामक अधर्म्म बन जाता है। यही अभिनिवेश फलासक्तिरूप में परिणत होता हुआ आत्मस्वरूपावरक बन कर आत्मबन्धन का कारण बन जाता है। 'अभिनिवेश का क्या स्वरूप है ?', इस प्रश्न के समाधान के लिए हमें संस्कार का एक विभिन्न दृष्टि से समन्वय करना पड़ेगा।

आत्मा ज्ञान-कर्म्ममय है यह स्पष्ट किया जा चुका है। ज्ञान-कर्म्ममय कर्म्मात्मा जिन इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान-कर्म्मव्यापार के सञ्चालन में समर्थ होता है वे इन्द्रियाँ भी ज्ञानेन्द्रिय कर्म्मेन्द्रिय, भेद से दो मार्गों में ही विभक्त हैं। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वक् ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पाँच कर्म्मेन्द्रियाँ हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ कर्म्मगर्भित ज्ञानप्रधान हैं, कर्म्मेन्द्रियाँ ज्ञानगर्भित कर्म्मप्रधान हैं। ग्यारहवाँ संकल्प-विकल्पात्मक मन उभयात्मक है इसमें ज्ञान-कर्म्म का समानरूप से समन्वय है। तम्भूय दार्शनिक दृष्टिकोण से अध्यात्मसंस्था में ११ इन्द्रियाँ हो जाती हैं जिनका वैदिक वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, इन पाँच इन्द्रियों में अन्तर्भाव माना गया है जिनका 'आत्मस्वरूप-प्रतिपत्ति' नामक परिच्छेद में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। जिसप्रकार अन्य राष्ट्र की प्रजा पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए पहिले वहाँ के राष्ट्रपति पर विजय प्राप्त करना आवश्यक होता है, एवमेव इन्द्रियवर्ग के संयम के लिए पहिले तदधिष्ठाता उभयात्मक मन का संयम अपेक्षित होता है जैसाकि निम्न लिखित मनु-वचन से स्पष्ट है—

> १—एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः ।
> तानि सम्यक् प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥
>
> २—श्रोत्र-त्वक्-चक्षुषी-जिह्वा-नासिका-चैव पञ्चमी ।
> पायू-पस्थं हस्त-पाद-वाक्-चैव दशमी स्मृता ॥
>
> ३—बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।
> कर्म्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥

४—एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥

—मनु० २। ८९, ९० ९१ श्लो० ।

८२—आत्मेन्द्रियमनोयुक्त—भोक्तात्मा—

मनोऽनुगत ज्ञानेन्द्रियों से उत्पन्न भावनासंस्कार एवं मनोऽनुगत कर्मेन्द्रियों से उत्पन्न वासनासंस्कार आत्मा पर प्रतिष्ठित रहता है। अतएव आत्मा संस्कार–संस्कृत बनता हुआ स्वस्वरूप से विच्युत हो जाता है। आत्मस्वरूपपरिचित से अपरिचित प्रश्न कर सकते हैं कि 'जब शास्त्रों ने आत्मा को 'न सज्जते, न व्यथते, न लिप्यति' इत्यादिरूप से सर्वथा असङ्ग बतलाया है तो उसे भावना–वासनासंस्कार कैसे आवृत कर सकते हैं ?। जिस प्रकार अहोरात्र जल में रहता हुआ भी पद्म जलसम्पर्क से पृथक्–निर्लेप बना रहता है, एवमेव अहोरात्र इन्द्रियानुगत ज्ञान–कर्म (भावना–वासना) में रत रहता हुआ भी आत्मा–'लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा' के अनुसार सर्वथा असङ्ग–निर्लेप ही रहता है। ऐसी अवस्था में संस्कारों से आत्मा को लिप्त बतलाना और तदभिमान से आत्मा को दुःखी मानना कैसे सङ्गत हो सकता है ?। प्रश्नों का समाधान 'शारीरिकविज्ञान' प्रकरण में विस्तार से किया जा चुका है। सर्वव्यापक अव्ययात्मा अवश्य ही प्रत्येक दशा में असङ्ग है जिसे 'शान्तात्मा' कहा गया है। इस अव्ययात्मतत्व के आधार पर अव्यक्तादि पाँच क्षरात्माओं का विकास होता है जिनमें दो क्षरात्मा तो असङ्ग हैं एवं तीन ससङ्ग हैं। स्वयम्भू के अन्तर्गत ब्रह्म (ऋषि) तत्त्व से समुत्पन्न अव्यक्तात्मा और सूर्य्य के अन्तर्गत सावित्राग्नि से उत्पन्न विज्ञानात्मा (बुद्धि), ये दो क्षरात्मा तो असङ्ग हैं। परमेष्ठी के स्नेहधर्म्मा अतएव ससङ्ग सोमतत्त्व से समुत्पन्न महानात्मा चन्द्रमा के भास्वर–स्नेहगुणक–सोम से उत्पन्न प्रज्ञानात्मा (मन), एवं पार्थिवतत्त्वगर्भित पृथिवी से समुत्पन्न वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञमूर्त्ति कर्मभोक्ता कर्म्मात्मा, ये तीन क्षरात्मा ससङ्ग हैं। महानात्मा कर्म्मात्मा की योनि है, प्रज्ञानात्मा कर्मप्रवृत्ति का द्वार है। महद्गर्भित प्रज्ञानव्यपरिष्वक्त कर्म्मात्मा अपने महत्–प्रज्ञान–एवं स्वानुगत ससङ्गधर्म्म से अवश्यमेव संस्कारग्राहक बना रहता है। जिस मन के द्वारा संस्कार उत्पन्न होते हैं, वह मन स्नेहगुणक सोमप्रधान बनता हुआ ससङ्ग है। कर्म्मात्मा का इस ससङ्ग मन के साथ प्रतिष्ठाप्रतिष्ठान–सम्बन्ध है। उभयात्मक ससङ्ग मन से ही ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा भावनासंस्कार का, एवं कर्मेन्द्रियों के द्वारा वासनासंस्कार का उदय होता है। मन से उत्पन्न संस्कार मन पर प्रतिष्ठित रहते हैं। कर्म्मात्मा मन से वेष्टित है, अतएव मन पर प्रतिष्ठित संस्कार कर्म्मात्मा को भी आवृत कर लेते हैं। अतएव इन्द्रिय, मन कर्म्मात्मा तीनों के समन्वित रूप को ही उपनिषत् ने–'भोक्तात्मा (कर्मफलभोक्ता सांसारिक कर्म्मात्मा) नाम से व्यवहृत किया है–'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः (कठोपनिषत्)।

८३—अनुभव, और श्रम–तत्त्वपरिचय—

अनुभव और श्रम ये दो व्यापार ही उक्त संस्कारों की मूलप्रतिष्ठा हैं। अनुभवाहित संस्कार ही भावना है, इसमें ज्ञानेन्द्रियव्यापार का प्राधान्य है। श्रमाहितसंस्कार ही वासना है, इसमें कर्मेन्द्रियव्यापार प्रधान है। जिनमें एक संस्कार केवल अनुभवाहित (भावनात्मक) हैं, जिनमें एक केवल श्रमाहित (वासना–

त्मक) हैं एवं कितनें एक अनुभव-समाहित (भावनावासनात्मक, उभयात्मक) हैं। हम चुपचाप बैठे हैं, कोई कर्म्म नहीं कर रहे, कर्म्मेन्द्रियाँ शान्त हैं। एक व्यक्ति आकर कहता है कल प्रातः तुम्हें अमुक शिष्टपुरुष ने मिलने बुलाया है। सुनते ही अन्तर्जगत् में प्रसन्नता की लहर दौड़ जाती है। तत्क्षण प्रज्ञानमन में एक प्रकार की छाप लग जाती है। यही केवल ज्ञानात्मक अनुभवाहित भावनासंस्कार का उदाहरण है। किसी के हम जोर से थप्पड़ मार देते हैं। हमारे अन्तर्जगत् में एक क्षोभ की लहर दौड़ जाती है। इसकी छाप भी प्रज्ञानमन में तत्काल उसी प्रकार प्रतिष्ठित होजाती है, जैसे कि बालू के टीले पर हाथ मारने से उस पर हाथ की छाप लग जाती है। यही केवल कर्म्मात्मक अभ्याहित वासनासंस्कार का उदाहरण है। भोजन कर रहे हैं। ज्ञानेन्द्रियों का भी व्यापार हो रहा है कर्म्मेन्द्रियों का व्यापार भी प्रक्रान्त है। स्वाद, गन्ध, प्रत्यक्ष, शष्कुली (पापड़) खाने से शब्दादि ज्ञानभाव भी प्रक्रान्त हैं हस्तव्यापारलक्षण कर्म्म भी प्रक्रान्त है। यही अनुभव-अभ्याहित भावनावासनोभयसंस्कार का उदाहरण है। तात्पर्य्य-भावनात्मक अनुभवाहितसंस्कार, एवं वासनात्मक अभ्याहितसंस्कार, दोनों कर्म्मात्मानुगत स्नेहगुणक, सौम्य प्रज्ञानमनोधरातल पर लक्षित होजाते हैं। संस्कारों का प्रज्ञानधरातल पर लक्षित होजाना ही-'अभिनिवेश' है।

८४-विभूति, योग, बन्धन-लक्षणा सम्बन्धत्रयी-

अभिनिवेश शब्द की तात्पर्य्यार्थावगति के लिए सम्बन्धत्रयी का ज्ञान लेना आवश्यक होगा। विभूति योग, बन्धन भेद से दो वस्तुओं का किंवा अनेक वस्तुओं का परस्पर होने वाला सम्बन्ध तीन भागों में विभक्त माना गया है। सूर्य्यातप सूर्य्यप्रतिबिम्ब सूर्य्यचित्र, तीनों तीनों सम्बन्धों के उदाहरण माने जासकते हैं। एक काच पर सूर्य के आतप (धूप) का सम्बन्ध होरहा है। जैसे त्रैलोक्य के अन्य पदार्थों के साथ आतप का सम्बन्ध है एवमेव इस काच के साथ भी अतद्रूप से आतप का सम्बन्ध होरहा है। काच, और आतप का यह सम्बन्ध विभूतिसम्बन्ध है जिसे हम असम्बन्धात्मक सम्बन्ध ही कहेंगे। दर्पण पर सूर्य्यबिम्ब लक्षित होजाता है। दर्पण पर प्रतिबिम्ब प्रतिष्ठित अवश्य है। परन्तु दर्पण के साथ प्रतिबिम्बित सूर्य्य का हृद्ग्रन्थि-बन्धन नहीं है। अतएव दर्पण को स्थानान्तरित करते ही प्रतिबिम्ब स्वप्रभवसूर्य्य में विलीन होजाता है। दर्पण और प्रतिबिम्बित सूर्य्य का यही पारस्परिक सम्बन्ध 'योगसम्बन्ध' है, जिसे हम 'निवेश' नाम सम्बन्ध कहेंगे। किसी विशेष साधन से संमार्जित दर्पण पर सूर्य्य का चित्र खींचा गया। सूर्य्य प्रतिबिम्बित होगया, दर्पण पर सूर्य्य का चित्र (फोटो) उतर आया। इस चित्रात्मक सूर्य्य के साथ दर्पण का जो सम्बन्ध है यही बन्धन' सम्बन्ध कहलाता है। इसमें चित्रित सूर्य्य अभित (सर्वात्मना) दर्पण में निविष्ट (प्रविष्ट) होजाता है। अतएव हृद्ग्रन्थिबन्धनात्मक इस सम्बन्ध को हम अवश्य ही 'अभिनिवेश' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। ठीक इसी प्रकार भावना-वासना-संस्कारों का भी कर्म्मात्मा के साथ होने वाला पारस्परिक सम्बन्ध तीन भागों में विभक्त रहता है। इन तीन सम्बन्धों के अधिष्ठान बनते हैं-तीन आत्मा। अव्ययात्मा असङ्ग है। यही आध्यात्मिक ईश्वर है। यदि कर्म्मात्मा की इच्छा इस असङ्ग अव्ययात्मा में समर्पित है, तो जिस प्रकार अव्ययेश्वर सर्वत्र विभूतिसम्बन्ध से व्याप्त रहता हुआ भी निर्लेप है एवमेव अव्ययात्मानुगत कर्म्मात्मा भी रहते हुए भी संस्कारों के साथ विभूतिसम्बन्ध से सम्बन्ध करता हुआ निर्लेप बना रहता है। ऐसा कर्म्मात्मा (जीवात्मा) 'कुर्व्वन्नपि-न लिप्यते' के अनुसार साक्षात् ईश्वर है। दूसरा है-विज्ञानात्मा (बुद्धि), जिसे हमनें सावित्राग्नि के सम्बन्ध से ज्योतिः बतलाया है। यदि कर्म्मात्मा इस विज्ञानात्मा का प्रधानरूप से आलम्बन बना कर कर्म्म में प्रवृत्त होता,

है तो तत्तुल्य संस्कार प्रतिबिम्बरूप से कर्म्मात्मा पर प्रतिष्ठित रहते हैं। यही दूसरा योगसम्बन्ध है जिसे साम्य-बुद्धियोग कहा जासकता है। तदनुगामी पुरुष बुद्धियोगी कहलाए हैं। तीसरा है-प्रज्ञानात्मा (मन), जिसे हमनें चान्द्रसोम के सम्बन्ध से उत्पन्न बतलाया है। इस मनका स्नेहगुण तत्सम तरल है जिससे साधारण धन कृष्णवर्णात्मक चित्रग्राहक फलक (प्लेट) रूप में परिणत होजाता है। यदि कर्म्मात्मा इस प्रज्ञानात्मा को प्रधानरूप से आलम्बन बना कर ऐन्द्रियक कर्म्मों में प्रवृत्त होता है, तो तत्तुल्य संस्कार चित्ररूप से कर्म्मात्मा में सर्वात्मना लिप्त होजाते हैं, संस्कारों के साथ कर्म्मात्मा का ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध होजाता है। यही तीसरा बन्धनसम्बन्ध है जिसे कामकर्म्मपाश कहा जासकता है। तदनुगामी मनुष्य ही कामकामी-विषयपरायण-संसारी कहलाए हैं। इसप्रकार प्राण, विज्ञान प्रज्ञान प्राधान्य से संस्कारों का कर्म्मात्मा के साथ तीन प्रकार से सम्बन्ध सम्भव है। प्राणमूलक विभूतिसम्बन्ध भी अबन्धन है विज्ञानमूलक योगसम्बन्ध भी अब-न्धन है। बन्धन है प्रज्ञानमूलक बन्धनसम्बन्ध, हृद्ग्रन्थिबन्धन बन्धकर्म्मसम्बन्ध जिसे 'अभिनिवेश' कहा गया है। सिद्ध है कि, स्वयं संस्कार अपनी ओर से, अपने स्वरूप से बन्धन के कारण नहीं हैं, अपितु संस्कारों का प्रज्ञानमूलक बन्धनसम्बन्धात्मक अभिनिवेश ही आत्मबन्धन का कारण है जो अभिनिवेश 'फलासक्ति' नाम से व्यवहृत हुआ है। जिस प्रकार एक श्वेतवस्त्र रंगसम्पर्क से आने वाले रंग से रञ्जित होकर अपनी स्वाभाविक श्वेतता से आवृत होजाता है दूसरे शब्दों में रंग की व्यापकता से शुक्ल वस्त्र में लगे हुए रङ्ग से जैसे वस्त्र का स्वाभाविक शौक्ल्य तिरोहित होजाता है, एवमेव रङ्गस्थानीय प्रज्ञान मन के स्नेह-गुण (कामनामयी-आसक्ति) की व्यापकता से स्वस्वरूप से ज्ञानज्योतिर्मय भी आत्मा का स्वाभाविक ज्योतिर्मय आवृत होजाता है। इस एक अभिनिवेश से ही बुद्धि के धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य, ये चारों विभाभाग आवृत होते हैं, तदद्वारा कर्म्मात्मा मुकुलित बन जाता है। स्मरण रखिए, संस्कारों का कर्म्मात्मा के साथ हृद्ग्रन्थिबन्धनसम्बन्ध होजाना ही अभिनिवेश है। दूसरे शब्दों में 'ग्रन्थिबन्धन' का ही नाम अभिनिवेश है। इससे यह भी निष्कर्ष निकल आता है कि, ग्रन्थिबन्धनाभाव में केवल योग, तथा विभूति-सम्बन्ध से रहने वाले संस्कार उसी प्रकार आत्मस्वरूप के आवरक नहीं बन सकते जैसे कि पड़ा हुआ भी विषयपाश असङ्ग ईश्वर के स्वाभाविक विभव को आवृत नहीं कर सकता। कर्म्म-संस्कार स्वयं दोष नहीं हैं आत्मस्वरूपप्रतिबन्धक नहीं है, अपितु संस्कारग्रन्थिबन्धनरूप अभिनिवेश ही आत्मविकास का प्रतिबन्धक है। संस्काराभिनिवेश (संस्कारग्रन्थिबन्धन) आत्मरूप सूर्य्य के विद्यमान प्रकाश को आवृत करने वाला कृष्णमेघ है। संस्कारबन्धनरूप अभिनिवेश विषयाधीन बनता हुआ 'पर-तन्त्र' है विषयाधीन तन्त्र है। इस पर (विषयाधीन) तन्त्र के पाश में आबद्ध आत्मा अपने स्वतन्त्ररूप विश्वतन्त्र से वञ्चित होता हुआ 'परतन्त्र' बन जाता है। स्व-तन्त्रानुगत आत्मा जहाँ सुखान्त रहता है वहाँ परतन्त्रानुगत आत्मा अविद्यावशेन दुःखान्त बन जाता है। शान्तिभाव आत्मसुख है अशान्तिभाव आत्मदुःख है। इसप्रकार स्वतन्त्र परतन्त्र भाव ही सुख-दुःख-प्रवृत्ति के मूल बने हुए हैं। स्वातन्त्र्य सुख है पारतन्त्र्य दुःख है, यही सुख-दुःख का तात्त्विक लक्षण है जिसका निम्न लिखित स्मार्त वचनों से स्पष्टीकरण हुआ है—

यद्यत् परवशं कर्म्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ॥
यद्यदात्मवशं तु स्यात् तत्तत् सेवेत यत्नतः ॥ १ ॥
सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम् ॥
एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुख-दुःखयोः ॥ २ ॥
—मनु ४।१५९,१६०।

८५–अभिनिवेशात्मक संस्कारबन्धन—

बतलाया गया है कि, संस्कार दुःख के कारण नहीं हैं, अपितु संस्कारबन्धनरूप अभिनिवेश दुःख का कारण है। कारण यही है कि, उत्प्राप्त्याकांक्षा नाम की आसक्तिमूला जीवकामना (जीवेच्छा) से प्रज्ञान मन सो प्रबल हो जाता है एवं प्रज्ञ विज्ञानात्मा (बुद्धि) निर्बल बन जाता है। ज्ञानकर्म्मेन्द्रियवर्ग शरीररथ के 'अश्व' हैं, प्रज्ञान मन प्रग्रह (लगाम) है, बुद्धि सारथि है। सारथि के प्रमादी बन जाने से लगाम का हाथों से छूट जाना अनिवार्य्य है। लगाम के नियन्त्रण के शिथिल होते ही अश्वों का उत्पथगमन करना अनिवार्य्य है। इसप्रकार कामासक्ति के अनुग्रह से प्रबल बने हुए मन के प्राबल्य से बुद्धि के प्रमादशील बनते हुए इस मनोगम्य में इन्द्रियाश्व स्वतन्त्र (असंयत) बन जाते हैं। विषयानुगति का विवेक जाता रहता है। इसप्रकार असंयत इन्द्रियों की उच्छृङ्खलता से आगे जाते संस्कार मनःप्राबल्य से कर्म्मात्मा के साथ ग्रन्थिबन्धनरूप में परिणत हो जाते हैं। अतएव आवश्यक है कि, इन्द्रियों का संयम किया जाय, इन्हें प्रकृत्यनुकूल नियताहारविहारपरायण बनाया जाय, तदर्थ मन पर बुद्धि का नियन्त्रण किया जाय एवं तन्मूल जीवकामना को ईश्वरकामना में अर्पित किया जाय। इस ईश्वरकामनात्मक निष्कामभाव से जीवकाम निर्बल हो जायगा, मनःप्राबल्य दूर हो जायगा। इसी काम-निष्कामभाव का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् मनु ने कहा है—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ॥
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ १ ॥
वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ॥
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥ २ ॥
—मनु २।९३,१००।

८६–विद्या, काम, कर्म्मात्मक शुक्रतत्त्व—

'सर्वान् संसाधयेदर्थान्' यह वाक्य महत्वपूर्ण है। मनु कह रहे हैं कि, इन्द्रिय-मनःसंयमपूर्वक यदि तुम पुरुषार्थसाधक कर्म्मों में प्रवृत्त रहोगे तो तुम संस्कारबन्धन में भी आबद्ध न होगे, साथ ही लोकाभ्युदय से भी वञ्चित न रहोगे। यही तो कामयाम-कर्म्मसंग्रहात्मक निष्कामकर्म्मयोग का 'अध्यकर्मयोग' यथा वैशिष्ट्य है। इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण समस्या का विश्लेषण और कर लीजिए। ज्ञान-कर्म्म-जनित भावना-वासना-संस्कार तारतम्य से शिथिल दृढ़-बनते रहते हैं। कितने एक संस्कार उत्पन्न होते ही विलीन हो जाते हैं, कितने

महीनों, कितने बरसों रहते हैं। कितने एक आजन्मजीवन रहते हैं, कितने एक जन्मान्तरपर्य्यन्त अनुधावन करते हैं। अनुधावन क्या करते हैं ऐसे दृढ़मूल संस्कार ही तो जन्मान्तरप्राप्ति के कारण बनते हैं। भावना-वासनात्मक संस्कारों का अत्यन्ताभाव ही जन्म-मृत्यु-चक्र का ही पर्य्यवसान है। ज्ञान-कर्म्म से उत्पन्न होने के कारण भावना-वासना संस्कार भी 'ज्ञान-कर्म्म' नाम से ही व्यवहृत हुए हैं। सांस्कारिक ज्ञान 'विद्या' कहलाया है सांस्कारिक कर्म्म 'अविद्या' कहलाया है, दोनों की मूलाधारभूता तीसरी कामना है। विद्या (भावना) अविद्या (वासना) काम तीनों की समष्टि ही 'शुक्र' (जन्मान्तरप्राप्ति का उपादानभूत रेत) नाम से व्यवहृत हुए हैं। जब तक कामबीज सुरक्षित है तब तक संस्कारात्मक शुक्र सुरक्षित है। जब तक शुक्र सुरक्षित है तब तक जन्म-मृत्यु-बन्ध दुर्निवार है। अकामभाव ही शुक्रातिवर्तन का कारण माना गया है। देखिए।

स वेदैतत् परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः॥

—मुण्डक ३।२।१।

८७—संस्कारात्मक भाग्यवाद—

आत्मा में संचित संस्कार ही 'भाग्य' हैं, जो कर्म्मजनित होने से 'कर्म्म' ही कहलाया है। अतएव दुःखी मनुष्य के लिए कहा जाता है कि—'इसके कर्म्म ही ऐसे हैं'। यहाँ कर्म्मव्यवहार संस्कारों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इन सांस्कारिक कर्म्मों की संचित, प्रारब्ध, क्षीण, ये तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं। जिन संस्कारों का भोग आरम्भ नहीं होता वे 'संचितकर्म्म' हैं। भोगानुगत संस्कार 'प्रारब्ध' कर्म्म हैं। एवं भुक्त संस्कार 'क्षीणकर्म्म' हैं। इनमें निष्कामकर्म्म योगात्मक धर्म्मबुद्धियोग से संचित कर्म्मों की ही निवृत्ति सम्भव है। प्रारब्धकर्म्मों का क्षय तो भोग पर ही निर्भर है। यही कारण है कि, धर्म्मबुद्धियोगनिष्ठ निष्कामकर्म्मयोगी भी प्रारब्धकर्म्मवश दुःखी देखे-सुने जाते हैं। प्रारब्धानुगत कायक्लेशों से वे भी अपने आपको नहीं बचा सकते। हाँ भोगानुभव में अवश्य साधारण मानवापेक्षया उनमें विशेषता रहती है। योगप्रभाव से उनमें मात्रा-स्पर्शादि शारीरिक कष्टों की तितिक्षा (सहनशक्ति) उत्पन्न हो जाती है। प्रारब्धक्लेश उनकी स्वाभाविक आत्मशान्ति को कोई हानि नहीं पहुँचा सकते। उधर सामान्य जीव योगाभाव से इन क्लेशों से घबरा-घबरा जाते हैं। इनमें तितिक्षा का सर्वथा अभाव रहता है।

८८—संस्कारबन्धनकारणजिज्ञासा—

संस्कार उत्पन्न तो अवश्य होंगे। परन्तु प्रश्न है—इनके बन्धन का। ज्ञान-कर्म्म से उत्पन्न भावना-वासनासंस्कार दृढ़मूल क्यों बन जाते हैं?, यह प्रश्न उपस्थित होता है। प्रश्नोपस्थिति का कारण यही है कि, इसमें अव्यय मन को ज्ञानकर्म्मबन्धनरूप अभिनिवेश का जनक बतलाया है। मन के स्वरूप को देखते हुए यह बात असङ्गत प्रतीत होती है। मन लोहचुम्बक अवश्य है परन्तु इसमें स्थिरधर्म्म का अभाव है। सौम्य-इन्द्रविद्युत् के कारण साथ ही विषयात्मक गुण के तृप्तिजनक न होने के कारण मन किसी भी ऐन्द्रियक विषय पर चिरकाल पर्य्यन्त दृढ़ नहीं रह सकता। यह क्षण क्षण नवीन नवीन विषयकामनाओं का अनुगामी बना रहता है। कभी इधर, कभी उधर, यही इसका चाञ्चल्य है। 'चञ्चलं हि मनः कृष्ण' इस से गीता

ने भी मन के इस अस्थिरधर्म्म का समर्थन किया है। मन के इस स्वाभाविक चाञ्चल्य का इसलिए भी सुरक्षित रहना अनिवार्य है कि, जिस सौम्य चन्द्रमा से यह प्रभूत है वह चन्द्रमा भी गतिधर्म्मप्रधान ही है। जब मन की अस्थिरता शास्त्र, एवं अनुभव से उभयथा प्रमाणित है, तो इसे ग्रन्थिबन्धनरूप स्थिरधर्म्म का प्रवर्त्तक कैसे माना जा सकता है ?। मनका यह अस्थिरधर्म्म ही हमारे इस पूर्व प्रश्नोत्थान का कारण बन जाता है कि, कामनामय मन जब चञ्चल है, तो तदनुगत संस्कार दृढमूल कैसे बन जाते हैं ?।

८९–बुद्धिस्वरूपपरिचय के द्वारा–जिज्ञासासमाधि–

प्रश्न का उत्तर मिलेगा आपको 'बुद्धि' से। बुद्धि सौर सावित्राग्नि से प्रसूता होने के कारण वहां प्रतिष्ठ है जहां–'मध्ये एकल एव स्थाता'–'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः'–'सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति' इत्यादि सिद्धान्तानुसार स्थितिलक्षण सूर्य्य से प्रसूत होने के कारण बुद्धि स्थिरधर्म्मप्रयोजिका भी बन रही है। चान्द्र सोमानुगत सङ्गभाव और चाञ्चल्य, ये जहां प्रज्ञानमन के स्वरूपधर्म्म हैं, वहां सौर सावित्राग्न्यनुगत असङ्गभाव, और स्थिरता, ये विज्ञानबुद्धि के स्वरूपधर्म्म हैं। यदि मन को बुद्धि का सहयोग मिल जाता है, तो मन अपने सङ्गभाव से, एवं बुद्धि की स्थिरता से संस्कारों को दृढमूल बनाने में समर्थ हो जाता है। बुद्धि का सहयोग कैसा ? परतन्त्रतामूलक। यदि बुद्धि स्वतन्त्र है, तब तो यह मन के प्रति आत्मसमर्पण नहीं करती, अपितु ठीक इसके विपरीत यह मन को अपना दास बना लेती है। परिणामस्वरूप बुद्धिवशवर्त्ती मन का सङ्गभाव बुद्धि के असङ्गभाव से आक्रान्त हो जाता है। और उस स्थिति में बुद्धि का स्थिरधर्म्म मानस-संस्कारों में उपयुक्त न हो कर आत्मनिष्ठानुगामी बन जाता है। यदि बुद्धि मन के प्रति आत्मसमर्पण कर देती है, तो इसका स्वातन्त्र्य उच्छिन्न हो जाता है। मनोवशवर्त्तिनी ऐसी बुद्धि का असङ्ग धर्म्म तो प्रबल बने हुए मन के सङ्ग धर्म्म से आक्रान्त हो जाता है, एवं बुद्धि का स्थिर धर्म्म मन के सङ्गभाव से मिश्रित हो कर मनोऽनुगता इन्द्रियों के द्वारा आगत संस्कारों की दृढता में विनियुक्त बन कर उपयुक्त हो जाता है। बुद्धि मनोऽपेक्षया स्वतन्त्र रहती है–निष्कामभाव से। मन बुद्ध्यपेक्षया स्वतन्त्र रहता है–कामभाव से। निष्काम-भावात्मिका बुद्धि ईश्वरकामना से युक्त रहती हुई मानस कामना (जीवेच्छा) को भी निष्कामभाव में परिणत कर डालती है। सकामभावात्मक मन जीवकामना से युक्त रहता हुआ बुद्धिकामना (ईश्वरकामना) को भी सकामभाव में परिणत कर डालता है। निष्कामभावात्मिका बुद्धि से युक्त मन परतन्त्र है, अतएव बुद्धियुक्त मन शुभाशुभ उभय संस्कारबन्धन से विमुक्त है–'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते'। सकामभावात्मक मन से युक्ता बुद्धि परतन्त्र है। अतएव मनोयुक्ता ऐसी बुद्धि अपने स्थिरधर्म्म का मन में आत्मसमर्पण करती हुई संस्कारों की दृढता की प्रवर्त्तिका बन जाती है। निष्कर्ष यही हुआ कि–बुद्धिगर्भित कामभाव मन संस्कार-बन्धनात्मक अभिनिवेश का जनक है एवं मनोगर्भिता निष्कामबुद्धि संस्कारबन्धनात्मक अभिनिवेश की निवर्त्तिका है।

९०–अपरा–उपरा–बुद्धि का तात्त्विक स्वरूपपरिचय–

मनोगर्भिता बुद्धि दर्शनभाषा में 'उपरताबुद्धि' कहलाती है। एवं मन के गर्भ में युक्ता बुद्धि–'अपरता बुद्धि' कहलाती है। अपेक्षाबुद्धि मनोवशवर्त्तिनी बुद्धि है, यही बन्धनप्रवृत्ति का मूल है। उपेक्षाबुद्धि बुद्धिवशवर्त्ती मन है यही बन्धननिवृत्ति का मूल है। अपेक्षा–उपेक्षा–शब्दों के अर्थों का भी स्पष्टीकरण इसलिए

आवश्यक है कि, जैसा अर्थ व्यवहार में इन शब्दों का समझा जा रहा है, वह अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है। अपेक्षा का अर्थ किया जाता है 'लगन'–'ध्यानवानता'। उपेक्षा का अर्थ किया जाता है–'टालमटोली'–अनवधानता–(लापरवाही)। तबियत से काम करना अपेक्षा है, लापरवाह बन कर काम करना उपेक्षा है। उपेक्षाबुद्धि से युक्त कर्मों से उत्तम संस्कार दृढ़ नहीं बनते' इस सिद्धान्त की रक्षा ही सम्भव नहीं। क्योंकि यदि कर्म में उपेक्षा (अनवधानता–लापरवाही) है तो कर्मस्वरूप ही सम्पन्न नहीं होता। कर्म का स्वरूप तभी सुसम्पन्न हो सकता है, जबकि अपेक्षाबुद्धिपूर्वक मनोयोग से उसमें प्रवृत्ति होती है। सकाम कर्म हो, अथवा निष्काम कर्म। कर्म अपनी स्वरूपसिद्धि के लिए प्रत्येक दशा में अपेक्षाबुद्धि के सहयोग की ही अनिवार्य अपेक्षा रखता है। तभी तो कर्मनिष्पत्ति का उदय होता है। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इत्यादि श्लोकार्थ का विवेचन करते समय भी पूर्व में हमनें यही कहा है कि पूर्ण अवधानता के साथ कर्तव्य–कर्म में अनन्यभाव से प्रवृत्त हो जाना ही हमारा आधिकारिक धर्म है। क्या उपेक्षा में अनन्यभाव का उदय हो सकता है ?। नहीं, सर्वथा नहीं। पाठक के दृष्टान्तद्वारा यहीं यह स्पष्ट कर दिया गया है कि, कर्मानुष्ठानकाल में यदि हम भावी फल की भी चर्चा करने लग जाते हैं तो कर्म अपूर्ण रह जाता है। फिर उपेक्षा रखने से तो कर्म की पूर्णता कैसे सम्भव हो सकती है। साथ ही यह भी निश्चित है कि अपेक्षापूर्वक किया हुआ कर्म संस्कार–बन्धन का कारण बन जाता है। फिर हमनें किस आधार पर यह सिद्धान्त स्थापित कर डाला कि "उपेक्षा–बुद्धियुक्त कर्म बन्धन का प्रवर्तक नहीं बनता अतः हमें उपेक्षाबुद्धिपूर्वक ही कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए।

६१–ईश्वर, एवं जीवानुगत अपेक्षा–उपेक्षा–भावों का तारतम्य—

उक्त विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए ही उपेक्षा–अपेक्षा शब्दों के तत्त्व का परिज्ञान अपेक्षित हो जाता है। अव्ययात्मानुगता बुद्धि ईश्वरधर्मात्मिका अपेक्षाबुद्धि है, जीवात्मानुगता बुद्धि जीवधर्मात्मिका अपेक्षाबुद्धि है। जीवधर्मात्मिका अपेक्षाबुद्धि काम्य–कर्मयोग का स्वरूप बनाती है, एवं ईश्वरधर्मात्मिका अपेक्षाबुद्धि निष्कामकर्म भाव को स्वरूप प्रदान करती है। काम्य कर्म योगानुष्ठान में ईश्वरधर्मात्मिका अपेक्षाबुद्धि उपेक्षाभाव में परिणत रहती है एवं जीवधर्मात्मिका अपेक्षाबुद्धि अपेक्षाभाव में परिणत रहती है। निष्कामकर्म योगानुष्ठान में जीव–धर्मात्मिका अपेक्षाबुद्धि उपेक्षाभाव में परिणत रहती है एवं ईश्वरधर्मात्मिका अपेक्षाबुद्धि अपेक्षाभाव में परिणत रहती है। दोनों कर्मों में एक अपेक्षाभावप्रधाना रहती है, एक उपेक्षाभावप्रधाना रहती है। ईश्वरानुगता अथवा जीवानुगता अपेक्षा को उपेक्षारूप में परिणत कर डालती है, यही उपेक्षाबुद्धियुक्त निष्कामकर्मयोग है। ईश्वरानुगता बुद्धि की अपेक्षा है इसलिए तो कर्मस्वरूप सम्पन्न हो जाता है। जीवानुगता बुद्धि की उपेक्षा है इसलिए कर्म जनित संस्कारों का प्रतिबन्धन नहीं होने पाता। जीवानुगता अपेक्षा ईश्वरानुगता अपेक्षा को उपेक्षारूप में परिणत कर डालती है। यही अपेक्षाबुद्धियुक्त काम्य कर्म योग है। जीवानुगता बुद्धि की अपेक्षा है इसलिए तो कर्म का स्वरूप सम्पन्न हो जाता है, ईश्वरानुगता बुद्धि की उपेक्षा है इसलिए प्रतिबन्धन हो जाता है। निष्कर्ष यही निकला कि ईश्वरानुगता बुद्धियुक्ता जीवानुगता अपेक्षाबुद्धि की उपेक्षा जहाँ निष्काम–कर्म का मूल है, वहाँ जीवानुगता अपेक्षाबुद्धियुक्ता ईश्वरानुगता अपेक्षाबुद्धि की उपेक्षा काम्यकर्म का मूल है। निष्कामकर्म में जीवानुगता बुद्धि की उपेक्षा है, किन्तु ईश्वरानुगता बुद्धि की अपेक्षा है। कर्मप्रवर्तक क्योंकि जीवात्मा है, अतएव ही निष्कामकर्मयोग 'उपेक्षाबुद्धियुक्त' नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है, एवं इसे बन्धनविमोचक माना गया है। काम्यकर्म में ईश्वरानुगता बुद्धि की उपेक्षा है, किन्तु जीवानुगता बुद्धि की अपेक्षा है। इसलिए काम्य–कर्म योग 'अपेक्षाबुद्धियुक्त' नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है, जो

एकान्ततः बन्धनप्रवर्तक है। दोनों स्थलों में एक की उपेक्षा है तो अन्य की अपेक्षा है। ईश्वरीय अपेक्षाबुद्धि से सहकृत जीवात्मा का कर्म जीवबुद्धिदृष्टि से उपेक्षाप्रकृत–अबन्धनकर्म है यही उपेक्षाबुद्धिसहकृत (जीवापेक्षा सहकृत) निष्कामकर्मयोग है, जिसका उत्तरदायित्व ईश्वर पर अवलम्बित है। इस कर्म का प्रवर्तक ईश्वर है जीव निमित्तमात्र है। ईश्वरोपेक्षाबुद्धिसहकृत जीवात्मा का कर्म जीवबुद्धिदृष्टि से अपेक्षासहकृत बन्धन कर्म है, यही अपेक्षाबुद्धिसहकृत (जीवापेक्षासहकृत) काम्य-कर्मयोग है जिसका उत्तरदायित्व जीव पर अवलम्बित है। इस कर्म का प्रवर्तक जीव है, ईश्वर निमित्तमात्र है।

९२–लौकिक उदाहरणों के माध्यम से अपेक्षा–उपेक्षा–भावों का समन्वय—

उपेक्षा–अपेक्षा के एक शास्त्रीय विश्लेषणमात्र से तब तक विषय स्पष्ट नहीं होता जब तक कि उदाहरणपूर्वक इसका स्पष्टीकरण नहीं कर लिया जाता। आध्यात्मिक कर्मों के ईश्वर और जीव, ये दो उत्थापी मान लीजिए। ईश्वर जिन कर्मों का प्रेरक बनता है वे कर्म यथार्थकर्म कहलाए हैं इन्हें ही हम स्वाभाविक–स्वधर्मात्मक प्राकृतिक–सहजकर्म कहा करते हैं। नियत समय पर हम प्रकृति की प्रेरणा से भोजन–कर्म में प्रवृत्त हुए। प्रकृत्यनुसार भोजन किया। यह कर्म ईश्वरीय प्रेरणा से सम्बद्ध माना जायगा। इससे जो संस्कार होगा उसका जीवात्मा के साथ ग्रन्थिबन्धन न होगा। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जीवनयात्रा के निर्वाह के लिए ईश्वरद्वारा नियत दैनिक–नियत आहार द्रव्यों का हमें दूसरे दिन न तो स्मरण होता न उनके लिए हम व्यग्र बनते। जीव जिन कर्मों का प्रेरक बनता है वे कर्म अयथार्थ कहलाए हैं इन्हें ही हम कृत्रिम–अप्राकृतिक–कर्म कहा करते हैं। इनमें जीवकामना का प्राधान्य रहता है। हमने (जीवात्मा ने) अपनी मानस कामना की प्रेरणा से किसी भी दिन किसी विशेष भोज्यद्रव्य का अनुगमन किया। कामना हुई आज तो कलाकन्द खाया जाय। कामनानुसार कलाकन्द खाया। यह आहार ईश्वर–कामना के विपरीत किन्तु जीवकामना के अनुकूल हुआ। अतएव इसके खाने से उत्पन्न संस्कार के साथ कर्मात्मा का ग्रन्थिबन्धन हो गया। प्रमाण यही है कि दैनिक–नियत–आहार–द्रव्यों में जीवेच्छा की प्रेरणा से समाविष्ट विशेष–आहारद्रव्यों से सम्बन्ध रखने वाला संस्कारबन्धन स्मृतिद्वारा बार बार जीवात्मा को तद्विषयकामना की ओर ले जाया करता है। नियत आहार के लिए मन कभी लालायित नहीं होता। किन्तु अनियत आहार के लिए मन चला करता है।

दूसरा उदाहरण लीजिए। आप अपने मकान में दिन में दसों बार आते जाते हैं। इसीलिए अनेक बार आपको सीढ़ियाँ पार करनी होती हैं। सीढ़ियों पर चढ़ते हैं उतरते हैं। यह स्वाभाविक गमनागमन ईश्वरकामना से सम्बन्ध रखता है अतएव इसमें गमनागमन–जनित संस्कार का ग्रन्थिबन्धन नहीं होता। सैकड़ों बार गमनागमन करते हुए भी आप यह नहीं बतला सकते कि आपके मकान में कितनी सीढ़ियाँ हैं ? । क्यों ? क्या देखकर नहीं चलते ?, क्या चढ़ने–उतरने में उपेक्षा है ? । यदि ऐसा होता तो आप गिर पड़ते। परन्तु ऐसा होता तो नहीं ? । फिर संख्या का स्मरण क्यों नहीं ? । कारण यही है कि यह गमनागमन स्वाभाविक है ईश्वरेच्छानुगत है। अतएव संस्कारबन्धन नहीं होने पाता।

तीसरा उदाहरण लीजिए। आप घर से निकल कर उद्यान पहुँचते हैं। मार्ग में सैकड़ों स्त्री–पुरुष पशु पक्षियों विविधाकारात्मक पदार्थों का अवलोकन करते जाते हैं। उद्यान में पहुँच कर बड़े विभिन्न

लता–गुल्म–वृक्ष–पुष्प–फलादि पर भी आप की दृष्टि जाती ही है। क्या घर लौटने के पीछे आप को उन सब दृश्यों का स्मरण रहता है ?। नहीं इसलिए कि आपका यह दृष्टिकर्म ईश्वरानुगत बनता हुआ स्वाभाविक है। अतएव दृश्यदर्शन से उत्पन्न संस्कारों का ग्रन्थिबन्धन नहीं हो पाता। यदि आप मानसकामना को अग्रणी बना देते हैं तो अवश्य ही तद्विशिष्ट संस्कार ग्रन्थिप्रवर्त्तक बन जाते हैं। मान लीजिए–किसी पुरुषविशेष पशु–पक्षिविशेष किंवा पुष्प–फलविशेष के प्रति आपकी कामना आकर्षित हो जाती है, तो अवश्य ही तज्जनित संस्कार ग्रन्थिप्रवर्त्तक बन जाता है। और उसकी स्मृति उसकी पुनःप्राप्ति–दर्शन–के लिए आपको व्यग्र बनाए रहती है। अतएव कहना, और मानना पड़ेगा कि, स्वाभाविक कर्म जनित संस्कार ईश्वरानुगत बनते हुए जहाँ अबन्धन हैं वहाँ कृत्रिम कर्मजनित संस्कार जीवानुगत बनते हुए बन्धन हैं। इस तत्त्व को समझ लेना ही तो गीता के निष्काम–कर्मयोग का तत्त्व समझ लेना है। जीवनयात्रानिर्वाहक आप यच्चयावत् लौकिक कर्मों का अनुगमन करते हैं। सब कुछ करें–देखें–बोलें खावें, परन्तु अपनी इच्छा को ईश्वर में अर्पित करदें। कभी कर्म जनित संस्कार ग्रन्थिबन्धन के प्रवर्त्तक न बनेंगे एवं आप ऐसा करते हुए 'न करोति न लिप्यते' को चरितार्थ बना देंगे। कामनासिद्धि से क्षोभात्मक सुख होता है, कामविघात में क्षोभात्मक दुःख होता है। सुख अनुकूलवेदना है, दुःख प्रतिकूलवेदना है। दोनों में ही अशान्ति है। यदि कामना नहीं है तो प्राप्ति में भी क्षोभ नहीं होता अप्राप्ति में भी क्षोभ नहीं होता। उभय स्थितियों में यह स्थितप्रज्ञ आपूर्यमाण शान्त समुद्रवत् अचलप्रतिष्ठ–निरवच्छिन्न–बना रहता है। अतएव सर्वकाम–परित्याग ही श्रेयःपन्था है जिसका यों समर्थन हुआ है —

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ॥
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥१॥
यश्चैतान् प्राप्नुयात् सर्वान् , यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत् ॥
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥२॥
श्रुत्वा–स्पृष्ट्वा–च दृष्ट्वा च–भुक्त्वा–घ्रात्वा च यो नरः ॥
न हृष्यति, ग्लायति वा, स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥३॥

—मनु २।९४।९५।९८ ।

६३–भावना–वासना–संस्कारात्मक कर्मारम्भ, एवं बन्धनविमोचक आर्षविद्यानुगत–धर्मबुद्धियोग—

भावना–वासना–संस्कार दृढ़मूल क्यों बन जाते हैं ?, इस प्रश्न का सात्त्विक विश्लेषण किया गया। और यह स्पष्ट किया गया कि, अपेक्षाबुद्धि के संस्कार दृढ़मूल बनते हैं एवं उपेक्षाबुद्धि से संस्कारबन्धन नहीं होता। अब दो शब्दों में अपेक्षाबुद्धिजनित संस्कारों के तारतम्य का भी समन्वय कर लीजिए। अपेक्षा–बुद्धि के तारतम्य से ही संस्कारबन्धन में तारतम्य व्यवस्थित रहता है। सामान्य अपेक्षा से बन्धन सामान्य रहता है विशेष अपेक्षा से विशेष। सामान्य–विशेष अपेक्षाओं से उत्पन्न सामान्य–विशेष संस्कार अपेक्षा के पौर्वापर्यक्रम से समानधरातल पर प्रतिष्ठित रहते हैं। विशेष अपेक्षाजनित संस्कार पौर्वापर्य का कभी कभी अतिक्रमण भी कर जाते हैं, जैसाकि उदाहरण से स्पष्ट है। आपसे एक व्यक्ति किसी विषय के सम्बन्ध में प्रश्न करता है। विषय (संस्कार) सामान्य अपेक्षाजनित है अतएव यह विशेष अपेक्षाजनित विशेष संस्कार के

नीचे दबा हुआ है। अतएव प्रश्न के साथ ही उसका उद्गम नहीं होने पाता। आप उत्तर देते हैं—'ठहरिए ! थोड़ा सोचलूं'। इस उत्तर के साथ ही आप उसी प्रकार सोचने लगते हैं, जैसे एक व्यक्ति अन्धेरे में रक्खी हुई वस्तु को टटोलने लगता है। बुद्धि का व्यापार आरम्भ होता है। कालान्तर में आप उस दबे हुए संस्कार को ढूँढ निकालते हैं और प्रश्नकर्त्ता का समाधान कर देते हैं। ढूँढने वाली बुद्धि है, ढूँढा जाने वाला तत्त्व संस्कार पुञ्ज है, एवं संस्कारपुञ्जाधार प्रज्ञानधरातल है। क्योंकि प्रज्ञानधरातल पर उच्चावचरूप से अनन्त संस्कार प्रतिष्ठित रहते हैं, अतएव सामान्य शक्तिशाली विज्ञानात्मा सहसा उसे नहीं पा सकता। अपितु उसे प्रयास करना पड़ता है और प्रयास की सफलता पर उसके मुख से उसी प्रकार 'लीजिए, सुनिए, याद आगया' ये शब्द निकल पड़ते हैं जैसे कि अंधेरे में खोजने वाले के मुख से वस्तु मिलने पर 'मिल गई—मिल गई' यह वाक्य निकल पड़ता है। हम ढूँढते हैं ढूँढने से वस्तु मिल जाती है। अतएव मानना पड़ता है कि, प्रज्ञान से सम्परिष्वक्त कर्म्मात्मा पर अवश्य ही संस्कार प्रतिष्ठित रहते हैं, जिनका मूलजनक अपेक्षाभाव ही बना रहता है। कभी कभी ऐसा भी देखा गया है कि बहुप्रयास करने पर भी स्मरण नहीं होता। इसके दो कारण हैं। यदि अपेक्षा-बुद्धि सामान्य है, निर्बल है तो तदुत्पन्न संस्कार थोड़े समय पीछे ही विलीन (नष्ट) हो जाते हैं। इन नष्ट संस्कारों की स्मृति असम्भव है क्योंकि स्मृति संस्कारमूला है। दूसरा कारण याद न आने का है—संस्कार का पौर्वापर्य्य। पूर्वकाल में अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न संस्कार उत्तरकाल में अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होने वाले संस्कारों के नीचे दब जाते हैं। अतएव सामान्यबुद्धि उन पूर्व संस्कारों के अन्वेषण में असमर्थ हो जाती है। इस संस्कारतत्त्व-मीमांसा से निष्कर्ष हमें यही निकालना है कि, ज्ञान-कर्म्ममय कर्म्मात्मा के ज्ञानांश से संयुक्त काममय मन के प्रज्ञांश से ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अपेक्षाबुद्धिसहकार से जो संस्कार उत्पन्न होते हैं, वे-'भावना' नाम से व्यवहृत हुए हैं। एवं कर्म्मांश से संयुक्त काममय मन के प्राणांश से कर्म्मेन्द्रियों के द्वारा अपेक्षाबुद्धि-सहकार से जो संस्कार उत्पन्न होते हैं वे—'वासना' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। कर्म्मात्मा में ये दो प्रकार के संस्कार ही प्रतिष्ठित रहते हैं। दूसरे शब्दों में इस संस्कारद्वयी का नाम ही 'कर्म्मात्मा' है। संस्कारी कर्म्मात्मा ही जन्म-मृत्यु की शृङ्खला में आबद्ध रहता है जिससे उन्मुक्त करने के लिए गीताशास्त्र का निष्कामकर्म्मयोग प्रवृत्त हुआ है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा है—अन्तर्याम्यध्यात्मिका 'आपविद्या', एवं जिसके आधार पर प्रतिष्ठित है—'धर्म्मबुद्धियोग'।

६४—स्वधर्म्म-परधर्म्मानुगत आत्म-अनात्म-भाव—

दूसरी दृष्टि से संस्कारों के महत्त्व का समन्वय कीजिए। धर्म्म, ज्ञान वैराग्य, ऐश्वर्य्य, ये चारों विद्या-बुद्धि के स्वाभाविक धर्म्म हैं। ऐसी विद्याबुद्धि अव्ययात्मा के विद्याभाग से युक्त रहती हुई आत्मबुद्धि है। ऐसी आत्मबुद्धि से युक्त प्रज्ञानसम्परिष्वक्त कर्म्मात्मा (जीवात्मा) वस्तुगत्या 'आत्मा' है। अधर्म्म (अभिनिवेश) अज्ञान (अविद्या) रागद्वेष (आसक्ति), अनैश्वर्य्य (अस्मिता) ये चारों विपर्य्यय अविद्याबुद्धि के स्वाभाविक धर्म्म हैं। ऐसी अविद्याबुद्धि अव्ययात्मा के अविद्याभाग से युक्त रहती हुई अनात्मबुद्धि है। ऐसी अनात्मबुद्धि से युक्त प्रज्ञानसम्परिष्वक्त कर्म्मात्मा वस्तुगत्या अनात्मा है, आत्मस्वरूप से वञ्चित है। इसी पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर यह कहा जा सकता है कि धर्म्मादि चारों विद्याबुद्धिधर्म्म कर्म्मात्मा के स्वस्वधर्म्म हैं, एवं अधर्म्मादि चारों अविद्याबुद्धिधर्म्म कर्म्मात्मा के परधर्म्म हैं। जब तक स्वस्वधर्म्म सुरक्षित है तभी तक कर्म्मी कर्म्मात्मा स्वस्वरूप से सुरक्षित है। जिस दिन यह स्वस्वधर्म्म आवृत हो जाता है, उस दिन आत्मा का स्वरूप भी तिरोहित हो जाता है।

८५—अन्तरङ्गप्रकृतिविशिष्ट निर्गुण अव्ययपुरुष—

'प्रकृति' सत्त्व ही प्रतीक-धर्म्म है, जैसाकि 'अव्ययस्वरूपपरिचय' नामक परिच्छेद में स्पष्ट किया जा चुका है। आत्मा पुरुष है। पुरुष प्रकृति के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। जिस दिन प्रकृति न रहेगी, उस दिन पुरुष भी न रहेगा। इसी आधार पर—'प्रकृतिं-पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। प्रकृतितत्त्व अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। अक्षर एवं आत्मक्षर की समष्टि अन्तरङ्गप्रकृति है, इसका पुरुषस्वरूप में अन्तर्भाव है। अतएव अव्ययपुरुषवत् अक्षर-आत्मक्षर-नामक अन्तरङ्गप्रकृति का भी भगवान् ने—'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च' इत्यादिरूप से 'पुरुष' नाम से व्यवहार कर लिया है। अन्तरङ्गप्रकृति ही अव्ययपुरुष का स्वभाव है, इसी के आधार पर पुरुष सप्रकृतिक बनता है। अव्ययात्मा का विश्वेश्वरत्व इसी अन्तरङ्गप्रकृति पर अवलम्बित है। अतएव इसे हम अव्ययेश्वर का 'स्वधर्म' कह सकते हैं। अन्तरङ्गप्रकृति का आत्मस्वरूपत्व यद्यपि त्रिगुणभावापन्न है और इस दृष्टि से त्रैगुण्य भी यद्यपि ईश्वरधर्म बन रहा है, तथापि अव्ययात्मा के विद्या-कर्म्म-पर्वों की समता के कारण इसकी प्राकृतिक का प्रभाव उस पर नहीं हो पाता। अतएव वह गुणमय विश्व में व्याप्त रहता हुआ भी 'निर्गुण' ही कहलाता है जैसाकि निम्न लिखित गीतावचन से प्रमाणित है—

> अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
> शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति, न लिप्यते ॥
>
> गीता १३।३१।

८६—अमृत-मृत्यु-भावात्मक ज्ञानकर्म्मात्मक अव्ययपुरुष—

आत्मप्रकृति लक्षणा अन्तरङ्ग-प्रकृति क्योंकि कभी नहीं बदलती अतएव इसे 'नित्यप्रकृति' कहा जा सकता है। विज्ञान और मूल प्राणों में यह समानरूप से प्रतिष्ठित रहती है जिस समानता का तात्पर्य यही है कि ज्ञान-कर्म्म-जनित भावना-वासना-संस्कारों से न इसकी वृद्धि होती न हानि होती। अपितु-'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते, नो कनीयान्' के अनुसार यह सदा समभाव से अपरिवर्तनशीला ही बनी रहती है। जिस दिन स्वकर्म्मलक्षणा यह अन्तरङ्गप्रकृति उद्बुद्ध हो जाती है उस दिन अव्ययपुरुष मायाबन्धन से विमुक्त हो कर अतएव परात्पर-परमेश्वर में विलीन हो जाता है। धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य-सम्बन्धी अवस्था के लक्षण हैं इससे इस भ्रान्ति में नहीं पड़ जाना चाहिए कि-अविद्यालक्षण कर्म्म आत्मा का स्वधर्म्म नहीं है। यह अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है कि आनन्द-विज्ञान-मनोमय विद्याभाग, एवं मनः-प्राणवाङ्मय अविद्याभाग (कर्म्मभाग) दोनों आत्मस्वरूप में अन्तर्भूत हैं। जैसे विद्या (ज्ञान) आत्मा का स्वरूपलक्षण स्वधर्म्म है तथैव अविद्या (कर्म्म) भी आत्मा का स्वरूपधर्म्म ही माना गया है। ज्ञान-कर्म्म दोनों के समन्वितरूप का ही नाम आत्मा है। इसका ज्ञानभाग स्वरूपतः अमृत है तथा कर्म्मभाग स्वरूपतः मृत्यु है। इसप्रकार-'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन !' के अनुसार अमृत-विद्याभागवत् मर्त्य अविद्याभाग (कर्म्म) भी आत्मस्वरूपनिष्ठ बना हुआ स्वधर्म्मकोटि में ही निविष्ट है।

विद्या (ज्ञान) वत् अविद्या (कर्म्म) भी आत्मा का स्वाभाविक धर्म्म है। अतएव प्रयास करने पर भी कर्म्म का परित्याग नहीं किया जा सकता। अतएव जो वेदान्ती (कर्म्मत्यागानुयायी ज्ञानयोगी, विशुद्ध सांख्यनिष्ठ) ज्ञानयोग को कर्म्मत्यागात्मक मानते आ रहे हैं, यह उनकी ऐकान्तिक भ्रान्ति ही है। कर्म्म तो विद्यावत् आत्मा का स्वरूप है स्वधर्म्म है। जिस दिन यह निःशेष हो जायगा, उस दिन तो आत्मस्वरूप ही विलीन हो जायगा। अतएव सर्वकर्म्मत्यागलक्षणा, अतएव असम्भव इस कल्पित सांख्यनिष्ठात्मक संन्यासयोग (ज्ञानयोग) का आमूलचूल खण्डन करते हुए भगवान् ने कहा है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्।
कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

—गीता ३।५।

६७—कामत्यागात्मिका कर्म्मसंग्रहात्मिका सन्यासनिष्ठा, और अव्ययपुरुष—

जब कर्म्म का परित्याग नहीं, तो त्यागात्मक संन्यास की क्या परिभाषा ?, 'त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' का क्या तात्पर्य्य ? प्रश्नों का समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं—

काम्यानां कर्म्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

—गीता १८।२।

विद्यात्मक स्वरूपधर्म्म, एवं अविद्यात्मक (कर्म्मात्मक) स्वरूपधर्म्म स्वयं स्वस्वरूप से आत्मधर्म्म बनते हुए अबन्धन हैं। दोनों का समत्व ही दोनों के स्वधर्म्मत्व का स्वरूपसंरक्षक है। दोनों में से जो भी विषम बन जाता है वही अधर्म्मरूप में परिणत होता हुआ बन्धन बन जाता है। केवल विद्या भी प्रतिबन्धिका है, केवल अविद्या भी प्रतिबन्धिका है। दोनों की विषमता का मूलकारण है—कामनामयी रति, फलासक्तिरूप अभिनिवेश, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। 'विद्यायां रताः' * से स्वयं उपनिषत् ने भी रति को ही विद्या का भी बन्धनप्रवर्त्तक तत्त्व स्वीकार किया है। कामना से दोनों का समत्व उच्छिन्न हो जाता है। यह कामनामयी विषमता ही बन्धन का मूल है। इसी तत्त्व का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् ने यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि—

अनाश्रितः कर्म्मफलं कार्य्यं कर्म्म करोति यः।
स संन्यासी, स योगी च, न निरग्निर्नचाक्रियः॥

—गीता ६।१।

---

* अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥

—ईशोपनिषत्

है। पांचों के २१ क्रम से दो विभाग हैं। अव्यक्तानुगत स्वायम्भुव अव्यक्त, तद्गर्भित विश्वानुगत पारमेष्ठ्य अव्यक्त महान् दोनों की समष्टि एक विभाग है, इसे ही हम विशुद्ध सत्त्वात्मक 'महान्' कहते हैं।

१०१—बहिरङ्गप्रकृति, और आकृति–प्रकृति–अहङ्कृति–त्रयी—

इन्द्रानुगत सौर वाक्तत्त्व, सोमानुगत चान्द्र आपस्तत्त्व, अग्न्यनुगत पार्थिव अन्नादतत्त्व इन तीनों उक्त प्रकृतियों की समष्टि का एक विभाग है। महान् के साथ इन तीनों का सम्बन्ध होता है। इसी से विशुद्ध सत्त्वमय अव्यक्तगर्भित महान् षड्गुणक बन जाता है। सौरतत्त्व के समावेश से महान् में 'अहङ्कृति' का, चान्द्रतत्त्वसमावेश से महान् में 'प्रकृति' का, एवं पार्थिवतत्त्वसमावेश से महान् में 'आकृति' का समावेश होजाता है। आकृतिभागप्रवर्तिका पृथिवी, तथा प्रकृतिभागप्रवर्तक चन्द्रमा, दोनों को अपने गर्भ में रखने वाले अहङ्कृतिभागप्रवर्तक सूर्य्य के परमेष्ठ्यनुगत स्वयंभूर्दमावर्त्तन से अव्यक्तगर्भित महान् में सत्त्व–रज–तम, इन तीन गुणों का प्रादुर्भाव होजाता है। सूर्य्य का परमेष्ठी महान् के चारों ओर परिक्रमा लगाना ही सौरसंवर्ग-पूर्णभाव है। सौर अहङ्कृति विभागानुगत सौर प्रकाश से युक्त वही महान् 'सात्त्विकी प्रकृति' है। 'चित्रं देवानामुदगात्' के अनुसार सौर तत्त्व देवात्मक देवता है। सत्त्वानुगत महान् का इसी देवतत्त्व से सम्बन्ध है। अतएव सात्त्विकी प्रकृति को अवश्य ही 'दैवीसम्पत्' कहा जासकता है। सूर्य्यगर्भित चन्द्रमा के प्रकृतिभाग से वही महान् 'राजसी' प्रकृति है। 'चन्द्रमसात्रेता अमृत आभूतम्' इत्यादि श्रौतसिद्धान्तानुसार चान्द्रसोम-तत्त्व मानवकर्म का उपादान है। रजोऽनुगत महान् का इसी मानवकर्म से सम्बन्ध है। अतएव राजसीप्रकृति को अवश्य ही 'मानवीसम्पत्' कह सकते हैं। सूर्य्यगर्भिता पृथिवी के आकृतिभाग से वही महान् 'तामसी' प्रकृति है। 'एतेन (शरीरेण) अमुं लोकं जेप्यतो मन्यमे (छां० उप०)' के अनुसार पार्थिव-सूर्य्यबिम्ब तमःप्रधान-आकृतिभागप्रवर्तक असुर नामक अग्नि ही आसुरीसृष्टि का जनक माना गया है। अतएव तद्-समता तामसीप्रकृति को अवश्य ही 'आसुरीसम्पत्' कहा जासकता है। और अहङ्कृतिविभागानुगत ज्योतिर्मय वह महान् 'सत्त्व' है। सूर्य्यगर्भित पार्थिव आकृतिभागानुगत सूर्य्यबिम्बरश्म्यनुगत तमोमय वह महान् 'तम' है। एवं सूर्य्यगर्भित चान्द्र प्रकृतिभागानुगत सम्य (अतएव सत्त्व तमोमय-ज्योतिस्तमोमय) भाग 'रज' है।

१०२—वाक्–श्रम–प्रमाद–मयी षड्गुणात्मिका बहिरङ्गप्रकृति—

यों देखिए कि—चन्द्रमा का जो भाग सूर्य्यानुगत रहता हुआ प्रकाशित रहता है, वह सत्त्वात्मक चन्द्रमा है। सूर्य्यबिम्बरश्म्यनुगत अप्रकाशित अर्द्ध चन्द्रमा तमोलक्षण है। एवं सम्पूर्णभाग रजोलक्षण है। ठीक इसी प्रकार सूर्य्यसम्बन्ध–तारतम्य से महान् में भी सूर्य्यानुगत अर्द्ध महान्, सूर्य्यबिम्बरश्म्यनुगत अर्द्ध महान्, एवं सम्पूर्ण महान् भेद से सत्त्व (प्रकाश), तम (अन्धकार) रज (उभयभाव), ये तीन अवस्थाभेद होजाते हैं। सत्त्व और अहङ्कृति का एक युग्म है, वह सात्त्विकी देवसृष्टि का मूलाधार है। रज और प्रकृति, दोनों का एक युग्म है, वह राजसी मानवसृष्टि का मूलाधार है। तम और आकृति, दोनों का एक युग्म है, एवं वह आसुरीसृष्टि का मूल स्थान है—'तस्मात्–असुरस्य रूपम् मायी व महती (प्रजापतिः)'—(शत० ब्रा०—

११।[illegible] के अनुसार [illegible] ... [illegible] सौरतत्त्व बुद्धितत्त्व है [illegible]

[illegible] है। [illegible] ... [illegible] है। [illegible]

[illegible] ... मनुष्य शरीरस्थ को प्रधान

[illegible] है ... बुद्धिभाग को

समदर्शन से युक्त विरवदृष्टिमूलक विषमवर्त्तन ही गीता का निष्कामकर्म्मयोग है। विषमता का प्रवेश होता ही तब है, जब कि आत्मदृष्टि को छोड़ कर हम विशुद्ध विषमदृष्टि के आधार पर विश्वधर्म्म प्रतिष्ठित कर देते हैं। समदर्शन में विश्वगुण आत्मगुणरूप में परिणत होते हुए जहाँ समता के प्रवर्त्तक बनते हैं वहाँ विषमदर्शन में वे ही विश्वगुण आत्मगुण (आत्मधर्म्म) के आवरक बनते हुए विषमता के प्रवर्त्तक बन जाते हैं। गुणपरित्याग विषमत्वनिवृत्ति का कारण नहीं है। क्योंकि गुणमय विश्व में गुणप्रधान शरीर से युक्त रहने वाली अध्यात्मसंस्था के लिए गुणपरित्याग एकान्ततः असम्भव है। इसे तो गुणमय विश्व में रहते हुए, स्वगुणानुगत स्वधर्म्म का पालन करते हुए ही निर्गुणसम्पत्ति प्राप्त करना है। और इसका एकमात्र उपाय है–गुणात्मक कर्म्मों को निष्कामभाव से युक्त कर देना। ऐसा कर लेने से गुणमय विश्वधर्म्मों के यथावद् पालन से लोकसंग्रहात्मक व्यवहार की भी रक्षा हो जायगी एवं गुणातीत आत्मधर्म्म भी सुरक्षित बना रह जायगा। यही तो निष्कामकर्म्म का अभूतपूर्व–अश्रुतपूर्व कौशल है, जो 'धर्म्मबुद्धियोग' नाम से व्यवहृत हुआ है।

१००–बहिरङ्गप्रकृति, और अव्यक्तगर्भित महान्—

अब दो शब्दों में गुणात्मिका बहिरङ्गप्रकृति के गुणभावों की भी मीमांसा कर लीजिए। सात्त्विकी, राजसी तामसी, भेद से अव्यक्तप्रकृति तीन विवर्त्त भावों में परिणत रहती है। सात्त्विकी प्रकृति 'दैवासम्पत्' है तामसी प्रकृति 'आसुरीसम्पत्' है एवं राजसी प्रकृति 'मानवीसम्पत्' है। योगमायात्मिका इस एक ही बहिरङ्गप्रकृति को हमनें मौलिक विभागेपेक्षया 'अव्यक्त' कहा है और साथ ही इस अव्यक्त को वसुर्सधम ऋषि–प्राणात्मक बतलाया है। यह अव्यक्त प्राणतत्त्व ही अपने प्राणात्मक अव्यक्तरूप को सुरक्षित (असुरक्ष) रखता हुआ यज्ञ के मर्त्य वाक् भाग को स्वव्यापार (तप) से व्यक्त-परमेष्ठी के रूप में परिणत कर 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' न्याय से स्वयं भी इसी के गर्भ में प्रविष्ट होजाता है। इस गर्भीभाव से प्राणप्रधान वह ब्रह्म स्वयम्भू, एवं वाक् से उत्पन्न आपोमय व्यक्त पारमेष्ठी, दोनों के समन्वित रूप को ही त्रिगुणात्मिका 'बहिरङ्गप्रकृति' मान लिया जाता है। आपोमय परमेष्ठी 'महान्' है, प्राणमय स्वयम्भू अव्यक्त है। अव्यक्त अव्यक्त है महान् व्यक्त है। सांख्यशास्त्र की गुणात्मिका व्यक्तप्रकृति महान् है अव्यक्तप्रकृतिस्वयम्भू अव्यक्त है। 'अव्यक्ताद्व्यक्तयः सनातनः' के अनुसार अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर की समष्टिरूप ईश्वर इन दोनों में प्रविष्ट रहता हुआ 'सनातन' तत्त्व है। अव्यक्त स्वयम्भू, और व्यक्त महान्, दोनों की समष्टि को आप इसलिए 'महान्' कह सकते हैं कि सनातन पुरुषविशिष्ट अव्यक्त स्वयम्भू तत्सृष्ट्वा न्याय से महद्‌गर्भ में समाविष्ट है। यह 'महान्' अपने प्रातिस्विक स्वरूप से अभी केवल विशुद्ध तत्त्वमूर्त्ति है। त्रिगुणभावोत्पत्ति इसी महान् से आगे 'वाक्-अन्न अन्नाद' इन तीन भावों से उत्पन्न होती है। भूपिण्ड गायत्राग्निप्रधान बनता हुआ अन्नादप्रकृतिक है अग्नि ही अन्नाद है। चन्द्रमा सोम प्रधान बनता हुआ अन्नप्रकृतिक है सोम ही 'एष वै सोमो राजा देवानामन्नं–यच्चन्द्रमाः' के अनुसार अन्न है। सूर्य्य सावित्राग्निगर्भित इन्द्रप्रधान बनता हुआ वाक्प्रकृतिक है 'वागिन्द्र' के अनुसार सावित्राग्नि गर्भित इन्द्र ही वाक् है। इसप्रकार वागिन्द्रात्मक सूर्य्य, अन्नात्मक चन्द्रमा, एवं अन्नादात्मक भूपिण्ड तीनों उत्तर रूपों में क्रमशः वाक्–अन्न–अन्नाद ये तीन प्रकृतिभाव प्रतिष्ठित हैं। पारमेष्ठ्य आप प्रकृतिभाव स्वायम्भुव 'प्राण' प्रकृतिभाव दोनों के मिलाने से स्वयम्भू परमेष्ठी, सूर्य्य चन्द्रमा पृथिवी, पाँच विश्वपर्वो के क्रमशः प्राणः-आपः-वाक्-अन्न अन्नादः ये पाँच प्रकृतिभाव होजाते हैं। पाँचों की समष्टि ही बहिरङ्गप्रकृति

९८—विद्या-अविद्या-प्रकृतिविशिष्ट अव्ययपुरुष—

आनन्दविज्ञानमनोमय विद्यात्मा (आत्मा का विद्याभाग) अक्षर के सहयोग से पुष्पित-पल्लवित होता है, एवं मनःप्राणवाङ्मय अविद्याभाग (आत्मा का कर्म्मभाग) आत्मक्षर के सहयोग से विकसित होता है। अतएव विद्यात्मानुगता अक्षरप्रकृति को हम 'विद्याप्रकृति' कह सकते हैं, एवं अविद्यानुगता आत्मक्षरप्रकृति को 'अविद्याप्रकृति' कहा जा सकता है जैसा कि—'क्षरं त्वविद्या, ह्यमृतं (अक्षरं) तु विद्या' (श्वे०) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से भी प्रमाणित है। विद्याप्रकृति (अक्षर) अविद्याप्रकृति (आत्मक्षर), दोनों का समत्व ही आत्मविद्या (आत्मज्ञान) आत्मा-अविद्या (आत्मकर्म्म) की आत्मसमता की प्रतिष्ठा है। विद्या-अविद्यात्मिका अक्षर-क्षर-प्रकृति का यह समत्व ही विद्या-अविद्यात्मक आत्मा की अन्तरङ्गप्रकृति है, स्वरूप है स्वधर्म है। अन्तरङ्गप्रकृति की स्वाभाविक समता क्यों विषमता में परिणत हो जाती है ?, इस प्रश्न का उत्तर है—'बहिरङ्गप्रकृति'।

९९—गुणात्मिकाबहिरङ्गमायापरा 'वेदप्रकृति', एवं तन्मूलक धर्म्मबुद्धियोग—

आत्मक्षर की अपेक्षा अक्षरतत्त्व अव्यक्त है अव्यक्त अक्षर की अपेक्षा आत्मक्षर व्यक्त है एवं यही रङ्गप्रकृतिरूप विकारक्षर (पञ्चीकृत गुणभूत) की अपेक्षा व्यक्त आत्मक्षर अव्यक्त है। तात्पर्य—विश्व की उपादानभूता विकारक्षरप्रकृति की अपेक्षा अक्षरवत्-आत्मक्षर भी अव्यक्त ही बन रहा है। इसके अतिरिक्त व्यक्त विश्व की अपेक्षा से (आत्मक्षरापेक्षया व्यक्त बनी हुई भी) बहिरङ्गप्रकृति (विकारक्षर) अव्यक्त बन रही है। विश्वापेक्षया 'अव्यक्त' नाम से व्यवहृत की जाने वाली बहिरङ्गप्रकृति ही वैकारिक विश्व का मूल बनती है। इस बहिरङ्गप्रकृति के—'प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नादः' ये पाँच विवर्त हो जाते हैं, जिनके क्रमिक विकास का 'आत्मस्वरूपपरिचय' में विस्तार से स्पष्टीकरण किया जा चुका है। प्राणतत्त्व इन पाँचों का मूल है, यही ऋषितत्त्व है, जिसे हमनें पूर्व में आर्षमानवधर्म्म का मूलप्रवर्त्तक बतलाया है। बहिरङ्गप्रकृतिलक्षण इस ऋषिप्राणतत्त्व से ही पितर-देव-असुर-गन्धर्व-पश्वादि प्राणों के द्वारा वैकारिक विश्व तथा विश्वधर्म में प्रतिष्ठित प्रजा, एवं प्रजानुगत वर्ण-आश्रम-धर्म्मों का विकास हुआ है। प्राणतत्त्व वाक् से अविनाभूत है। प्राण-वाक् की समष्टि ही यजुर्वेद है जो ऋक्सामात्मक छन्दोभावों से अविनाभूत है। अतएव इस बहिरङ्गप्रकृति को 'वेदप्रकृति' कहा जा सकता है जिसके सम्बन्ध में भगवान् मनु ने 'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति' 'वेदाद्धर्म्मो हि निर्बभौ'—'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे' इत्यादि सिद्धान्त स्थापित किए हैं। आत्मक्षरानुगत, अविद्यात्मक त्रिगुणभाव का विकास इसी बहिरङ्गप्रकृति में जाकर हुआ है। इससे पहिले की सृष्टि मानसीसृष्टि है भावसृष्टि है गुणातीता समसृष्टि है आत्मसृष्टि है। अतएव—'तत्र प्राप्य भवति' इत्यनुसार यहाँ विभिन्नगुणमूलक भय-क्रम-विद्-प्रज्ञ-भावों का अभाव है। बहिरङ्गप्रकृतिमूला सृष्टि वैकारिकीसृष्टि है कर्म्मसृष्टि है गुणमयी विषमसृष्टि है विश्वसृष्टि है। आत्मसृष्टि ही विश्वसृष्टि की मूलप्रतिष्ठा है। विश्वसृष्टि विभिन्नगुणमूला होने से विभिन्नधर्म्मात्मिका है। आत्मसृष्टि गुणातीता बनती हुई अभिन्नधर्म्मात्मिका है। अभिन्नस्वरूप आत्मधर्म्म है विभिन्न बनता विश्वधर्म्म है। आत्मधर्म्माधारेण प्रतिष्ठित विश्वधर्म्म' जहाँ आत्मसमता के कारण शान्तिप्रद है वहाँ आत्मधर्म्म' से वञ्चित विश्वधर्म्म आत्मविषमता के कारण बनते हुए अशान्ति के प्रवर्त्तक माने गए हैं। आत्मदृष्टिमूलक

समदर्शन से युक्त विश्वदृष्टिमूलक विषमवर्त्तन ही गीता का निष्कामकर्मयोग है। विषमता का प्रवेश होता ही तब है जब कि आत्मदृष्टि को छोड़ कर हम विशुद्ध विश्वदृष्टि के आधार पर विश्वधर्म्म प्रतिष्ठित कर देते हैं। समदर्शन में विश्वगुण आत्मगुणरूप में परिणत होते हुए जहाँ समता के प्रवर्त्तक बनते हैं वहाँ विषमदर्शन में वे ही विश्वगुण आत्मगुण (आत्मधर्म्म) के आवरक बनते हुए विषमता के प्रवर्त्तक बन जाते हैं। गुणपरित्याग विषमतानिवृत्ति का कारण नहीं है। क्योंकि गुणमय विश्व में गुणप्रधान शरीर से युक्त रहने वाली अध्यात्मसंस्था के लिए गुणपरित्याग एकान्ततः असम्भव है। हमें तो गुणमय विश्व में रहते हुए, स्वगुणानुगत स्वधर्म्म का पालन करते हुए ही निर्गुणसम्पत्ति प्राप्त करना है। और इसका एकमात्र उपाय है-गुणात्मक कर्म्मों को निष्कामभाव से युक्त कर देना। ऐसा कर लेने से गुणमय विश्वकर्म्मों के यथावदनुपालन से लोकसंग्रहमूलक व्यवहार की भी रक्षा हो जायगी एवं गुणातीत आत्मधर्म्म भी सुरक्षित बना रह जायगा। यही तो निष्कामकर्म्म का अभूतपूर्व-अश्रुतपूर्व कौशल है, जो 'धर्म्मबुद्धियोग' नाम से व्यवहृत हुआ है।

१००-बहिरङ्गप्रकृति, और अव्यक्तगर्भित महान्—

अब दो शब्दों में गुणात्मिका बहिरङ्गप्रकृति के गुणभावों की भी मीमांसा कर लीजिए। सात्त्विकी, राजसी तामसी, भेद से अव्यक्तप्रकृति तीन विभक्त भावों में परिच्छिन्न रहती है। सात्त्विकी प्रकृति 'दैवीसम्पत्' है तामसी प्रकृति 'आसुरीसम्पत्' है एवं राजसी प्रकृति 'मानवीसम्पत्' है। योगमायात्मिका इस एक ही बहिरङ्गप्रकृति को हमनें भौतिक विश्वापेक्षया 'अव्यक्त' कहा है और साथ ही इस अव्यक्त को यजुर्लक्षण प्राणप्राणात्मक बतलाया है। यह अव्यक्त प्राणतत्त्व ही अपने प्राणात्मक अव्यक्तरूप को सुरक्षित (अक्षुण्ण) रखता हुआ यजु के मर्त्य वाक् भाग को स्वव्यापार (श्रम) से व्यक्त-परमेष्ठी के रूप में परिणत कर 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' न्याय से स्वयं भी इसी के गर्भ में प्रविष्ट हो जाता है। इस गर्भीभाव से प्राणप्रधान अव्यक्त स्वयम्भू, एवं वाक् से उत्पन्न आपोमय व्यक्त पारमेष्ठ्य, दोनों के सम्मिलित रूप को ही त्रिगुणात्मिका 'बहिरङ्गप्रकृति' मान लिया जाता है। आपोमय परमेष्ठी महान है, प्राणमय स्वयम्भू अव्यक्त है। अव्यक्त अव्यक्त है, महान् व्यक्त है। सांख्यशास्त्र की गुणात्मिका व्यक्तप्रकृति महान् है अव्यक्तप्रकृति स्वयम्भू अव्यक्त है। 'अव्यक्तमव्यक्तमनं सनातन' के अनुसार अव्यक्त-अक्षर-आत्माक्षर की समष्टिरूप ईश्वर इन दोनों में प्रविष्ट रहता हुआ सनातन' तत्त्व है। अव्यक्त स्वयम्भू, और व्यक्त महान, दोनों की समष्टि का नाम इसलिए 'महान्' कह सकते हैं कि, सनातन पुरुषविशिष्ट अव्यक्त स्वयम्भू तत्सृष्ट्वान्याय से महद्गर्भ में समाविष्ट है। यह 'महान्' अपने प्रातिस्विक स्वरूप से अभी केवल विशुद्ध सत्त्वमूर्ति है। त्रिगुणभावोत्पत्ति इसी महान् से आगे 'वाक् अन्न-अन्नाद' इन तीन भावों से उत्पन्न होती है। भूपिण्ड वायव्याग्निप्रधान बनता हुआ अन्नादप्रकृतिक है अग्नि ही अन्नाद है। चन्द्रमा सोम प्रधान बनता हुआ अन्नप्रकृतिक है, सोम ही 'एष वै सोमो राजा देवानामन्नं—यच्चन्द्रमाः' के अनुसार अन्न है। सूर्य्य सावित्राग्निगर्भित इन्द्रप्रधान बनता हुआ वाक्प्रकृतिक है 'वागिन्द्र' के अनुसार सावित्राग्निगर्भित इन्द्र ही वाक् है। इसप्रकार वागिन्द्रात्मक सूर्य्य, अन्नसोमात्मक चन्द्रमा, एवं अन्नादाग्न्यात्मक भूपिण्ड तीनों उत्तर लोकों में क्रमशः वाक्-अन्न-अन्नाद ये तीन प्रकृतिभाव प्रतिष्ठित हैं। पारमेष्ठ्य आपः प्रकृतिभाव स्वायम्भुव प्राण प्रकृतिभाव दोनों के मिलान से स्वयम्भू परमेष्ठी सूर्य्य चन्द्रमा पृथिवी, पाँच विश्वपर्वों के क्रमशः प्राण-आपः-वाक् अन्न अन्नादः ये पाँच प्रकृतिभाव हो जाते हैं। पाँचों की समष्टि ही बहिरङ्गप्रकृति

है। पाँचों के २१ क्रम में दो विभाग हैं। ब्रह्मानुगत स्वायम्भुव ब्रह्मरस, तद्गर्भित विष्णवनुगत पारमेष्ठ्य महत्तत्त्व दोनों की समष्टि एक विभाग है, इसे ही हम विशुद्ध सत्त्वात्मक 'महान्' कहते हैं।

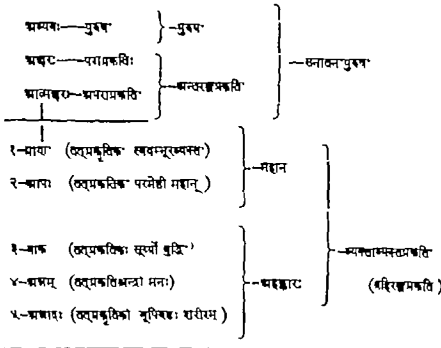
१०१–परिग्रहप्रकृति, और आकृति–प्रकृति–अहङ्कृति–त्रयी—

इन्द्रानुगत सौर वाक्तत्त्व, सोमानुगत चान्द्र अप्तत्त्व, अग्न्यनुगत पार्थिव अन्नादतत्त्व इन तीनों उत्तर प्रकृतियों की समष्टि का एक विभाग है। महान् के साथ इन तीनों का सम्बन्ध होता है। इसी से विशुद्ध सत्त्वरूप अव्यक्तगर्भित महान् षड्गुणक बन जाता है। सौरतत्त्व के समावेश से महान् में 'अहङ्कृति' का चान्द्रतत्त्वसमावेश से महान में 'प्रकृति' का, एवं पार्थिवतत्त्वसमावेश से महान् में 'आकृति' का समावेश होजाता है। आकृतिभावप्रवर्तिका पृथिवी, तथा प्रकृतिभावप्रवर्तक चन्द्रमा दोनों को अपने गर्भ में रखने वाले अहङ्कृतिभावप्रवर्तक सूर्य्य के परमेष्ठ्यनुगत दर्शपूर्णमासकर्म से अव्यक्तगर्भित महान् में सत्त्व–रज–तम इन तीन गुणों का प्रादुर्भाव होजाता है। सूर्य्य का परमेष्ठी महान् के चारों ओर परिक्रमा लगाना ही सौरदर्शपूर्णमास है। सौर अहङ्कृतिभावानुगत सौर प्रकाश से युक्त वही महान् 'सात्त्विकी' प्रकृति है। 'चित्रं देवानामुदगात्' के अनुसार सौर तत्त्व देवात्मक देवता है। सत्त्वानुगत महान् का इसी देवतत्त्व से सम्बन्ध है। अतएव सात्त्विकी प्रकृति को अवश्य ही 'दैवीसम्पत्' कहा जासकता है। सूर्य्यगर्भित चन्द्रमा के प्रकृतिभाव से वही महान 'राजसी प्रकृति है। 'चन्द्रमसात्रेता भवत आभूतम्' इत्यादि ज्योतिर्विद्–सिद्धान्तानुसार चान्द्रसोमतत्त्व मानवसर्ग का उपादान है। रजोऽनुगत महान् का इसी मानवसर्ग से सम्बन्ध है। अतएव राजसीप्रकृति को अवश्य ही 'मानवीसम्पत्' कह सकते हैं। सूर्य्यगर्भिता पृथिवी के आकृतिभाव से वही महान् 'तामसी प्रकृति है। 'एतेन (शरीरेण) अमुं लोकं जग्मन्वो मम्मसे (ब्रा॰ उप॰) के अनुसार पार्थिव–सूर्य्यविरुद्ध तमःप्रधान–आकृतिभावप्रवर्तक नरक नामक अग्नि ही आसुरीसृष्टि का जनक माना गया है। अतएव तत्सम्बन्धा तामसीप्रकृति को अवश्य ही 'आसुरीसम्पत्' कहा जासकता है। सौर अहङ्कृतिभावानुगत ज्योतिर्मय वह महान् 'सत्त्व' है। सूर्य्यगर्भित पार्थिव आकृतिभावानुगत सूर्य्यविरुद्धरश्म्यनुगत तमोमय वह महान् 'तम' है। एवं सूर्य्यगर्भित चान्द्र प्रकृतिभावानुगत तन्मय (अतएव तत्त्व तमोमय-ज्योतिस्तमोमय) भाग 'रज' है।

१०२–वाक्–अप–अन्नाद–मयी षड्गुणात्मिका परिग्रहप्रकृति—

यों देखिए कि–चन्द्रमा का जो भाग सूर्य्यानुगत रहता हुआ प्रकाशित रहता है वह सत्त्वात्मक चन्द्रमा है। सूर्य्यविरुद्धरश्म्यनुगत अप्रकाशित अर्द्ध चन्द्रमा रजोमय है। एवं तन्मध्यभाग रजोमय है। ठीक इसी प्रकार सूर्य्यसम्बन्ध–तारतम्य से महान् में ही सूर्य्यानुगत अर्द्ध महान् सूर्य्यविरुद्धरश्म्यनुगत अर्द्ध महान, एवं मध्य महान् भेद से सत्त्व (प्रकाश) तम (अन्धकार) रज (उभयात्मक) ये तीन अवस्थाभेद होजाते हैं। सत्त्व और अहङ्कृति का एक क्रम है वह सात्त्विकी देवसृष्टि का मूलाधार है। रज और प्रकृति, दोनों का एक युग्म है वह राजसी मानवसृष्टि का मूलाधार है। तम और आकृति दोनों का एक युग्म है, एवं यह तामसीसृष्टि की मूलप्रतिष्ठा है–'तत्र–असुरेभ्यः तमश्च मायां च प्रददौ (प्रजापतिः)'–(शत॰ २।४।२।५)। यों भी समन्वय किया जासकता है कि–सत्त्व–अहङ्कृति की समष्टिरूप सौरतत्त्व बुद्धितत्त्व है तत्प्रधान मनुष्य देवता है। रज–प्रकृतिसमष्टिरूप चान्द्रतत्त्व प्रज्ञामन है तत्प्रधान मनुष्य मनुष्य है। तम–आकृति–समष्टिरूप पार्थिवतत्त्व शरीर है तत्प्रधान मनुष्य असुर है। असुरप्रकृतिक मनुष्य शरीरसुख को प्रधान मानता है। मानवप्रकृतिक मनुष्य मनःशान्ति को सुख मानता है। एवं देवप्रकृतिक मनुष्य बुद्धिविकास को

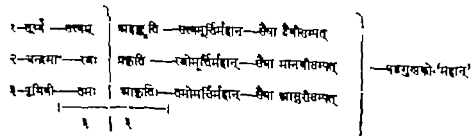
ही अपना पुरुषार्थ समझता है। तत्सम्बन्ध प्रकृत में यही है कि—अव्यक्तगर्भिता त्रिगुणत्वलक्षणा 'महान' नामकी बहिरङ्गप्रकृति सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिव्यनुगत-वाक्-अन्न अन्नाद इन तीन बहिरङ्गप्रकृतियों से षड्गुणात्मिका बन जाती है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—



१—सूर्य्यः तदनुगतः—अहङ्कृतिभावः—तदनुगतो महान्—'सात्त्विकीप्रकृतिः'

२—चन्द्रमाः, तदनुगतः—प्रकृतिभावः—तदनुगतो महान्—'राजसीप्रकृतिः'

३—पृथिवी, तदनुगतः—आकृतिभावः—तदनुगतो महान्—'तामसीप्रकृतिः'



१०३—मानवसर्गानुगता गुणासक्ति—

उक्त मीमांसा से इस प्रश्न का भी समाधान हो जाता है कि, ईश्वर में गुणासक्ति क्यों नहीं होती ?, जबकि वह भी त्रैविध्य गुणात्मक विश्व में नित्य प्रविष्ट है। जीव ही गुणबन्धन से क्यों आबद्ध हो जाता है ?, जबकि वह ईश्वर का ही अंश है। जीवसृष्टि का मूलाधार सूर्य्य माना गया है जैसाकि—'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इत्यादि मन्त्रश्रुति से प्रमाणित है। सूर्य्य ही अपने दर्शपूर्णमासात्मक परिभ्रमण से स्व (सूर्य्य)—चन्द्रमा—पृथिवी के द्वारा महान् को सत्त्व-रज-स्तमो-भावों से, तथा अहङ्कृति-प्रकृति-आकृति-भावों से महान् को बहुगुणक बनाता है। अतएव सौर जीवसर्ग में ही सूर्य्यानुगत गुणत्रयी का प्राधान्य रहता है। विशेषतः मानवकर्म की प्रतिष्ठात्मक चन्द्रमा स्नेहगुणक है। अतएव इसी सर्ग में गुणासक्ति का उदय होता है।

१०४—गुणत्रयी का व्यूहन—

उक्त तीनों गुणों का परस्पर व्यूहन होता है। इस व्यूहन से प्राणिमात्र में गौण-प्रधानरूप से तीनों का समावेश हो जाता है। प्रत्येक प्राणी में मात्रातारतम्य से यद्यपि तीनों गुण प्रतिष्ठित हैं तथापि—'व्यपदेशन्याय' से वह प्राणी तद्गुण नाम से ही व्यवहृत किया जाता है जिस प्राणी में जो गुण प्रधानरूप से विकसित रहता है। महदात्मानुगत इसी गुणत्रयविज्ञान को लक्ष्य बना कर भगवान् मनु ने कहा है—

> १—सत्त्वं, रज, स्तमश्चैव त्रीन् विद्यादात्मनो गुणान्।
> यैर्व्याप्येमान् स्थितो भावान् 'महान्' सर्वानशेषतः॥
> २—यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते।
> स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम्॥
>
> —मनु १२।२४।२५।

१०५—सत्त्व-रज-स्तमः—प्रकृतिभेदभिन्ना मानवत्रयी—

इन शब्दों में मानव-प्रकृतियों का स्वरूपपरिचय भी प्राप्त कर लीजिए, जो कि 'आर्षविद्या' का मुख्य प्रतिपाद्य विषय माना गया है। सबको समानदृष्टि से देखना, विभक्त तात्त्विक पदार्थों में उस एक अविभक्त अव्ययतत्त्व पर दृष्टि रखना, एतद्विध ज्ञान 'सात्त्विक' है *। विभिन्नदृष्टिमूलक पृथग्भावनात्मक विभिन्न ज्ञान 'राजस' है =। एवं तत्त्वशून्य, नानाप्रपञ्चरूप, भूतप्रपञ्च का ही प्रधान लक्ष्य बनाने वाला, भूतप्रपञ्च-

---

> *—सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
> अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥
>
> —गीता १८।२०।
>
> =—पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।
> वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥
>
> —गीता १८।२१।

यह ज्ञान 'तामस' है —। रागद्वेषशून्य आसक्तिरहित फलकामनाविमुक्त, प्रकृतिसिद्ध, नियतकर्म्म (निष्काम-कर्म्मयोगलक्षण धर्मबुद्धियोग) 'सात्त्विक' है A.। बहुपरिश्रमसाध्य, अतएव क्लान्तिजनक, उत्पत्त्याकांक्षा-मूलक, 'अहङ्करोमि' भावात्मक कर्म्म (काम्यकर्म्मयोगलक्षण वेदोक्त कर्म्मकाण्ड), 'राजस' है B । "हमारे स्वार्थसाधक अमुककर्म्म से समाज का कैसा अपकार होगा, स्वयं हमारी क्या दशा हो जायगी, हमें अपने अमुक-कर्म्म में अपने पुण्यसंस्कारों की, आध्यात्मिक बल की शान्ति की किस प्रकार बलि चढ़ानी पड़ेगी, हमारे कर्म्म से कितने निरपराधों का सर्वनाश हो जायगा, इत्यादि अनुबन्ध, क्षय, हिंसादिपरिणामों की उपेक्षा कर अपने आपको—हम सब कुछ कर सकते हैं, करेंगे," रूप से अपने आपको सर्वशक्तिशाली मानने का दम्भ करते हुए मोहपूर्वक जो कर्म्म किया जाता है वही 'तामस' है C.। फलासक्ति से विमुक्त अपने आपको 'अहङ्करोमि' इस अहंभाव से पृथक् रखने वाला हानि-लाभ, दोनों में धैर्य्य रखने वाला, उत्साहयुक्त, फलप्राप्ति-अप्राप्ति, दोनों स्थितियों में शान्त बना रहने वाला कर्म्मकर्त्ता सात्त्विक है D। फलासक्त फलप्राप्ति के लिए सतत लालायित परपीड़ाप्रवर्त्तक, शौचाचार-पराङ्मुख, थोड़ीसी सफलता पर हा-हा रूप से अट्टाहास करने वाला, थोड़ी सी निष्फलता से 'हाय-हाय' करने वाला कर्म्म-कर्त्ता 'राजस' E है। अस्तव्यस्तरूप से अनियमितरूप से, अव्य-

---

—यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्य्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पञ्च तत्तामसमुदाहृतम् ॥
—गीता १८।२२।

A—नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥
—गीता १८।२३।

B—यत्तु कामेप्सुना कर्म्म साहङ्कारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥
—गीता १८।२४।

C—अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥
—गीता १८।२५।

D—मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ॥
—गीता १८।२६।

E—रागी कर्म्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्त्तितः ॥
—गीता १८।२७।

अस्थिर ढंग से कर्म्म करने वाला कार्य्याकार्य्यविवेकज्ञानशून्य, देव-द्विज-गुरु-श्रेष्ठ आदि सम्मान्य महानुभावों के आगे उद्धत-उच्छृङ्खल व्यवहार करने वाला (विनयशून्य) अपने मन वाक्, काय (संकल्प-शब्द-कर्म्म) से सदा दूसरों की निन्दा करने वाला समालोचना करने वाला आवश्यक कार्य्यों में भी आलसी बना रहने वाला धन के मिल जाने पर भी अपने आपको दुःखी-निर्धन-घोषित करते रहने वाला, अल्प-किञ्चित् समय में पूरे हो जाने वाले कामों को दिनों-मासों-वर्षों का अनुगामी बनाने वाला, एवंविध कर्म्मकर्त्ता 'तामस' कहलाता है F। (विशेष विस्तार के लिए देखिए गीता १८ अध्याय, श्लोक २६ से ४० श्लोक पर्य्यन्त, एवं तदनुगत गीताविज्ञानभाष्य)।

१०५—राजर्षि मनु सम्मत गुणत्रयस्वरूपदिग्दर्शन—

राजर्षि मनु कहते हैं—'जो मनुष्य वेदाभ्यास में रत रहते हैं शास्त्रोक्त स्नानादि शुचिकर्म्मों का यथावत् पालन करते हैं इन्द्रियसंयमपूर्वक लोक-वेद-व्यवहारों का सम्पादन करते हैं अहर्निश दानादि सत्-क्रियाओं में तत्पर रहते हैं उन्हें सत्त्वगुणप्रधान समझना चाहिए' *। लघीभूत कर्म्मों के आरम्भ में पूर्ण रुचि करने वाले थोड़े में ही अपना धैर्य्य खो देने वाले अप्रशस्त कर्म्मों में प्रवृत्त होते रहने वाले निरन्तर विषयों की ओर आसक्त बने रहने वाले महानुभावों को रजोगुणप्रधान मानना चाहिए +। परसम्पत्ति को सदा गिद्ध-दृष्टि से ताकते रहने वाले अहर्निश कोमलशय्या को ही अपना आराध्य बनाने वाले (निद्रालु) अधीर, क्रूर, ईश्वर-परलोकादि में विश्वास न रखने वाले, आचारशून्य, अपने आपको सदा गरीब बताते हुए दूसरों के आगे हाथ फैलाने वाले ऐसे प्रमादी मनुष्यों को तमोगुणप्रधान मान लेना चाहिए ×। जिन (हिंसा-चोरी-मिथ्याभाषण-व्यभिचार-द्यूत-परस्त्रीगमन आदि आदि) कार्य्यों को करता हुआ, जो कर्म्मकर्त्ता अपने अन्तर्जगत में लज्जा का अनुभव करता है समझ-

F—अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते॥
—गीता १८।२८।

*—वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धर्म्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम्॥
—मनु १२।३१।

+—आरम्भरुचिताऽधैर्य्यमसत्कार्य्यपरिग्रहः।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम्॥
—मनु १२।३२।

×—लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्य्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम्॥
—मनु १२।३३।

...र को अनुमान लगा लेना चाहिए कि, लज्जानुभव कराने वाले ऐसे सब कर्म्म तमोगुणप्रधान हैं A। ...न कर्मों से (धर्म्मशाला–स्मार्तकर्म्म–सदावर्त्त–वापी–कूप–तडागनिर्म्माण–प्याऊ–अनाथालय–आदि कर्म्मों ...) व्यक्ति संसार में अपना नाम चाहता है जो निधनावस्था में भी दुःखी नहीं देखे जाते उनके ऐसे ...र्म्मों से अनुमान लगा लेना चाहिए कि, ये रजोगुणप्रधान हैं B। जो व्यक्ति अपने आपको ...म से सीखने वाला बनाए रहते हैं, अथवा तो जो वेदार्थतत्त्वपरिज्ञान के लिए सदा लालायित रहते हैं, जो ...अपने शास्त्रानुगत) कर्म्म करते हुए कभी लज्जा का स्मरण भी नहीं करते जिनके ऐसे कर्म्मों से जिन्हें ...सदा आत्मसन्तोष प्राप्त होता रहता है, उनके ऐसे कर्म्मों से हमें यह अनुमान लगा लेना चाहिए कि, वे व्यक्ति सत्त्वगुणप्रधान हैं C। यही गुणत्रयपरीक्षा की सामासिक D (संक्षिप्त और तात्त्विक) निकषा (कसौटी) है। तमोगुण सदा काम (फलकाम) को लक्ष्य बनाता है, रजोगुण सदा अर्थ को आराध्य बनाता है एवं सत्त्वगुण सदा मोक्षमूलक धर्म्म को लक्ष्य बनाता है। सांसारिक विषयभोगपरायणता काम है धनसञ्चयलिप्साप्रवृत्ति ...अर्थ है, एवं ऐहलौकिक अभ्युदयपूर्वक पारलौकिक निःश्रेयसभावप्राप्ति का साधन धर्म्म है—'तस्माद्धर्म्मं परमं वदन्ति'।

> तमसो लक्षणं कामो, रजसस्त्वर्थ उच्यते।
> सत्त्वस्य लक्षणं धर्म्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥
>
> —मनु १२।३८।

१०६–गुणात्मिका प्रकृति का आत्ममूलक त्रिवृद्भाव, एवं तन्मूलक नव (९) योनि–विवर्त्त–

गुणभेद से सम्बन्ध रखने वाली योनियों का भी सामासिक स्पष्टीकरण कर लीजिए। सत्त्वगुणात्मिका दैवीसम्पत् से सम्बन्ध रखने वाली गति 'उत्तमा' है रजोगुणात्मिका मानवीसम्पत् से युक्त गति 'मध्यमा'

A–यत्कर्म्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति।
तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम्।
—मनु १२।३५।

B–येनास्मिन् कर्म्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम्।
न च शोचत्यसम्पत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥
—मनु १२।३६।

C–यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन्।
येन तुष्यति चात्मास्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥
—मनु १२।३७।

D–त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम्।
इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षणम् ॥
—मनु १२।३४।

है, एवं तमोगुणाश्रित आसुरी सम्पत्तियुक्त योनि 'अधमा' है। मनःप्राणवाङ्मय आत्मा के प्रकृतिसिद्ध त्रिगुणभाव के कारण * क्योंकि प्रत्येक गुण त्रिवृद्भाव से त्रिगुणात्मक है। अतएव तीन गतियों के अवान्तर नौ विवर्त हो जाते हैं। सात्विक गुणोपेत महानात्मा से युक्त कर्म्मात्मा देवयोनि का अधिकारी बनता है, रजोगुणोपेत कर्म्मात्मा मानवयोनि का अनुगामी बनता है, एवं तमो-गुणान्वित कर्म्मात्मा को तिर्य्यग्योनि का अनुगमन करना पड़ता है। क्रियाकर्म्म के तारतम्यानुगत गुणत्रय-तारतम्य से इन्हीं तीन के अवान्तर ९ विवर्त बन जाते हैं जैसाकि मनुमहर्षि ने कहा है—

> १—येन यस्तु गुणेनैषां संसारान् प्रतिपद्यते ।
> तान् समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥
> २—देवत्वं सात्विका यान्ति, मनुष्यत्वं च राजसाः ।
> तिर्य्यक्त्वं तामसा नित्य, मित्येषा त्रिविधा गतिः ॥
> ३—त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः ॥
> अधमा-मध्यमा-ग्र्या च कर्म्म-विद्या-विशेषतः ॥
>
> —मनुः १२-३९, ४०, ४१ ।

भावरूपात् रसास्त्र, विरोधिविष, पाषाण-लोष्टादि स्थावरवर्ग असंज्ञजीव धातुजीव कहलाए हैं। इन्हें ही लोकभाषा में 'जड़' कहा गया है। ओषधि-वनस्पति-लता-गुल्म-वल्ली-आदि अन्तःसंज्ञजीव 'मूलजीव' नाम से व्यवहृत हुए हैं। धातुजीव और मूलजीव, दोनों अपने प्रभाव से स्थानान्तरगमन में असमर्थ रहते हुए स्वस्थान में ही प्रतिष्ठित रहते हैं अतएव इन्हें 'स्थावर' नाम से भी व्यवहृत किया गया है। एवंविध स्थावरप्रपञ्च, एवं कृमि कीट, मत्स्य सर्प कच्छप, पशु मृग, ये 'ससंज्ञजीव' नामक जीव (१) अधमा तामसी योनि से सम्बद्ध हैं। तमोगुण का आत्यन्तिक विकासरूप ही अधम तमोगुण है। तद्युक्त कर्म्मात्मा को उक्त योनियों में से ही तारतम्य से कोई भी योनि प्राप्त होती है। हाथी, अश्व शूद्र, म्लेच्छ, सिंह, व्याघ्र, शूकर, वराह, ये योनिमात्र (२) मध्यमा तामसी योनि है। नृत्यगायक चारण सुपर्णपक्षी (गरुड़ादि) गुप्तचर पुरुष, राक्षस, पिशाच इत्यादि योनिमात्र (३) उत्तमा तामसी योनि है। इसप्रकार तमोगुण के तारतम्य से एक ही तमोगुण योनित्रयी का प्रवर्त्तक बन रहा है।

जो क्षत्रिय क्षात्रधर्म्म से च्युत हो जाता है जिस कारणवश क्षत्रिय का यज्ञोपवीत संस्कारकाल (२२ वर्ष) अतिक्रान्त हो जाता है स्वधर्म्मच्युत वही क्षत्रिय 'व्रात्य' क्षत्रिय कहलाता है जिसे लोकभाषा में 'पतितक्षत्रिय' (वर्णच्युत) उपाधि से अलङ्कृत किया जाता है। ऐसे व्रात्य क्षत्रिय से सवर्णा (क्षत्रियजाति क्षत्रियपत्नी) से उत्पन्न सन्तति झल्ल मल्ल निच्छिवि, नट, करण खस, द्रविड़, आदि उपजाति-नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। गदाधारी राजसेवक 'मल्ल' कहलाए हैं। बिगड़े हुए मत्त हाथी को वशीभाव

*—आत्मानुबन्धी इस त्रिवृद्भाव का विशद वैज्ञानिक विवेचन उपनिषद्विज्ञानभाष्य-प्रथमखण्ड में देखना चाहिए।

(कोम्ल—थाँट) से वश में करना इन्हीं का कार्य्य है । राजपूताना में ये लोग 'सरभार' नाम से प्रसिद्ध हैं । राजप्रासादों में प्रतिहारता करते हुए द्वारादि की व्यवस्था करने वाले (छड़ीदार—छड़ीदार) पुरुष भी इसी मल्ल—कोटि में अन्तर्भूत हैं । बाँस—रस्सा—ढोलक आदि साधनों के द्वारा कलाप्रदर्शनपूर्वक लोकानुरञ्जन करने वाले 'नट' कहलाए हैं । बाहुयुद्ध—विविध व्यायामकुशल पुरुष (पहलवान) 'मल्ल' कहलाए हैं । शास्त्रव्यवसाय के द्वारा, धनुर्व्यवसाय के द्वारा मद्यव्यवसाय के द्वारा जीविकानिर्वाह करने वाले पुरुष शस्त्रजीवी-धनुर्जीवी—पानजीवी कहलाए हैं । ये सब योनिभाव (१) 'अधमा राजसी योनि' है । अभिषिक्त राजवर्ग, क्षात्र प्रतिष्ठित क्षत्रियवर्ग, राजाओं, एवं क्षत्रियों के कुलपुरोहित ब्राह्मण शास्त्रविवादरत पुरुष, इत्यादि योनिभाव (२) 'मध्यमा राजसी योनि' है । गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष, देवयोनि के अनुयायी विद्याधरादि, अप्सराएँ, इत्यादि योनिभाव (३) 'उत्तमा राजसी योनि' है * ।

वानप्रस्थी, संन्यासी, ब्राह्मण, विमानचारी पुरुष (योनियाँ) नक्षत्र, दैत्य, इत्यादि योनिभाव (१) 'प्रथमा सात्त्विकी योनि' है । यज्ञकर्मनिष्ठ ब्राह्मण, वेदतत्त्वद्रष्टा ऋषि, अभिमानी देववर्ग अग्निष्वात्तादि सप्तविध पितर, ध्रुवादिप्रधान ज्योतिर्लोकस्थ, वत्सर, साध्य, इत्यादि योनिभाव(२)'मध्यमा सात्त्विकी योनि' है । चतुर्मुख ब्रह्मा, मरीच्यादि सर्गप्रवर्त्तक ऋषि, धर्म्म, महान् अव्यक्त, इत्यादि योनिभाव (३) 'उत्तमा-सात्त्विकी योनि' है । मानवधर्म्मशास्त्रोपवर्णिता गुणानुगता नवधा विभक्ता योनियों का यही दिग्दर्शन है + ।

१०७—अपूप्रकृतिलक्षणा गुणमयी महत्प्रकृति, एवं तद्रूप धर्मिमोक्ष—

उक्त प्राकृतिक—विवर्त—विश्लेषण का निष्कर्ष यही है कि, अव्ययात्मा बलगता आत्मा है, अक्षरात्मक्षरसमष्टि इसकी अन्तरङ्गप्रकृति है । एवं पाञ्चभौतिक अन्नात्मक भौम शरीरानुगता अन्नादप्रकृति, सोमात्मक चान्द्र प्रज्ञानात्मानुगता अमृतप्रकृति, रश्म्यात्मक सौर विज्ञानात्मानुगता वाक्प्रकृति ब्रह्मात्मक स्वायम्भुव अव्यक्तात्मानुगता प्राणप्रकृति इन चारों विकारप्रकृतियों को तथा वैश्वानरात्मक अर्थप्रजीववर्ग वैश्वानरतैजसप्राज्ञात्मक अन्तःसंज्ञजीव पे से प्राणात्मक सर्वसंज्ञजीव इन त्रिविध पार्थिव कर्म्मात्माओं को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाली विष्णात्मक पारमेष्ठ्य महानात्मा से अनुगत 'अपूप्रकृति' ही त्रिगुणभावात्मिका

---

* झल्लो मल्लश्च राजन्याद्व्रात्यान्निच्छिविरेव च ।
नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च ॥

—मनु १०।२२।

+ आहुतिमूलक—ऋषिप्राणनिबन्धन गोत्रसर्ग प्रवृत्तिमूलक—देवप्राणनिबन्धन वर्णसर्ग एवं आकृतिमूलक पितृप्राणनिबन्धन जातिसर्ग इन तीनों प्राकृत सर्गों से सम्बन्ध रखने वाला वर्णभेदात्मक प्रजास्वरूप बड़ा ही विलक्षण है, जिसे यथावत् न जानने के कारण ही आज का केवल आकृतिमय मानव आकृतिमूला जाति को ही मानवस्वरूप की व्यवस्थापिका मानने मनवाने की महती भ्रान्ति कर रहा है जिसके दुष्परिणामस्वरूप मानव का प्रकृतिसिद्ध निबन्धन देवप्राणानुगत मौलिक स्वरूप आज सर्वथैव अव्यवस्थित बन गया है जिसके इतिहास का 'रक्तक्रान्ति का महान् सन्देश' नामक स्वतन्त्र प्रकाशित निबन्ध में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है ।

विकृतप्रकृति है। वायु (प्राण) वायु, रस पानी की स्वसंस्था वही महद्भावना विकृतप्रकृति है। इच्छानुगत विज्ञान [illegible] आत्मा में यह विकृतप्रकृति [illegible] अनुगत [illegible] के विकास का कारण बनती वही आत्मा का [illegible] विकृत [illegible] है। वही मनोऽनुगत [illegible] आत्मा में यही विकृतप्रकृति [illegible] अनुगत [illegible] के विकास को प्राप्त करती हुई आत्मा का 'बन्धन' बन जाती है। प्रकृतिस्थ आत्मा मुक्त है, विकृतिस्थ आत्मा बद्ध है। [illegible] प्रकृति है इसी [illegible] सत्त्व-रज-तम [illegible] गुण [illegible] 'साम्यावस्था' में परिणत रहते हैं। अतएव 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' प्रकृति का यह लक्षण माना गया है। स्वाभाविक यही धर्म है जिस प्रकार [illegible] इन चारों धातुओं की [illegible] की प्रतिष्ठा है, एवमेव सत्त्व-रज-तमो-गुणों की [illegible] है। जिन जिन धातुओं [illegible] हैं [illegible] का उपद्रव हो जाता है। एवमेव जिन जिन गुणों की [illegible] हो जाती है [illegible] उत्पन्न हो जाती है। धातुवैषम्य [illegible] एवं गुणवैषम्य [illegible] की [illegible] ही [illegible] की प्रतिष्ठा है। [illegible] हैं [illegible] गुणसाम्य का [illegible] में परिणत करते हुए [illegible] सकते हैं। [illegible] विकृतप्रकृतिरूपा [illegible] को बुद्धियोग के द्वारा हम [illegible] प्रकृति की अनुगामी बना लेंगे, उस दिन [illegible] में [illegible] हुए भी, [illegible] हुए भी [illegible] स्वाभाविक [illegible] का [illegible] नहीं। [illegible] में [illegible] वाली [illegible] इसी जीवन में [illegible] है। [illegible] ही तो [illegible] का फल है। यह गुणें [illegible] इस जीवन में ही प्राप्त हो सकता है।

१०८—नैसर्गिकप्रकृति, एवं सांस्कारिकप्रकृति का स्वरूपदिग्दर्शन—

[illegible] प्रकृति-विकृतियों का स्वरूप-दिग्दर्शन कराया गया। अब पुनः सांस्कारिक [illegible] की [illegible] का [illegible] किया जाता है। [illegible] है कि [illegible] का ही नाम विकृतप्रकृति है। [illegible] से यह [illegible] सांस्कारिक धर्म आत्मा के [illegible] धर्म का [illegible] है। [illegible] की नैसर्गिक सांस्कारिक, [illegible] ये दो [illegible] मानी गई हैं जिन्हें हम क्रमशः नैसर्गिकप्रकृति सांस्कारिकप्रकृति इन नामों से भी व्यवहृत कर सकते हैं। [illegible] में [illegible] के कारण बनता है। [illegible] में [illegible] होने वाले इन [illegible] संस्कारसमूह का ही नैसर्गिकप्रकृति माना गया है। एवं वर्तमान जन्म में [illegible] से उत्पन्न संस्कारसमूह 'सांस्कारिक प्रकृति' [illegible] है। [illegible] नैसर्गिक है [illegible] सांस्कारिक है। [illegible] एक ही [illegible] के दो विवर्त हो जाते हैं। नैसर्गिकी प्रकृति जहाँ 'जन्मसिद्धा' कहलाती है वहाँ सांस्कारिकी प्रकृति 'पौरुषकर्मसिद्धा' [illegible] से विभूषित होती है। [illegible] प्रकृति का [illegible] हैं, [illegible] [illegible] है [illegible] है। [illegible] मानवीजन्म में दोनों [illegible] का [illegible] है [illegible] नहीं है [illegible] से मनुष्य [illegible] भी बन जाता है [illegible] से [illegible] हैं।

१०६—अधिकारसिद्धा सांस्कारिकी, तथा जन्मसिद्धा नैसर्गिकी प्रकृति—

'अधिकारसिद्धा' सांस्कारिकी प्रकृति की प्रतिष्ठा जन्मसिद्धा नैसर्गिकी प्रकृति ही बना करती है। 'अधिकार' शब्द वर्णव्यवस्था का सूचक है। जिसके वीर्य्य में जन्मतः जो वर्ण प्रतिष्ठित रहेगा, वह तदनुगत संस्कार का ही अनुगामी बनेगा। 'प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यम्' वाक्य जहाँ जन्मसिद्धा नैसर्गिकी प्रकृतिका समर्थन कर रहा है, वहाँ—'संस्कारविशेषाच्च' (वशिष्ठस्मृति) वाक्य अधिकारसिद्धा सांस्कारिकी प्रकृति की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। 'संस्कारतत्त्व' भावनावासनात्मक 'ज्ञानकर्मसंस्कार,' 'वैधसंस्कार' भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। जन्मसिद्ध संस्कार देश–काल–पात्र–द्रव्य–शुक्र–शोणित–आदि दोषों से स्व–विकास से मुकुलित बने रहते हैं। अतएव देखा जाता है कि, जन्म से ब्राह्मण सिद्ध, ब्राह्मणी माता से उत्पन्न भी सन्तति जन्मतः ब्राह्मण रहती हुई भी ब्राह्मण्य से वञ्चित रह जाती है। इन आगन्तुक दोषों को हटाने के लिए, जन्मसिद्ध वर्णवीर्य्य की कमी पूरी कर उसे सर्वाङ्गीण बनाने के लिए, साथ ही उसमें वैशिष्ट्य आधान के लिए वैज्ञानिकों ने तत्तद्वर्णानुगत तत्तद् द्रव्यसाधनों के द्वारा दोषमार्जक–हीनाङ्गपूरक–अतिशयाधानात्मक जिस वैज्ञानिक प्रकार का आविष्कार किया है वही वैधसंस्कार' कहलाया है, जो श्रौत–स्मार्त्त गर्भाधानादि संस्कार' नाम से प्रसिद्ध है। जन्मसिद्धा नैसर्गिकी, अधिकारसिद्धा सांस्कारिकी प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली वर्णव्यवस्था का, तथा वैध–गर्भाधानादि संस्कारों का गीताभूमिका 'ख–ग खण्डों में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। जन्मसिद्धा प्रकृति की क्या पहिचान है, प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान ने कहा है—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥१॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥३॥

—गीता १८।२६ २७ २८।

११०—निग्रहः किं करिष्यति—

भगवान् कहते हैं कि जिसकी जैसी प्रकृति है उसे वाध्य होकर उसीका अनुसरण करना पड़ता है। इसी आधार पर प्रान्तीय भाषा में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है—कि 'जाय का पड्या सुभाव जासी जीव से'। जिसका जैसा जन्मसिद्ध स्वभाव है, वह उसके मरने पर ही मिटता है अर्थात् जन्मसिद्ध प्रकृति नहीं बदली जा सकती। यहाँ 'स्वभाव' से स्वकर्मलक्षणा अक्षरप्रकृति अभिप्रेत नहीं है। अपितु जन्मसिद्धा नैसर्गिकी वाह्यप्रकृति ही अभिप्रेत है। मान लीजिए, किसी का स्वभाव क्रोधी है। गुरुदेव प्रयत्नपूर्वक समझाते हैं-कि, 'देखो क्रोध का परित्याग कर दो यह मनुष्य का सब से बड़ा शत्रु है। क्रोध एक प्रकार का वह वडाग्नि है जो नरकों में तत्काल उत्पन्न होता है। अग्नि ही शरीर का बल है। यदि तुम इस शरीर से बाहिर निकाल दोगे, तो निर्बल बन जाओगे। यह समाधानकर्त्ता अग्नि बाहिर न निकल जाय, इसलिए तुम्हें इसे (क्रोधाग्नि

को) भी जाना चाहिए । गुरूपदेश के इस मर्म को हम स्वयं समझ रहे हैं । मान लीजिए-बालक में क्रोध हमारा शत्रु है । यह सब कुछ जानते-मानते हुए भी निमित्तवश क्रोध उत्पन्न हो जाता है । क्यों ?, सम्मसिद्ध स्वभाव । जन्मसिद्ध संस्कारानुगत ही तो हमारा उदय है जैसा उदय होता है उसमें वैसे ही तो कर्म निकलते हैं । इसी आधार पर भगवान ने कहा है-'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति' ॐ ।

१११-पुण्य-पापादि द्वन्द्वों का विधूनन—

जब तक उदयरूपा प्रकृति (स्वभाव) स्वस्वरूप में सुरक्षित है तब तक उसका निग्रह असम्भव है यही तात्पर्य है । इसीसे यह भी स्पष्ट निकल आता है कि यदि किसी उपाय से उदय का स्वरूप बदल दिया जाता है तो प्रकृति का भी विपर्यय सम्भव बन जाता है । जब तक मेघ है तब तक प्रकाशधर्म का आवृत रहना अनिवार्य है । हाँ वायुरूप-उपाय प्रवेश से यदि मेघ हटा दिया जाता है तो प्रकाशधर्म का प्राकट्य सम्भव है । प्रकृतिविपर्यय ही धर्म विपर्यय का मूल माना गया है । यों देखिए, संस्कारान्तरों से जन्मसिद्धा भी दैवी-सम्पत् आसुरीसम्पत् बन जाती है आसुरीसम्पत् दैवीसम्पत् में परिणत होती देखी गई है । कलह-मद-उन्मादादि तामसिक संस्कारों के समावेश से प्रभुत्वज्ञान दब जाते हैं दिव्यसंस्कार विकसित हो जाते हैं । लशुन-पलाण्डादि अभक्ष्य-भक्षणों से उत्पन्न तामसिक संस्कारोदय से दैवीसम्पत् पराभूत हो जाती है । वक्तव्यांश यही है कि, ज्ञानेन्द्रियजनित अनुभवाहित संस्कार (भावना) एवं कर्मेन्द्रियजनित क्रियाहित संस्कार (वासना) ही अन्तरङ्ग प्रकृतिविशिष्ट आत्मा के धर्म-ज्ञानादि स्वाभाविक आत्मधर्मों को आवृत कर उसे जन्मसिद्धा नैसर्गिकी, तथा अभिधारणसिद्धा सांस्कारिकी दैवी आसुरीसम्पत् में अभिनिविष्ट कर देते हैं । इसी अभिनिवेशात्मक-संस्कार-सम्बन्ध से इन उभय सम्पत्तियों में से किसी एक के साथ आत्मा का सम्बन्ध हो जाता है । शुभ भावनावासना से दैवीसम्पत् का निर्माण होता है अशुभ-भावनावासना से आसुरीसम्पत् का उदय होता है । अच्छा और बुरा दोनों वासना पर निर्भर है । यदि वासनासम्बन्ध नहीं है तो न पुण्य है न पाप है न अच्छा है न बुरा है । न पाप है न पुण्य है ।

११२-शुभधर्मात्मक परधर्म, एवं अधर्मात्मक परधर्म—

जिस प्रकार आसुरीसम्पत्जनित पाप आत्मा को परतन्त्र बनाता है एवमेव दैवीसम्पत्जनित पुण्य से भी आत्मस्वातन्त्र्य आवृत हो जाता है । आत्मस्वातन्त्र्य के लिए दोनों का परित्याग अनिवार्य है । तभी स्वातन्त्र्यलक्षणा निरपेक्षमुक्ति का उदय सम्भव है । इसी आधार पर-'उभे पाप-पुण्ये विधूय' सिद्धान्त स्थापित हुआ है । दोनों इसीलिए आत्मस्वातन्त्र्यता के आवरक हैं कि दोनों ही आगन्तुक हैं । स्वधर्म आगन्तुक नहीं है अपितु वह नित्य है प्रकृतिलक्षण (अन्तरङ्गप्रकृतिलक्षण) है । सांस्कारिक धर्म आगन्तुक है अतएव इन्हें 'स्वधर्म' न कह कर आगन्तुक, अतएव आश्रितधर्म ही कहा जायगा । 'धर्मिणा (आत्मना) ध्रियते' निर्वचन से दोनों ही आत्मा के द्वारा धृत रहने से 'धर्म' नाम से व्यवहृत होते हैं । इन दोनों धर्मों में से शुभ-

ॐ न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं, न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः ।
'स्वभाव' एवात्र तथातिरिच्यते यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः ॥

संस्कारात्मिका दैवीसम्पत् से अभ्युदय होता है, अतएव इसे 'सद्धर्म्म' कहा जाता है। एवं अशुभसंस्कारात्मिका आसुरीसम्पत् प्रत्यवायजननी बनती हुई 'अधर्म्म' नाम से व्यवहृत हुई है। सद्धर्म्म से आत्मधर्म्म आवृत अवश्य होजाता है, परन्तु उसकी स्वरूपहानि नहीं होती। अतएव इसे 'धर्म्म' कोटि में अन्तर्भूत मान लिया जाता है। परन्तु अधर्म्म से आत्मस्वरूपावरण के साथ साथ आत्मपतन भी होजाता है, अतएव एवंविध (अशुभसंस्कारात्मक) आश्रितधर्म्म को 'अधर्म्म' कहना अन्वर्थ बन जाता है।

११३–धर्म्म, एवं अधर्म्मात्मक द्वन्द्वनिवर्त्तक धर्म्मबुद्धियोग—

मान लेते हैं दैवीसम्पत् अभ्युदयजननी है। परन्तु है तो यह भी आत्मस्वरूप के स्वाभाविक धर्म्म को आवृत करने वाली ही। आगन्तुक भला हो, अथवा बुरा, अन्ततोगत्वा वह आगन्तुक ही है पराया ही है। सहस्रगुणित भला होने पर भी आगन्तुक आगन्तुक ही रहेगा। इस आगन्तुकभाव से ही दैवी, आसुरीसम्पत्–लक्षण उभयविध आश्रितधर्म्म (धर्म्म, अधर्म्म) आत्मा की स्वाभाविकता के विरोधी बनते हुए तत्त्वतः अधर्म्म कोटि में ही निविष्ट हैं। 'अन्यत्र धर्म्मात्, अन्यत्राधर्म्मात्' (कठोप० १।२।१४ के अनुसार धर्म्म–अधर्म्मातीत आत्मा कैसे इन द्वन्द्वभावों को अपना उपकारक मान सकता है। धर्म्म संस्कार आत्मा में अनुकूल तरङ्गें उत्पन्न करता है, अधर्म्म संस्कार प्रतिकूल तरङ्गें उत्पन्न करता है। धर्म्म संस्कारानुगत सुखानुभव में भी आत्मा स्वकेन्द्र को छोड़ देता है, अधर्म्म संस्कारजनित दुःखानुभव में भी आत्मा स्वप्रतिष्ठा से च्युत होजाता है। स्वाभाविक, स्थिरतालक्षणा, आत्मशान्ति का दोनों में ही अभाव है। अतएव इस दृष्टि से दोनों ही त्याज्य बन रहे हैं। अधर्म्म से होने वाले अनर्थ स्पष्ट हैं। धर्म्म से होने वाले अनर्थों का भी सुखानुभवतारतम्य से अनुमान लगाया जासकता है। किसी व्यक्ति को धर्म्म (पुण्य) संस्कारवश कहीं से सम्पत्ति प्राप्त हुई। जिस प्रकार सरोवर में फैंका गया ढेला क्षणमात्र के लिए सरोवर की शान्ति भङ्ग कर देता है एवमेव विभव–सम्पत् ने आत्मशान्ति को क्षणभर के लिए विचलित कर दिया। आगन्तुक सम्पत्ति ने काम–लोभ को उत्साहित किया। सम्पत्ति–परिग्रह बढ़ने लगा। इसप्रकार अनर्थपरम्परा ने जन्म ले डाला। कहना पड़ेगा, और मानना पड़ेगा कि, सुखातिरेकात्मक यह पुण्यानुगत संस्कार भी तत्त्वतः शान्ति का प्रतिबन्धक ही है। तभी तो धर्म्म जनित सुख भी 'अनुकूलवेदना' (सुहाता हुआ दुःख) नाम से ही व्यवहृत हुआ है। सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है कि, कामना के अनुग्रह से उत्पन्न भावना–वासना–संस्कार–ग्रन्थिबन्धनरूप धर्म्माधर्म्माभिनिवेश आत्मस्वरूपधर्म्म का प्रतिबन्धक बनता हुआ अपने परिपाक के अनुपात से समय समय पर–'नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण' के अनुसार उत्पीड़ित किया करता है। इसे कैसे हटाया जाय ?, आत्मा की स्वाभाविक शान्ति का उदय कैसे हो ?, इस प्रश्न का एक समाधान आर्षविद्यानुगत यही 'धर्म्मबुद्धियोग' है।

११४–भोग, प्रतिबन्धकरूप, एवं समत्व, लक्षणा संस्कारनिवर्त्तिका उपायत्रयी—

अभिनिवेशात्मक संस्कारों को हटाने का एक मात्र अर्थ है–इनके साथ होने वाली आत्मा की ग्रन्थि को हटाना। ग्रन्थिभेदन ही संस्कारनिवृत्ति है। ग्रन्थिभेदनात्मिका यह संस्कारनिवृत्ति तीन उपायों से सम्भव है उन्हीं का क्रमिक दिग्दर्शन कराया जारहा है। अपेक्षाबुद्धि–गर्भित मानस कामना के द्वारा ज्ञान–कर्म्मेन्द्रियजनित भावना–वासनात्मक संस्कार, ग्रन्थिबन्धन–द्वारा आत्मा में अभिनिविष्ट (अभिव्याप्त–संसक्त) दैवासुरसम्पत् (जिनसे आत्मस्वरूप आवृत रहता है) की निवृत्ति के ये तीनों उपाय क्रमशः भोग, प्रतिबन्धहरण, समत्व,

इन नामों से व्यवहृत हुए हैं, जिनमें से पहिले क्रमप्राप्त 'भोग' नामक प्रथमसोपान की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। गुणत्रयानुगत प्राकृतिक कर्मपरिपाक (संस्कारभोग) ही 'भोग' है। बतलाया गया है कि, गुणत्रयी के विद्यमान से प्रत्येक अध्यात्मसंस्था में तीनों गुणों का उद्रेक रहता है। इनमें सत्त्वगुण सुखानुयायी है, रजोगुण दुःखानुयायी है एवं तमोगुण मोहानुयायी है। सुखप्राप्ति सत्त्व से, दुःखप्राप्ति रज से एवं मोहप्राप्ति तम से होती है। रजोगर्भित सत्त्व सद्धर्म' है, रजोगर्भित तम अधर्म' है। सद्धर्म देवधर्म है, अधर्म असुरधर्म है, मानवात्मा दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित है। इस रूप से जीवन में तीनों का भोग होता रहता है। कभी मनुष्य सुखी देखा जाता है, कभी दुःखार्णव में निमग्न सुना जाता है, एवं कभी स्तब्ध सा प्रतीत होने लगता है। जीवन पर दृष्टि डालिए, तीनों का प्रत्यक्ष होजायगा। आपके जीवन में आपको जितना सुख मिलता है, वह सुखांश सत्त्वगुणानुगत देवधर्म' (शुभसंस्कार) का भोग है। जितना दुःख मिलता है, वह रजोगुणानुगत असुरधर्म (अशुभसंस्कार) का भोग है। एवं स्तब्धीदैन्यमूढ-वृत्तिलक्षण मोह तमोऽनुगत पशुधर्म का भोग है। तात्पर्य यह है कि, सत्त्वानुगत देवधर्म, रजोऽनुगत असुरधर्म' एवं तमोऽनुगत पशुधर्म' तीनों का 'सुख-दुःख-मोह' रूप से आपके जीवन में भोग होता रहता है। कभी आप अपने आप को सुखी पाते हैं, तो कभी दुःखी पाते हैं, कभी आप कुण्ठित देखे जाते हैं। जिस समय आप सुखी हैं, स्वीकार कीजिए उस समय आपके सत्त्वात्मक शुभसंस्कार का भोग होरहा है, दुःखदशा में रजोमय अशुभसंस्कार का भोग होरहा है, एवं मोहदशा में तमोमय अशुभसंस्कार का भोग होरहा है। इसप्रकार आपके जीवन में समयभेद से तीनों गुणात्मक संस्कारों का भोग होता रहता है, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

१—सत्त्वं ज्ञानं, तमोऽज्ञानं, राग-द्वेषौ रजः स्मृतम्।
एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः॥
२—तत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत्।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं 'सत्त्वं' तदुपधारयेत्॥
३—यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः।
तद्-'रजो' प्रतिपं विद्यात् सततं हारि देहिनाम्॥
४—यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं 'तमः' तदुपधारयेत्॥

—मनुः १२।२६ २७ २८,२९।

सम्पूर्ण जीवन को छोड़िए, केवल एक अहोरात्र में ही तीनों के भोगों का प्रत्यक्ष कर लीजिए। दिन-रात में अनेक अवसर तो ऐसे आते हैं, जिनमें हमारा मन प्रसन्न रहता है, हम अपने अन्तर्जगत् में शान्ति का अनुभव करते हैं। कई अवसर आते हैं जिनमें मन अशान्ति-म्लान-दुःखी बन जाता है। एवं ऐसे भी अवसर आजाते हैं जिनमें हम अपने आपको भूल कर कुण्ठित से विचार-विवेक शून्य से बने हुए किंकर्तव्यविमूढ बन जाते हैं, प्रमादी की सी दशा होजाती है। इसप्रकार अपने एक दैनिक जीवन में ही तीनों भावों का

अनुभव करते रहते हैं। ये तीनों अनुभव ही संस्कारिक कर्म्मों का उपद्रवलक्षण भोग माना गया है। जो संस्कार आत्मधरातल पर सञ्चित हैं, वे इस गुणानुगता भोगत्रयी के रूप से ही क्रमशः क्षीण होते रहते हैं। इस क्रमिक भोग से जिस समय सञ्चित संस्कार निःशेष होजाते हैं उस समय आत्मा पूर्णरूप से स्वतन्त्र हो जाता है। इस भोग के सम्बन्ध में हमारा प्रयास व्यर्थ है। प्रकृति के अनुसार जब जिस सञ्चितकर्म्म व्यूह का जो क्रमिकक्रम प्रारब्ध बन जाता है उसका उसी क्रम से भोग होता रहता है। यही संस्कारोपशय का पहिला प्राकृतिक 'भोग' रूप उपाय है।

दूसरा उपाय है– प्रतिबन्धकत्व'। आत्मा में जैसे, एवं जिस जाति के भावना-वासना-संस्कार प्रतिष्ठित हैं उनसे विजातीय संस्कारों के आ जाने से (विजातीय संस्कारों के सञ्चित संस्कारों की अपेक्षा सबल होने पर) पूर्वसंस्कार उसी प्रकार अभिभूत हो जाते हैं, जैसे सौर प्रकाश के आक्रमण से (दिन में) रहती हुई भी चन्द्रज्योत्स्ना स्वस्वरूप से अभिभूत हो जाती है। सत्वगुणानुगता दैवीसम्पत् भी देवप्राणभेद से अनेक जातियों में विभक्त है, एवं तमोगुणानुगता आसुरीसम्पत् भी असुरप्राणभेद से अनेक जातियों में विभक्त है। दैवीसम्पत्तियाँ आसुरीसम्पत्तियों की, तथा आसुरीसम्पत्तियाँ दैवीसम्पत्तियों की जैसे प्रतिबन्धिका हैं तथैव इनमें परस्पर भी प्राणभेदानुगत जातिभेद से पारस्परिक प्रतिबन्धकता विद्यमान रहती है। परस्पर विरुद्ध इन सम्पत्तियों की गौण–प्रधानता से इनका परस्पर अभिभव हुआ करता है। इस अभिभव से अभिभूत संस्कार स्वपराक्रम–प्रदर्शन में असमर्थ हो जाता है। मान लीजिए–किसी व्यक्ति में आसुरीसम्पत् विकसित है, इसके प्रभाव से इसका आत्मा दुःखानुशायी बन रहा है। इससे बचने का एक यह भी उपाय है कि वह व्यक्ति आसुरीसम्पत् के विरोधी दैवीसम्पद्भाव का अनुगमन (संग्रह)करे। चन्द्रकान्तमणि के संयोग से जैसे विद्यमान भी अग्नि की दाहकता नष्ट हो जाती है एवमेव आत्मस्थित आगन्तुक धर्मलक्षण आसुरीसम्पत्–रूप अशुभसंस्कार तद्विरुद्ध सबल आगन्तुक धर्मलक्षण दैवीसम्पत्‌रूप शुभसंस्कार के आजाने से नष्ट हो जाते हैं। सुकृत के उदयसे अवश्य ही दुष्कृत का विनाश सम्भव है। भगवदाराधन नैगमिक–आगमिक अनुष्ठानादि के बल से उत्पन्न शुभसंस्कारों से निश्चयेन सञ्चित दुष्कृत नष्ट हो जाते हैं। आगन्तुक धर्मात्मक सञ्चित संस्कारों के नाश का यही 'प्रतिबन्धकत्व' रूप दूसरा उपाय है।

तीसरा उपाय है 'समत्व'। भोग और प्रतिबन्धकत्व उक्त दोनों उपायों की अपेक्षा यही सर्वश्रेष्ठ, और श्रेष्ठ उपाय है। कारण स्पष्ट है। समत्व से विद्याबल की अभिवृद्धि होती है एवं विद्याबलाभिवृद्धि से अविद्याबल स्वतः निर्बल बन जाता है। विद्याबल साक्षात् ज्ञानज्योतिर्लक्षण प्रदीप्त विद्युत् है। जिस प्रकार उत्तप्त लौह–खण्ड पर गिरने वाले जलकण तत्क्षण विलीन हो जाते हैं तथैव प्रबल विद्याज्योति से उत्पन्न, एवं उत्पन्न होने वाले संस्कार तत्क्षण भस्मसात् हो जाते हैं। प्रबुद्ध ज्ञानाग्नि कर्म्मसंस्कारबन्धनों को निःशेषावस्था में परिणत कर डालता है, जैसाकि–'ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' (गी ४।३७।) इत्यादि भगवद्वचन से प्रमाणित है। इस तृतीय उपाय की सर्वश्रेष्ठ–श्रेष्ठता का एक दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए, एवं समन्वय करने से पहिले भोग, और प्रतिबन्धकत्वलक्षण दोनों उपायों के तत्व का अन्वेषण कर लीजिए। संस्कारतत्व की स्वरूपमीमांसा करते हुए पूर्व में हमनें इनकी सञ्चित प्रारब्ध, भुक्त, ये तीन अवस्थाएं बतलाई हैं। इन तीन के अतिरिक्त संस्कारिक कर्म्मों के सम्बन्ध में एक चौथा विभाग और मानना चाहिए, जिसका आगामी संस्कारों से सम्बन्ध है।

११५–कर्म्मस्वरूपसम्पादिका प्रक्रम–अभिक्रम–व्यूहन–त्रयी—

प्रक्रम, अभिक्रम, व्यूहन इन तीन तत्त्वों के समन्वय से संचित संस्कारों का स्वरूप सम्पन्न होता है। क्रत्वर्थ कर्म्म प्रक्रम है, पुरुषार्थकर्म्म अभिक्रम है, एवं अनेक पुरुषार्थकर्म्मों की समष्टि 'व्यूह' है। आप अपने घर से निकल कर देवदर्शन के लिए जाते हैं। यह गमनकर्म्म आपका पुरुषार्थकर्म्म' है, क्योंकि गमन से पुरुष का (आपका) देवदर्शनरूप अर्थ (फल) सिद्ध होता है। इस पुरुषार्थलक्षण गमनकर्म्म' का स्वरूप अनेक क्रियाओं से सम्पन्न हुआ है। एक पाँव आगे रखना, एक पीछे रखना इस क्रम से अनेक पादगतियों के धाराक्रम से इस एक गमन का स्वरूप बनता है। गमनकर्म्म पुरुषार्थरूप 'क्रतु' नामक कर्म्म है। पादगतिरूप अनेक गतिकर्म्मों के समन्वय से क्योंकि इस एक 'क्रतु' रूप पुरुषार्थकर्म्म का स्वरूप सम्पन्न होता है अतएव वह अवान्तर गतिकर्म्म–'क्रत्वर्थकर्म्म'' (क्रतु के स्वरूप निर्म्माता अवान्तर कर्म्म) कहलाए हैं। कल्पना कर लीजिए–एक पादगति एक प्रक्रम है जिस एक पादगति के लिए लोकभाषा में–'पौवड़ा' शब्द व्यवहृत हुआ है। प्रत्येक पौवड़े में भी यद्यपि सूक्ष्म–सूक्ष्मतर–सूक्ष्मतम अवान्तर अर्द्धक्रम गतियों का समावेश रहता है एक पैर से दूसरे पैर पर्य्यन्त व्याप्त एक प्रक्रम में भी अवान्तर गतिरूप अनेक प्रक्रम व्यवस्थित हैं। परन्तु सूक्ष्मत्वात् उनकी ओर न जाकर हम एक पादगतिरूप एक प्रक्रम को ही यहाँ एक क्रत्वर्थ कर्म्म मान लेते हैं, जो विज्ञानभाषा में 'प्रक्रम' कहलाया है जिस गतिकर्म्म में स्थिति–गति दोनों भावों का समन्वय है। घर से निकल कर देवमन्दिर पर्य्यन्त पहुँचने में मार्ग के तारतम्य से एकपादगतिलक्षण ऐसे अनेक प्रक्रमकर्म्मों का अनुगमन करना पड़ता है तब कहीं जाकर 'दर्शन करने गए हैं' इस एक पुरुषार्थकर्म्म का स्वरूप सम्पन्न होता है। अवान्तर क्रियाओं के धारावाह से ही तो एक गति का स्वरूप निर्म्मित माना गया है *। तात्पर्य्य कहने का यही है कि क्रत्वर्थकर्म्म रूप कर्म्म 'प्रक्रम' है। इन अनेक प्रक्रमों से सम्पन्न पुरुषार्थरूप कर्म्म 'अभिक्रम' है यही भावना–वासनात्मक एक कर्म्मसंस्कार है। अपने जीवन में हम अनन्त प्रक्रमगर्भित ऐसे ऐसे असंख्य अभिक्रमकर्म्मों का अनुगमन करते हैं। फलतः आत्म–धरातल में अनन्त अभिक्रमकर्म्मों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इन सब सोत्कर्षात्मक पुरुषार्थलक्षण–अभिक्रमकर्म्मों की समष्टि ही 'कर्म्मव्यूह' (कर्म्मों का संस्कारों का ढेर) कहलाता है, जिसे व्यवहार में 'संचित–संस्कार' कहा गया है।

प्रक्रमकर्म्मगर्भित–अभिक्रमकर्म्मों की समष्टिरूप 'संचित संस्कारसमष्टि' ही कर्म्मव्यूह है, एवं इन्हीं के उपभोग का हमें विचार करना है। कर्म्मव्यूहात्मक जन्मान्तरीय संचित संस्कारपुञ्ज में से प्रवर–कामप्रवृत्ति के मूलभूत किसी एक अभिक्रमकर्म्मसंस्कार का व्यापार हुआ इसके फलस्वरूप भोग हुआ। आगे चल कर कोई संचित अभिक्रमकर्म्म का व्यापार आयुर्भोगप्रद भाग का कोई शारीरिक स्वास्थ्यरूप भाग का, कोई सुखभोग का, कोई दुःखभोग का, तो कोई मोक्षभोग का प्रवर्तक बना। जो जिसका प्रवर्तक बनता गया, वह अभिक्रमकर्म्म प्रारब्ध बनता गया। संचितकर्म्मव्यूह में से भोगानुगत (व्यापाराधीन) बने हुए इन प्रवर्तक अभिक्रमकर्म्मों की समष्टि ही 'प्रारब्धकर्म्म' नाम से व्यवहृत हुई जिसका अवसान केवल भोग पर ही माना गया है।

---

* गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ॥

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म्म कल्पकोटिशतैरपि'–'प्रारब्धकर्म्मणां भोगादेव क्षयः' के अनुसार प्रारब्ध–अभिक्रमकर्म्मों की निवृत्ति एकमात्र उपभोग पर ही निर्भर है। जिस समत्वयोगलक्षण निष्कामकर्म्म योग को सर्वश्रेष्ठ-श्रेष्ठ बतलाया जाता है, वह भी प्रारब्धकर्म्मों को निःशेष बनाने में एकान्ततः असमर्थ ही है। जब तक तीर हाथ में है, तभी तक उसे रोका जा सकता है। जब तीर हाथ से निकल गया तब उसे रोकना तीरन्दाज की शक्ति के बाहिर है। ठीक यही अवस्था यहाँ समझिए। सञ्चितसंस्कारव्यूह के अभिक्रमकर्म्म जब तक व्यापारानुगामी नहीं बन जाते, तब तक वे सञ्चित बने रहते हैं, एवं तब तक उनका समत्वयोग से नियन्त्रण भी किया जा सकता है। परन्तु जब वे अभिक्रमकर्म्म व्यापारोन्मुख बन जाते हैं, आरम्भ हो जाते हैं, तब सिवाय भोग के अन्य किसी भी उपाय से उनका निवारण सम्भव नहीं है।

११६–भाग्यवाद की जटिल समस्या, और उसका निराकरण—

आज का भाग्यवादी भारतीय प्रजा के सम्मुख आज एक बड़ी जटिल समस्या उपस्थित कर रहा है। प्रसङ्गोपात्त उसका भी निराकरण कर लेना चाहिए। सर्वसाधारण के मुख से यह सुना जाता है कि-'जैसा हमारे भाग्य में लिखा है हमें वैसा ही फल भोगना पड़ेगा। भाग्य की रेखा कभी नहीं मिट सकती"। इसी किंवदन्ती के आधार पर यह प्रश्न खड़ा होता देखा गया है कि "जब कि भाग्य में लिखा मिट नहीं सकता तो सुखप्राप्ति के लिए शास्त्रों में विहित-धर्म्म-कर्म्म अनुष्ठान जप, आदि विधि-विधानों का क्या प्रयोजन ?"। एक मनुष्य रोगी हुआ है अपने भाग्य से। रोग मिटना लिखा होगा, तो वह नियत समय पर मिट ही जायगा। यदि उसके भाग्य में यह लिखा होगा कि-'तुम्हारी इस रोग से मृत्यु होगी' तो वह भाग्यानुसार मर ही जायगा। यदि भाग्य में सुख पाना है, तो उसे कोई रोक नहीं सकता। यदि दुःख पाना लिखा है तो उसे कोई भी विधि–विधान मिटा नहीं सकता। फिर शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों का यह कहना कि, 'रोगशान्ति के लिए मृत्युञ्जय का जप करो अमुक अनुष्ठान करो, दान करो,' इत्यादि का क्या अर्थ ?। भाग्यवाद की इसी समस्या में पड़ कर आज भारतवर्ष पुरुषार्थहीन बन जाता है। यदि किसी ज्योतिषी ने यह आश्वासन दिला दिया कि-'तुम्हारे भाग्य में बहुत सम्पत्ति है,' तो तत्काल हम पुरुषार्थ को नमस्कार कर देते हैं। क्या ज्योतिष का फलादेश मिथ्या है ?, क्या भाग्यवाद निस्तत्त्व है ? क्या विधि–विधान निरर्थक हैं ?, नहीं, सर्वथा नहीं। फिर भाग्यवाद का क्या अर्थ ?। तब तो कर्म्मवाद को ही प्रधान मानना चाहिए। इन सब समस्याओं के निराकरण के लिए हमें पहिले 'भाग्य कहते किसे हैं ?' इस प्रश्न की ही मीमांसा करनी चाहिए।

प्राक्तन–अभिक्रमात्मक जन्मान्तरीय सञ्चितसंस्कारव्यूह का नाम है–'भाग्यवाद,' एवं वर्त्तमानजन्मानुगत कर्म्मव्यूहों का नाम है–'कर्म्मवाद,' जो संस्कारजनक बनते हैं एवं जो संस्कारपुञ्ज भाग्यवादरूप में परिणत होता जाता है। तात्पर्य यही हुआ कि पूर्वजन्म में हमनें जैसे शुभ–अशुभ कर्म्म किए थे उनसे उत्पन्न शुभ–अशुभ संस्कारों में से कुछ का तो पूर्वजन्म में ही भोग-द्वारा क्षय हो गया। अभिक्रमानुगत-परम्पराक्रम से जिनके भोग का पूर्वजन्म में अवसर नहीं आया वे संस्कार आत्मा में सञ्चित रह गए। इन पूर्वजन्मानुगत–शुभाशुभ–कर्म्मसंस्कारों की समष्टि ही भारतीय परिभाषा में–'भाग्य' नाम से व्यवहृत हुई–'भाग्यं कर्म्म शुभाशुभम्' (जन्मान्तरकृतशुभाशुभकर्म्मभिरुत्पन्ना अतएव 'कर्म्म' नाम्नैव अभिहिता'–भोगवञ्चिता' शुभाशुभसंस्काराः–भाग्यम्)।

प्रकृति के अनुसार तो यही निष्कर्ष निकलता है कि पूर्वजन्म में सञ्चितसंस्काररूप 'भाग्य' के अनुसार ही सुख-दुःख-रोगादि की प्राप्ति होनी चाहिए। और ऐसा ही होता भी है। परन्तु जो भाग्य वर्तमान जन्म की सम्प्रवृत्ति बनता है उसके सञ्चितभाग्य, प्रारब्धभाग्य भेद से दो विभाग हो जाते हैं। जो सञ्चित अभिव्यक्त्यात्मक भाग्य (संस्कार) व्यापारशील नहीं बनता वह तो सञ्चितभाग्य है एवं जो अभिव्यक्त्यात्मक भाग्य (संस्कार) फल पकड़ता है वह प्रारब्धभाग्य कहलाता है। सञ्चितभाग्य को उपायविशेष से नियन्त्रित किया जा सकता है किन्तु प्रारब्धभाग्य का किसी भी उपाय से निरोध सम्भव नहीं है। यदि हमने कोई उपाय नहीं किया, तो उभयविध भाग्य प्रारब्धरूप से मुक्त होकर ही भोगना पड़ेगा। यदि उपाय किया तो सञ्चितभाग्य की निवृत्ति हो सकेगी। 'भाग्य का लिखा टलता नहीं' इस किंवदन्ती का उपाय न करने की दशा में यह अर्थ होगा कि—'उभयविध भाग्य का लिखा टलता नहीं'। एवं उपाय करने पर यह अर्थ होगा कि—'सञ्चितभाग्य का लिखा उपाय से टल सकता है किन्तु प्रारब्धभाग्य का लिखा नहीं टल सकता'। इसी से यह भी सिद्ध हो गया कि शास्त्रोक्त विधि-विधानों से सञ्चितभाग्यरूप दुष्कृत को सुकृतरूप में परिणत किया जा सकता है। क्या प्रारब्धभाग्य के सम्बन्ध में विधि-विधान सर्वथा निरर्थक हैं ?। नहीं। यह तो सत्य है कि विधि-विधान प्रारब्धभाग्य को क्षीण नहीं कर सकते और एतावता ही यदि विधि-विधानों को निष्प्रयोजन कहलाया जाय, तब भी ठीक है। परन्तु विधि विधानों से आत्मा में एक ऐसा सबल संस्कार उत्पन्न हो जाता है जिसके प्रवेश से आत्मा सबल हो जाता है। इस सबलता का फल यह होता है कि विधि-विधानों के अभाव में प्रारब्धभाग्यवश निर्बल बना हुआ जो आत्मा प्रारब्धभाग्य के भोग में अधिकारवश से केन्द्रविच्युत बनता हुआ कातर हो जाता है विधि-विधान-कर्म जनित सुकृतसंस्काररूप से आत्मा की वह निर्बलता नष्ट हो जाती है। और वह शान्तिपूर्वक प्रारब्धभाग्यानुगत भोगों को भोगने में समर्थ हो जाता है। मान लीजिए-किसी को प्रारब्धभाग्यवश शनैश्चरदशा का सामना करना पड़ा। ज्योतिर्विशारद ने आदेश दिया तुम नीलम पहिनो। नीलम पहिनने से महदशा का भोग रुक जायगा यह बात तो नहीं है। प्रारब्धभाग्यवश महदशा का फल तो इसे अवश्य भोगना पड़ेगा। परन्तु इस भोग से होने वाली अशान्ति से वह अवश्य बचा रहेगा। क्योंकि नीलम में शनिप्राण की प्रधानता है। इसे धारण करने से तत्प्राणाकर्षणविज्ञानानुसार नीलमसजातीय शनिप्राण का सीधा आक्रमण इस नीलम पर होगा। और इसप्रकार शनिदशानुगामी आत्मा शनिप्राण के साक्षात् आक्रमण से बचा रह जायगा। प्रारब्धभाग्यजनित अनिवार्य भोगों में भी हमारा आत्मा अपनी स्थिति न छोड़ बैठे अपितु वह धैर्यपूर्वक-शान्तिपूर्वक इनके अनुगमन में समर्थ हो जाय, एकमात्र इस शान्ति-समाश्वासन-भावप्राप्ति के लिए ही अनिवार्य भाग्य के सम्बन्ध में भी महर्षियों ने विधि-विधानों की उपयोगिता स्वीकार की है। मानते हैं विधि-विधानों से सञ्चित भाग्य के प्रारब्धभाग्यरूप अभिक्रम (व्यापारशील सांस्कारिक पुरुषार्थकर्म) का नाश सम्भव नहीं है। परन्तु विधि-विधानाभाव में इन प्रारब्धभाग्यजनित भोगों से आत्मा निर्बल बना रहता हुआ जैसे प्रत्यवायाभिमुख (पतनोन्मुख) बना रहता है वैसे विधि-विधानानुगमन में इस अभिक्रम के रहने पर भी सबलता के कारण यह प्रत्यवायोन्मुख नहीं बनने पाता। विधि-विधान-जनित सुकृत संस्कारात्मक धर्मभाग अभिक्रम (प्रारब्ध) को नष्ट करने में असमर्थ रहता हुआ भी लोकमर्यादानुसार भाग्यरेखा मिटाने में असमर्थ रहता हुआ भी आत्मा को प्रत्यवाय से बचाने में अवश्य समर्थ हो जाता है और इसप्रकार प्रारब्धकर्मों के लिए आदिष्ट विधि-विधानात्मक अनुष्ठानादि कर्म आत्मा को एक बहुत बड़े भय से बचाने में समर्थ हो जाता है। अभिव्यक्त्यात्मक प्रारब्धभाग्य के सम्बन्ध

रखने वाले शान्ति-स्वस्त्ययन-प्रवर्त्तक विधि-विधानात्मक-धर्म्म की इसी उपादेयता का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति, प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥
—गी० २।४०।

निष्कर्ष यह निकला कि, धर्म्म-कर्म्म-उपासना-अनुष्ठानादि सत्कर्म्मों से सञ्चितभाग्य का अवरोध हो जाता है, प्रारब्धभाग्यजनित भोग भोगने का बल प्राप्त हो जाता है। यही इन विधि-विधानों की अनिवार्य्य (सञ्चितभाग्यापेक्षया) और आपेक्षिक (प्रारब्धभाग्यापेक्षया) उपयोगिता है। एक तत्त्व का और विश्लेषण कर लीजिए। मान लीजिए, एक व्यक्ति प्रारब्धकर्म्मवश रुग्ण हुआ, जिसका भोग केवल रुग्णता पर विश्रान्त है। इस प्रारब्धकर्म्म से व्यक्ति रुग्ण अवश्य हो गया है किन्तु इससे मृत्युयोग नहीं है। कौन जानता है कि-रोगात्मक भोग के जनक इस प्रारब्ध अभिक्रम के रोगात्मक भोगरूप से क्षीण होते ही सञ्चितभाग्यव्यूह में से वह अभिक्रम प्रारब्धरूप में परिणत होने वाला है जिसका भोग है-'मृत्यु'। यदि प्रारब्धकर्म्मदशा में वह व्यक्ति मृत्युञ्जयादि विधि-विधान कर रहा है अथवा तो तत्त्ववेत्ता ब्राह्मण से करवा रहा है, तो तज्जनित सुकृतबल से (आगे जाकर प्रारब्धभाग्यरूप में परिणत हो जाने वाला, किन्तु) अभी सञ्चितभाग्यरूप में ही परिणत मृत्युभोगजनक, सञ्चित (किन्तु प्रारब्धोन्मुख) वह अभिक्रम क्षीण बन जाता है। इसप्रकार प्रारब्धभाग्यजनित रोगात्मक भोग में बलप्रदानद्वारा शान्तिप्रदान करने के साथ साथ इसके बल से रोगी मृत्युभोगजनक सञ्चित भाग्य के क्षयद्वारा महाभयरूप मृत्यु से भी बचाया जा सकता है। किस समय कौन सा सञ्चित अभिक्रम प्रारब्धरूप में परिणत होकर क्या अनिष्ट कर देता है ? यह हम सामान्य व्यक्तियों के लिए जैसे अज्ञात विषय है, एवमेव शास्त्रीय विधि-विधानों से जनित सुकृत संस्कारबल किस समय किस सञ्चितभाग्य, और प्रारब्धभाग्य में क्या परिवर्त्तन कर देता है ?, यह भी अज्ञात विषय ही है। तभी तो इस संस्कारिक भाग्यवाद को 'अदृष्ट' कहा गया है। मान लीजिए-सुकृतसंस्कारजनक अनुष्ठानादि धर्म्म-कर्म्मों से न तो रोगभोगात्मक प्रारब्धभाग्य में ही कोई शान्ति मिली न मृत्युयोग का ही अवरोध हो सका। फिर भी इसे निरर्थक इसलिए नहीं माना जा सकता कि इस धर्म्मानुष्ठान से उत्पन्न सुकृत संस्कार इस जन्म में न सही, किसी न किसी जन्म में प्रारब्धदशा में आकर अवश्य ही फलानुगामी बनेगा। धर्म्मपथ प्रत्येक दशा में अभ्युदयजनक ही है। इससे यदि तात्कालिक फल नहीं होता, तो एतावता ही इसे अनुपादेय नहीं ठहराया जा सकता। शास्त्रोक्त विधि-विधानात्मक धर्म्म-पथ की इसी सार्वकालिक-आवश्यक उपादेयता का समर्थन करते हुए भगवान् कहते हैं—

पार्थ ! नैवेह, नामुत्र, विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात ! गच्छति ॥
प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकान्-उषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥
—गीता ६।४०,४१।

प्रारब्धकर्म्म की अतिशय प्रबलता से मान लीजिए यावज्जीवन धर्म्ममार्ग का अनुसरण करते हुए भी एक परम धार्मिक व्यक्ति जीवन पर्य्यन्त दुःखी ही बना रहा। क्या ऐसे व्यक्ति के धर्म्मजनित सुकृत व्यर्थ चले गए ?। भगवान् कहते हैं—नहीं। इन सुकृत-संस्कारों के बल से इसे परलोक में सद्गति प्राप्त होगी। एवं उत्तर जन्म में श्रीसम्पन्न कुल में यह जन्म लेगा। 'अपढ़' तथा 'अच्छा' ही रहेगा। मलेरिया न रहने पर खाया हुआ कुनैन अपने संस्कारफल से भाग्यवश होने वाले मलेरिया को अवश्य ही निर्बल बना देगा। इसीलिए तो भगवान् ने कहा है कि, अदृष्टकर्म्मवाद (भाग्यवाद) की समस्या सुलझाने में बड़े बड़े विद्वान् भी कुण्ठित हो जाते हैं। मानवीय मन अपने बल पर इनका इदमित्थमेव निर्णय कर डाले यह असम्भव है। जिन तत्त्ववेत्ताओं नें अपनी योगदृष्टि से इन तत्त्वों का साक्षात्कार किया है, उनका वचनरूप शास्त्र ही हमारे लिए अभ्युदय का एकमात्र निरापद पन्था है। कितना भी स्पष्टीकरण किया जाय तथापि अदृष्ट तत्त्वज्ञानशून्यों के लिए मादृश अदृष्टतत्त्वज्ञानशून्य व्यक्ति के द्वारा किया गया यह 'अदृष्टतत्त्वसमन्वयात्मकम्' सर्वात्मना सन्तोषजनक नहीं बन सकता—'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ' इत्येव शरणीकरणीयम् *।

११७—समत्वोपाय की सर्वज्येष्ठ-श्रेष्ठता—

प्रकृतमनुसरामः। 'भोग' रूप प्राकृतिक उपाय से प्रारब्धभाग (प्रारब्धसंस्कार) तो अवश्य क्षीण हो जाते हैं, परन्तु सञ्चितभाग्य (अनारब्ध संस्कार) ज्यों के त्यों सुरक्षित रह जाते हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि, इस स्वाभाविक भोगक्रम से इस जन्म में न सही, तो किसी न किसी जन्म में तो सञ्चित संस्कारों का क्षय हो ही जायगा। फिर पुरुषार्थ करने की क्या आवश्यकता ?। पाश्चात्यशिक्षासंस्कार से सुसंस्कृत एक मित्र सम्भवतः इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य बना कर विनोद में कहा करते हैं कि—"भाई जब तुम यह कहते हो कि, बिना प्रयास के भी एक दिन सञ्चित संस्कारों का प्रारब्धद्वारा होने वाले भोग से एकान्ततः उपक्षय हो ही जायगा तो फिर हम धर्म्म-कर्म्म के पचड़े में हम क्यों पड़ें। धर्म्माचरण करने वाले थोड़े जल्दी मुक्त हो जायेंगे हम थोड़ी देर में स्वर्ग पहुँचेंगे"। इस वाक्य-विनोद को इसलिए हमें निस्तत्त्व मानना पड़ेगा कि विधि विधानात्मक धर्म्माचरणलक्षण पुरुषार्थ न करने से प्रारब्धकर्म्मजनित शुभाशुभभोग अतिशयरूप से आत्मा को उत्पीड़ित करते रहेंगे। धर्म्म-कर्म्म के पचड़े के अतिरिक्त दूसरा जो भी कुछ हम करेंगे, करते हैं, वह अकर्म्म-विकर्म्म का ही तो पचड़ा माना जायगा। उनके अनुपात से आत्मपीड़ा तो विशेषरूप से उद्बुद्ध होगी ही, इसके अतिरिक्त विनोद-प्रेमी मित्रों का यह दुस्स्वप्न भी टूट जायगा कि सञ्चित कर्म्मों का प्रारब्धरूप से स्वतः एवं भोग हो जायगा। सञ्चित कर्म्मों का भोग अवश्य हो जायगा परन्तु वर्त्तमान जीवन में हम जो कर्म्म करेंगे, उनके व्यावहारिक संस्कारों को हम कैसे, किस साधन से रोक सकेंगे ?। आगामी संस्कारों का आगमन न कभी निरुद्ध बनेगा, एवं न मित्रों का दुस्स्वप्न कभी सत्य हो सकेगा।

* भाग्यवाद और पुरुषार्थवाद की विस्तृत तात्त्विक मीमांसा के लिए देखिए—श्रद्धेयगुरुपरम्परागत शतपथीय निबन्ध का 'दुःखसुखस्वरूपमीमांसा' नामक द्वितीय स्वतन्त्र। १

तात्पर्य्य–गुणानुगत भोग–उपाय से प्रारब्धकर्म्ममात्र का ही क्षय होगा। सञ्चित में एवं आगामी कर्म्म, इन दो का क्षय भोगोपाय से न हो सकेगा। सात्त्विक संस्कारभोग सुखात्मक है, राजस संस्कारभोग दुःखात्मक है, एवं तामस संस्कारभोग मोहात्मक है यह पूर्व में कहा जा चुका है। तीनों गुण परस्पर सर्वथा विरुद्ध हैं। तीनों में अनन्य शत्रुता है। तीनों परस्पर एक दूसरे का अभिभव करते रहते हैं। बढ़ा हुआ सत्त्वगुण रजस्तमोगुणों का, बढ़ा हुआ रजोगुण सत्त्व–तमोगुणों का, एवं बढ़ा हुआ तमोगुण सत्त्व–रजोगुणों का अभिभव करता रहता है। तीनों इस अभिभवकर्म्म से परस्पर शत्रु अवश्य हैं, परन्तु चमत्कार यह है कि, तीनों एक दूसरे के आश्रित बने रहते हैं। रजस्तम को मूल बना कर ही सत्त्वगुण प्रतिष्ठित रहता है, सत्त्व–तम को मूल बना कर ही रजोगुण विकसित होता है एवं सत्त्व–रज को आधार बना कर ही तमोगुण स्वव्यापार में समर्थ बनता है। गुणप्रसव में मात्रा को पुनर्जननप्रमुक्त परम सुख भी है, एवं जननप्रमुक्त कष्ट भी है। हमारा सत्त्वानुगत प्रत्येक सुख दुःखमूलक है, रजोऽनुगत प्रत्येक दुःख सुखमूलक है, एवं तमोऽनुगत प्रत्येक मोह सुखदुःखमूलक है। इसप्रकार परस्पर आश्रयता परस्पर अभिभव, परस्पर मिथुनता को आगे कर के ही तो गुणानुगता मायावी प्रवृत्त होती है, जैसाकि—'अन्योऽन्याभिभव–आश्रय–जनन–मिथुन–वृत्तयश्च गुणाः' (सांख्यकारिका) इत्यादि दार्शनिक सिद्धान्त से भी प्रमाणित है। भोगानुगत सत्त्वगुण मलिनसत्त्व है। शुद्धसत्त्व गुणमर्य्यादा से अतीत है। मलिनसत्त्वानुगत कर्म्म गुणात्मक बनते हुए जहाँ बन्धन के प्रवर्त्तक हैं वहाँ शुद्धसत्त्वानुगत कर्म्म गुणात्मक बनते हुए कतकरेणुवत् बन्धननिवर्त्तक माने गए हैं।

जैसे गुणानुगत भोग से प्रारब्ध का उपक्षय होता है, वैसे प्रतिक्रियाकर्म्म नामक दूसरे उपाय से सञ्चित संस्कारों का उपक्षय नहीं होगा, अपितु अभिभवमात्र होगा। 'पुण्येन पापमपनुदति पापेन पुण्यमपनुदति' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार धर्म्म जनित पुण्यसंस्कार से सञ्चित अशुभ संस्कारों का अभिभव हो जायगा। तात्पर्य्य-भोगोपाय में भारब्धात्मक पुण्य–पापात्मक दोनों संस्कारों का उपक्षय होता है। एवं प्रतिक्रियात्मक उपाय से पाप, अथवा तो पुण्य, दोनों में से एक सञ्चित संस्कार का अभिभव होगा। यहाँ आकर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, धर्म्माचरणात्मक प्रतिक्रियाकर्म्म नामक उपाय भी शाश्वतसुख का कारण नहीं बन सकता। शास्त्र-सिद्ध धर्म्माचरण ही कर्म्म योग है। कामनामय इस कर्म्म योग से मानते हैं प्रारब्धभोगों में आत्मा उत्तेजित नहीं होता। साथ ही सञ्चित संस्कारों में से अशुभ संस्कारों का अभिभव भी हो जाता है। परन्तु इसमें न तो सञ्चित संस्कारों का आत्यन्तिक उच्छेद ही होता, एवं न आगामी संस्कारों का ही निरोध होता। अतएव— 'एतान्यपि तु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च'–इत्यादिरूपेण पशु कर्म्म के अनुसार यज्ञ–तपो–दान–इष्ट–आपूर्त्त-दत्तादि-लक्षण धर्म्मात्मक शास्त्रीय कर्म्म भी कामना के सम्बन्ध से गुणात्मक बनते हुए पुरुष के परम पुरुषार्थ-लक्षण आत्मबन्धनविमोक के कारण नहीं बन सकते। आविर्भूतभेद में परम्परया प्रचलित कर्म्म कामनिष्ठा के इस काम–प्राधान्यलक्षण गुणभाव को लक्ष्य बना कर ही भगवान् ने 'त्रैगुण्यविषया वेदा'—'कामात्मानः स्वर्गपरा'— 'भोगैश्वर्य्य-प्रसक्तानाम्'—इत्यादिरूप से इस काम्यकर्म्म योग का पूर्ण निरोध किया। और साथ ही इस सम्बन्ध में यह संशोधन अनिवार्य्य माना कि, त्रिगुणभाव–निराकरण के लिए तुम्हें अपने इस धर्म्म पथ से कामना का बहिष्कार करना पड़ेगा। कामनिर्गमन से प्रवृत्तिमूलक यह कर्म्म निवृत्तिमूलक बन जायगा। एवं निवृत्तिमूलक ऐसा कर्म्म निष्कामकर्म्मयोग बन जायगा, जिससे आगामी संस्कारों का भी निरोध हो जायगा सञ्चित संस्कारों का भी उपक्षय हो जायगा, एवं प्रारब्धभोग–भुक्ति में आत्मा विचलित भी न

होगा। यही वह तीसरा 'समत्व' नामक उपाय है जो अपने इसी अतिशय से मोक्ष, और काम्यकर्म्मयोगात्मक प्रतिबन्धक नामक दोनों उपायों की अपेक्षा श्रेष्ठ, तथा श्रेष्ठ बन रहा है।

११८-निष्कामकर्म्मयोगलक्षण समत्वयोग-

काम्यकर्म्म योग प्रवृत्तिकर्म्म है, एवं यह मलिन सत्वानुगत है। अतएव यह स्वयं भी संस्कारबन्धनप्रवर्त्तक बन रहा है, तथा आगामी संस्कारबन्धननिवृत्ति में भी यह असमर्थ है। हाँ केवल सञ्चित संस्कारों का अभिभव इससे सम्भव है। निष्कामकर्म्मयोग निवृत्तिकर्म्म है, यह शुद्ध सत्वानुगत बनता हुआ गुणातीत है। अतएव यह स्वयं भी संस्कारबन्धननिवर्त्तक है एवं आगामी संस्कारबन्धन का भी अप्रवर्त्तक है तथा इससे प्रबुद्ध ज्ञानाग्नि-द्वारा सञ्चित संस्कारों का भी आत्यन्तिक उपक्षय हो जाता है। जो कर्म्म कर रहे हैं, वे आगे जाकर सञ्चित-संस्काररूप में परिणत होते हुए आत्मबन्धन के कारण न बनें जो पहिले से सञ्चितकर्म्म हैं-वे प्रारब्धरूप में परिणत न हो कर तत्रैव नष्ट हो जावें प्रारब्धकर्म्म जनित भोगों से आत्मा उत्पीड़ित न हो, यह कर्म्ममोचन सिद्धि एकमात्र इस निष्कामकर्म्म योग पर ही निर्भर है। आत्मा स्वस्वरूप से सच्चिदानन्दघन है। आनन्द विज्ञान तथा तीनों आत्मा के अमृतधर्म्म हैं। एवं विनाश, अज्ञान दुःख ये तीनों मृत्युधर्म्म हैं। जब तक प्रवृत्तिप्रधान काम्यकर्म्म का साम्राज्य है तब तक तीनों मृत्युधर्म्म सुरक्षित हैं, अतएव तब तक अमृतधर्म्म का विकास असम्भव है। कर्म्म पथ वही अमृतात्मक है जो निवृत्तिप्रधान है। निवृत्तिप्रधान निष्कामकर्म्म योगा-नुष्ठान से आत्मा में संस्कारबन्धनरूप से अभिनिविष्ट वासना का आत्यन्तिक उच्छेद हो जाता है एवं फलस्वरूप सत्ताविरोधी विनाश विज्ञानविरोधी अज्ञान तथा आनन्दविरोधी दुःख तीनों मृत्युधर्म्मों से आत्मा छुटकारा पा जाता है। यही निष्कामकर्म्मयोग बुद्धिगत, अतएव प्रसंगधर्म्मसम्बन्ध से 'धर्म्मबुद्धियोग' कहलाता है, जिसका मोक्षिकस्वरूप अनुष्ठानप्रकार तथा अन्यान्य अतिशय बतलाने वाली विद्या ही 'आर्षविद्या' कहलाई है।

११९-धर्म्मयोग, और धर्म्मबुद्धियोग—

लोकप्रचलित-काम्यकर्म्मयोग शुभाशुभात्मक छल-संस्कारों का जनक बनता हुआ 'धर्म्मयोग' अवश्य है। परन्तु कामना (फलेच्छा) की प्रधानता से इससे इस धर्म्मयोग में भूमिप्रभावातिरेक, अतएव भक्ति, अतएव च अभिनिवेशात्मकसंस्कारबन्धननिवर्त्तक विद्याबुद्धि का अभ्युदय के विद्याभाव से साक्षात् योग नहीं हो पाता। अपितु कामनात्मक संस्कारबन्धनरूप अभिनिवेश से यह बुद्धि अपने आपको कामनात्मक मन के प्रति समर्पित करती हुई अपने सहज भूमिभावधर्म्म से वञ्चित होकर अभ्युदय के अविद्याभाव की अनुगामिनी बन जाती है। 'बुद्धियोग' सम्बन्ध से वञ्चित ऐसा धर्म्मयोग कामनाप्राधान्य से सर्वोपरि सुखों का साधक बनता हुआ भी अपने कामनात्मक त्रिगुणभाव से अन्ततः आत्मबन्धन का ही कारण बना रह जाता है। एवंविध कर्म्मयोग ही भगवान् की दृष्टि में त्याज्य सिद्ध हुआ है। कर्म्मबन्ध की इस अभिनिवेशात्मिका विभीषिका से बचाने के लिए सांख्यवादियों ने यह उपाय हमारे सामने रक्खा कि कर्म्म का एकान्ततः परित्याग कर देना चाहिए। सांख्यनिष्ठों के इस उपाय का भगवान् ने प्रबल शब्दों में इसलिए खण्डन किया कि, कर्म्म आत्मा का स्वरूप है अतएव उसका एकान्ततः परित्याग असम्भव है। इसके अतिरिक्त कर्म्म अपने स्वरूप से स्वयं बन्धन का भी कारण नहीं है। कर्म्मत्याग मनोभाव कर्म्म बन्धन का कारण नहीं, कर्म्म त्यागभ्याव में लोकसंग्रहात्मक लोक-अभ्युदय का अभाव, इन्हीं सब कारणों से कर्म्मासक्तिविमोक-

लक्षणा सांख्यनिष्ठा (ज्ञानयोग) का कोई महत्व नहीं। काम्यकर्म योग प्रत्येक दशा में बन्धन का कारण, कर्मत्यागलक्षणा ज्ञानयोग असम्भव, ऐसी दशा में हम किस मार्ग का अनुसरण करें ?, इसी प्रश्न के समाधान के लिए भगवान् ने निष्कामकर्म योग का स्वरूप हमारे सामने रक्खा है। शास्त्रसिद्ध, वर्णाश्रमानुगत आधिकारिक यथायथ कर्मों को ईशाज्ञानुगत बना देने से काम्यकर्मयोग निष्कामकर्म योग बन जाता है। और ऐसे कर्म योग से उत्पन्न संस्कार अभिनिवेशात्मक बन्धन के कारण नहीं बन पाते। अपितु बन्धन निवर्त्तक बन जाते हैं। जिस प्रकार राजर्षिविद्या की मूलप्रतिष्ठा 'अनासक्ति' है, राजविद्या की मूलप्रतिष्ठा 'ईश्वरानन्यता' है, सिद्धविद्या की मूलप्रतिष्ठा 'अन्तर्य्यामि' है, एवमेव इस आर्षविद्या की मूलप्रतिष्ठा 'निवृत्तकर्म' माना गया है। ज्यों ज्यों आप समदर्शनानुगत-विषमवर्त्तनात्मक निवृत्तकर्म रूप धर्म का अनुगमन करते जायेंगे त्यों त्यों अभिनिवेशात्मक संस्कारबन्धन शिथिल होते जायेंगे। यही इस धर्मबुद्धियोग की साध्यावस्था कहलाएगी। अभिनिवेश की आत्यन्तिक निवृत्ति पर धर्मबुद्धियोगानुगता बुद्धि आत्मा के साथ युक्त होती हुई सिद्ध-धर्म बुद्धियोगसम्पत् प्राप्त कर लेगी। इसप्रकार धर्मबुद्धियोगोद्देश्यक साध्य धर्म बुद्धियोग से कालान्तर में सिद्धधर्मबुद्धियोग प्राप्त हो जायगा। लाभालाभ, जयपराजय, शुभाशुभ, आदि सांसारिक द्वन्द्वभावों से जिसे आप विचलित न पायें, जिसे आप सदा लोक-अभ्युदय के लिए कर्म में प्रवृत्त देखें जिसे सदा आत्मप्रसाद से सम्पन्न देखें समझ लीजिए उसने धर्मबुद्धियोग-निष्ठा प्राप्त करली। एवंविध योगी ही गीतापरिभाषानुसार 'कर्म योगी' है। एवंविध योग ही गीतासम्मत कर्मयोग है जिसका निम्न लिखित उपनिषच्छ्रुति से समर्थन हुआ है—

> कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
> एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे ॥
>
> —ईशोपनिषत्

१२०–धर्म्ममार्ग, और नीतिमार्ग–

एवंविध धर्म बुद्धियोग ही भारतीय 'समत्वयोग' है जिसे वर्तमानभाषा में हम 'साम्यवाद' कह सकते हैं जिसका 'धर्मनीतिमूलक साम्यवाद' नामक पूर्व परिच्छेद में दिग्दर्शन कराया जाचुका है। जिसका निष्कर्ष यही है कि धर्म मूला नीति ही भारतीय साम्यवाद है जिसका आधार विश्वात्मा बना हुआ है। धर्म मूला नीति ही भारतीय राजनीति है, जो धर्म में ही अन्तर्भूत है। अतएव राजनीति का सञ्चालक भारतीय शासक वस्तुगत्या यहाँ धर्म का ही संरक्षक माना गया है। वर्तमान युग के शिक्षित प्रजा जिसे राज-नीति कहती है वह राजनीतिपथ भारतीय परिभाषा में अधर्मपथ ही कहलाया है। क्यों कि धर्मवञ्चिता अधर्म्मोत्थिता ऐसी राजनीति से कभी आत्मशान्ति नहीं मिल सकती। 'पोलीटिक्स' नाम से प्रतीच्यभाषा में प्रसिद्ध राजनीति को आधार बनाने वाला विषमदर्शनानुगत-समवर्त्तनात्मक कल्पित साम्यवाद वस्तुगत्या विषमवाद ही है, जिसका मूल आधार भूतोत्पत्ति ही माना गया है जो कि भूतोत्पत्ति 'रुद्-नति' निर्वचन के अनुसार आरम्भदशा में भूतसमृद्धि का कारण बनती हुई भी अन्ततोगत्वा समूलविनाश का ही कारण बनती है, जैसा कि भगवान् मनु ने कहा है–

> अधर्म्मेणैधते तावत् ! ततो भद्राणि पश्यति।
> ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥
>
> —मनु ४।१७४

पुरुष किस मार्ग से अपनी जीवनयात्रा का निर्वाह करे ?, इस प्रश्न के उत्तर में उसके सम्मुख धर्म्म और नीति, ये दो मार्ग उपस्थित होते हैं। धर्म्मसाधन धर्म्ममार्ग है, नीतिसाधन अधर्म्म मार्ग है। पिपीलिका से आरम्भ कर सर्वतो ज्यायान् स्वयम्भू पर्य्यन्त एकरूप से–अखण्डरूप से–अविभक्तरूप से व्याप्त अध्यात्मा (ईश्वरात्मा) की आनन्द–विज्ञान–अमृतमयीमनोमयलक्षणा विद्या (ज्ञान) एवं तत्प्रतिष्ठ ब्रह्म–क्षत्र–विट्–लक्षण कर्म्म ही अध्यात्मा के स्वस्वधर्म्म कहलाए हैं। इन अध्यात्मविद्या–कर्म्मों को स्वस्वरूप से विकसित करने वाली धर्म्म–ज्ञान–वैराग्य–ऐश्वर्य्य नाम की विद्याबुद्धिचतुष्टयी ही आत्मस्वस्वधर्म्म को विकसित करने के कारण 'धर्म्म' नाम से व्यवहृत हुई है। विद्याबुद्धिचतुष्टयी से सर्वथा विरुद्ध अधर्म्म–अज्ञान–अनैश्वर्य्य–आसक्ति, लक्षणा अविद्याबुद्धिचतुष्टयी से क्योंकि अध्यात्मा के आनन्दादिलक्षण स्वस्वधर्म्म स्वाभिभूत से बाधित हो जाते हैं। अतएव इस अविद्याबुद्धिचतुष्टयी को 'अधर्म्म' नाम से व्यवहृत किया गया है एवं यही धर्म्म और नीतिलक्षण अधर्म्म की एक परिभाषा मानी गई है जिसका निष्कर्ष यही है कि, आत्मधर्म्मों को विकसित करने वाले कर्म्म धर्म्म हैं एवं आत्मधर्म्मों को आवृत करने वाले कर्म्म अधर्म्म हैं। सम्पूर्ण विश्व में एक अध्यात्मा प्रतिष्ठित है 'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः' के अनुसार यही 'ईश्वर' कहलाता है। इस एक विश्वेश्वर को लक्ष्य बना कर विश्वात्मानुगत शान्ति–आनन्द–की प्राप्ति के लिए विश्वकल्याणार्थ किया जाने वाला कर्म्म धर्म्म है। योऽयमात्माऽवच्छिन्न जीवात्मा प्रतिशरीर में विभिन्न है। इस जीवात्मा को लक्ष्य बना कर जीवात्मानुगत शान्ति–आनन्द–की प्राप्ति के लिए व्यक्तिरक्षार्थ किया जाने वाला कर्म्म ही अधर्म्म है। कारण स्पष्ट है। विश्वेश्वरानुगत विश्वात्मसुख–साधक कर्म्म परमार्थकर्म्म बनता हुआ सर्वसमष्टि का अभ्युदयकारक है। एवं जीवानुगत व्यक्तिस्वार्थसाधक कर्म्म स्वार्थकर्म्म बनता हुआ दूसरों के आत्मक्षोभ का कारण है। आत्मोदय, किन्तु परग्लानि प्रवर्त्तक होने से ही जीवानुगत कर्म्म अधर्म्म है। व्यक्तिस्वार्थसाधक यही अधर्म्म नीतिपथ है। प्रत्यक्ष दृष्ट है कि व्यक्तिगत स्वार्थों में लिप्त नैतिक पुरुष अहोरात्र अभ्युदय–अवसादलक्षण कर्म्मों में प्रवृत्त रहते हुए भी परिश्रमित सदा अशान्त ही बने रहते हैं। स्वप्न में भी इन्हें वास्तविक शान्ति (आत्मशान्ति) उपलब्ध नहीं होती। हाँ यह सच है कि, जिस प्रकार एक मद्यपी मद्यपान के अभ्यास से दुःखप्रद मद्यपानकर्म्म में शान्ति का अनुभव किया करता है, एवमेव व्यक्तिस्वार्थमूलक नीतिमार्गानुगामी नैतिक पुरुष चिर अभ्यास के अनुग्रह से इस अशान्ति–दुःख को ही शान्ति–सुख मान बैठता है। देखा गया है कि नैतिक पुरुष एक व्यक्ति की स्वार्थरक्षा के लिए, एक व्यक्ति की सुख–सुविधा के लिए अनेक व्यक्तियों की सुख–सुविधा की उपेक्षा कर देते हैं। न केवल उपेक्षा ही कर देते हैं अपितु व्यक्तिस्वार्थरक्षा के लिए यदि अनेकों की स्वार्थहानि भी होती है, तो उसे भी यह आवश्यक समझ लेते हैं। इनकी नैतिक बुद्धि अहर्निश इसी व्यापार में व्यग्र–अशान्त बनी रहती है कि कैसे अपना भला किया जाय ?, फिर चाहे अपने भले के लिए दूसरों का सर्वनाश ही क्यों न हो जाय। 'आत्मोदयः–परग्लानि–र्नीतिरित्यभिधीयते' इस सूत्र को लक्ष्य बनाने वाले ये नैतिक महापुरुष ! पराग्लानिपूर्वक स्वकल्याण की कामना करते हुए परग्लानिप्रवर्त्तक कर्म्मों के अनुग्रह से विश्व में अशान्ति का प्रचार करते रहते हैं, परस्पर मनोमालिन्य, क्रोध, ईर्ष्या मात्सर्य्य के जनक बनते रहते हैं। अपनी क्षुद्रबुद्धि से क्षुद्र स्वार्थ को प्रधानता देने वाले भूयोलक्ष्यपरायण ऐसे नैतिकों की नीति से जब महाविप्लव के अवसर उपस्थित हो जाते हैं तो उस दशा में ये किंकर्त्तव्यविमूढ बन जाते हैं। विश्वाशान्ति के लिए जिन शान्ति–मार्गों का इनकी ओर से आविष्कार होता है दम्भात्मक उन उपायों से शान्ति के स्थान में अशान्ति ही अधिकमात्रा से प्रवृद्ध होती है। शान्ति के नाम

पर अशान्ति का प्रसार करना ही उन अवसरों पर इनका प्रधान पुरुषार्थ बन जाता है, जैसाकि धर्म्मबहिष्कृत, अतएव व्यक्तिस्वार्थमूला वर्त्तमाननीति के दुष्परिणामों से सर्वथा प्रमाणित है।

उधर धर्म्म मूला नीति में विश्वात्मा लक्ष्य बना रहता है। धार्म्मिक पुरुष का यह दृढ़ मत्तव्य रहता है कि, सब शरीरों में वह एक ही ईश्वरात्मा प्रविष्ट है। अतएव उसकी यह निष्ठा हो जाती है कि विश्वशान्ति से ही स्वात्मशान्ति-सुख सम्भव है। इस व्यापक निष्ठादृष्टि के प्रभाव से वह निःस्वार्थ विश्वाभ्युदयार्थ ही कर्म्मों में प्रवृत्त होता है। अतएव प्रारब्धकर्म्म जनित दुःखादि के आक्रमण होने पर भी इसकी अध्यात्मसंस्था स्वाभाविक शान्ति से च्युत नहीं होने पाती। यह विश्वास कीजिए कि, नैतिक पुरुषों के कर्म्म जहाँ भूतमात्रा-प्रधान हैं, वहाँ धार्म्मिक पुरुषों के कर्म्म प्राणमात्राप्रधान हैं। प्राण स्वस्वरूप से असङ्ग है, अतएव तत्प्रधान कर्म्म संस्कारबन्धन से पृथक् रखते हुए भूतासक्ति में आत्मा को आसक्त नहीं होने देते। भूतसमृद्धि भी मिल जाती है और उसकी आसक्ति न होने से आत्मशान्ति भी सुरक्षित रह जाती है। ऐहलौकिक अभ्युदय तथा पारलौकिक निःश्रेयस दोनों पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं। एवं यही-'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः' लक्षण धर्म्ममार्ग का सर्वोत्कृष्टत्व है। भूत स्वस्वरूप से ससङ्ग हैं। अतएव तत्प्रधान कर्म्म संस्कार-बन्धन-प्रवृत्ति के कारण बन जाते हैं। अपने भर के लिए आरम्भ में भूतासक्तिपरायण नैतिक पुरुष भूतसम्पत्ति प्राप्त अवश्य कर लेते हैं। परन्तु प्राप्ति में, प्राप्त के संरक्षण में संस्कारबन्धन में, परग्लानि में तदिदं आपाद-मस्तक इस भूतपरायणता में अशान्ति का ही साम्राज्य रहता है। पार्थिव आधिभौतिक-पदार्थों से संश्लिष्ट, अतएव केवल ऐहलौकिक क्षणिक सुखप्रवर्त्तक भूतमात्राप्रधान नीतिमार्ग में, एवं दिव्य-आधिदैविक तत्त्वों से संश्लिष्ट, अतएव-उभयलौकिक शाश्वतशान्तिप्रवर्त्तक प्राणमात्राप्रधान धर्म्म मार्ग में यही महान् अन्तर है जिसे लक्ष्य बना कर ही जीवनयात्रानिर्वाह के स्तम्भभूत धर्म्म और नीति नामक दोनों मार्गों में से किसी एक का अनुसरण करना चाहिए।

१२१-आर्षविद्यानुगत धर्म्मबुद्धियोगनिष्कर्ष—

अनेक दृष्टियों से आर्षविद्यानुगत धर्म्मबुद्धियोग के स्वरूप-विश्लेषण की चेष्टा की गई। 'ऋषिभि-र्बहुधा गीतम्' (१३।४) के अनुसार मन्त्रद्रष्टा महर्षियों के द्वारा आविष्कृत शास्त्रसिद्ध वर्णाश्रमानुगत कर्म्म ही 'धर्म्म योग' कहलाया। भगवान् ने इसका लोकसंग्रहदृष्टि से संग्रह अवश्य किया परन्तु संशोधन के साथ। ऋषिसम्प्रदायानुगत कर्म्म योग स्वर्गादि काम्य फलों से अभिनिवेश का कारण बन रहा था। फलकामनासक्ति-परित्याग को लक्ष्य बना कर भगवान् ने इस कर्म्म योग को बुद्धियोगलक्षण प्रदान की। इसी संशोधन से ऋषिसम्प्रदायप्रचलित वह कर्म्म योग 'निष्कामकर्म्म योगात्मक'-'धर्म्मबुद्धियोग' कहलाया जिसके समर्थक वचन—गी० भू० बहिरङ्गपरीक्षात्मक प्रथम खण्ड में उद्धृत कर दिए गए हैं (देखिए पृ० १८० से १८९ पर्य्यन्त)। धर्म्मबुद्धियोगानुगता आर्षविद्या का यही संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है।

इति—बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचनात्मक द्वितीयप्रकरणे

'धर्म्मबुद्धियोगानुगत—आर्षविद्यास्वरूपनिर्वचनम्' नामक

प्रथमस्तम्भः

(२)—१

श्री

'बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक

द्वितियप्रकरणान्तर्गत

'धर्म्मबुद्धियोगानुगत-आर्षविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक

प्रथमस्तम्भ-उपरत

(२)-१

श्रीः

अथ-बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचनात्मके

द्वितीयप्रकरणे

'ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत-राजविद्यास्वरूपनिर्वचनम्' नामक

द्वितीयस्तम्भ

(२)-२

में स्वच्छन्द विहार करता रहता है, एवमेव हृदयस्थ आत्मा अपने प्राणात्म से इस प्राणमण्डल में स्वच्छन्द विचरण करता रहता है। अतएव प्राणात्मक यह धाममण्डल हृदयस्थ आत्मा का 'विभूतिमण्डल' कहलाया है। यही मण्डल 'महिमामण्डल' नाम से व्यवहृत हुआ है। व्याप्तिरूप हृदयस्थ आत्मा का पहिला प्रपत्तिस्थान (व्याप्तिस्थान) है अतएव विज्ञानभाषा में यह रसरूपपिण्ड 'पदम्' कहलाया है। बहिर्मण्डल आत्मा का द्वितीय प्रपत्तिस्थान है अतएव यह 'पुनःपदम्' कहलाया है। हृदय 'हृत्पृष्ठ' है, पिण्डात्मक 'पद' 'अन्तःपृष्ठ' है महिमात्मक 'पुनःपद' 'बहिःपृष्ठ' है। हृत्पृष्ठात्मक तत्त्व मनोमय आत्मा है यही उक्थ है, यही 'पशुपति' है। अन्तःपृष्ठात्मक तत्त्व प्राण है यही अर्क है यही 'पाश' है। बहिःपृष्ठात्मक तत्त्व वाक् है यही अशीति है यही 'पशु' है। मन-प्राण-वाक्-उक्थ-अर्क-अशीति,-पशुपति-पाश-पशु, इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध त्रिसत्य यही तत्त्व 'प्रजापति' कहलाया है जो अपने हृत्पृष्ठ की अपेक्षा से अनिरुक्त, अन्तःपृष्ठ की अपेक्षा से स्तूगीय एवं बहिःपृष्ठ की अपेक्षा से सर्व नामों से प्रसिद्ध हुआ है। हृदय भी यही है अन्तःपृष्ठ भी यही है, बहिःपृष्ठ भी यही है- प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं, यदिदं किञ्च'।

३-ईश्वर का त्रिविध विवर्त, और उसके विविध ऐश्वर्य्य-विवर्त-

प्रत्येक वस्तुपिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित अनिरुक्तप्रजापति ही उस वस्तु का 'ईश्वर' है। इस उक्थात्मक हृदय ईश्वर (अन्तर्यामी) का प्राण-वाङ्मय बहिर्मण्डल ही इसका 'ऐश्वर्य्य' है। महिमामण्डल ही ऐश्वर्य है। सौर प्रकाशमण्डल सूर्येश्वर का ऐश्वर्य है, चान्द्र ज्योत्स्नामण्डल चन्द्रेश्वर का ऐश्वर्य है। पार्थिव रथन्तरमण्डल पृथिवीश्वर का ऐश्वर्य है नभस्वान्मण्डल अव्ययेश्वर (स्वयम्भू) का ऐश्वर्य है सरस्वान्मण्डल पारमेष्ठ्य ईश्वर का ऐश्वर्य है। स्व पर सू च पृथिवी के केन्द्रस्थ ईश्वरों के नभस्वान् सरस्वान्-सूर्यप्रकाश चान्द्रज्योत्स्ना-रथन्तरसाम ऐश्वर्यों को अपने ऐश्वर्य्यमण्डल में भुक्त रखने वाला अपारपारीण विरजस्त्रैलोक्य-परिवेष्टित आश्वत्थ नामक षोडशीपुरुषेश्वर का ऐश्वर्य्यमण्डल अनाद्यनन्त पञ्चाक्षरा है। पञ्चाक्षरात्मक ऐश्वर्य से युक्त महामायावच्छिन्न ऐसे ऐसे असंख्य ईश्वर, और उनके ऐश्वर्यों को अपने गर्भ में रखने वाला परात्परसत्त्व परमेश्वर है। यही सर्वेश्वर है, और यही उसका सर्वैश्वर्य्य है। आत्मा ईश्वर है आत्मप्राणगर्भित वाङ्मण्डल ऐश्वर्य्य है। यही विभूति, वैश्वानर सहस्री पुनःपद वषट्कार, महिमा आदि विविध नामों से प्रसिद्ध हुआ है। जीवात्मा भी ऐश्वर्य्यशाली उसी ईश्वर का अंश बनता हुआ आध्यात्मिक ईश्वरत्व से समन्वित है। अतएव सम्पूर्ण विश्वैश्वर्य्य उसी का ऐश्वर्य है। जीवेश्वर-तादात्म्य सम्बन्ध की अपेक्षा से जीवात्मा सम्पूर्ण ऐश्वर्यों का अधिष्ठाता बन रहा है। यही 'ऐश्वर्य' नाम की भग'-सम्पत्ति है जिसके सम्बन्ध से जीव में भगवत्ता का समावेश हो रहा है।

४-विभूति, एवं योग-लक्षण ऐश्वर्य-

विभूतिलक्षण ऐश्वर्य्य ही 'आत्मवित्त' माना गया है। यह आत्मवित्त, अन्तर्वित्त बहिर्वित्त, भेद से दो भावों में विभक्त है। प्राणप्रधान वित्त अन्तर्वित्त है भूतप्रधान वित्त बहिर्वित्त है। प्राण इन्द्रियवर्ग, शरीर स्त्री, पुत्र, आदि अन्तर्वित्त में अन्तर्भूत हैं। एवं मनुष्य पशु आदि चेतनद्रव्य, तथा धन, वस्त्र, प्रासाद उद्यान धातु (रूप्य हेम) आदि अचेतनद्रव्य दोनों का बहिर्वित्त में अन्तर्भाव है। आत्मा इन उभय वित्तों में विभूतिसम्बन्ध योगसम्बन्ध तथा बन्धनसम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है। बहिर्वित्त-

सीमा पर्य्यन्त आत्मा व्याप्त रहता है, इसी आधार पर श्रुति का "यावद्वित्तं, तावदात्मा" यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है। यदि उभय वित्त के साथ आत्मा का विभूति सम्बन्ध है तो आत्मैश्वर्य्य (आत्मविकास) पूर्णरूप से विकसित है। जल-विभूतिसम्बन्ध असङ्गसम्बन्ध है। असङ्गधर्म्मावच्छिन्न पद्म जैसे जल में रहता हुआ भी जलासक्ति से पृथक् रहता है, एवमेव असङ्गधर्म्मावच्छिन्न आत्मा असङ्गलक्षण विभूतिसम्बन्ध से सङ्गधर्म्मावच्छिन्न विषयों में प्रवृत्त रहता हुआ भी विषयासक्ति से निर्लिप्त रहता है। यदि उभयवित्त के साथ आत्मा का योगसम्बन्ध है, तो आत्मैश्वर्य्य सामान्यरूप से विकसित रहता है। यदि उभय वित्त के साथ आत्मा का बन्धनसम्बन्ध है तो आत्मैश्वर्य्य सङ्ग–विषयासक्ति से आवृत होता हुआ अपना विकासात्मक ऐश्वर्य्यधर्म्म खो देता है। अतएव कहना पड़ेगा कि, योग और विभूति, इन दो सम्बन्धों में ही अन्तर्बहिर्वित्तानुगत आत्मा का ऐश्वर्य्य नामक महा स्वधर्म्मात्मक स्वस्वरूप में विकसित रहता है। अतएव भगवान् ने बुद्धियोग के विकास के लिए अध्यात्मा के विभूति, तथा योग, इन दो सम्बन्धों को ही उपादेय माना है। देखिए !

एतां विभूतिं, योगं च, मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥
—गी० १०।७।

५ ऐश्वर्य्य की साध्य, तथा सिद्धावस्थाएँ–

आत्मैश्वर्य्य ही चित्तैश्वर्य्य की प्रतिष्ठा है, एवं आत्मैश्वर्य्य ही भूतैश्वर्य्य की आधारभूमि है। स्थिति का यों स्पष्टीकरण कीजिए। आत्मा अपने प्राणव्यापारधर्म्म से ऐश्वर्य्यशाली है विभूतिमान् है, महिमायुक्त है। ऐसे विभूतिमान् आत्मा के साथ युक्ता बुद्धि भी ऐश्वर्य्यशालिनी बनी रहती है। एवं विद्याबुद्धि से युक्त मन मानव संकल्प तथा विचारधारा, सबकुछ ऐश्वर्य्यशाली बने रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों की दृष्टि में ही ऐश्वर्य्य रहता है। लोकभाषा में ऐसे व्यक्तियों के लिए ही 'निगहसौलत' उपाधि प्रयुक्त हुई है। आत्मैश्वर्य्यविकास से इनका अन्तर्जगत् सर्वथा पूर्णभाव के ही दर्शन करता रहता है। इस पूर्णभावना के आकर्षण से बाह्य–भूतैश्वर्य्य अपने आप इनका भोग्य बन जाता है। जो व्यक्ति अपने अन्तर्जगत् में यह भावना रखते हैं कि, हम उस ऐश्वर्य्यशाली ईश्वर के अंश हैं हममें सब कुछ है, हमारा सब कुछ है उनकी इस अस्तिमत्ता सद्भावना का नाम ही 'ऐश्वर्य्य' है। इसी आत्मैश्वर्य्यभावना से भूतैश्वर्य्य अभिमन्त्रित हो इनका क्रीतदास बन जाता है। ठीक इसके विपरीत जिनकी यह भावना रहती है कि, हम तो दरिद्री हैं हमारे पास क्या रक्खा है हमारे पास यह नहीं–वह नहीं, उनका आत्मैश्वर्य्य इस मनोभावनात्मक अनैश्वर्य्य से अभिभूत हो जाता है। फलस्वरूप ऐसी नास्तिमत्ता असद्भावना के अनुगामी पुरुषों का पहिले से विद्यमान भूतैश्वर्य्य भी उच्छिन्न हो जाता है एवं आत्मैश्वर्य्यमूलक आगामी भूतैश्वर्य्य से भी वे वञ्चित रह जाते हैं। जिस धर्म्म से आत्मा अपने ऐश्वर्य्यधर्म्म से विकसित होकर भूतैश्वर्य्य पर अपना प्रभुत्व रखने में समर्थ होता है विद्याबुद्धिरूप वही धर्म्म ऐश्वर्य्य का हेतु बनता हुआ (आत्मैश्वर्य्योदय का कारण बनता हुआ) तात्कर्म्यन्याय से 'ऐश्वर्य्य' नाम से व्यवहृत हुआ है। आत्मानुगत ऐश्वर्य्य महिमा–भावलक्षण है, यही सिद्ध ऐश्वर्य्य है, यही प्रारब्ध है। बुद्ध्यनुगत ऐश्वर्य्य ऐश्वर्य्यसाधक ऐश्वर्य्य है, यही साध्य ऐश्वर्य्य है, यही 'ऐश्वर्य्यबुद्धि' नाम की विद्याबुद्धि है, जो 'अस्मितबुद्धि' नामकी अविद्याबुद्धि को हटा कर आत्मा के महिमालक्षण ऐश्वर्य्योदय का कारण बनती है।

श्री

ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत—राजविद्यास्वरूपनिर्वचनम्

द्वितीयस्तम्भ

१—अस्मिता के प्रतिद्वन्द्वी 'ऐश्वर्य्य' का स्वरूपोपक्रम—

ऐश्वर्य्य, और अस्मिता, दोनों परस्पर प्रतिद्वन्द्वी तत्त्व हैं। ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या के स्वरूपपरिचय से पहिले इन दोनों का स्वरूप—परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक होगा। प्रत्येक वस्तुतत्त्व दृश्य, स्पृश्य, भेद से दो भागों में विभक्त रहता है। जिस वस्तु को हम अपने चर्म्मचक्षुओं से देखते हैं वही दृश्यभाग है, जो हमारी स्पर्शसीमा से बहिर्भूत है। जिस वस्तु को हम अपने हाथों से छूते हैं वही स्पृश्यभाग है, जो हमारी दृष्टिसीमा से बहिर्भूत है। जिसे हम देखते हैं, उसे छू नहीं सकते। एवं जिसे हम छूते हैं, उसे देख नहीं सकते। दृश्यभाग 'वस्तुमण्डल' कहलाया है स्पृश्यभाग 'वस्तुपिण्ड' कहलाया है। वस्तुपिण्ड ऋग्वेदात्मक है वस्तुमण्डल सामवेदात्मक है। दोनों के मध्य में मुक्त आकाशात्मा गतितत्त्व यजुर्वेद है। यजुर्वेद रस है, ऋक्—रूप पिण्ड सामरूप मण्डल दोनों बलोनाम हैं। यथोक्तलक्षण यजुर्वेद 'रसवेद' है पिण्डलक्षण ऋग्वेद 'छन्दोवेद' है एवं मण्डललक्षण सामवेद 'वितानवेद' है। इन तीनों तात्त्विक वेदों का विशद वैज्ञानिक निरूपण उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका—द्वितीयखण्ड में द्रष्टव्य है। प्रकृत में वक्तव्यांश केवल यही है कि, प्रत्येक पदार्थ को हम पिण्ड, और मण्डल, इन दो भागों में विभक्त पाते हैं। पिण्ड हमारे स्पर्श का लक्ष्य बनता है, मण्डल हमारी दृष्टि का विषय बनता है।

२—यजुर्मय वस्तु, ऋङ्मय वस्तुपिण्ड, एवं साममय वस्तुमण्डलात्मक सर्वमूर्त्ति प्रजापति—

वस्तुपिण्ड की मूलप्रतिष्ठा वस्तु का हृदय (केन्द्र—गर्भ) माना गया है। 'तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा' के अनुसार केन्द्र के आधार पर वस्तुपिण्ड प्रतिष्ठित रहता है। केन्द्र में प्रतिष्ठित आगति—गति—स्थिति—रूप अन्तर्य्यामी प्रजापति ही उस वस्तुपिण्ड के आदान—विसर्गात्मक कर्म्म की आधारभूमि बन रहा है। केन्द्रस्थ यही अन्तर्य्यामी विज्ञानभाषा में 'उक्थ' कहलाया है। यह उक्थतत्त्व ही वस्तुपिण्ड का आत्मा है, जो आत्मतत्त्व मन—प्राण—वाङ्मय माना गया है। मनोरूप से यह आत्मा हृदय में प्रतिष्ठित रहता है जैसाकि—'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' इत्यादि यजुःश्रुति से प्रमाणित है। उक्थरूप यह मनोमय आत्मा हृदय में उसी प्रकार प्रतिष्ठित है जैसे कि ब्रह्मोक्थरूप (बिम्बात्मक) के केन्द्र में उक्थ (बिम्ब) रूप सूर्य्य प्रतिष्ठित है। जैसे बिम्बात्मक (उक्थात्मक) सूर्य्य से चारों ओर रश्मियाँ विनिर्गत हैं एवमेव इस उक्थात्मक मनोमय हृदयस्थ आत्मबिम्ब से प्राणात्मिका रश्मियाँ नानाधारेण समन्तात् विनिर्गत हैं। नानाधारेण चारों ओर फैला प्राणात्मक यही रश्मिमण्डल वस्तुपिण्ड का महिम्नमण्डल कहलाया है यही सामवेद के सम्बन्ध से 'साममण्डल' कहलाया है। जिसप्रकार एक बालक अपने जन्ममण्डल

में स्वच्छन्द विहार करता रहता है एवमेव हृदयस्थ आत्मा अपने प्राणरस से इस प्राणमण्डल में स्वच्छन्द विचरण करता रहता है। अतएव प्राणात्मक यह धाममण्डल हृदयस्थ आत्मा का 'विभूतिमण्डल' कहलाया है। यही मण्डल 'महिमामण्डल' नाम से व्यवहृत हुआ है। वस्तुपिण्ड हृदयस्थ आत्मा का पहिला प्रपतिस्थान (व्याप्तिस्थान) है अतएव विज्ञानभाषा में यह स्वरूपपिण्ड 'पदम्' कहलाया है। बहिर्मण्डल आत्मा का द्वितीय प्रपतिस्थान है अतएव यह 'पुनःपदम्' कहलाया है। हृदय 'हृत्पृष्ठ' है, पिण्डात्मक 'पद' अन्तःपृष्ठ है, मण्डलात्मक 'पुनःपद' 'बहिःपृष्ठ' है। हृत्पृष्ठात्मक तत्त्व मनोमय आत्मा है यही उक्थ है, यही 'पशुपति' है। अन्तःपृष्ठात्मक तत्त्व प्राण है यही अर्क है, यही 'पाश' है। बहिःपृष्ठात्मक तत्त्व वाक् है यही अशीति है यही 'पशु' है। मन-प्राण-वाक् -उक्थ-अर्क-अशीति,-पशुपति-पाश-पशु, इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध विश्वेश्वर वही तत्त्व 'प्रजापति' कहलाता है, जो अपने हृत्पृष्ठ की अपेक्षा से अनिरुक्त, अन्तःपृष्ठ की अपेक्षा से हृद्‌गीथ एवं बहिःपृष्ठ की अपेक्षा से सर्व नामों से प्रसिद्ध हुआ है। हृदय भी वही है अन्तःपृष्ठ भी वही है बहिःपृष्ठ भी वही है- प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं, यदिदं किञ्च'।

३-ईश्वर के विविध विवर्त, और उसके विविध ऐश्वर्य-विवर्त-

प्रत्येक वस्तुपिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित अनिरुक्तप्रजापति ही उद्‌वस्तु का 'ईश्वर' है। इस उक्थात्मक हृद्य ईश्वर (अन्तर्यामी) का प्राण-वाङ्मय बहिर्मण्डल ही इसका 'ऐश्वर्य' है। महिमामण्डल ही ऐश्वर्य है। सौर प्रकाशमण्डल सूर्येश्वर का ऐश्वर्य है चान्द्र ज्योत्स्नामण्डल चन्द्रेश्वर का ऐश्वर्य है। पार्थिव रथन्तरमण्डल पृथिवीश्वर का ऐश्वर्य है नभस्वान्मण्डल स्वयम्भ्वीश्वर (स्वयम्भू) का ऐश्वर्य है सरस्वान्मण्डल परमेष्ठ्य ईश्वर का ऐश्वर्य है। स्व पर सू च पृथिवी के केन्द्रस्थ ईश्वरों के नभस्वान् सरस्वान्-बृहत्साम-चान्द्रज्योत्स्ना-रथन्तरसाम ऐश्वर्यों को अपने ऐश्वर्यमण्डल में भुक्त रखने वाला अपारपार्य विश्वसैक-परिवेष्टित अव्यक्त नामक पोडशोपुरुषेश्वर का ऐश्वर्यमण्डल अनापनस्य व्याकाश है। परमाकाशात्मक ऐश्वर्य से युक्त महामायावच्छिन्न ऐसे ऐसे सर्वज्ञ ईश्वर, और उनके ऐश्वर्यों को अपने गर्भ में रखने वाला पत्रपुष्पवत्त परमेश्वर है। यही सर्वेश्वर है, और यही उसका सर्वैश्वर्य है। आत्मा ईश्वर है आत्मप्राणगर्भित वाङ्मयमण्डल ऐश्वर्य है। यही विभूति, वसुतत्त्व, साहसी, पुनःपद वषट्कार, महिमा आदि विविध नामों से प्रसिद्ध हुआ है। जीवात्मा भी ऐश्वर्यशाली उसी ईश्वर का अंश बनता हुआ आध्यात्मिक ईश्वरकर्ता से अभिन्न है। अतएव सम्पूर्ण विश्वैश्वर्य उसी का परस्व है। जीवेश्वर-तादात्म्य सम्बन्ध की अपेक्षा से जीवात्मा सम्पूर्ण ऐश्वर्यों का अधिष्ठाता बन रहा है। यही 'ऐश्वर्य' नाम की भग-सम्पत्ति है जिसके सम्बन्ध से जीव में भगवत्ता का समावेश हो रहा है।

४-विभूति, एवं योग-सम्बन्ध एश्वर्य-

विभूतिलक्षण ऐश्वर्य ही 'आत्मवित्त' माना गया है। यह आत्मवित्त अन्तर्वित्त, बहिर्वित्त भेद से दो भागों में विभक्त है। प्राणप्रधान वित्त अन्तर्वित्त है भूतप्रधान वित्त बहिर्वित्त है। प्राण इन्द्रियवर्ग शरीर स्त्री पुत्र आदि अन्तर्वित्त में अन्तर्भूत हैं। एवं अनुचर, पशु आदि चेतनद्रव्य, तथा ग्राम, नगर प्रासाद उद्यान धातु (रुप्य पैसा) आदि अचेतनद्रव्य सभी वा बहिर्वित्त में अन्तर्भूत है। आत्मा इन उभय वित्तों में विभूतिसम्बन्ध योगसम्बन्ध तथा बन्धनसम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है। बहिर्वित-

सीमा पर्य्यन्त आत्मा व्याप्त रहता है इसी आधार पर श्रुति का "यावद्वित्तं तावदात्मा" यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है। यदि उभय वित्त के साथ आत्मा का विभूति सम्बन्ध है तो आत्मैश्वर्य्य (आत्मविकास) पूर्णरूप से विकसित है। कारण-विभूतिसम्बन्ध असङ्गसम्बन्ध है। असङ्गधर्म्मावच्छिन्न पद्म जैसे जल में रहता हुआ भी जलासक्ति से पृथक् रहता है, एवमेव असङ्गधर्म्मावच्छिन्न आत्मा असङ्गलक्षण विभूतिसम्बन्ध से सङ्गधर्म्मावच्छिन्न विषयों में प्रवृत्त रहता हुआ भी विषयासक्ति से निर्लिप्त रहता है। यदि उभयवित्त के साथ आत्मा का योगसम्बन्ध है, तो आत्मैश्वर्य्य सामान्यरूप से विकसित रहता है। यदि उभय वित्त के साथ आत्मा का बन्धनसम्बन्ध है, तो आत्मैश्वर्य्य सङ्ग-विषयासक्ति से आवृत होता हुआ अपना विकासात्मक ऐश्वर्य्यधर्म्म खो देता है। अतएव कहना पड़ेगा कि, योग और विभूति, इन दो सम्बन्धों में ही अन्तर्वित्त-बहिर्वित्तानुगत आत्मा का ऐश्वर्य्य नामक भग स्वधर्म्मात्मक स्वस्वरूप से विकसित रहता है। अतएव भगवान् ने बुद्धियोग के विकास के लिए अध्यात्मसंस्था के विभूति, तथा योग, इन दो सम्बन्धों को ही उपादेय माना है। देखिए !

> एतां विभूतिं, योगं च, मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
> सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥
>
> —गी० १०।७।

५ ऐश्वर्य्य की साध्य, तथा सिद्धावस्थाएँ—

आत्मैश्वर्य्य ही वित्तैश्वर्य्य की प्रतिष्ठा है, एवं प्राणैश्वर्य्य ही भूतैश्वर्य्य की आधारभूमि है। स्थिति का यों स्पष्टीकरण कीजिए। आत्मा अपने *सत्यामृतधर्म्म* से ऐश्वर्य्यशाली है *विभूतिमान् है, महिमायुक्त है*। ऐसे विभूतिमान् आत्मा के साथ युक्ता बुद्धि भी ऐश्वर्य्यशालिनी बनी रहती है। एवं विद्याबुद्धि से युक्त मन मानस संकल्प तथा विचारधारा, सबकुछ ऐश्वर्य्यशाली बने रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों की दृष्टि में ही ऐश्वर्य्य रहता है। लोकभाषा में ऐसे व्यक्तियों के लिए ही 'दिलदौलत' उपाधि प्रयुक्त हुई है। आत्मैश्वर्य्यविकास से इनका अन्तर्जगत् सर्वत्र पूर्णभाव के ही दर्शन करता रहता है। इस पूर्णभावना के आकर्षण से बाह्य-भूतैश्वर्य्य अपने आप इनका भोग्य बन जाता है। जो व्यक्ति अपने *अन्तर्जगत् में यह भावना रखते हैं कि, हम उस* ऐश्वर्य्यशाली ईश्वर के अंश हैं हममें सब कुछ है, हमारा सब कुछ है उनकी इस आस्तिक्यता सद्भावना का नाम ही 'ऐश्वर्य्य' है। इसी आत्मैश्वर्य्यभावना से भूतैश्वर्य्य अनभिलषित ही इनका क्रीतदास बन जाता है। ठीक इसके विपरीत जिनकी यह भावना रहती है कि हम तो दरिद्री हैं हमारे पास क्या रक्खा है हमारे पास यह नहीं-यह नहीं, उनका आत्मैश्वर्य्य इस मनोभावनात्मक अनैश्वर्य्य से अभिभूत हो जाता है। फलस्वरूप ऐसी नास्तिक्यता असद्भावना के अनुगामी पुरुषों का पहिले से *विद्यमान भूतैश्वर्य्य भी उच्छिन्न हो जाता* है एवं आत्मैश्वर्य्यमूलक आगामी भूतैश्वर्य्य से भी वे वञ्चित रह जाते हैं। जिस धर्म्म से आत्मा अपने ऐश्वर्य्यधर्म्म से विकसित होकर भूतैश्वर्य्य पर अपना प्रभुत्व रखने में समर्थ होता है विद्याबुद्धिगत वही धर्म्म' ऐश्वर्य्य का हेतु बनता हुआ (आत्मैश्वर्य्योदय का कारण बनता हुआ) कार्य्यकारणन्याय से 'ऐश्वर्य्य' नाम से व्यवहृत हुआ है। आत्मानुगत ऐश्वर्य्य महिमा-मण्डलात्मक है यही सिद्ध ऐश्वर्य्य है, यही प्राप्तव्य है। बुद्ध्यनुगत ऐश्वर्य्य ऐश्वर्य्यसाधक ऐश्वर्य्य है, यही साध्य ऐश्वर्य्य है, यही 'ऐश्वर्य्यबुद्धि' नाम की विद्याबुद्धि है, जो 'अस्मितबुद्धि' नामकी अविद्याबुद्धि को दबा कर *आत्मा के महिमालक्षण* ऐश्वर्य्योदय का कारण बनती है।

६–आत्मविकास की प्रतिद्वन्द्विनी अस्मिता–

आत्मा ईश्वर है, ईश्वर की ईश्वरता ही उसका ऐश्वर्य्य है। आत्मा स्वभावतः अपने व्यापक पूर्ण-अक्षय धर्म्म' से विकासशील है। यह विकास ही आत्मेश्वर की ईश्वरता है। फलतः आत्मविकास ही 'ऐश्वर्य' है। व्याप्य-अपूर्ण-क्षरधर्म्म 'अनात्मधर्म्म' हैं। इनके समावेश से आत्मा का स्वाभाविक विकास उसी प्रकार अवरुद्ध हो जाता है जैसे कि धूमराग मल (धौ) अपने मधुर रश्मिस्वरूप विकासधर्म्म से वञ्चित रह जाता है। किंवा कम्पनजनित ऊष्मा के प्रत्याघात से जैसे पुष्पकलिका का विकास अवरुद्ध हो जाता है। जिन अनात्मधर्म्मों से आत्मा अपने विकासात्मक ऐश्वर्य्य से अभिभूत हो जाता है, आत्मविकासप्रतिबन्धक वही आगन्तुक धर्म्म (किंवा आत्मधर्म्मापेक्षया अधर्म्म) 'अस्मिता' कहलाता है। आत्मसंकोच ही अस्मिता है।

७–स्मित, हास, और अट्टाट्टहास-स्वरूपदिग्दर्शन, एवं अस्मिताभाव–

'स्मिङ्-ईषद्धसने' के अनुसार विकास ही ईषद्-हसन अथवा स्मितभाव है। जिस वृत्ति के लिए लोक में 'मन्दस्मित' शब्द प्रयुक्त हुआ है वही स्मितभाव है। मन्दमुस्कान ही ईषद्-हसन है यही स्मितभाव है और यही आत्मैश्वर्य्य का मुख्य प्रतीक है। हास (हँसी) तत्त्व स्मित हास अट्टाट्टहास भेद से तीन भागों में विभक्त माना गया है। जिस हास्य में दन्तपङ्क्ति के दर्शन नहीं होते किसी प्रकार की शब्दध्वनि नहीं होती, वह शान्त मन्दहास ही 'स्मितहास' कहलाता है। यह हास सर्वोच्चकोटि में प्रतिष्ठित है। आत्मकल्पानुगामी उच्चभूमिका में प्रतिष्ठित रहने वाले विद्वानों का 'स्मितहास' ही माना गया है। जिस हास्य में दाँत खिल जाते हैं 'हा-हा-ही-ही' शब्दध्वनि प्रवाहित रहती है विकसमुखानुगत दन्तदर्शन-शब्दध्वन्यात्मक वही हास 'हास' नामक हास माना गया है। विषयभोगानुगामी मध्यभूमिका में प्रतिष्ठित रहने वाले लौकिक मनुष्यों का लक्षण यही 'हास' बना करता है। जिस हास्य में दाँतों के साथ साथ मुखविवर भी अतिशयरूप से चौड़ा हो जाता है नाक-कान-आँख-हाथ-पैर, किंबहुना सम्पूर्ण शरीर जिसमें अपनी स्वाभाविक आकृति छोड़ कर विकृताङ्ग बन जाता है अहाहा-ओ हो हो-इत्यादि रूप से जिस में शब्दध्वनि तारस्वर का भी अतिक्रमण कर जाती है जिसे देख-सुन कर पास बैठने-चलने वाले शान्तप्रकृतिक पुरुष म्लान हो पड़ते हैं, भयानक रूप से आक्रोश वही हास 'अट्टाट्टहास' कहलाता है। विचारबुद्धि से असम्पर्कानुता रखने वाले अविद्यासंस्कार से एकान्ततः अन्वित रहने वाले असत्कल्पानुगामी, असुरधर्म्मा अविवेकी ही इस अट्टाट्टहास की आलम्बभूमि बना करते हैं। स्मितहास आत्मैश्वर्य्य का अनुगामी है हासधर्म विषयैश्वर्य्य का अनुगामी है एवं अट्टाट्टहास विरुपाक्ष-विरूपाक्षादि महासुरों का अनुगामी है। क्योंकि स्मितहास आत्मैश्वर्य्यानुगामी है अतएव वैज्ञानिकों ने ऐश्वर्य्यविघातक संकोच को 'अस्मिता' नाम से व्यवहृत करना ही अन्वर्थ समझा है। अस्मिता शब्द आत्मैश्वर्य्यमूलक स्मितभाव (विकासभाव) का ही अभाव सूचित कर रहा है।

८–आत्मैश्वर्य्य का प्रतीक स्मितहास, और तद्विरोधिनी अस्मिता–

स्मितभाव ही आत्मैश्वर्य्य का प्रतीक है हास और अट्टाट्टहास आत्मैश्वर्य्य से वञ्चित हैं। अतएव स्मितभावात्मक ऐश्वर्य्य की प्रतिद्वन्द्विता में ऋषियों ने 'अस्मिता' शब्द का प्रयोग ही समीचीन माना है। स्मित भाव ही आत्मैश्वर्य्य का प्रतीक क्यों है? हास और अट्टाट्टहास को आत्मैश्वर्य्यानुगामी क्यों नहीं माना गया? जब कि मुखलक्षण विकास हास और अट्टाट्टहास में भी विद्यमान है ?, इत्यादि प्रश्नों के समाधान के

लिए हमें 'स्मित' भाव के वैज्ञानिक भाव का स्पष्टीकरण करना पड़ेगा। बतलाया गया है कि अस्मितालक्षण स्त्रोधर्म्म के प्रवेश से आत्मा का विप्रलक्षण स्वाभाविक ऐश्वर्य्य अभिभूत होजाता है। फलस्वरूप अस्मि ताग्रुक्त पुरुषों के मुख से सदा हीन-वीर्य्यतासूचक वाक्य निकला करते हैं। ऐसे व्यक्ति पदे पदे कष्ट, तज्जनित शोक, एवं तज्जनित अश्रुपात के अनुगामी बने रहते हैं। क्या ऐश्वर्य्यलक्षण विप्रधर्म्म' के अनुयायी पुरुष 'हम पूर्ण सुखी हैं, हमारे पास सब कुछ है, हमें क्या कमी है' इत्यादि वाक्यप्रयोगों के द्वारा अपने ऐश्वर्य्य धर्म्म का बड़े आटोप के साथ बखान किया करते हैं?, क्या आत्मैश्वर्य्यानुगामी पुरुष प्राप्त भूतैश्वर्य्यों से अतिशयरूप से आह्लादित बन कर हास्यात्मक हास किंवा अट्टाहास के अनुगामी बन जाते हैं?, क्या आत्मै श्वर्य्य के प्रतीक ये ही बाह्य धर्म्म' हैं?, मीमांसा कीजिए।

६-आत्माभिमान, एवं आत्मातिमान का स्वरूपदिग्दर्शन—

सुनते हैं, एक बार देवता और असुरों में भयानक संघर्ष (युद्ध) छिड़ गया। दोनों शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर व्यूह(मोर्चा) बना कर युद्ध में प्रवृत्त हो गए। इस देवासुरसंग्राम में अधिक संख्या वाले असुर पराजित हो गए, एवं स्वल्पसंख्यक देवताओं का संवरण किया। ऐसा क्यों हुआ?, इसका उत्तर देते हुए श्रुति ने यह कहा है कि, देवता अभिमानी थे किन्तु असुर अतिमानी थे। आत्माभिमानी देवता संख्या में थोड़े रहते हुए भी जीत गए, एवं आत्मातिमानी असुर संख्या में अधिक रहते हुए भी हार गए-'ते हासुरा—अतिमानेनैव पराबभूवुः (शत० ५।१।१।१।)। प्राकृतिक अहन्ता 'मान' है। वह 'मान' स्वयं अभिमान अतिमान, भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। अभिमानात्मक मान का अन्तर्जगदनुगत 'आत्मा से सम्बन्ध है। एवं अतिमानात्मक मान का बहिर्जगदनुगत शरीर से सम्बन्ध है। विद्याबुद्धिलक्षण अव्यक्तात्मलक्षण ही अभिमान है एवं यही 'आत्माभिमान' कहलाया है जो कि आत्मविकास का प्रधान साधन माना गया है। अपने आपको (आत्मा को) साक्षात् ईश्वर का अंश समझते हुए इसे सच्चिदानन्दघन मानना, सदा अपने अन्तर्जगत में परिपूर्णता का अनुभव करना कभी आत्मा को हीन न मानना, कभी मुख से- 'हम तो दास हैं, दासानुदास हैं अकिञ्चन हैं निर्धन हैं असमर्थ हैं' ऐसे हीनता-सूचक वाक्य न निकालना अपितु ठीक इसके विपरीत सदा 'हम साक्षात् ब्रह्म के अंश हैं अतएव सब विध सम्पत्तियों से परिपूर्ण हैं सब समर्थ हैं' यह भावना करते रहना यही 'आत्माभिमान' है। एवंविध आत्माभिमान का उदय कैसे, और कब होता है?, इसी प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं—

> उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ॥
> आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥१॥
> बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ॥
> अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥२॥
> —गीता ६।५, ६।

१०-'उद्धरेदात्मना आत्मानम्' का तात्त्विक समन्वय—

'आत्मा से आत्मा का उद्धार करना चाहिए आत्मा को कभी नहीं गिराना चाहिए। आत्मा ही आत्मा का शत्रु है एवं आत्मा ही आत्मा का मित्र है" प्रथम श्लोक का यही अक्षरार्थ है। सर्वसाधारण मनुष्य

इस भगवद्वचन का यों समन्वय करते देखे-सुने जाते हैं कि—'हमें अपने आप ही अपना उद्धार करना चाहिए, कभी अपने आप को नहीं गिराना चाहिए। हम स्वयं ही अपने आपके मित्र हैं एवं स्वयं ही अपने आपके शत्रु हैं'। इस क्रम से वे इस तात्पर्य पर पहुँचते हैं कि—'पुरुष को किसी के भरोसे नहीं रहना चाहिए। अपितु स्वावलम्बी बन कर अपनी शक्ति से काम लेना चाहिए। अपने आत्मबल पर भरोसा कर उसी से कल्याणपथ पर आगे बढ़ना चाहिए। जो मनुष्य अपने बल से काम नहीं लेते वे दुःखी बने रहते हैं। जो अपने बल से काम लेते हैं वे सुखी बन जाते हैं'। व्यवहारनीति की दृष्टि से इस तात्पर्य का हम अभिनन्दन कर सकते हैं। परन्तु तत्त्वदृष्ट्या इसी अर्थ पर विश्राम नहीं किया जा सकता। आत्मना-आत्मानम् इस वाक्य में भगवान् ने एक आत्मा को तृतीयान्त माना है, एक को द्वितीयान्त माना है। इसी विभक्तिभेद से यह प्रमाणित है कि 'आत्मना' पृथक् आत्मा है, एवं 'आत्मानम्' पृथक् आत्मा है। साक्षी ईश्वरात्मा, एवं भोक्ता जीवात्मा के भेद से अध्यात्मसंस्था में तत्त्वदृष्ट्या दो आत्मभाव प्रतिष्ठित हैं। दोनों यहाँ समन्वित हैं, एवं-भाव से प्रतिष्ठित हैं। ईश्वरात्मा 'प्रत्यगात्मा' कहलाता है, जीवात्मा 'शारीरक' कहलाता है। प्रत्यगात्मा ब्रह्मप्रधान बनता हुआ 'अज' (अजन्मा) है, नित्यकूटस्थ है। शारीरक आत्मा कर्माभिव्यक्त कर्मप्रधान बनता हुआ कर्मानुगत ही गुणत्व-सम्बन्ध से 'जायते-म्रियते'-लक्षण जन्मभाव से आक्रान्त है। प्रत्यगात्मा को लक्ष्य बना कर वहाँ भगवान्-'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः' यह सिद्धान्त स्थापित करते हैं, वहाँ जन्म-मरण-धर्मा शरीरगामिनी शारीरक आत्मा को लक्ष्य बना कर-'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' यह सिद्धान्त स्थापित कर रहे हैं। शरीर में रहता हुआ भी अपने विभूतिसम्बन्ध से प्रत्यगात्मा यहाँ सर्वभूतों में (सम्पूर्ण शरीरों में) अविभक्त बनता हुआ एक है, वहाँ विभक्तिसम्बन्ध से शारीरक आत्मा अविभक्त बनता हुआ प्रतिशरीर में विभिन्न हो नाना है। वेदान्तदर्शनानुगत ऐकात्म्यवाद यहाँ प्रत्यगात्मा को लक्ष्य बना रहा है, वहाँ सांख्यनिष्ठ (सांख्य) दर्शनानुगत नानात्मवाद शारीरक आत्मा को उद्देश्य मान रहा है। ब्रह्मसाक्षात्कार भगवान् कृष्ण का सम्पूर्ण उपदेश ब्रह्मप्रधान प्रत्यगात्मा को यहाँ लक्ष्य बना रहा है, वहाँ कर्मरतो अर्जुन के सारे प्रश्न शारीरक आत्मा को लक्ष्य बना रहे हैं। अर्जुन की प्रश्नावली का मूलाधार है शारीरक आत्मा, एवं भगवान् की उत्तरावली का मूलाधार है प्रत्यगात्मा। सम्पूर्ण गीताशास्त्र अथ से इति पर्यन्त इन्हीं दोनों आत्मविवर्तों को लक्ष्य बना कर प्रवृत्त हुआ है। उक्त वचन का 'आत्मना' प्रत्यगात्मा का संग्राहक है एवं 'आत्मानम्' शारीरक आत्मा का संग्राहक है। 'आत्मा से आत्मा का उद्धार करना चाहिए'—वाक्य का यही तात्पर्य है कि, 'ईश्वरस्वरूप प्रत्यगात्मा से जीवस्वरूप शारीरक आत्मा का उद्धार करना चाहिए'। प्रत्यगात्मा धर्मज्ञानादि चतुर्विध ब्रह्मसम्पत्तियों से परिपूर्ण है। तदंशभूत शारीरकात्मा भी यद्यपि परिपूर्ण है, परन्तु अधर्म-अज्ञानादि चतुर्विध दोष-सम्पत्तियों के आवरण से यह स्वाभाविक प्रत्यगात्मा की परिपूर्णता से वञ्चित रह जाता है। यही इसकी दुःखप्राप्ति का मूल कारण है। इस मूलकारण के निराकरण के लिए जीवात्मा का आवरण हटाना पड़ेगा, सर्वे चतुर्विध बुद्धियोगों में से किसी एक का अनुगमन करना पड़ेगा। तदनुरूपस्वार्थ सहायक प्रत्यगात्मा का अनुसरण करना पड़ेगा। इस क्रम से जीवात्मा ईश्वरात्मा के साथ ही स्वाकार में समर्थ बन जाएगा। ठीक इसके विपरीत यदि यह जीवात्मा अविद्याकामकर्मरूपी का ही अनुगामी बना रहा तो प्रत्यगात्मा के सन्निधान से वञ्चित रहता हुआ यह अपना सर्वस्व खो बैठेगा। प्रत्यगात्मानुग्रह से वञ्चित इस जीवात्मा का अधःपतन (पतन) अनिवार्य बन जाएगा। इसी सम्पूर्ण परिस्थिति को लक्ष्य में रखते हुए भगवान् ने कहा है—

'प्रत्यगात्मा से शारीरक आत्मा को शक्तिशाली बनाओ। प्रत्यगात्मा की उपेक्षा कर शारीरक आत्मा को पतनोन्मुख न बनाओ'। अपने आप से ही अपना उत्थान सम्भव है इस वाक्य का 'अपने शब्द जीवात्मा का सूचक है एवं 'आप' शब्द ईश्वरात्मा का सूचक है। यही अपना (जीवात्मा का) आप (प्रत्यगात्मा) है। जो अपना आपा बिगाड़ लेता है, वही पतित होता है। इसी आधार पर यह लोकसूक्ति प्रचलित है कि 'अमुक ने अपना आपा सुधार लिया, अमुक ने अपना आपा बिगाड़ लिया'।

११–ईश्वरेच्छानिबन्धना महती समस्या—

प्रथम श्लोक के 'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्' इस पूर्ववचन का समन्वय तो हो गया। परन्तु इसी समन्वय ने–'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः' इस उत्तर वचन के सम्बन्ध में एक जटिल समस्या उपस्थित कर दी। प्रसङ्गोपात्त उसका भी निराकरण कर लीजिए। समस्या है ईश्वरेच्छा के सम्बन्ध में। पूर्वपरिभाषा के अनुसार उत्तर वचन के 'आत्मैव' का अर्थ होगा–प्रत्यगात्मा एवं 'आत्मनः' का अर्थ होगा–शारीरक आत्मा, जिसका अर्थ होगा यह कि 'ईश्वर ही जीवात्मा का मित्र है एवं ईश्वर ही जीवात्मा का शत्रु है'। विशिष्टाद्वैतसम्प्रदाय के अनुसार अनन्तकल्याणगुणाकर–परमकारुणिक–बना हुआ ईश्वर भी क्या राग–द्वेषमूलक मित्रता–शत्रुता–भावों का अनुगामी बना रहता है ?। क्या वह समदर्शी नहीं है ? क्या वह भी जीववर्ग की भाँति किसी जीव का मित्र, और किसी जीव का शत्रु बना रहता है ?। उत्तर में हाँ भी कहा जा सकता है, और ना भी कहा जा सकता है। इन परस्पर विरुद्ध दोनों उत्तरों के समन्वय के लिए ही 'ईश्वरेच्छा' से सम्बन्ध रखने वाली समस्या की मीमांसा अपेक्षित है।

आस्तिक प्रजा का यह विश्वास है कि, बिना ईश्वर की इच्छा के एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। 'हुकुम बिना ना पान चलै हरि की रजा से' इस गुर्जरभाषासूक्ति के अनुसार प्रत्येक कर्म की प्रवर्तिका ईश्वरेच्छा ही है जिस ईश्वर की इच्छा को हम 'ईश्वरकृपा' भी कह सकते हैं। इस सम्बन्ध में नास्तिकों (नास्तिकों) के अनेक विसंवाद उपस्थित होजाते हैं। वे आस्तिक प्रजा से प्रश्न कर बैठते हैं कि, 'यदि ऐसा है तब तो संसार में कोई बुरा काम है ही नहीं। मद्यपान चोरी हिंसा, परदारगमन अभक्ष्यभक्षण, आदि आदि जितने भी असत्कर्म हैं, उन सबका मूल भी यदि ईश्वरेच्छा ही है, तो इन्हें बुरा क्यों कहा जाय ?, क्यों कहा जाता है ?। दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि –देखते हैं, एक चोर चोरी करने से पहिले जगदम्बा–भैरव–आदि में से किसी नियत इष्टदेव से प्रार्थना करता है कि 'यदि आज मैं चोरी करने में सफल होगया, तो आपको अमुक भेंट से सन्तुष्ट करूँगा। यह भी मान लेते हैं और यह मान्यता सत्य भी है कि, इष्टदेवानुग्रह से चोरी करने में वह सफल होजाता है। प्रश्न होता है कि, क्या ईश्वर चोरी जैसे निन्द्य कर्म का भी सहायक बन जाता है ?। सभी पापकर्म यदि पुण्यकर्मों की भाँति ईश्वरेच्छा से ही सम्बद्ध हैं तो पापकर्मों से बचाने के लिए प्रवृत्त होने वाला शास्त्रोपदेश तो व्यर्थ है ही इसके साथ साथ संसारसागरसमुद्धर्त्ता ईश्वर पर एक बहुत बड़ा कलङ्क भी आरोपित होजाता है। यदि यही, उसकी इच्छा ही असत्कर्मों की भी प्रवर्तिका है, तो इसका दण्ड हमें क्यों मिले ?। मिलता है इसीलिए तो समस्या और भी जटिल बन जाती है स – मस्या के निराकरण के लिए आत्मसोपानपरम्परा का अन्वेषण अभिमत है।

१२–आध्यात्मिक–आत्मसोपानपरम्परा—

सांसारिक विषयों तथा सांसारिक कर्म्मों का भोक्ता कौन ?, उत्तर है–'भोक्तात्मा'। भोक्तात्मा का क्या स्वरूप ? उत्तर है–'आत्मा इन्द्रिय, मन' का समुच्चितरूप। अर्थप्रधान वैश्वानर, क्रियाप्रधान तैजस, ज्ञानप्रधान प्राज्ञ तीनों की समष्टि 'आत्मा' है, यही देहाभिमानी शारीरक आत्मा है। ज्ञानकर्म्मेन्द्रियवर्ग, और प्रज्ञानमन दोनों इस आत्मा के कर्म्मों के सहायक हैं। प्रज्ञानमनोयुक्त इन्द्रियवर्ग से ही आत्मा भावना–वासनारूप से सांसारिक कर्म्मभोग में समर्थ बनता है। अतएव भोगलक्षण से 'आत्मा–इन्द्रिय–मन' तीनों को ही हम 'भोक्तात्मा' कहेंगे जैसा कि–'आत्मे-न्द्रिय-मनो-युक्तं 'भोक्ते' त्याहुर्म्मनीषिणः' इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है। इनमें पहिला स्थान इन्द्रियों का है। अनन्तर वै॰तै॰प्राज्ञ–मूर्त्ति पार्थिव कर्म्मात्मा का स्थान है। अनन्तर चान्द्र प्रज्ञानात्मा (मन) का स्थान है। अनन्तर सौर विज्ञानात्मा (बुद्धि) का स्थान है। अनन्तर पारमेष्ठ्य महानात्मा का स्थान है। अनन्तर स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा का स्थान है। एवं सर्वान्त में प्रत्यगात्मा नामक अव्ययपुरुष प्रतिष्ठित है 'अव्यक्तात् पुरुषः परः, पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा, सा परा गतिः'। प्रारम्भ के 'आत्मस्वरूपप्रतिपत्ति' नामक प्रकरण में इस आत्मसोपानपरम्परा का विस्तार से विवेचन किया जा चुका है। प्रकृत में इस दिग्दर्शन से यही निष्कर्ष निकलता है कि, अव्ययेश्वर, अव्यक्त, महान् विज्ञान प्रज्ञान आत्मा, इन्द्रियवर्ग इन सात सोपानों का इसी क्रम से आध्यात्मसंस्था में समावेश हुआ है। इन सात संस्थाओं में अव्ययेश्वर नाम की पहिली संस्था 'प्रत्यगात्मा' (ईश्वर) है एवं आत्मा नाम की छठी संस्था 'शारीरकआत्मा' (जीव) है। अव्यक्त महान्, इन दो संस्थाओं का प्रधानतः प्रत्यगात्मा से सम्बन्ध है एवं प्रज्ञान इन्द्रियवर्ग इन दो संस्थाओं का प्रधानरूप से शारीरक आत्मा से सम्बन्ध है। चौथी विज्ञानात्मसंस्था प्रत्यगात्मा शारीरक आत्मा दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित रहती हुई 'देहलीदीपकन्याय' से दोनों की अनुग्राहिका बनी हुई है। तात्पर्य यह निकला कि अव्ययेश्वर, अव्यक्त, महान् अमृत विज्ञान, चारों की समष्टि प्रत्यगात्मसंस्था है। एवं मर्त्य विज्ञान प्रज्ञान आत्मा, इन्द्रियवर्ग, चारों की समष्टि शारीरक–आत्मसंस्था है।

१ — १–अव्ययेश्वरः—ऐश्वर. | (विश्वाध्यक्षः षोडशी)—विश्वेश्वरः
२ — २–अव्यक्तात्मा–स्वायम्भुव | (स्वयम्भूः)——स्वयम्भूः
३ — ३–महानात्मा—पारमेष्ठ्यः | (परमेष्ठी)——परमेष्ठी
४–विज्ञानात्मा–सौरः (अमृतम्) | (अमृतसूर्य्य) } —सूर्य्यः

४

१–विज्ञानात्मा–सौरः (मर्त्यम्) | (मर्त्यसूर्य्य)
५ — २ प्रज्ञानात्मा—चान्द्रः | (चन्द्रमा)——चन्द्रमाः
६ — ३ भूतात्मा——पार्थिवः | (सौम्यापृथिवी) } —महिमापृथिवी
७ — ४–इन्द्रियाणि—पार्थिवानि | (सौम्यापृथिवी)
* — *–शरीरम्——भौमम् | (भूपिण्ड)——भूपिण्डः

—अव्ययात्मा (आध्यात्मिक–परमात्मा)

—शारीरक आत्मा (आध्यात्मिकः जीवात्मा)

इति—नु—अध्यात्मम्
जीवः

इति—नु—अधिदैवतम्
ईश्वरः

पूर्णमिदम् { ——— पूर्णमदः
बरेवेह ——— } तदमुत्र
'पूर्णमेवावशिष्यते'

१३–ईश्वरेच्छासहकृत असङ्ग कर्म्मों की अवलम्बनता—

उक्त आध्यात्मिक आत्मसोपानपरम्परा को लक्ष्य बना कर ही ईश्वरेच्छा से सम्बन्ध रखने वाली पूर्वोक्त चरित्र–समस्या की मीमांसा कीजिए। आध्यात्मिक ईश्वर अव्ययेश्वर है। इसकी इच्छा ही ईश्वरेच्छा है, यही निष्कामकर्मात्मिका उपेक्षावृत्ता नाम की ईश्वरकामना है जिसका विशद स्वरूप पूर्वपरिच्छेदों में 'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते' इत्यादि श्लोकार्थप्रसङ्ग में बतलाया जा चुका है। इस ईश्वरकामना का सर्वप्रथम स्वविश्वावस्थित अव्यक्तात्मा से सम्बन्ध होता है। अव्यक्तात्मा के द्वारा ईशकामना अव्यक्त के स्वविश्वावस्थित महानात्मा में संक्रान्त होती है। महानात्मा के द्वारा ईशकामना महत्स्वविश्वावस्थित अमृतसूर्य्यात्मक, अतएव धर्म्म–ज्ञान–

वैराग्य–ऐश्वर्य नाम की भगचतुष्टयी से युक्त अव्यय च विद्याबुद्धयात्मक विज्ञानात्मा में प्रतिष्ठित होती है, और यहाँ आकर ईश्वरकामना का एक प्रक्रम समाप्त हो जाता है। अव्ययेश्वर से आरम्भ कर अमृतविज्ञानात्मा पर्य्यन्त उदित्वाधर्मावलक्षणा, निष्काममनःप्रतिष्ठा विद्याबुद्धिलक्षणा अव्यय मनःप्राण अक्षर च कर्मनिर्वर्त्तिका ईश्वरेच्छा का अमरत्व–अमृतभावित साम्राज्य रहता है। इस इच्छा से युक्त शारीरक आत्मा के जितने भी कर्म हैं, वे सब निष्कामकर्म्मात्मक अबन्धनकर्म्म हैं। ऐसी ईश्वरेच्छा से प्रयुक्त जीवात्मा के सभी कर्म्म सत् हैं। ऐसे पुरुषों की कभी असत्कर्म्म में प्रवृत्ति ही सम्भव नहीं है। यदि ऐसे पुरुष कभी किसी असत्कर्म्म में प्रवृत्त भी देखे सुने जाते हैं तो इसमें कोई गुप्त लोकसंग्रह निहित रहता है जो मानवीय दृष्टि से परे की वस्तु है। 'नास्य कृतं च कर्म्मणा लोको मीयते न मातृवधेन–न पितृवधेन' (कौ. ब्रा. उप. ३।१।) के अनुसार ईश्वरेच्छा को मूल मानने वाला व्यक्ति यदि अपनी माता (परशुरामवत्) तथा पिता को भी मार देता है तब भी उसे तज्जनित पातक नहीं होता–'लिप्यते न स पापेन'। क्योंकि, उसका सर्वकर्म्म प्रत्यगात्म की इच्छा में समर्पित रहता है जो कि प्रत्यगात्मेच्छा सर्वथा अपाप है। श्रुति का तात्पर्य यही है कि, एवंविध योगयुक्तात्मा शान्त पुरुष से पहिले तो किसी भी निन्द्य कर्म की सम्भावना ही नहीं है। यदि वह अनिवार्य्यविध स्वधर्म्मपालन के लिए कभी किसी निन्द्य कर्म में भाग देता भी जाता है, तो हमें विश्वास करना चाहिए कि, ईश्वरेच्छायुक्त उसका इस निन्द्य कर्म्म से भी अवश्य ही कोई न कोई लोकसंग्रह होने वाला है। वीतराग परमहंसों के खान–आहार विहार देख–सुन कर हम आश्चर्य्यचकित बन रह जाते हैं। परन्तु विश्वास कीजिए, वे विधि–निषेध से परे हैं। न अमृत उनका भला ही कर सकता, न मद्य उनको हानि ही पहुँचा सकता। विधि–निषेधात्मक शास्त्रोपदेश अस्मदादि उन लौकिक मनुष्यों के लिए अनिवार्य्य हैं, जो लोकप्रवृत्तिपरायण इन्द्रियारामपरायण हैं। सूर्य्य को देखिए न! मूत्रनलिकास्थ मूत्र उसे दोषयुक्त नहीं बना सकता। यही नहीं जिन अस्पृश्य वस्तुओं के साथ इसका सम्बन्ध हो जाता है वे स्वयं दोषरहित बन जातीं हैं। अथवा सूत्र–जैसे–सद्–असद्–वस्तुमात्र में विभूति के सम्बन्ध से रहता हुआ भी तद्गत शुभ–अशुभ–संस्कार बन्धन में आबद्ध नहीं होता, तथैव अर्थात् ईश्वरकामना से युक्त जीवात्मा सर्वत्र समदर्शी बनता हुआ विभूति के सम्बन्ध से सर्वत्र व्याप्त रहता हुआ भी निर्लिप्त बना रहता है। अवतारपुरुष, युक्तयोगी, अनन्यनिष्ठ भक्त सब इसी स्थिति के उदाहरण हैं। भगवान् राम शास्त्रनिषेध की उपेक्षा कर अस्पृश्या भी शबरी के उच्छिष्ट बेर खा सकते हैं। परन्तु हम नहीं खा सकते। कारण हम भगवान् नहीं हैं। ईश्वरकामना के अनुयायी अभी हम नहीं बन पाए हैं। जिस दिन हम भी वैसे बन जायेंगे उस दिन कुछ हमारे लिए भी क्षम्य मान लिया जायगा। निष्कर्ष यही है कि, अमृतविज्ञानात्मिका विद्याबुद्धिपर्य्यन्त ईश्वरकामना स्वस्वरूप से विकसित, अन्यथारूप से अनाहत रहती हुई अमन्दना बनी रहती है। ऐसी ईशकामना से युक्त जीवात्मा के सब कर्म सत्कर्म माने गए हैं।

१४–ईश्वरेच्छा के सम्बन्ध में समस्यात्मक प्रश्नोत्थान—

आध्यात्मिक जीव वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञमूर्त्ति शारीरक आत्मा है। इसके उत्तर भाग में तो इन्द्रियवर्ग प्रतिष्ठित है एवं पूर्वभाग में प्रज्ञानमन एवं तत्पूर्वभाग में महद्विज्ञानात्मा प्रतिष्ठित है जिसमें महद्भाग के सम्बन्ध से अभिनिवेश–अस्मिता–राग–द्वेष–अविद्या इन पञ्चविध क्लेश–सम्पत्तियों के कारण की प्रेयता मानी गई है। अव्यक्त–महान्–द्वारा परम्परया अमृतविज्ञानात्मा में आगत अव्ययेश्वर की कामना का अमृतविकास के

द्वारा मर्त्यविज्ञानात्मा में आगमन होता है तद्द्वारा मर्त्यविज्ञानसम्भिव्यवस्थित प्रज्ञानमन में यह ईशकामना युक्त होती है, प्रज्ञानमनोद्वारा प्रज्ञानमन सम्भिव्यवस्थित शारीरकजीव में ईशकामना का आगमन होता है। एवं जीवद्वारा यह ईशकामना जीवसम्भिव्यवस्थित इन्द्रियवर्ग के साथ संयुक्त होती है। मर्त्यविज्ञान से आरम्भ कर इन्द्रियवर्ग पर्य्यन्त व्याप्त ईशकामना का शारीरक-आत्मानुगत यही दूसरा प्रक्रम है। इसप्रकार अव्ययेश्वर-गता यही मूलभूता ईश्वरेच्छा अव्ययेश्वर से आरम्भ होकर तदुत्तरवर्त्ती अव्यक्त-महान्-अमृतविज्ञान-मर्त्यविज्ञान प्रज्ञान-आत्मा में परम्परया मुक्त होती हुई इन्द्रियवर्ग पर विश्राम करती है। इन्द्रियेच्छा जीवेच्छा प्रज्ञानेच्छा, मर्त्यविज्ञानेच्छा, अमृतविज्ञानेच्छा महदिच्छा, अव्यक्तेच्छा ये सातों आध्यात्मिक इच्छाएँ परम्परया प्रसिद्ध अव्ययेश्वरेच्छा के ही सोपाधिकरूप हैं। और इस दृष्टि से जीवेच्छा-मानसेच्छादि से सम्बद्ध यच्चयावत् सत्कर्म्म ईश्वरेच्छामूलक ही माने गए हैं। उपयुक्त लिङ्ग ईश्वरेच्छा के सहयोग से मनुष्य 'सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता'। यहीं यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, यदि ऐसा है, तो क्या चोरी-हिंसा-आदि निन्द्य कर्म्म भी ईश्वरेच्छा से होते हैं? जिस इस प्रश्न का उत्तर ईश्वरेच्छा के परम्परानुगत योग की दृष्टि से यह भी दिया जा सकता है कि, 'हाँ निन्द्य कर्म्म भी ईश्वरेच्छा से ही सम्बन्ध रखते हैं। इसी पर दूसरा यह प्रश्न उठ जाता है कि यदि ऐसा है, तो शास्त्रोपदेश का क्या प्रयोजन? हम क्यों निन्द्य कर्म्मों का निन्द्य फल भोगते हैं?, और ईश्वर भी क्या दुःखात्मक असत्कर्म्म का प्रेरक बन कर अपने ईश्वरत्व से वञ्चित होता हुआ कलङ्कभाजन बन जाता है? ।

१५-'यथोदकं दुर्गे वृष्टम्' का तात्त्विक समन्वय, एवं प्रश्नसमाधि—

उक्त प्रश्नों के सम्बन्ध में हमें यह कहना पड़ेगा कि, प्रवृत्तिमूलक वैदिक लौकिक यच्चयावत् शास्त्रीय सत्कर्म्म तथा प्रवृत्ति-तमोमूलक लौकिक यच्चयावत् व्यावहारिक असत्कर्म्म, तथा निन्द्य कर्म्म, इन सब कर्म्मों का मूल ईश्वरेच्छा नहीं है अपितु जीवेच्छा है। क्या जीवेच्छा उक्त परम्परानुगता ईशकामना के योग से ईश्वरेच्छा का ही रूपान्तर नहीं है?, है, और अवश्य है। फिर किस आधार पर जीवेच्छा का ईश्वरेच्छा से पार्थक्य माना गया है? । एकमात्र इसी प्रश्न के उत्तर पर समस्या का निराकरण हो रहा है, जो उत्तर निम्न लिखित उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है—

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।
एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥

—कठोपनिषत् ४।१४।

एक बहुत बड़ा पर्वत है। उस विशाल पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर एक दुर्ग (किला) बना हुआ है। दुर्ग अनन्ताकाश से वेष्टित है। अनन्ताकाश के क्रोड में इन्द्र-पर्जन्य-धूम-ज्योति-मरीचि-वायु-के समन्वय से समुत्पन्न मेघ आ जाते हैं। पानी दुर्ग पर बरसने लगता है। दुर्ग पर बरसा हुआ पानी पर्वत पर आता है पर्वत से निर्झरित हो कर वह धरातल पर आ जाता है। भूतमय धरातल पर आया हुआ पानी इतस्ततः विभक्त बनता विभिन्न मार्गों से प्रवाहित होता हुआ धरातल में व्याप्त हो जाता है। श्रुति कहती है—मेघा-धारभूत अनन्ताकाश जलाधारभूत आकाशस्थ मेघ मेघारिथतजल, दुर्ग, पर्वत पर्यन्तोपलब्ध धरातल सब स्वच्छ हैं निर्मल हैं। परन्तु धरातल के विभक्त विभिन्नमार्ग अस्वच्छ हैं मलिन हैं। इन विभिन्न पथों के अनुगमन से ही स्वच्छ-निर्मल भी जल अस्वच्छ और मलिन हो जाता है। ठीक यही परिस्थिति यहाँ समझिए। अनन्ताकाश के स्थान में अनन्ताकाशात्मक, अतएव 'आकाशात्मा' नाम से प्रसिद्ध 'परात्पर' नामक अव्यक्त-

श्वर है। नभस्वान्-आकाशलक्षण अव्ययात्मा का भी इसी में अन्तर्भाव है। महानात्मा मेघस्थानीय है। महानात्मा में परिपूर्ण सोमरस जलस्थानीय है। विज्ञानात्मसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा दुर्गस्थानीय है। शारीरकआत्मा में सोमसम्पादक परमात्सोम से इत्थम्भूत बना हुआ पर्वत स्थानीय है। पाञ्चभौतिक पार्थिव शरीर पर्वतोपत्यकारूप उपत्यका है। इसप्रकार अनन्ताकाश मेघ जल दुर्ग, पर्वत, पर्वतोपत्यका-स्थानीय अव्ययात्म-गर्भित अव्ययेश्वर, महानात्मा सोम, प्रज्ञानात्मगर्भित विज्ञानात्मा, शारीरकआत्मा, शरीर, ये सब आध्यात्मिक पर्व स्वस्वरूप से अनन्ताकाशवत् स्वच्छ हैं, निम्न स हैं। सब में वही अव्यय अभिन्न-निम्न स आत्मरस, और उदयितकाश्चा-लक्षणा एकात्मना प्रवाहित है। परन्तु विभिन्न-विभक्त-मार्गस्थानीय विषयानुगत इन्द्रियवर्ग अपनी पराग्-वृत्ति के कारण विषयासक्त बनता हुआ अस्वच्छ है मलिन है। इसके सम्पर्क में आते ही महानात्मयुक्त चैतन्यरस, एकरूपा एकात्मना स्वस्वरूप से स्वच्छ-निम्न स रहती हुई भी विभिन्न ऐन्द्रियक धर्मों की ओर अनुधावन करने से अस्वच्छ-मलिन हो जाती है। इन्द्रियानुगत पृथक धर्मों का आत्मप्रज्ञना ने अनुगमन नहीं किया, इसका उत्तरदायित्व भी अव्यक्त जीवात्मा पर नहीं है। कारण-जिन इन्द्रियों से जीवात्मा विभिन्न धर्मात्मक बाह्य गुणात्मक विषयों की ओर अनुधावन करता है उन इन्द्रियों का स्वरूप स्वयं प्रजापति की ओर से बहिर्मुख है। सभी इन्द्रियों के द्वार बहिर्मुख हैं। बहिर्मुख इन्द्रियवर्ग यदि बाह्य विषयों की ओर अनुधावन करें, तो इसमें इन्द्रियों का, और जीवात्मा का क्या दोष है। आयतन-विभक्त-लक्षण अतएव मृत्युधर्माक्रान्त जीवात्मा पराङ्मुख इन्द्रियवर्ग के अनुग्रह से यदि विभिन्न धर्मानुधावन करता हुआ मृत्युमय बन जाता है तो इसमें इसका क्या दोष है। इस स्वाभाविक-प्राकृतिक-मृत्युधर्म से बचने का एक उपाय है। वही उपाय बुद्धियोग कहलाया है। इन्द्रियसंयमपूर्वक इन्द्रियों को अन्तर्मुख बनाइए, बाह्य धर्मानुधावन अवरुद्ध हो जायगा। जीवात्मा का विद्याबुद्धि से योग हो जायगा। विद्याबुद्धि का अव्ययेश्वर से स्वाभाविक योग है। तद्योगानुगत बुद्धियोग से जीवात्मा का भी अव्ययेश्वर से योग हो जायगा। फलतः अव्ययेश्वर के अमृतधर्म का जीवात्मा से योग हो जायगा और इसप्रकार जीवात्मा अमृतभाव कर लेगा जिस बुद्धि-योगात्मक उपाय का निम्न लिखित उपनिषच्छ्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥
—कठोपनिषत् २।१।१।

इन्द्रियवर्गानुगत वासनासंस्कारबन्धनरूप आवरण का कृष्ण-आवर्त (काला काच) है जिसमें होकर आने वाली श्वेतरश्मियाँ भी सूर्यरश्मियाँ कृष्णवर्ण में परिणत हो जाती हैं। सूर्यरश्मिप्रकाश स्वस्वरूप से सर्वथा श्वेत-निर्मल-स्वच्छ है। आप अपने चक्षु-प्रदेश के आगे काला काच लगा कर देते हैं। इस में होकर आने वाला श्वेत भी प्रकाश आपके लिए काला बन जायगा। ठीक यही स्थिति यहाँ समझिए। इन्द्रियासक्ति के अनुग्रह से अध्यात्मसंस्था में ग्रन्थिबन्धनरूप से प्रतिष्ठित वासना-भावनात्मक संस्कार गुणात्मक कृष्णकाचात्मक आवरण है। आगत संस्कार प्रज्ञानमन में प्रतिष्ठित होकर मनोमय बन जाते हैं। मन पर विद्यात्मिका बुद्धि प्रतिष्ठित है। विज्ञानबुद्धि के प्रकाश से ही तो प्रज्ञानमन प्रकाशित होता है। सूर्यज्योति ही तो प्रतिफलन के सम्बन्ध से चन्द्रमा की ज्योति स्वरूप में परिणत करती है। सूर्यस्थानीय विज्ञानात्मा (विद्या बुद्धि) का प्रकाश स्वत निर्मल है। परन्तु चन्द्रस्थानीय प्रज्ञानात्मा मन) संस्कारसम्बन्ध से कृष्ण बन

रहा है। अतएव तदागत निर्मल भी विज्ञानप्रकाश मलिन बन रहा है। संस्कारात्मक मन क्षेत्र में मुक्त वही विज्ञानात्मा अविद्यात्मक है वही अविद्याबुद्धि है जो मन के प्रति आत्मसमर्पण कर अपने स्वाभाविक विद्या-बुद्धिधर्म्म से वञ्चित हो रही है। मन में विज्ञानद्वारा आया हुआ आगमज्योतिरंश, तथा ईशकामना संस्कार-सम्बन्ध से इसप्रकार स्वाभाविक सत्वगुणविकास से अभिभूत होकर आगन्तुक तमोगुण की अनुग्राहिका बन जाती है। संस्कारानिमग्ना यही ईशकामना गुणसम्बन्ध से 'जीवकामना' कहलाने लग जाती है। यही जीवेच्छा उत्थाप्याकांक्षा कहलाई है जिसका व मेंबुद्धियोगप्रकरण में विश्लेषण किया जा चुका है। संस्कारत्वेन यह इच्छा जीवेच्छा है, यही पतन का निन्द्य कर्म्मप्रवृत्ति का मूल कारण है और इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि,–'ईश्वरेच्छा कभी निन्द्य कर्म्मों को प्रेरणाबल प्रदान नहीं करती'। संस्कार नैनापि इच्छा है वही, जो परम्परया आगत है। अतः यह भी कहा जा सकता है कि, 'निन्द्य कर्म्मप्रवृत्ति भी ईश्वरेच्छा पर ही अवलम्बित है'। इस-प्रकार पूर्वकथनानुसार इस समस्या के हाँ–ना–दोनों ही उत्तर हो सकते हैं। हमारे अपने सांस्कारिक दोष से ईश्वरेच्छा जहाँ हमारे (जीवात्मा के) दुःख का कारण बन जाती है वहाँ हमारे अपने साम्य बुद्धियोग से ईश्वरेच्छा हमारे बन्धनों की निवृत्ति का कारण बन जाती है। संस्कारबन्धनत्वेन वही प्रत्यगात्मा शारीरक आत्मा का शत्रु बन कर उसे पतनोन्मुख बना देता है, एवं संस्कारबन्धनाभाव में वही प्रत्यगात्मा शारीरक आत्मा का मित्र बन कर उसे संसारसागर से बचा ले जाता है।

१६–आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः-बुद्धियोगानुष्ठानेन, एव आत्मैव रिपुरात्मन -आसक्तिबन्धनेन

तत्त्व का समन्वय भी कीजिए कि, न ईश्वर हमारी भलाई में सहयोग देता, न बुराई में। हम स्वयं उसकी ज्योति से अपनी भलाई भी कर सकते हैं, बुराई भी। हमारी आँखों के सामने काला काच है। अपने स्वभाव से सर्वत्र फैलती हुई श्वेत–सूर्य्यज्योति हमें काली दिखाई देने लगती है। इसमें न तो सूर्य्यज्योति का अनुग्रह है न निग्रह है। उसे श्वेत बनाए रखना भी हमारा अपना पुरुषार्थ है काला बना कर देखना भी हमारा पुरुषार्थ है। इसी आधार पर– सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता, परो ददातीति कुबुद्धिरेषा स्वकर्म्मसूत्रग्रथितो हि लोकः' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। उपभोग करने वाले की योग्यता से अच्छी वस्तु बुरी भी बन जाती है अच्छी भी बनी रहती है। ईशज्योति सर्वत्र सम है। हम अपने दोष से (संस्कारसे) उसे मलिन बना कर उसे अपना शत्रु बना कर तद्द्वारा निन्द्य कर्म्मों का भी अनुगमन कर सकते हैं, एवं बुद्धियोग से उसे स्वस्वरूप में विकसित रखते हुए तद्द्वारा अबन्धनकर्म्मों का भी अनुगमन कर सकते हैं। इसी तत्त्व को लक्ष्य बना कर भगवान् ने कहा है–'आत्मा (प्रत्यगात्मा ही बुद्धियोगसम्बन्ध से) आत्मा का (शारीरकआत्मा का) मित्र बन कर आत्मा का (शा० आ० का) उद्धार कर देता है, एवं आत्मा ही (आसक्ति-सम्बन्ध से) आत्मा का शत्रु बन कर आत्मा को गिरा देता है–'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः'-बुद्धियोगानुष्ठानेन, एवं 'आत्मैव रिपुरात्मनः'–आसक्तिबन्धनेन।

१७–'बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य' इत्यादि उत्तर श्लोकसमन्वय—

'उद्धरेदात्मनात्मानम्०' इत्यादि प्रथम श्लोक के समन्वय की चेष्टा की गई। 'बन्धुरात्मात्मनस्तस्य इत्यादि द्वितीय श्लोक से इसी समन्वय का स्पष्टीकरण हुआ है। भगवान् कहते हैं-जिस शारीरक आत्मा (जीवात्मा) के द्वारा (बुद्धियोगानुष्ठान से) प्रत्यगात्मा (ईश्वरात्मा) जीत लिया जाता है उस शारीरक आत्मा का प्रत्यगात्मा बन्धु बन जाता है। अर्थात् स्वस्थान में स्थिरकर स प्रतिष्ठित प्रत्यगात्मा उस शारीरक आत्मा का

लिए बन्धु सिद्ध हो जाता है जो शारीरिक आत्मा योगानुष्ठान से संस्कारकर्मों के द्वारा हुआ प्रत्यगात्मा के निर्मल ज्ञानप्रवाह को अपने अधिकार में कर लेता है तस्यात्मन-(शारीरकात्मन') आत्मा (प्रत्यगात्मा) बन्धु (भवति), येनात्मना (शरीर आत्मना) आत्मैव (प्रत्यगात्मैव) जितः'-यही अन्वयक्रमानुगत है-जिसका 'बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जित' इस वाक्य से समर्थन हुआ है। ठीक इसके विपरीत जो शारीरक आत्मा इन्द्रियानुगत सांसारिक विषयों की आसक्ति में आबद्ध हो जाता है उसका अपना आत्मस्वरूप इस अनात्मभाव से अनात्मरूप में परिणत हो जाता है। इस परिवर्तन से अनात्मा बने हुए (आत्मविकास से वञ्चित बने हुए) शारीरकात्मा का यह प्रत्यगात्मा बन्धु न रह कर शत्रु बन जाता है। और उस दशा में यह प्रत्यगात्मा ही (इस शारीरक आत्मा के साथ) शत्रुवत् व्यवहार करने वाला सिद्ध हो जाता है। 'शत्रुवत्' का तात्पर्य यही है कि प्रत्यगात्मा अपनी ओर से न बन्धु है, न शत्रु है। जीवात्मा की योग्यता के तारतम्य से ही यह बन्धुवत् और शत्रुवत् बन जाता है। 'सांसारिकविषयासक्त्यात् अनात्मनः (आत्मस्वरूपपरिच्युतस्य जीवात्मनः) शत्रुत्वे (प्रत्यगात्मन शत्रुभाव परिणते सति) आत्मैव (प्रत्यगात्मैव जीवात्मना सह) शत्रुवत् वर्तेत' यही अन्वयक्रम है जिसका- अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् इस वाक्य से समर्थन हुआ है।

१८-मनो-वाक् का 'अहंश्रेयो' वाद—

प्रसङ्गवश आत्मोद्धार-आत्मपतन की मीमांसा करनी पड़ी। अब पुनः प्रकृत की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। बतलाया गया था कि देवता आत्माभिमान से जीत गए, एवं असुर अभिमान से हार गए (५।११।१६)। आत्मा से यहाँ सर्वभूतमूल प्रत्यगात्मा (अव्ययेश्वर) अभिप्रेत है। इस आत्मा का पूर्ण विकास ही आत्माभिमान है जिसका केवल अन्तर्जगत् से सम्बन्ध माना गया है। अभिमान की यहाँ गति नहीं है। जिसका यों विश्लेषण किया गया है कि—"एकबार मन, और वाक् में अहंश्रेयोभाव को लेकर विवाद चल पड़ा। मन कहता था मैं तुम से बड़ा हूँ क्योंकि मैं जैसा संकल्प करता हूँ तुम्हें वैसा ही व्यापार करना पड़ता है। वाक् कहती थी, मैं तुम से बड़ी हूँ। मैं न होती, तो तुम्हारा संकल्प कभी कर्मरूप में परिणत न होता। इसप्रकार मन वाक् को इच्छानुकूल बतलाता था एवं वाक् मन को इच्छानुकूल बतला रही थी। दोनों जब निर्णय में असमर्थ हो गए, तो प्रजापति (प्रत्यगात्मा) के समीप पहुँचे। प्रजापति ने यह निर्णय कर डाला कि, 'तुम दोनों में मन ही श्रेष्ठ है'। प्रजापति के इस निर्णय से असन्तुष्ट होकर वाक् ने अपना रोष इन शब्दों में प्रकट कर डाला कि— हे प्रजापते! आपने आज मुझ मन की अपेक्षा क्षुद्र बना दिया है। अतएव आज से मैं आपके लिए 'हव्यवाहना' ही बनी रहूँगी। फलस्वरूप तब से उस वाक् ने प्रजापति के लिए हव्यवहन करना छोड़ दिया'। अतएव आज भी यज्ञ में प्रजापति के लिए जो कर्म किया जाता है वह उपांशु (उच्चारण बिना मनसा के) ही किया जाता है' (देखिए शत० १।४।५ ब्रा०)।

१९-अभिमान, एवं अतिमान-व्यापारों का पार्थक्य—

तात्पर्य आख्यान का यही है कि, इससे प्रत्यगात्मा ही प्रजापति है। वह मनोमय है एवं वहीं वाक् का प्रवर्तक है। वाक् बहिर्मुख है। अतएव प्राजापत्य कर्म उपांशु ही होता है। क्योंकि वाक् निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' के अनुसार यहाँ वाक् का गमन सर्वथा असम्भव है। और यही आत्माभिमान का वास्तविक परिचय है। अपना नहीं, आत्मा-आत्म सम्बन्ध (अपना अपने आपको परिपूर्ण बाह्य वातावरण में प्रकट करना अपने आपको विनाश

रहिए। विनय-शीलता का यह तात्पर्य्य नहीं है कि, आप अपने आपको अस्वस्थ-मूर्ख-निर्धन कह कर घोषित करते रहें। अपितु 'सोऽस्मि सोऽस्मि' के अनुसार आपका विनय केवल-'सब ठीक है, भगवान् का अनुग्रह है, सब आनन्द है, जीवनयात्रा का निर्वाह हो रहा है', एवंविध सामान्य वचनों के द्वारा ही प्रकट होना चाहिए। आत्माभिमान केवल आत्मसम्पत्ति है। अतएव यह केवल अन्तर्जगत् की ही वस्तु बनी रहनी चाहिए। एवं इसके लिए आपको सदा सतर्क बना रहना चाहिए। आपकी इन्द्रियाँ शरीर, आदि भी भौतिक बनते हुए वाङ्मय ही हैं। क्योंकि पाँचों भूतों का मूल वाक्तत्त्व ही है। अतएव आपका आत्माभिमान यदि इन्द्रियों पर, शरीर पर थोड़ा भी झलक आया, तो आत्माभिमान का स्वरूप बिगड़ जायगा आत्माभिमान वागभिमानरूप में परिणत होकर अभिमानी असुरों की भाँति पराभव का कारण बन जायगा। आपकी वाणी, आँख नाक, हाथ, पैर, मस्तक आदि की किसी भी चेष्टा में अभिमान की झलक नहीं रहनी चाहिए। क्योंकि बाह्य चेष्टानुगत अभिमान आत्माभिमान न रह कर वागभिमान बन जाता है। साथ ही विनय का अनुचित उपयोग करते हुए आपको ऐसी चेष्टाओं का प्रदर्शन भी नहीं करना चाहिए जिससे कि आप सर्वथा दीन-हीन-मूर्ख-प्रतीत होने लगें। यह स्पष्टीकरण इसलिए करना पड़ रहा है कि आज आत्माभिमान वागभिमानरूप में परिणत हो रहा है। विद्या-वैभव से सम्पन्न व्यक्ति अपनी वाणी से चेष्टाओं से अपना बखान करते नहीं अघाते। विद्याभिमानी ऐसे अकड़ कर-ऐंठे छाती तान कर चलते हैं मानों इन्होंने विश्वविजय कर लिया हो। चाहे जिसको मूर्ख नास्तिक कह बैठना प्रमाणाभावों का उद्घोष करते रहना, 'सर्व परिभवा' का चीत्कार करते रहना यही इनका विद्याभिमान है जो निश्चयेन किसी समय पराभव का कारण बन जाता है। यही दशा धनाभिमानियों की है। अपने समकक्षों को छोड़ कर अन्य साधारण व्यक्तियों से बात करने में भी ये धनमदान्ध अपनी मान हानि समझते हैं। धनाभिमान से विद्वानों का अपमान करना अपनी कुशलता-चातुर्य्य का बखान करते रहना ही इनकी जीवनचर्य्या बनी रहती है। निश्चयेन विद्याभिमानवत् धनिकों का यह धनाभिमान भी एकदिन इनके सर्वनाश का ही कारण बन जाता है। इसके साथ ही आत्माभिमान के तात्त्विक स्वरूपज्ञान से वञ्चित रहने कारण विनयपथ के अनुगामी कितने एक विद्वान् भी हम 'कुछ नहीं जानते हम तो मूर्ख हैं' इत्यादि दीन शब्दों में अनुचित विनय का प्रदर्शन करना अपना कर्त्तव्य मान बैठते हैं। एवमेव विनयशील कितनें एक धनिक जीर्ण-मलिन वस्त्र पहिने हुए, हमारे पास क्या रक्खा है हम तो आपके दास हैं इत्यादि वाक्यों का प्रयोग करते रहने में ही अपना गौरव समझने की भूल करते रहते हैं। ऐसा विनय भी एक प्रकार की आत्मप्रतारणा बनता हुआ वागभिमान बन कर पराभव का कारण बन जाता है एवं पूर्वोक्त उद्दण्डतालक्षण वागभिमान भी पराभव का कारण बन जाता है। 'असन्नेव स भवति-असद्ब्रह्मेति वेद चेत्' श्रुति कह रही है कि-'विनय के भ्रम में पड़ कर यदि तुम 'कुछ नहीं है-हम क्या जानते हैं' इस न-न का पारायण करते रहे तो इस असदुच्चारणात्मक अभिमान से तुम स्वयं किसी दिन अपना अस्तित्व ही खो बैठोगे। न मिथ्या विनय का प्रदर्शन उचित न उद्दण्डता-त्मक वागभिमान का प्रदर्शन उचित। क्योंकि दोनों ही अभिमानरूपेण पराभव के हेतु बन रहे हैं। भगवान् के अनुग्रह से सब कुछ ठीक है इस सामान्यवाक्प्रयोग के अतिरिक्त जो व्यक्ति बात बात में भगवन्नाम का सम्पुट लगाते हुए अपने विद्यावैभव का बखान करते नहीं अघाते भगवान ने उन्हें समंभस्त्र प्राणी कहा है। एवं ऐसे वागभिमानियों की पराभवमूला वृत्तियों का दिग्दर्शन कराते हुए ही भगवान ने कहा है-

२०–वागभिमानी दाम्भिक विद्वानों, शासकों, तथा धनिकों का आत्यन्तिक पराभव—

"कभी शान्त न होने वाली कामना के कुचक्र में फँस कर दम्भ, मान मद से युक्त होते हुए व्यक्ति मोहवश असत्-परिग्रहों का संग्रह करते हुए आमरणान्त सर्वथा अपवित्र बने रहते हैं (गी० १६।१०)। ऐसे धनासक्त दम्भी पुरुषों की कामचिन्ता कभी नहीं मिटती। काम-भोग परायण अतएव सदा चिन्तायुक्त ऐसे व्यक्तियों का जन्म-मृत्यु प्रवाह प्रलयावस्था में ही रुकता है (१६।११)। एवंविध कामकामी पुरुष सैकड़ों आशापाशों से आबद्ध रहते हैं। आशानुगत काम, और कामनिरोधजनित क्रोध से युक्त रहते हुए ये पुरुष अपने काम-भोग की पिपासा शान्त करने के लिए ही अन्याय से धनसंग्रह करते नहीं अघाते (१६।१२)। 'आज मैंने (भगवान् की कृपा से) यह पा लिया, कल मेरा अमुक मनोरथ सिद्ध होगया, मेरे कोष में अमुक सम्पत्ति है कल और भी सम्पत्ति मिल जायगी (१६।१३) मैंने अपने बाहुबल से अमुक शत्रु को मार दिया है दूसरों को भी मार डालूँगा मैं सर्वसमर्थ हूँ, भोगी हूँ, सिद्ध हूँ बलवान् हूँ सुखी हूँ (१६।१४) आढ्य (बहुधनसम्पन्न कुटुम्बपति) हूँ, अभिजनवान् (विद्वान्-वक्ता) हूँ मेरा जैसा आज (इस नगर में) कौन है मैं यज्ञ करूँगा दान करूँगा, प्रसन्न हूँगा" इसप्रकार ये वागभिमानी अज्ञान से विमोहित बने रहते हैं (१६।१५)। अपने आप को स्वयं ही बड़ा मानने का अभिमान करते हुए, अन्यायोपार्जित धनसे धनी, छद्मवेषी परिकरवर्गों के द्वारा प्राप्त मान से मानी मदोन्मत्त बने हुए ऐसे ही वागभिमानी केवल अपने नाम के लिए ही दम्भपूर्वक बिना ही शास्त्रविधि के पूजन-पाठ-उपासना-कथा-यज्ञ-आदि का आडम्बर किया करते हैं (१६।१७)। क्या दशा होती है इन अभिमानियों की अन्त में ?, सुनिए।

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

* * *

अन्य तु— एतैर्विमुक्तः कौन्तेय ! तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥

* * *

२१–स्मितहासानुगत उपांशुभावनिबन्धन आत्मैश्वर्य—

उक्त विवेचन से कहना यही है कि आत्मा वाक्सम्मर्यादा (शब्दमर्यादा) से परिभूत है। अतएव आत्मसौन्दर्य शब्दाश्रित बन कर ही विकसित होता है। शब्दों के द्वारा बखान करने से आत्मसौन्दर्य अभिभूत होजाता है। फलस्वरूप एवंविध वागभिमान से मनुष्य पराभूत होजाता है। समझो अपने आपको महान् परन्तु मुख से इस महत्ता का बखान मत करो, यही आत्माभिमान है और यही आत्मोद्धार का अन्यतम मार्ग है। उसको यदि आप शब्दों के द्वारा प्रकट करते हैं तो यह वागभिमान है। अतएव महत्ता का बखान न करने के साथ साथ दैन्यसूचक शब्दों का भी प्रयोग मत करो। वागभिमान से पृथग्भूत आत्माभिमानमूलक यह पूर्णमान ही आत्मोद्धार के लिए निःश्रेयस-पथ है। एवंविध आत्माभिमान में न दम्भमद रहता है न अहङ्कार

होता। होता है केवल उपांशु-आत्ममूलक मन्दहास, स्मितहास। आत्मवीर्य्यशाली महापुरुषों के मुख पर मन्दहास की प्रतिच्छाया सर्वदा अङ्कित रहती है। जिनका आत्मवीर्य्य वागभिमान से, एवं अन्यान्य अधर्म्मादि पाप्मा-संस्कारों के समावेश से हीनवीर्य्य बन जाता है उनका आत्मा, बुद्धि, मन, इन्द्रियवर्ग शरीर, सब कुछ मुर्झा जाते हैं। यह मुर्झाव ही स्मितभाव की विरोधिनी, ऐश्वर्य्य की विरोधिनी 'अस्मिता' है। स्मित, हास, अट्टहास तीनों में से स्मितभाव ही आत्मविकास का सूचक है। अतएव आत्मविकासलक्षण, स्मितभावात्मक ऐश्वर्य्यभग के प्रतिद्वन्द्वी आत्मसंकोचलक्षण अनैश्वर्य्यभावात्मक क्लेश के लिए 'अस्मिता' शब्द का प्रयोग करना अनुरूप माना गया है, जिस अस्मिता के स्वरूपविश्लेषण के लिए ही हमें आत्माभिमान-आत्मातिमान का स्वरूप बतलाना पड़ा है। और यही ऐश्वर्य्य, तथा अस्मिता-भावों का संक्षिप्त तात्त्विक विश्लेषण है जिसके आधार पर ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या का स्वरूपज्ञान अवलम्बित है।

२२-ईश्वर का ऐश्वर्य्य—

प्रत्येक वस्तु का हृद् आत्मा उस वस्तु का प्रातिस्विक ईश्वर माना गया है। इस प्रातिस्विक हृद् ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाला तत्तद्वस्तु का महिमामण्डल ही तत्तद्वस्तु का ऐश्वर्य्य माना गया है। एवं व्यक्तिभेद से विभिन्न बन हुए प्राणी-संस्था के अध्यक्ष (साक्षी) आध्यात्मिक ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाले ऐश्वर्य्य का ही स्वरूपविश्लेषण हुआ है। अब दो शब्दों में समष्टयात्मक, विश्वव्यापक, आधिदैविक ईश्वर के ऐश्वर्य्य का स्वरूपपरिचय करा देना भी आवश्यक होगा। आनन्द-विज्ञान-मनोमय विद्यामय को अपनी मूलप्रतिष्ठा बनाये रखने वाला, मनःप्राणवाङ्मय कर्म्ममय को स्वस्वरूपनिर्म्मात्री बनाए रखने वाला अव्ययविष्णुसोमाग्निलक्षण-अक्षरपञ्चकात्मक-परप्रकृति नामक अक्षर को निमित्तकारण बनाए रखने वाला, प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नादलक्षण-क्षरपञ्चकात्मक-अपराप्रकृति नामक आत्मक्षर को उपादानकारण बनाए रखने वाला अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-समष्टि से योगरूप बने रहने वाला *वेद-लोक-देव-भूत-पशु-लक्षण-क्षरपञ्चकात्मक वहिरङ्गप्रकृति से युक्त वाक्-आप-अग्नि इस शुक्रत्रय से* शुक्रसमष्टि-रूप में परिणत रहने वाला एवं कारणापेक्षया विश्वमूर्त्ति-अव्ययापेक्षया विश्वकर्त्ता-अव्ययापेक्षया विश्वाधार नामों से प्रसिद्ध तत्त्वविशेष ही 'ईश्वर' है। इस आधिदैविक ईश्वर की ईश्वरता ही 'ऐश्वर्य्य' कहलाया है।

उक्त लक्षण आधिदैविक ईश्वर की ईश्वरता अव्ययैश्वर्य्य, अक्षरैश्वर्य्य, क्षरैश्वर्य्य, भेद से तीन भागों में विभक्त मानी गई है। ज्ञानज्योतिर्म्मयलक्षण अव्ययैश्वर्य्य है, यही इसका प्रथम, तथा मुख्य ऐश्वर्य्य है। *क्रियात्मक कर्म्मप्रपञ्च उत्पन्न अक्षरैश्वर्य्य है यही इसका विश्वस्वरूपसंरक्षक दूसरा ऐश्वर्य्य है। पाञ्चभौतिक अर्थप्रपञ्च* उत्पन्न क्षरैश्वर्य्य है यही इसका विश्वात्मक तीसरा ऐश्वर्य्य है। ज्ञान-क्रिया-अर्थात्मिका इस ऐश्वर्य्यत्रयी से नित्य युक्त विश्वेश्वर सर्वत्र विकसित हो रहा है। त्रिविध ऐश्वर्य्यशाली इस ईश्वर की ईश्वरता इस लिए अक्षुण्ण है कि, यह स्वयमेव मायातीत विश्वातीत अलण्ड-अव्यय परात्पर परमेश्वर के प्रति अनन्यनिष्ठा से आत्मसमर्पण किए हुए है। परात्पर परमेश्वर के परमैश्वर्य्यप्रदान से ही यह ईश्वर ऐश्वर्य्यशाली बना हुआ है। और यही आधिदैविक ईश्वर के ऐश्वर्य्य का तात्त्विक स्वरूपदिग्दर्शन है।

२३–जीव का ऐश्वर्य्य—

जिस प्रकार महामायावच्छिन्न ईश्वर मायातीत परात्पर परमेश्वर का अंश है तथैव विश्वगर्भ में रहने वाला योगमायावच्छिन्न प्रज्ञावर्ग (अस्मदादि जीववर्ग) उस महामायी, ऐश्वर्य्यसम्पन्न विश्वेश्वर का अंश माना गया है। वह कारण है यह कार्य्य है। कारण के धर्म्म ही तो कार्य्यस्वरूप के निर्म्माता माने गए हैं। फलतः अंशी–ईश्वरकारण के अंशात्मक–जीवकार्य्य में भी कारणेश्वर में मुक्त उक्त तीनों ऐश्वर्यधर्म्मों का योग सिद्ध हो जाता है। ऐश्वर्य्यशाली ईश्वर जैसे अपने ज्ञानैश्वर्य्य से सर्वज्ञ क्रियैश्वर्य्य से सर्वशक्ति, तथा अर्थैश्वर्य्य से सर्ववित् बना हुआ है, एवमेव तदंशभूत जीवात्मा भी 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' के अनुसार ज्ञान–क्रिया–अर्थ नामक तीनों ऐश्वर्य्यों से नित्य युक्त रहता हुआ परिपूर्ण है। जो वह है सो यह है। जो वहाँ है, सो यहाँ है, और तत्त्वदृष्ट्या यह समतुलन यथार्थ बन रहा है।

२४–ईश्वरांशभूत, अतएव ऐश्वर्य्यशाली भी जीव का अनैश्वर्य्य–

किन्तु ! किन्तु इसलिए कि देखते हैं त्रिविध ऐश्वर्य्यशाली बना रहता हुआ भी जीवात्मा अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, अल्पवित्त–भावों का उपासक प्रतीत हो रहा है। 'अमुक विषय हमारी समझ में नहीं आया,' इस रूप से यह अपनी अल्पज्ञता का परिचय दे रहा है। 'हम अमुक काम करने में सर्वथा असमर्थ हैं' इस रूप से अपनी अल्पशक्ति का अभिनय कर रहा है। एवं 'हमारे कोष में अमुक वस्तु–सम्पत्ति का अभाव है' इस रूप से अपनी अल्पवित्ता का परिचय दे रहा है। आत्मसीमा में ज्ञान–कर्म–अर्थ, तीनों ऐश्वर्य्यों के परिपूर्ण मात्रा से विद्यमान रहते हुए भी जीवात्मा अपने आपको इन ऐश्वर्य्यों से वञ्चित मान रहा है। आज हमारे कोष में धन नहीं, अन्न वस्त्र नहीं, पहले अन्न नहीं, पहले शान्ति नहीं इसप्रकार जब देखो तब न–न मायात्मक अनैश्वर्य्य में ही यह जीवात्मा निमग्न देखा–सुना जा रहा है। जब इसके अन्तर्जगत् में अन्तःऐश्वर्यत्रयी विद्यमान है तो फिर क्यों जीवात्मा की यह दुर्दशा हुई !, इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए 'अस्मिता' शब्द का जन्म हुआ है।

२५–लौकिक उदाहरण, और अस्मिता—

अस्मिता का जन्म होता क्यों है ! क्यों जीवात्मा आध्यात्मिक आत्मेश्वर के स्वाभाविक ऐश्वर्य्य-भोग से वञ्चित रह कर अपने आपको ज्ञान–क्रिया–अर्थैश्वर्य्यों से शून्य समझ बैठता है ! इत्यादि प्रश्नों का एकमात्र कारण है अस्मितामावात्मक विषयों के साथ जीवात्मा का प्रतिबन्धक-सम्बन्ध। जब भौतिक विषय तमोगुण–प्रधान बनते हुए केवलरूप आत्मविकास से वञ्चित हैं। इसी आत्मविकासाभाव से उनमें जड़ता का उदय हो रहा है। जड़ता एक प्रकार का वह संकोचधर्म्म है जिसके आलम्बन से चिद्घन आत्मा का चिद्विकासलक्षण ऐश्वर्य्य अभिभूत हो जाता है। यह विषयसंस्कारात्मिका जड़ता का मूल कारण बनती है तत्पश्चात् संस्कारानुबन्धी अभिव्याप्ति। इसके उपयोग से उत्पन्न–भावना विषयसंस्कार पहिले प्रज्ञानमन में प्रतिष्ठित होते हैं। प्रज्ञानद्वारा प्रज्ञानमनपरिष्वक्त विज्ञानात्मा (बुद्धि) में प्रविष्ट हो जाते हैं। इस परम्पराद्वारा जडविषयसंस्कार से विज्ञानात्मा का ऐश्वर्य्यलक्षण स्वाभाविक ऐश्वर्य्यभाव अभिभूत हो जाता है बुद्धि 'अस्मिता' बन जाती है। संकुचित हो जाती है। अस्मिता (अविकसिता–संकुचिता) ऐसी बुद्धि ही अनैश्वर्य्यलक्षण लोक की प्रवृत्ति का कारण

बन जाती है। अस्मितात्मिका बुद्धि ऐश्वर्यात्मक अव्ययेश्वर नामक अपने मूलात्मा के विकासानुग्रह से वञ्चित रह जाती है। अतएव रहते हुए भी आत्मैश्वर्य्य के जीवात्मा इस अस्मिताबुद्धि के निग्रह से बालवत् अपने आपको असमर्थ बना लेता है।

२६–बाल-वृद्ध-भावानुगता अस्मिता का स्वरूपदिग्दर्शन–

संकुचित बुद्धि का नाम ही अस्मिता है, जिसका लौकिक उदाहरण बालक माना जा सकता है। एक बालक की बुद्धि प्रकृत्या अस्मिताभाव में परिणत रहती है। अतएव वह बात बात पर रोने लगता है, दु खी हो जाता है। प्रचण्ड शब्द सुनने से, किसी के धमका देने से वह चमक पड़ता है और भयत्रस्त बन कर दौड़ कर माता के अञ्चल में आ घुसता है। जनसमुदाय (भीड़) को देख कर वह इतना त्रस्त बना रह जाता है। चन्द्रमा से मन का निर्म्माण हुआ है। चन्द्रमा षोडशकल माना गया है। एक वर्ष में चन्द्रमा की एक कला मन में प्रतिष्ठित होती है। इसप्रकार सोलह वर्ष में चन्द्रमा की सोलह कलाएँ मन को परिपूर्ण बनाती हैं। इससे पहले पहले चान्द्र मन अपूर्ण ही बना रहता है। चान्द्र मन ही बुद्धि का आधार है। क्योंकि सोलह वर्ष से पहिले पहिले बालक का मन अपूर्ण रहता है अपरिपक्व रहता है, अस्थिर रहता है। अतएव तब तक तत्प्रतिष्ठिता बुद्धि का भी पूर्ण विकास नहीं हो पाता। यही बालभावात्मिका स्वाभाविकी अस्मिता है। इसी आधार पर 'प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। कारण स्पष्ट है। पूर्ण-स्थिर चन्द्रमा पर ही सूर्य्य का पूर्ण स्थिर प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बित होता है। १६ वर्ष से पहिले अपूर्ण बने हुए चान्द्र प्रज्ञान (मन) पर सौर विज्ञान पूर्णरूप से प्रतिबिम्बित नहीं होने पाता। अतः इससे पहिले पहिले ही बाल-बुद्धि पर माता-पिता आचार्य्यादि का अनुशासन चल सकता है। १६ वर्ष के अनन्तर चान्द्र षोडश कलाओं की परिपूर्णता से सौर विज्ञान पूर्णमात्रा से उदित हो जाता है बालक बालकपना छोड़ कर स्वतन्त्रप्रज्ञ बन जाता है। अतएव १६ से आगे इस पर कटुशासन नहीं किया जा सकता। यदि किया जाता है तो वह विद्रोही बन जाता है। इस अवस्था में तो सुहृद्भाव से ही इसका निग्रहानुग्रह किया जा सकता है। १६ वर्ष पर्य्यन्त का व्यक्ति बालक है इसकी बुद्धि अस्मिता है अपरिपक्व है। अतएव इस अवस्था पर्य्यन्त इससे किसी विषय पर परामर्श (राय) नहीं लिया जा सकता। १६ वर्ष के अनन्तर ही लौकिक बुद्धि का परिपाक आरम्भ होता है। शतायुपुरुष की आयु के १ वर्ष ५–५ भेद से दो भागों में विभक्त हैं। पहिले ५ वर्ष पर्य्यन्त मानव-बुद्धि का उत्तरोत्तर उद्ग्राम (चढ़ाव) है उत्तर के ५ वर्ष पर्य्यन्त निग्राम (उतार) है। फलतः १६ वर्ष से आरम्भ होने वाले बुद्धिविकास की अन्तिम विश्राम भूमि ५ वाँ वर्ष बन जाता है। यहाँ से आगे के ५ वर्षों में यद्यपि बुद्धि रहती तो है अविद्यारूप से परिपक्व, किन्तु इन्द्रियशैथिल्य से इस उत्तरावस्था में अनवधानता (भूलना-विस्मृति) दोष का समावेश हो जाता है। अतएव ५ वर्ष से ऊपर की आयु का पुरुष लोकव्यवहारसञ्चालन में प्रमाद कर बैठता है। इसीलिए भारतीय वैज्ञानिकों ने यह आदेश दिया है कि, ५ के अनन्तर बुद्धें लोकव्यवहार का परित्याग कर वानप्रस्थगामी बन जाना चाहिए–'वर्षे पञ्चाशतो व्रजेत्'। तात्पर्य्य ५०–से आगे तथा १६ से नीचे नीचे पुरुष की बुद्धि लोकव्यवहारदृष्ट्या अस्मिता भावात्मिका बनी रहती है। अतएव इन दोनों अवस्थाओं में (बालक को, और वृद्ध को, दोनों को) परामर्श की अपेक्षा रहती है। इस लौकिक-व्यावहारिक उदाहरण के द्वारा भी तात्त्विक अस्मिताभाव का समन्वय किया जा सकता है। बालक की अस्मिता प्राकृतिक है, प्राप्तवयस्क की अस्मिता आगन्तुक है। बालक की अस्मिता

…ता है। पूर्वजों के पूर्वगौरव के स्मरणमात्र से हमारा सुप्त गौरव प्रबुद्ध हो जाता है, अस्मिता हट जाती है। …जन के कारण भारतीयों की विरुदावली ने अनेक बार पराजित होते हुए क्षत्रियों को विजयलाभ कराया है। …के लिए समुद्रतट पर समवेत वानरसमूह जब समुद्रगमन की मीमांसा आरम्भ करता है, तो …हे की ओर उसका ध्यान आकर्षित हो पड़ता है, जो मारुति अपने आपको समुद्रोल्लङ्घन में … हुए इस मीमांसा से तटस्थ बने एक ओर बैठे थे। जब इन्हें इनके स्वाभाविक ऐश्वर्यबल का … कराया जाता है, तो तत्क्षण आपकी अस्मिता पलायित हो जाती है। परिणाम क्या होता है?, … ऐसे ऐसे सहस्र उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं, जिनमें पहिले से विद्यमान … स्मरण दबा रहता है। एवं अस्मिता के उपासकों के द्वारा हटा देने पर … हो जाता है।

प्रासवस्था से कालान्तर में अपने आप हट जाती है। आसवयस्क की अस्मिता हटती है एकमात्र ऐश्वर्य-बुद्धियोगात्मक भक्तियोग से, जिसके सम्बन्ध में भी एक लौकिक उदाहरण उपस्थित किया जा सकता है।

२७—काम्य ऐश्वर्य्य की अनित्यता—

मान लीजिए—देशाधिपति शासक लोकैश्वर्य्य से सम्पन्न है। इस ऐश्वर्य्यसम्पन्न शासक के वेतनभोगी अनुचर शासक के ऐश्वर्य्य से अनुप्राणित रहते हैं, शासक के ऐश्वर्य्य के भक्त (भाग-भाजन) बने रहते हैं। यही इस अनुचरवर्ग का 'भक्तिबल' है। इस भक्तिबल के प्रभाव से अनुचरवर्ग की अस्मिता दबी रहती है। शासक का अनुरक्षक प्रभावर्ग के किसी सम्पन्न धनिक की अपेक्षा आर्थिक दशा में कोई महत्त्व नहीं रखता। धनिक-कोट्यधिपति है शासकानुचर अधिक से अधिक १ ०-२ मास कर लेता है। इसप्रकार धनैश्वर्य्य की दृष्टि से सम्पन्न धनिक की अपेक्षा शासकानुचर अत्यन्त निम्न श्रेणि में प्रतिष्ठित है। परन्तु शासक के भक्तिबल से धनिक जहाँ वञ्चित है वहाँ शासकानुचर शासक के उस भक्तिबल से अनुप्राणित है जो भक्तिबल धनिक के वित्तैश्वर्य्य से कहीं अधिक महत्त्वशाली है। यही कारण है कि सम्पन्न भी धनिक जहाँ शासनसत्ता से भयत्रस्त बना रहता है वहाँ शासकानुचर इस भय से विमुक्त बना रहता है। यही नहीं अपितु इसी भक्तिबल के अनुग्रह से शासक का एक क्षुद्र सेवक (चपरासी) भी सम्पन्न धनिक के लिए 'आप तो उनके खास आदमी हैं' इस सूक्ति-उच्चारणपूर्वक सम्मान्य बन जाता है। जब तक अनुचर शासक का अनुचर है तभी तक वह इस लोकास्मिता पर विजय प्राप्त किए रहता है। जिस दिन यह अपने अधिकारलक्षणात्मक भक्तिबल से गिर जाता है उस दिन इसमें यही अपने स्वरूप के अनुरूप अस्मिता प्रकट हो जाती है। यही भक्तिबलात्मक-आगन्तुक ऐश्वर्य्य का लौकिक उदाहरण है जिसका अमभाव से सम्बन्ध है। अतएव इत्थंभूत ऐश्वर्य्य 'अनन्यभक्तियोग' अलभ्य है जिससे शाश्वत ऐश्वर्य्य प्राप्त नहीं किया जा सकता।

२८—ऐश्वर्य्यबोध का अभाव, एवं अस्मिता का आक्रमण, तथा तन्मूला दुःखप्राप्ति—

यह भी देखा सुना गया है कि, कभी कभी रहती हुई भी ईश्वरता (स्वाधिकारसामर्थ्य) अज्ञान के कारण विकसित नहीं हो पाती और उस दशा में वह दुःखी-असमर्थ बना रहता है। अपने ही घर में द्रव्य गड़ा हुआ है। हमें उसका बोध नहीं है। द्रव्याभावजनित दुःख हम पर आक्रमण करते रहते हैं। हम में सम्पूर्ण योग्यताएँ प्रतिष्ठित हैं, परन्तु कुचक्रियों ने-'तुम कुछ नहीं तुम कुछ नहीं' कह कर अपने स्वार्थसाधन के लिए हमें अस्मिता में बाँध रक्खा है। परिणामस्वरूप हम अपने आपको सर्वथा अयोग्य मानते हुए पराजित बन जाते हैं। वर्तमान शिक्षापद्धति में संगृहीत कल्पित इतिहासों ने ही तो भारतवर्ष की स्वाभाविक ईश्वरता को अस्मिता के आवरण से आवृत कर दिया है। 'हम कौन थे कौन हैं!' इत्यादि प्रश्नों का उत्तर देने वाला इतिहास हमें यह सिखा रहा है कि-'तुम आरम्भ में जंगली थे वन्योपासक थे, तात्पर्य्य-कुछ न थे'। इस भयङ्कर शिक्षण से हमारा पूर्वैश्वर्य्य अभिभूत होता जा रहा है। महाभारत युद्धप्रसङ्ग में शल्य की इसी नीति ने कर्ण के स्वाभाविक ऐश्वर्य्य को अभिभूत कर डाला था। यह भी तो सत्य है कि हम वाणी के द्वारा अस्मिता का भी प्रवेश करा सकते हैं और अस्मिता हटा कर ऐश्वर्य्य का समावेश भी करा सकते हैं। युद्ध करते हुए दो मल्लों में से जिस मल्ल के प्रति जनता—'शाबास बहादुर, मार लिया' इत्यादि उत्साहवर्द्धिनी वाणी का प्रयोग करती रहती है निश्चयेन उस मल्ल में शब्दशक्तिप्रवेश के द्वारा अकस्मात् स्फूर्तिबल का उदय हो

जाता है। वंशजों के पूर्वगौरव के स्मरणमात्र से हमारा सुप्त गौरव प्रबुद्ध हो जाता है, अस्मिता हट जाती है। राजस्थान के चारण भाटों की विरुदावली ने अनेक बार पराजित होते हुए क्षत्रियों को विजयलाभ कराया है। सीतान्वेषण के लिए समुद्रतट पर समवेत वानरसमूह जब समुद्रागमन की मीमांसा आरम्भ करता है, तो सहसा मारुति की ओर उसका ध्यान आकर्षित हो पड़ता है, जो मारुति अपने आपको समुद्रोल्लङ्घन में असमर्थ पाते हुए इस मीमांसा से तटस्थ बने एक ओर बैठे थे। जब हमें इनके स्वाभाविक ऐश्वर्यबल का परिचय कराया जाता है, तो तत्क्षण आपकी अस्मिता पलायित हो जाती है। परिणाम क्या होता है! यह सुविदित है। एवमेव ऐसे ऐसे सहस्रों उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं, जिनमें पहिले से विद्यमान भी ऐश्वर्य आगन्तुक अस्मिता के कारण दबा रहता है। एवं अस्मिता के उपायविशेषों के द्वारा हटा देने पर स्वतः सिद्ध ऐश्वर्य मेघापाये सूर्यवत् प्रकट हो जाता है।

२९—आगन्तुक अस्मिता के द्वारा ऐश्वर्य्य का अभिभव—

ठीक यही स्थिति यहाँ समझिए। आगन्तुक अस्मिता के सम्बन्ध से जीवात्मा की बुद्धि आत्मैश्वर्य्यग्राहक ऐश्वर्य्यविद्याभूत अपने विद्याबुद्धिभाव से वञ्चित रह जाती है। इस स्थिति का यों भी समन्वय कर लीजिए कि अस्मिता के सम्बन्ध से अल्पज्ञ—अल्पशक्ति—अल्पवित् बने हुए जीवात्मा की बुद्धि भी अस्मिता (अभिकुण्ठिता) बन जाती है। इस अस्मितबुद्धि का उस ऐश्वर्य्यशाली परमात्मा के साथ योग नहीं होने पाता। योग है और अवश्य है। परन्तु उसके और इसके योग में अस्मिता—प्रतिबन्धन का समावेश हो रहा है। अस्मिता अनैश्वर्य्यलक्षणा अपूर्णभाव है। तद्द्वारा जीवात्मा में परम्परया युक्त भी ब्रह्मैश्वर्य्य उसी प्रकार अभिभवभाव में ही परिणत हो रहा है जैसे कि कृष्णकाच के द्वारा आगत श्वेतरश्मि भी कृष्णरूप में परिणत हो जाती है।

३०—साक्षी सुपर्णसखा के सान्निध्य से अस्मिता की निवृत्ति—

कैसे यह अस्मिता हटे? इस प्रश्न के समाधान के लिए ही प्राचीनों की ओर से ब्रह्म—भक्तियोग का आविष्कार हुआ है। संकोच उस समय अवश्यमेव विकासरूप में परिणत हो जाता है, जब कि संकोचशाली व्यक्ति का किसी अपने से अधिक बलशाली सजातीय व्यक्ति से सम्बन्ध हो जाता है। लौकिक उदाहरणों से स्थिति का समन्वय कीजिए। अपरिचित, एतावता ही विजातीय व्यक्ति के सामने एक कन्या की विनोद-वृत्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं, अस्मितभाव में परिणत हो जाती हैं। वही कन्या परिचित, एतावता ही सजातीय माता—पिता—भगिनी—आदि के सामने आते ही पुष्पवत् विकसित हो पड़ता है। पूज्य—गुरुजनादि के सम्मुख हमारी मानस भावना उनके आधिकारिक बलाघात से दबी रहती है। परन्तु एक मित्र के सामने हमारा अन्तर्जगत् विकसित हो पड़ता है। सांसारिक अपूर्णता की मूलकारणभूता अस्मिता तभी हट सकती है जबकि जीवात्मा अपने सजातीय बन्धु का आश्रय ले लेता है। आध्यात्मिक ब्रह्मेश्वर के अतिरिक्त इसका नित्य बन्धु दूसरा और कोई नहीं है जो सदा छायावत् इसके साथ युक्त रहता है। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ' इत्यादि श्रुति के अनुसार साक्षीसुपर्ण नाम से प्रसिद्ध अल्पशाखलक्षण परमात्मा तथा मोक्तासुपर्ण नाम से प्रसिद्ध शरीरकमण्डलक्षण जीवात्मा सयुक्–सखा (अभिन्नमित्र) है। जीवात्मा अल्पज्ञ—अल्पशक्ति—अल्पवित् मित्र है, परमात्मा सर्वज्ञ—सर्वशक्ति—सर्ववित् मित्र है। किस निर्धन का मित्र एक समय धनिक हो, वह कभी उस

नहीं पा सकता, क्योंकि उस धनिक मित्र के साथ इस निर्धन मित्र का अनन्य सम्बन्ध रहे। सर्वातीत परिपूर्ण ईश्वरबन्धु के साथ जिस दिन इस अपूर्ण जीव का 'भक्ति' सम्बन्ध हो जाता है उस दिन उसकी परिपूर्णता इसकी अपूर्णता को भी परिपूर्णभावन में परिणत कर देती है, और यहीं आकर जीव की अपूर्णतालक्षणा अस्मिता का एकान्ततः उच्छेद हो जाता है।

२१–अस्मितानिवर्त्तिका ईश्वरोपासना—

ज्ञान–क्रिया–अर्थैश्वर्यघन ईश्वर की उपासना का अर्थ है–उसका अहर्निश चिन्तन। इस चिन्तनरूप ध्यानप्रवाह से उसकी ऐश्वर्यमयी रश्मियें प्रवाहित होने लगती हैं। यही ईश्वरोपासना है जो अस्मितानिवृत्ति का मुख्य उपाय माना गया है। अपूर्णताजनित दुःखनिवृत्ति की कामना से सम्बन्ध रखने वाली यह उपासना उपासना न रह कर काम्य भक्तियोग बन जाता है जिसे भक्तसम्प्रदाय में 'प्रेमाभक्ति'–'अनुरागोपासना'–इत्यादि नामों से व्यवहृत किया गया है। इस काम्या भक्ति में क्या क्या दोष हैं ?, इसका अनुष्ठानप्रकार क्या है ?, इसका मूल तत्त्व आत्मा कौन है ? उपासना और भक्ति में क्या तारतम्य है ?, इस काम्यभक्ति का भगवान् ने संशोधन क्यों अनिवार्य्य माना है ?, इत्यादि भक्ति–उपासना सम्बन्धी यावत् प्रश्नों की मीमांसा द्वितीयखण्डात्मक 'भक्तियोगपरीक्षा' में की जा चुकी है। अत एव यहाँ विशेषरूप अनावश्यक है। प्रकृत में विषयसङ्गति के लिए यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि—

२२–काम्यभक्तियोगानुगता दोषपरम्परा—

'काम' तत्त्व प्रत्येक दशा में त्रिगुणभाव का उत्तेजक है। त्रिगुणभाव प्रत्येक दशा में आसक्ति का प्रवर्त्तक है एवं आसक्ति प्रत्येक दशा में आत्मबन्धन का कारण है। हमारा सांसारिक दुःखों से छुटकारा हो, हम अपनी अपूर्णता छोड़ कर परिपूर्ण बन जाँय इस कामना में ईशकामना के साथ साथ संसार सम्बन्धा–कांक्षा–लक्षणा जीवकामना का भी समावेश बना रह जाता है। अतएव ऐसी काममयी सगुणोपासना काम्य सगुण कर्म्मवत् आसक्ति का आत्यन्तिक निराकरण करने में असमर्थ बनी रह जाती है। जिस प्रकार–'त्रैगुण्यविषया वेदाः' के अनुसार काम्यकर्म्म त्रिगुणभावात्मक बनते हुए भगवान् की दृष्टि में त्याज्य हैं, एवमेव त्रिगुणभावात्मिका सगुणभावात्मिका काम्य–भक्ति भी भगवान् की दृष्टि में अवरमार्ग ही बना हुआ है। कामनामयी भक्ति में प्रेम का अतिरेक सम्भव है, तन्मयता भी आ सकती है, संसार आसक्ति भी हट सकती है। परन्तु इसमें चिदात्मा का उदय नहीं होता। अव्ययेश्वर ही चिदात्मा है, और वह गुणातीत है–'अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः'। उधर कामभाव के सम्बन्ध से काम्य भक्तियोग का लक्ष्य बनता है–सगुणपक्ष–त्रिगुणभावात्मक सगुणेश्वर। निर्गुण चिदात्मा और सगुण–सविकार जीवात्मा, दोनों के मध्य में काम, तदनुरूपी गुणभाव तदनुयोगी प्रेमभाव आदि आदि अनेक विजातीय उन भक्तियों का समावेश हो जाता है जिनके कारण जीवात्मा का उस निर्गुण परमात्मा के साथ अनन्य सम्बन्ध नहीं हो पाता। यही काम्यभक्तियोग में प्रथम दोष है। दूसरा दोष है–ज्ञानवैराग्य का बहिष्कार। चिदात्मा ज्ञानप्रधान है इसी ज्ञान के सम्बन्ध से यह आसक्ति से सर्वथा विनिर्मुक्त रहता हुआ वैराग्यमूर्त्ति है। ज्ञान–वैराग्यलक्षण निर्गुण चिदात्मा के और अज्ञान–आसक्ति लक्षण सगुण जीवात्मा के मध्य में जब तक कामासक्ति का व्यवधान है तब तक चिदात्मा की ज्ञान–वैराग्य–रश्मियों के अनुग्रह से जीवात्मा वञ्चित बना रहता है। ज्ञान–वैराग्य–वञ्चित

ऐसी भक्ति के अनुयायी भक्त प्रेमविभोर बन कर आँसू बहा सकते हैं, उन्मत्त हो सकते हैं, अन्ततः परमपद भी प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु कर्त्तव्यनिष्ठा से इनकी विच्युति हो जाती है। अतएव ऐसे काम्य-भक्तिमार्गों में काम्य कर्म्मयोगवत् वैय्यक्तिक स्वार्थसाधन तो हो जाता है परन्तु लोकाभ्युदयात्मक लोकसंग्रह नहीं होने पाता। प्रत्यक्ष में देख लीजिए न-गुणाभिभूत काम्यभक्ति दासभाव से भक्त को अस्मिता की अनुगामिनी बना रही है। आस्तिक प्रजा भगवद्विग्रहों के सम्मुख अपनी दासता का बखान करती नहीं अघाती। दासभावना अच्छी हो अथवा बुरी, दासभावना चिर अभ्यास में आकर कालान्तर में अवश्यमेव अस्मिता की जननी बन जाती है। प्रेमभाव से मनोबलात्मक स्वत्व नहीं रहने पाता। फलतः एवंविध भक्तिमार्ग में वर्णाश्रमानुगत स्वाधिकारसिद्ध कर्त्तव्यकर्म्म से भी विच्युति हो जाती है। इन्हीं सब कारणों से कामनामयी यह भक्ति गीतादि से उपेक्षणीय ही मानी गई है।

३३–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या का स्वरूपनिष्कर्ष—

लोकसंग्राहक भगवान् ने लोकप्रचलित इसी काम्य-भक्तियोग का कामना-संशोधनपूर्वक अव्यये-श्वरानन्यतासमावेश के द्वारा संशोधन कर इसे निष्कामभावात्मक बुद्धियोगस्वरूप प्रदान करते हुए इसका 'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' रूप से गीताशास्त्र में संग्रह कर लिया है, जो ऐश्वर्य्यबुद्धियोग ज्ञान-वैराग्यपरिपूर्णा-निर्गुणभक्ति निष्कामोपासना आत्मोपासना ईश्वरानन्यता, आदि नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। जिस प्रकार काम्य कर्म्मयोग *ऋषिवंश में प्रचलित था एवमेव काम्यभक्तियोग प्रधानतः क्षत्रिय राजाओं में ही* प्रधानरूप से परम्परया प्रचलित था। अतएव तन्मूला, तत्प्रचारप्रवर्त्तिका विद्या गीता में-'राजविद्या राजगुह्य पवित्रमिदमुत्तमम्' इत्यादि रूप से 'राजविद्या' नाम से व्यवहृत हुई है। अतएव इसे हमनें 'ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ माना है।

३४—प्राचीनाभिमता योगत्रयी का गीताचार्य्य के द्वारा संशोधन—

काम्य-कर्म्मयोग में वर्णाश्रमसिद्ध काम्य कर्म्म का संग्रह अवश्य था परन्तु उसमें ईशभावना का अभाव था। *कर्म्मठ मीमांसकों की दृष्टि में 'कर्म्म' ही ईश्वर बना हुआ था।* इसी कर्म्माभिनिवेश से यह काम्य कर्म्मयोग हेय बन रहा था। भगवान् ने कामनात्यागपूर्वक इसको बुद्धियोगरूपता प्रदान की। निष्काम-भावात्मक निष्काम-कर्म्मयोग में ईश्वरभावना का समावेश हुआ परन्तु गौणरूप से। प्रधानता कर्म्म की ही रही। एवमेव काम्य भक्तियोग में ईशभावना का समावेश अवश्य था, परन्तु प्रेमातिरेक के कारण इसमें *वर्णाश्रमसिद्ध कर्म्मसंग्रह उपेक्षणीय बन रहा था। भक्तों की दृष्टि में ईश्वरनामसंकीर्तन ही प्रधान कर्म्म बना* हुआ था। इसी भक्ति-अस्मिता से यह काम्य भक्तियोग हेय बन रहा था। भगवान् ने कामनापरित्याग से इसे बुद्धियोगरूपत्व प्रदान की। निष्कामभावात्मक इस भक्तियोग में ईश्वरानन्यतापूर्वक वर्णाश्रमानुगत लोकसंग्रह सम्पादक कर्त्तव्यकर्म्म का भी समावेश हुआ। ईश्वरभावना प्रधान बनी, कर्म्मभाव तदनुगामी बना। एवमेव कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग में कर्म्म का समावेश कर इसे भी बुद्धियोगसम्पत्ति प्रदान की गई और तद्द्वारा इसे 'ज्ञानबुद्धियोग' रूप में परिणत किया गया। *ज्ञान अवश्य प्रधान बना रहा* परन्तु नित्यसिद्धकर्म्म का भी समावेश होगया। इसप्रकार कामनामय कर्म्मयोग में कामत्याग के द्वारा कामनामय भक्तियोग में काम्यत्यागपूर्वक *कर्म्मसमावेश के द्वारा, एवं कर्म्मत्यागमय ज्ञानयोग में कर्म्मसमावेश के द्वारा* भगवान ने लोकप्रचलित तीनों

नियमों का संशोधन किया। यही कारण है कि, गीता में प्रतिपादित कर्म–भक्ति–ज्ञान तीनों में से किसी भी योग पर दृष्टि डालिए, अधिकारसिद्ध कर्म का पक्षपात सर्वत्र समर्थित उपलब्ध होगा। भगवान् अर्जुन को कर्मयोग का उपदेश दे रहे हैं साथ साथ अभिरूपोचित युद्धकर्म की प्रधानता की ओर भी उसका ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। 'भक्तोऽसि' कहते हुए 'युध्यस्व' कहना भी नहीं भूलते। ज्ञानी कहलाते हुए भी उसे कर्ममार्ग पर आरूढ कर रहे हैं। यह कर्म यह भक्ति यह ज्ञान किस क्रम के जिनमें क्रमशः व्यक्तिस्वार्थ, कर्तव्योपेक्षा तथा कर्मस्वत्यागभाव समाविष्ट हैं।

२५—प्राचीनाभिमता योगत्रयी की गीताभाष्य के द्वारा आत्यन्तिक उपेक्षा—

प्राचीनाभिमत इन तीनों योगों का लक्ष्य यद्यपि आत्मतत्त्व ही बनता है। परन्तु अव्ययगर्भित अक्षर अक्षरगर्भित क्षर, तथा क्षरगर्भित विकारक्षर इन तीन आत्मविवर्तों को मूलप्रतिष्ठा बनाते हुए ज्ञान–भक्ति–कर्म योग नामक प्राचीनयोग समत्वलक्षण उस बुद्धियोगलक्षण से वञ्चित हैं जिसका समत्वलक्षण अव्ययभाव से सम्बन्ध माना गया है। अव्ययगर्भित अक्षर अव्यक्त है कर्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग का यही आधार है। यहाँ केवल ज्ञान का संग्रह है। अतएव आत्मा के अर्द्ध कर्मरूप से वञ्चित ऐसा ज्ञानयोग समता के स्थान में विषमता का ही जनक बना हुआ है।

अक्षरगर्भित क्षर व्यक्ताव्यक्त है। कामनामूलक लोकसंग्राहक कर्म से वञ्चित भक्तियोग की प्रतिष्ठा यही व्यक्ताव्यक्त तत्त्व बनता है। यहाँ अव्यक्तानुगत ज्ञान का एवं व्यक्तानुगत कर्म का, संग्रह यद्यपि दोनों का ही है। तथापि इस अव्यक्त ज्ञान से आध्यात्मिक अशान्ति, तथा व्यक्त वैयक्तिक स्वार्थ–साधक कर्म से लोकसंग्रह का विघात हो रहा है। अव्यक्तलक्षणा यह यहाँ स्वात्मविषमता का कारण बन रहा है वहाँ व्यक्त कर्माभिलाषा यह लोकविषमता का भी कारण बना हुआ है। फलतः ज्ञानयोगवत् ऐसा भक्तियोग भी समत्वलक्षण योगधर्म से बहिष्कृत है। क्षरगर्भित विकारक्षर व्यक्त है। कामनामूलक, लोक–अभ्युदय से वञ्चित प्रवृत्तिलक्षण कर्मयोग की प्रतिष्ठा यही व्यक्ततत्त्व बनता है। यहाँ ज्ञानयोगवत् कर्म का तो अभाव नहीं है तथापि ज्ञान का अवश्य अभाव है। दूसरे शब्दों में यहाँ केवल कर्म का ही संग्रह है। अतएव आत्मा के अर्द्ध ज्ञानभाग से वञ्चित ऐसा कर्मयोग भी ज्ञानयोगवत् विषमता का ही जनक बना रहता है। धन–धान्यादि पत्नी–पुत्रादि ऐहलौकिक, तथा स्वर्गादि पारलौकिक, इन व्यक्तिगत स्वार्थों को उद्देश्य बना कर व्यक्तात्मा (क्षरगर्भित विकारक्षरात्मा) के आधार पर कामनापूर्वक किया गया ज्ञानशून्य–वञ्चित कर्म ही प्राचीनाभिमत 'कर्मयोग' है। सांसारिक दुःखों से त्राण पाने के लिए, साथ ही अभिलषित धन–कामना की पूर्ति के लिए केवल कामनापूरक कर्मों की सिद्धि को उद्देश्य बना कर व्यक्ताव्यक्तात्मा (अक्षरगर्भित क्षरात्मा) के आधार पर कामनापूर्वक की गई इष्टदेवोपासना ही प्राचीनाभिमत 'भक्तियोग' है। सांसारिक कर्मों से घबरा कर इन से बचने के लिए लौकिक कर्मों का ऐकान्तिक परित्याग कर अपने आपको विशुद्ध ज्ञानमार्ग में परिपक्व करने के उद्देश्य को लक्ष्य बना कर अव्यक्तात्मा (अक्षरात्मा) के आधार पर किया गया सर्वथा त्यागात्मक निवृत्तिकर्मसंन्यासानुगमन ही प्राचीनाभिमत 'ज्ञानयोग' है। तीनों योग क्रमशः ज्ञानाभाव, कामभाव कर्माभाव से अपूर्ण बनते हुए विगुणात्मक हैं अतएव त्याज्य हैं। गीतोक्त बुद्धियोग की विज्ञप्ति से पहिले तीनों योगों का ही भारत में साम्राज्य था साथ ही तीनों क्रमशः वणिग्वंश राजवंश विप्रवंश में परम्परया प्रतिष्ठित-प्रचलित थे। भगवान् ने अर्जुन के प्रति बुद्धियोग का उपदेश करते हुए लोकसंग्रह की दृष्टि

से इन लोकप्रचलित तीनों प्राचीन योगों का भी गीताशास्त्र में संग्रह कर लिया परन्तु संशोधन पूर्वक। कर्म्मयोग में ममत्वत्यागपूर्वक, भक्तियोग में ममत्वत्यागपूर्वक, एवं ज्ञानयोग में कर्म्मसमावेशपूर्वक भगवान् ने तीनों में साम्यभावना प्रतिष्ठित की। फलतः तीनों अपूर्ण योग इस संशोधन से पूर्ण बन गए, समत्वलक्षण बुद्धियोग की प्रतिच्छाया से युक्त होते हुए बुद्धियोगरूप में परिणत हो गए। गीता के द्वारा संशोधित ये ही तीनों योग गीतापरिभाषा में धर्म्मबुद्धियोग (कर्म्मयोग) ऐश्वर्य्यबुद्धियोग (भक्तियोग), एवं ज्ञानबुद्धियोग (ज्ञानयोग) नामों से व्यवहृत हुए, जिनमें से आर्षविद्यानुगत धर्म्मबुद्धियोग का स्वरूप पूर्व स्तम्भ में बतलाया जा चुका है राजविद्यानुगत ऐश्वर्य्यबुद्धियोग प्रक्रान्त है, एवं सिद्धविद्यानुगत ज्ञानबुद्धियोग का विश्लेषण अगले स्तम्भ में किया जायगा।

३६—गीताभिमता योगचतुष्टयी—

जिस प्रकार प्राचीनाभिमत तीनों योगों की प्रतिष्ठा क्रमशः अव्यक्त–व्यक्ताव्यक्त–व्यक्त नामक आत्मविवर्त्त थे एवमेव भगवान् के द्वारा संशोधित बुद्धियोगात्मक इन तीनों योगों के आधार कौन बने! इस प्रासङ्गिक प्रश्न की भी मीमांसा कर लीजिए। यह बतलाया जा चुका है कि, बुद्धियोग का उस सर्वेश्वर अव्ययात्मा से सम्बन्ध है, जिसके गर्भ में अव्यक्ताक्षर व्यक्ताव्यक्त अक्षरगर्भित क्षर, एवं व्यक्त-क्षरगर्भित विकारक्षर, तीनों पूर्वोक्त आत्मविवर्त्त प्रतिष्ठित हैं। अव्ययात्मा सर्वेश्वर हैं, इसका वाचक प्रणव माना गया है, एवं यह योगपरिभाषानुसार अविद्या अस्मिता, राग–द्वेष (आसक्ति), अभिनिवेश क्लेशों से सर्वथा शून्य, धर्म्म–ज्ञान–वैराग्य–ऐश्वर्य्य, इन चारों भगों से नित्य परिपूर्ण, अतएव पूर्ण भगवान् माना गया है। प्रणव में अकार, उकार, मकार, ये तीन मृत्युमात्रा हैं, एवं अर्द्धमात्रा अमृतलक्षण है। यही तुरीय पद माना गया है। इन चार पदों से उस सर्वेश्वर के सर्वात्मय विद्यात्मय, कामात्मय, कर्म्मात्मय, ये चार विवर्त्त हो जाते हैं। सर्वात्मय सर्वात्मक है, यही वैराग्यबुद्धियोग नामक 'बुद्धियोग' का आधार बना हुआ है। विद्यात्मय आनन्द–विज्ञानमय है यही ज्ञानबुद्धियोग नामक 'ज्ञानयोग' का आधार बना हुआ है। कामात्मय मनोमय है, यही ऐश्वर्य्यबुद्धियोग नामक 'भक्तियोग' का आधार बना हुआ है। कर्म्मात्मय प्राणवाङ्मय है, एवं यही धर्म्म–बुद्धियोग नामक 'कर्म्मयोग' का आधार बना हुआ है। तात्पर्य यही है कि, आनन्द–विज्ञान–मन–प्राण–वाङ्मय पञ्चकोशात्मक अव्ययपुरुष के आनन्दादि पञ्चकोशात्मक सर्वात्मय, आनन्दविज्ञानमय विद्यात्मय, मनोमय कामात्मय, प्राणवाङ्मय कर्म्मात्मय ये चार विवर्त्त हैं। ये ही चारों अव्ययविवर्त्त क्रमशः सर्वात्मा, विद्यात्मा, कामात्मा, कर्म्मात्मा इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। सर्वात्मा वैराग्यभग–प्रधान है विद्यात्मा ज्ञान–भग–प्रधान है कामात्मा ऐश्वर्य्यभग–प्रधान है, एवं कर्म्मात्मा धर्म्मभग–प्रधान है। वैराग्यभग से युक्त सर्वात्मा–लक्षण सर्वात्मय अपनी सर्वता के कारण 'सर्वात्मय' है। ज्ञानभग से युक्त विद्यात्मा–लक्षण अव्यय 'परात्मय' है। ऐश्वर्य्यभग से युक्त कामात्मा–लक्षण अव्यय 'परावरात्मय' है। एवं धर्म्मभग से युक्त कर्म्मात्मा–लक्षण अव्यय 'अवरात्मय' है। अवरात्मय से क्षरगर्भित विकारक्षरात्मा अनुगृहीत है परावरात्मय से अक्षरगर्भित क्षरात्मा अनुगृहीत है, परात्मय से अक्षरात्मा अनुगृहीत है। अवरात्मय के सहयोग से वञ्चित केवल विकारक्षरात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित कर्म्मयोग जहाँ अन्ध कर्म्मयोग है, वहाँ यही अवरात्मय के सहयोग से निष्कामभाव में परिणत होता हुआ धर्म्मबुद्धियोग है। परावरात्मय के सहयोग से वञ्चित, केवल क्षरात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित भक्तियोग जहाँ अन्ध भक्तियोग है, वहाँ यही परावरात्मय के सहयोग से निष्कामभाव में

परिणत होता हुआ ऐश्वर्य्यबुद्धियोग है। परात्मा के सहयोग से समन्वित केवल अक्षरात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित ज्ञानयोग जहाँ कर्म्मत्यागात्मक ज्ञानयोग है, वहाँ यही परात्मा के सहयोग से कर्म्मभाव में परिणत होता हुआ ज्ञानबुद्धियोग है। एवं सर्वात्मा से युक्त सन्यास वैराग्यबुद्धियोग है, जो भगवान् की अपनी सार्वभौमिक सम्पत्ति है। प्राचीनाभिमता योगत्रयी, तथा गीताभिमता योगचतुष्टयी, दोनों में यही स्वरूपभेद है, जिसका निम्न लिखित परिलेखों से स्पष्टीकरण हो रहा है—

प्राचीनाभिमता योगत्रयी—

१–अक्षरात्मा (अव्यक्तात्मा) –ज्ञानाधार (कर्म्मत्यागलक्षणो ज्ञानयोगः)।

२–अक्षरगर्भित–क्षरात्मा (व्यक्ताव्यक्तात्मा) –भक्त्याधारः (कर्म्मनामयो भक्तियोगः)।

३–क्षरगर्भित–विश्वरक्षरात्मा (व्यक्तात्मा) –कर्म्माधार (कर्म्मलक्षणः कर्म्मयोगः)।



गीताभ्यामभिमता—योगचतुष्टयी—

१–आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाङ्मयः–अव्ययः–सर्वात्मा–सर्वानुग्राहकः (ब्रह्म मात्रा)——सर्वात्मयः

२–आनन्दविज्ञानमयः–अव्ययः————विश्वात्मा–अव्यक्तात्मानुग्राहकः (अक्षरः)—परात्मयः

३–मनोमयः–अव्ययः————————अमात्मा–व्यक्ताव्यक्तात्मानुग्राहकः (अक्षरः) परावरात्मयः

४–प्राणवाङ्मयः अव्ययः————————कर्म्मात्मा–व्यक्तात्मानुग्राहकः (क्षरः)——अवरात्मयः



१–सर्वात्मयः—वैराग्यभगोपेत–वैराग्यबुद्धियोगाधारभूमिः (सिद्धान्ता बुद्धियोगः)।

२–परात्मयः—ज्ञानभगोपेत—ज्ञानबुद्धियोगाधारभूमिः (संशोधित–ज्ञानयोगः)।

३–परावरात्मयः–ऐश्वर्य्यभगोपेत–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगाधारभूमिः (संशोधित–भक्तियोगः)।

४–अवरात्मयः—धर्म्मभगोपेतः—धर्म्मबुद्धियोगाधारभूमिः (संशोधित–कर्म्मयोगः)।



१७—अध्यात्मसंस्था–युक्त चतुर्विध मनस्तन्त्र—

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग की आधारभूमि मनोमय आत्मा है। यही आत्मा 'मानवसंस्था' नामक मन कहलाता है। अव्यात्मा से पोषित, किन्तु प्रधानभावात्मक मनःप्राण–वाङ्मय से युक्त जो भक्तियोग श्रीकृष्ण के सम्बन्ध से धर्म्म–प्रतिष्ठास्वरूप में परिणत रहता है, वही इस

कामममय सोमसीयस्-अव्ययमन से युक्त होकर ईश्वरकामना के सम्बन्ध से निष्काम-भक्तियोगरूप में परिणत हो जाता है। अध्यात्मसंस्था में मुक्त मनस्तत्त्व का वैज्ञानिकों ने चतुर्धा विश्लेषण किया है। वे चारों आध्यात्मिक मन क्रमशः 'चिदात्मा, चित्त, प्रज्ञान, वेदनीय' इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। सुख-दुःखानुभूति का आधारभूत संकल्प-विकल्पात्मक इन्द्रियमन ही 'वेदनीयमन' कहलाया है। नियतविषयत्वमिन्द्रियत्वम्' लक्षण के आधार पर ही इसे इन्द्रियमन कहा गया है। 'वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र-मनांसि' इस वेदसम्मत इन्द्रियपञ्चक में मुक्त मन यही संवेदनीय इन्द्रियमन है जिसका पार्थिव स्तोमविभागों के त्रिवृत् (२७) स्तोमात्मक चौथे आपोलोक में प्रतिष्ठित भास्वरसोम से निर्माण हुआ है। पार्थिव सोमात्मक यही इन्द्रियमन पहिला 'वेदनीय' मन है, जिसके लिए 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि' प्रसिद्ध है। 'एकादशं मनो ज्ञेयम्' से भी यही मन अभिप्रेत है। दूसरा है प्रज्ञानमन। 'अन्यत्र मे मनाऽभूवं नादर्शम्, अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्' में पठित मन ही प्रज्ञानमन है। सर्वेन्द्रियों के सहयोग से यह यहाँ 'सर्वेन्द्रिय' कहलाया है वहाँ उक्त इन्द्रियलक्षण से अतीत रहता हुआ 'अनीन्द्रिय'-'अतीन्द्रिय' आदि नामों से व्यवहृत हुआ है। चन्द्रमा इस मन का प्रभव है। इन्द्रियमन बहिर्मन था यह प्रज्ञानमन अन्तर्मन है। 'यत् प्रज्ञानमुत चेतो०' इत्यादि यजुर्मन्त्र से इसी चान्द्र सोमात्मक प्रज्ञानमन का स्वरूपविश्लेषण हुआ है और यही अध्यात्मसंस्था में मुक्त दूसरा मन है। तीसरा मन 'चित्त' नाम से प्रसिद्ध है। अव्ययात्मा चिदात्मा है। यह महानात्मा में गर्भ धारण करता है। चित् (अव्यय) के गर्भीभूत होजाने से महानात्मा भी चिन्मय बन जाता है और चिद्युक्त महानात्मा का यही चित्तत्त्व विषयबुद्धिलक्षण विज्ञानात्मा से नित्य संश्लिष्ट है। अतएव 'सत्त्वादपि महानात्मा' इत्यादिरूप से विज्ञानात्मा को भी सत्त्व (चित्त) नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। योगमाया के सम्बन्ध से यह महन्मन गुणात्मक बना रहता है। पारमेष्ठ्य महत्सोम ही इसका प्रभव है। पारमेष्ठ्य सोमात्मक यही महन्मन 'चित्त-सत्त्व गुण-' आदि विविध नामों से व्यवहृत हुआ है। पार्थिव सोमात्मक वेदनीय-इन्द्रियमन पार्थिव-कृष्णाग्नि (भूताग्नि) के सम्बन्ध से, चान्द्र सोमात्मक-प्रज्ञान-अनिन्द्रियमन कृष्णचन्द्र के सम्बन्ध से दोनों मन स्वरूप से कृष्ण हैं। परन्तु विज्ञानज्योति के सम्पर्क से तथा गर्भीभूत चिज्ज्योति के सम्बन्ध से चित्तरूप महन्मन स्वज्योतिर्मय है। इसी के सम्बन्ध से चान्द्रप्रज्ञान, और पार्थिव वेदनीय मन भी ज्योतिष्मान् बन रहे हैं।

चौथा मन 'चिदात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। 'एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्' के अनुसार यह मन सर्वालम्बन है। सत्त्वात्मक महन्मन कर्मात्मक प्रज्ञानमन, प्रज्ञाप्राणात्मक इन्द्रियमन तीनों इसी के आधार पर प्रतिष्ठित हैं, तीनों इसी के मात्रानुगत विवर्त हैं। यही अपने 'बहु स्याम्' काम से श्वोवसीयान् बनता हुआ 'श्वोवसीयस' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' वाला मन यही मन है। मनप्रधान अव्ययात्मा है, यह चौथा अव्ययमन चरमात्मा है, आत्मलक्षण है। रस-बलात्मक, काममय यही मन अपनी अन्तश्चिति, बहिश्चिति से चिदात्मस्वरूप में परिणत रहता है। बलगर्भित रसचिति ही आनन्द-विज्ञान है, यही मुक्तिसाक्षिणी अन्तश्चिति है। रसगर्भित बलचिति ही प्राण-वाक् है, यही सृष्टिसाक्षिणी बहिश्चिति है। अन्तश्चिति हो अव्यय का परस्प है, बहिश्चिति ही अव्यय का अपररूप है एवं दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित, अतएव उभयात्मक मन दोनों चितियों से अनुप्राणित रहता हुआ अव्यय का परावररूप है। क्योंकि इसी के आधार पर, इसी की मुमुक्षा-सिसृक्षा-कामना से अन्तः-बहिश्चितियों का विकास हुआ है। अतएव इस अव्ययमन को अवश्य ही 'चिदात्मा' कहा जा सकता है। आनन्द-विज्ञानात्मिका

अन्तरिक्षवति ही परामम्मस्वरूप चिदात्मा है। माया–नागात्मिका परिधिवति ही अवराम्मस्वरूप कर्म्मात्मा है। एवं मध्यस्थ मनोमय अव्यय ही अमात्मा है यही परात्परावत्यय है। इसप्रकार अव्यय, महत्तत्व, प्रज्ञानत्व, ऐन्द्रियक विश्वत्व, इन चार तत्त्वों के आधार पर क्रमशः चिदात्मा चित्, प्रज्ञान, वैदनीम, इन चार मनस्तत्त्वों का उदय हो जाता है। इन चारों में से ऐश्वर्य्यलक्षण बुद्धियोगानुगमन में चौथे चिदात्मा नामक अव्ययमन के साथ ही अनन्यता स्थापित करनी पड़ती है। जिस दिन ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मक के हेतुभूत साम्य ऐश्वर्य्यबुद्धियोग से इस चिदात्मलक्षण अव्ययमन का विकास हो जाता है उस दिन अव्ययेश्वर के विविध ऐश्वर्य्य का विकास हो जाता है। ऐश्वर्य्यविकास ही चिदात्मा का अनुग्रह है। चिदात्मात्मक चयन ही इस अनुग्रह का फल है। चयन ही आत्मशान्ति है। बिना चिति के आत्मा असहाय रहता हुआ अशान्त बना रहता है। आत्मचिति (आत्मबल) से वञ्चित प्राणी कभी शान्ति–लाभ नहीं कर सकता। 'चैन' (शान्ति-सुख) मिलेगा 'चयन' (आत्मचिति) से, तद्रूप चिदात्ममन के प्रति आत्मसमर्पण करने से। इसके अभाव में प्राणी 'अचेत्' बना रहता हुआ अशान्ति के गर्त में पड़ा रहता है। 'अचेत्' (अचयन–अचिति–असन्निर्मनलक्षणा अशान्ति) की निवृत्ति के लिए ही ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षण अभिमाननिवर्त्तक, निष्कामकर्मयोग अनुष्ठेय माना गया है जिसे सफल बनाने के लिए हमें पहिले आध्यात्मिक मनस्तत्त्व का विश्लेषण करना पड़ेगा, तद्द्वारा चिति–(शान्ति)–धर्म्म प्रवर्त्तक श्वोवसीयस–नामक अव्ययमन को लक्ष्य बनाना पड़ेगा। एवं सर्वभूत अव्ययमन के प्रति अनन्यनिष्ठा से आत्मसमर्पण करने के लिए गीताशास्त्र प्रतिपादित साम्य ऐश्वर्य्यबुद्धियोग का अनुगमन करना पड़ेगा।

१–चिदात्मा——अव्ययमनः——श्वोवसीयस मनः——आत्ममनः]——अमृतम्

२–चित्तम्——महन्मनः——गुणात्मकं मनः——आत्मान्तरमनः
३–प्रज्ञानम्——अनिन्द्रियमनः–सर्वेन्द्रियमनः——अन्तर्म्मनः
४–वैदनीम्——इन्द्रियमनः——मर्त्यमनः——बहिर्म्मनः
(२–४)]——मृत्युः

३७–ऐश्वर्य्यात्मक विकास के विविध स्वरूप——

ऐश्वर्य्यलक्षण विकास तथा अस्मितालक्षण संकोच दोनों प्रवृत्तियों का अनेक दृष्टि से समन्वय किया जा सकता है। पुष्पकलिका पर दृष्टि डालिए। कलिका (कली–डोडी) अस्मिता है संकुचिता है अविकसिता है। वही ऐश्वर्य्यलक्षण विकासभाव में आकर पुष्पविधया अधिक देश में व्याप्त हो जाती है। जो पद्मकलिका अस्मिता दशा में अल्प सीमासीमित प्रदेश में प्रतिष्ठित थी, वही ऐश्वर्य्य की अनुगामिनी बन बन कर (खिल कर) प्रादेशमित प्रदेश घेर लेती है। वटवृक्ष बीजावस्था में जिस भी तथा स्वल्पदेश में प्रतिष्ठित थी, विकासदशा में वही भी तथा बहुदेशव्यापिनी बन जाती है। कलिका का विकास ऐश्वर्य्यलक्षण था, पुष्पबीज का विकास अतिरिक्तदेशव्याप्तिलक्षण है दोनों ऐश्वर्य्यों के स्वरूप में विभिन्नता है। सूर्य्यबिम्ब पिण्डावस्था से स्वल्पदेश प्रदेश में प्रतिष्ठित है। वही रश्मियों के प्रसार से सम्पूर्ण पारमेष्ठ्यमण्डल में व्याप्त हो रहा है। यह रश्मिमण्डल सूर्य्यबिम्ब की महिमा है यही इसका ऐश्वर्य्यात्मक विकास है। यदि सूर्य्य का इस महिमारूप में विकास न होता तो पार्थिव प्रजा सूर्य्यप्रकाशलाभ से सर्वथा वञ्चित रह जाती। यह विकास

उक्त दोनों विकासों से विभिन्नजातीय है। बालक स्वशरीरसीमा से युक्त रहता हुआ दृढ़तामूलक विकास का अनुगामी बनता है। पुष्पकलिका स्वशरीरसीमा से आबद्ध हो कर अधिकदेशव्याप्तिमूलक विकास की अनुगामिनी बनती है। सूर्यांशुमय विकास न तो सूर्यबिम्बात्मक सूर्यशरीर की दृढ़ता से सम्बन्ध रखता, न पुष्पकलिका की भाँति तत्स्थानीय स्वयं सूर्यपिण्ड अधिक देश का अवगाहन करता। अपितु सूर्यपिण्ड से निकलने वाली रश्मियों का रश्मिमण्डल ही इसका विकासात्मक स्वरूप बनता है। बच्चे की बुद्धि का आयतन नहीं बढ़ता, अपितु उसकी मृदुता–कोमलता हट जाती है, वह स्थिरभावापन्न हो जाती है। यही बुद्धिस्थैर्य 'प्रौढ़ि' कहलाई है। यही प्रौढ़ता है। पुष्प में ठीक इससे उल्टा है। पुष्पकलिका कठिन होती है दृढ़ होती है। पुष्प मृदु होता है। *मृदुभाव में परिणत होकर अधिक प्रदेश में व्याप्त हो जाने वाला यह पुष्पकलिका का ऐश्वर्य* बालैश्वर्य से विभिन्न है। सूर्य में न काठिन्य है, न मृदुता है, एवं न अधिक देशावगाहित्व ही है। अपितु रश्मिरूप से इसका ऐश्वर्य विकसित होता है। इसप्रकार तत्तत् पदार्थों के *तत्तत् विभिन्नगुणक–प्राकृतिक स्वरूप*–धर्मों के अनुरूप ही तद्विकासलक्षण तदैश्वर्य विभक्त हो रहे हैं।

२८–महिमा, और विकास का पार्थक्य—

महित्व को लक्ष्य बना कर ही ऐश्वर्य शब्द प्रयुक्त हुआ है। ईश्वरता सामर्थ्य एक वस्तुतत्त्वविशेष है। *इस ईश्वरता का भाव ही 'ऐश्वर्य' कहलाया है। महिमा–शाली पुरुष ही ऐश्वर्य–सम्पत्ति से सम्पन्न बना* रहता है। पूर्व के ऐश्वर्यस्वरूप–दिग्दर्शन से महिमा, और विकास की अभिन्नता सिद्ध हो रही है। परन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं। *महिमालक्षण ऐश्वर्य भिन्न वस्तुतत्त्व है, एवं ऐश्वर्यविकास भिन्न वस्तुतत्त्व है।* उदाहरण के द्वारा समन्वय कीजिए। ऐश्वर्यलक्षण महिमा के रहने पर भी यदि उसका विकास नहीं होता तो इस विकास के अभाव में ऐश्वर्य के रहते हुए भी अनैश्वर्यमूला अस्मिता का प्रवेश हो जाता है। एक स्थान पर प्रज्वलित दीपक रक्खा है। *दीपार्चिमण्डल (दीपकप्रकाशमण्डल) दीपशिखा (लौ) का ऐश्वर्य* है महिमा है। हमने उस दीपक को किसी कपाटादि के ढक्कन से ढाँक दिया। इस घन आवरण से दीप–प्रभात्मक ऐश्वर्य का नाश तो नहीं हुआ, परन्तु उसका विकास अवरुद्ध बन गया। अतएव जो दीपक अपने ऐश्वर्य की विकसदशा में अन्धकार को अभिभूत कर देता था, वही दीपक आगन्तुक कपाटावरणरूप अस्मिता (संकोच) के सम्बन्ध से ऐश्वर्य के विकास से वञ्चित रहता हुआ अन्धकाराभिभव में असमर्थ बन गया। अविकसलक्षणा अस्मिता ने विद्यमान भी ऐश्वर्य के विकास का अभिभव कर डाला। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, आवरण की घनता पर ही ऐश्वर्य का विकास अवरुद्ध होता है। आवरण की सजातीयता पर, तथा आवरण की निर्मलता पर ऐश्वर्य का विकास सर्वथा अभिभूत नहीं होता। उदाहरण वही दीपक बन रहा है। दीपार्चि के चारों ओर काच का आवरण लग रहा है। *काच आवरण अवश्य है,* परन्तु यह सजातीय आवरण है। अतएव प्रकाशात्मक ऐश्वर्य का प्रकाशरूप विकास अवरुद्ध नहीं हो पाता। एक श्वेत वस्त्र से दीप को ढक दिया। यह आवरण अभिप्राय के सम्बन्ध से प्रकाश के लिए विजातीय अवश्य है, परन्तु यह निर्मल है साथ ही श्वेतवर्ण के कारण अंशतः सजातीय भी। अतः इस आवरण के रहने पर भी प्रकाशैश्वर्य का विकास एकान्ततः अवरुद्ध नहीं होता। मन्दप्रकाश–विकास सुरक्षित रह जाता है। कनात्मना कपड़ा अपना विजातीय आवरण अवश्य है परन्तु परमाणुओं के घनीभूत न होने से एक तरह विजातीय भी आवरण निर्मल बन रहा है। अतः ऐसा निर्मल–विजातीय आवरण भी प्रकाशविकास की सत्ता

अभिभूत नहीं कर रहा । घनकृष्ण वस्त्र अभिप्रायरूपरिपूर्ण, अतएव आमस्फूर्त्त [illegible] लोहादि विजातीय आवरण भी है प्रकाशापेक्षया मलन भी है । इनके आगमन से प्रकाशाभिव्यक्त भास्वरप्रभा सर्वात्मना अवरुद्ध होजाता है ।

३६—चतुर्विध आवरणों के कारण ऐश्वर्य का अभिभव, एवं तन्मूला दुःखप्रवृत्ति—

ठीक यही स्थिति इन्द्रात्मा-मनोमय आत्मेश्वर के सम्बन्ध में घटित हुई है । आत्मेश्वर ज्ञानज्योतिर्मय सौरार्चि-(सौ)-स्थानीय है । सम्पूर्ण अध्यात्मसंस्था में तथा अध्यात्मसंस्था के भोग्य बहिर्विश्व पर्य्यन्त व्याप्त आत्मरश्मिमण्डल दीपप्रकाशवत्-स्थानीय है । इसीसे यह ऐश्वर्यशाली बना हुआ है । मलिन तमोगुणानुगत कर्म्मों से उत्पन्न तमःसंस्कार सजातीय आवरण है । यह अभ्रस्थानीय है । इसके रहने पर भी आत्मैश्वर्य-विकास अवरुद्ध नहीं हो पाता । एवंविध प्राणी (जीवात्मा) को असत्कर्म्मप्रवृत्तिकाल में 'एवं मा कुरु' इत्यादि रूप से आत्मविरोध प्राप्त होता रहता है । सत्कर्म्मानुयायी एक व्यक्ति यदि लोभवश किसी असत्कर्म्म में प्रवृत्त होना चाहता है तो विकसित आत्मा उसे रोक देता है । क्योंकि सजातीय सत्संस्कारा-वरण उस आत्मविकास का अवरोधक नहीं बना करता । रजोगुणानुगत कर्म्मों से उत्पन्न रजःसंस्कार विजातीय आवरण है परन्तु यह आत्मविकासापेक्षया निर्बल है । अतएव इसे इन्द्रधनुस्स्थानीय माना जा सकता है । यहाँ भी आत्मविकास सामान्यरूप से जागता हुआ असत्कर्म्मप्रवृत्ति का सामान्यरूप से विरोध करता रहता है । 'मत करो बहुत बुरा कर्म है' यह एक निश्चयात्मक सत्संस्कारदशा में होता है । 'न करो तो अच्छा है,' यह सामान्य निश्चय रजःसंस्कारदशा में होता है । रजोमिश्रित तमोगुणानुगत कर्म्मों से उत्पन्न रजोगुण मिश्रित तमःसंस्कार विजातीय आवरण है परन्तु रजःसम्बन्ध से इसे घनभाव में परिणत होने का अवसर नहीं मिला है । यही घन [illegible] से समतुलित आवरण है । अतएव यहाँ आत्मविकास आवृत तो हो जाता है, परन्तु सूक्ष्म छिद्रस्थानीय रजोगुणवृत्तियों के द्वारा स्वल्प आत्मविकास कभी कभी जीवात्मा पर अनुग्रह करता रहता है । जिस प्रकार [illegible] मनुष्य मध्य मध्य में सचेत होता रहता है एवमेव रजोमिश्रित तमःसंस्कारसंस्कृत का असत्कर्म्मप्रवृत्ति में 'अरे बुरा कर रहे हैं' इस रूप से कभी कभी उद्बोधन होता रहता है । विशुद्ध तमोगुणानुगत कर्म्मों से उत्पन्न विशुद्ध तमोगुणात्मक तमःसंस्कार विजातीय है और आत्मविकासापेक्षया अतिप्रबल बलवान् भी । अतएव यह तमोरूप घन-आवरण अति-आच्छादक लोह-कपाटादि विजातीय सघन आवरणों से समतुलित है । इस आवरणपटल पर इसकी इतनी रचना से प्रविष्ट हो जाती है तो आत्मैश्वर्य्यविकास सर्वथा अभिभूत हो जाता है । आत्मज्ञानज्योति सर्वथा अन्तर्मुख बन जाती है । रहता हुआ भी आत्मैश्वर्य्य इस संस्कारस्थिति अभिभव से अविकसित बन जाता है । और इस दशा में पहुँचे बाद जीवात्मा उस ज्योतिर्मय परमात्मा के अनुग्रह से सर्वथा वञ्चित हो जाता है । जो जीवात्मा सत्त्व-रज-रजोमिश्रित मोह-दशा में असत्कर्म्मप्रवृत्ति को आत्मानुग्रह से किसी समय बुरा समझता था, वही जीवात्मा विशुद्ध तमोदशा में पहुँच कर आत्मज्योति से वञ्चित होता हुआ अनन्त-सर्व-लोकनाश निन्द्य कर्म्मों में प्रवृत्त होता हुआ पशु-चेष्टित भी तो अपने आपको हीन मानने के लिये तय्यार नहीं होता । सर्वज्ञानविमूढ ऐसे व्यक्तियों की दृष्टि में धर्म्म सदाचार, शास्त्र उपासना आदि सभी विभूतियें सर्वथा कल्पित, एवं निरर्थक ही बनी रहती है । एवं उस ज्ञाननिधि आत्मेश्वर की दृष्टि में समस्त अभिभूत एवंविध मूढों का स्वरूपतः सर्वनाश हो ही जाता है 'सर्वज्ञानविमूढांस्तान्-विद्धि-नष्टानचेतसः' । 'अचेतसः' का तात्पर्य है-विद्यात्मक मनोमय आत्मानुग्रह

का अभाव। फलतः, श्वेतमेघ सामान्य कृष्णमेघ, घनकृष्णमेघ चारों आवरण क्रमशः व्याप्त, श्वेतमेघ कलापिका कृष्णावरण घनकृष्णा, नामक इन चारों दीप्तावरणों से सन्तुलित होते हुए क्रमशः अस्तःसंस्कारावरण, रजःसंस्कारावरण, ज्योतिर्मिश्र तमःसंस्कारावरण एवं विशुद्ध तमःसंस्कारावरण इन चारों के वाचक आवरण हैं। फलतः श्वेतमेघादि चारों आवरणों से सूर्यप्रकाशात्मक ऐश्वर्य का नाश नहीं होता अपितु उस ऐश्वर्य के विकास का अभिभवमात्र होता है। विकासाभाव से रहता हुआ भी सूर्यैश्वर्य (सूर्यप्रकाशमण्डल) जैसे अन्धकार को हटाने में असमर्थ रह जाता है एवमेव रहता हुआ भी आत्मैश्वर्य आत्मिकावरण से संकुचित रहता हुआ तमोमूला अशान्ति के निराकरण में असमर्थ बना रहता है। सामान्य-आत्मा (जीवात्मा) परमात्मा का अंश होने से स्वस्वरूप से सच्चिदानन्द-घन है, अतएव प्रकृत्यात्मना यह भी ऐश्वर्यांश से सम्पन्न है। तथापि आत्मिकावरणरूपा अविद्या के आवरण से इसके ऐश्वर्य का विकास अभिभूत हो जाता है, अतः पूर्ण शक्तिशाली भी आत्मा अपने आपको शक्तिहीन मान बैठता है। और आत्मिकावरणरूपा यह शक्तिहीनता ही इसके अशान्तिलक्षण दुःख का कारण बन जाती है।

४०—स्वाभाविक, और आगन्तुक विकास—

विकास आगन्तुक स्वाभाविक, भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। आत्मविकास स्वाभाविक है, इसे बाहिर से नहीं लाना पड़ता। अपितु इस पर आए हुए आत्मिकावरण को हटा देने मात्र से यथापाप सर्वात्मना यह स्वतः प्रकट हो जाता है, जैसाकि—'तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि' इत्यादि वचन से सिद्ध है। लौकिकविकास आगन्तुक है। इसे प्रयत्नपूर्वक बाहिर से संचित करना पड़ता है। जिस प्रकार मूलज्योति की प्रतिष्ठा बलज्योति मानी गई है एवमेव आगन्तुक लौकिक-भौतिक विकास की मूलप्रतिष्ठा स्वाभाविक-आत्म-विकास ही बना करता है। जिस प्रकार मूलज्योति के आलम्बन से बलज्योति विकसित हो पड़ती है एवमेव भौतिक आगन्तुक विकास से आध्यात्मिक आत्मविकास पुष्पित-पल्लवित हो जाता है। एक लौकिक मनुष्य पूर्ण बुद्धिमान् रहता हुआ भी अविद्यावान् दारिद्र्य के अनुग्रह से आगन्तुक भूतिविकास से वंचित होता हुआ सर्वथा असमर्थ बन जाता है—'दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी' प्रसिद्ध है। भूतसम्पत्ति के द्वारा आगत धन विकास अध्यात्मसंस्था में स्फूर्ति उत्पन्न कर देता है, यह प्रत्यक्ष है। इसप्रकार आगन्तुक विकास से नूतन शक्तिसमावेश के द्वारा आत्मविकास प्रशस्त हो जाता है, जिसका उदाहरण बालक बन रहा है। शिशु शरीर में आत्मा और शरीर, ये दो विभाग हैं। स्थूल, सूक्ष्म, कारण भेद से शरीर त्रिपर्वा है। स्थूलशरीर भूतमात्राप्रधान है, सूक्ष्मशरीर प्राणमात्राप्रधान है एवं कारणशरीर प्रज्ञामात्राप्रधान है। अस्थिमांसादि सप्त धातुसमष्टिरूप प्रत्यक्ष दृष्ट भौतिक शरीर भूतमात्राप्रधान स्थूलशरीर है। प्राणापानव्यानसमानोदानलक्षण पञ्च प्राण-समष्टिरूप प्राणात्मक तत्त्व प्राणमात्राप्रधान सूक्ष्मशरीर है। एवं विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञान (बुद्धियुक्त मन) मानस-प्रज्ञामात्राप्रधान कारणशरीर है। कारणशरीर ऐन्द्रियक ज्ञान का अधिष्ठाता है, सूक्ष्मशरीर शरीरव्याप्ति का प्रवर्त्तक है, एवं स्थूलशरीर आयतन है। शरीरस्थान ये तीनों शरीर भूतात्मक हैं। यही आध्यात्मिक भूतसम्पत्ति है। अव्यक्तस्वरूप महद्ब्रह्म में प्रतिष्ठित प्रत्यगात्मा से नित्य संश्लिष्ट शारीरक आत्मा आत्मा है। यही आध्यात्मिक आत्मसम्पत्ति है। शिशु की यह आत्मसम्पत्ति तब तक स्वविकास-प्रसार में सर्वथा असमर्थ बनी रहती है जब तक कि इसकी शरीरत्रयीरूपा भूतसम्पत्ति अन्न पाकर विकसित नहीं हो जाती। बुद्धियुक्त मन—(प्रज्ञानात्मक कारणशरीर), शक्ति (प्राणात्मक सूक्ष्मशरीर) एवं शरीरायतन तीनों भूतसम्पत्तियाँ अस्मिता भाव में परिणत हैं। अतएव न शिशु में बुद्धि का विकास है न बल का विकास है, न शरीर में दृढ़ता है।

अतएव यह सर्वथा मन्दबुद्धि–हीनसत्त्व–तमस्थान बना हुआ है। अतएव यह अपने को अपने आप पर प्रतिष्ठित रखने में असमर्थ है। भूख लगती है तो रो पड़ता है। अपमान से डर जाता है। आत्मनिर्भरता का सर्वथा अभाव रहता है। प्रत्येक क्रिया में पराश्रय की खोज किया करता है। इन आपत्तियों से त्राण पाने के लिए माता पिता का आश्रय ढूँढा करता है। इस पराधीनता से इसका अन्तर्जगत् दुःखी बना रहता है। यही शिशु अवस्था पाकर शिशुभाव को छोड़ता हुआ जब युवावस्था में पदार्पण कर लेता है, तो इसके तीनों शरीर, तीनों मूलसम्पत्तियाँ प्रबल हो जाती हैं। शिशु–अवस्थानुगता मूढ़ताएँ दूर हो जाती हैं। अतएव नानावस्थानुगत दुःखों से छुटकारा मिल जाता है। आत्मनिर्भरता का उदय हो जाता है। सिद्ध है कि, दुःख का एक कारण अस्मिता भी है। अस्मिता परतन्त्रता की जननी है, परतन्त्रता अपूर्णता की जननी है, अपूर्णता तृष्णा की जननी है एवं तृष्णा ही दुःख–मूल है। इस तृष्णा को पूर्ण करने के लिए मनुष्य यदि पराश्रय का अवलम्बन लेता है तो तृष्णा अधिक मात्रा में प्रबल हो जाती है। परतन्त्रतानुगता पूर्णता तृष्णानिवृत्ति का कारण बनती हुई और अधिक दुःख का कारण बन जाती है। पूर्णतालक्षण सुख तो आत्मनिर्भरता पर ही अवलम्बित है। यह आत्मनिर्भरता आत्मैश्वर्य–विकास पर ही अवलम्बित है। आत्मैश्वर्य–विकास अस्मितानिवृत्ति पर ही अवलम्बित है। एवं अस्मितानिवृत्ति राजविद्यानुगत 'ऐश्वर्यबुद्धियोग' (ऐश्वर्ययोग के मूलभूत साम्य बुद्धियोग) पर ही अवलम्बित है। परतन्त्रताप्रवर्त्तक अस्मिता नाम के आवरण को हटाने का प्रकार भगवान् ने वर्णन किया है गीताशास्त्र में 'राजविद्या' नाम से व्यवहृत हुआ है। एवं राजविद्यानुगत यही ऐश्वर्यबुद्धियोग नाम से व्यवहृत हुआ है जिसके समर्थक वचन गी० भू० प्र० में उद्धृत हो चुके हैं।

२१–ऐश्वर्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या का स्वरूपोपसंहार—

अनेक दृष्टियों से ऐश्वर्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या का स्वरूप–विश्लेषण किया गया। 'राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्' के अनुसार भूतैश्वर्यप्रवर्त्तक क्षत्रिय राजाओं में प्रधानरूप से परम्परया प्रवर्तित पारम्परिक ऐश्वर्यप्रधाना भक्ति ही 'भक्तियोग' कहलाया। लोकसंग्राहक भगवान् ने भारतवर्ष में अन्य धर्म के साथ अपने इस बुद्धियोगशास्त्र (गीताशास्त्र) में इसका भी संग्रह किया। ऐश्वर्यबुद्ध्यनुगत पावन भक्तियोग कामनाप्रधान बनता हुआ अधिकारलाभ का कारण बन गया था। भगवान् ने कामनारहितकर्मात्मक संस्थापन के द्वारा इस काम्य भक्तियोग को निष्कामभाव प्रदान कर इसे बुद्धियोगलक्षण का अनुगामी बनाया। भगवान् के द्वारा संशोधित इस ऐश्वर्यानुगत निष्कामभक्तियोगात्मक 'परमैश्वर्य–बुद्धियोग' की सम्प्रदायात्मिका विद्या ही 'राजविद्या' कहलाई।

इति–बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचनात्मक द्वितीयप्रकरण

'परमैश्वर्यबुद्धियोगानुगत–राजविद्यास्वरूपनिरूपणम्' नामकः

द्वितीयस्तम्भ

(२)–२

—✱—

श्री

'बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत

'ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत-राजविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक

द्वितीयस्तम्भ–उपरत

(२)-२

श्री

अथ-बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचनात्मके द्वितीयप्रकरणे

ज्ञानबुद्धियोगानुगत–सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचनम्' नामकः

तृतीयस्तम्भ

(२)–३

श्री

ज्ञानबुद्धियोगानुगत–सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचनम्

तृतीयस्तम्भ



१–अविद्याचतुष्टयीरूप आवरण—

'अविद्या–अस्मिता–राग–द्वेष–अभिनिवेशाः, पञ्च क्लेशाः' (पा० यो सू) इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा को उसकी अपनी ईश्वरानुगता भगवत्ता से वञ्चित रखने वाले क्लेश अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश भेद से पाँच भागों में विभक्त माने गए हैं। इदम्प्रथित विश्वप्रोक्षितन–प्रत्यगात्मा अव्ययप्रधान बनता हुआ ज्ञानात्मा है यही ज्ञानाव्यय आनन्द–विज्ञान–मनोमय माना गया है। आनन्द–विज्ञान–मनोमय अव्यय ही मुक्तिसाक्षी 'विद्याव्यय' माना गया है। जिसका तात्पर्य यही है कि, ज्ञानात्मक अव्यय ही विद्यात्मक अव्यय है। अतएव अव्ययात्मज्ञान को हम 'विद्या' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। जिस प्रकार अविद्या का प्रतिद्वन्द्वी ज्ञान है अस्मिता का प्रतिद्वन्द्वी ऐश्वर्य्य है, राग–द्वेष का प्रतिद्वन्द्वी वैराग्य है अभिनिवेश का प्रतिद्वन्द्वी धर्म्म है, एवमेव अव्ययविद्या किंवा विद्याव्यय का प्रतिद्वन्द्वी अविद्याभाव माना गया है। अव्ययात्मिका ज्ञानज्योति 'विद्या' है। इस विद्यात्मिका ज्ञानज्योति के स्वाभाविक विकास को आवृत कर देने वाला विद्याविरोधी आवरण ही 'अविद्या' है। अविद्याग्रस्त विद्याव्यय से युक्त जीवात्मा ही उक्त पञ्च क्लेशों की आधारभूमि बना रहता है। अविद्याग्रस्त विद्याव्यय ही अविद्याव्यय है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट किया जाने वाला है।

२–विद्या–अविद्यात्मक अव्यय के सूर्य्यनिबन्धन चार–चार विवर्त—

विद्याव्यय स्वस्वरूप से एकात्मक है यही सर्वाव्यय है। एवमेव अविद्याव्यय भी स्वस्वरूप से एकात्मक ही है एवं यही असर्वाव्यय है। सर्वात्मक विद्याव्यय बुद्धिगत विद्याचतुष्टयी के सम्बन्ध से चार भागों में विभक्त हो जाता है। एवमेव असर्वात्मक अविद्याव्यय बुद्धिगत अविद्याचतुष्टयी के सम्बन्ध से चार भागों में विभक्त हो जाता है। बुद्धितत्त्व आध्यात्मिक आत्मसंस्थानपरम्परा के मध्य में उसी प्रकार प्रतिष्ठित है जैसे कि बुद्धिप्रभव सूर्य्य आधिदैविक संस्थारूप पञ्चपर्वा विश्व के केन्द्र में प्रतिष्ठित है। पञ्चपर्वा विश्व के केन्द्र में प्रतिष्ठित सूर्य्य के ऊपर महान् परमेष्ठी, अव्यक्त स्वयम्भू एवं 'षोडशीपुरुष' नामक ईश्वराव्ययपुरुष, ये अमृतात्मा प्रतिष्ठित हैं। एवमेव सूर्य्य से नीचे चन्द्रमा, पार्थिव वैश्वानरात्मा भूपिण्ड, ये तीन मर्त्यात्मा प्रतिष्ठित हैं। मध्यस्थ सूर्य्य का अमृतात्मानुगामी ऊर्ध्वभाग अमृतसूर्य्य है मर्त्यात्मानुगामी अधोभाग मर्त्यसूर्य्य है। इसप्रकार मध्यस्थ सूर्य्य अमृत–मर्त्य इन दोनों आत्मसम्पत्तियों से युक्त बना हुआ है। सूर्य्य से ऊपर ऊपर अमृत का साम्राज्य है नीचे नीचे मृत्यु का साम्राज्य है, जैसाकि–'तपनकिञ्चाव्यापीनमादित्यात् मत्र तन्मृत्युनाप्तम्' (शत १।४।१।४।) इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है। मध्यस्थ सूर्य्य में अन्तर–पतिष्ठ दोनों धर्म्मों का समन्वय अवश्य मान्य है। अतः–'निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च' इत्यादि मन्त्रवर्णानुसार मध्यस्थ सूर्य्य में दोनों धर्म्मों की सत्ता सिद्ध हो जाती है।

३–विश्वमध्यस्थ हिरण्यगर्भमूर्त्ति सूर्य्य, एवं उसके चार विभूति–विवर्त्त—

अवधानपूर्वक मध्यस्थ सूर्य्य पर दृष्टि डालिए। क्योंकि गीताशास्त्र की बुद्धियोगचतुष्टयी का आधार बुद्धिप्रभव यही सूर्य्य है। मध्यस्थ सूर्य्य का ऊर्ध्वानुगत अमृतलक्षण गर्भभाग एक स्वतन्त्र तत्व है जिसे वैज्ञानिकों ने 'सावित्राग्नि' नाम से व्यवहृत किया है। यह सावित्राग्नि अमृताग्नि है यही अमृतलक्षण अपौरुषेय वेदतत्व है जिसका उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका द्वितीयखण्ड में विस्तार से निरूपण हुआ है। प्राणवेदात्मक सावित्राग्निलक्षण अमृताग्निरूप अमृतसूर्य्य के गर्भ में ऊर्ध्वस्थित उक्त तीनों अमृतात्माओं के प्रवर्ग्यांश युक्त रहते हैं। महान परमेष्ठी अव्यक्त स्वयम्भू षोडशी अव्ययपुरुष, इन तीनों ऊर्ध्वस्थित अमृतात्माओं के प्रवर्ग्यभाग इस अमृतसूर्य्य में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से युक्त रहते हैं। आगन्तुक इन तीन प्रवर्ग्यांशों से तथा अपने अमृतभाव नाम से अमृतसूर्य्य चतुष्पर्वापरिच्छिन्न बन रहा है। अमृताग्निलक्षण प्राणवेदात्मक अमृतसूर्य्य का प्राणवेदानुगृहीत वेदात्मक कर्म्म ही 'धर्म्म' है। अमृतसूर्य्य में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित महान्–परमेष्ठी के प्रवर्ग्यांश से अनुगृहीत इट्–ऊर्क्–भी–रूप पारमेष्ठ्य तत्व ही 'ऐश्वर्य्य' है। अमृतसूर्य्य में अन्तर्य्यामसम्बन्ध से भक्त अव्यक्त स्वयम्भू के प्रवर्ग्यांश से अनुगृहीत अव्यक्त तत्व ही 'ज्ञान' है। एवं अमृतसूर्य्य में अन्तर्य्यामसम्बन्ध से युक्त षोडशी ईश्वराव्यय के प्रवर्ग्यांश से अनुगृहीत सनातन तत्व ही वैराग्य है। वैराग्य सर्वाव्यय की प्रातिस्विक विभूति है। अमृतसूर्य्य में यह वैराग्यविभूति आती है षोडशी पुरुषाव्यय से। ज्ञान अव्यक्त स्वयम्भू की प्रातिस्विक सम्पत्ति है जैसाकि पूर्व स्तम्भ के 'प्राचीनाभिमता योगत्रयी' विषयनिरूपण में स्पष्ट किया जा चुका है। अमृतसूर्य्य में यह ज्ञानविभूति आती है अव्यक्त स्वयम्भू से। ऐश्वर्य्य महान्–परमेष्ठी की प्रातिस्विक विभूति है। महिमामण्डल को ही पूर्व स्तम्भ में हमने ऐश्वर्य्य कहा है। प्रायमण्डल ही महिमामण्डल माना गया है। रयिमलक्षण प्राण तत्व ही पारमेष्ठ्य प्रैतत्व है। अतएव तत्सम्बन्ध से तत्प्रमा विभूति अवश्यमेव 'ऐश्वर्य्य' नाम से व्यवहृत की जा सकती है। अमृतसूर्य्य में यह ऐश्वर्य्यविभूति आती है महान परमेष्ठी से। धर्म्म अमृतसूर्य्य की प्रातिस्विक विभूति है। कारण प्राकृतिक आधिकारिक–नियत–कर्म्म ही धर्म्म है। नियत कर्म्मात्मक धर्म्म की मूलप्रतिष्ठा माना गया है वेदतत्व– 'वेदाद्धर्म्मो हि निर्बभौ'। अमृतसूर्य्य अमृतभाव से अमृतवेदात्मक (त्रिगुणाभावातीत वेदात्मक) माना गया है। अतएव वेदात्मक धर्म्मतत्त्व को अवश्य ही अमृतसूर्य्य की प्रातिस्विक विभूति माना जा सकता है। इसप्रकार पुरुष स्वयम्भू परमेष्ठी, इन तीन अमृतात्माओं की वैराग्य ज्ञान ऐश्वर्य्य, नाम की विभूतियों के प्रवर्ग्यसम्बन्धद्वारा आगमन से एवं स्वानुगत धर्म्मविभूति से ऊर्ध्वस्थिता अमृतात्मत्रयी से अनुगत अमृतसूर्य्य धर्म्म ज्ञान वैराग्य, ऐश्वर्य्य इन चार विवर्त्तभावों में परिणत हो रहा है। और सावित्राग्नि ही 'हिरण्यगर्भ' कहलाता है। यही आधिदैविक विश्व का 'बुद्धि' तत्व है जो कि विश्वकेन्द्र में प्रतिष्ठित होता हुआ विश्व का सञ्चालन कर रहा है। इसी आधार पर पुराणपुरुष ने कहा है–'हिरण्यगर्भो भगवानेष–'बुद्धि' रिति स्मृत (महाभारत)।

चतुर्विध-विभूतिभावानुगतोऽमृतसूर्य्य —

१-विश्वाध्यक्षः——गायत्रीपुरुष ——वैराग्यविभूतियुक्त	(अमृतात्मा)	—सैषा-अमृतसंस्था (अमृतात्मसोपानपरम्परा)
२-विश्वादिः——अव्यक्तस्वयम्भूः— ज्ञानविभूतियुक्त	(अमृतात्मा)	
३-विश्वोपादानम्-महानपरमेष्ठी——ऐश्वर्य्यविभूतियुक्त	(अमृतात्मा)	
४-विश्वसाक्षी——अमृतसूर्य्यः——धर्म्मविभूतियुक्तः	(अमृतात्मा)	

१-पुरुषप्रवर्ग्यांशगर्भितः—— —अमृतसूर्य्य -वैराग्योपेत	| स एष अमृतसूर्य्यः— चतुर्विधविभूतियुक्त
२-स्वयम्भुप्रवर्ग्यांशगर्भित——अमृतसूर्य्यः-ज्ञानापेत	
३-परमेष्ठिप्रवर्ग्यांशगर्भित——अमृतसूर्य्ये-ऐश्वर्य्योपेत	
४-स्वानुगतविभूतिगर्भित ——अमृतसूर्य्य-धर्म्मोपेत	

४-हिरण्यगर्भ सूर्य्य के चार पाप्मा-विवर्त-

मध्यस्थ सूर्य्य के ऊर्ध्वानुगत-अमृतात्मानुगत-अमृतलक्षण ब्रह्म भाग से सम्बन्ध रखने वाली विभूतिचतुष्टयी की मीमांसा के अनन्तर मध्यस्थ सूर्य्य के अधोभागानुगत-मर्त्यात्मानुगत-मृत्युलक्षण ब्रह्म भाग से सम्बन्ध रखने वाली पाप्मा-चतुष्टयी की मीमांसा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। जिस प्रकार सूर्य्य का ऊर्ध्वभागानुगत अमृतलक्षण तत्त्व 'सावित्राग्नि' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, तदनुगत प्राणवेद त्रयीलक्षण वेद नाम से प्रसिद्ध हुआ है एवमेव अधोभागानुगत-मृत्युलक्षण तत्त्व 'गायत्राग्नि' नाम से तथा तदनुगत भूतवेद (त्रिगुणात्मक वेदतत्त्व पोडशवेद) गायत्रीमात्रिकवेद नाम से प्रसिद्ध हुआ है। भूतवेदात्मक गायत्राग्निलक्षण मर्त्याग्निरूप मर्त्य सूर्य्य के गर्भ में प्रत्यवस्थित चन्द्रमा-पार्थिवदेवसत्यात्मा-भूपिण्ड, इन तीनों मर्त्यभावों के प्रवर्ग्यांश भुक्त रहते हैं।

तदनुरूप इन तीन प्रवर्ग्यों से, तथा अपने मध्य-ब्रह्म भाग से मर्त्यसूर्य्य भी अमृतसूर्य्यवत् चतुःष्पर्वा बना हुआ है। मर्त्याग्निलक्षण भूतवेदात्मक मर्त्यसूर्य्य का भूतवेदानुगत त्रिगुणभाव ही अधर्म्मलक्षण अभिनिवेश तत्त्व है। मर्त्य सूर्य्य में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित चन्द्रमा के प्रवर्ग्यांश से अनुगृहीत तेजोरूप तत्त्वविशेष ही अनैश्वर्य्यलक्षण अस्मिता है। मर्त्यसूर्य्य में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से भुक्त पार्थिव देवसत्य के प्रवर्ग्यांश से अनुगृहीत तमोरूप तत्त्वविशेष ही अज्ञानलक्षण 'मोह (अविद्या) है। एवं मर्त्यसूर्य्य में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से भुक्त भूपिण्ड के प्रवर्ग्यांश से अनुगृहीत भूत नामक तत्त्वविशेष ही रागद्वेषात्मक 'आसक्ति' है। रागद्वेषात्मिका आसक्ति अन्तरीक्षस्थ का प्रातिस्विक पाप्मा है, मर्त्यसूर्य्य में यह आसक्ति पाप्मा आता है भूपिण्ड से। मोहलक्षणा अविद्या पार्थिव देवसत्य का प्रातिस्विक पाप्मा है। मर्त्यसूर्य्य में यह मोहपाप्मा आता है पार्थिव देवसत्य से। अनैश्वर्य्यलक्षणा अस्मिता चन्द्रमा का प्रातिस्विक पाप्मा है। मर्त्यसूर्य्य में यह अस्मिता पाप्मा आता है चन्द्रमा से। अधर्म्मलक्षण अभिनिवेश मर्त्यसूर्य्य का प्रातिस्विक पाप्मा है।

तदेवं भूपिण्ड पार्थिव-देवसत्य चन्द्रमा इन तीन मर्त्य भावों से आसक्ति मोह अस्मिता नामक तीन

पाप्माओं के प्रतपस्वरूप द्वारा आवरण से एवं तदनुगत अभिनिवेश-पाप्मा से अध्यात्मसिद्ध मर्त्यात्माओं से अनुगत मर्त्यमृत्यु अभिनिवेश नाम से आवृत्त अस्मिता इन चार विरुद्ध-भावों में परिणत हो जाता है ।

चतुर्विध-पाप्मभावानुगतो मर्त्यमृत्यु —

१-मृत्युभावी-मर्त्यमृत्यु —अभिनिवेशपाप्मभावेन मुक्तः (नश्यत्ता)			
२-मनोभावी-नश्वरत्ता —मोहपाप्मभावेन मुक्तः (मरत्ता)	— दैवी मर्त्यसृष्टिः		
३-प्राणभावी-मर्त्यदैवसृष्टः—अस्मितापाप्मभावेन मुक्तः (मर्त्यत्ता)			
४-भूतभावी—मर्त्यभूतिः—आसक्तिपाप्मभावेन मुक्तः (मरणत्ता)	(मर्त्यानश्वरेणानश्वरत्वम्)		

—•—

१-स्वायम्भुवात्मगर्भितः ——मर्त्यमृत्यु —अभिनिवेशयुक्तः	—स एष मर्त्यमृत्युः चतुर्विधपाप्मयुक्तः
२-चन्द्रमसात्मगर्भितः——मर्त्यमृत्युः—मोहयुक्तः	
३-पार्थिव दे व गर्भितः—मर्त्यमृत्युः—अस्मितायुक्तः	
४-भूपिण्डात्मगर्भितः—मर्त्यमृत्युः——आसक्तियुक्तः	

—•—

४—अमृतविभूतिचतुष्टया, एव मर्त्य पाप्मा—चतुष्टयी का अनान्तर्य्यात्मक आन्तर्य्य—

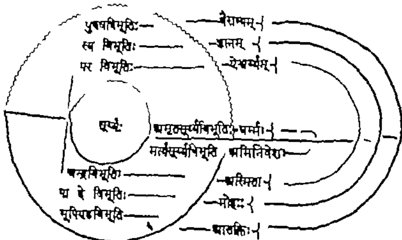
भौतिक 'वैश्वानरात्मकस्वरूप' ही आसक्ति का जनक बना करता है । भूपिण्ड भूतविभवप्रधान है । अतएव भूपिण्डानुगत पाप्मा को अवश्य ही 'आसक्ति' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है जो भूपिण्ड अमृतात्मत्रयी में से पार्थिवी पुरुषात्मभाव में तथा जो भूपिण्डानुगत आसक्तिभावना पुरुषात्मभावानुगता वैराग्यविभूति से समतुलित है । इस प्रकार का मर्त्यभूपिण्ड एवं तदनुगता आसक्ति, उस प्रकार का पुरुषात्मभाव, एवं तदनुगत वैराग्य, दोनों का अनान्तर्य्य (प्रतिद्वन्द्विता) ही इन का आन्तर्य्य (सन्तुलन) है । एक के रहने पर दूसरा नहीं रहता यही इन-दोनों का परस्परात्मक सन्तुलनसम्बन्ध है । पार्थिवदेवस्वरूप में सम्बन्ध रखने वाला पार्थिव अस्मितात्मक पाप्मभाव आवरण ही मनोऽभिव्यक्ति का प्रतिष्ठा का जनक बना करता है । पार्थिवदेवरूप 'देवपात्र' का यद्रूप स्वरूप है उस भूति के अनुसार आवरणप्रधान है । अतएव पार्थिव देवरूपानुगत पाप्मा को अवश्य ही अस्मिता नाम से व्यवहृत किया जा सकता है जो पार्थिव देवरूप अमृतात्मत्रयी में से महान् परमेष्ठी से तथा पार्थिव देवरूपानुगत अस्मितापाप्मा महान्-परमेष्ठ्यनुगता ऐश्वर्य्यविभूति से समतुलित है । दोनों परस्पर प्रतिद्वन्द्वी हैं । चन्द्रमा से सम्बन्ध रखने वाला चान्द्र देवताभाव ही भावना-वासना-संस्काररूप से मनःसम्बन्धी मोह का जनक बनता है । चान्द्र देवताभाव ही अविद्या-लक्षण मोह का कारण है । अतएव चन्द्रमानुगत पाप्मा को अवश्य ही 'मोह' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है । यह चन्द्रमा अमृतात्मत्रयी में से अव्यक्त आत्मभूत से तथा चन्द्रमानुगत मोह-पाप्मा अव्यक्तात्मस्वरूपानुगता ज्ञानविभूति से समतुलित है । दोनों परस्पर प्रतिद्वन्द्वी हैं । सत्य-सूर्य्य सत्य-गायत्री-मात्रिक वेदात्मक बतलाया गया है । सूर्य्य के सम्बन्ध से यह वेद त्रिगुणात्मक बन जाता है । त्रिगुणभाव ही अध्यात्मसम्बद्ध अभिनिवेश का जनक माना गया है । अतएव सत्यसूर्य्य-युक्त मर्त्य वेदात्मक पाप्मा को अवश्य ही 'अभिनिवेश' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है । यह सत्यसूर्य्य अमृतात्मचतुष्टयी में से अन्त के अमृतसूर्य्य से तथा सत्यसूर्य्यानुगत अभिनिवेश पाप्मा अमृतसूर्य्यानुगत धर्मविभूति से समतुलित है । दोनों परस्पर प्रतिद्वन्द्वी हैं ।

अमृत—मृत्युभावनिबन्धनो हिरण्यगर्भप्रजापतिः सूर्य्यः—विद्या—अविद्यात्मकः—

[सैषा—अधिदैवतसंस्था]

१—षोडशीपुरुषाव्यय—वैराग्ययुक्तः—अमृतात्मा
२—अक्षरस्वयम्भूः—ज्ञानयुक्तः—अमृतात्मा
३—महान्परमेष्ठी—ऐश्वर्य्ययुक्तः—अमृतात्मा
४—अमृतसूर्य्यः—धर्मयुक्तः—अमृतात्मा

—तदिदममृतम्



—अत्र—उभयोर्योगः

१—वैराग्यसूर्य्यः
२—ज्ञानसूर्य्यः
३—ऐश्वर्य्यसूर्य्यः
४—धर्म्मसूर्य्यः
विद्यासूर्य्यः

—विद्याविद्यात्मकः सूर्य्यः

४—अभिनिवेशसूर्य्यः
३—अस्मितासूर्य्यः
२—मोहसूर्य्यः
१—आसक्तिसूर्य्यः
अविद्यासूर्य्यः

४—मर्त्यसूर्य्यः—अभिनिवेशयुक्तः—मर्त्यात्मा
३—चन्द्रमा—अस्मितायुक्तः—मर्त्यात्मा
२—पार्थिवदेवत्य—मोहयुक्तः—मर्त्यात्मा
१—भूपिण्डः—आसक्तियुक्त—मर्त्यात्मा

—तदिदं मर्त्यम्

६–ईश्वरानुगता विभूति, एवं पाप्मा का समन्वय—

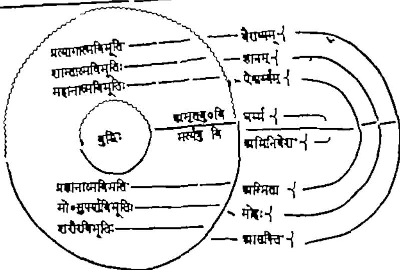
एक आवश्यक प्रश्न । बुद्धियोगपरीक्षा के आरम्भ में 'आत्मस्वरूपप्रतिपत्ति' की मीमांसा करते हुए हमने वहाँ आधिदैविक ईश्वरस्वरूप का निरूपण किया है। वहाँ यह स्पष्ट किया है कि, आधिदैविक ईश्वरसंस्था में केवल विभूति का ही साम्राज्य है, उसमें पाप्मा का आत्यन्तिक अभाव है। अब यहाँ मर्त्यसूर्य्य के सम्बन्ध से ईश्वरसंस्था में भी अभिनिवेशादि पाप्माओं का सम्बन्ध बतलाया जा रहा है। 'क्लेशकर्मविपाकाशय-रपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (पा॰ यो॰सू॰) इत्यादि दार्शनिक सिद्धान्तानुसार भी ईश्वर अभि-निवेशादि क्लेश–पाप्माओं से अपरामृष्ट (असंस्पृष्ट) ही सिद्ध हो रहा है। फिर यहाँ किस आधार पर ईश्वरसंस्था में पाप्माओं का सम्बन्ध बतलाया गया ?, यही आवश्यक प्रश्न है। उत्तर में यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि, आध्यात्मिक जीवसंस्था के समतुलन की दृष्टि से ही 'ईश्वरीय विवर्त' में पाप्मानुगामी का योग बतलाया गया है। 'अशनायया वै मृत्युः, मृत्यु पाप्मा' इत्यादि श्रुति के अनुसार सृष्टिकामना-लक्षणा अशनाया ही मृत्यु है, यही पाप्मा है। और 'एकोऽहं बहु स्याम्' के अनुसार सृष्टिकामना से युक्त रहता हुआ ईश्वर भी अवश्य ही अनुविध पाप्माओं से युक्त है। मर्त्यसूर्य्य–मर्त्यचन्द्रमा–मर्त्यपार्थिव वैश्वानर–मर्त्यभूपिण्ड चारों मृत्युलक्षण ही पाप्मा बने हुए हैं। परन्तु रहती हुई भी न तो यह पाप्मानुगामी ईश्वर के साथ लिप्त ही रहती, न विभूत्यनुगामी ही लिप्त होती। कारण यही है कि यह मनोमय अव्ययेश्वर विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य्यस्थान में प्रतिष्ठित रहने से दोनों ओर के समतुलन से समभावापन्न बना हुआ है। विभूतिलक्षण पुण्य एवं पाप्मालक्षण पाप दोनों के रहते हुए भी 'पुण्य–पाप उभे विधूय' के अनुसार दोनों से विमुक्त बन रहा है। अतएव विश्वानुगत विभूति–पाप्माओं में व्याप्त रहता हुआ भी यह 'नित्यमुक्त–शुद्ध–बुद्ध' कहलाया है। अव्ययात्मा 'इन्द्र' है, यही विश्वकेन्द्र है, यहीं अव्ययेश्वर उपक्रम से प्रतिष्ठित है। अतएव–'इन्द्रो ह वै गायत्री' के अनुसार इन्द्र भी गायत्री नाम से प्रसिद्ध हो गया है। तात्पर्य यही है कि विभूतिवत् पाप्मा (मृत्यु) भी ईश्वरसंस्था में है अवश्य। परन्तु अव्ययलक्षण बुद्धियोग (ब्रह्मचर्य्यविद्या और ध्यानविद्या) से यह इनमें लिप्त नहीं रहता। फलतः ही 'आत्मस्वरूपप्रतिपत्ति' प्रकरण में ईश्वर में पाप्मा का अभाव बतलाया दिया गया है।

७–जीवानुगता विभूति, एवं पाप्मा का समन्वय—

जीवसंस्था में मृत्युभाव इसलिए प्रधान बन जाता है कि इसकी उत्पत्ति सूर्य्य से नीचे अवस्थित मृत्युभाग से सम्बन्ध रखती है। आधिदैविक संस्था के स्वयम्भू, परमेष्ठी, अमृतसूर्य्य, मर्त्यसूर्य्य, चन्द्रमा, पार्थिववैश्वानर, भूपिण्ड ये सात पर्व आध्यात्मिक संस्था में प्रज्ञानात्मा शान्तात्मा महानात्मा, अमृतविज्ञानात्मा (विद्याबुद्धि), मर्त्यविज्ञानात्मा (अविद्याबुद्धि), प्रज्ञानात्मा (सर्वेन्द्रियमन) वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञमूर्ति भोक्ता वैश्वानर, शरीर, इन रूप से अवयवसम्बन्ध से प्रतिष्ठित होते हैं। धर्म्म-ज्ञानादि भेद से बुद्धि आठ भागों में बनी है। एक ही बुद्धि आठ भावों में क्या परिणत हो जाती है ? इस प्रश्न के समतुलन के लिए आधिदैविक संस्था में उक्त विभूत्यनुगामी, तथा पाप्मानुगामी का भाग बतलाया गया है। जैसा वहाँ (अधिदैवत में) है वैसा ही यहाँ (अध्यात्म में) है। उस पूर्ण का अंशभूत यह भी पूर्ण ही है। दोनों सयुक्तता है। वह आदित्यपुरुष है। 'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' के अनुसार आदित्य-पुरुष ही यह है। जैसाकि–'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्' 'योऽसौ–सोऽहम्, योऽहं सोऽसौ' इत्यादि श्रुतियों से प्रमाणित है। परिलेख के द्वारा दोनों के सम–समतुलन का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है—

सर्वसंग्रह (सैषा अध्यात्मसंस्था)—

—अष्टौ पुरुष - इति हि प्राचानिश्च आहु —



८–अधिदैवत–अध्यात्मानुगत आत्मविवर्त के उपक्रमोपसंहारस्थान—

आरम्भ में अविद्याग्रस्त विद्याव्यय को अविद्याव्यय बतलाया गया है। अमृत–मर्त्यात्मक सूर्य्यमण्डल के विद्यात्मक अमृत सार भाग मण्डल में मुक्त विद्याभिन्न सूर्यचतुष्टयी से युक्त आधिदैविक अमृतस्वयम्भू महान्‌परमेष्ठी, अव्यक्तस्वयम्भूगर्भित षोडशीपुरुष विद्याभाग (सूर्यविद्याभाग) से युक्त रहता हुआ विद्याग्रस्त विद्याव्यय है। अमृतमर्त्यात्मक सूर्य्यमण्डल के अविद्यात्मक मर्त्य सौर भाग मण्डल में मुक्त अविद्याभिन्न सूर्य्यचतुष्टयी से युक्त आधिदैविक मर्त्य सूर्य–चन्द्रमा–पार्थिव वैश्वानर, तीनों को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला भूपिण्डावच्छिन्न षोडशीपुरुष अविद्याभाग। (सूर्य–अविद्याभाग) से युक्त रहता हुआ अविद्याग्रस्त अविद्याव्यय है। विद्याव्यय का उपक्रम षोडशी से है उपसंहार भूपिण्ड पर है। अविद्याव्यय का उपक्रम भूपिण्ड से है उपसंहार षोडशी पर है। यही स्थिति अध्यात्मसंस्था में समझिए। अमृत–मर्त्याभिन्न बुद्धि के विद्यात्मक अमृत भाग मण्डल में मुक्त विद्याभिन्न बुद्धिचतुष्टयी से युक्त आध्यात्मिक विद्याबुद्धि, पारमेष्ठ्य महान्, स्वायम्भुव शान्तात्मा तीनों को स्वगर्भ में मुक्त रखने वाला प्रज्ञानात्मा विद्याभाग (विद्याबुद्धि) से युक्त रहता हुआ विद्याग्रस्त विद्याव्यय है। अमृत-मर्त्याभिन्न बुद्धि के अविद्यात्मक मर्त्य भाग मण्डल में मुक्त अविद्याभिन्न बुद्धिचतुष्टयी से युक्त, आध्यात्मिक अविद्याबुद्धि, चान्द्र प्रज्ञानात्मा पार्थिव भूतात्मा, तीनों मर्त्यात्मसंस्थाओं को स्वगर्भ में मुक्त रखने वाला महानात्मा अविद्याभाग (अविद्याबुद्धि) से युक्त रहता हुआ अविद्याग्रस्त अविद्याव्यय है। विद्याव्यय का उपक्रमस्थान प्रज्ञानात्मा है उपसंहारस्थान शरीर है। अविद्याव्यय का उपक्रम स्थान शरीर है, उपसंहार स्थान प्रज्ञानात्मा है। इसप्रकार मध्यस्था विद्याविद्याभिन्न बुद्धि के विद्या अविद्याभागों के सम्बन्ध तारतम्य से यही प्रज्ञानात्मा अव्ययात्मा (विद्याव्यय) रूप से विकसित हो रहा है एवं यही प्रज्ञानात्मा महानात्मा (अविद्याव्यय) रूप से उन्मुख बन रहा है। बुद्धिगत विद्या अविद्याभाग ही प्रज्ञानात्मा के विकास–संकोच के कारण हैं, यही निष्कर्ष है।

९–सिद्ध–साध्यावस्थापन्ना बुद्धियोगचतुष्टयी का पार्थक्य—

स्थिति की स्पष्टता के लिये बुद्धियोग के साध्य–सिद्ध–रूपों का स्पष्टीकरण कर लीजिए। 'बुद्धियोग–स्वरूपनिर्वचन' नामक प्रथम प्रकरण में हमने स्वयं 'अव्ययपुरुष' को भी बुद्धियोग बतलाया है एवं अव्यय–पुरुष (विद्याव्यय) की विश्वसंबन्धमूला वैराग्यादि धर्मावच्छिन्न बुद्धि को भी बुद्धियोग कहा है। दोनों में अव्ययात्मक बुद्धियोग तो 'सिद्धबुद्धियोग' है एवं बुद्ध्यात्मक बुद्धियोग 'साध्यबुद्धियोग' है। सिद्धयोग युक्तयोग है तदनुगामी योगी 'युक्तयोगी' है। साध्ययोग युञ्जानयोग है तदनुगामी योगी युञ्जानयोगी है। युक्तयोगी 'आरूढ' है युञ्जानयोगी 'आरुरुक्षु' है। 'ददामि बुद्धियोगं तं प्रातकालादभ्यन्तम् इत्यादि श्लोकपठित 'योग' शब्द सिद्धावस्थापन्न अव्ययात्मक–बुद्धियोग का वाचक है एवं–'तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः–कर्मसु कौशलम्'–'बुद्धियोगमुपाश्रित्य इत्यादि श्लोकपठित योग शब्द साध्यावस्थापन्न बुद्ध्यात्मक बुद्धियोग का वाचक है। सिद्धबुद्धियोग ही वास्तविक बुद्धियोग है। साध्य बुद्धियोग तो सिद्धबुद्धियोग के उदय का कारण बनता हुआ बुद्धियोग का उपभूत नाम है। अतएव सिद्धयोग–चतुष्टयी को जहाँ वैराग्यबुद्धियोग ज्ञानबुद्धियोग ऐश्वर्य्यबुद्धियोग धर्म्मबुद्धियोग, इन नामों से व्यवहृत किया गया है वहाँ साध्ययोगचतुष्टयी वैराग्यहेतुबुद्धियोग ज्ञानहेतुबुद्धियोग ऐश्वर्य्यहेतुबुद्धियोग, धर्म्महेतुबुद्धियोग, इन नामों से व्यवहृत हुआ है।

१०–प्राचीनाभिमता योगत्रयी के आधारभूत आत्मविवर्त—

विद्यात्मा का उपक्रमस्थान प्रत्यगात्मा बतलाया गया है, उपसंहारस्थान शरीर बतलाया गया है। 'ऐश्वर्यबुद्धियोगानुगत राजविद्या' नामक पूर्व के द्वितीय खण्डान्तर्गत प्राचीनाभिमता योगत्रयी तथा गीताभिमता योगचतुष्टयी नामक परिच्छेदों में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, योगत्रयी का मूलाधार आत्मा क्रमशः अव्यक्तात्मा, व्यक्ताव्यक्तात्मा, व्यक्तात्मा, नामक अक्षरात्मा, अक्षरगर्भितक्षरात्मा, क्षरगर्भित विकारक्षरात्मा है। सत्यप्रमुख अक्षरात्मा सृष्टि-उपादानभूत क्षरानुगामी बनता हुआ मर्त्यधर्माक्रान्त है। षोडशीपुरुष, अव्यक्त स्वयम्भू महान परमेष्ठी तीनों आध्यात्मिक अमृतात्मसंस्थाओं में अमृताव्यय का प्राधान्य है। अतएव इस त्रयी को 'अव्ययसंस्था' कहा जासकता है। चन्द्रमा, पार्थिव देवसत्यात्मा, भूपिण्ड, इन तीनों आधिदैविक मर्त्यात्मसंस्थाओं में, एवं चान्द्र प्रज्ञानात्मा, पार्थिव मोक्षात्मा भौम शरीर, इन तीनों आध्यात्मिक मर्त्यात्मसंस्थाओं में मर्त्यक्षर का प्राधान्य है। अतएव इस त्रयी को 'क्षरसंस्था' कहा जा सकता है। अमृत-मर्त्यात्मक आधिदैविक सूर्य्य, अमृत-मर्त्यात्मिका आध्यात्मिकी बुद्धि इनमें अमृतमर्त्यात्मक मध्यस्थ अक्षर का प्राधान्य है। अतएव इसे 'अक्षर संस्था' माना जा सकता है। इस अक्षरसंस्था का ऊर्ध्वानुगत अमृताक्षर तो अव्ययसंस्था का अनुग्राहक बना रहता है, एवं अधोऽनुगत मर्त्याक्षर क्षरसंस्था का अनुग्राहक बना रहता है। अविद्यात्मा का उपक्रमस्थान शरीर बतलाया गया है, उपसंहारस्थान प्रत्यगात्मा माना गया है। वस्तुतः विद्यात्मा का उपक्रम प्रत्यगात्मा है उपसंहार अमृताबुद्धि है। एवं अविद्यात्मा का उपक्रम शरीर है उपसंहार मर्त्या बुद्धि है। प्रत्यगात्मोपक्रमानुगता अमृता बुद्ध्युपसंहारात्मिका अमृतात्मसंस्था गीताभिमता योगचतुष्टयी की आधारभूमि है। एवं शरीरोपक्रमानुगता मर्त्य बुद्ध्युपसंहारात्मिका मर्त्यात्मसंस्था प्राचीनाभिमता योगत्रयी की आधारभूमि है। मर्त्या बुद्धि अक्षरात्मा है यही अव्यक्तात्मा है यही प्राचीनाभिमत ज्ञानयोग की आधारभूमि है। मर्त्य प्रज्ञानात्मा (मन) अक्षरगर्भित क्षरात्मा है यही व्यक्ताव्यक्तात्मा है, यही प्राचीनाभिमत भक्तियोग की आधारभूमि है। मर्त्य शरीर क्षरगर्भित विकारक्षर है, यही व्यक्तात्मा है यही प्राचीनाभिमत कर्म्मयोग की आधारभूमि है। मर्त्य पार्थिव मोक्षात्मा इस प्राचीनाभिमता मर्त्या योगत्रयी का अनुग्राहक है। मर्त्यभावप्रधाना यह योगत्रयी अविद्याबुद्धि के अनुग्रह से विद्याबुद्धि–युक्त अव्ययात्मक बुद्धियोगस्वरूप से सर्वथा वञ्चित रह जाती है।

११–गीतासम्मता योगचतुष्टयी के आधारभूत आत्मविवर्त—

अब गीताभिमता योगचतुष्टयी का समन्वय कीजिए। गीतायोग की आधारभूमि अमृतात्मसंस्था है। यहाँ अव्यय, अक्षर, क्षर तीनों का समन्वय है जब कि प्राचीन योग अक्षर–क्षरानुगत बनता हुआ भी अव्यय–सम्पत्ति से वञ्चित था। अमृतात्मसंस्था का उपसंहार यद्यपि अमृतात्मिका बुद्धि ही बन रही है। तथापि 'नामृतं मृत्युभिर्विना'–'अन्तरं मृत्यारमृतम्' इत्यादि के अनुसार इसका उपसंहार मर्त्य शरीर पर मान लिया जाता है और यही प्रत्यगात्मप्रधाना सर्वात्मा की सर्वव्याप्ति बतलाया गया है। प्रत्यगात्मस्वरूप अव्यय आनन्द–विज्ञान–मन प्राण–वाङ्मय है। इसके समष्टि–व्यष्टिरूप से दो विवर्त अधिदैवत और अध्यात्म में प्रतिष्ठित रहते हैं। व्यष्टिरूप अव्यय का उपक्रम प्रत्यगात्मा है उपसंहार शरीर है। अधिदैवत में षोडशी उपक्रम है। इस प्रकारपरिच्छिन्न सर्वाव्यय की पाँच कलाएँ अव्यय–अक्षर–क्षर–भेद से त्रिवृत् बन कर सर्वत्र व्याप्त हो रही हैं। अधिदैवत में षोडशी, अव्यक्त स्वयम्भू महानपरमेष्ठी अध्यात्म में प्रत्यगात्मा स्वायम्भुव शान्तात्मा पारमेष्ठ्य महानात्मा तीनों की समष्टि में आनन्दविज्ञानप्रधान अव्ययात्मा का भाग है यही पहिली अव्ययात्म–

संस्था है। अधिदैवत में विद्याविद्यात्मक सूर्य्य, अध्यात्म में विद्याविद्यात्मिका बुद्धि इन दोनों में महत्प्रधान अव्ययात्मा का भाग है यही दूसरी अक्षरात्मसंस्था है। अधिदैवत में चन्द्रमा पार्थिव देवसत्य, भूपिण्ड, अध्यात्म में चान्द्र मन पार्थिव महदात्मा भौम शरीर तीनों की समष्टि में प्राणप्रधान अव्ययात्मा का भोग है यही तीसरी आत्मक्षरसंस्था है। प्रथम संस्था आनन्दविज्ञानाव्ययानुगता अव्ययसंस्था है, द्वितीयसंस्था मनोऽव्ययानुगता अक्षरसंस्था है तीसरी संस्था प्राणवागव्ययानुगता क्षरसंस्था है। यही षोडशीपुरुषात्मक की सम्प्राप्ति का संक्षिप्त प्रस्थान है। इस सममूर्त्ति षोडशी-अव्यय की प्रातिस्विक विभूति वैराग्य है अतएव बुद्धियोग सिद्धबुद्धियोग है तदपेक्षया विद्याबुद्ध्यनुगत ऐश्वर्यहेतुकबुद्धियोग साध्यबुद्धियोग है। इस वैराग्यबुद्धियोग में सर्वात्मना की प्रधानता है अतएव इस बुद्धियोग में सब बुद्धियोग अन्तर्भूत है। केवल वैराग्यबुद्धियोग के अनुष्ठान से ही शेष तीनों बुद्धियोग चरितार्थ बन जाते हैं। अतएव ऐश्वर्य-धर्म-ज्ञानबुद्धियोग-नामक तीनों बुद्धियोगों में भी भगवान् ने वैराग्यबुद्धियोग का समावेश माना है, जैसाकि तत्समर्थक वचनों के द्वारा भूमिका खण्ड में स्पष्ट किया जा चुका है।

१२—अव्ययात्मानुगत एक ही बुद्धियोग के चार विभिन्न योगविवर्तों का समन्वय—

आनन्दविज्ञानाव्यय, मनोऽव्यय, प्राणवागव्यय, ये तीन इसके व्यापारात्मक विवर्त हैं। प्रथम विवर्त स्वायम्भुव अव्ययात्मा से अनुप्रविष्ट है, दूसरा विवर्त पारमेष्ठ्य महानात्मा से अनुप्रविष्ट है, तीसरा विवर्त अमृत-बुद्धि से अनुप्रविष्ट है। प्रथम विवर्त का उपक्रम भी अव्ययात्मा है उपसंहार भी अव्ययात्मा ही है। द्वितीय विवर्त का उपक्रमोपसंहार दोनों महानात्मा ही है। एवं तीसरे विवर्त का उपक्रमोपसंहार दोनों विद्या-बुद्धि ही है। आनन्दविज्ञानाव्ययानुप्रविष्ट अव्ययात्मा ज्ञानबुद्धियोग की आधारभूमि है। मनोऽव्ययानुप्रविष्ट महानात्मा ऐश्वर्यबुद्धियोग की आधारभूमि है। प्राणवागव्ययानुप्रविष्ट अमृतविज्ञानात्मा धर्मबुद्धियोग की आधारभूमि है। अव्ययात्मानुगत आनन्दविज्ञानाव्यय 'परात्पर' है। महानात्मानुगत मनोऽव्यय 'परावर ब्रह्म' है। विद्याबुद्ध्यनुगत प्राणवागव्यय 'अवराव्यय' है। परात्पर अव्ययप्रधान है परावराव्यय अक्षरप्रधान है अवराव्यय क्षरप्रधान है। तीनों अव्यय बनते हुए अक्षर योगात्मक हैं। सर्वाव्ययानुगत एक वाक्य वैराग्य-बुद्धियोग में तथा अन्यतमाव्ययानुगत अन्य अन्यतमा शेष बुद्धियोगत्रयी में यही वह महान् अन्तर है जिसके तात्त्विक विश्लेषण के बिना गीताभिमता योगचतुष्टयी के विभक्त रूपों का समन्वय असम्भव बन जाता है। विभक्त आत्मसंस्थाओं के आधार पर सर्वथा विभक्त चारों बुद्धियोगों का जब तक विश्लेषण नहीं कर लिया जाता, तब तक गीता के 'बुद्धियोग' तत्त्व से परिचय प्राप्त करना असम्भव है। वही अव्यय, वही आत्मा वही योग, फिर कैसे एक योग चार भावों में विभक्त हो गया ? प्रश्नसमस्या के निराकरण के लिए ही प्रकृत में यह तत्-साम्य योगविश्लेषण हुआ है जिसका निम्न लिखित परिलेखों से भलीभाँति स्पष्टीकरण सम्भव है—

सिद्ध–साध्य–योगचतुष्टयी–परिलेखा —

(१)			
१–षोडशीपुरुषोऽव्ययः—	अव्ययात्मा	वैराग्यबुद्धियोगात्मा	वैराग्यहेतुकविद्याबुद्धियोग
२–अव्यक्तस्वयम्भूः—	शान्तात्मा	ज्ञानबुद्धियोगात्मा	ज्ञानहेतुकविद्याबुद्धियोगः
३–महान्परमेष्ठी—	महानात्मा	ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मा	ऐश्वर्य्य हेतुकविद्याबुद्धियोग
४–अमृतसूर्य्यः—	अमृतविज्ञानात्मा	धर्म्मबुद्धियोगात्मा	धर्म्म हेतुकविद्याबुद्धियोग
अधिदैवतम्	अध्यात्मम्	सिद्धबुद्धियोगचतुष्टयी	साध्यबुद्धियोगचतुष्टयी

(२)

१–अध्यात्मलक्षणावैराग्यहेतुकविद्यानुगतबुद्धियोगेन——सिद्धलक्षण–अव्ययात्मक–वैराग्यबुद्धियोगोदयः

२–अध्यात्मलक्षणज्ञानहेतुकविद्यानुगतबुद्धियोगेन——सिद्धलक्षण–अव्ययात्मक–ज्ञानबुद्धियोगोदयः

३–अध्यात्मलक्षणऐश्वर्य्यहेतुकविद्यानुगतबुद्धियोगेन—सिद्धलक्षण–अव्ययात्मक–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगोदयः

४–अध्यात्मलक्षणधर्म्म हेतुकविद्यानुगतबुद्धियोगेन—सिद्धलक्षण–अव्ययात्मक–धर्म्मबुद्धियोगोदयः

(३)

१–वैराग्यभगापेक्षा——आर्षनिरुक्तेर्गानिर्वर्तिका——वैराग्यबुद्धिः—स्वरूप–वैराग्यबुद्धियोगः—साध्यः

२–ज्ञानभगापेक्षा——मोक्षकेर्गानिर्वर्तिका————ज्ञानबुद्धि —स्वरूपः–ज्ञानबुद्धियोगः—साध्य

३–ऐश्वर्य्यभगापेक्षा——अणिमादिकेर्गानिर्वर्तिका——ऐश्वर्य्यबुद्धि–स्वरूप–ऐश्वर्य्यबुद्धियोग –साध्य

४–धर्म्मभगापेक्षा——धर्मनिपेरकेर्गानिर्वर्तिका—धर्म्मबुद्धिः——स्वरूप–धर्म्मबुद्धियोग——साध्य

१–अध्यात्मवैराग्यहेतुकसाध्यबुद्धियोगेन सिद्धः—सर्वाव्ययात्मक —वैराग्यबुद्धियोग ——सिद्ध

२–अध्यात्मज्ञानहेतुकज्ञानबुद्धियोगेन सिद्धः——सर्वाव्ययात्मक ——ज्ञानबुद्धियोगः——सिद्ध

३–अध्यात्मैश्वर्य्यहेतुकैश्वर्य्यबुद्धियोगेन सिद्धः —सर्वाव्ययात्मक–ऐश्वर्य्यबुद्धियोग —सिद्ध

४–अध्यात्मधर्म्महेतुकधर्म्मबुद्धियोगेन सिद्धः—सर्वाव्ययात्मक —धर्म्मबुद्धियोग —— सिद्ध

(४) १–वैराग्यहेतुकस्यबुद्धियोगेन—वैराग्यमयसत्त्वेन—सिद्धबुद्धियोगोदयः

२–ज्ञानहेतुकस्यबुद्धियोगेन—ज्ञानमयसत्त्वेन—सिद्धबुद्धियोगोदयः

३–ऐश्वर्यहेतुकस्यबुद्धियोगेन–ऐश्वर्यमयसत्त्वेन–सिद्धबुद्धियोगोदयः

४–धर्महेतुकस्यबुद्धियोगेन—धर्ममयसत्त्वेन—सिद्धबुद्धियोगोदयः



[५]–विद्याव्ययस्य-उपक्रमोपसंहारौ—

अधिदैवतम् —— अध्यात्मम्

१–षोडशीपुरुषाव्ययः——अव्ययात्मा]—विद्याव्ययस्य-उपक्रमस्थानम्

२–अव्यक्तस्वयम्भूः——शान्तात्मा }—विद्याव्ययस्य-मध्यस्थानम्

३–महान् परमेष्ठी——महानात्मा

४–अमृतसूर्यः — अमृतविज्ञानात्मा]—विद्याव्ययस्य-उपसंहारस्थानम्



(६)—अविद्याव्ययस्य-उपक्रमोपसंहारौ—

अधिदैवतम् —— अध्यात्मम्

४–मर्त्यसूर्यः——मर्त्यविज्ञानात्मा]—अविद्याव्ययस्योपसंहारस्थानम्

३–चन्द्रमा——प्रज्ञानात्मा }—अविद्याव्ययस्य मध्यस्थानम्

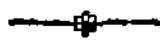
२–पार्थिववैश्वानरः——पार्थिवभोक्तात्मा

१–भूपिण्डः——शरीरम्]—अविद्याव्ययस्योपक्रमस्थानम्



(७)-अन्यदृष्ट्या विद्याव्ययस्योपक्रमोपसंहारौ—

अधिदैवतम्	अध्यात्मम्	
		]—विद्याव्ययस्योपक्रमस्थानम्
१-षोडशीपुरुषाव्ययः	प्रत्यगात्मा	
२-अव्यक्तस्वयम्भूः	शान्तात्मा	
३-महान् परमेष्ठी	महानात्मा	
४-अमृतसूर्य्यः	अमृतविज्ञानात्मा	—विद्याव्ययस्य मध्यस्थानम्
५-मर्त्यसूर्य्यः	मर्त्यविज्ञानात्मा	
६-चन्द्रमाः	प्रज्ञानात्मा	
७-पार्थिवदेवसत्यम्	पार्थिवभोक्त्रात्मा	
८-भूपिण्डः	शरीरम्	]—विद्याव्ययस्योपसंहारस्थानम्



(८) अविद्याव्ययस्योपक्रमोपसंहारौ—

अधिदैवतम्	अध्यात्मम्	
१-भूपिण्डः	शरीरम्	]—अविद्याव्ययस्योपक्रमस्थानम्
२-पार्थिवदेवसत्यम्	पार्थिवभोक्त्रात्मा	
३-चन्द्रमाः	प्रज्ञानात्मा	
४-मर्त्यसूर्य्यः	मर्त्यविज्ञानात्मा	
५-अमृतसूर्य्यः	अमृतविज्ञानात्मा	—अविद्याव्ययस्य मध्यस्थानम्
६-महान्परमेष्ठी	महानात्मा	
७-अव्यक्तस्वयम्भूः	शान्तात्मा	
८-षोडशीपुरुषाव्ययः	प्रत्यगात्मा	]—अविद्याव्ययस्योपसंहारस्थानम्



(९)

भूपिण्डमवलम्ब्य भूतात्मद्वारा आत्मदर्शनम् शरीरमवलम्ब्य भूतात्मद्वारा आत्मदर्शनम्	—अविद्याभ्यदर्शनम्–सैषा अनात्मदृष्टिः (अत्र आत्मा उपसंहारः, शरीर–उपक्रमः)
षोडशीपुरुषाध्ययनमवलम्ब्य अनात्मद्वारा आत्मदर्शनम् प्रत्यगात्मानमवलम्ब्य अनात्मद्वारा आत्मदर्शनम्	—विद्याभ्यदर्शनम्–सैषा आत्मदृष्टिः (अत्र आत्मा–उपक्रमः, शरीर उपसंहारः)



(१०) आत्मसोपानपरम्परानुगता–अव्ययसंस्थात्रयी—

अधिदैवतम् — अध्यात्मम्

१	१ षोडशीपुरुषाव्यय—प्रत्यगात्मा १ अव्यक्तस्वयम्भू—शान्तात्मा १ महान्परमेष्ठी—महानात्मा	—अमृताव्ययप्रधाना 'अव्ययसंस्था' प्रथमा
२	१ अमृतसूर्य—अमृतविज्ञानात्मा २ मर्त्यसूर्य—मर्त्यविज्ञानात्मा	अमृतमर्त्याक्षरप्रधाना 'अक्षरसंस्था' द्वितीया—
३	१ चन्द्रमा—प्रज्ञानात्मा २ पार्थिवदेवत्रयम्–पार्थिवभोक्तात्मा ३ भूपिण्ड—शरीरम्	—मर्त्यक्षरप्रधाना– क्षरसंस्था तृतीया

(११)—प्राचीनाभिमता योगत्रयी, तदाधारभूताः–आत्मविवर्तमात्रारश्च—

शरीरोपक्रमानुगता–मर्त्या–बुद्ध्युपसंहारात्मिका मर्त्यात्मसंस्था प्राचीनाभिमतयोगप्रतिष्ठा–

अधिदैवतम्——अध्यात्मम्

मर्त्यसूर्य——मर्त्याबुद्धि——अक्षरात्मा (अध्यक्तात्मा)——ज्ञानयोगाधारभूमिः

चन्द्रमा——प्रज्ञानात्मा——अक्षरगर्भितक्षरात्मा (व्यक्ताव्यक्तात्मा)–भक्तियोगाधारभूमि

भूपिण्ड——शरीरम्——क्षरगर्भितविकारक्षरात्मा (व्यक्तात्मा)–कर्मयोगाधारभूमि

१–अव्यक्तात्मानुगतो योगः–ज्ञानयोगः २–व्यक्ताव्यक्तात्मानुगतो योगः–भक्तियोगः ३–व्यक्तात्मानुगतो योगः–कर्मयोगः	पार्थिवदेवसत्यानुगतः–पार्थिवभोक्तात्मा योगानुगामी अविद्याबुद्धियोगसाधनम् स भवत्येष योगफलम्

---

(१२)—गीताभिमता योगचतुष्टयी, तदाधारभूता –आत्मविवर्त्तभावाश्च—

आत्मोपक्रमानुगता–अमृता–बुद्धयुपसंहारात्मिका शरीरोपसंहारात्मिका वा अमृतमर्त्यात्मसंस्था–

गीताभिमतयोगप्रतिष्ठा

तत्र—सर्वान्वयानुगता वैराग्यबुद्धियोगानुगता आत्मसंस्था प्रथमा—

अव्ययोपक्रमात्मिका, शरीरोपसंहारात्मिका, सर्वात्मिका

तत्राव्यय —	अधिदैवतम्	अध्यात्मम्
१–आनन्दमयोऽव्ययः २–विज्ञानमयोऽव्ययः	१–षोडशीपुरुषोऽव्ययः –अव्ययात्मा २–अव्यक्तस्वयम्भूः—शान्तात्मा ३–महान्परमेष्ठी——महानात्मा	वैराग्यबुद्धियोगगर्भितः– ज्ञानबुद्धियोगः
३–मनोमयोऽव्ययः	४–अमृतसूर्य——अमृतविज्ञानात्मा ५–मर्त्यसूर्य——मर्त्यविज्ञानात्मा	वैराग्यबुद्धियोगः –ऐश्वर्यबुद्धियोगः
४–प्राणमयोऽव्ययः ५–वाङ्मयोऽव्ययः	६–चन्द्रमा ——प्रज्ञानात्मा ७–पार्थिवदेवसत्यम्——पार्थिवभोक्तात्मा ८–भूपिण्डः——शरीरम्	वैराग्यबुद्धियोगः –धर्मबुद्धियोगः

पार्थिवदेवसत्यानुगता–पार्थिव–भोक्तात्मा योगानुगामी

धर्म–ज्ञान–ऐश्वर्यगर्भिता वैराग्यबुद्धिः–योगसाधनम्

अमृतभावेन सर्वाप्तिश्च योगफलम्

स एषः–सर्वान्वयानुगतो वैराग्यबुद्धियोगः–सर्वात्मकः

---

(१२)—प्राचीनाभिमता-संशोधिता-बुद्धियोगात्मिका-योगत्रयी, तदाधारभूतान्यात्म-विवर्त्तानि च—

१—आनन्दविज्ञानमयाव्ययानुगता, अव्ययात्ममूला अव्ययात्मोपक्रमोपसंहारात्मिका अमृतप्रधाना-प्रथमा संस्था
—'ज्ञानबुद्धियोगभूमिः'—

२—मनोमयाव्ययानुगता, महानात्ममूला, महानात्मोपक्रमोपसंहारात्मिका—अमृतप्रधाना—द्वितीया संस्था
—'ऐश्वर्य्यबुद्धियोगभूमि'—

३—प्राणवाङ्मयाव्ययानुगता, विज्ञानात्ममूला, विज्ञानात्मोपक्रमोपसंहारात्मिका—अमृतप्रधाना तृतीया संस्था
—'धर्म्मबुद्धियोगभूमि'—

१—अव्यक्तलक्षणः, आनन्दविज्ञानमयः 'परात्मा' (अक्षरात्मा)—तदनुगतः—अक्षरात्मा—अव्ययात्मा
—ज्ञानबुद्धियोगाधारः—

२—अव्यक्तलक्षणः, मनोमयः 'परावरात्मा', (अक्षरात्मा)—तदनुगतः—अक्षरात्मा—महानात्मा
—ऐश्वर्य्यबुद्धियोगाधारः—

३—अव्यक्तलक्षणः, प्राणवाङ्मयः 'अवरात्मा' (अक्षरात्मा)—तदनुगतः—अक्षरात्मा—विज्ञानात्मा
—धर्म्मबुद्धियोगाधारः—

*—सर्वलक्षणः, आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाङ्मयः—सर्वात्मा तदनुगतः—सर्वः सत्यात्मा-
—वैराग्यबुद्धियोगाधारः—

स एषः—गीताराद्धान्तः

१३—पातञ्जल योगसूत्र के 'अविद्या' शब्द का समन्वय—

जिसप्रकार वैराग्य की प्रतिद्वन्द्विनी राग—द्वेषात्मिका आसक्ति है, ऐश्वर्य्य की प्रतिद्वन्द्विनी अस्मिता है, धर्म्म का प्रतिद्वन्द्वी अभिनिवेश है, एवमेव ज्ञान का प्रतिद्वन्द्वी 'मोह' माना गया है, जिसके लिए योगदर्शन में 'अविद्या' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से ज्ञान के प्रतिद्वन्द्वी को 'अविद्या' शब्द से व्यवहृत करना समीचीन माना जासकता है, तथापि विज्ञानदृष्ट्या इसे अविद्या न कह कर 'मोह' कहना ही अन्वर्थ बनता है। कारण स्पष्ट है। अज्ञानात्मिका चारों बुद्धियाँ जहाँ 'अविद्याबुद्धि' हैं, वहाँ ज्ञानात्मिका चारों बुद्धियाँ 'विद्याबुद्धि' हैं। विद्या का प्रतिद्वन्द्वी शब्द अविद्या ही हो सकता है। विद्यात्मक धर्म्म ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य्य, इन चार भावों में विभक्त होता हुआ चार पृथक् पृथक् नामों से व्यवहृत हुआ है। ऐसी दशा में चारों विद्याओं के सम्बन्ध में प्रतिद्वन्द्वी बना हुआ 'अविद्या' शब्द केवल ज्ञानविद्या के लिए प्रयुक्त नहीं होसकता। यदि 'समुदाये दृष्टा शब्दा—अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते' न्याय से चारों अविद्याबुद्धियों के लिए प्रयुक्त अविद्याशब्द अवयवभूता ज्ञानविद्या का प्रतिद्वन्द्वी मान कर लक्षणा से योगदर्शन में 'अविद्या' शब्द प्रयुक्त हुआ है तो इष्टापत्ति है। तब तो ज्ञानवत् धर्म्म—ऐश्वर्य्य—वैराग्य, इन तीनों के प्रतिद्वन्द्वियों के लिए भी 'अविद्या' शब्द का प्रयोग किया जासकता है। परन्तु देखते हैं—सूत्रकार ने इन तीनों के प्रतिद्वन्द्वियों के लिए अविद्या—

शब्द का प्रयोग न कर उनके वास्तविक-विपर्य-अभिनिवेश, अस्मिता, रागद्वेष, नामों का ही ग्रहण किया है। जब तीनों के लिए नियत नामों का उल्लेख हुआ है तो चौथे ज्ञान की प्रतिद्वन्द्विता के लिए भी 'मोह' शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए था और इस विज्ञानदृष्टि से 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च-क्लेशाः' का रूप 'मोहास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः' यही होना चाहिए था। सम्भव है सूत्रकार ने-'ज्ञान का उदय विद्या से होता है, अविद्या ज्ञान की शत्रु है'-इत्यादि लोकप्रसिद्ध इस व्यवहार (लोकव्यवहार) के आधार पर सामान्य जनों की सुविधा के लिए अविद्या शब्द का प्रयोग कर दिया हो। अस्तु, वक्तव्य यही है कि, सिद्धविद्यानुगत ज्ञानबुद्धियोग के स्वरूपपरिचय के लिए ज्ञान, और तत्प्रतिद्वन्द्वी मोह इन दो तत्त्वों का स्वरूपज्ञान अपेक्षित है। इसी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

१४-उभयज्योतिःप्रवर्तक अन्तर्ज्योतिर्लक्षण प्रत्यगात्मा—

'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।' इत्यादि गीतासिद्धान्तानुसार आत्मा अमृत-मृत्यु, इन दोनों भावों से युक्त है। अमृतभाव ज्ञान है, मृत्युभाव कर्म है। ज्ञान की विश्वातीतावस्था 'रस' है, कर्म की विश्वातीतावस्था 'बल' है। बलावस्था में परिणत कर्म मग्न रहता है। अतएव सर्वबलविशिष्ट परात्पर रसैकघन बनता हुआ विशुद्ध ज्ञानात्मा (रसात्मा) बन रहा है। इस कर्मात्मविशिष्ट विश्वातीत परात्पर को ही मायातीत माना गया है। मायातीत यही परात्पर अपने अपरिमित प्रदेश से महामाया' नामक सीमा-भावप्रवर्तक बलविशेष से सीमित होकर 'अव्ययपुरुष' नाम से व्यवहृत होने लगता है। इस अव्ययेश्वर में रसात्मक ज्ञानरूप बलात्मक कर्म का भी उद्रेक होजाता है। रस-बल की साम्यावस्थारूप यही अव्ययात्मा 'ज्ञानकर्मात्मा' कहलाता है। ज्ञानरूपेण यह ज्ञानात्मा है, कर्मरूपेण कर्मात्मा है। ज्ञानभाग लक्षण अमृत है, कर्मभाग मर्त्यलक्षण मृत्यु है। दोनों के साम्य से यह अव्ययपुरुष समत्वलक्षण बुद्धियोग से नित्य-मुक्त रहता हुआ नित्यमुक्त है। यही ज्ञानकर्मोभयमूर्ति अव्ययात्मा आध्यात्मिक-हृदयस्थित 'प्रत्यगात्मा' है, जिसे हमनें 'सर्वात्मा' नाम से व्यवहृत किया है, एवं जिसे कर्मयोगलक्षण 'वैराग्यबुद्धियोग' की आधारभूमि बतलाया गया है। ज्ञान और कर्म के समत्वलक्षण वैराग्य से यह प्रत्यगात्मा स्वस्वरूप से नित्य शान्त है योगस्थित है आपूर्यमाण समुद्रवत् अचलप्रतिष्ठ है। यह स्वाभाविकी नित्या शान्ति ही इसकी स्वरूपता है। नित्य साम्य इस ज्ञानकर्ममूर्ति प्रत्यगात्मा का ही नाम है-'अन्तर्ज्योति'। अन्तःप्रकाश ही आत्मप्रकाश है, आत्मप्रकाश ही आत्मज्योति है, यही अन्तर्ज्योति है।

इस अन्तर्ज्योतिर्लक्षण प्रत्यगात्मा के ज्ञानज्योति, भूतज्योति, भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। रसात्मिका ज्ञानज्योति ज्ञानज्योति है बलात्मिका कर्मज्योति भूतज्योति है। संकुचित तत्त्व का विकसितरूप ही उस तत्त्व का ज्योतिर्भाव है। यह आत्मा स्वयं ज्ञान, और कर्मरूप से ही विकसित हुआ है। अतएव उसके स्वतः विकसित ज्ञान और कर्मतत्त्व को अवश्य ही ज्योतिः शब्द से व्यवहृत किया जासकता है। उभय-ज्योतिर्मूर्ति यह प्रत्यगात्मा अपने ही ज्ञान-कर्म-विकास से ज्योतिष्मान् बना हुआ है, अतएव यह प्रत्यगात्म-ज्योति 'स्वज्योति' बना हुआ है। अमृतलक्षणा ज्ञानज्योति, मृत्युलक्षणा कर्मज्योति, इन दोनों ज्योतियों से ज्योतिष्मान् बना हुआ स्वज्योतिर्मय प्रत्यगात्मा ही 'अन्तर्ज्योति' है यही विज्ञानभाषा में 'पुरुषज्योति' नाम से व्यवहृत हुआ है।

(१३)—प्रार्थनाभिमता-संग्रोक्ता-बुद्धियोगात्मिका-योगत्रयी, तदाधारभूतान्यात्म-
मित्रानि च—

१—आनन्दविज्ञानगर्भमनोऽनुगता, अव्ययात्मलक्षणा, अव्ययात्मोपक्रमोपसंहारात्मिका अमृतप्रधाना-प्रथमा संस्था
—'ज्ञानबुद्धियोगभूमिः'—

२—मनोगर्भप्राणानुगता महानात्मलक्षणा, महानात्मोपक्रमोपसंहारात्मिका-अमृतप्रधाना-द्वितीया संस्था
—'ऐश्वर्यबुद्धियोगभूमिः'—

३—प्राणवाङ्मयगर्भमनोऽनुगता, विज्ञानात्मलक्षणा, विज्ञानात्मोपक्रमोपसंहारात्मिका-अमृतप्रधाना तृतीया संस्था
—'धर्मबुद्धियोगभूमिः'—

—•—

१—अव्ययात्मा, आनन्दविज्ञानमयः 'परात्मा' (अक्षरात्मा)-तदनुगतः-आत्मा-अव्ययात्मा
—ज्ञानबुद्धियोगाधारः—

२—अक्षरात्मा, मनोमयः 'प्राणात्मा', (अक्षरात्मा)-तदनुगतः-आत्मा-महानात्मा
—ऐश्वर्यबुद्धियोगाधारः—

३—क्षरात्मा प्राणवाङ्मयः 'भूतात्मा' (अक्षरात्मा)-तदनुगतः-आत्मा-विज्ञानात्मा
—धर्मबुद्धियोगाधारः—

—•—

*—सर्वात्मा आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाङ्मयः-सर्वात्ममयः, तदनुगतः-सर्वः प्रत्यगात्मा-
—वैराग्यबुद्धियोगाधारः—

स एष—गीताशास्त्रः

१३—पातञ्जल योगसूत्र के 'अविद्या' शब्द का समन्वय—

जिसप्रकार वैराग्य की प्रतिद्वन्द्विनी राग-द्वेषात्मिका आसक्ति है, ऐश्वर्य की प्रतिद्वन्द्विनी अस्मिता है धर्म का प्रतिद्वन्द्वी अभिनिवेश है एवमेव ज्ञान का प्रतिद्वन्द्वी 'मोह' माना गया है जिसके लिए योगदर्शन में 'अविद्या' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से ज्ञान के प्रतिद्वन्द्वी को 'अविद्या' शब्द से व्यवहृत करना समीचीन माना जासकता है तथापि विवादग्रस्त इसे अविद्या न कह कर 'मोह' कहना ही समर्थ बनता है। कारण स्पष्ट है। ये रागात्मिका चारों बुद्धियाँ जहाँ 'अविद्याबुद्धि' हैं वहाँ भगात्मिका चारों बुद्धियाँ 'विद्याबुद्धि' हैं। विद्या का प्रतिद्वन्द्वी शब्द अविद्या ही हो सकता है। विद्यात्मक धर्म ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य, इन चार भागों में विभक्त होता हुआ चार पृथक् पृथक् नामों से व्यवहृत हुआ है। ऐसी दशा में चारों विद्याओं के सम्बन्ध में प्रतिद्वन्द्वी बना हुआ 'अविद्या' शब्द केवल ज्ञानविद्या के लिए प्रयुक्त नहीं होसकता। यदि 'समुदाय शब्दाः शब्दाः-अवयवेष्वपि वर्तन्ते' न्याय से चारों अविद्याबुद्धियों के लिए प्रयुक्त अविद्याशब्द अवयवभूत ज्ञानविद्या का प्रतिद्वन्द्वी मान कर न्याय से योगदर्शन में 'अविद्या' शब्द प्रयुक्त हुआ है तो इष्टापत्ति है। तब तो ज्ञानवत् धर्म-ऐश्वर्य-वैराग्य, इन तीनों के प्रतिद्वन्द्वियों के लिए भी 'अविद्या' शब्द का प्रयोग किया जासकता है। परन्तु देखते हैं-सूत्रकार ने इन तीनों के प्रतिद्वन्द्वियों के लिए अविद्या-

शब्द का प्रयोग न कर उनके वास्तविक—निरूढ—अभिनिवेश, अस्मिता, रागद्वेष, नामों का ही ग्रहण किया है। इन तीनों के लिए निरूढ नामों का उपयोग हुआ है तो चौथे ज्ञान की प्रतिद्वन्द्विता के लिए भी 'मोह' शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए था और इस विज्ञानदृष्टि से 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च—क्लेशाः' का रूप 'मोहास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः' यही होना चाहिए था। सम्भव है सूत्रकार ने—'ज्ञान का उदय विद्या से होता है अविद्या ज्ञान की शत्रु है'—इस लोकव्यवहार (लोकव्यवहार) के आधार पर सामान्य जनों की सुविधा के लिए अविद्या शब्द का प्रयोग कर दिया हो। अस्तु, वक्तव्य यही है कि, त्रिविद्यानुगत ज्ञानबुद्धियोग के स्वरूपपरिचय के लिए ज्ञान, और तत्प्रतिद्वन्द्वी मोह, इन दो तत्त्वों का स्वरूपज्ञान अपेक्षित है। इसी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

१४—उभयज्योतिःप्रवर्त्तक अन्तर्ज्योतिर्लक्षण प्रत्यगात्मा—

"अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।" इत्यादि गीतासिद्धान्तानुसार आत्मा अमृत—मृत्यु इन दोनों भावों से युक्त है। अमृतभाव ज्ञान है, मृत्युभाव कर्म है। ज्ञान की विश्वातीतावस्था 'रस' है, कर्म की विश्वातीतावस्था 'बल' है। बलावस्था में परिणत कर्म सुप्त रहता है। अतएव सर्वबलविशिष्ट परात्पर रसैकघन बनता हुआ विशुद्ध ज्ञानात्मा (रसात्मा) बन रहा है। इस कर्मात्यन्तविरहित विश्वातीत परात्पर को ही योगातीत माना गया है। योगातीत यही परात्पर अपने यत्किञ्चित् प्रदेश से 'महामाया' नामक सीमा—भावप्रवर्त्तक बलविशेष से सीमित होकर 'अव्ययपुरुष' नाम से व्यवहृत होने लगता है। इस अव्ययेश्वर में रसात्मक ज्ञानवत् बलात्मक कर्म का भी उद्रेक होजाता है। रस—बल की साम्यावस्थारूप यही अव्ययात्मा 'ज्ञानकर्मात्मा' कहलाता है। ज्ञानरूपेण यह ज्ञानात्मा है, कर्मरूपेण कर्मात्मा है। ज्ञानभाव लक्षण अमृत है, कर्मभाव लक्षण मृत्यु है। दोनों के साम्य से यह अव्ययपुरुष समत्वलक्षण बुद्धियोग से नित्य—युक्त रहता हुआ नित्यमुक्त है। यही ज्ञानकर्मोभयमूर्ति अव्ययात्मा आध्यात्मिक—हृदयस्थित 'प्रत्यगात्मा' है जिसे हमनें 'सर्वात्मा' नाम से व्यवहृत किया है एवं जिसे सर्वयोगलक्षण 'वैराग्यबुद्धियोग' की आधारभूमि बतलाया गया है। ज्ञान और कर्म के समत्वलक्षण वैराग्य से यह प्रत्यगात्मा स्वस्वरूप से नित्य शान्त है, योगरहित है आपूर्य्यमाण समुद्रवत् अचलप्रतिष्ठ है। यह स्वाभाविकी नित्या शान्ति ही इसकी स्वस्थता है। नित्य स्वस्थ इस ज्ञानकर्ममूर्ति प्रत्यगात्मा का ही नाम है—'अन्तर्ज्योति'। अन्तःप्रकाश ही आत्मप्रकाश है, आत्मप्रकाश ही आत्मज्योति है यही अन्तर्ज्योति है।

इस अन्तर्ज्योतिर्लक्षण आत्मप्रकाश के ज्ञानज्योति, भूतज्योति भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। रसात्मिका ज्ञानज्योति ज्ञानज्योति है बलात्मिका कर्मज्योति भूतज्योति है। संकुचित तत्त्व का विकसितरूप ही उस तत्त्व का ज्योतिर्भाव है। यह आत्मात्मक ज्ञान और कर्मरूप से ही विकसित हुआ है। अतएव उसके स्वत विकसित ज्ञान, और कर्मतत्त्व को अवश्य ही ज्योतिः शब्द से व्यवहृत किया जासकता है। उभय—ज्योतिर्मूर्ति यह प्रत्यगात्मा अपने ही ज्ञान—कर्म—विकास से ज्योतिष्मान् बना हुआ है, अतएव यह प्रत्यगात्म—ज्योति 'स्वज्योति' बना हुआ है। अमृतलक्षणा ज्ञानज्योति, मृत्युलक्षणा कर्मज्योति, इन दोनों स्वज्योतियों से ज्योतिष्मान् बना हुआ स्वज्योतिर्मय प्रत्यगात्मा ही 'अन्तर्ज्योति' है यही विज्ञानभाषा में 'पुरुषज्योति' नाम से व्यवहृत हुआ है।

१५—विश्वनिबन्धन पुरुषज्योति–प्रकृतिज्योतिः–विमर्श—

वैज्ञानिकों ने कहा है—पुरुषज्योति पाँच ज्योतियों के द्वारा विश्वानुगता बनी रहती है। प्रश्न होता है कि, पुरुषज्योतिर्लक्षणा अन्तर्ज्योति (अव्ययज्योति) को विश्वानुगता बना देने वाली उन पाँच ज्योतियों का क्या स्वरूप है ?। इस प्रश्न का समाधान हुआ है– बहिर्ज्योति के द्वारा। 'प्रकृतिं–पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' सिद्धान्तानुसार पुरुषतत्त्व प्रकृतितत्त्व से नित्य युक्त है। प्राण, आप, वाक् अन्नम् अन्नादः, भेद से प्रकृतितत्त्व (परिग्रहप्रकृति) पञ्चधा विभक्त माना गया है। पञ्चभौतिकलक्षणा यह प्रकृतितत्त्व ही मूलात्मक पञ्चपर्वा विश्व का उपादान माना गया है। क्योंकि पञ्चज्योतिर्लक्षणा यही परिग्रहप्रकृति पञ्चभूतात्मक विश्वविकास का कारण (उपादान) बनती है, अतएव इस प्रकृतिज्योति को अवश्य ही 'बहिर्ज्योति' नाम से व्यवहृत किया जासकता है। जिस प्रकार अन्तर्ज्योतिर्लक्षणा पुरुषज्योति ज्ञान–कर्म के भेद से ज्ञानज्योति भूतज्योति इन दो भागों में विभक्त रहती है, एवमेव बहिर्ज्योतिर्लक्षणा प्रकृतिज्योति भी ज्ञान–कर्म के भेद से दो ही भागों में विभक्त मानी गई है। दोनों में अन्तर केवल यही है कि अन्तर्ज्योति के दोनों पर्व जहाँ साम्यावस्था में परिणत रहते हैं, वहाँ बहिर्ज्योति के दोनों पर्व विषमावस्था में परिणत रहते हैं। अन्तर्ज्योति के ज्ञान–कर्म साम्यावस्था के कारण जहाँ विज्ञानघन ज्ञानज्योतिप्रधान है, वहाँ बहिर्ज्योति के ज्ञान–कर्म विषमावस्था के कारण अपूर्णतासम्बन्ध से भूतज्योतिःप्रधान है। अतएव उभयात्मिका भी पुरुषज्योति विज्ञान–भाषा में केवल 'ज्ञानज्योति' नाम से, एवं उभयात्मिका भी प्रकृतिज्योति केवल भूतज्योति नाम से व्यवहृत कर दी गई है। उभयात्मिका पुरुषज्योति के ज्ञानज्योति अन्तर्ज्योति आत्मज्योतिः, ज्योतिषांज्योतिः इत्यादि अनेक पर्यायनाम हैं। उभयात्मिका प्रकृतिज्योति के भूतज्योति बहिर्ज्योति विश्वज्योति, ज्योति इत्यादि अनेक पर्यायनाम हैं। पुरुषज्योति आत्मा है, प्रकृतिज्योति इस आत्मा का शरीर है। जिस प्रकार आत्मा शरीर से नित्य युक्त है, एवमेव यह पुरुषज्योति प्रकृतिज्योति से नित्य युक्त है। पञ्चपर्वात्मक प्राकृतिक विश्व ही प्रकृतिज्योति है, पञ्चपर्वात्मक विश्वात्मा ही पुरुषज्योति है। विश्वात्मा विश्व का आधार है, बहिर्ज्योति अन्तर्ज्योति के बहिर्विकास का आधार है

१६—पुरुष, एवं प्रकृति–ज्योतियों के पाँच पाँच अवान्तर विवर्त—

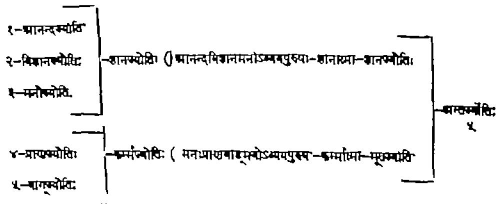
प्राणज्योति आपोज्योति वाग्ज्योति अन्नादज्योति अन्नज्योति ये ही पाँच प्रकृतिज्योतियाँ हैं जिनकी समष्टि का नाम 'विश्वज्योति' है। प्राणज्योति से प्रजापति स्वयम्भू का, आपोज्योति से महान् परमेष्ठी का, वाग्ज्योति से विज्ञानसूर्य का, अन्नादज्योति से पृथिवी का, एवं अन्नज्योति से चन्द्रमा का निर्माण हुआ है। प्राणात्मक स्वयम्भू, आपोमय परमेष्ठी, अमृतवाङ्मय अमृतसूर्य इन तीन बहिर्ज्योतियों की समष्टि ज्ञान–लक्षणा बहिर्ज्योति है। मर्त्यवाङ्मय मर्त्य सूर्य, अन्नमय चन्द्रमा, अन्नादमयी पृथिवी, इन बहिर्ज्योतियों की समष्टि कर्मलक्षणा बहिर्ज्योति है। इसप्रकार पञ्चज्योतिर्लक्षणा इस प्रकृतिज्योति में भी पुरुषज्योतिर्वत् ज्ञान कर्म दोनों ज्योतियों का उपभोग हो रहा है। प्रकृतिज्योति का ज्ञानज्योतिर्भाग पुरुषज्योति के ज्ञानज्योतिर्भाग से, एवं प्रकृतिज्योति का कर्मज्योतिर्भाग पुरुषज्योति के कर्मज्योतिर्भाग से अनुप्राणित रहता है। साथ ही पुरुषज्योति के ज्ञान–कर्ममय ज्योतिर्भाग प्रकृतिज्योति के ज्ञानकर्ममय ज्योतिर्भाग से विश्वानुगत बने रहते हैं। आनन्दज्योति, विज्ञानज्योति, मनोज्योति, प्राणज्योति वाग्ज्योति ये ही पाँच पुरुषज्योतियाँ हैं, जिनकी समष्टि का

नाम ही 'आत्मज्योति' है। आनन्दज्योति से अव्यक्त स्वयम्भूलक्षणा प्राणज्योति, विज्ञानज्योति से परमेष्ठी-लक्षणा अपज्योति, मनोज्योति से वाग्लक्षणा सूर्य्यज्योति, प्राणज्योति से अन्नलक्षणा चन्द्रज्योति, एवं वाग्ज्योति से अन्नादलक्षणा पृथिवीज्योति अनुप्राणित है। इन पाँचों भतज्योतियों से (प्रकृतिज्योतियों से) पाँचों ज्ञानज्योतियाँ (पुरुषज्योतियाँ) विश्वानुगत बनी हुई हैं। ज्योति वस्तुतः ज्ञानात्मक रस का ही नाम है। वही ज्ञानरस बलग्रन्थितारतम्य से, किंवा बलग्रन्थि के उत्तरोत्तर घनीभूत होने से पाँच रूपों में परिणत हो जाता है। बलग्रन्थितारतम्यानुगता ज्ञानज्योति के बलप्रधान रूप ही 'कर्म्म' कहलाए हैं। ज्ञान का बलानुगत रूप ही कर्म्म है। अतएव कर्म्म को भी 'ज्योति' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बन जाता है। निष्कर्ष यही हुआ कि पञ्चधा विभक्त पुरुषज्योति ही अन्तर्ज्योति है यह ज्ञान-कर्म भेद से द्विधा विभक्त है एवं यह साम्यावस्थापन्ना है। पञ्चधा विभक्त प्रकृतिज्योति ही बहिर्ज्योति है यह भी ज्ञानकर्म्म भेद से द्विधा विभक्त है, एवं यह विषमावस्थापन्ना है। पञ्चज्योतिर्लक्षणा आत्मा, पञ्चज्योतिर्लक्षणा प्रकृति, दोनों की समष्टि 'पुरुष' है। एवं-'पञ्चज्योतिरयं पुरुषः' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पुरुषसंस्था में मुक्त आत्मज्योति भी पञ्चधा विभक्त है, प्रकृतिज्योति भी पञ्चधा विभक्त है। निम्न लिखित परिलेखों से इस प्रतिपादित ज्योति-विवर्त्त का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो रहा है।

१-आत्मज्योति (ज्ञानज्योतिः-अन्तर्ज्योतिः-पुरुषज्योतिः)
२-विश्वज्योति (भूतज्योतिः-बहिर्ज्योतिः-प्रकृतिज्योतिः)



१—आत्मज्योति

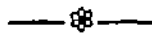




२–विश्वज्योतिः

१–प्राणज्योतिः २ अप्ज्योतिः ३–वाग्ज्योतिः	–ज्ञानज्योतिः (प्राण–अप्–वाङ्मयी–प्रकृतिः)–ज्ञानप्रकृतिः –ज्ञानज्योतिः	–बहिर्ज्योतिः ५	
४–अन्नज्योतिः ५–अन्नादज्योतिः	–कर्मज्योतिः (वाक्–अन्न–अन्नादमयी–प्रकृतिः)–कर्मप्रकृतिः–भूतज्योतिः		





पुरुषात्मा	–प्राकृतात्मा	–अधिभूतम्	अध्यात्मम्				–पञ्चज्योतिरयं पुरुषः पुरुषत्वेन प्रकृत्या च समन्वयात् पञ्चज्योतिः
१–आनन्दगर्भितः	–प्राणलक्षणः	–स्वयम्भूः	शान्तात्मा	पुरुषज्योतिर्गर्भितं	प्रकृतिज्योतिः	ज्ञानज्योतिः	
२–विज्ञानगर्भितः	–आपोलक्षणः	–परमेष्ठी	महानात्मा				
३–मनोगर्भितः	–वाग्लक्षणः	–अमृतसूर्यः	विज्ञानबुद्धिः				
३–मनोगर्भितः	–वाग्लक्षणः	–मर्त्यसूर्यः	प्रज्ञानबुद्धिः				
४–प्राणगर्भितः	–अन्नलक्षणः	–चन्द्रमाः	मनः	पुरुषज्योतिर्गर्भितं	प्रकृतिज्योतिः	भूतज्योतिः	
५–वाग्गर्भितः	–अन्नादलक्षणः	–भूपिण्डः	शरीरम्				
आत्मज्योतिः	–विश्वज्योतिः						
पुरुषज्योतिः	–प्रकृतिज्योतिः						

१७—अ घननिवर्त्तक-प्रवर्त्तक-पुरुष-प्रकृति-ज्योतिर्विवर्त—

'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इत्यादि श्रुति के अनुसार आत्मज्योतिर्लक्षणा पुरुषज्योति ही विश्वज्योतिर्लक्षणा प्रकृतिज्योति की आधारभूमि है। अव्ययात्मलक्षणा आत्मज्योति ही तो शान्तात्मादि लक्षणा प्रकृतिज्योति-पञ्चक में परम्परया अवतीर्ण हुई है। स्वस्थान में यही आत्मज्योति है, विश्वस्थान में यही भूतज्योति है। आत्मज्योति निरुपाधिक है, भूतज्योति सोपाधिक है। निरुपाधिक आत्मज्योति त्रिगुणभाव से बहिर्भूत है सोपाधिक भूतज्योति त्रिगुणभावाक्रान्त है। गुणातीता आत्मज्योति अपने ही गुणात्मक भूतज्योतिर्लक्षण आवरण से उसी प्रकार आवृत हो जाती है, जैसे ऊर्णनाभि (मकड़ी) स्वोत्पन्न जाल से, पुरुष स्वोत्पन्न केशलोमों से लौह स्वोत्पन्न किट्ट (जंग) से, तथा दुग्ध स्वोत्पन्न 'सार' (सर-मलाई) से आवृत हो जाता है। अधिदैवतसंस्था में ज्ञान-कर्म-समष्ट्यात्मक षोडशीपुरुष (ईश्वर) है। पूर्वकथनानुसार अधिदैवत संस्था पुरुषप्रधाना है। पुरुष के ज्ञान-कर्मभाग साम्यावस्थापन्न हैं। इस साम्यभाव के कारण, गीता के शब्दों में समत्वलक्षण बुद्धियोगप्रभाव से प्रकृत्यनुगत भूतज्योति का आवरण उसे आवृत करने में असमर्थ रह जाता है। अतएव यहाँ स्वज्योतिर्घन आत्मा सदा स्वस्वरूप से विकसित रहता है। परन्तु अध्यात्मसंस्था का प्रमव मुख्यरूप से 'प्रकृतितत्त्व' बनता है। प्राणी-सृष्टि भूतप्रधाना है। भूतवर्ग का उपक्रम भी प्रकृति है, उपसंहार भी प्रकृति है, जैसाकि-'अव्यक्तादीनि भूतानि, अव्यक्तनिधनान्येव' इत्यादि गीतावचन से प्रमाणित है। अध्यक्ष (साक्षी) अव्ययपुरुष रहता है, परन्तु सर्जन (उत्पत्ति) प्रकृति के द्वारा ही होता है-'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम्'। प्रकृति जीवसर्ग का मूलप्रभव है। प्रकृति गुणात्मिका बनती हुई सत्त्व-रज-स्तमोमयी है। अतएव प्रकृतिभाव से सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान भी त्रिगुणभाव में परिणत हो जाता है, एवं कर्म भी त्रिगुणात्मक बन जाता है। बतलाया गया है कि अन्तर्ज्योतिर्लक्षण आत्मा का आनन्दविज्ञानमनोमय भाग ज्ञानज्योति है, मन-प्राणवाङ्मय भाग कर्मज्योति है, यही भूतज्योति है। इसप्रकार केवल आत्मज्योतिर्लक्षण अन्तर्ज्योति (ज्ञानज्योति) में ही ज्ञानात्मा, कर्मात्मा, के सम्बन्ध से ज्ञान-भूत, दोनों ज्योतियों का उपभोग सिद्ध हो रहा है। यह भूतज्योति आत्मा का स्वरूपधर्म है अतएव यह बन्धननिवर्त्तिका बनती हुई आत्मस्वरूप में ही अन्तर्भूत है। अतएव आत्मानुगत ज्ञान, भूत, दोनों ज्योतियों को केवल 'ज्ञानज्योति' नाम से ही व्यवहृत कर दिया जाता है। एवमेव बहिर्ज्योतिर्लक्षण विश्व का शान्तात्मा-महानात्मा-विज्ञानबुद्धिमय भाग ज्ञानज्योति है अविद्याबुद्धि-मन-शरीरमय भाग कर्मज्योति है, यही भूतज्योति है। इसप्रकार केवल विश्वज्योतिर्लक्षण बहिर्ज्योति (भूतज्योति) में भी ज्ञानात्मा, कर्मात्मा के सम्बन्ध से ज्ञान भूत, दोनों ज्योतियों का उपभोग सिद्ध हो रहा है। यह उभयविध भूतज्योति आत्मा का परधर्म है अतएव यह बन्धननिवर्त्तिका बनती हुई आत्मस्वरूप से पृथक् मानी गई है। अतएव विश्वानुगत ज्ञान, भूत, दोनों ज्योतियों को केवल 'भूतज्योति' नाम से ही व्यवहृत किया गया है।

(१) आत्मज्योतिः, पुरुषज्योतिः, अन्तर्ज्योतिः, ज्ञानज्योतिः, स्वज्योतिः—

१–आनन्दविज्ञानमनोमयोऽव्यय —ज्ञानात्मको विद्यात्मा—ज्ञानज्योतिः
२–मनःप्राणवाङ्मयोऽव्ययः——कर्मात्मको भूतात्मा—भूतज्योतिः
} ज्ञानज्योतिः १

(२)–विश्वज्योतिः, प्रकृतिज्योतिः, बहिर्ज्योतिः, भूतज्योतिः, परज्योतिः—

१–शान्तात्म–महानात्म–विद्याबुद्ध्यात्ममयः—ज्ञानात्मको विद्यात्मा—ज्ञानज्योतिः
२–अविद्याबुद्ध्यात्म–प्रज्ञानात्म–शरीरात्ममय –कर्मात्मको भूतात्मा—भूतज्योतिः
} भूतज्योतिः २

१८–शुद्धसत्त्वानुगता सिद्धविद्या—

कहा गया है कि –'अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः' के अनुसार ज्ञानकर्मव्याप्तिमर्य प्रत्यगात्मलक्षण अव्ययपुरुष गुणातीत बनता हुआ निर्गुण है। इस निर्गुणभाव के कारण ही विद्याबुद्धि-बुद्धि से सम्बद्ध गीतानुगता बुद्धियोगचतुष्टयी निर्गुणभावप्रवर्तिका बनती हुई अव्ययात्मना सिद्ध हो रही है। अव्ययात्मानुगत अन्तर्ज्ञान तथा अन्तःकर्म विशुद्धसात्त्विक ज्ञान, एवं विशुद्ध निष्कामकर्म है। यह ज्ञान और कर्म दोनों स्वस्वरूप से एकत्वानुगत अमृतभाव से सम्बद्ध हैं। नानात्वरूप मृत्युभाव का प्रवेश यहाँ सर्वथा असम्भव है। गुणातीत यही आत्मज्ञान विशुद्ध सात्त्विक ज्ञान कहलाया है, आत्मकर्म विशुद्ध सात्त्विक कर्म कहलाया है। एवंविध सात्त्विक ज्ञानाधार पर प्रतिष्ठित सात्त्विक निष्कामकर्म ही ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या की मूलप्रतिष्ठा बनता है जिसके स्वस्वनिरीक्षण के लिए ही ज्योतिर्विवर्तों का प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण हुआ है।

१९–गुणानुगत–ज्ञानकर्मद्वन्द्व के विविध विवर्त—

अब दो शब्दों में गुणानुगत ज्ञानकर्मभावों का भी स्वरूपपरिचय प्राप्त कर लीजिए। प्रकृतिज्योति की सीमा में युक्त ज्ञानात्मा कर्मात्मा दोनों विवर्त गुणत्रयी के सम्बन्ध से तीन तीन भावों में विभक्त हो रहे हैं। यह विश्व ही इस विश्वज्योति का प्रभुभाव है। शान्तात्मानुगत ज्ञान मलिनसत्त्वगुणात्मक ज्ञान है तदनुगत अविद्याबुद्धि–लक्षण कर्म मलिनसत्त्वगुणात्मक कर्म है। यह पहिला ज्ञानकर्मद्वन्द्व ही गीता-नाभिमत 'ज्ञानयोग' की प्रतिष्ठा है। यही प्रत्यगात्मानुगत निर्गुणलक्षण ज्ञानकर्म से युक्त होकर गीताभिमत 'ज्ञानबुद्धियोग' में परिणत हो जाता है। महानात्मानुगत ज्ञान रजोगुणात्मक ज्ञान है तदनुगत प्रज्ञानमन-लक्षण कर्म रजोगुणात्मक कर्म है। यह दूसरा ज्ञानकर्मद्वन्द्व ही गीताभिमत भक्तियोग की प्रतिष्ठा है। यही प्रत्यगात्मसम्पत्ति से युक्त होकर गीताभिमत 'विश्वकर्मबुद्धियोग' में परिणत हो जाता है। अविद्या-बुद्ध्यनुगत–ज्ञान तमोगुणात्मक ज्ञान है तदनुगत शरीरात्मलक्षण कर्म तमोगुणात्मक कर्म है। यह तीसरा ज्ञानकर्मद्वन्द्व ही गीताभिमत कर्मयोग की प्रतिष्ठा है। यही प्रत्यगात्मसम्पत्ति से युक्त होकर

में सम्मिलित 'कर्मसंबुद्धियोग' स्वरूप में परिणत हो जाता है। तात्पर्य्य यह निकला कि, शास्त्रसम्पत्तियों में से शान्तात्मा महानात्मा अमृतविज्ञानात्मा, ये तीन तो ज्ञानात्मा हैं एवं मर्त्यविज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मा शरीरात्मा, तीन कर्म्मात्मा हैं। शान्तात्मानुगत ज्ञान एवं मर्त्यप्रज्ञानात्मक कर्म्म सात्त्विक ज्ञानकर्म्म द्वन्द्व है। महानात्मानुगत ज्ञान एवं प्रज्ञानात्मक कर्म्म राजस ज्ञानकर्म्म द्वन्द्व है। अमृतविज्ञानात्मक ज्ञान एवं शरीरात्मक कर्म्म तामस ज्ञान कर्म्मद्वन्द्व है। शान्तात्मक ज्ञान सत्त्वानुगत 'ज्ञान' है महानात्मक ज्ञान रजोऽनुगत 'विज्ञान' है * विद्यावुद्धयात्मक ज्ञान तमोऽनुगत 'अज्ञान' है। इसप्रकार शान्तात्म-महानात्म-विद्याबुद्धयात्मक प्राकृत ज्ञान सत्त्व-रज-स्तमोभेद से ज्ञान-विज्ञान-अज्ञान, इन तीन भावों में परिणत हो रहा है। यही गुणात्मिका ज्ञानत्रयी का दिग्दर्शन है। अविद्याबुद्धयनुगत कर्म्म सत्त्वानुगत 'कर्म्म' है प्रज्ञानात्मक कर्म्म रजोऽनुगत 'विकर्म्म' है। एवं शरीरात्मात्मक कर्म्म तमोऽनुगत 'अकर्म्म' है। इसप्रकार अविद्याबुद्धयात्म-प्रज्ञानात्म-शरीरात्मात्मक प्राकृत कर्म्म सत्त्व-रज-स्तमोभेद से कर्म्म-विकर्म्म-अकर्म्म इन तीन भावों में परिणत हो रहा है। ज्ञान और कर्म्म यह प्राकृतिक द्वन्द्व अनुकूलवेदनात्मक सुख की प्राप्ति का कारण माना गया है, जो तत्त्वतः दुःख ही है। विज्ञान विकर्म्म और अज्ञान-अकर्म्म, दोनों द्वन्द्व प्रतिकूलवेदनात्मक दुःख की प्राप्ति के कारण माने गए हैं। सुख-साधक दो हैं दुःखप्रवर्तक चार हैं। अतएव अन्तर्ज्योतिर्लक्षण सत्यात्मा के अनुग्रह से वञ्चित बहिर्ज्योतिर्लक्षण प्राकृतात्मा के निविडपाश में बद्ध जीवात्मा प्रकृत्या अविद्या में दुःखी ही बने रहते हैं। तन्निवारणार्थ ही सत्यात्मानुगत-बुद्धियोगशास्त्र (गीता) प्रवृत्त हुआ है।

१	१–शान्तात्मा	(ज्ञानात्मा)–सत्त्वानुगतं ज्ञानम्—ज्ञानम्	—त्रैधा ज्ञानत्रयी (ज्ञानज्योतिः) (महदनुगतम्)	उपास्यज्योतिर्लक्षणा–प्रकृत्या	प्रकृति
	२–महानात्मा	(ज्ञानात्मा)–रजोऽनुगतं ज्ञानम्—विज्ञानम्			
	३–विद्याबुद्धयात्मा	(ज्ञानात्मा)–तमोऽनुगतं ज्ञानम्—अज्ञानम्			
२	१–अविद्याबुद्धयात्मा	(कर्म्मात्मा)–सत्त्वानुगतं कर्म्म—कर्म्म	—त्रैधा कर्म्मत्रयी (भूतज्योतिः) (महदनुगतम्)		
	२–प्रज्ञानात्मा	(कर्म्मात्मा)–रजोऽनुगतं कर्म्म—विकर्म्म			
	३–शरीरात्मा	(कर्म्मात्मा)–तमोऽनुगतं कर्म्म—अकर्म्म			

* यहाँ विद्या से त्रयीविद्या अभिप्रेत है जो सूर्य्यमूला है त्रिगुणभावात्मिका अविद्यात्मिका विद्या है, जिसके सम्बन्ध में–'त्रैगुण्यविषया वेदा' कहा गया है। एवं जो वेदोक्त काम्यकर्म्म की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है।

१	१–शान्तात्मानुगतं——ज्ञानलक्षणं–'ज्ञानम्' २–अविद्याबुद्ध्यनुगतं–कर्मलक्षणं–'कर्म'	—ज्ञानकर्मात्मा——प्राचीनाभिमतज्ञानयोगाधारः
२	१–महानात्मानुगतं–विज्ञानलक्षणं–'ज्ञानम्' २–प्रज्ञानात्मानुगतं–विकर्मलक्षणं–'कर्म'	—विज्ञानविकर्मात्मा–प्रा भक्तियोगाधारः
३	१–विद्याबुद्ध्यनुगतं–अज्ञानलक्षणं–'ज्ञानम्' २–शरीरानुगतं——अकर्मलक्षणं–'कर्म'	—अज्ञानाकर्मात्मा—प्रा कर्मयोगाधारः

२०–प्राकृतात्मत्रयी, एवं तदनुगता प्राचीनाभिमता योगत्रयी—

अज्ञानात्मक कर्मात्मा कर्मशक्ति का प्रवर्तक बनता हुआ ही आत्म कर्मयोग की प्रतिष्ठा करता है। यहाँ ज्ञान अविद्या रूप से कर्मशक्ति के द्वारा अभिभूत रहता है। अतएव अज्ञानात्मक ज्ञान अकर्मात्मक कर्म —इन दोनों के रहते भी यह योग केवल 'कर्मयोग' ही कहलाता है। विज्ञानात्मक विकर्मात्मा भक्तिशक्ति का प्रवर्तक बनता हुआ ही आत्म भक्तियोग की प्रतिष्ठा करता है। विज्ञानविकर्मात्मक यह ज्ञानकर्मात्मत्रयी के मध्य में प्रतिष्ठित रहता हुआ ज्ञानकर्मात्मा के ज्ञान भाग से महदात्मक कर्मात्मा के कर्मभाग से दोनों से युक्त बना हुआ है। भाग-भक्ति-बना हुआ है। अतएव उभयात्मक यह योग 'भक्तियोग' कहलाता है जिसका अर्थ है ज्ञानरूप आधिदैविकतत्त्व कर्मरूप आधिभौतिकतत्त्व इन दोनों का समन्वित रूप। ज्ञानात्मक कर्मात्मा ज्ञानशक्ति का प्रवर्तक बनता हुआ ही कर्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग की प्रतिष्ठा करता है। यहाँ कर्म अविद्यारूप से ज्ञानशक्ति के द्वारा अभिभूत रहता है। अतएव ज्ञानात्मक ज्ञान कर्मात्मक कर्म इन दोनों के रहते भी यह योग केवल 'ज्ञानयोग' ही कहलाता है। ज्ञान आधिदैविक तत्त्व माना गया है, कर्म आधिभौतिक तत्त्व माना गया है। ज्ञानात्मक कर्मात्मा ज्ञानप्राधान्य से आधिदैविक है, अतएव तदनुगत प्राचीनाभिमत ज्ञानयोग में साध्य-साधन दोनों आधिदैविक माने गए हैं। विज्ञानात्मक विकर्मात्मा उभयात्मक है। अतएव तदनुगत प्राचीनाभिमत भक्तियोग में साध्य आधिदैविक माना गया है, साधन आधिभौतिक माना गया है। अज्ञानात्मक अकर्मात्मा कर्मप्राधान्य से आधिभौतिक है। अतएव तदनुगत प्राचीनाभिमत कर्मयोग में साध्य, साधन दोनों आधिभौतिक माने गए हैं, जैसाकि कर्म-ज्ञान-भक्ति-योगपरीक्षाप्रकरणों में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है।

१	ज्ञानात्मकं ज्ञानम्—आधिदैविकम्—साध्यम् ज्ञानात्मकं कर्म्म—आधिदैविकम्—साधनम्	—ज्ञानकर्म्मात्मानुगतो ज्ञानयोग–आधिदैविकः
२	विज्ञानात्मकं ज्ञानम्—आधिदैविकम्—साध्यम् विकर्म्मात्मकं कर्म्म—आधिभौतिकम्—साधनम्	—विज्ञानविकर्म्मात्मको भक्तियोग–दैविकभौतिकः
३	कर्म्मात्मकं ज्ञानम्—आधिभौतिकम्—साध्यम् कर्म्मात्मकं कर्म्म—आधिभौतिकम्—साधनम्	—अज्ञानाकर्म्मात्मकः कर्मयोग–आधिभौतिकः

२१–निरूपिता योगत्रयी की प्रासङ्गिकी विषम समस्या—

समस्या का अभी पूरा पूरा स्पष्टीकरण इसलिए नहीं हुआ है कि लोकव्यवहार के अनुसार 'अकर्म्म' का अर्थ निरर्थक कर्म्म माना गया है, विकर्म्म का अर्थ शास्त्रविरुद्ध कर्म्म माना गया है, तथा कर्म्म का अर्थ शास्त्रसिद्ध कर्म्म माना गया है। एवमेव अज्ञान का अर्थ मोह, विज्ञान का अर्थ विरुद्धज्ञान एवं ज्ञान का अर्थ शास्त्रज्ञान माना गया है। उधर *प्राचीनाभिमता योगत्रयी ज्ञान–कर्म्म–अकर्म्मादिसम्भृता भले ही* हो, परन्तु है यह शास्त्रसिद्धा। वेदशास्त्र के कर्म्मप्रधान ब्राह्मणभाग के आधार पर वेदोक्त काम्य कर्म्म योग प्रतिष्ठित है। आरण्यक भाग के आधार पर काम्य भक्तियोग प्रतिष्ठित है। एवं उपनिषद्भाग के आधार पर ज्ञानयोग प्रतिष्ठित है। और तीनों योग क्रमशः शास्त्रसिद्ध गृहस्थ वानप्रस्थ संन्यस्त, तीनों आश्रमों से अनुगत हैं। अकर्म्म तो उसे कहना चाहिए, जिसका कोई फल न हो। विकर्म्म तो उसे माना जाना चाहिए, जिसमें शास्त्रविधि की उपेक्षा हो। अज्ञान तो उसे कहना चाहिए, जहाँ बुद्धि कुण्ठित होजाती हो, विज्ञान तो उसे मानना चाहिए, जिसमें शास्त्रज्ञान की उपेक्षा हो। देखते हैं–वेदोक्त कर्म्म–भक्ति–ज्ञान तीनों ही योग शास्त्रसिद्ध *ज्ञान–कर्म्मात्मक बने हुए हैं। फिर योगत्रयी के सम्बन्ध में अज्ञान–अकर्म्मादि* को किस आधार पर मूलप्रतिष्ठा मान लिया गया ?, यह एक समस्या उपस्थित होजाती है जिसके निराकरण के लिए उक्त द्वन्द्वत्रयी के त्रिवृद्भाव का स्पष्टीकरण आवश्यक बन रहा है।

२२–आत्मानुगता ज्ञानकर्म्मत्रयी के सहजसिद्ध त्रिवृद्भाव—

मनस्तत्त्व ज्ञानमय है प्राणतत्त्व क्रियामय है वाक्तत्त्व अर्थमय है। मनोमय ज्ञान 'ज्ञान' है, प्राणमयी क्रिया 'कर्म्म' है एवं वाङ्मय भूत 'अर्थ' है। दर्शनपक्ष में 'ज्ञान–कर्म्म–अर्थ' पर ही सब कुछ विश्रान्त

है। इसलिए निरुद्भाव के कारण सापनुगत–मनःप्राणवाङ्मय इस कर्मात्मा के पृथक् पृथक् तीन विवर्त्त हैं। यद्यपि तीनों विवर्त्तों का पूर्व लवों में अनेकधा विश्लेषण किया जा चुका है, तथापि यहाँ भी अव्ययत्रयी के समन्वय के लिए उसका दिग्दर्शन आवश्यक बन जाता है। पहिले क्रमप्राप्त विज्ञानमय (मनःप्राणवाङ्मय) मन का ही विश्लेषण कीजिए। मनोमय मन आनन्द है इसी के आधार पर 'अपने मनमें ही मगन, मन के मन में ही तुष्ट' इत्यादि किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं। मनोमय प्राण 'विज्ञान' है इसी के आधार पर–'मनोयोगपूर्वक–विचारबुद्धिपूर्वक काम करते हैं' यह किम्वदन्ती प्रचलित है। मनोमयी वाक् 'मन' है एवं इसी के आधार पर–'उनका काम ज्ञानपूर्वक हुआ है अतएव उनका सिद्धकर्म्म (वाङ्मय अर्थ) उनके ज्ञान की प्रतिकृति है' यह किम्वदन्ती प्रचलित है। इसप्रकार एक ही अव्ययमय निरुद्भाव से आनन्द–विज्ञान–मनोभावों में परिणित हो रहा है यही पहिला मनस्तत्त्व है, यही अमृतात्मा किंवा ज्ञानात्मा है यही अन्तर्ज्योतिर्लक्षण आत्मज्योति है। प्राणमय मन 'मन' है, प्राणमय प्राण 'प्राण' है प्राणमयी वाक् 'वाक्' है। इसप्रकार एक ही अव्ययप्राण निरुद्भाव से मनःप्राण–वाग्भावों में परिणत हो रहा है यही दूसरा प्राणतत्त्व है यही महात्मा किंवा कर्म्मात्मा है यही आत्मज्योति तथा विश्वज्योति का परस्पर सम्बन्ध है। वाङ्मय मन 'वाक्' है वाङ्मय प्राण 'आपः' है, वाङ्मयी वाक् 'अग्नि' है। इसप्रकार एक ही अव्ययवाक् निरुद्भाव से वाक्–आप–अग्नि–भावों में परिणत हो रही है। यही तीसरा वाक्तत्त्व है यही शुक्रात्मा किंवा अर्थात्मा है, यही बहिर्ज्योतिर्लक्षण विश्वज्योति है। इसप्रकार 'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते' के अनुसार उपलक्षण मन–प्राण–वाङ्मय यही अव्ययात्मा निरुद्भाव से अमृतात्मलक्षण ज्ञानात्मा महदात्मलक्षण कर्म्मात्मा शुक्रात्मलक्षण अर्थात्मा इन तीन विवर्त–भावों में परिणित होरहा है। आनन्दविज्ञानमनोमय मनोविवर्त अव्ययानुगत बनता हुआ अव्ययात्मा है मनःप्राणवाङ्मय प्राणविवर्त अक्षरानुगत बनता हुआ अक्षरात्मा है एवं वाक्–आप–अग्निमय वागृविवर्त क्षरानुगत बनता हुआ क्षरात्मा है। यही अव्ययात्मा मनस्त्वेन विश्वाधार बनता हुआ अव्ययात्मा है यही अक्षरात्मा प्राणत्वेन विश्वकर्त्ता बनता हुआ अक्षरात्मा है एवं यही अव्ययात्मा वाक्त्वेन विश्व बनता हुआ क्षरात्मा है। वाङ्मय शुक्रात्मा विश्व है प्राणमय महात्मा विश्वकर्त्ता है, एवं मनोमय अमृतात्मा विश्वाधार है। ये तीनों विवर्त अव्ययलक्षण–विश्व एक के तीन विवर्त हैं, यही चौथा सर्वाधार है जिसे पूर्व में हमनें सर्वालम्बन कहा है एवं जिसे सर्वालम्बन वैराग्यबुद्धियोग की आधारभूमि बतलाया गया है। ज्ञान कर्म्म–विज्ञान–विकर्म्म अज्ञान–अकर्म्म उक्त तीनों कर्मों की मूलप्रतिष्ठा व्यवधानक तीनों विवर्त ही बनते हैं। ज्ञानकर्म्म सत्त्वनिबन्धन है विज्ञानविकर्म्म रजोनिबन्धन है अज्ञान–अकर्म्म तमोनिबन्धन है। मनःप्राण वाग्भाव के निरुद्भाव की भाँति यह गुणत्रयी भी निरुद्भाव में ही परिणत रहती है। सत्त्वगुणात्मक सत्त्व मनोमय आनन्द से सत्त्वगुणात्मक रज मनोमय विज्ञान से सत्त्वगुणानुगत तम मनोमयी वाक् से अनुप्राणित है, यही पहिला सत्त्वरूप है। रजोगुणात्मक सत्त्व प्राणमय मन से रजोगुणात्मक रज प्राणमय प्राण से रजोगुणात्मक तम प्राणमयी वाक् से अनुप्राणित है। तमोगुणात्मक सत्त्व वाङ्मयी वाक् से तमोगुणात्मक रज वाङ्मय आप से तमोगुणात्मक तम वाङ्मय अग्नि से अनुप्राणित है।

२३–अमृत ब्रह्म शुक्र–समष्टिरूप चतुष्पाद् अव्ययब्रह्म का मात्रा, और अमात्रा–भाव—

तमोगुणमयी शुक्रात्मा की प्रतिष्ठा है रजोगुणमयी महात्मा की प्रतिष्ठा है एवं सत्त्वगुणमयी अमृतात्मा की प्रतिष्ठा है। सत्त्वगुणानुगत अमृतात्मा ज्ञानकर्म्मात्मा है रजोगुणानुगत महात्मा विज्ञानविकर्म्मात्मा है, एवं

तमोगुणानुगत शुक्रात्मा अज्ञानात्कर्मात्मा है। त्रिगुणात्मक इन तीनों आत्मविवर्तों में सत्त्वगुणानुगत अमृतात्म-विवर्त गुणत्रय की प्रतिच्छाया से युक्त रहता हुआ भी अपने सत्वानुगत-अव्ययानुगत-विशुद्धसत्त्वानुगत-स्वरूप से गुणातीत माना गया है। विशुद्ध सत्त्वात्मक समष्टिलक्षण सर्वाव्यय, और सत्त्वानुगत अमृताव्यय, दोनों अभिन्न हैं। अतएव सर्वाव्ययवत् इस असर्वाव्ययलक्षण–सत्त्वात्मक अमृतात्मविवर्त को भी गुणातीत ही माना जायगा। गुणत्रयी का वास्तविक विकास होता है दूसरे ब्रह्मात्मविवर्त में। तीसरा शुक्रात्मविवर्त गुणत्रयी का आत्य-न्तिक विकसितरूप है अतएव शुक्रात्मक विश्व से अनुगत गुणभाव गुण न कहला कर 'आवरण' नाम से व्यवहृत हुआ है। शुक्रात्मानुगता गुणत्रयी 'आवरण' है, ब्रह्मात्मानुगता गुणत्रयी 'गुण' है, अमृतात्मानुगत गुणभाव 'कला' है, एवं सर्वाव्ययानुगत निर्गुणात्मक गुणभाव (विशुद्धसत्त्वभाव) 'माया' है। मायानुगत सर्वाव्यय, कलानुगत अमृतात्मा गुणानुगत ब्रह्मात्मा एवं आवरणानुगत शुक्रात्मा, यही चतुष्पात्ब्रह्म है जिसके तीन पाद मात्रात्मक (व्यक्तपात्मक) हैं, चौथा पाद अमात्रिक है। इसी आधार पर–'चतुष्पाद्वा इदं सर्वम्' अनुगम प्रतिष्ठित हुआ है। इन आत्मविवर्तों को लक्ष्य बनाते हुए ही हमें ज्ञान–कर्म द्वन्द्वों का समन्वय करना है। अतः समन्वय से पहिले परिलेखद्वारा उक्त विवर्त चतुष्टयी को लक्ष्य बना लेना चाहिए।

(१)–१–आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाग्घन–सर्वाव्ययः—'माया'—शुक्र–निर्गुणात्मा (विश्वातीतः)

२–आनन्दविज्ञानमनोमय———असर्वाव्ययः–'कला'—शुक्र–विशुद्धसत्त्वात्मा (विश्वाधारः)

३–मनःप्राणवाङ्मय————असर्वाव्ययः–'गुण'—शुक्र–गुणात्मा (विश्वकर्ता)

४–वागापोऽग्निमयः————असर्वाव्ययः आवरण–शुक्र–आवरणात्मा (विश्वम्)



(२)–१–निर्गुणात्मा —सदात्मा—तदेव——सर्वज्योतिः ⎫ –आत्मज्योतिः

२–सत्त्वात्मा——अमृतात्मा–अमृतम् } अन्तर्ज्योतिः ⎭

३–गुणात्मा——ब्रह्मात्मा–तदेव ब्रह्म } बहिर्ज्योतिः] –विश्वज्योतिः

४–आवरणात्मा—शुक्रात्मा–तदेव शुक्रम्

–प्रजापतिः (आत्मन्वी)



(३)—१—अव्ययात्मा—अव्ययः—परात्परः पुरुषः—अमात्रिकः—अक्षरस्फोटः
२—अमृतात्मा—अव्ययात्मा————अकारात्मकः—अक्षरस्फोटः
३—ब्रह्मात्मा—अक्षरात्मा————उकारात्मकः—स्वरः
४—शुक्रात्मा—क्षरात्मा————मकारात्मकः—वर्णमात्रः

—इत्योपनिषत् 'ओम्' इति

—❀—

(४)—

१
१—मनोमयं मनः —आनन्दः (ज्ञानम्) —ज्ञानात्मकं ज्ञानम्
२—मनोमयः प्राणः —विज्ञानम् (क्रिया) —ज्ञानाश्रिता क्रिया
३—मनोमयी वाक् —मनः (अर्थः) —ज्ञानात्मकोऽर्थः
—आनन्दविज्ञानमनोमयं 'मनः'—ज्ञानम्
—'मनस्तन्त्रम्'—

२
१—प्राणमयं मनः —मनः (ज्ञानम्) —क्रियात्मकं ज्ञानम्
२—प्राणमयः प्राणः —प्राणः (क्रिया) —क्रियाश्रिता क्रिया
३—प्राणमयी वाक् —वाक् (अर्थः) —क्रियात्मकोऽर्थः
—मनःप्राणवाङ्मयः 'प्राणः'—क्रिया
—'प्राणतन्त्रम्'—

३
१—वाङ्मयं मनः —वाक् (ज्ञानम्) —अर्थात्मकं ज्ञानम्
२—वाङ्मयः प्राणः —आपः (क्रिया) —अर्थाश्रिता क्रिया
३—वाङ्मयी वाक् —अग्निः (अर्थः) —अर्थात्मकोऽर्थः
—आपोऽग्निमयी 'वाक्'—अर्थः
—'वाक्तन्त्रम्'—

(५)—१—मनस्तन्त्रम् —ज्ञानात्मा —'अमृतम्'—ज्ञानकर्मार्थाः
२—प्राणतन्त्रम् —कर्मात्मा —'ब्रह्म' —विज्ञानविद्यात्मा
३—वाक्तन्त्रम् —अर्थात्मा —'शुक्रम्' —अन्ननामरूपात्मा

—❀—

(६)–प्रकारान्तरेण—

१–आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाग्घनः–सर्वात्मा–परात्परः (माया) –सर्वाधारो निराकारः

२–आनन्दविज्ञानमयोऽव्ययात्मा ———पुरुषः (कला) –विश्वाधारो निर्गुणः

३–मनोमयोऽक्षरात्मा ———प्रकृतिः (गुणः) –विश्वकर्त्ता सगुणः

४–प्राणवाङ्मयोऽक्षरात्मा ———विकृतिः (आवरणम्) –विश्वप्रभवा साकारा



(७)–गुणानुगतविवर्त्तभावाः—

(सर्वसंग्रहः)—

१–आनन्दविज्ञानघन–मनोमय–प्राणगर्भिता–वाक्–सत्यात्मा–सर्वात्मा]—सर्वात्मा (१)–सर्वतन्त्रम्

आनन्दमयं मनः (मनः) –सत्त्वानुगतं सत्त्वम् (सत्त्वम्) –परात्मा		
२–विज्ञानमयं मनः (प्राणः) –सत्त्वानुगतं रजः (सत्त्वम्) –परावरात्मा	–अव्ययात्मा (२)–सत्त्वतन्त्रम्	
मनोमयं मनः (वाक्) –सत्त्वानुगतं तमः (सत्त्वम्) –अवरात्मा		
मनोमयः प्राणः (मनः)—रजोऽनुगतं सत्त्वम् (रजः)—शान्तात्मा		
३ प्राणमयः प्राणः (प्राणः)—रजोऽनुगतं रजः (रजः)—महानात्मा	अक्षरात्मा (३) रजस्तन्त्रम्	
वाङ्मयः प्राणः (वाक्)—रजोऽनुगतं तमः (रजः)—विज्ञानात्मा		
वाङ्मयी वाक् (मनः)—तमोऽनुगतं सत्त्वम् (तमः)—विज्ञानात्मा		
४ आपोमयी वाक् (प्राणः)—तमोऽनुगतं रजः (तमः)—प्रज्ञानात्मा	–क्षरात्मा (४) तमस्तन्त्रम्	
अग्निमयी वाक् (वाक्)—तमोऽनुगतं तमः (तमः)—शरीरात्मा		



१—सर्वकन्यावलम्बना—	—सर्वात्मना—	—यज्ञबुद्धियोगस्य-आधारभूमिः	—गीतासम्मता-योगचतुष्टयी (निर्गुण-योगचतुष्टयी)
२—सत्त्वकन्यानुगतः—	—पराभव—	—ज्ञानबुद्धियोगस्याधारभूमिः	
३—सत्त्वकन्यानुगतः—	—परापराभवः—	—ऐश्वर्यबुद्धियोगस्याधारभूमिः	
४—सत्त्वकन्यानुगतः—	—अपराभवः—	—धर्मबुद्धियोगस्याधारभूमिः	
१—रजस्कन्यानुगतः—	—शान्तात्मना—	—कर्मसंन्यासज्ञानयोगस्याधारभूमिः	—प्राचीनाभिमता योगत्रयी (सगुण-योगत्रयी)
२—रजस्कन्यानुगतः—	—महानात्मना—	—अमनाम्नसमाधियोगस्याधारभूमिः	
३—रजस्कन्यानुगतः—	—विज्ञानात्मना—	—आत्मकर्मयोगस्याधारभूमिः	
१—तमस्कन्यानुगतः—	—विज्ञानात्मना—	—सात्त्विकज्ञानस्याधारभूमिः	—लोकाभिमता योगत्रयी (सावयवा-योगत्रयी)
२—तमस्कन्यानुगतः—	—प्रज्ञानात्मना—	—लौकिककर्मयोगस्याधारभूमिः	
३—तमस्कन्यानुगतः—	—शरीरात्मना—	—लौकिककर्मसामान्याधारभूमिः	

२४—गुणानुगता ज्ञानकर्मत्रयी के त्रिरूप (६)—

ज्ञान विज्ञान अज्ञान, तीनों शब्द एक त्रिरूपभाव के आधार पर तीन तीन अर्थों से सम्बन्ध रखते हैं। पहिले ज्ञानार्थत्रयी का ही समन्वय कीजिए। ज्ञान के तीन होते हैं—तत्त्वज्ञान, शास्त्रज्ञान, व्यवहारज्ञान। आत्मज्ञान तत्त्वज्ञान है, आम्नायमनोविषयक शब्दज्ञान शास्त्रज्ञान है, लोकव्यवहारात्मक लौकिक ज्ञान व्यवहार-ज्ञान है। यही स्थिति विज्ञानात्मक ज्ञान की है। 'वि' उपसर्ग के विशेष, विविध, विरुद्ध, तीन अर्थ हुए हैं। फलतः विशेषज्ञान भी विज्ञान है, विविधज्ञान भी विज्ञान है, विरुद्धज्ञान भी विज्ञान है। विशेषज्ञानात्मक विज्ञान तत्त्वज्ञानात्मक ज्ञान का अनुगामी है। विविधज्ञानात्मक विज्ञान शास्त्रज्ञानात्मक ज्ञान का अनुगामी है। एवं विरुद्धज्ञानात्मक विज्ञान व्यवहारज्ञानात्मक ज्ञान का अनुगामी है। यही स्थिति अज्ञानात्मक ज्ञान की समझिए। 'अज्ञान' शब्द सम्बन्धी 'नञ्' अभावार्थक नहीं है, अपितु यहाँ का 'नञ्' परोक्ष, अनुमान, अल्प, अर्थों का ही समर्थक बना हुआ है। परोक्षज्ञान भी अज्ञान है, अनुमानात्मक ज्ञान भी अज्ञान है, अल्पज्ञान भी अज्ञान है। परोक्षज्ञानात्मक अज्ञान तत्त्वज्ञान से, अनुमानात्मक (तांत्रिक) अज्ञान शास्त्रज्ञान से, एवं अल्पज्ञानात्मक अज्ञान व्यवहारज्ञान से समनुगत है। यही ज्ञान-विज्ञान-अज्ञान भावों के त्रिरूपभाव का संक्षिप्त निदर्शन है।

इसीप्रकार कर्म-विकर्म-अकर्म तीनों शब्द भी त्रिसद्भाव के आधार पर तीन तीन अर्थों में विभक्त हो रहे हैं। तात्त्विक कर्म्म शास्त्रीय कर्म्म, व्यावहारिक कर्म्म तीनों 'कर्म्म' कर्म शब्द से संग्रहीत हैं। आत्मज्ञानात्मक तत्त्व ज्ञान से स्वकर्म्म (यथार्थकर्म्म) लक्षण आत्मनिबन्धन तात्त्विक कर्म्म अनुगृहीत हैं। आत्मज्ञानोपमिक शब्दज्ञानात्मक शास्त्रज्ञान से शास्त्रीय कर्म्म अनुगृहीत हैं। एवं लोकव्यवहारस्थानलक्षण व्यवहारज्ञान से व्यावहारिक कर्म्म अनुगृहीत हैं। यही पहिली कर्म्मत्रयी है। विशेषकर्म्म, विविधकर्म्म, विरुद्धकर्म्म, तीनों 'विकर्म्म' शब्द से संग्रहीत हैं। विशेष कर्म्म विशेष ज्ञानाधार पर, विविध कर्म्म विविध ज्ञानाधार पर, एवं विरुद्ध कर्म्म विरुद्ध ज्ञानाधार पर प्रतिष्ठित हैं। यही दूसरी विकर्म्मत्रयी है। अशेष कर्म्म, अभावात्मक सांस्कारिक अनुभवलक्षण कर्म्म असत्कर्म्मात्मक (निरर्थककर्म्मात्मक) कर्म्म, तीनों अकर्म्म अकर्म्म शब्द से संग्रहीत हैं। यही तीसरी अकर्म्मत्रयी है जिसे अशेष कर्म्मात्मक अकर्म्म तत्त्वज्ञान से अनुभवकर्म्मात्मक अकर्म्म शास्त्रज्ञान से तथा असत्कर्म्मात्मक अकर्म्म व्यवहारज्ञान से अनुगृहीत माना गया है।।

निष्कर्षत. त्रिसद्भाव से ज्ञानत्रयी, कर्म्मत्रयी, दोनों के ९-९ विवर्त हो जाते हैं। पूर्वप्रदर्शित गुणानुगत ९ विवर्त भावों के साथ क्रमशः इन ९ ज्ञानकर्म्मद्वन्द्वों का सम्बन्ध माना गया है। इस सम्बन्ध स्वरूप ज्ञान से ही उस विप्रतिपत्ति का भलीभाँति निराकरण होजाता है, जिसका पूर्व में उल्लेख हुआ है। स्वव्यवहार लोकव्यवहार है लोकव्यवहार लौकिक ज्ञान-कर्म्ममूलक है। एवं लौकिक ज्ञानत्रयी, कर्म्मत्रयी का अर्थ होता है व्यवहारज्ञान, विरुद्धज्ञान असत्यार्थकज्ञान एवं व्यवहारकर्म्म, विरुद्धकर्म्म निरर्थककर्म्म। उधर प्राचीनाभिमत योगत्रयी की ज्ञान-कर्म्मत्रयी के ज्ञान-विज्ञान-अज्ञान, तथा कर्म्म-विकर्म्म-अकर्म्म, शब्दों का दूसरा अर्थ है। एवमेव गीताभिमत संशोधित योगत्रयी की ज्ञान-कर्म्मत्रयी का दूसरा ही अर्थ है। अर्थभेद से तीनों योगत्रयों के लिए प्रयुक्त तीनों ज्ञानकर्म्मद्वन्द्व अपनी त्रिसद्भावानुगता विभिन्न अर्थमर्य्यादा से सर्वथा निर्विरोध समन्वित हो रहे हैं, जैसा कि परिलेखों से स्पष्ट हो रहा है

१-तत्त्वज्ञानम्——(१)-तात्त्विककर्म्म
२-शास्त्रज्ञानम्——(२)-शास्त्रीयकर्म्म
३-व्यवहारज्ञानम्——(३)-व्यावहारिककर्म्म
—ज्ञानत्रयी-कर्म्मत्रयी

१-विशेषज्ञानम्——(४)-विशेषकर्म्म
२-विविधज्ञानम्——(५)-विविधकर्म्म
३-विरुद्धज्ञानम्——(६)-विरुद्धकर्म्म
—विज्ञानत्रयी-विकर्म्मत्रयी

१–परोक्षज्ञानम्—(७)–परोक्षकर्म्म
२–अनुभवज्ञानम्–(८)–अनुभवकर्म्म
३–अस्वज्ञानम्—(९)–अस्वकर्म्म

—अज्ञानत्रयी–कर्म्मत्रयी

[illegible]

१–सत्त्वज्ञानम्——ज्ञानम्
२–सात्त्विककर्म्म——कर्म्म

—ज्ञानकर्म्मात्मा (सत्त्वानुगत –परात्मना:)—ज्ञानबुद्धियोगाधारः

१–विशेषज्ञानम्——विज्ञानम्
२–विशेषकर्म्म——विकर्म

—विज्ञानविकर्म्मात्मा (सत्त्वानुगतः–परावरात्मना:)—ऐश्वर्य्यबुद्धियोगाधारः

१–अशेषज्ञानम्——अज्ञानम्
२–अशेषकर्म्म——अकर्म्म

—अज्ञानाकर्म्मात्मा (सत्त्वानुगतः–अवरात्मना:)—धर्म्मबुद्धियोगाधारः

[illegible]

१–शान्तज्ञानम्——ज्ञानम्
२–शान्तिककर्म्म——कर्म्म

—ज्ञानकर्म्मात्मा (रजोऽनुगतः–शान्तात्मा)—ज्ञानयोगाधारः

१–विविधज्ञानम्——विज्ञानम्
२–विविधकर्म्म——विकर्म्म

—विज्ञानविकर्म्मात्मा (रजोऽनुगतः–महानात्मा)—भक्तियोगाधारः

१–अनुभवज्ञानम्——अज्ञानम्
२–अनुभवकर्म्म——अकर्म्म

—अज्ञानाकर्म्मात्मा (रजोऽनुगतः–विज्ञानात्मा)—कर्म्मयोगाधारः

[illegible] — [illegible]

- १–व्यवहारज्ञानम्—ज्ञानम्
- २–व्यावहारिककर्म्म—कर्म्म

—ज्ञानकर्म्मात्मा (तमोऽनुगतः— विज्ञानात्मा)—ज्ञानयोगाधारः

- १–विरुद्धज्ञानम्—विज्ञानम्
- २–विरुद्धकर्म्म—विकर्म्म

—विज्ञानविकर्म्मात्मा (तमोऽनुगतः—प्रज्ञानात्मा)—सेवायोगाधारः

- १–असत्यज्ञानम्—अज्ञानम्
- २–असत्यकर्म्म—अकर्म्म

—अज्ञानकर्म्मात्मा (तमोऽनुगतः —शरीरात्मा)—कर्म्माधारः

सर्वसंग्रह —

१ — गीताभिमता योगचतुष्टयी — अव्ययात्मानुगता

०–सर्वाव्यय —	विद्यात्मा (ज्ञानात्मा) कर्म्मात्मा (कर्म्मात्मा)	ज्ञानकर्म्मात्मैव—वैराग्यबुद्धियोगाधारः (१)
१–पराव्यय —	तत्त्वज्ञानम् (ज्ञानात्मा) सात्त्विककर्म्म (ज्ञानात्मा)	ज्ञानकर्म्मात्मा—ज्ञानबुद्धियोगाधारः (२)
२–परावराव्ययः	विशेषज्ञानम् (विज्ञानात्मा) विशेषकर्म्म (विकर्म्मात्मा)	विज्ञानविकर्म्मात्मा-ऐश्वर्य्यबुद्धियोगाधारः (३)
३–अवराव्ययः	अशेषज्ञानम् (अज्ञानात्मा) अशेषकर्म्म (अकर्म्मात्मा)	अज्ञानाकर्म्मात्मा—धर्म्मबुद्धियोगाधारः (४)

२ — प्राणिनामभिमता योगत्रयी — अक्षरात्मानुगता

१–शान्तात्मा	शास्त्रज्ञानम् (ज्ञानात्मा) शास्त्रीयकर्म्म (कर्म्मात्मा)	ज्ञानकर्म्मात्मा—ज्ञानयोगाधारः (१)
२–महानात्मा	विविधज्ञानम् (विज्ञानात्मा) विविधकर्म्म (विकर्म्मात्मा)	विज्ञानविकर्म्मात्मा-काम्यभक्तियोगाधारः (२)
३–विज्ञानात्मा	अनुभवज्ञानम् (प्रज्ञानात्मा) अनुभवकर्म्म (अकर्म्मात्मा)	प्रज्ञानाकर्म्मात्मा-काम्यकर्म्मयोगाधारः (३)

[illegible]

[illegible]

२४—[illegible]—

[illegible]

२५—[illegible]—

[illegible]

से ही उत्पन्न होता है। अपने विचारों के अन्य कामना के प्रतिबन्ध से सफल न होने पर ही संघर्ष का जन्म होता है। शारीर शिरोऽग्नि का संघर्ष ही शारीराग्नि के शिव-शान्त-सौम्य भाव को भुला कर उसे रुद्र अशान्त आग्नेय भाव में परिणत कर देता है। कामप्रत्याघातजनित इस संघर्ष से उत्पन्न प्रवृद्ध शारीराग्निताप ही क्रोध है, अतएव क्रोध को 'क्रोधाग्नि' नाम से व्यवहृत किया गया है। कामप्रत्याघातजनित संघर्ष से उत्पन्न क्रोध ही अशान्तिमूलक क्षोभ है। इस क्रोधात्मक क्षोभ से-'हम अमुक सम्पत्ति की कामना करते हैं' इस मानस-काममय संस्कार का अभिभव होजाता है। हमें यह मान होने लग जाता है कि अमुक व्यक्ति के काम ने ही हमारी इच्छा का अवरोध किया है। इस संस्काराघात से हमारा मन आकुल हो पड़ता है, मन ही मन हम झुँझला पड़ते हैं। इस झुँझलाहट का, मानस क्षोभ का प्रभाव पड़ता है उस बुद्धि पर, जो प्रतिबिम्बरूप से 'मन' पर प्रतिष्ठित रहती है। फलस्वरूप इस कामप्रत्याघातजनित मानस क्षोभ से तत्-प्रतिक्रिया बुद्धि भी क्षुब्ध पड़ती है। बुद्धि का क्षोभ बुद्धि के स्वाभाविक उस विकास का अपहरण कर लेता है जो विकास स्थितप्रज्ञता लक्षण व्यवसाय कहलाता है। 'तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि' से इसी अपहरण का स्पष्टीकरण हुआ है। शान्त समुद्र में एक नौका बही चली जाती है। नौका में यात्री बैठा है। वायु का झोंका आता है, समुद्र में ज्वार आजाता है पानी, नाव, यात्री, सब कुछ अस्थिर हो पड़ते हैं। कामसमष्टि कामसमुद्र है*, इन्द्रियाधिष्ठाता प्रज्ञानमन, शरीर, प्रज्ञानसम्परिष्वक्त विज्ञानबुद्धि नौका है भोक्ता जीवात्मा यात्री है। काम का प्रतिबन्ध वायु है। इसके प्रत्याघात से पहिले समुद्र (जल) स्थानीया कामना क्षुब्ध होती है, कामक्षोभ से मन क्षुब्ध होता है, मानस क्षोभ से बुद्धि क्षुब्ध होजाती है, बुद्धिक्षोभ से यात्री जीवात्मा की स्वाभाविक शान्ति उत्क्रान्त हो जाती है। क्षोभ के चरम सीमा पर पहुँचते ही जैसे नौकास्थ यात्री हक्का बक्का बना रह जाता है किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन जाता है, एवमेव क्षोभात्मक क्रोध के चरमसीमा पर पहुँचते ही बुद्धि का स्वाभाविक 'इदमित्थमेव कर्त्तव्यम्' लक्षण निश्चयात्मक व्यवसायधर्म्म कुण्ठित हो जाता है, कुछ सुझाई नहीं देता अन्यवत् परिस्थिति होजाती है। यह क्रोधान्धता ही चरम सीमा पर पहुँचा हुआ कुण्ठित भाव ही विज्ञानभाषा में 'मोह' किंवा 'संमोह' कहलाया है। तात्पर्य्य यही निकला कि ज्ञान-कर्म्म द्वन्द्वों के पारस्परिक संघर्ष से उपमर्दित, कामप्रत्याघातजनित क्षोभ की चरमसीमा से उत्पन्न जो एक जड़ात्मक संस्कारविशेष है वही 'मोह' कहलाया है, जो दार्शनिकसमाज में 'मुग्धावस्था' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

२७—सङ्ग-काम-क्रोध-संमोह-स्मृतिविभ्रम-बुद्धिनाश की मोहमूला परम्पराएं—

'मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः, परिशेषात्' (शा० सू० ३।२।१०) के अनुसार मुग्धावस्था में जाग्रत, सुषुप्ति, दोनों सम्पत्तियों का उपभोग होता है। आधा जगना आधा सोना इसी का नाम मुग्धावस्था है। जाग्रत दशा में चक्षु-मुख-हस्त-पादादि की जो चेष्टाएँ रहती हैं वे भी यहाँ विद्यमान हैं। साथ ही सुप्ता-वस्था में जो विवेकादि धर्म्म अस्त हो जाते हैं वे भी यहाँ उपलब्ध हैं। आँख खुली है, देख रहे हैं, यही

---

*"कामं समुद्रमाविशत्स्याह। समुद्र इव हि कामः।
नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति। न समुद्रस्य"।
—तै० ब्रा० २।२।५।६।

जाग्रत-धर्म्म है। परन्तु सामने से कौन निकला क्या इसका बोध नहीं यही सुप्त-धर्म्म है। बोलते हैं सुनते हैं चलते हैं, परन्तु कुछ का कुछ बोल पड़ते हैं कुछ का कुछ सुन पाते हैं कहीं के कहीं पैर पड़ने लगते हैं। इसप्रकार वस्तुतः मुग्धावस्था में जाग्रत-सुषुप्ति दोनों अवस्थाओं के धर्म्म समाविष्ट रहते हैं। आध्यात्मिकी ज्ञान-कर्म्म चेष्टाओं को अव्यवस्थित दशा में परिणत कर देने वाला कोपजनित चञ्चलधर्म्म ही मोह है यही चित्त (मनोऽनुगतबुद्धि, किंवा बुद्धियुक्त मन) का वैचित्य है वैचित्य ही मोह है। जिस प्रकार मेघावरण से रहता हुआ भी प्रकाशाविकास अवरुद्ध हो जाता है एवमेव मोहावरण से रहता हुआ भी स्मृतिलक्षण ज्ञानज्योतिर्विकास अवरुद्ध हो जाता है। फलस्वरूप मोहानुग्रह से वेद-स्मृति का अवरोध हो जाता है और यों मोह स्मृतिभ्रंश का जनक बन जाता है। स्मृतिभ्रंश कर्म्मनिर्णयात्मिका बुद्धि के सारासारविवेक का उच्छेदक बनता हुआ बुद्धिस्वरूप का ही उच्छेदक बन जाता है। विवेकाभाव ही बुद्धिनाश है। विवेकाभाव में कर्म्मविवेक जाता रहता है और यों काम-क्रोध-मोह-स्मृतिभ्रंश-बुद्धिनाश-परम्परा से जीवात्मा किसी दिन सर्वात्मनाविनष्ट बना हुआ नष्ट हो जाता है, जिस विनाश के इस पारम्परिक इतिहास का निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है-

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ॥
सङ्गात् सञ्जायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥१॥
क्रोधाद् भवति संमोहः, संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ॥
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥२॥

—गीता २।६२,६३,।

२८-कलिला बुद्धि का स्वरूपसमन्वय, एवं मोहपाशनिवृत्त्युपायप्रदर्शन—

जिसप्रकार शैवाल से स्वच्छ भी जल की स्वच्छता मलिनता के रूप में परिणत हो जाती है एवमेव इस मोहावरण से स्वच्छ भी अन्तर्ज्योति की स्वच्छता मलिनता के रूप में परिणत हो जाती है। मोहानुगत यह मलिनता ही विज्ञानभाषा में 'कलिल' कहलाई है। कलिल शब्द के-'कल-इल' ये दो विभाग हैं। कल शब्द विभाग-सम्बन्ध का सूचक है ('कल संख्याने') इसीसे 'कला' शब्द निष्पन्न हुआ है। एवमेव 'कलित-इल' से कलिलशब्द सम्पन्न हुआ है। प्रज्ञान मन ही कामना के द्वारा सर्वप्रथम मोह का संग्राहक बनता हुआ संमोहरूप में परिणत होता है। स्वयं अनेकरूप से प्रज्ञानमन कलानुगत (विभिन्नकलानुगत) विभिन्न विषयों का अनुगामी बनता हुआ नानाभावात्मक कलाभाव में आसक्त रहता है। मोहसंस्कार स्वयं नानात्व से कलात्मक है। इसके समावेश से प्रज्ञानमन का तामसभावात्मक इतरेतर कलाभाव में परिणत होता हुआ कलिलवत् 'कलिल' बन जाता है। पृथिवी, सूर्य्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्रादि कलाभावों के सम्बन्ध से ही विश्व 'कलिल' कहलाया है जैसाकि-'अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये, सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये' (श्वे० उप० ४।१४,५।१३) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है। बुद्धि अपने स्वरूप से व्यवसायात्मिका बनती हुई एकत्वानुगत है। अतएव कलाभाव से असंस्पृष्ट है। 'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !' के अनुसार व्यवसायबुद्धि एकाकिनी रहती हुई कलासम्पर्क से अतीत है। कलिल मन (विषयसंस्कारलक्षण कलाभावात्मक-मोहयुक्त मन) से युक्त बुद्धि मनोगत कलाभाव से युक्त होकर नानात्वस्वरूप में परिणत होती हुई 'कलिला'

फल मानी है, जैसाकि–'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्' इत्यादि वचन से स्पष्ट है। 'यह करूँ कि यह, यहाँ रहूँ कि वहाँ'–इसप्रकार की नानासंस्थानुगता–अनिश्चयात्मिका विचारधारा ही कलिला–बुद्धि का आधार बनती है। इसी के अनुग्रह से श्रुत एवं श्रोतव्य से अन्तर्जगत् के पद पद में उद्वेग–अशान्तिमय–दुःख परम्पराओं का स्रोत प्रवाहित रहता है।

किसी ने निन्दा कर दी, व्याकुल हो पड़े। किसी ने सम्पत्ति का अपहरण कर लिया, खिन्न होगए। अमुक ने हमारे साथ यह किया था अमुक यह कर बैठेगा अमुकने अमुक समय ऐसा कर दिया था, अमुक के ऐसा करने की सम्भावना है इन सांसारिक श्रुत–श्रोतव्य–प्रवादों से सचमुच अन्तर्जगत् कम्पित बना रहता है। ऐसा क्यों होता है, जबकि, आत्मा अभय है?। भगवान् कहते हैं–यह मोहकलिला बुद्धि का का अनुग्रह है। जबतक बुद्धि कलिला रहेगी तब तक निश्चयेन श्रुत–श्रोतव्य वेदना के कम्पन बनते रहेंगे। मोहकलिल दूर हो अन्तर्ज्योति का उदय होजायगा और उस ज्ञानभूमिका में पहुँचने के अनन्तर तुम्हारे लिए कोई कुछ ही करता सुनता रहे, निन्दा, अथवा स्तुति करता रहे, न निन्दाश्रवण से दुःख होगा, न स्तुतिश्रवण से हर्ष होगा। श्रोतव्य–एवं श्रुत–जनित वेदना से बचने का एकमात्र द्वार है–बुद्धि को मोहकलिलात्मक मनाधारा से उन्मुक्त करना—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥

—गीता० २।५२

२६–नञर्थ का समन्वय—

* रजोगुण एवं तमोगुण के समन्वय से उत्पन्न अतएव सत्वगुण के विरोधी इस मोहकलिल को मन से कैसे हटाया जाय?, गीताभिमत ज्ञानबुद्धियोग इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। ज्ञान का प्रतिद्वन्द्वी अज्ञान ही मोह है यही व्याप्रकृति के द्वारा कलिलभाव का जनक बनता है। धर्म ज्ञान–वैराग्य–ऐश्वर्य चारों के प्रतिद्वन्द्वी अधर्म–अज्ञान–अवैराग्य–अनैश्वर्य, इन चारों के 'नञ्' का अर्थ क्या है?, यह भी मार्मिक समस्या है जिसका निराकरण कर लेना प्रासङ्गिक होगा। 'नञ' का अर्थ अभाव भी होता है 'नञ्' का अर्थ 'अल्प' भी होता है। धर्माभाव, ज्ञानाभाव, वैराग्याभाव, ऐश्वर्याभाव, क्या अधर्म–अज्ञानादि से यह अभावात्मक नञर्थ अभिप्रेत है?। नहीं, इसलिए कि अभाव किसी कर्मप्रपञ्च का जनक नहीं बना करता। 'नास्ति' ही अभाव है न होना ही अभाव है। धर्माभाव ही यदि 'अधर्म' होता तो इसे कभी प्रत्यवाय का कारण न माना जाता। अधर्म एक वस्तुतत्त्व माना गया है, इसके अशुभ

---

* नात्यः परं कर्मनिबन्धकृन्तनं मुमुक्षतां तीर्थपदानुकीर्तनात्।
न यत् पुनः कर्मसु सज्जते मनो रजस्तमोभ्यां कलिलं ततोऽन्यथा॥

—श्रीमद्भागवत ६।२।४६।

संस्कारों की उत्पत्ति मानी गई है जो अभाव से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। यही स्थिति 'अज्ञान' की है। भगवान् ने अज्ञान से ज्ञान को आवृत मानते हुए यह स्पष्ट किया है कि, अज्ञानावृत ज्ञान ही मोहरूप में परिणत होता है—'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः'। अभावात्मक अज्ञान तो अपदार्थ है शून्य है। इससे आवरण असम्भव है। आवरक वही बनता है जिसका भाव होता है सत्ता होती है। एवमेव आसक्तिलक्षण अवैराग्य का 'नञ्' भी इसलिए अभावार्थक नहीं माना जा सकता कि, अवैराग्यरूप राग को भगवान् ने 'सङ्गात् सञ्जायते कामः' इत्यादि रूप से कामरूप अधर्म का कारण माना है। यही स्थिति अनैश्वर्य की है। अस्मितालक्षण अनैश्वर्य आत्मैश्वर्य का उसी प्रकार आवरक माना गया है जैसे कि अज्ञान ज्ञान का आवरक। इसी आधार पर कहा जा सकता, और माना जा सकता है कि, अधर्मादि के 'नञ्' भावों का 'अभाव' अर्थ नहीं है। फलतः इन 'नञ्' भावों की अस्त्यार्थकता ही सिद्ध हो जाती है। 'अस्तो धर्मः—अधर्मः, अस्तं ज्ञानं—अज्ञानम्, अस्तं वैराग्यं—अवैराग्यम्' अस्तं अनैश्वर्यं—अनैश्वर्यम्—यह अस्त्यार्थक निर्वचन ही तत्त्वसम्मत माना जायगा। जिसका तात्पर्य यही निकलेगा कि—अधर्मावृतो धर्म एव अधर्मः' अज्ञानावृतं-ज्ञानमेवाज्ञानम् अवैराग्यावृतं वैराग्यमेव अवैराग्यम्, अनैश्वर्यावृतं-ऐश्वर्यमेव अनैश्वर्यम्। इसी से यह भी तत्त्व निष्पन्न माना कि अधर्मादि अविद्याचतुष्टयी के आगमन से धर्मादि भावों का उत्क्रमण नहीं होता अपितु अभिभवमात्र होता है। आवरण हटा दीजिए, सिद्ध धर्मादि भाव प्रकट हो जायँगे। नञर्थ के इस समन्वय के अनन्तर प्रकृत सम्भ के मूलविषयरूप मानबुद्धियोग को लक्ष्य बनाइए।

३०—मोहपरम्परानुगता ज्ञानलवदुर्विदग्धता—

समान्यतः अल्प, एवं विशेषतः अयथार्थ ज्ञान ही अज्ञानावृत ज्ञान है यही 'अज्ञान' लक्षण मोह है यही भय का प्रथम जनक है। कुछ जानना कुछ न जानना ही अज्ञान है यही 'मुह्येऽयं सम्पति' लक्षण मोह है जिस मोहाभिनिविष्ट को 'भय दग्ध' कहा जाता है। इसी के लिए 'ज्ञानलवदुर्विदग्ध' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'ट्रेन' के आने का ज्ञान है किन्तु किस समय पर्य्यन्त स्टेशन पर ठहरी रहेगी, यह अज्ञात है। इस अल्पज्ञान समन्वय से मोह उत्पन्न हो जाता है भय हो जाता है—कहीं ट्रेन निकल न जाय। अमन्दिग्ध भय जाती है। ज्ञान का स्वरूप 'प्रमा' माना गया है। 'एवमित्थमेव नान्यथा' लक्षण निश्चयात्मक ज्ञान ही 'प्रमाज्ञान' है। इस प्रमाज्ञान में जब अज्ञान समाविष्ट हो जाता है, तो यही अनिश्चयात्मक बनता हुआ संशयज्ञान भ्रमज्ञान आदि विविध भावों में परिणत हो जाता है। शुद्धज्ञान में भी भय का अभाव है शुद्ध अज्ञान (जड़ता) में भी भय का अभाव है। महामूर्खराज भी निर्भय है, ज्ञानतपस्वी भी निर्भय है। एक की निर्भयता जड़तामूला है एक की निर्भयता चिन्मूला है। भयभीत बनता है वह मध्यस्थ जिसका ज्ञान अज्ञान से आवृत रहता है—

> यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः ।
> द्वावेव सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥

३१–मोहनिवर्त्तिका ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या—

मोह से भय, एवं भय की चरमसीमा मृत्यु। इसप्रकार मोह ही कालान्तर में सर्वनाशक–मृत्युभाव का प्रवर्त्तक बन जाता है। जिसतरह ज्ञानात्मक मोह जहाँ भय का कारण है, वहाँ तत्त्वज्ञानात्मक ज्ञान निःश्रेयस का प्रवर्त्तक है–'तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः'। भयप्रवर्त्तक अज्ञान की निवृत्ति का एकमात्र उपाय है–अभयप्रवर्त्तक तत्त्वज्ञान का अनुगमन। बतलाया गया है कि मोहात्मक अज्ञान अपने आवरणभाव से प्रज्ञान की स्थिर प्रज्ञा को विचलित कर देता है। प्रज्ञा के अस्थिर होने से तत्प्रतिष्ठ बुद्धि विवेकशून्या बन जाती है। विवेकशून्या बुद्धि ही अस्थिर प्रज्ञा के द्वारा जीवात्मा को प्रज्ञापराध में प्रवृत्त करती रहती है एवं यह प्रज्ञापराध (नास्तिकता–मूर्खता) ही स्वाभाविक योगसम्पत्ति से जीवात्मा को वञ्चित रखता हुआ इसे अति, हीन, मिथ्या योगादि विषम योगों में प्रवृत्त रखते हुए इसके अज्ञानमूलक–भयानुगत–दुःख का कारण बना रहता है। अपनी आत्मशक्ति की सीमा से अधिक कर बैठना अतियोग है। आत्मशक्ति से कम करना हीन–योग है। आत्मशक्ति के विपरीत करना अयोगात्मक मिथ्यायोग है। भोजन करना चाहिए पाव भर, खा गए एक सेर, यही अतियोग है। एक छटाँक ही खाया, यह हीनयोग है। खाया तो पाव भर ही, किन्तु प्रकृतिविरुद्ध खाया, यही मिथ्यायोग है। तीनों विषमयोगों का मूलप्रवर्त्तक प्रज्ञापराध है, प्रज्ञापराध की प्रवर्त्तिका मोहग्रहग्रस्ता अस्थिरबुद्धि है, और तत्प्रवर्त्तक मोहात्मक यह अज्ञान ही प्रज्ञापराधजनित दुःख का कारण है जिसकी ऐकान्तिक निवृत्ति के लिए ही ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या का स्वरूपाविष्करण हुआ है।

३२–सिद्धजाति में उत्पन्न सिद्ध कपिल की सिद्धविद्या, एवं तदनुगत ज्ञानबुद्धियोग—

सिद्धजाति में उत्पन्न, अतएव 'सिद्ध' नाम से प्रसिद्ध महर्षि कपिल ही इस सिद्धविद्या के प्रथम प्रवर्त्तक थे। अव्यक्तास्थानुगत, अतएव आत्मकेन्द्रात्मक–कर्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग (प्राचीनाभिमत–ज्ञानयोग) के पक्षपाती कपिल का केवल अव्यक्ता प्रकृति पर ही विश्राम था। उनका ज्ञानयोग 'पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः' के अनुसार अव्यक्तसम्पत्ति से अन्वित था। 'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः'–'अहं सर्वस्य प्रभवः' इत्यादि सिद्धान्त उनकी अव्यक्तदृष्टि से परे की वस्तु बने हुए थे। भगवान् ने * 'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः' कहते हुए इस अव्यक्तसम्बन्धित ज्ञाननिष्ठा (सांख्यनिष्ठा) का खण्डन किया, और लोकसंग्रहदृष्टि से इसे बुद्धियोगसमन्वय प्रदान की।

---

* अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

—गीता ७।२४

अबुद्धय–बुद्धियोगरहस्यानभिज्ञाः, न तु अज्ञाः। सिद्धकपिलस्य पूर्णज्ञान-निष्ठत्वात्। बुद्धियोगस्तु महता कालेन विलुप्त आसीत्। तद्विलुप्त्यैव च तदा-सांख्यनिष्ठाया प्राधान्यमासीदित्यर्थः।

बुद्धियोगसम्पत्ति प्रदान अवश्य की गई, और इसी आधार पर योगनिष्ठावत् (संयोगित कर्म्मयोगलक्षण धर्म्म बुद्धियोगवत्) सांख्यनिष्ठा (संयोगित–ज्ञानयोगलक्षणा ज्ञानबुद्धियोग) भी 'निःश्रेयसकरावुभौ' के अनुसार अभ्युदयप्रदा मान ली गई। तथापि दोनों के समतुलन में लोकसंग्रह के पक्षपाती भगवान् ने 'तयोस्तु कर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते' कहते हुए धर्म्म बुद्धियोगात्मक निष्कामकर्म्मयोग को ही प्रधानता इसलिए प्रदान की कि व्यक्तप्रकृतिप्रधान मानव के लिए कर्म्मयोगानुगत व्यक्त कर्म्म जहाँ अल्पक्लेश से अभिभूत रहते हुए सुख बने रहते हैं वहाँ अव्यक्तप्रकृतिप्रधान–ज्ञानयोगानुगत–अव्यक्तकर्म्म अत्यक्लेश के, साथ साथ विशेषरूप से लोक अभ्युदय के भी संग्राहक नहीं बनते । 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्'–'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति' इत्यादि से इस सांख्यनिष्ठा की अल्पसामर्थ्यता स्पष्ट ही प्रमाणित हो रही है। निम्न लिखित वचन भी सिद्धविद्यानुगत इस ज्ञानबुद्धियोग की इसी कठिनता का समर्थन करता हुआ इस ओर भगवान् के सामान्य पक्षपात को ही व्यक्त कर रहा है–

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

—गीता० ७।३।

जिस युग में वेदतत्त्वप्रवर्त्तक अभिजित्नक्षत्र के साथ देवसम्राड्विप्रवर्त्तक ध्रुव का सम्बन्ध था, उस वेदयुग में प्रकृतिसिद्ध इस पृथिवी पर ही 'पाथभुवनकोश' के आधार पर त्रैलोक्यव्यवस्था व्यवस्थित थी। निरक्ष से (लङ्का से आरम्भ कर हिमालयपर्य्यन्त रहने वाली पार्थिव प्रजा मनुष्य नाम से प्रसिद्ध थी, इसके सम्राट् मनु थे अधिराज–पाकशासनपात् भारत भूमि थे। हिमालय से आरम्भ कर अलकावती पर्वत के मध्य का स्थान अन्तरिक्ष कहलाता था इसमें रहने वाली प्रजा 'देवयोनि' (तिर्य्यग्योनि) कहलाती थी वायु यहाँ के पाकशासनपात् थे। एवं अलकावती से आरम्भ कर सुमेरुपर्य्यन्त का भूप्रदेश द्युलोक कहलाता था, यहाँ की प्रजा देवदेवता नाम से प्रसिद्ध थी अधिपति यहाँ के 'इन्द्र' थे। अन्तरिक्ष में रहने वाली देवयोनिप्रजा यक्ष विद्याधर, गन्धर्व किन्नर पिशाच सिद्ध, राक्षस, अप्सरा भूत, आदि अनेक जातियों में विभक्त थी। यक्षजाति कोषरक्षा में नियुक्त थी। विद्याधर, गन्धर्व किन्नर, अप्सरा, ये चार वर्ग मनोविनोदात्मक कला के अध्ययन–प्रचारक थे। पिशाचजाति राजविभाग का सञ्चालन करती थी। राक्षसवर्ग राक्षसजाति के आधीन था। भूतजाति सेनाध्यक्ष था। भूतगणों के अमरसेनापति (कप्तान) पशुपति थे प्रधानसेनापति (कमाण्डर्स् ऑफ चीफ) स्वामिकार्त्तिकेय थे। इस सेनाविभाग के प्रधानमन्त्री (आर्मी-मिनिस्टर) भूतपति रुद्र थे। आर्मिक प्रजा अवश्य ही इस पौराणिक घटना का समर्थन नहीं करेगी। क्योंकि अन्यान्य तत्त्वों की विलुप्ति के साथ साथ वैदिक पौराणिक तत्त्व भी आज लुप्त हो चला है। तत्त्वोपासना से सम्बन्ध रखने वाले प्राणात्मक विद्याधरादि प्राणाभिन्न देवयोनियाँ हैं। एवं तदनुरूप भागोलिक विद्याधरादि ऐतिहासिक व्यक्तियाँ भी इस रहस्य का स्पष्टीकरण उसी दिन सम्भव बनेगा जिस दिन आर्यप्रजा तत्त्वदृष्टि से वेदशास्त्र के स्वाध्याय में प्रवृत्त होगी। वक्तव्यांश यही है कि, देवयोनिविशेष ही 'सिद्ध' कहलाए थे। इस जाति में ही कपिल का जन्म हुआ था, अतएव आरम्भ इनका भी 'सिद्ध' नाम से ही प्रसिद्ध होना स्वाभाविक था। ज्ञाननिष्ठ कपिलसिद्ध से ही यह जाति धन्य बनी थी। अतएव विभूतिनिरूपणा में भगवान् ने

'सिद्धानां कपिलो मुनिः' कहते हुए इन्हें मुख्य स्थान प्रदान किया । ये ही सिद्ध सांख्यनिष्ठात्मक–ज्ञानयोग के प्रथम प्रवर्त्तक थे । अतएव इनका संप्रोचित ज्ञानबुद्धियोग–रूप योग 'सिद्ध' नाम से ही गीताशास्त्र में प्रसिद्ध हुआ ।

२३–सिद्धकपिलानुगता सिद्धविद्या—

जिस प्रकार 'ईशावास्यम्' राजविद्या का रहस्य था एवमेव इस सिद्धविद्या का रहस्य 'अन्तर्ज्योति' माना गया है । सिद्धविद्यानुगत ज्ञानबुद्धियोग से अन्तर्ज्योतिर्लक्षणा आत्मज्ञान का ही उदय होता है । ज्योतिर्लक्षण का अन्तः–बहिः, भेद से दो भागों में पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उनका सूर्य–चन्द्रमा के द्वारा भलीभाँति समन्वय किया जा सकता है । सूर्य चन्द्रमा, दोनों ही ज्योतिष्मान् हैं परन्तु दोनों की ज्योतियों के स्वरूप में अहोरात्र का अन्तर है । सूर्य जहाँ चारों ओर से प्रकाशित है वहाँ चन्द्रमा अपने सूर्याभिमुख अर्द्ध भाग से ही प्रकाशित रहता है । सूर्य को जैसे स्वप्रकाश प्रसार के लिए किसी अन्य ज्योति की अपेक्षा नहीं है वैसे चन्द्रमा स्वप्रकाश प्रसार में स्वतन्त्र नहीं है । अपने ही प्रकाश से स्वात्मना प्रकाशित सूर्य जहाँ 'स्वर्ज्योति' कहलाता है, एवमेव अन्य (सूर्य) प्रकाश से प्रकाशित चन्द्रमा अर्द्धभाग से प्रकाशित रहता हुआ 'परज्योति' कहलाता है । चन्द्रमा में भुक्त चामच्छद अत्रिप्राण ही चान्द्र परज्योति का आधार बना हुआ है । पुराणों में चन्द्रमा अत्रि के पुत्र माने गए हैं । अत्रिप्राणविज्ञान के अनुसार अत्रिप्राण पारदर्शकता का प्रतिबन्धक माना गया है । पारदर्शकता के प्रतिबन्ध से ही चामच्छद पदार्थों का स्वरूप निर्म्माण हुआ है । षोडशी प्रजापति के अव्ययप्रधान अमृतात्मा अक्षरप्रधान ब्रह्मात्मा क्षरप्रधान शुक्रात्मा, इन तीन विवर्तों में से क्षरात्मक शुक्रविवर्त ही चामच्छद भौतिक विश्व का उपादानकारण बनता है । वाक्, आपः अग्नि–भेद से यह शुक्र तीन भागों में विभक्त है । वाक्शुक्र अत्रि है आपः शुक्र भृगु है एवं अग्निशुक्र अङ्गिरा है । वाक्–आपः–अग्नि–रूप अत्रि–भृगु–अङ्गिरा इन तीनों पारमेष्ठ्य शुक्रों से ही चामच्छद–भौतिकसृष्टि (मैथुनीसृष्टि) का विकास हुआ है । इन तीनों में आपः शुक्रमूर्ति भृगुतत्त्व आपः वायु सोमः भेद से तीन भागों में विभक्त है । अग्नि शुक्रमूर्ति अङ्गिरा भी अग्नि–यम–आदित्य–भेद से तीन भागों में विभक्त है । परन्तु वाक्शुक्रमय अत्रि एकावस्था में ही परिणत रहता है । अतएव 'न त्रि' निर्वचन से इस अविपरिणाम से चामच्छद बने हुए पारदर्शकत्वाप्रतिबन्धक वाक्शुक्रात्मक पारमेष्ठ्य प्राण को वैज्ञानिकों ने 'अत्रि' नाम से व्यवहृत किया है । इसके अतिरिक्त यह सौरप्रकाश को पी जाता है । जिस भूतपिण्ड में अत्रिप्राण पूर्णरूप से निरुद्ध रहता है, उस वस्तु में से सौररश्मियाँ आरपार्श्व नहीं बन सकतीं । सूर्यरश्मियों को क्योंकि अत्रि खा जाता है अतएव अत्रिशब्द का 'अत्तीति अत्रि' यह निर्वचन भी विज्ञानसम्मत माना जा सकता है । पार्थिव अत्रिप्राण के प्रवर्ग्यभाग से ही चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई है अतएव इसे अत्रिपुत्र माना गया है । इसी अत्रिप्राण के सम्बन्ध से चन्द्रमा में पारदर्शकत्वाप्रतिबन्धकत्व धर्म्म का उदय हुआ है । इसी धर्म्म से सूर्यरश्मियाँ चन्द्रमा के आर–पार (आरपार) नहीं निकल सकतीं । चन्द्रमुक्त सौरप्रकाश प्रतिफलित हो जाता है । बस यही चान्द्रप्रकाश 'परज्योति' है । इसप्रकार भूतज्योतियों में ही सूर्यज्योति 'स्वर्ज्योति' है चान्द्रज्योति परज्योति है । स्वर्ज्योति अन्तर्ज्योति है परज्योति बहिर्ज्योति है ।

बुद्धियोगसम्पत्ति प्रदान अवश्य की गई, और इसी आधार पर योगनिष्ठात्मक (संयोजित कर्मयोगलक्षण कर्म बुद्धियोगात्मक) सांख्यनिष्ठा (संयोजित-ज्ञानयोगलक्षण ज्ञानबुद्धियोग) भी 'निगमवचनानुसार' के अनुसार अभ्युदयप्रदा मान ली गई। तथापि दोनों के सन्तुलन में लोकसंग्रह के पक्षपाती भगवान् ने 'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते' कहते हुए कर्म बुद्धियोगात्मक निष्कामकर्म योग को ही प्रधानता इसलिए प्रदान की कि, व्यक्तप्रकृतिप्रधान मानव के लिए कर्मयोगानुगत व्यक्त कर्म वहाँ अव्यक्त क्लेश से वञ्चित रहते हुए सहज बने रहते हैं, वहाँ अव्यक्तप्रकृतिप्रधान-ज्ञानयोगानुगत-अव्यक्तकर्म अव्यक्त क्लेश के साथ साथ विशेषरूप से लोक अभ्युदय के भी संग्राहक नहीं बनते। 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्'-'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति' इत्यादि से इस सांख्यनिष्ठा की अल्पजनसम्मान्यता स्पष्ट ही प्रमाणित हो रही है। निम्न लिखित वचन भी सिद्धविद्यानुगत इस ज्ञानबुद्धियोग की इसी क्लिष्टता का समर्थन करता हुआ इस ओर भगवान् के सामान्य पक्षपात को ही व्यक्त कर रहा है-

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

—गीता० ७।३।

जिस युग में वेदतत्त्वप्रवर्तक अभिनिवेशक के साथ देवात्मबुद्धिप्रवर्तक ध्रुव का सम्बन्ध था, उस वेदयुग में प्रकृतिसिद्ध इस पृथिवी पर ही 'पापभुवनकोश' के आधार पर त्रैलोक्यव्यवस्था व्यवस्थित थी। सिन्धु से (समुद्र से) आरम्भ कर हिमालयपर्यन्त रहने वाली पार्थिव प्रजा मनुष्य नाम से प्रसिद्ध थी, इसके सम्राट् मनु थे, अधिपति-शासनकर्ता भारत अग्नि थे। हिमालय से आरम्भ कर अलकापुरी पर्यन्त के मध्य का स्थान अन्तरिक्ष कहलाता था, इसमें रहने वाली प्रजा 'देवयोनि' (तिर्य्यग्योनि) कहलाती थी, वायु यहाँ के शासनकर्ता थे। एवं अलकापुरी से आरम्भ कर सुमेरुपर्य्यन्त का भूप्रदेश द्युलोक कहलाता था, यहाँ की प्रजा देवदेवता नाम से प्रसिद्ध थी, अधिपति यहाँ के 'इन्द्र' थे। अन्तरिक्ष में रहने वाली देवयोनिप्रजा यक्ष विद्याधर गन्धर्व किन्नर, पिशाच सिद्ध, राक्षस अप्सरा, भूत, आदि अनेक जातियों में विभक्त थी। यक्षजाति कोशरक्षा में नियुक्त थी। विद्याधर, गन्धर्व किन्नर, अप्सरा ये चार वर्ग मनोविनोदात्मक संगीत के अध्यक्ष-प्रचारक थे। पिशाचजाति शवविभाग का सञ्चालन करती थी। वधकर्म राक्षसजाति के अधीन था। भूतजाति सेनाध्यक्ष था। भूतगणों के प्रधानसेनापति (कप्तान) गणपति थे। प्रधानसेनापति (कमाण्डर् इन चीफ) स्वामिकार्तिकेय थे। इस सैन्यविभाग के प्रधानमन्त्री (वार-मिनिस्टर) भूतपति रुद्र थे। आधुनिक प्रजा अवश्य ही इस ऐतिह्य घटना का समर्थन नहीं करेगी। क्योंकि अन्यान्य तत्त्वों की विस्मृति के साथ साथ वैदिक ऐतिह्य तत्त्व भी आज लुप्त हो चुका है। तत्त्वोपासना से सम्बन्ध रखने वाले प्राणात्मक विद्याधरादि भावापन्न देवयोनियाँ हैं। एवं तदनुरूप प्राचीन विद्याधरादि ऐतिहासिक व्यक्तियाँ थीं। इस रहस्य का स्पष्टीकरण उसी दिन सम्भव होगा, जिस दिन आर्यप्रजा तत्त्वदृष्टि से वेदशास्त्र के स्वाध्याय में प्रवृत्त होगी। वक्तव्यांश यही है कि, देवयोनिविशेष ही 'सिद्ध' कहलाते थे। इस जाति में ही कपिल का जन्म हुआ था, अतएव आगे इनका भी 'सिद्ध' नाम से ही प्रसिद्ध होना स्वाभाविक था। ज्ञाननिष्ठ कपिलसिद्ध से ही यह ख्याति चल पड़ी थी। अतएव विभूतिनिरूपणा में भगवान् ने

'सिद्धानां कपिलो मुनिः' कहते हुए इन्हें मुख्य स्थान प्रदान किया । ये ही सिद्ध सांख्यनिष्ठात्मक-ज्ञानयोग के प्रथम प्रवर्तक थे । अतएव इनका संयोजित ज्ञानबुद्धियोग-रूप योग 'सिद्ध' नाम से ही गीताशास्त्र में प्रसिद्ध हुआ ।

३२–सिद्धकपिलानुगता सिद्धविद्या—

जिस प्रकार 'ईश्वरानन्यत्व' राजविद्या का रहस्य था, एवमेव इस सिद्धविद्या का रहस्य 'अन्तर्ज्योति' माना गया है । सिद्धविद्यानुगत ज्ञानबुद्धियोग से अन्तर्ज्योतिर्लक्षण आत्मज्ञान का ही उदय होता है । ज्योतिर्विवर्त का अन्तः-बहिः', भेद से दो भागो में पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उनका सूर्य-चन्द्रमा के द्वारा भलीभांति समन्वय किया जा सकता है । सूर्य चन्द्रमा दोनों ही ज्योतिष्मान् हैं परन्तु दोनों की ज्योतियों के स्वरूप में अहोरात्र का अन्तर है । सूर्य जहाँ चारों ओर से प्रकाशित है वहाँ चन्द्रमा अपने सूर्यानुगत अर्द्ध भाग से ही प्रकाशित रहता है । सूर्य को जैसे स्वप्रकाश प्रसार के लिए किसी अन्य ज्योति की अपेक्षा नही है, वैसे चन्द्रमा स्वप्रकाश प्रसार में स्वतन्त्र नहीं है । अपने ही प्रकाश से सर्वात्मना प्रकाशित सूर्य जहाँ 'स्वज्योति' कहलाया है, एवमेव अन्य (सूर्य) प्रकाश से प्रकाशित चन्द्रमा अर्द्ध भाग से प्रकाशित रहता हुआ परज्योति कहलाया है । चन्द्रमा में मुख्य चामच्छद अत्रिप्राण ही चान्द्र परज्योति का आधार बना हुआ है । पुराणों में चन्द्रमा अत्रि के पुत्र माने गए हैं । अत्रिप्राणविज्ञान के अनुसार अभिमान्य पारदर्शकता का प्रतिबन्धक माना गया है । पारदर्शकता के प्रतिबन्ध से ही चामच्छद पदार्थों का स्वरूप निष्पन्न हुआ है । षोडशी प्रजापति के अव्ययप्रधान अक्षरात्मा अक्षरप्रधान महानात्मा क्षरप्रधान शुक्रात्मा, इन तीन विवर्तों में से क्षरात्मक शुक्रविवर्त ही चामच्छद भौतिक विश्व का उपादानकारण बनता है । वाक्, आपः अग्नि-भेद से यह शुक्र तीन भागों में विभक्त है । वाग्शुक्र अत्रि है, आप शुक्र भृगु है एवं अग्निशुक्र अङ्गिरा है । वाक्-आप-अग्नि-मय अत्रि-भृगु-अङ्गिरा, इन तीनों पारमेष्ठ्य शुक्रों से ही चामच्छद-भौतिकसृष्टि (मैथुनीसृष्टि) का विकास हुआ है । इन तीनों में आप शुक्रमूर्ति भृगुतत्त्व आपः वायु सोमः भेद से तीन भागों में विभक्त है । अग्निःशुक्रमूर्ति अङ्गिरा भी अग्नि-यम-आदित्य-भेद से तीन भागों में विभक्त है । परन्तु वाक्शुक्रमय अत्रि एकावस्था में ही परिणत रहता है । अतएव 'न त्रि' निर्वचन से इस अतिशयरूप से चामच्छद बने हुए पारदर्शकताप्रतिबन्धक वाक्शुक्रात्मक पारमेष्ठ्य प्राण को वैज्ञानिकों ने 'अत्रि' नाम से व्यवहृत किया है । इसके अतिरिक्त यह सौरप्रकाश को पी जाता है । जिस भूतपिण्ड में अत्रिभाग पूर्णरूप से विकसित रहता है, उस वस्तु में से सौररश्मियाँ आरपार्य नहीं बन सकतीं । सूर्यरश्मियों को क्योंकि अत्रि खा जाता है अतएव अत्रिशुक्र का 'अत्तीति अत्रि' यह निर्वचन भी विज्ञानसम्मत माना जा सकता है । पार्थिव अत्रिप्राण के प्रवर्ग्यभाग से ही चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई है अतएव इसे अत्रिपुत्र माना गया है । इसी अत्रिप्राण के सम्बन्ध से चन्द्रमा में पारदर्शकताप्रतिबन्धकरूप धर्म का उदय हुआ है । इसी धर्म से सूर्यरश्मियाँ चन्द्रमा के अवार-पार (आरपार) नहीं निकल सकतीं । फलस्वरूप सौरप्रकाश प्रतिफलित हो जाता है । बहिर्मुख यही चान्द्रप्रकाश 'परज्योति' है । इसप्रकार भूतज्योतियों में ही सूर्यज्योति 'स्वज्योति' है चान्द्रज्योति पर ज्योति है । स्वज्योति अन्तर्ज्योति है परज्योति बहिर्ज्योति है ।

ठीक यही व्यवस्था आध्यात्मिक ज्योतिर्मय के सम्बन्ध में घटित हुई है। पुरुष, प्रकृति, मन से सम्बन्धस्वरूप दो भागों में विभक्त है। इनमें पुरुषज्योति (आत्म ज्योति) सूर्यस्थानीया–प्रज्ञानघनविद्या ज्योतिस्वरूपा सम्भवज्योति है। एवं प्रकृतिज्योति चन्द्रस्थानीय परोक्षविद्या परज्योतिरूपा ज्योति है। जिस प्रकार ११–२२ भेद से ब्रह्माण्ड में विभक्त भूतज्योति सूर्य–चन्द्रमा–तारक–विद्युत्–अग्नि भेद से पाँच भागों में विभक्त है, एवमेव प्रकृतिमयोविद्यारूपा आध्यात्मिक भूतज्योति भी अव्यक्त–महान्–विज्ञान–प्रज्ञान–भूतात्मा–भेद से पाँच ही भागों में विभक्त रहती है। आध्यात्मिक पुरुषज्योति इन आध्यात्मिक पाँचों प्रकृतिज्योतियों से नित्य युक्त रहती है और 'पञ्चायोगोऽधिरयं पुरुष' इस अनुगत श्रुति का इस दृष्टि से भी समन्वय हो रहा है। सूर्याग्निरूपेण भूतज्योति से बुद्धि का एवं चान्द्रज्योतिरूपा भूतज्योति से प्रज्ञानमन का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। इन दोनों आध्यात्मिक भूतज्योतियों के साथ ईश्वरस्थ अन्तर्यामिन् अव्ययात्मा का सम्बन्ध रहता है। इन दोनों ज्योतियों के मध्य में यदि मोह नामक तम प्रवाहित हो जाता है तो बुद्धियुक्त अन्तर्ज्योतिश्चित्स्थ ज्ञान अज्ञानरूप में परिणत हो जाता है। अज्ञानावृत ऐसी बुद्धि ही मोहकलिला अज्ञानबुद्धि कहलाती है। यही अज्ञानबुद्धि इसप्रकार उस अव्ययज्योति के अनुग्रह से वञ्चित होती हुई अज्ञानावरणद्वारा ज्ञानज्योति की अनवरत बनती हुई बुद्ध्यनुवृत्ति का कारण बन जाती है। अव्ययपुरुषानुगता–ज्ञानज्योतिरूपा–सम्यग्विद्या के साथ बिना किसी प्रतिबन्धक के अनन्यभावेन बुद्धिविद्या का योग होने के लिए मध्यस्थ मोह नामक अज्ञानावरण का हटना आवश्यक है। मध्यस्थ मोह कैसे हटे?, अर्जुन की इस जिज्ञासा, ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या इसी प्रश्न का समाधान कर रही है।

३४–ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या का स्वरूपनिष्कर्ष—

ज्ञानविज्ञान के विश्लेषण द्वारा ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या का विविध दृष्टियों से समन्वय किया गया। 'यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' के अनुसार अणिमादि सिद्धियों में आसक्त कामप्रधान अध्यात्मनिष्ठा के अनुयायी ऋषि-अनुयायी सिद्धों में ही प्रधानरूप से परम्परया प्रचलित अन्तर्योगलक्षण ज्ञान ही सिद्धविद्या की मूलप्रतिष्ठा बना। लोकसंग्राहक भगवान् ने लोकसंग्रहदृष्टि से महाजनसमूह गीताशास्त्र में इस सिद्धविद्या का भी संग्रह किया। सिद्धसम्प्रदायानुगत प्राचीन ज्ञानयोग जिस के द्वारा कहीं अवरुद्ध बना हुआ था वहाँ भगवान् ने अनन्यभावात्मक उपासन के द्वारा उस सम्यग् ज्ञानयोग को सम्यक् प्रकाश प्राप्त करते हुए इस बुद्धियोगमार्ग का अनुयायी बनाया। यही गीताशास्त्र में 'ज्ञानबुद्धियोगानुगता–सिद्धविद्या' नाम से प्रसिद्ध हुई।

इति बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचनात्मक द्वितीयप्रकरण

'ज्ञानबुद्धियोगानुगत–सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचनम्' नामक

तृतीयखण्ड

(२)–३

———

श्री

'बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत

'ज्ञानबुद्धियोगानुगत-सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक

तृतीयस्तम्भ-उपरत

(२)-३

श्री

अथ बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचनात्मके तृतीयप्रकरणे 'वैराग्यबुद्धियोगानुगत-राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचनम्' नामकः चतुर्थस्तम्भ

(२)-४

श्री

वैराग्यबुद्धियोगानुगत–राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचनम्

चतुर्थस्तम्भः

१–वैराग्य, और आसक्ति शब्दों के लोकप्रचलित अर्थ—

राजर्षिविद्यानुगत वैराग्यबुद्धियोग में वैराग्य और तत्प्रतिद्वन्द्विनी आसक्ति, इस द्वन्द्व की मीमांसा अपेक्षित है। अतः सर्वप्रथम इन्हीं दोनों प्रतिद्वन्द्वियों का स्वरूप बुद्धियोगप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। प्रचलित श्रद्धा–विश्वास के अनुसार 'वैराग्य' शब्द का अर्थ सांसारिक–परिग्रहों का त्याग समझा जा रहा है एवं 'आसक्ति' शब्द का अर्थ सांसारिक भोग–विषयों में तल्लीनता समझा जा रहा है। विधि–निषेधात्मक शास्त्रीय कर्म्मों का स्त्री पुत्र–वित्तादि लौकिक परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर शून्य–अरण्यों में निवास करने वाले सर्वपरिग्रहत्यागी काषायकन्थाधारी वीतरागी ही वैराग्य के अनुगामी माने जा रहे हैं। ठीक इसके विपरीत सांसारिक प्रपञ्चों में निमग्न गृहस्थी ही आसक्ति के अनुगामी माने जा रहे हैं। निष्कर्षतः कर्म्ममात्र का परित्याग वैराग्य शब्द का एवं सांसारिक कर्म्म मात्र का अनुगमन आसक्ति शब्द का तात्पर्य माना जा रहा है। वर्त्तमान भारत के प्राङ्गण में वही वीतराग है, जिसने सब कुछ छोड़ छाड़ कर एकान्तवास कर लिया है जिसका जनसमाज से किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं है गीतापरिभाषानुसार जो सर्वथा अकर्म्मण्य है। केवल अप्रमाणपञ्चतत्व दण्ड–ग्रहण एवं शिखासूत्रपरित्याग नमो–नारायणोच्चारण ही ऐसे वैराग्यपथिकों के परिचयचिन्ह हैं। कर्म्म त्यागलक्षणा प्राचीनाभिमत जिस सांख्यनिष्ठा (ज्ञानयोग) का पूर्व स्तम्भ में दिग्दर्शन कराया गया है वह सांख्यनिष्ठा ही सर्वसाधारण की दृष्टि में वैराग्य है। एवं 'आर्षविद्यानुगत–धर्म्मबुद्धियोग' नामक स्तम्भ में कर्म्मलक्षणा प्राचीनाभिमत जिस योगनिष्ठा (काम्य कर्म्म योग) का दिग्दर्शन कराया गया है वह योगनिष्ठा ही सर्वसामान्य की दृष्टि में 'आसक्ति' है।

२–प्राचीन व्याख्याताओं की वैराग्यदृष्टि, और उनका ज्ञानयोग—

प्राचीन दृष्टि से गीता केवल प्राचीनाभिमत ज्ञान–भक्ति–कर्म्म', इन तीन योगों का प्रतिपादन कर रही है। वैराग्य शब्द के रूढार्थ का पक्षपात रखने वाले ज्ञाननिष्ठों का इस सम्बन्ध में यही मताभिनिवेश है कि गीता यद्यपि कर्म्म और भक्ति का भी निरूपण अवश्य करती है। परन्तु शास्त्रीय कर्म्म और भक्ति साक्षात् रूप से पुरुषार्थ नहीं है। पुरुष का परमपुरुषार्थ है 'मुक्ति'। मुक्ति का एकमात्र अर्थ है आत्मा को विशुद्ध ज्ञानस्थिति में प्रतिष्ठित कर लेना। कर्म्म और भक्ति में कर्म्म का अनुराग तारतम्य से आत्मा पर आवरक रहता है। अतएव कर्म्मानुगत कर्म्म और भक्ति कभी मुक्ति के कारण नहीं बन सकते। 'त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' के अनुसार कर्म्मात्मक कर्म्म भक्ति–भावों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही विशुद्ध ज्ञानोदय का कारण बना करती है। और सर्वविध कर्म्मत्याग से विकसित होने वाला ज्ञान ही

मुक्ति का प्रवर्त्तक है। कर्मत्यागलक्षण एवंविध वैराग्य ही मुक्तिप्रवर्त्तक बनता हुआ पुरुष का परम (अन्तिम) पुरुषार्थ है। सामान्य अधिकारियों के प्रारम्भिक अभ्यास के लिए साधनरूप से ही गीता ने कर्म-भक्ति का समावेश कर लिया है। वस्तुतः गीता ज्ञानप्रधान अध्यात्मशास्त्र है, ज्ञानशास्त्र है, वैराग्यशास्त्र है।

३–वैराग्यभावानुगत 'त्याग' शब्द के तात्त्विक अर्थ का उपक्रम—

प्राचीनाभिमत, सर्वपरिग्रहत्यागलक्षण वैराग्ययोग का अर्थ है–'ज्ञानयोग', जिसका 'ज्ञानयोगपरीक्षा' नामक भूमिका-खण्ड में विस्तार से उपबृंहण किया जा चुका है। केवल शास्त्रदृष्टि से प्राचीनों के इस मन्तव्य का, एवं वैज्ञानिकों के मन्तव्य का निर्विरोध समन्वय हो रहा है। वैज्ञानिकों का भी गीताशास्त्र के सम्बन्ध में यही मन्तव्य है कि, गीता आसक्तिपरित्यागपूर्वक वैराग्ययोग (बुद्धियोग) का ही उपदेश दे रही है। त्याग ही गीताशास्त्र का मुख्य उपदेश है। और इस दृष्टि से विज्ञानपक्षानुगामी भी यह कह सकता है कि, 'गीता वास्तव में वैराग्यशास्त्र' है। वैराग्ययोग ही पुरुष का प्रधान पुरुषार्थ है। और यहाँ आकर वह भी ज्ञानयोगपक्षपातियों की भाँति उनके कर्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग के सम्बन्ध में उनकी ओर से उपस्थित 'त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' इस श्रुति को अपने विज्ञानसिद्ध आसक्तित्यागलक्षण वैराग्ययोग के समर्थन में उपस्थित कर सकता है। ज्ञानयोग भी त्यागप्रधान है, वैराग्ययोग भी त्यागप्रधान है। अन्तर केवल 'त्याग' शब्दार्थ में है। ज्ञाननिष्ठ कहते हैं कर्मत्याग त्यागशब्दार्थ है। वैराग्यनिष्ठ कहते हैं आसक्तित्याग त्यागशब्दार्थ है। दोनों में किस की परिभाषा उपादेय है? इस प्रश्न का समाधान सब से पहिले हमें गीताशास्त्र से ही करना चाहिए।

४–गीताशास्त्र में प्रयुक्त 'त्याग' शब्दानुगत स्थल, एवं उनका अक्षरार्थसमन्वय—

गीताशास्त्र में 'त्याग' की चर्चा १९ स्थलों पर आई है। उन स्थलों को अपनी दृष्टि के सामने रख लीजिए, और फिर यह अन्वेषण कीजिए कि, गीता अपनी दृष्टि से 'त्याग' शब्द का क्या अर्थ कर रही है? केवल इसी प्रश्न के समाधान से सब कुछ समाहित हो जायगा। सुविधा के लिए वे १९ ही स्थल यहाँ उद्धृत कर दिए जाते हैं—

१–अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ गी० १।९।

२–येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ १।३३।

३–क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ ! नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ! ॥ २।३।

४–योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ! ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ २।४८।

५–कर्म्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ २।५१।

६–जन्म कर्म्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ! ॥ ४।९।

७–त्यक्त्वा कर्म्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्म्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥ ४।२०।

८–निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४।२१।

९–ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ ५।१०।

१०–कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ५।११।

११–युक्तः कर्म्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ ५।१२।

१२–संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ ६।२४।

१३–यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः ॥ ८।६।

१४–ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥ ८।१३।

१५–श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्, ज्ञानात्–ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात् कर्म्मफलत्यागः, त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ गी० १२।१२ ।

१६–अहिंसा–सत्य–मक्रोध–स्त्यागः–शान्ति–रपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ १६।२।

१७–त्रिविधं नरकस्यैतद्द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः–क्रोध–स्तथा लोभ–स्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ १६।२१।

१८—सन्यासस्य महाबाहो ! तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश ! पृथक्केशिनिषूदन ! ॥ १८।१।

१९—काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ १८।२।

२०—त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञ-दान-तपः-कर्म्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ १८।३।

२१—निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ! ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र ! त्रिविधः परिकीर्त्तितः ॥ १८।४।

२२—यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ १८।५।

२३—एतान्यपि तु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ १८।६।

२४—नियतस्य तु सन्यासः कर्म्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः ॥ १८।७।

२५—दुःखमित्येव यत्कर्म्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ १८।८।

२६—कार्य्यमित्येव यत् कर्म्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ! ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ १८।९।

२७—न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १८।१०।

२८—न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्म्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्म्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ १८।११।

२९—सहजं कर्म्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ १८।४८।

३०—बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ १८।५१।

३१–विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ १८।५२।

३२–अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १८।५३।

३३–ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ १८।५४।



उक्त स्थलों में से 'कस्मे च पदव शूरा –'येषामर्थे काङ्क्षितम्' और 'त्यं मामसम गम पाथ' इन १–१–१ स्थलों के 'त्याग' शब्द का प्रकृत में सम्बन्ध नहीं है। शेष स्थलों में उपात्त त्याग शब्द ही प्रकृत वैराग्यचर्चा से सम्बन्ध रखता है। भगवान् कहते हैं–अर्जुन ! तुम योग में प्रतिष्ठित होकर आसक्ति-भाव सा का परित्याग कर सफलता–असफलता दोनों में समान बने रहते हुए ही कर्म करो, क्योंकि समत्व ही योग का स्वरूप माना गया है (४–गी २।४८)। भगवान् कहते हैं–'विद्वान् लोग बुद्धि (विपा-बुद्धि) से युक्त रहते हुए (बुद्धियोग में प्रवृत्त रहते हुए) कर्म से उत्पन्न आसक्तिजनक फल का परित्याग करते हुए जन्मबन्धन से मुक्त होकर शाश्वतपद (मुक्ति) प्राप्त कर लेते हैं' (५–२।५१)। 'उ म कर्म च मे विक्रमम्' (१–४।६) इत्यादि श्लोकघटित त्याग शब्द प्रकृत से असम्बद्ध है। भगवान् कहते हैं–कर्मफला-सक्ति का परित्याग कर सदा तृप्त रहने वाला स्वावलम्बी बना रहने वाला पुरुष कर्म में प्रवृत्त रहता हुआ भी (आसक्तित्याग के प्रभाव से) कुछ नहीं कर रहा (७–४।२०)। भगवान् कहते हैं 'अध्यात्माकांक्षालक्षणा कामना से सम्बन्ध रखने वाले काम्य भोगों से पृथक् रहने वाला निराशी पुरुष संयमी बनता हुआ यथायात् परिग्रहों को आसक्ति छोड़ देता है। ऐसा पुरुष शरीरयात्रानुबन्धी (जीवनसाधक) कर्मों में (उचितआकांक्षा द्वारा) प्रवृत्त रहता हुआ भी कर्मजनित लेपरूप किल्बिष से बचा रहता है (८–४।२१)। भगवान् कहते हैं– 'जो पुरुष (शारीरक आत्मा–जीवात्मा अपने हृदयस्थ) प्रत्यगात्मा (ब्रह्म) में अपने सम्पूर्ण कर्मों को समर्पित करता हुआ फलकामासक्ति को छोड़ कर कर्म में प्रवृत्त रहता है वह उसी प्रकार अपने इन कर्मों से उत्पन्न संस्कारों से लिप्त नहीं होता, जैसे सदा पानी में रहता हुआ भी कमल का पत्ता पानी के लेप से लिप्त नहीं होता (९–५।१०)। भगवान् कहते हैं–योगी लोग (आत्मब्रह्मभावरूप वीतराग बन रहते हुए भी आगामी अभ्यासरूप कर्मों के लेप से) आत्मा को बचाए रखने के लिए काय–मन–बुद्धि–इन्द्रियों के द्वारा फल-कामासक्ति छोड़ कर कर्म किया करते हैं (१ –५।११)। भगवान् कहते हैं–'कर्मफल को छोड़ कर कर्म में युक्त रहने वाला पुरुष जहाँ चिरशान्ति प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है वहाँ कामासक्तिपूर्वक कर्मफलों में आसक्त कामकामी पुरुष अयुक्तयोग से वंचित रहता हुआ कर्मपाश में आबद्ध होजाता है (११–५।१२)। भगवान् कहते हैं–'अध्यात्मभावामूलक कामना मन से उत्पन्न होने वाले कामनामय संकल्प–विकल्प ही कामनाओं के जनक बनते हैं। इन संकल्पजन्य कामनाओं का सर्वात्मना परित्याग कर अपने मन से इन्द्रियों का सर्वात्मना संयम करना चाहिए (१२–६।२४)। 'यं यं वापि स्मरन् भावम्०'– आमित्यादारं मद

इन ११ १४ श्लोकों में पठित त्याग शब्द फलपरक है। भगवान् कहते हैं–'अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है एवं ध्यान से कर्मफल का परित्याग सर्वश्रेष्ठ है। इस कर्मफलत्याग से ही अन्त में शान्तिस्वरूप मोक्षपद प्राप्त होता है (१२–१२।१२)। 'अहिंसा सत्यमक्रोध' इत्यादि १६ वें श्लोक में पठित त्याग शब्द फलपरक है। भगवान् कहते हैं–'काम, क्रोध, लोभ ये तीनों नरक के द्वार हैं आत्मस्वरूप को आवृत करने वाले आवरण हैं। अतः इन तीनों का परित्याग कर देना चाहिए (१६–१६।२१)। अर्जुन भगवान् से प्रश्न करते हैं कि –'भगवन् ! मैं संन्यास का रहस्य जानना चाहता हूँ, त्याग का मौलिक स्वरूप जानना चाहता हूँ' (१८ १८।१)। भगवान् उत्तर देते हैं–'अर्जुन ! विद्वानों ने (कर्मों के परित्याग को संन्यास नहीं कहा है, (अपितु) काम्य कर्मों के परित्याग को संन्यास माना है (जिसका तात्पर्य यही निकलता है कि, कामना के परित्याग का ही नाम संन्यास है)। सम्पूर्ण कर्मों के फलत्याग को ही विचक्षणों ने त्याग माना है (२०–१८।२) किन्हीं एक (सांख्यनिष्ठ) विद्वानों का कहना है कि, कर्म दोषात्मक है अतः उसे छोड़ देना चाहिए। दूसरा एक (कर्मनिष्ठ–योगनिष्ठ) यह कहता है कि, यज्ञ–दान–तपो–लक्षण क्रियात्मक कर्म का परित्याग नहीं करना चाहिए। (इसप्रकार कर्म के सम्बन्ध में दो विभिन्न मत प्रचलित हैं (२ –१८।३)। अर्जुन ! इस सम्बन्ध में (अब) तुम्हें मैं अपना मत बतला रहा हूँ। अर्जुन ! सात्त्विक, राजस, तामस, भेद से त्याग तीन प्रकार का माना गया है (२१–१८।४)। (मेरी दृष्टि से) यज्ञ–दान–तप कर्मों का कभी परित्याग नहीं करना चाहिए। क्योंकि (जो मनीषी इनके परित्याग को अच्छा समझते हैं उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि) ये तीनों कर्म (उन) मनीषियों के लिए भी पावन ही बने हुए हैं। अथवा तो मनीषियों की दृष्टि में तीनों कर्म दोषावह नहीं अपितु पावन हैं दोषनिवर्तक हैं। (२२–१८।५)। (कब ?, किस दशा में ?, कैसे ?) इन्हीं कर्मों को सब कि फलकामनाप्रसक्ति छोड़ते हुए कर्तव्यबुद्धि से इनका अनुगमन किया जाता है। यही इस सम्बन्ध में मेरा निश्चित (अन्तिम) और सर्वश्रेष्ठ मत है। अर्जुन ! प्रकृतिद्वारा नियत, स्वकर्मरूप, प्राकृतिक कर्तव्यकर्म का परित्याग असम्भव है (२३–१८।६)। मोहवश इसके परित्याग की चेष्टा करना तमोगुणानुगत तामस त्याग है (जो वस्तुतः त्याग नहीं है त्याग का भ्रममात्र है (२४–१८।७)। इस अमुक कर्म में बड़ा परिश्रम करना पड़ेगा अथवा क्लेश सहना पड़ेगा, यह निश्चय कर अपनी आलस्यप्रवृत्ति के अनुग्रह से कर्म का परित्याग कर देना राजस त्याग है। ऐसे त्यागी को भी त्यागफल नहीं मिला करता। (२५–१८।८)। आगे चल कर त्याग की वास्तविक परिभाषा करते हुए भगवान् कहते हैं–'अर्जुन ! मेरा यह कर्तव्यकर्म है इस कर्तव्यभावना से आसक्ति, और फल–कामना का परित्याग करता हुआ जो पुरुष नियत कर्म में प्रवृत्त रहता है (उस पुरुष का कर्मानुगत ऐसा फलासक्तिपरित्यागरूप) त्याग ही सात्त्विक त्याग है (कर्मत्याग त्याग नहीं अपितु फल–कामनापरित्याग त्याग है) (२६–१८।९)। (फलकामनासक्तिपरित्याग का फल यह होता है कि, एतद्विध) त्यागी धी के लिए न तो अकुशल कर्म (तथाकथित ऐहलौकिक सांसारिक कर्म) द्वेष का कारण बनता एवं न कुशल कर्म (विशुद्ध पारलौकिक शास्त्रीय कर्म) राग का कारण बनता। सात्त्विक कर्मों से द्वेष नहीं करता शास्त्रीय कर्मों में लिप्त नहीं होता। अपितु अवसरप्राप्त समस्त कर्मों में सत्त्वगुण परीक्षित बन कर वह इनमें समभाव से प्रवृत्त रहता है। ऐसा यह त्यागी पुरुष नित्य तत्त्वस्थ बना रहता हुआ सर्वसंशयों से उन्मुक्त रहता है। 'किंकर्म–किमकर्मेति' ऐसा कर्मव्यामोहात्मक संशय इसे कभी नहीं होता' (२९–१८।१०)। (अर्जुन ! तत्त्व इस त्याग का यही है कि) देहधारी के लिए सम्पूर्ण कर्मों का परित्याग सर्वथा असम्भव है। ऐसी परिस्थिति में त्यागी वही त्यागी कहलाएगा, जिसने कर्मफलों का परित्याग

न किया होगा' (२८-१८।११)। (अर्जुन ! तू समझता होगा कि, कर्म दोषयुक्त है। अरे कर्म ही क्या ज्ञान भक्ति-आदि) यावन्मात्र आरम्भ दोषयुक्त है। (त्रिगुणात्मक विश्व में सर्वथा दोषरहित रहने के लिए कुछ भी नहीं है)। ऐसी स्थिति में प्रकृतिसिद्ध सहज कर्म यदि दोषयुक्त है, तब भी उनका परित्याग नहीं करना चाहिए। (वेदोक्त कर्म दोष नहीं है दोष है गुणात्मिका फलकामासक्ति, एवं इसी का परित्याग अपेक्षित है) (२६-१८।७८) (करना क्या चाहिए ?-सुन !)-विशुद्ध (विमल) बुद्धि से युक्त होकर धृतिगुण से आत्मसंयम रखता हुआ ऐन्द्रियिक विषयसानुभूति को छोड़ कर रागद्वेष से बचा रह कर, एकान्तप्रिय बन !, अल्पाहारी बन !, अपने शरीर-वाणी, मन को वश में रख ! सदा ध्यानस्थ प्रत्यगात्मा को लक्ष्य बनाए रह !, अनासक्तिरूप वैराग्य को आधार बना ! अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध परपरिग्रह का परित्याग कर !, ममत्व से बचा रह ! ! ऐसा करता हुआ निश्चयेन तू परमपद प्राप्त कर लेगा। (१ ,११,१२,१३)।



५-गीता-पठित 'त्याग' शब्द का निष्कर्षार्थ-

क्रम से इति पर्यन्त गीताशास्त्र का मननयोगपूर्वक पारायण किया गया। यह चेष्टा की गई कि, कहीं 'त्याग' शब्द कर्म परित्यागार्थ में उपलब्ध हो जाय। परन्तु चेष्टा न केवल व्यर्थ ही गई, अपितु सर्वत्र कर्म परिग्रह का समर्थन ही उपलब्ध हुआ। इसप्रकार गीताशास्त्र में प्रयुक्त त्याग शब्दों में ही यह समाधान कर दिया कि, गीताशास्त्रोपवर्णित कर्मत्यागलक्षण वैराग्ययोग प्राचीनाभिमत कर्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग से सर्वथा भिन्न वस्तु है जिसकी ओर से भगवान् न केवल उदासीन ही रहे हैं, अपितु 'सर्वकर्मफलत्यागी मद्भक्त्यागी विचक्षणः' कहते हुए उसका आमूलचूड़ खण्डन ही कर रहे हैं। कर्म-समावेश के द्वारा इसे बुद्धियोगनिष्ठ प्रमाण की है एवं यही संन्यासोचित ज्ञानयोग गीता के शब्दों में 'ज्ञानबुद्धियोग' कहलाया है, जिसका पूर्वखण्ड में विश्लेषण किया जा चुका है। गीता में त्यागशब्द सर्वत्र फल-काम-आसक्ति के परित्याग के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। फलकामासक्तिपरित्यागलक्षण प्रत्यगात्मनिबन्धन साध्य बुद्धियोग ही 'वैराग्यबुद्धियोग' कहलाया है, जो गीताशास्त्र का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है एवं जिसके स्पष्टीकरण के लिए वैराग्य, आसक्ति नामक दोनों प्रवृत्तियों का वैज्ञानिक स्वरूप-परिचय अपेक्षित है तभी तत्प्रतिपादक राजर्षिविद्या का स्वरूपनिर्वचन सम्भव बन सकता है।

६-गीताशास्त्र का तात्त्विक नामकरण-

ज्ञानकर्म मय सर्वोपनिषत् (प्रत्यगात्मा) कर्मगर्भित ज्ञानप्रधान अव्ययस्वरूपलक्षण परात्मय, कर्म-ज्ञानोभयप्रधान महत्स्वरूपलक्षण परावरात्मय एवं ज्ञानगर्भित कर्मप्रधान प्रज्ञानात्मपरिच्छिन्न-विज्ञानात्मार्थलक्षण अवरात्मय, इन आध्यात्मिक चारों आत्मभावों के आधार पर प्रतिष्ठित कर्म ही क्रमशः वैराग्य-ज्ञान-ऐश्वर्य-धर्म-बुद्धियोग, नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। आत्मब्रह्मचतुष्टयी 'विद्या' है, आत्मकर्म चतुष्टयी 'योग' है। 'ब्रह्मविद्यायाम्' का अर्थ है-'सर्वात्मय-परात्मय-परावरात्मय-अवरात्मय-लक्षणा राजर्षि-सिद्ध-परम-आर्षविद्यायाम्'। 'योगशास्त्रे' का अर्थ है-'सर्वात्मयानुगतवैराग्य-परात्मयानुगतज्ञान-परावरात्मयानुगतैश्वर्य-अवरात्मयानुगतधर्म बुद्धियोगशास्त्रे'। आत्मब्रह्मचतुष्टयी आत्मकर्मचतुष्टयी है इसी के स्वरूपविश्लेषण के लिए गीता में विद्याचतुष्टयी का निरूपण हुआ है। योगचतुष्टयी आत्मकर्म

चतुष्टयी है। इसी के स्वरूपपरिचय के लिए गीता में योगचतुष्टयी का निरूपण हुआ है। अव्ययसम्बन्ध से ब्रह्मचतुष्टयी 'पुरुषविद्या' है, बुद्धिसम्बन्ध से योगचतुष्टयी बुद्धियोग है। फलतः 'ब्रह्मविद्यायां–योगशास्त्रे' का निष्कर्ष निकलता है–'अव्ययपुरुषविद्यायां योगशास्त्रे'। अव्ययपुरुष पुरुष है बुद्धियोग प्रकृति है। गीता ने पुरुषमूर्तिलक्षणा आत्मविद्या की ओर 'ब्रह्मविद्यायां' से हमारा ध्यान आकर्षित किया है, एवं प्रकृतिमूर्तिलक्षणा योग की ओर 'योगशास्त्रे' से हमारा ध्यान आकर्षित किया है। समष्टिरूप से गीताशास्त्र 'अव्ययविद्यानुगत योगशास्त्र' है। एवं व्यष्टिरूप से यही सर्वाव्ययविद्यालक्षण राजर्षिविद्यानुगत बुद्धियोगशास्त्र, पराव्ययविद्यालक्षण सिद्धविद्यानुगत ज्ञानयोगशास्त्र, परावराव्ययविद्यालक्षण राजविद्यानुगत भक्तियोगशास्त्र, एवं अवराव्ययविद्यालक्षण आर्षविद्यानुगत कर्मयोगशास्त्र, इन नामों से व्यवहृत किया जा सकता है, परन्तु करना नहीं चाहिए। क्योंकि पर–परावर–अवरविद्यानुगत ज्ञान–भक्ति–कर्म' वस्तुतः बुद्धियोगात्मक ही है। अतः गीता का वास्तविक नामकरण 'अव्ययविद्यायां बुद्धियोगशास्त्र' यही होना चाहिए, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

१ ज्ञानकर्मसमन्वय प्रत्यगात्मा–सर्वाव्ययः ——	आत्मब्रह्म–तदनुगतं वैराग्यकर्म
२ कर्मगर्भितज्ञानप्रधान पराव्ययः ——	आत्मब्रह्म–तदनुगतं ज्ञानकर्म
३ कर्मज्ञानोभयप्रधान परावराव्ययः ——	आत्मब्रह्म–तदनुगतं ऐश्वर्यकर्म
४ ज्ञानगर्भितकर्मप्रधानः अवराव्ययः ——	आत्मब्रह्म–तदनुगतं धर्मकर्म
सैषा अव्ययविद्याचतुष्टयी	सैषा अव्यययोगचतुष्टयी

१ सर्वाव्ययविद्यालक्षणराजर्षिविद्यानामकब्रह्मविद्यायां	बुद्धियोगात्मकं	योगशास्त्रम्
२ पराव्ययविद्यालक्षणसिद्धविद्यानामकब्रह्मविद्यायां	ज्ञानयोगात्मकं	योगशास्त्रम्
३ परावराव्ययविद्यालक्षणराजविद्यानामकब्रह्मविद्यायां	भक्तियोगात्मकं	योगशास्त्रम्
४ अवराव्ययविद्यालक्षणआर्षविद्यानामकब्रह्मविद्यायां	कर्मयोगात्मकं	योगशास्त्रम्

प्राचीनदृष्ट्या व्यष्टिलक्षणम्–
इदं गीताशास्त्रमाहुः

तदिदं ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रात्मकं गीताशास्त्रं व्यष्टिदृष्ट्या

१–राजर्षिविद्यायां वैराग्यबुद्धियोगशास्त्रम्——ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रम्

२–सिद्धविद्यायां ज्ञानबुद्धियोगशास्त्रम्——ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रम्

३–राजविद्यायां ऐश्वर्यबुद्धियोगशास्त्रम्——ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रम्

४–आर्षविद्यायां धर्म्मबुद्धियोगशास्त्रम्——ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रम्

वैज्ञानिकदृष्ट्या व्यष्टिभावात्मकानि गीताशास्त्रनामानि

तदिदं ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रात्मकं गीताशास्त्रम्–व्यष्टिदृष्ट्या

वैज्ञानिकदृष्ट्या समष्टिभावात्मकं गीताशास्त्रस्य नामकरणम्–

ब्रह्मविद्यायां	योगशास्त्रं	वा	—तदिदं–अव्ययविद्यायां बुद्धियोगात्मकं गीताशास्त्रम्
आत्मविद्यायां	शारीरशास्त्रं	वा	
पुरुषविद्यायां	भक्तिशास्त्रं	वा	
अव्ययविद्यायां	बुद्धियोगशास्त्रं	वा	
सर्वविद्यायां	सर्वकर्म्मशास्त्रं	वा	

७–'भग' चतुष्टयी से अनुप्राणिता भगवद्विद्या, तथा भगवद्योग के चार-चार विवर्त–

आत्मविकास के लिए 'भग' शब्द नियत है एवं आत्मसंकोच के लिए 'क्लेश' शब्द नियत है। आत्मविकासलक्षण भग आत्मानन्द का कारण है, आत्मसंकोचलक्षण क्लेश आत्मदुःख का कारण है। भग और क्लेश सुख-दुःख के पर्याय नहीं हैं। अपितु भग सुख का जनक है क्लेश दुःख का जनक है। धर्म ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य इन चार भगों से आत्मा स्वस्वरूप से 'भ' भाव (विकासभाव) को प्राप्त हो जाता है। इससे आत्मा स्वभूमानन्द का भोक्ता बन जाता है। अधर्मलक्षण अभिनिवेश अज्ञानलक्षण मोह, रागद्वेषलक्षणा आसक्ति, अनैश्वर्यलक्षणा अस्मिता, इन चार क्लेशों से आत्मा स्वस्वरूप से ह्रास्वभाव को प्राप्त हो जाता है। इससे आत्मा आगन्तुक अल्पत्वलक्षण दुःख का भोक्ता बन जाता है। क्लेशचतुष्टयी की निवृत्ति ही आत्म विकासोदय का कारण बनती है। यही गीताशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। क्लेशचतुष्टयी स्वतः निवृत्त नहीं होती। अपितु जैसे अन्धकार की निवृत्ति के लिए प्रकाश का आगमन अपेक्षित है, एवमेव क्लेशनिवृत्ति के लिए भग प्रवृत्ति अपेक्षित है। भगचतुष्टयी की प्राप्ति का उपाय बतलाना ही गीता का दूसरा उद्देश्य है। अन्य शब्दों में

स्वभावतः दुःखी मनुष्य कैसे सुखी बने ?, गीताशास्त्र इसी प्रश्न के समाधान को मुख्य उद्देश्य बना रहा है। मनुष्य दुःखी रहता है क्लेशचतुष्टयी से, सुखी बनता है भगचतुष्टयी से। चार क्लेशों से दुःख के कारण भी चार हैं, चार भगों से सुख के कारण भी चार ही हैं। भगसम्पत्तिवासिता का प्रकार ही भगविद्या है। भगवाली भगवान् हैं क्योंकि इन चार भगविद्याओं का विश्लेषण किया है, अतएव भगवदभिन्न यह विद्या आगे जाकर 'भगवद्विद्या' नाम से प्रसिद्ध हो गई है। भगवदभिन्न विद्याचतुष्टयी ज्ञानसमभाव है। इस विद्या के आधार पर प्रतिष्ठित कर्मयोगभाग ही भगवद्योगचतुष्टयी है, जो भगवद्विरूपात् 'भगवद्योग' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। भगविद्या किंवा भगवद्विद्या ब्रह्मविद्या है, आत्मपर्वभेद से यह चार भागों में विभक्त हो रही है। भगयोग किंवा भगवद्योग बुद्धियोग है। भगपर्वभेद से यह भी चार ही भागों में विभक्त हो रहा है। सर्वाव्ययलक्षणा भगवद्विद्या के आधार पर प्रतिष्ठित वैराग्यभगात्मक बुद्धियोगोदय से तत्प्रतिद्वन्द्वी रागद्वेषलक्षण आसक्ति नामक क्लेश निवृत्त हो जाता है। परात्परलक्षणा भगवद्विद्या के आधार पर प्रतिष्ठित ज्ञानभगात्मक बुद्धियोगोदय से तत्प्रतिद्वन्द्वी अज्ञानलक्षण मोह नामक क्लेश निवृत्त हो जाता है। परात्पराव्ययलक्षणा भगवद्विद्या के आधार पर प्रतिष्ठित ऐश्वर्यभगात्मक बुद्धियोगोदय से तत्प्रतिद्वन्द्वी अनैश्वर्यलक्षण अस्मिता नामक क्लेश निवृत्त हो जाता है। एवं अक्षराव्ययलक्षणा भगवद्विद्या के आधार पर प्रतिष्ठित धर्मभगात्मक बुद्धियोगोदय से तत्प्रतिद्वन्द्वी अधर्मलक्षण अभिनिवेश नामक क्लेश निवृत्त हो जाता है। अव्ययविद्याभिन्न ब्रह्मविद्या से अनुगत बुद्धियोगात्मक भगवद्योग का प्रतिपादन करने वाले सम्पूर्ण गीताशास्त्र का यही निष्कर्ष है।

१–सर्वाव्ययलक्षणा भगवद्विद्या—तदनुगतः—वैराग्यभगोपेतो बुद्धियोगः—ततः आसक्तिक्लेशनिवृत्तिः
२–परात्परलक्षणा भगवद्विद्या—तदनुगतः—ज्ञानभगोपेतो बुद्धियोगः—ततः—मोहक्लेशनिवृत्तिः
३–परात्पराव्ययलक्षणा भगवद्विद्या—तदनुगतः—ऐश्वर्यभगोपेतो बुद्धियोगः—ततः—अस्मिताक्लेशनिवृत्तिः
४–अक्षराव्ययलक्षणा भगवद्विद्या—तदनुगतः—धर्मभगोपेतो बुद्धियोगः—ततः—अभिनिवेशक्लेशनिवृत्तिः

ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः ।
ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥
—वायुपुराणान्तर्गत–प्रक्रियापादे १।५।

८–वैराग्यानुबन्धी परित्याग का सहज स्वरूप दिग्दर्शन—

अभिनिवेशनिवर्तक धर्मबुद्धियोग, अस्मितानिवर्तक ऐश्वर्यबुद्धियोग एवं मोहनिवर्तक ज्ञानबुद्धियोग तीनों का पूर्व खण्डों में क्रमिक निरूपण किया जा चुका है। प्रस्तुत खण्ड में गीताशास्त्र की हृदयरूपा वैराग्यबुद्धियोगानुगता रागविनिवृत्ति का ही स्वरूपविश्लेषण अपेक्षित है। खण्डारम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है कि, वैराग्यशब्द के प्रचलित कर्मत्याग–परिग्रहत्याग–संसारत्याग–इन अर्थों का गीता के वैराग्य शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है। अपितु त्यागलक्षण वैराग्य का गीताशास्त्र में कामनापरित्याग–फलपरित्याग–आसक्तिपरित्याग–ही अर्थ है। परित्याग भी आसक्तिपूर्वक नहीं, अपितु सहजभाव से। विषय का भी समन्वय कीजिए कि, 'हमने आसक्ति छोड़ दी' यह कहने भर से ही आसक्ति छूट नहीं जाया
महत्त्वपूर्णता चल रही है और कह रहे हैं–आसक्ति छोड़ दी। ऐसा परित्याग अहृद्य

जानबूझ कर-आसक्ति को दोष समझते हुए उससे घृणा करते हुए उसे छोड़ना तो एक प्रकार की द्वेषासक्ति ही है, जो रागासक्ति से भी कहीं भयङ्कर है। राग-द्वेष की आत्यन्तिक निवृत्ति ही आसक्तित्याग है। वह त्याग किया नहीं जा सकता अपितु वैराग्यबुद्धियोगानुष्ठान से स्वतः हो जाता है। अन्य बुद्धियोगनिरूपण में यह स्पष्ट किया गया है कि निष्कामकर्म योग किया नहीं जाता, अपितु वह प्रकृत्या स्वयं होता है। ठीक यही स्थिति आसक्ति-निवृत्ति की है। प्रकृति वैसी बन जानी चाहिए, जिस में न राग हो, न द्वेष हो। छोड़ दिया, छोड़ते हैं, छोड़ देंगे छोड़ना चाहिए, कहना तो त्याज्य विषय के प्रति आसक्ति (द्वेषासक्ति) प्रकट कर रहा है। 'त्याग' का लक्षण इसी लिए तो दुरूह बना हुआ है। ईश्वरवत् निर्लेप बन कर रागद्वेषात्मक सर्वविध प्रपञ्चों में लोकसंग्रहरूपेण प्रवृत्त रहते हुए भी उनमें आसक्ति न रहे, यही आसक्ति का सहज त्याग है। साधीरूप से ईश्वर कहाँ नहीं है, सर्वत्र है। क्या वह लिप्त होजाता है ?। नहीं। क्यों ?, इसलिए कि वह समत्वलक्षण वैराग्ययोग में समवस्थित है। यही ब्राह्मीस्थिति सहजपरित्याग का आधार बनती है। ब्राह्मीस्थिति में प्रतिष्ठित होने के अनन्तर यथयावत् द्वन्द्वात्मक व्यामोह स्वतः निवृत्त होजाते हैं। कुछ न छोड़ना ही सब कुछ छोड़ना है, सब ही सबकुछ छोड़ देना ही सब कुछ ग्रहण कर लेना है, और यही त्याग तथा ग्रहण की वैज्ञानिक मीमांसा है। सर्वगुण ही तो निर्गुण कहलाता है, सर्वाकार ही तो निराकार माना गया है। 'यथान् स्वरूपमात्रस्ते तेन तेन स युज्यते' के अनुसार वह जिससे मिलता है, तद्रूप ही प्रतीत होने लगता है। यह सर्वरूपता ही उसकी नीरूपता है। विषय अनुभव से सम्बन्ध रखता है, शब्दद्वारा त्याग-ग्रहण की मीमांसा असम्भव है। जिस प्रकार एक विषयासक्त कामकामी संसारी विवाह करता है धनसञ्चय करता है, पुत्र कलत्र का अनुगमन करता है, लौकिक कर्म्मों में तल्लीन रहता है। क्या वैराग्यबुद्धियोगी इन सब प्रपञ्चों से दूर रहेगा ?। नहीं, वह भी संसारी की ही भाँति पूरा संसारी बना रहेगा। यही क्यों इसके सांसारिक कर्म्म तो ऐसे सुव्यवस्थित होंगे जिन्हें देख सुन कर संसारी भी चकित होजायगा। क्या यही वैराग्य है ?, हाँ, निश्चयेन गीताशास्त्रस्य यही वैराग्य है, सहजत्याग है। सहजात्मक त्याग ही गीता का वास्तविक त्याग है। 'नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्म्मणि' कहने वाले भगवान् ने अपने जीवन से भी तो त्याग का यही स्वरूप हमारे सामने रक्खा है। भगवान् ने कभी पीताम्बर का परित्याग नहीं किया, भगवान् ने कभी नारी को नरकद्वार नहीं बतलाया कभी कपौरी धारण नहीं पहिना कभी कीर्णशीर्ण कुटियों में निवास कर माला नहीं जपी, संसार को मिथ्या कहने वाले वेदान्तियों की भाँति प्रजा को कौपीनधारण का आदेशोपदेश नहीं दिया। अपितु भगवान् यावज्जीवन यथासम्य-ग्रहवत् वही सब कुछ करते रहे, जो एक संसारी करता रहता है। पूर्णग्राम्यमनुष्यवत् भगवान् का लौकिक सुख था उनके पत्नी भी पुत्र थे कला थे सब कुछ था। वर्णानुगत सभी कुछ था। इन सब प्रपञ्चों में तन्मय रहते हुए भी भगवान् भगवान् थे। यही पूर्णग्रहणात्मक पूर्णपरित्याग का वह उत्तम उदाहरण है, जो स्वयं वैराग्यावस्था पर घटित हुआ है। वेदान्ती क्या कहते हैं क्या करते हैं, इससे हमसे कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारा लक्ष्य है गीताशास्त्र। इसी के सम्बन्ध में हमें यह अन्वेषण करना है कि गीता वैराग्य के सम्बन्ध में क्या कहती है त्याग की क्या परिभाषा बतलाती है ?। एवं साथ ही वैराग्ययोगावस्था गीताचार्य स्वयं क्या करते हैं ?। भगवान् के जीवन से तथा भगवदुपदेशामृत गीताशास्त्र से उभयथा यही प्रमाणित होरहा है कि असमाप्तिलक्षणपूर्वक सत्कर्म्मतत्पर ही गीता का वैराग्ययोग है जिसके स्पष्टीकरण के लिए दो वैराग्यबुद्धियोगानुगत यथर्षीयिया प्रवृत्त हुए हैं एवं जिनकी अनुभूति के लिए निम्न लिखित देवपचनों को

१–तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन ! ॥
२–योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

—गीता ६।४६ ४७।

९–गीता के द्वारा संशोधिता योगत्रयी—

प्रथम अध्याय से आरम्भ कर ६ ठे अध्याय की समाप्ति पर्य्यन्त पूरे ६ अध्यायों में बुद्धियोगानुगता राजर्षिविद्या का प्रतिपादन हुआ है। उक्त दोनों श्लोक ६ ठे अध्याय के अन्तिम श्लोक हैं। इन्हीं पर राजर्षिविद्या का उपसंहार हुआ है। अतएव इनमें भगवान् ने राजर्षिविद्या का निष्कर्ष रख दिया है। कर्म्मलक्षण योग, कर्म्मभक्तियोग, कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग, तीनों का क्रमशः वाक्-प्राण-मन-व्यापारों से सम्बन्ध माना गया है। वाग्व्यापार 'श्रम' कहलाया है, प्राणव्यापार 'तप' कहलाया है, मनोव्यापार 'काम' कहलाया है। वाङ्मय श्रम, प्राणमय तप और मनोमय काम (कामना इच्छा) ये तीनों मनःप्राणवाङ्मय सर्वे प्रजापति के सामान्य स्वरूपानुबन्ध माने गए हैं। जैसाकि—'सोऽकामयत स तपोऽतप्यत सोऽश्राम्यत्' इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। कर्म्मयोग श्रमात्मिका वाक् से सम्बद्ध रहता हुआ आधिभौतिक है। भक्तियोग तपोमय प्राण से सम्बद्ध रहता हुआ मध्यस्थ होने से उभयात्मक है। ज्ञानयोग काममय मन से युक्त रहता हुआ आधिदैविक है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, उभयात्मक भक्तियोग मध्यस्थ तपोमय प्राण के सम्बन्ध से 'तपोयोग' भी कहला सकता है। भगवान् ने इन तीनों प्राचीन योगों को लोकसंग्रहदृष्टि से बुद्धियोगसम्पत् प्रदान करते हुए गीताशास्त्र में तीनों का संग्रह किया। ये ही संशोधित तीनों योग ज्ञानबुद्धियोग (ज्ञानयोग
(भक्तियोग), धर्म्मबुद्धियोग (कर्म्मयोग) नामों से व्यवहृत हुए हैं।

१०–'तपस्विभ्योऽधिको योगी०' इत्यादि श्लोकसमन्वय—

वैराग्यबुद्धियोगानुगामी 'योगी' नाम से, ज्ञानबुद्धियोगाधिष्ठाता 'ज्ञानी' नाम से, ऐश्वर्य्यबुद्धियोगाधिष्ठाता प्राणात्मक तपःसम्बन्ध से 'तपस्वी' नाम से एवं धर्म्मबुद्धियोगाधिष्ठाता 'कर्म्मी' नाम से व्यवहृत हुआ है। सिद्ध विषय है कि गीताप्रतिपादित चारों योगों में वैराग्ययोग भगवान् का अपना मत होने से सर्वश्रेष्ठ है। एवं शेष तीनों योग परमतों के संशोधितरूप होने से गौण हैं। योग्यताभिमत योगत्रयी के अनुगामी ज्ञानी-तपस्वी-कर्म्मी की अपेक्षा भगवान् वैराग्ययोगानुगामी योगी का ही सर्वश्रेष्ठत्व स्वतः सिद्ध है। प्रथम श्लोक से इसी स्वाभाविक स्थिति का स्पष्टीकरण हुआ है। भगवान् ने कहा है—योगी (वैराग्यबुद्धियोगानुगामी) ज्ञानी, तपस्वी, कर्म्मी, तीनों से उच्च भूमिका में प्रतिष्ठित है। अतः हे अर्जुन ! (तुझे मेरी दृष्टि से) योगी ही बनना चाहिए।

१–वैराग्यबुद्धियोगः——बुद्धियोगः (योगः)–तद्योगाधिष्ठाता–'योगी' (सर्वात्मयानुगतः)
२–ज्ञानबुद्धियोगः——ज्ञानयोगः (ज्ञानम्)–तद्योगाधिष्ठाता–'ज्ञानी' (मनोमयपरात्मयानुगतः)
३–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः——भक्तियोगः (तपः)–तद्योगाधिष्ठाता–'तपस्वी' (प्राणमयपरावरात्मयानुगतः)
४–धर्म्मबुद्धियोगः——कर्म्मयोगः (कर्म्म)–तद्योगाधिष्ठाता–'कर्म्मी' (वाङ्मयवरात्मयानुगतः)

११–ज्ञानयोग, और कर्म्मयोग के सापेक्ष गौण–मुख्य–भाव—

चारों में वैराग्यबुद्धियोगात्मक 'योग' सर्वश्रेष्ठ है चारों योगियों में वैराग्यबुद्धियोगात्मक योग का अनुष्ठाता योगी श्रेष्ठ है, यही प्रथम श्लोक का तात्पर्य्य है। इसी प्रसङ्ग में यह भी जान लेना चाहिए कि, संयोजित प्राचीनाभिमत योगत्रयी में कौन मुख्य है एवं कौन गौण है ?। ज्ञान–कर्म्मोभय समन्वय से यद्यपि तीनों ही योग समत्वलक्षण बुद्धियोग से युक्त रहते हुए समान श्रेणि में प्रतिष्ठित हैं। अतएव तीनों समानरूप से उपादेय हैं। तथापि अध्यात्मविकास अनुष्ठानसौकर्य्य, लोकसंग्रह आदि विशेषताओं के तारतम्य से तीनों में प्रथम–मध्यम–उत्तम भेद से श्रेणिविभाग माना जा सकता है। पहिले कर्म्मबुद्धियोगलक्षण कर्म्मयोग एवं ज्ञानबुद्धियोगलक्षण ज्ञानयोग, इन दोनों की गौणमुख्यता का समन्वय कीजिए। यद्यपि पराव्ययानुगत ज्ञानयोग अवराव्ययानुगत कर्म्मयोगापेक्षया अध्यात्मविकास की दृष्टि से विशेष महत्त्वशाली है। अतएव केवल अध्यात्मदृष्ट्या कर्म्मयोगापेक्षया ज्ञानयोग प्रधान, साथ ही श्रेयःपन्था है। तथापि अनुष्ठानसौकर्य्यादि अन्य सभी दृष्टियों से ज्ञानयोग कर्म्मयोगापेक्षया गौण ही बन रहा है। पराव्ययानुगत अध्यात्मसंस्था ही ज्ञानयोग की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। अव्यक्त के सम्बन्ध से पराव्यय भी अव्यक्तावस्था में परिणत रहता है। इस अव्यक्तभाव के कारण ज्ञानयोगानुगत कर्म्म भी अव्यक्त बना रहता है। लोकसंग्राहक व्यक्त–सांसारिक–कर्म्मों में करने भर के लिए उद्योग रहता है। प्रधानदृष्टि अध्यात्मज्ञान पर ही निर्भर रहती है। पराव्यय का सम्बन्ध अवश्य है परन्तु वह अव्यक्तावस्था में परिणत होने से अपने स्वाभाविक विकास से अभिभूत है। और इस दृष्टि से तो अध्यात्मदृष्ट्या भी यह ज्ञानयोग कर्म्मयोगापेक्षया गौण ही सिद्ध हो रहा है, जिस दृष्टि से पूर्व में हमनें इसे मुख्य बतलाया था। व्यक्त कर्म्मानुगामी मानव के लिए यह अव्यक्तभाव क्लेशसाध्य बना रहता है, जैसाकि–'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते' इत्यादि वचन से प्रमाणित है। ज्ञानमय अपने इसी अव्यक्तभाव से व्यक्त विश्वपरायण मानव के लिए ज्ञानयोग दुर्गमपथ है–'दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति'। 'यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' कहते हुए भगवान् सिद्धिविधानुगत ज्ञानयोग में स्पष्ट ही अनुष्ठानसौकर्य्य का भी अभाव मान रहे हैं। अध्यात्मविकासाभाव, अनुष्ठानसौकर्य्याभाव, सर्वोपरि लोकसंग्रहाभाव, इन्हीं सब कारणों से कर्म्मयोगापेक्षया ज्ञानयोग अवरश्रेणि में प्रतिष्ठित हो रहा है। उधर कर्म्मयोग व्यक्त–अवराव्यय–के विकाससम्बन्ध से अनुष्ठानसौकर्य्य से एवं सर्वोपरि लोकसंग्रहभाव से ज्ञानयोगापेक्षया प्रधान बन रहा है। कर्म्मगर्भित ज्ञानयोग कर्म्मत्यागानुगत सन्यासपथ है। ज्ञानगर्भित कर्म्मयोग कर्म्मपरिग्रहानुगत संसारपथ है। सन्यासपथ में वैयक्तिक अभ्युदय का प्राधान्य है। संसारपथ में वैयक्तिक अभ्युदय के साथ साथ सर्वसाधारण का अभ्युदय भी सुरक्षित है। आत्ममुक्तिलक्षण निःश्रेयसभाव दोनों पथों में समानरूप से प्रतिष्ठित है। एक के भी अनुष्ठान से दोनों सिद्ध हो जाते हैं। परन्तु लोकसंग्रहादि पूर्वोक्त विशेषताओं की दृष्टि से सांख्यापेक्षया (ज्ञानयोगापेक्षया) योगपथ (कर्म्मयोगपथ) ही प्रधान एवं श्रेयःपन्था है, जैसा कि निम्न लिखित भगवद्वचन से प्रमाणित है—

१–सांख्य–योगौ पृथग्–बालाः प्रवदन्ति, न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यग्–उभयोर्विन्दते फलम् ॥

२–यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थान, तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति, स पश्यति ॥
३–संन्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥
४–सन्यासः कर्म्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्म्मसन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते ॥

१२–कर्म्मयोग, और भक्तियोग के सापेक्ष गौण–मुख्य–भाव—

अब ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षण भक्तियोग का समन्वय कीजिए । ज्ञानयोग में कर्म्म गर्भीभूत है, कर्म्मयोग में ज्ञान गर्भीभूत है किन्तु भक्तियोग में ज्ञान–कर्म्म–वैराग्यबुद्धियोगत्रय समतुलित है । अतएव ज्ञान–कर्म्मयोगापेक्षया भक्तियोग समत्वलक्षण बुद्धियोगके अधिक सन्निकट माना जायगा । परात्परानुगत ज्ञानयोग अक्षराव्ययानुगत कर्म्मयोग दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित परावराव्ययानुगत–महानात्माधारेण प्रतिष्ठित भक्तियोग वास्तव में मध्यस्थ हृदयभाव के सम्बन्ध से ज्ञान–कर्म्मोभययोगापेक्षया हृन्मूला समत्वसम्पत्ति से विशेषरूप से युक्त माना जायगा । आधिदैविक परात्परसम्पत्ति से इसे ज्ञानयोग माना जायगा आधिभौतिक अक्षराव्ययसम्पत्ति से इसे कर्म्मयोग कहा जायगा अतएव इस मध्यस्थ भक्तियोग के सम्बन्ध में–'एकमप्यास्थितः सम्यक्–उभयोर्विन्दते फलम्' सर्वात्मना चरितार्थ माना जायगा । विराडविभूतिलक्षणात्मोपासना * इस भक्तियोगानुगत कर्म्म में कर्म्मयोगवत् आत्मविकास, अनुष्ठानसौकर्य्य लोकसंग्रहादि विशेषताएँ तो हैं ही, इसके अतिरिक्त इसमें आत्मसमर्पणमूलक वह प्रसादगुण भी विकसित रहता है जिसका ज्ञान, तथा कर्म्मयोग में अभाव है । इसके अतिरिक्त जैसे शास्त्रीय ज्ञानयोग (संन्यास), तथा शास्त्रीय कर्म्मयोग (यज्ञादिकर्म्म) का अधिकार केवल वर्णगुणानुगत उत्तमयोनियों (द्विजातिवर्ग) को ही है वैसे भक्तियोग में कोई अपेक्षा नहीं है। आत्मसमर्पणलक्षणा भक्ति का सब को समानाधिकार है । पापयोनियाँ भी इससे मुक्त हो जाती हैं + । समत्वलक्षण बुद्धियोग (वैराग्यबुद्धियोग) के सन्निकट रहने वाला समत्वलक्षण भक्तियोग ज्ञानकर्म्मयोगापेक्षया बुद्धियोग से शीघ्र

---

*–भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ! ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ! ॥
—गी० ११।५४

+–मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
—गी० ९।३२

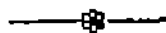
मुक्त हो जाता है = । इन्हीं सब कारणों से हम भक्तियोग को कर्म्मयोगापेक्षया प्रधान, एवं श्रेयःपन्था मानने के लिए सन्नद्ध हैं । इसप्रकार सर्वश्रेष्ठ-सर्वश्रेष्ठ-सर्वाव्ययानुगत वैराग्यबुद्धियोगात्मक बुद्धियोग से दूसरा स्थान परावराव्ययानुगत ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मक भक्तियोग का, तीसरा स्थान अवराव्ययानुगत धर्म्मबुद्धियोगात्मक कर्मयोग का, एवं चौथा स्थान पराव्ययानुगत ज्ञानबुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग का सिद्ध हो जाता है । इसी से यह भी निष्कर्ष निकल आता है कि, ज्ञानी की अपेक्षा कर्म्मी श्रेष्ठ है तदपेक्षया तपस्वी (भक्त) श्रेष्ठ है, एवं सर्वापेक्षया योगी श्रेष्ठ है । ज्ञानयोग प्रथम स्थान है कर्मयोग मध्यम स्थान है भक्तियोग उत्तम स्थान है एवं बुद्धियोग स्थानातीत है । परन्तु ध्यान रहे, यह गौण-मुख्यभाव संशोधिता योगत्रयी से ही सम्बन्ध रखता है । प्राचीनाभिमत काम्यकर्म्मयोग काम्य-साम्प्रदायिक भक्तियोग, एवं कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग तो गीता से सर्वथा बहिष्कृत ही हैं । इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य बना कर गीतानुगता योगचतुष्टयी के श्रेष्ठ-विभागों का समन्वय करना चाहिए ।

१-सर्वाव्ययानुगतो बुद्धियोगः (वैराग्यबुद्धियोगः)-सर्वश्रेष्ठ-श्रेष्ठ

२-परावराव्ययानुगतो भक्तियोग (ऐश्वर्य्यबुद्धियोग)-उत्तम

३-अवराव्ययानुगत कर्म्मयोगः (धर्म्मबुद्धियोगः)-मध्यम

४-पराव्ययानुगतो ज्ञानयोग (ज्ञानबुद्धियोगः)-प्रथमः



१३-भूमोदर्क, धीयोदर्क, एवं तदनुगत मन्मना-उन्मनाभाव—

'तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः' इत्यादि श्लोक से भगवान् ने यह सिद्ध किया कि, योगी (वैराग्यबुद्धियोगी) का स्थान सर्वोच्च है । इससे आगे ही-'योगिनामपि सर्वेषाम्' यह श्लोक पठित है । भगवान् कहते हैं-'सम्पूर्ण योगियों में भी जो योगी मद्गत अन्तरात्मा से श्रद्धापूर्वक मुझे भजता है वह योगी मेरी दृष्टि में युक्ततम है' । इस कथन से यही ध्वनि निकल रही है कि, स्वयं वैराग्यबुद्धियोग में भी श्रेष्ठविभाग प्रतिष्ठित है । दूसरे शब्दों में वैराग्यबुद्धियोग भी दो मार्गों में विभक्त है । प्रश्न स्वाभाविक बन जाता है कि उन दोनों वैराग्यबुद्धियोगों में क्या अन्तर है ? । प्रश्न-समाधान के लिए वैराग्याधिष्ठाता अव्यय के 'उन्मना, मन्मना' नाम के दो विवर्त्तों को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा । भूमोदर्क धीयोदर्क नामक दो पारिभाषिक शब्द क्रमशः उन्मना मन्मना-भावों का स्पष्टीकरण कर रहे हैं । वही अव्ययात्मा प्रकृति के द्वारा विश्वरूप बना है, यह भूमादृष्टि है, जिसका-'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादि तैत्तिरीय-श्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है । वही यह सब कुछ बना है इसका तात्पर्य्य है-वही सब कुछ है । सब में वही है

= —तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
—गी० १० ।१०।

रूप यही है। यही भूमादृष्टि है एवं इस दृष्टि का अनुगामी योगी परिणाम में भूमाभाव को ही प्राप्त करता है। इसी भूमापरिणाम के लिए 'भूमोदर्क' (उदर्क-परिणाम) शब्द व्यवहृत हुआ है। भूमानुगत योगी का अव्ययात्मा ही मन्मनाभाव से 'मन्मना' कहलाता है। वह अव्ययात्मा प्रकृति के द्वारा सब कुछ उत्पन्न कर सब से अलग है पृथक् है यही धीरदृष्टि है, जिसका-'भूतेषु-भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति' इत्यादि श्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है। यही सब का आलम्बन है इसका तात्पर्य यही है कि उसके आधार पर सब कुछ प्रतिष्ठित अवश्य है, परन्तु वह स्वयं इन सब से पृथक् है। यही धीरदृष्टि है एवं इस दृष्टि का अनुगामी योगी परिणाम में धीरभाव को ही प्राप्त करता है। इसी धीरपरिणाम के लिए 'धीरोदर्क' शब्द व्यवहृत हुआ है। धीरानुगत योगी का अव्ययात्मा ही उन्मनाभाव से 'उन्मना' कहलाता है।

१४-मन्मना अव्यय, और उन्मना अव्यय—

दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए। पाषाण-लोष्ठ-काञ्चन-सब कुछ यही है, इस व्यापक भावना से सब-सब में—सबके अव्ययात्म समझना 'मन्मनाभाव' है। 'सब कुछ यद्यपि उसीमें है परन्तु वह किसी में नहीं है—(न त्वहं तेषु, ते मयि) इस भावना से उसे सब से पृथक् समझना उन्मनाभाव है। अव्ययात्म योगक्षेमसम्पन्न नाम से प्रसिद्ध है। इस अव्ययमन की सर्वानुगता दृष्टि से यह अव्ययमन 'मन्मना' बन जाता है। एवं अव्ययमन की असर्वानुगता दृष्टि से यही अव्ययमन 'उन्मना' बन जाता है। सांसारिक प्रपञ्चविरहित विशुद्ध अव्ययमन उन्मना है सांसारिकप्रपञ्चयुक्त सप्रपञ्चमन मन्मना है। मन्मना अव्यय 'सर्वात्मा सर्वेश्वर' है उन्मना अव्यय 'विशुद्धात्मा ईश्वर' है। सर्वेश्वराव्यय, ईश्वराव्यय, भेद से एक ही अव्ययतत्त्व के दो विभिन्न विवर्त हो जाते हैं। सर्वेश्वराव्ययानुगत वैराग्यबुद्धियोग मन्मनायोग है यही भूमोदर्कलक्षणा परामुक्ति का कारण बनता है जो भूमोदर्कमुक्ति 'सम्मलय' नाम से व्यवहृत हुई है एवं जो इसी जीवन में प्राप्त हो जाती है जिसे गीता ने 'विदेहमुक्ति' कहा है। ईश्वराव्ययानुगत वैराग्यबुद्धियोग उन्मनायोग है, यही धीरोदर्कलक्षणा परामुक्ति का कारण बनता है जो धीरोदर्कमुक्ति 'कैवल्य' नाम से व्यवहृत हुई है जो क्रममुक्ति मानी गई है, एवं जिसके लिए-'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' सिद्धान्त स्थापित हुआ है। गीता में अव्ययात्मा के इन दोनों विवर्तों का मन तक पर्याप्त स्पष्टीकरण हुआ है जैसाकि निम्न लिखित कतिपय वचनों से स्पष्ट है।

१-मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७।७॥
२-मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि
॥ गीता ९।४॥
—मन्मनाव्ययः

३–न चाहं तेष्ववस्थित —गीता ९।४। ४–न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् —गीता ९।५।	—उन्मनाम्नय
५–भूतभृन् गीता ९।५।	—अन्मनाम्नय
६–न च भूतस्थ —गीता ९।५।	—उन्मनाम्नयः
७–ममात्मा भूतभावनः —गीता ९।५।	—अन्मनाम्नयः
८–गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्। प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ —गीता ९।१८ ९–उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥	—अन्मनाम्नय
१०–यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति । तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ —गीता १३।३०	—उन्मनाम्नयः

११–यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥
—गीता ८।२२।
—मन्मनाभ्यासः

१२–बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ॥
—गीता ७।१९।
—उन्मनाभ्यासः

१३–वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
—गीता ७।१९।
—मन्मनाभ्यासः

१४–सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥
—गीता ६।३१।
—उन्मनाभ्यासः

१५–आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥
—गीता ६।३२।
—मन्मनाभ्यासः



१५–उन्मनायोगी, और उसका बाह्य वातावरण–

उन्मनाभ्यास एवं मन्मनाभ्यास, दोनों के स्पष्ट बोध के लिए हमें दो योगियों का उदाहरण बनाना पड़ेगा। किसी नामधारी नगर में अवस्था कर लीजिए दो बुद्धियोगी निवास करते हैं। दोनों ही लोकसंग्रहात्मक कर्मों में पूर्ण अनुराग प्रदान कर रहे हैं। दोनों ही शास्त्रसिद्ध वर्णाश्रमानुगत वर्णधर्मों का फलासक्तिपरित्यागपूर्वक अनुगमन कर रहे हैं और यहाँ तक दोनों समान धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। परन्तु दोनों के बाह्य वातावरणों में जीवनसम्बन्धी में हम विभेद पाते हैं। एक योगी सदा संसार में

ही है, वह गृहस्थी भी है, यथावत् पारिवारिक स्थितियों का सुव्यवस्थित रूप से चला भी रहा है, लोककार्यों में भी भाग लेता है। परन्तु देखते हैं—उसका बाह्य वातावरण गम्भीर बना हुआ है। उदासीनभाव से ही वह सबका अनुगमन कर रहा है। सामान्य वेशभूषा, साधारण भोजन, अधिकांश मौनावलम्बन, और इन उदासीनताओं को आगे कर सांसारिक कर्म कलापों में प्रवृत्ति, यही इस योगी का बाह्य वातावरण है। अनुमान लगाने वाले जान लेते हैं कि यह योगी करता सब कुछ है सहयोग सब में प्रदान करता है, परन्तु वस्तुतः इन सब प्रपञ्चों में इसका मोह नहीं है। ऐसा योगी यद्यपि स्वयं सबके सम्पर्क में यथासमय आता रहता है, परन्तु जनसाधारण अपनी ओर से इस योगी के बाह्य–उदासीन वातावरण से सम्पर्क रखने में घबराते हैं। जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने मित्र से निर्भय बन कर परामर्श करने में समर्थ होजाता है, वैसे इस योगी के सम्पर्क में जनसाधारण के पहुँचने का साहस नहीं होता। 'क्या कहेंगे, क्या समझेंगे' इस भय से एवंविध योगी लोकसंग्राहक बनता हुआ भी जनसाधारण के लिए एक जटिल समस्या बना रहता है। ऐसा योगी ही 'उदासीनवदासीन उन्मनायोगी' कहलाएगा। उन्मनाव्यक्तलक्षण विशुद्धात्मस्वरूप को लक्ष्य बनाने से ही वैसे योगी का बाह्य वातावरण ऐसा रूक्ष बना रहता है।

१६–मन्मनायोगी, और उसका बाह्य वातावरण–

अब दूसरे योगी के सम्पर्क में आइए। वह भी संसारी है, गृहस्थी है, मन्मप्रासाद, अनुचर, चित्र वाहन, आदि आदि सम्पूर्ण लोकवैभव उसके पास विद्यमान हैं। वह सुन्दर से सुन्दर वेशभूषा धारण करता है, सर्वोत्तम सुस्वादु भोजन करता है, सबसे प्रसन्नतापूर्वक मिलता जुलता है, मित्रगोष्ठियों में सोत्साह भाग लेता है मनोविनोदात्मिका क्रीडाओं का अनुगामी बना रहता है, बच्चों से हँसता खेलता है। तात्पर्य, इसका बाह्य वातावरण सर्वथा संसारानुगत बना रहता है। सर्वसाधारण समझते हैं—यह हमारे ही जैसा व्यक्ति है। उदासीनयोगी का गम्भीर वातावरण जनसाधारण को उसके आभ्यन्तरस्वरूप से अपरिचित रखता है। आप उसे पहिचान नहीं सकते। उसका बाह्य वातावरण उसके वास्तविक स्वरूप को ढँके रहता है। किन्तु आप इसे अपने समान ही एक संसारी व्यक्ति समझते हैं अपने से भी अधिक प्रपञ्ची। आपकी इस समझ से उसकी कोई हानि नहीं होती, आपका लाभ अवश्य हो जाता है। आप उससे भय नहीं करते, वह आपके लिए महर्ष (हौवा) नहीं बनता। उसके सम्पर्क से आप में कर्मयोगात्मक समाधि हो जाता है। वह आप में बुद्धिभेद उत्पन्न नहीं करता आपको, आपके कर्म को हीन नहीं करता। प्रत्येक कर्म्म के लिए 'बहुत अच्छा' कहता हुआ वह आप में घुल मिल जाता है। और इसप्रकार वह आपके निकटतम सम्पर्क में आकर क्रम क्रमशः आपका उद्बोधन करा देता है। उसे कोई नहीं जानता वह सबको जानता है। वह आप सब में है आप सब उसमें नहीं हैं 'न त्वहं तेषु, ते मयि'। आप सभी जैसा प्रतीत होने वाला वह कब क्या लोकोपकार कर देता है! यह आपको तब विदित होता है जबकि फल आपके सम्मुख आता है। सर्वथा अज्ञातरूपा से रहने वाला सामान्य संसारी प्रतीत होने वाला ऐसा योगी ही 'मन्मना' कहलाता है। सर्वेश्वरानुगत वैराग्यबुद्धियोग ही इसकी प्रतिष्ठा बना रहता है। मन्मनाव्यक्तलक्षण सर्वात्मा को लक्ष्य बनाने से ही एवंविध योगी का वातावरण ऐसा स्निग्ध बना रहता है। आप यह जान नहीं सकते कि, वह अमुक काम किस दृष्टि से कर रहा है?। यदि वह उच्च श्रेणि के व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है तो इसमें भी लोकसंग्रह निहित है। यदि निम्न श्रेणि के व्यक्तियों के सम्पर्क में आप उसे देखते हैं तो विश्वास कीजिए, इसमें भी लोक का अभ्युदय ही निहित है। सावधान! कहीं आप से इस सम्बन्ध में भूल न हो जाय। इससे आप उसके अनुग्रह से वञ्चित

रह जायेंगे। महाभारतयुग में पवित्र भारतभूमि को सौभाग्य से ऐसा ही योगी मिला। मानवस्वभाव की कौन कहे, ब्रह्मादि देव भी व्यामोह में पड़ गए। किसी ने उसे अपना लाडला पुत्र समझा, किसी ने अपना सखा माना तो दुर्बुद्धि दुर्योधनादि के लिए वह एक सामान्य मनुष्य ही बना रहा। उस युग में यदि सर्वात्मना किसी ने समझा तो वे थे एकमात्र कुरुकुलपितामह महात्मा भीष्म। स्वयं भीष्म के शब्दों में ही उस योगी का स्वरूपपरिचय प्राप्त करना चाहिए–'अहं स न वेद्मि' इत्यादि महाभारतसन्दर्भ से।

१७–'योगिनामपि सर्वेषाम्०' इत्यादि श्लोकसमन्वय–

हाँ तो प्रकृत विषय का समन्वय कीजिए। उन्मना योगी भी वैराग्यबुद्धियोगानुगामी योगी है, एवं मन्मना योगी भी वैराग्यबुद्धियोगानुगामी योगी है। एक (उन्मना) मानव ब्रह्मानुगत प्रज्ञानुगत से चलित रहता हुआ योग मार्ग में प्रवृत्त हुआ है। दूसरा (मन्मना)–मद्गतान्तरात्मा श्रद्धावान् बना हुआ सब में पूर्ण मिल रहा है। उन्मनायोगी का वैराग्ययोग एक प्रकार से आत्मस्थ ज्ञाननिष्ठा से समनुगत है। मन्मनायोगी का वैराग्ययोग अपने आत्मस्वरूप से सर्वात्मना विकसित है। अतएव इन दोनों योगों में मन्मनायोग ही श्रेष्ठतम माना जायगा। एवं दोनों योगियों में मन्मनायोगी का स्थान ही सर्वश्रेष्ठ माना जायगा। 'योगिनामपि सर्वेषाम्' इत्यादि द्वितीय श्लोक से इसी योगी का विश्लेषण हुआ है। [illegible] उन्मनाभावात्मक–ईश्वरप्रज्ञानुगत–वैराग्ययोगी केवल 'योगी' कहलाएगा (६।११), एवं [illegible] मन्मनाभावात्मक–सर्वात्मभावानुगत वैराग्ययोगी 'परमयोगी' कहलाएगा (६।१२) 'तपस्विभ्योऽधिको योगी' इत्यादि पूर्व श्लोक में उन्मना वैराग्ययोगी का प्रतिपादन हुआ है। एवं—'योगिनामपि सर्वेषाम्' इत्यादि उत्तर श्लोक में मन्मना योगी के अतिशय का विश्लेषण हुआ है। इस दृष्टि से–'मन्मना भव' भावेशसिद्ध सर्वात्मभावानुगत भक्तियुक्त वैराग्यबुद्धियोग ही गीता का मुख्य सिद्धान्त बन रहा है जिसके स्वरूपपरिचय के लिए तद्विषयिणी भावविज्ञान का स्वरूपपरिचय ही अपेक्षित है।

१८–दुःखमूला आत्मदोषपरम्परा–

भावस्वरूपपूर्वक सर्वकर्मसंन्यास ही गीता का वैराग्यबुद्धियोग है। इस सम्बन्ध में वैराग्यबुद्धियोगानुगत उन्मना–मन्मना–विवर्तों की मार्मिक मीमांसा की गई। अब मुख्य विषयीभूत वैराग्य–और आसक्ति नामक प्रतिद्वन्द्वियों के वैज्ञानिकस्वरूप की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। दुःखनिवृत्ति का कारण है क्लेशनिवृत्ति। क्योंकि राग–अस्मिता आसक्ति–अभिनिवेश इन चार क्लेशों से ही दुःख का आगमन होता है। क्लेशनिवृत्तिपूर्वक दुःख की निवृत्ति कराने वाले बुद्धियोगात्मक गीताशास्त्र ने दुःख का विश्लेषण करते हुए आत्मविरोधी आवरणों को हमारे सम्मुख रक्खा है जो आवरण अनेक भागों में विभक्त माने गए हैं। [illegible], [illegible] आगन्तुक, आदि विविध मर्यादित आवरण ही क्लेश हैं। क्लेश ही आत्मज्योति का अभिभव करते हुए आत्मदुःख के कारण बनते हैं। [illegible] आवरणलक्षणों में जो यदि 'आत्मदुःख' कहा जा सकता है तो क्लेशात्मक आवरणों को 'आत्मदोष' कहा जा सकता है। विचार कीजिए, आत्मविज्ञान भूतात्मा किन किन दोषों से युक्त हो कर भवपथ पर अवतीर्ण होता है?

जाति, आयु, भोग, तीनों सहित जन्मान्तरीय संचित कर्मपरम्परानुगत प्रारब्ध कर्म (संस्कार) से सम्बन्ध रखते हैं। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य, शूद्र ये चार वर्णजातियाँ एवं अन्त्यज, [illegible], दस्यु, म्लेच्छ, ये चार

प्रकृष्ट जातियाँ जातिपरिग्रह में अन्तर्भूत हैं। जन्मान्तरीय संचित शुभा-शुभ संस्कार के प्रारब्ध संस्कारानुसार ही इन आठों जातियों में से किसी एक जाति वर्णावर्ण) में प्राणी को जन्म लेना पड़ता है। सर्वव्यापक परमात्मा का अंशभूत, अतएव तत्सिद्ध योगमायावच्छिन्न जीवात्मा का संस्कारिक कर्मवशात् जातिबन्धन में आकर सीमित हो जाना अजन्मा-हृदय आत्मा का जन्मान्तरक बन जाना ही इस आत्मा का सर्वप्रधान अविद्या-नामक (अविद्यासंस्काररूपा अविद्या नामक) प्रथम आत्मदोष है। जिन प्रारब्ध कर्मों की सामर्थ्य प्रेरणा से जीवात्मा जिस योनि में जन्म लेता है, वे प्रारब्धकर्म ही स्वस्वरूपानुसार तद्योनियुक्त जीवात्मा के अनुकूल प्रतिकूल भोगसंग्रह के कारण बनते हुए अनुकूल संस्कारानुगत अनुकूल वेदनात्मक सुख प्रतिकूल संस्कारानुगत प्रतिकूल वेदनात्मक दुःख इस सुख-दुःखादि के कारण बने रहते हैं। कभी सुख कभी दुःख कभी आशा, कभी हास, कभी मन्यु, कभी भय, इस द्वन्द्वक्रम से आत्मा की स्वाभाविक शान्ति अभिभूत रहती है। आत्मा कभी हर्षातिरेक से क्षुब्ध बना रहता है कभी दुःखातिरेक से व्याकुल बना रहता है। संस्कारिक, भोगानुगत प्रारब्ध कर्मों की सामर्थ्य प्रेरणा से इच्छा न रहते हुए भी जीवात्मा को-'अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय ! बलादिव नियोजित:' के अनुसार बरबस बन कर इन भोगजनक द्वन्द्वभावों का अनुगामी बना रहना पड़ता है और यही दूसरा आत्मदोष है। जनक के सौम्य शुक्र, और जननी के आग्नेय शोणित, दोनों के मिथुनभाव में प्रविष्ट हो कर गर्भीभूत होने वाला औपपातिक जीवात्मा अतिशय दुःखप्रद गर्भाशयपञ्जर में नवमास पर्यन्त प्रतिष्ठित रहता है। कहते हैं, यदि जीवनदशा में प्राणी को उस कष्ट का स्मरण भी हो जाय, तो इस भय से इसके प्राण ही उत्क्रान्त हो जाय। 'मा देहि राम ! 'जननीजठरे निवासम्' प्रसिद्ध ही है। गर्भाशयपञ्जर के द्वारा नियन्त्रित होना तीसरा आत्मदोष है।

अमीवादि बीजसूत्रों से सम्बन्ध रखने वाले कुलक्रमानुगत शुक्रदोष पितृदोष कहलाए हैं शोणित-दोष मातृदोष कहलाए हैं। माता-पिता के शुक्र-शोणित के प्रवर्ग्यभाग से कृतशरीरी जीवात्मा शुक्र-शोणित-जनित सांक्रामिक दोषों से भी अपने आपको नहीं बचा सकता। खगोलीय प्रहसंस्था का भूगोलीय पार्थिव संस्था में रहने वाला स्वाभाविक योग ही ज्योतिः शास्त्र में 'लग्न' कहलाया है। इस लग्न से सम्बद्ध आकाश मण्डल ही विज्ञानभाषा में 'कक्ष्यपरिलोभी' कहलाई है। कक्ष्यपरिलोभी के केन्द्र का ही नाम 'लग्न' है। इस लग्नात्मक केन्द्र से सम्बद्ध आकाश में स्थित आयुर, जैसे भी ग्रह-नक्षत्रों का लग्नसमय में (गर्भाधान-काल में) जैसा भी योग रहता है उस समय में गर्भाशय में प्रविष्ट होने वाले जीवात्मा में उन् तत्समयानुरूप ग्रहप्राणों का भी सम्बन्ध होता है। यही प्राकृतिक दोष माना गया है। इसी को 'कालदोष' कहा गया है। नाडीदोष का भी इसी में अन्तर्भाव माना गया है। जिस पार्थिव भाग से प्राणी का शरीर पुष्ट-परिवर्धित होता है वह पार्थिव तत्व भी अपने गुण-दोषों से इसका आधार बनता है यही 'देशदोष' कहलाया है। साथ ही तद्देशीय मानवसमाज की वर्तमान परिस्थिति से सम्बन्ध रखने वाले गुण दोष भी इसके प्रतिबिम्ब बने बिना नहीं रहते, जिनका देशदोष में ही अन्तर्भाव माना जायगा। धार्मिक परिस्थिति के अनुरूप प्राप्त होने वाला मातृमुख भक्ष से गर्भाशय में परिपुष्ट प्राणी इस भक्ष्यदोष से भी युक्त बना रहता है। शिक्षानुगत गुण-दोष भी इसके आवरक बने रहते हैं। इसप्रकार प्रारब्धकर्मजनित आत्मदोष (जीवदोष), आवरणदोष (आविद्यक) द्वन्द्वानुभूतिदोष, मातृदोष, पितृदोष ग्रहदोष, देशदोष भक्ष्यदोष, शिक्षादोष आदि आदि अनेक दोषपरिग्रहों से युक्त हो कर ही कर्मभोक्ता (संस्कारिक कर्मफलभोक्ता) प्राणी धरातल पर अवतीर्ण होता है।

प्रारब्धकर्मजनित दोषों के कुफल तो इसे अनिवार्यरूप से भोगने ही पड़ते हैं। इनके अतिरिक्त इस वर्त्तमान जन्म में यह अपने इन्द्रियदोषात्मक प्रज्ञापराधमूलक हीन-अति-मिथ्या-योगलक्षण प्रयोगों से अन्यान्य आवरणों का भी प्रवर्त्तक बन जाता है। पूर्व परम्परा का अवसान होने नहीं पाता उत्तर परम्परा उपस्थित हो जाती है। इसप्रकार प्रत्यग्भोगादिगर्भित संचित संस्कारदोष तथा क्रियमाणसंस्कारदोष इन उभयविध दोषों से जीवात्मा के साक्षीभूत प्रत्यगात्मा की स्वाभाविक भगवत्स्मृति आवृत हो जाती है। आत्मविस्मरणलक्षणा भगवत्स्मृति ही विद्यास्मृति है। एवं आत्मसंस्मरणलक्षणा स्वेदसम्पत्ति ही अविद्यासम्पत्ति है। विद्यास्मृति जहाँ आत्मशान्ति का मूल है वहाँ अविद्यासम्पत्ति आत्मभ्रान्ति का मूल है। और इसप्रकार उक्त कृत्रिम-दोषात्मक अविद्यादोष से मानव दुःखभाजन बना रहता है जिस दुःखानुभूति का मूल आधार रागद्वेषात्मिका आसक्ति ही मानी गई है जिस राग द्वेष का निम्न लिखित निर्वचन किया जा सकता है।

१९-आसञ्जन, और आसक्ति-

सुप्रसिद्ध 'आसञ्जन' शब्द ही 'आसक्ति' है। आत्मा का प्रज्ञान मन के द्वारा विषय के साथ बद्ध हो जाना ही आसक्ति है। आसक्ति एक प्रकार का स्नेहद्रव्य (गोंद, सरेस,) है। अतएव आत्मा को उस विषयों के साथ चिपका देने वाला स्नेहतत्त्वविशेष ही आसक्ति है। आत्मा का मनो द्वारा विषय में बद्ध हो जाना लोकभाषा में 'मन का लगना' कहलाता है। विषय में मन का लगा रहना ही आसक्ति है। विषय के साथ होने वाला यह आत्मयोग (मन का लगाव) अनुकूलयोग प्रतिकूलयोग, भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। एक व्यक्ति पूर्व से पश्चिम की ओर जा रहा है दूसरा व्यक्ति पश्चिम से पूर्व की ओर आ रहा है। दोनों व्यक्तियों का सम्मुख-सम्बन्ध हो रहा है। इस समसम्मुख सम्बन्ध से दोनों के मुखाग्निमुक्त आग्नेय विद्युत् परस्पर एक दूसरे में संक्रान्त हो जाते हैं। उसकी विद्युत् इसमें इसकी विद्युत् उसमें पहुंच जाती है। उभय सम्बन्धात्मक यह विद्युत् संक्रमण ही आसक्ति है, मन का लगाव है। कैसी आसक्ति?, कैसा लगाव? समसम्मुख सम्बन्धानुगता अनुकूला आसक्ति, अनुकूल लगाव।

२० राग का तात्त्विक निर्वचन-

दोनों के शरीर पृथक् पृथक् हैं। शरीर नहीं मिल रहे, फिर सम्बन्ध हो रहा है। दोनों समान लक्ष्यानुगामी बने हुए हैं। इसी अनुकूलासक्ति को, अनुकूल लगाव को वैज्ञानिकों ने—'राग' नाम से व्यवहृत किया है। 'राग' शब्द में रकार' 'गकार ये दो (र-ग) अक्षर हैं। 'र' का अर्थ है 'दान' (देना), 'ग' का अर्थ है-'गति' (जाना)। 'रा' धातु दानार्थक है ('रा' दाने)। 'गम्' धातु गत्यर्थक है। दान, और गति, दोनों व्यापारों के समन्वितरूप का ही नाम 'राग' है। रात्-ददत्-गच्छति इति रागः' राग शब्द का यही तात्त्विक निर्वचन है। अपनी सम्पत्ति देते हुए सम्मुखावस्थित विषय की ओर जाना, प्रवृत्त होना ही 'राग' का तत्त्वार्थ है। यह अपनी विद्युत् उसमें देता हुआ उसका अनुगामी बन रहा है। वह अपनी विद्युत् इसमें देता हुआ इसका अनुगामी बना हुआ है। सिद्ध है कि, राग सदा दो वस्तुओं के समसम्मुख को आधार बना कर ही प्रवृत्त होता है। राग त्रिविध बन कर ही स्वस्वरूप से विकसित होता है। 'रञ्जनं रागः-रज्यतेऽनेनेति रागः' निर्वचन भी प्रसिद्ध है। अनुकूलविषयस्पर्श अनुकूलविषयभोग, एवं अनुकूलसंस्कार वर्षण तीनों ही अनुकूला आसक्तियाँ राग में अन्तर्भूत हैं।

२१-द्वेष का तात्त्विक निर्वचन—

राग से ठीक विपरीत 'द्वेष' भाव है। एक व्यक्ति पूर्व से पश्चिम उलटे पाँव आ रहा है, दूसरा व्यक्ति पश्चिम से पूर्व उलटे पाँव आ रहा है। इस विपरीत गति से दोनों का मध्य स्थान में सम्पर्क हो जाता है। दोनों के पृष्ठभाग (पीठ) मिल जाते हैं। पृष्ठभाग अवश्य मिल जाते हैं, परन्तु दृष्टि दोनों की सर्वथा विभिन्न रहती है। एक पूर्व की ओर देख रहा है, तो दूसरा पश्चिम को ओर देख रहा है। शरीर मिले हुए हैं, दृष्टि सर्वथा विभिन्न है, यही विपरीतभाव प्रतिकूलासक्ति है, यही प्रतिकूलासक्ति 'द्वेष' है। निरुक्त्यनुसार 'द्वेष' में 'दुर्-एषा' ये दो विभाग हैं। 'दुर्' शब्द दुष्टभाव का सूचक है, 'एषा' शब्द इच्छाभाव का सूचक है। दुष्ट इच्छा, विपरीत इच्छा, विपरीत विषयासक्ति ही द्वेष है। 'मयेद्वर्णागमात्' न्याय से 'दुर्' के रकार का लोप हो जाने से मध्यद्वारा द्वेष शब्द सम्पन्न हुआ है। राग में यदि आत्मसमर्पण करते हुए विषय के साथ योग है, तो द्वेष में विषय से हटते हुए विषय के साथ योग है। आत्मयोग जितना राग में है, उतना ही द्वेष में है। यही क्यों, रागापेक्षया द्वेष में आत्मयोग दृढ़मूल बना रहता है।

रज्जु की सीधी ग्रन्थि (गाँठ) राग है विपरीत (उलटी) ग्रन्थि द्वेष है। सीधी गाँठ की अपेक्षा उलटी गाँठ का बन्धन अधिक दृढ़ होता है। राग में शरीर नहीं मिलते, दृष्टि मिलती है। द्वेष में दृष्टि नहीं मिलती, शरीर मिलते हैं। राग में आप दोनों अपने शरीर से पृथक् पृथक् प्रदेशों में खड़े हुए हैं। परन्तु आप उसे देख रहे हैं, वह आपको देख रहा है। दोनों का दृष्टिपथलक्ष सम बना हुआ है। दोनों का सहयोग हो रहा है। शरीर से पृथक स्थिति, किन्तु लक्ष्य एक यही रागोदाहरण है। आप उसकी ओर मुँह करके खड़े हो गए, पीठ से पीठ मिला दी। शरीरापेक्षया आप मिल गए, परन्तु दृष्टियाँ सर्वथा विभिन्न हो गईं। शरीर मिल रहे हैं परन्तु लक्ष्य सर्वथा विदूर हो गए हैं। सहयोग में असहयोग हो रहा है सम्बन्ध में असम्बन्ध हो रहा है आन्तर्य्य में अनान्तर्य्य हो रहा है, मेल में बेमेल पनप रहा है। शरीरों से समानस्थिति, किन्तु लक्ष्य विभिन्न, यही द्वेषोदाहरण है। राग में विषयागमनपूर्वक बन्धन है द्वेष में विषयगमनपूर्वक बन्धन है। सर्प, सिंह हिंसक सिंह-व्याघ्रादि प्राणी, दुष्ट नर, आदि विषयों से हम बचते रहते हैं, इनसे विदूर रहना चाहते हैं, परन्तु इनके आकार से मन आकारित बना रहता है। राग में विषय का सम्बन्ध है, द्वेष में विषयसंस्कार का सम्बन्ध है। विषयसम्बन्ध ऐन्द्रियक है संस्कारसम्बन्ध मानसिक है। इन्द्रियापेक्षया मन अधिक शक्तिशाली है। अतएव इन्द्रियानुगत रागात्मक विषयबन्धनापेक्षया मनोऽनुगत द्वेषात्मक संस्कारबन्धन अधिक दृढ़ बना रहता है।

२२-रागद्वेष के अनुकूल प्रतिकूल भाव—

जिस विषय से राग हो जाता है, जिससे आप राग रखते हैं वह विषय सदा आँखों में समाया रहता है। * बारबार मन उस ओर अनुधावन करता रहता है। जिस विषय के साथ संस्काररूप से द्वेष होता है वह विषय भी सदा आँखों में घूमा करता है। द्वेषात्मक दुःखानुशायी रागापेक्षया दुःखानुशायी द्वेषबन्धन अधिक दृढ़ होता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, आप कभी मित्र को भूल सकते हैं, परन्तु शत्रु कभी नहीं

---

* "ओकःसारी वा इन्द्रः। यत्र वा एष इन्द्रः पूर्वं गच्छति, एव तत्रापरं गच्छति"।

भुलाया जा सकता। भुलाना चाहते हैं परन्तु वह भूलना नहीं चाहता। मानना पड़ेगा कि, राग की अपेक्षा द्वेषासक्ति कहीं अधिक दृढ़मूल है। एक चमत्कार और देखिए। राग में दोनों मित्रों के मनोगत भाव, आत्मसम्पत् का परस्पर आदान-प्रदान है। द्वेष्यमान सम्पत् का तो अपहरण कर लेता है परन्तु द्वेष में भी आरम्भ में तो आदान-प्रदान अवश्य ही रहता है। परन्तु कालान्तर में द्वेषी में द्वेष्य धर्मों का प्रदान हो जाता है। द्वेषी मनुष्य उस द्वेष्य की विभूति को छीन लेना चाहता है परन्तु अपनी विभूति का प्रदान कर बैठता। कारण स्पष्ट है। द्वेष्य विषय प्रतिकूलता से ही सही, इसके मानस भवन में स्थानसम्पात अवश्य कर लेता है। इसीसे एक यह भी तत्त्व निकल आया कि, विशुद्ध मित्रों से, हीनचरित्रों से, दुर्बुद्धि मनुष्यों से द्वेष रखने वाला मनुष्य भी उन आगन्तुक द्वेष्य धर्मों के सम्बन्ध से निकृष्ट, हीनचरित्र, दुर्बुद्धि बन जाता है। जिसके साथ द्वेष किया जाता है उसकी हानि नहीं होती, द्वेष करने वाला स्वयं अपनी हानि कर बैठता है। यदि द्वेष्य का स्वरूप उत्कृष्ट विषय, उदात्त चरित्र, बुद्धिमानता है तो द्वेष रखने वाला मनुष्य भी उनके आगन्तुक द्वेष्य धर्मों के सम्बन्ध से उत्कृष्ट, सच्चरित्र, बुद्धियुक्त बन जाता है। रावण, कंस, शिशुपालादि ने भगवान् रामकृष्ण के साथ जीवन पर्यन्त द्वेष किया। परिणाम इस द्वेषासक्ति का यह हुआ कि, द्वेष्य रामकृष्ण के भगवत् धर्मों का द्वेषी रावणादि में समावेश हो गया और फलस्वरूप ये लोग उनसे द्वेष करते हुए मुक्त हो गए ×। निष्कर्ष यही निकला कि अनुकूलासक्ति राग है, प्रतिकूलासक्ति द्वेष है। स्वरूपतः दोनों समान हैं। अतएव 'रागद्वेष' दोनों को हम 'आसक्ति' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं एवं इसके रागासक्ति, द्वेषासक्ति ये दो विवर्त माने जा सकते हैं। आसक्तिरूपेण रागद्वेष के इसी व्यक्तिगत स्वरूप विश्लेषण के आधार पर दोनों के निम्न लिखित लक्षण हो जाते हैं—

१—अनुकूलासक्तिबन्धन—'राग'
२—प्रतिकूलासक्तिबन्धन—'द्वेष'
} —आसक्ति

२३—रजोगुणमूलक कामक्रोधद्वन्द्व—

पूर्व दृष्टि से रागद्वेषलक्षणों का समन्वय कीजिए। ज्ञानजनित भावनासंस्कार, कर्मजनित वासना-संस्कार, दोनों संस्कार उपचार से मनोवातावरण पर प्रतिष्ठित रहते हैं। जन्मान्तरीय संस्कार जन्मान्तर से भी प्रतिष्ठित हैं एवं वर्तमान जन्म में व्यवहारदशा में बने हुए ज्ञान-कर्मों से भी नवीन नवीन भावना-वासना-संस्कार उत्पन्न होकर उपचार में परिणत होते रहते हैं। अतीतसंस्कारवश उत्पन्न ही अर्थकर काम (कामना-इच्छा) का जनक बनता है। सर्वविध संस्कार उपचार से मन पर आश्रित रहता है, स्वाभाविक अर्थिजन्य ही है कामना हुआ करती है। यदि उपचारसंस्कार अनुकूल हैं तो उनसे निकलने वाली कामना भी अनुकूल

× उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः ।
द्विषन्नपि हृषीकेशं, किमुताधोक्षजप्रियाः ॥
—श्रीमद्भागवत

ही रहती है। यदि उत्क्षसंस्कार प्रतिकूल हैं, तो उनसे विनिर्गत कामना भी प्रतिकूल ही रहती है। अनुकूल कामना स्नेहगुणप्रधाना है प्रतिकूलकामना तेजोगुणप्रधाना है। स्नेहगुणप्रधाना अनुकूल कामना में मन प्रधान बना रहता है तेजोगुणप्रधाना प्रतिकूल कामना में शारीराग्नि प्रधान बना रहता है। मनःप्रधाना अनुकूल कामना स्नेहगुणक सौम्य मन सम्बन्ध से ग्रहणशीला बनी रहती है, शरीराग्निप्रधाना प्रतिकूलकामना तेजोगुणक आग्नेय शरीरसम्बन्ध से परित्यागशीला बनी रहती है। मनोऽनुगता स्नेहगुणप्रधाना ग्रहणशीला अनुकूलकामना ही 'काम' नाम से व्यवहृत हुई है। शरीरानुगता तेजोगुणप्रधाना परित्यागशीला प्रतिकूल कामना ही 'क्रोध' नाम से व्यवहृत हुई है। इसप्रकार उत्क्षसंस्कारपुञ्ज से अर्कस्वरूप में परिणत होकर निकलने वाली मानस कामना ही स्नेह-तेजोगुण भेद से अनुकूल-प्रतिकूल भावों में विभक्त होती हुई काममयी कामना क्रोधमयी कामना, इन दो भावों में विभक्त हो जाती है। इन दोनों की मूलप्रतिष्ठा 'रजोगुण' माना गया है। ज्ञानप्रधान सत्वगुण में कामना की निवृत्ति है अर्थप्रधान तमोगुण में कामना का अभिभव है। एवं क्रियाप्रधान रजोगुण में कामना का उदय है। महद्भाव ही 'रजोभाव' है। रञ्जन ही 'रज' है महद ही रञ्जन है। यह महद्भाव ग्रहणात्मक महद, परित्यागात्मक महद, दो भावों में विभक्त है। स्नेहानुगत महद ग्रहणात्मक महद है तेजोऽनुगत महद परित्यागात्मक महद है। ग्रहणात्मक महद का आधार 'काम' है, परित्यागात्मक महद का आधार 'क्रोध' है। दोनों रञ्जनात्मक है। अतएव दोनों का मूल रञ्जनात्मक रजोगुण ही माना जायगा, जैसाकि निम्नलिखित भगवद्वचन से प्रमाणित है –

> काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
> महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
>
> —गी० ३।३७।

२४–रागासक्ति का उदाहरण—

रजोगुणानुगत-सम्बित अनुकूल संस्कारोत्थानच्छिन्न शारीराग्निनिर्गमित मन से निकलने वाली रश्मियाँ ही 'काम' नाम की अनुकूल कामना है। यह अनुकूल कामना अनुकूल विषय के ही अनुगत बनी रहती है। अतएव कामात्मिका अनुकूल कामना सुखानुगामिनी मानी गई है। सुख ही 'कम्' है, मन ही मकार है। 'क-अ-म्-अ' के अनुसार सुख में (सुखानुगत अनुकूल विषयमहदा में) ओतप्रोत मन ही 'काम' है। इस 'काम' से होने वाला अनुकूल विषयानुगत अनुकूलकामात्मक अनुकूल संस्कारबन्धन ही राग है, यही रागासक्ति है जिसका निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

आपने घर से निकल कर आप उद्यान में जाते हैं। मार्ग में आपकी दृष्टि किसी अतिशय सुन्दर दृश्य पर पड़ जाती है। आगे बढ़ना रुक जाता है। आप वहीं खड़े रह जाते हैं, और मनोयोग पूर्वक उसे देखने में तन्मय बन जाते हैं। विशेषमनोयोगानुगता इस तन्मयता से 'उपश्लिष्टभेद' नामक खर गायत्रीमात्रिक भेद से उस दृश्य का आकार आपके मनमें सञ्चित हो जाता है। और इसप्रकार उद्यानोद्देश्य से निकले हुए आप मार्ग में ही एक नवीन वस्तु का ग्रहण कर ले जाते हैं। आप आगे अवश्य निकल गए, सुन्दर दृश्य के सम्पर्क से अवश्य अलग हो गए। किन्तु जिस दृश्याकार के साथ आपका सम्बन्ध हुआ था वह मन पर लग गया। बस आगे से ही तो वैज्ञानिकों ने उस लगने वाले आकारविशेष को 'वासनासंस्कार' कहा है। आपने

किसी दिन अतिथिरूप से सुस्वादु कलाकन्द खा लिया। भुक्त कलाकन्द कालान्तर में रस-मल के क्रमिक विभाजन से रक्तास्थिमज्जादिरूप में परिणत होकर अपना अस्तित्व खो बैठा। परन्तु वह अपने स्वाद की छाप आपके मन पर जमा गया। वह स्वाद-छाप आपके मन पर बस गई। इसप्रकार इन्द्रियों के द्वारा सम्पर्क में आने वाले विषयविशेष मनोयोग से स्वयं हटते हुए भी अपनी संस्कारात्मिका आकृति छोड़ जाते हैं। यही आकृति मन पर बसती हुई वासना नाम से प्रसिद्ध हुई है।

आप घर लौट आते हैं अन्यान्य कार्यों में व्यस्त हो जाते हैं। अन्यान्य कर्मजनित वासनाओं से आवृत दर्शनजनित वह वासनासंस्कार थोड़ी देर के लिए अभिभूत बन जाता है। परन्तु कार्यव्यग्रता से उन्मुक्त होते ही वह संस्कार उद्बुद्ध हो पड़ता है। इस संस्कारोद्बोध का ही नाम 'स्मृति' (याद) है। व्यापारोन्मुखा वासना 'वासना' है एवं व्यापारोद्बुद्धा वासना 'स्मृति' है। वासना का निर्व्यापाररूप वासना है, व्यापाररूप स्मृति है। पूर्वावस्था वासना है, उत्तरावस्था स्मृति है। इसी आधार पर वासना स्मृति की जननी मान ली गई है। इसप्रकार संचित संस्कारात्मिका वह कलाकन्दास्वादात्मिका वासना स्मृति के द्वारा आपके मन को वासनासंस्कारानुगत (सम्बन्धी) उसी दृश्य की ओर—'चलो पुनः उसे देखें' इसप्रकार आकर्षित करती रहती है। यह संस्कारानुगत–आत्ममय–आकर्षण ही आलम्बन लक्षण 'राग' किंवा रागासक्ति है। स्मृति ही रागासक्तिलक्षण विषयबन्धन की जननी बनती है।

रागासक्तिजननी स्मृति का उदय क्यों, और कब होता है? इस मार्मिक प्रश्न की भी मीमांसा कर लीजिए। बतलाया गया है कि, अन्यान्य कार्यों में व्यस्त हो जाने से तज्जनित संस्कारों के चयन से पूर्वसञ्चित संस्कार दब जाता है वासना को स्मृतिरूप में परिणत होने का अवसर नहीं मिलता। आसक्तिलक्षण संस्कारासक्ति विषयासक्ति भेद से दो भावों में परिणत रहता है। सांस्कारिक राग संस्कारासक्ति है वैषयिक राग विषयासक्ति है। संस्काररागात्मिका आभ्यन्तर है, यही विषयरागासक्ति की (स्मृति द्वारा) जननी बनती है। विषयरागासक्ति बाह्य है यह संस्काररागासक्ति पर प्रतिष्ठित रहती है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि विषयदर्शन (दृश्यदर्शन) काल में यदि विषयासक्ति है, तो संस्कारासक्ति का उदय होता है। एवं यही संस्कारासक्ति आगे चल कर तदनुबन्धी विषयासक्तिभाव की स्मृतिद्वारा जननी बनती है। यदि विषयदर्शनकाल में विषयासक्ति का अभाव है तो तज्जनित संस्कार में मन आसक्त नहीं होने पाता, और उस दशा में दृश्यदर्शन करता हुआ भी मन संस्कारग्रहण करता हुआ भी मन उस संस्कार में आसक्त नहीं होता। संस्कारासक्ति-विरहित ऐसे मन में रहने वाली भी वासना स्मृति के द्वारा विषयासक्ति की जननी बनने में असमर्थ रह जाती है। अतः सर्वप्रथम हमें उस आभ्यन्तर मूलासक्ति के सम्बन्ध में ही क्यों और कैसे ?, प्रश्नों का समन्वय करना चाहिये।

२५—कर्मतत्त्व के चार विवर्त, एवं रागासक्ति का समन्वय—

कर्मतत्त्व को चार भागों में विभक्त कीजिए, तभी इस सांस्कारिक-चक्रव्यूह का भेदन हो सकेगा। जन्मान्तरीय संस्कार एक विभाग है। ऐहिक विषयसाक्षात्कार दूसरा विभाग है। विषयसाक्षात्कारजनित ऐहिक-संस्कार तीसरा विभाग है। ऐहिक संस्कार से स्मृति के द्वारा उत्पन्न विषयसाक्षात्कारकर्षणा चौथा विभाग है। चारों में मूलतत्त्व जन्मान्तरीय वह सांस्कारिक प्रारब्ध कर्म है जिसकी सामर्थ्य प्रेरणा से आप यथाकाल पर

अवतीर्ण हुए हैं। जन्मान्तरीय संस्कारपुञ्ज में जो धर्म्म, जो गुण रहते हैं, आपका मन तदनुरूप ही धर्म्म-गुणात्मक विषयसाक्षात्कार में प्रवृत्त होता है। जन्मान्तरीय संस्कारतारतम्य से ही ऐहिक जन्मानुगत विषयसाक्षात्कारों में तारतम्य का उदय होता है। यदि आपके प्रज्ञाधरातल पर जन्मान्तरीय सुन्दररूपसंस्कार अंकित हैं तभी आप अपने इस जीवन में सुन्दररूप को देख कर प्रभावित हो सकते हैं। यदि जन्मान्तरीय सुन्दररूप-संस्कार का अभाव है, तो इस जन्म में सुन्दर से सुन्दर दृश्य भी आपके मन को आकर्षित न कर सकेंगे। आप देखेंगे कि, कितने एक व्यक्ति तो सौन्दर्य्य का अवलोकन करते ही अपनापन खो बैठते हैं। उधर ऐसे भी कुछ व्यक्तियों की कमी नहीं जिनके मन के लिए सुन्दरता का कोई अर्थ ही नहीं है। कितने एक व्यक्तियों का मन जहाँ मृदङ्ग की थाप पर थिरकने लगता है, वहाँ कितने एक महापुरुष 'भैंसके आगे मृदङ्गवादन'* को चरितार्थ बनाते रहते हैं। कितने एक व्यक्ति सामान्य शिक्षित होते हुए भी व्याख्यानकुशल बन जाते हैं। इधर कितने एक पठितस्नातक सभा में सर्वथा मूक बने रह जाते हैं। उसी विरह मर्मचित्र से एक व्यक्ति की आँखों से जहाँ पानी निकल पड़ता है वहाँ अन्य व्यक्ति पत्थर-मूरत की भाँति उसे पढ़ता हुआ सीत्कार भी नहीं करता। दिग्दर्शनमात्र है। प्रत्येक प्राणी की ऐन्द्रियक-विषयसाक्षात्कार-अनुभव-योग्यता उस प्राणी के जन्मान्तरीय सञ्चित संस्कार की योग्यता से ही सम्बन्ध रख रही है। इससे तत्त्व यही निकलता है कि विषय-साक्षात्कारानुगता रागासक्ति की जननी जन्मान्तरीय संस्काररूपिका रागासक्ति ही है। यही आभ्यन्तर मूलासक्ति है यही ऐहिक विषयसंस्कारासक्ति की जननी बनती है। उद्यान जाते हुए आपको मार्गस्थ सुन्दररूपात्मक चक्षुरिन्द्रिय के विषय ने आकर्षित क्यों कर लिया ?, क्यों आप उसके प्रभाव से प्रभावित होकर वहीं खड़े रह गए ?, प्रश्न का समाधान यही जन्मान्तरीया संस्काररूपिका रूपासक्ति है जो पहिले से आपके मनो धरातल पर अङ्कित है। विश्वास कीजिए, यदि आप में बाह्य दृश्य सजातीय आभ्यन्तर दृश्यसंस्कार का (जन्मान्तरीय संस्कार का) अभाव रहता, तो कभी आप उस बाह्य सौन्दर्य से राग नहीं कर सकते थे। जिनमें दृश्यसौन्दर्य्य-संस्कार पहिले से नहीं रहता, उन पर ऐसे बाह्य सुन्दर दृश्यों का कोई प्रभाव नहीं होता। यही प्रथम क्षेत्र का विश्लेषण है।

जन्मान्तरीय दृश्यसंस्कारवशा आप में 'मैं इस दृश्य को देखता रहूँ—देखूँ' इस प्रकार की रागात्मिका कामना का उदय होता है। यहाँ थोड़ा समझना है। पूर्वखण्डों में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, अध्यात्मकामना उचित-अनुचित भेद से दो मार्गों में विभक्त रहती है। सुन्दर-असुन्दर, अच्छे-बुरे, जो भी दृश्य मार्ग में आवेंगे, चक्षुरिन्द्रिय का स्वभावतः उनके साथ सम्बन्ध होगा ही। चक्षुर्व्यापार क्रिया है, क्रिया कामना को आधार बना कर ही प्रवृत्त होती है। फलतः प्रत्येक ऐन्द्रियक व्यापार में मानसकामना का अनिवार्य्य सहयोग सिद्ध हो जाता है। यह सहजकामना ही उचितानुचितभावशून्या 'ईश्वरकामना' कहलाई है जिसका पूर्वखण्डों में—'निष्कामभावात्मिका कामना' रूप से विश्लेषण हुआ है। इस कामना में बुद्धि प्रधान रहती है, मन गौण रहता है। मनोगर्भिता बुद्धि से सम्बन्ध रखने वाली कामना ही सहजकामना है। जन्मान्तरीय-संस्कारवशात् से आप सुन्दर दृश्य की ओर आकर्षित हों, अथवा तो यों ही आपका मन उस ओर चला जाय यदि आपका मन सहजकामना का अनुयायी है, तो रहता हुआ भी जन्मान्तरीय संस्कारवशीत्व आपके मन को उस दृश्य विषयसंस्कार में आसक्त नहीं होने देगा। ऐसा विश्वेश्वर के विश्व की सुन्दरता का अवलोकन

* भैंस के आगे मृदङ्ग बजाना।

किया, आगे निकल गए। जैसे असुन्दर ने क्षोभ उत्पन्न नहीं किया, वैसे सुन्दर ने व्यामोह में नहीं डाला। और यों उच्छिष्टाकांक्षा के अनुग्रह से आप ऐहिक जन्मानुगत चिरसंस्कारासक्ति से बचे रह गए। इस कोटि में आगे की चक्रपरम्परा अवरुद्ध हो जाती है। न वासनासंस्कार को दृढमूल बनने का अवसर मिलता, अतएव न स्मृति का उदय होता, एवं न भविष्य में तद् रस की लालसा ही होती।

ऐहिक जन्मानुगत चिरसंस्कार का आसक्तिरूप में परिणत होता है ? प्रश्न का एकमात्र उत्तर है— उत्पाद्याकांक्षालक्षणा 'जीवकामना'। यही 'कृत्रिम कामना' कहलाती है। इस कामना में आत्मा बुद्धि गौण रहती है, केवल मन प्रधान रहता है। बुद्धिगर्भित मन से सम्बन्ध रखने वाली कामना ही जीव की कृत्रिम वैचारिक-कामना है। जन्मान्तरीय धर्माधर्मसंस्कार स्वयं जीवात्मा का प्रधान था। उसने ऐहिक जन्मानुगत जीवकामना को प्रोत्साहित किया, मन वहीं रम गया। मन का यह रमना ही चिरकालिक अनुध्यान कहलाया। चिरकालिक इसी अनुध्यान से मन उस दृश्य विषयदर्शन में तल्लीन हो गया। तल्लीनता से उत्पन्न दृश्य-संस्कार के साथ इसी तल्लीनता से मन आबद्ध हो गया, और यों उत्पाद्याकांक्षा के अनुग्रह से मन विषयदर्शन जनित दृश्य संस्कार में आसक्त हो गया। क्यों आसक्त हो गया ?, प्रश्न का एकमात्र उत्तर जीवकामनामय मन का यही चिरकालिक विषयानुध्यान है, जिसका—'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते' इत्यादि शब्दों से विश्लेषण हुआ है।

'चिरकालिक अनुध्यान' चञ्चल मन के लिए एक कठिन समस्या है। मन किसी भी विषय पर चिर कालपर्यन्त जमा रहे, यह असम्भव है। अवश्य ही चञ्चल मन के चिरकालिक अनुध्यान-लक्षण के लिए किसी अन्य स्थिर सहयोगी की अपेक्षा है। वह सहयोगी कौन है ? चञ्चल भी मन कैसे अनुध्यान में समर्थ हो जाता है ? इत्यादि प्रश्नों का वैज्ञानिक विश्लेषण पूर्व खण्डोंमें किया जा चुका है—वहाँ का निष्कर्ष यही है कि मार्गव-अतएव स्नेहयुक्त मन चिपकना जानता है, परन्तु अपने सौमा-नुगत स्वाभाविक स्वधर्म से ठहरना नहीं जानता। उधर आङ्गिरस, अतएव तेजोयुक्त बुद्धितत्त्व अपने सावित्राग्न्यनुगत स्वाभाविक स्वधर्म से ठहरना जानता है, परन्तु चिपकना नहीं जानता। आसक्तिबन्धन में चेप, और ठहराव, दोनों धर्म्म अपेक्षित हैं। यह तभी सम्भव है, जबकि स्नेह (चेप) धर्म्मा मन तेजो (ठहराव) लक्षणा बुद्धि को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित कर लेता है। चिरस्थितिलक्षणा बुद्धि से मिल जाती है, अनुध्यान मन से हो जाता है। दोनों के समन्वित रसात्मक मन से चिरकालिक अनुध्यान उत्पन्न हो जाता है, फलस्वरूप आसक्ति का उदय हो जाता है। यही बुद्धिसहयोग लोकभाषा में—'चिन्तन' कहलाता है। चिन्तन करना अनुध्यान करना बुद्धिव्यापार है। विषय की छाप होता है मन, विषयाकार में परिणत होता है मन, एवं छाप को दृढमूल बनाती है बुद्धि, यही रहस्य है। कैसी बुद्धि का सहयोग ?, अपेक्षाबुद्धि का सहयोग। बुद्धितत्त्व के उपेक्षा-अपेक्षा-विवर्त्तों का भी पूर्व में ही विश्लेषण किया जा चुका है। उपेक्षाबुद्धि जहाँ उच्छिष्टाकांक्षा की जननी मानी गई है, वहाँ अपेक्षाबुद्धि उत्पाद्याकांक्षा की जननी मानी गई है। उपेक्षाबुद्धि में मन बुद्धि के आधीन रहता है। अपेक्षाबुद्धि में बुद्धि मन की अनुवर्त्तिनी बनी रहती है। उपेक्षा-बुद्धिसहकृत मन बुद्धिलक्षण है, अपेक्षाबुद्धिसहकृत मन मनोलक्षण है। बुद्धिलक्षण मन उच्छिष्टाकांक्षानुगामी बनता हुआ आसक्ति से पृथक् है। मनोलक्षण मन उत्पाद्याकांक्षानुगामी बनता हुआ आसक्ति से युक्त है। तात्पर्य्य—बुद्धिसहकृत मन जन्मान्तरीय संस्कारानुबन्ध से उत्पाद्याकांक्षा के द्वारा बाह्य दृश्य विषयों के साथ सम्बद्ध

हुआ बुद्धिसम्बन्ध से मन वहीं चिरकालिक अनुध्यान में प्रवृत्त हो गया। इस चिरकालिक अनुध्यान से मन दृश्यविषयजनित संस्कार में आसक्त हो गया। क्यों मन वासनासंस्कार में आसक्त हो जाता है ? प्रश्न की यही संक्षिप्त मीमांसा है। जन्मान्तरीय संस्काराकर्षण के अनुग्रह से उत्पन्न-एवं सक्त बनी हुई मानस कामना का चिरकालिक अनुध्यान ही इस ऐहिक जन्मानुगता विषयसंस्कारासक्ति का मूलकारण है। यही दूसरे क्षेत्र का विश्लेषण है।

जन्मान्तरीय संस्काराकर्षण से आप दृश्य में प्रवृत्त हुए, विषयसाक्षात्कार की ओर अभिनिवेशपूर्वक आकर्षित हुए, तत्पाप्त्याकांक्षामूलक चिरकालिक अनुध्यान से साक्षात्कृत विषय से उत्पन्न तृतीय क्षेत्र में प्रतिष्ठित दृश्य संस्कार में आपका मन आसक्त हो गया। यह सम्पत्ति अर्जित कर आप घर लौट आए, अन्यान्य कार्यों में व्यापृत हो गए। अन्यान्य कार्यों में व्यस्त रहने से कुछ समय के लिए उस संस्कार का अभिभव हो गया। परन्तु आसक्ति के अनुग्रह से यह दृश्यसंस्कार स्वतन्त्र उद्बोधन में परिणत हो जाता है। उद्बोध से अर्थ निकलना अनिवार्य है। प्रतिबन्धक जब तक रहेगा, अर्थ न निकलेंगे। वहाँ प्रतिबन्धक हटे नहीं कि, उद्बोध से अर्थ निकले नहीं। अन्यान्य कार्यों की व्यस्तता उस दृश्यसंस्कारोद्बोध के लिए प्रतिबन्धक सामग्री है। जब तक यह रहती है तब तक उसे अर्थप्रसार का अवसर नहीं मिलता। वहाँ आप उन अन्यान्य कार्यों से उपरत हुए नहीं कि, इस प्रतिबन्धक के हटते ही वहाँ से अर्थ निकल पड़ेंगे। यही उद्बोधजनित, उद्बोधविनिःसृत अर्थ-'स्मृति' कहलाई है। अन्यान्य कार्मों में पड़ कर थोड़ी देर के लिए आप उसे भूल जाते हैं, अवकाश मिलते ही 'फिर याद हो आती है' इस लोकसिद्ध स्वाभाविक अनुभूति का यही तत्त्व है।

स्मृति ने उदित होकर क्या किया ?, प्रश्न की भी मीमांसा कर लीजिए। काम से सङ्ग उत्पन्न होता है, अथवा सङ्ग से काम उत्पन्न होता है ?, इस प्रश्न के उत्तर पर ही स्मृतिविषयक प्रश्न का उत्तर निर्भर है। अतः दो शब्दों में पहिले इसी प्रश्न के उत्तर का अन्वेषण कर लीजिए। केवल ऐहिक जीवन को आधार बना कर ही इस प्रश्न के उत्तर की मीमांसा करनी पड़ेगी। नहीं तो इस काम-और सङ्ग (आसक्ति) परम्परा की थाह पा लेना असम्भव हो जायगा। कारण स्पष्ट है। जन्मान्तरीय सञ्चित संस्कारासक्ति (सङ्ग) का मूल पूर्वजन्मानुगत काम है। पूर्वजन्मानुगत काम का मूल उससे भी पूर्वजन्म का सञ्चित सङ्ग है। इसप्रकार एवं प्रवर्तित इस काम-सङ्ग-चक्र का पर्य्यवसान समझ लेना असम्भव बन रहा है। प्रश्न है केवल वर्त्तमान जन्म से सम्बन्ध रखने वाले सङ्गभावों, तथा कामभावों का। इस जन्म में सुन्दर दृश्य देखने की कामना क्यों हुई ?, इस प्रश्न का उत्तर तो जन्मान्तरीय सञ्चित संस्कारसङ्ग (आसक्ति) ही है। यदि जन्मान्तरीय संस्कारसङ्ग न होता, तो दृश्यदर्शनकामना का उदय असम्भव था। इस दृष्टि से दृश्यदर्शनात्मक काम (इच्छा) को हम जन्मान्तरीय संस्कारासक्ति की अपेक्षा से 'सङ्गजनित' मान सकते हैं। जन्मान्तरीय सञ्चित संस्कारसङ्ग उद्गम है इससे निकलने वाली दृश्यदर्शनाभिलाषा कामना (काम) अर्थ है। और इस काम के सम्बन्ध में-'सङ्गात् सञ्जायते कामः' (जन्मान्तरीयसंस्कारासक्त्या दृश्यदर्शनानुभवेच्छोदयः) यह कहा जा सकता है।

जन्मान्तरीय सङ्ग से दृश्यदर्शन की कामना हुई, कामनाकर्षण से दृश्य देखा मन के चिरकालिक अनुध्यान से दृश्यविषय का ऐहिक जन्मानुगत नवीन संस्कारसङ्ग (दृश्यविषयदर्शनजनित दृश्यसंस्कारासक्ति) का उदय हो गया। दृश्यविषयात्मक सङ्ग (दृश्यसंस्कारासक्ति) का मूल क्या ? इसका उत्तर इस दृष्टि से

हुआ–'ध्यायतो विषयान् पुंस' सङ्गस्तेषूपजायते' । निष्कर्ष तात्पर्य यही है कि, जन्मान्तरीय सङ्ग से उत्पन्न काम का चिरकालिक अनुध्यान ही ऐहिक जन्मानुगत दृश्यसंस्कारसङ्ग का जनक है। दूसरे शब्दों में दृश्यकाम वहाँ सङ्ग से उत्पन्न था वहाँ पुनः सङ्ग काम से उत्पन्न है। जन्मान्तरीय सङ्ग से उत्पन्न काम (इच्छा) ने ही चिरकालिक अनुध्यान के द्वारा दृश्यविषयसंस्कार को सङ्ग रूप में परिणत किया है, जो सङ्ग ऐहिक जन्मानुगत एक स्वतन्त्र–नवीन उपाय बन जाता है। जैसे जन्मान्तरीय संस्कारलेशात्मक सङ्गात्मक उपाय से दृश्यदर्शनानुगत कामात्मक मर्म का उदय हुआ था एवमेव इस मर्मरूप काम के चिरकालिक अनुध्यान से उत्पन्न दृश्यसंस्काररूप–सङ्गात्मक नवीन उपाय से भी दृश्यसंस्कार के पुनः दर्शनानुगत कामनारूप मर्म का उदय होना स्वाभाविक बन जाता है। यही कामना 'स्मृति' नाम से व्यवहृत हुई है। यह काम सङ्गजनित माना जायगा जिसके लिए 'सङ्गात् सञ्जायते कामः' कहा गया है। 'सङ्ग से काम, काम के चिरकालिक अनुध्यान से सङ्ग और इस सङ्ग से स्मृत्यनुगत–स्मृत्यात्मक काम' इसप्रकार वर्तमान जन्म में सङ्ग, और कामभावों का यही पौर्वापर्य माना जायगा।

१–जन्मान्तरीयसञ्चितसंस्कारसङ्गात्–(जन्मान्तरीयोपभोगात्)– दृश्यदर्शनानुगतः–कामरूप–कामो जायते (सञ्चितसङ्गात् दृश्यदर्शनेच्छा भवति)। भावार्थ–सङ्गात् सञ्जायते कामः।

२–सङ्गोत्पन्नकामस्य चिरकालिकानुध्यानव्यापारेण दृश्यदर्शनात् संस्कारात्मकः स्वतन्त्रोऽन्य–सङ्गो जायते। स एव स्वतन्त्रोऽन्य–दृश्यसंस्कारात्मकः–कामजनितः सङ्गः। भावार्थ–'ध्यायतो विषयान् पुंस' सङ्गस्तेषूपजायते'। दृश्यसंस्कारसङ्ग–कामात् सञ्जायते, इति भावः। 'कामात् सञ्जायते सङ्गः' इति निष्कर्षः।

३–ऐहिककामादुत्पन्न सङ्ग (दृश्यसंस्कारसञ्चित्यरूपः स्वतन्त्रोऽन्य) दृश्यविषयकामनानामरूपो भवति स्मृतिद्वारा। 'पुनरपि त दिदृक्षामि' सैव एवं वाक्यः काम–सङ्गात्–सञ्जायते। भावार्थ–'सङ्गात् सञ्जायते कामः'।

१–सङ्गात् सञ्जायते कामः (जन्मान्तरीयसंस्कारसङ्गत्या–दृश्यदर्शनकामोदयः)।

२–कामात् सञ्जायते सङ्गः (चिरकालिकानुध्यानात्मककामात्–दृश्यसंस्कारसङ्गतेरुदयः)।

३–सङ्गात् सञ्जायते कामः (ऐहिकजन्मानुगतनवीनसंस्कारसङ्गत्या—दृश्यसंस्कारानुगतदृश्य—विषयं प्रत्यनुधावनम्)।

———

जन्मान्तरीय सङ्ग से [१] उत्पन्न काम ने दृश्यविषय का साक्षात्कार कराया। विषय से सम्बद्ध कामभय मन के चिरकालिक अनुध्यान से दृश्यविषय संस्कारलक्षणरूप सङ्गभाव में [२] परिणत हो गया। इस नवीन सङ्ग को लेकर आप घर लौट आए। इस नवीनसङ्ग (कामजनित संस्कारलक्षणविषय भावविषय) रूप उपाय से मर्म–रूप काम [३] का उदय हुआ, यही उत्तरभावी काम 'स्मृति' कहलाया। इस सङ्गात्मक काम ने उचित इधर क्या किया? यह प्रश्न उपस्थित है। जिस दृश्य–भौतिक विषय के दर्शन से दृश्यात्मक

प्रकार आपके मनोविज्ञान पर अङ्कित हुआ है मान लीजिए उस नश्वर दृश्य भौतिक विषय का नाश हो गया। ऐसी स्थिति में तदनुरूपा दृश्यकामना (राग) से उत्पन्न कामात्मिका स्मृति केवल स्मृति रूप में ही परिणत रह जायगी। आप उसे जीवनभर स्मरण कर कर भी प्राप्त न कर सकोगे। स्मृति समय-समय पर उदित होती रहेगी, आपकी स्वाभाविक शान्ति का उच्छेद करती रहेगी। इसप्रकार मूलदृश्य के स्वरूपनाश की दशा में आपकी यह उदित स्मृति केवल आत्मक्षोभ की जननी बनी रह जायगी। और यही उदित स्मृति का एक परिणाम माना जायगा।

मान लीजिए, आपके पुण्य से वह दृश्य विषय अभी सुरक्षित है, नष्ट नहीं हुआ है। उस अवस्था में क्या आपका स्मृत्यात्मक उदित काम निर्विघ्न उस दृश्य विषय पर एकाधिपत्य प्राप्त कर लेगा ? । यदि विश्व में केवल आपकी ही सत्ता रहती, तो ऐसा एकाधिपत्य सम्भव था और उस दशा में वह दृश्य अवश्यमेव बनता हुआ आपके क्षणिक सुख का कारण बन सकता था। परन्तु विश्व में आप ही तो नहीं हैं। और भी मनुष्य हैं उनके पास भी काममय मन है, वह है सुखानुगत स्मृत्यात्मक काम है। उन्होंने भी उस सुन्दर दृश्य को देखा है उन पर भी उस दृश्य की छाप लगी हुई है। अतएव वे भी स्मृत्याकर्षण से उसे अपने अधिकार में लाने के लिए लालायित हैं। वस्तु एक, चाहने वाले अनेक। लक्ष्य एक, लक्ष्यवेधन करने वाले अनेक। आप सब में जो भी शक्तिशाली होगा वही उसे प्राप्त कर सकेगा। आपको स्मृति ने स्मृत्यात्मक काम ने आपको उस दृश्य विषय की ओर प्रवृत्त किया। आपने देखा कि एक दूसरा व्यक्ति भी उसे अपना लक्ष्य बना रहा है। इस स्थिति में आपके स्मृत्यात्मक काम का क्या परिणाम होगा ? इस प्रश्न का उत्तर कठिन नहीं। मानी हुई बात ही सर्वानुभूत बात है कि, जिस वस्तु को हम चाहते हैं जो हमारी कामना का विषय बनी हुई है उसी पर यदि दूसरे की कामना का भी लक्ष्य है तो हमें उस अभिलषित–काम्य विषय की प्राप्ति में सन्देह हो जाता है। एक लक्ष्यपरायण एक लक्ष्यमुक्त अनेक काम समन्वय से मिलकर प्रेमानुगत–विरुद्ध कामों का संघर्ष हो पड़ता है। इस पारस्परिक कामसंघर्ष से कामियों का शारीराग्नि प्रदीप्त हो पड़ता है। यही कामजनित शारीराग्निसंघर्ष 'क्रोध' कहलाता है। स्वकामप्रतिबन्धक अन्यकामाक्रमण से युक्त हमारा स्मृत्यात्मक काम संघर्ष में पड़ कर शारीराग्निप्रदीप्तिलक्षण क्रोध का जनक बन जाता है। इसप्रकार रागात्मक काम स्वप्रतिबन्धकता से द्वेषात्मक क्रोधरूप में परिणत हो जाता है। कामविरोधीभूत दृश्यविषयरूप लक्ष्य गौण हो जाता है क्रोधविषयीभूत द्वेष्य व्यक्ति प्रधान लक्ष्य बन जाता है। 'जिसने हमारी कामना में विघ्न उपस्थित कर दिया, वह कैसे नष्ट हो उसका कैसे दमन हो' यह लक्ष्यान्तरभावना का उदय हो जाता है। हम लक्ष्यच्युत बन जाते हैं। और यही उदित स्मृत्यात्मक काम का दूसरा परिणाम है।

२६–काम–क्रोध–लोभत्रयी का उद्गम—

मान लीजिए आप सब कामकामियों में सबल हैं। अतएव आप उन सबका दमन कर देते हैं, फलस्वरूप दृश्य विषय केवल आप ही के आधिपत्य में आ जाता है। क्या यह परिणाम सुखावह मान लिया जायगा ? क्या इस एकाधिपत्यता में आपका रागात्मक काम चरितार्थ बना रहेगा ?, नहीं कदापि। प्रथम प्रथम जिस कामना से आपने दृश्य विषय का साक्षात्कार किया था उसने आपके मन पर चिरकालिक अनुध्यान के द्वारा उसकी स्मृत्यात्मक छाप लगा कर आपकी स्वाभाविक शान्ति का उच्छेद कर डाला।

प्रथमावरण ने ही आत्मा के स्वाभाविक विकास के आगे एक धुँधली सी पतली सी दीवार खड़ी करदी। आपने इस क्षोभ की शान्ति का उपाय समझा–उस दृश्य विषय पर सदा के लिए एकाधिकार स्थापित कर लेना। आपकी अल्पता से आपका उस पर एकाधिपत्य भी हो गया। परन्तु शान्ति उत्तरोत्तर घटती गई, अशान्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई। प्राप्त वस्तु के संचय में प्राप्त वस्तु को अन्याक्रमण से बचाने में प्राप्त वस्तु के भोगानुरूप शक्तिसम्पादन में इत्यादि अनेक परिधियों में आपको फँसना पड़ा। इसके अतिरिक्त स्मृति के द्वारा ज्यों ज्यों आप दृश्य विषय से सम्पर्क बढ़ाते गए, त्यों त्यों संस्कारात्मक सहजधर्म उक्त इन आगन्तुक आवरण पुट–सम्पुटों से अधिकाधिक दृढ़मूल बनता गया। उक्त के अधिकाधिक दृढ़मूल बनते रहने से उसमें निकलने वाला धर्मरूप काम (इच्छा) का शान्त होना तो एक ओर रहा अधिकाधिक बढ़ने लगा। अतिशय व्यापार व्यग्रता से भोग्यशक्ति जहाँ उत्तरोत्तर घटने लगी, वहाँ उत्सुकता से कामना उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। होते होते–सीखते–पढ़ते–देखते देखते वह अवस्था (वृद्धावस्था) आपहुँची, जिसमें इन्द्रियवर्ग शिथिल हो गया। कामना चरमसीमा पर पहुँची, शक्ति का आत्यन्तिक ह्रास हो गया। इस अवस्था में आकर आपकी इन्द्रियाँ आपका शरीर ही कामानुगत भोग्यपदार्थ के क्षोभ में परिकम्पक बन गया। फलस्वरूप आपने स्वयं आप ही को क्रोध का अधिष्ठान बना लिया। और यों आपके इस एकाधिपत्यस्वरूप रागात्मक काम के ही द्वारा द्वेषात्मक क्रोध उत्पन्न हो गया। अशान्ति बढ़ी, सत्कर्मसंग्रह छूटा, तृप्ति दूर हुई, क्रोध अतिथि बन गया। सर्वोपरि कामजनित आवरणपुटों की परम्परा से आत्मविकास के आगे मोटी दीवाल खड़ी हो गई। इसी लिए तो भगवान् ने रजोगुण से उत्पन्न इस काम–क्रोधादि को 'महाशन'–'महापाप्मा' कहा है। काम की भूख क्या कभी मिट सकती है। वह तो अभिलषित विषयप्राप्ति से संस्कार के द्वारा उत्तरोत्तर उसी प्रकार बढ़ती रहती है जैसे आज्याहुतिप्राप्ति से अग्नि शान्त होने की अपेक्षा उत्तरोत्तर प्रज्वलित होता रहता है*। इसीलिए भगवान् ने इसे 'महाशन' (बहुत खाने वाला कभी तृप्त न होने वाला) कहा है। इसके अतिरिक्त यह आत्मा के स्वाभाविक विकास को भी आवृत कर देता है। अतएव कामकामी–विषयभोगपरायण व्यक्ति का उत्तरोत्तर नाश ही होता है। वह किंकर्तव्यविमूढ़ बन जाता है। इसी आवरणधर्म के सम्बन्ध से भगवान् ने इसे 'महापाप्मा' कहा है। 'अशान्तस्य वै पाप्मा' के अनुसार भोगकामानुगता कामनासक्तया अशान्तात्मा स्वयं महापाप्मा है। यह स्वयं जैसे कभी तृप्त नहीं होती, एवमेव इसके सम्पर्क में रहने वाला नित्यतृप्त आत्मा भी अपनी स्वाभाविक तृप्ति से अभिभूत होजाता है। अतएव एकाधिपत्य हो अथवा अनधिकार, उभयथा यह कामशक्ति स्वसहगामिनी क्रोधशक्ति का आमन्त्रण करती हुई अन्तरात्मा आत्मविकासलक्षणा स्वाभाविक शान्ति की अन्यतम शत्रु ही बन रही है। इसे छोड़ देने वाला ही–'शान्तिमाप्नोति न कामकामी'। दुष्पूरणीय काम के इसी अनन्त इतिहास का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् ने कहा है–

१–काम एष, क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ गी० ३।३७

---

*–न जातु काम कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

२–धूमेनाव्रियते वह्नि, र्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतोगर्भ, स्तथा तेनेदमावृतम् ॥ गी० ३।३८।

३–आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय ! दुष्पूरेणानलेन च ॥ गी० ।३९।

४–काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भ–मान–मदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ गी० १६।१०

५–चिन्तामपरिमेयाञ्च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा 'एतावद्' इति निश्चिताः ॥ गी० १६।११।

६–आशापाशशतैर्बद्धा कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ गी० १६।१२

७–अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ गी० १६।१६।

८–त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः –क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥ गी० १६।२१।

९–एतैर्विमुक्तः कौन्तेय ! तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ गी० १६।२२।

१०–इन्द्रियाणि, मनो बुद्धि–रस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ गी० ३।४०।

११–तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ !
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ गी० ।४१।

२७–'कामात् क्रोधोऽभिजायते' का समन्वय–

काम–क्रोध–लोभ तीनों अभिन्न तत्त्व हैं। तीनों तद्रूप हैं। अथ च तीनों में 'काम' तत्त्व ही मूल है। अनुरूप काम भी पूर्वकथनानुसार क्रोध का जनक बन जाता है। एवं कामप्रतिस्पर्धात्मक प्रतिरूप काम का लोभजनकत्व भी स्पष्ट ही है। कामना का सर्वीभूत काम्य विषय क्रोध का लक्षित होने लिए, दोनों में काम क्रोधमय मन यथार्थतः हेतु के द्वारा सन्दीप्त हो जाता है। सतत विषयों में मन का प्रवृत्ति हो जाना ही कामक्रोधजनित तीसरा लोभ तत्त्व है। यही उचित स्वरूपात्मक काम का संक्षिप्त इतिहास है या

विषयप्राप्ति दशा में उभयथा क्रोध और लोभ का प्रवर्तक बना हुआ है। लोभ आसक्तिस्वरूप में अन्तर्भूत है। अतएव इस प्रसङ्ग में भगवान् ने इसकी स्वतन्त्र गणना नहीं की है। इस कामेतिहास का निष्कर्ष यही हुआ कि, ऐहिक जन्मानुगत सङ्ग से उत्पन्न काम अनुकूलता में प्रकारान्तर में कामप्रतिबन्धक अथवा प्रतिकूलता में क्षुब्ध शारीराग्निसंघर्षद्वारा 'क्रोध' रूप में परिणत हो जाता है। इसी कामपरिणाम को, स्मृतिपरिणाम को लक्ष्य बना कर भगवान् ने कहा है—'कामात् क्रोधोऽभिजायते'।

२८—'क्रोधाद्भवति संमोहः' का समन्वय—

संघर्षजनित क्रोधाग्नि से प्रज्ञान मन पर प्रतिष्ठित स्मारक संस्कारों में हलचल मच जाती है। व्यवस्थित संस्कार अस्तव्यस्त हो जाते हैं। किस समय क्या करना चाहिए, कब क्या करना चाहिए, कब क्या नहीं करना चाहिए? यह सब व्यापार मानस संस्कारों के आधार पर निर्भर हैं। संस्कारों की पृथक्-पृथक्रूप से (प्रज्ञान धरातल पर) व्यवस्थिति—व्यवस्थिति—ही विभक्त कर्म्मकलाप की आधारभूमि बनती है। विविक्तरूप से—व्यवस्थित रूप से प्रज्ञान धरातल पर प्रतिष्ठित रहने वाले संस्कार ही 'उद्बुद्ध' संस्कार कहलाए हैं। उद्बुद्ध संस्कार ही तत्तत् स्मृतियों के द्वारा तत्तत् कर्म्मव्यवस्था के उत्पादक बनते हैं। जिस प्रकार एक पात्र में विभक्त व्यवस्थितरूप से प्रतिष्ठित अनेक पदार्थ पात्रप्रत्याघात से अस्तव्यस्त होते हुए विभक्त—व्यवस्थित उद्बुद्धभाव को छोड़ कर अविभक्त—अव्यवस्थित—अनुद्बुद्धभाव में परिणत होते हुए एकाकार बन जाते हैं, ठीक इसी भाँति एक प्रज्ञानधरातल पर विभक्त—व्यवस्थित—उद्बुद्धरूप से प्रतिष्ठित—स्मृत्याधारभूत अनेक संस्कार शारीराग्निसंघर्षरूप क्रोध के प्रत्याघात से अनुद्बुद्धभाव में परिणत होते हुए एकाकार बन जाते हैं। संस्कारों की यह एकाकारानुगता अनुद्बुद्धावस्था ही 'संमोह' है। इसे ही 'मैस्मिरेज' कहा गया है। 'क्रोध में मनुष्य अन्धा हो जाता है' यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है। इस अन्धता का तात्पर्य है—संस्कारों की अनुद्बुद्धता। कुछ ध्यान नहीं रहता। कुछ का कुछ हो पड़ता है। इसप्रकार कामजनित क्रोध भी आगे चल कर 'संमोह' का जनक बन जाता है—'क्रोधाद्भवति संमोहः'।

२९—'संमोहात् स्मृतिविभ्रमः' का समन्वय—

व्यवस्थित—विभक्त—उद्बुद्ध संस्कार ही तो स्मृति को सुरक्षित रखते थे। जब स्मृतिरक्षक संस्कार ही अपना स्वरूप संघर्ष में पड़ कर अस्तव्यस्त बना चुके, तो उस दशा में स्मृति कैसे व्यवस्थित रह सकती है? फलतः संमोह के अनन्तर ही स्मृतिविभ्रम हो पड़ता है—'संमोहात् स्मृतिविभ्रमः'।

३०—'स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः' का समन्वय—

बुद्धि अपार मानी गई है। मन अपार माना गया है। अप के आधार पर ही धाराम् की स्वरूपरक्षा मानी गई है। आपोमयी... बुद्धि और सविताग्नि से प्रभक्त होने के कारण आग्नेयी है। अग्नि ही अपार माना गया है। आपोमय मन चान्द्र भास्वर सोम से प्रभक्त होने के कारण सौम्य है। सोम ही आप माना गया है। अध्यात्मसंस्था में प्रज्ञानमन चन्द्रमा है, विज्ञानबुद्धि सूर्य्य है। इसमें प्रज्ञान सौम्य, अतएव आपोमय प्रज्ञानमन पर ही आग्नेयी, अतएव अपाराप्रतिष्ठा बुद्धि प्रतिष्ठित रहती है। प्रज्ञानमन संमोह से अशान्त हो जाता है। इसकी अशान्ति से संस्कार अस्तव्यस्त हो पड़ते हैं। संस्कारापेक्षित मन बिना मनोऽपेक्षित

संस्कारों के आधार पर ही तो बुद्धि प्रतिष्ठित रहती है। साथ ही इन संस्कारों के आधार पर ही तो बुद्धि का सदसद्विवेकलक्षण व्यापार सञ्चालित होता है। सदसद्विवेक ही तो बुद्धि का स्वरूपरक्षक है। सम्मोहजनित स्मृतिविभ्रम ने संस्कारावच्छिन्न मन को संस्कारों के सहित आन्दोलित कर दिया। अब बुद्धि स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहे, तो कहाँ रहे ?, अपना सदसद्विवेक व्यापार किस आधार पर सञ्चालित करे ?। अतएव मानना पड़ेगा कि, स्मृतिभ्रंश से बुद्धि का व्यवसायधर्म्म उच्छिन्न हो जाता है। व्यवसायधर्म्मोत्क्रान्ति ही बुद्धिविनाश है। इसी आधार पर भगवान् ने कहा है- स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः'।

३१- 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' का समन्वय-

तमोगुणप्रधान, इन्द्रबहुल, मायामय, संसारयात्रा का यात्री जीवात्मा है। इन्द्रियमनोयुक्त कर्म्म-कर्म्मकलाप इस यात्री की यात्रा को निर्विघ्न पूरी करा देने वाला यात्रासाधन है। स्वयं संसार 'नौका' है, जिसमें कर्म्मसाधनों को लेकर यात्री यात्रा के द्वारा पार पहुँचने का प्रयास कर रहा है। बीच ही में सुन्दर दृश्यानुगत कामविघ्न उपस्थित हो जाता है। काम क्रोध को निमन्त्रण दे देता है। क्रोध संमोह का आमन्त्रण कर बैठता है। संमोह स्मृतिविभ्रम को अतिथि बना लेता है। स्मृतिविभ्रम उस बुद्धि के 'इदमित्थमेव कर्त्तव्यम्' 'एवं कर्त्तव्यं इदं न कर्त्तव्यम्' इत्यादि लक्षण सदसद्विवेकात्मक व्यवसायधर्म्म को अभिभूत कर देता है, जो व्यवसायात्मिका बुद्धि उक्त संसारनौका को स्वाभाविक रूप से पार लगाने में सचेष्ट बनी रहती है। नौका के इस लेवय्या के मूर्च्छित होते ही यात्री नौका से टकरा जाता है। कर्त्तव्यपथ भूल जाता है मूर्च्छित हो जाता है, अपना आत्मविश्वासलक्षण स्वरूप खो बैठता है और यों *नाशपरम्परा* का अन्तिम *अभिनय समाप्त* हो जाता है जिसका-'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' शब्दों में अर्जुन के प्रति साक्षेप प्रदर्शन हुआ है। स्मृत्यात्मक काम (कामना) उदित हो कर क्या करता है ?, प्रश्न का यही दुःखपूर्ण इतिहास है, जिससे त्राण पाने के लिए ही गीताशास्त्र में वैराग्यबुद्धियोगानुगता राजर्षिविद्या का आविर्भाव हुआ है।

३२-'ध्यायतो विषयान् पुंस' का तात्त्विक समन्वय--

चतुर्दा विभक्त कर्म्मस्वरूप परिचय के प्रसङ्ग में 'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते' इत्यादि रागासक्तिलक्षण इतिहास का दिग्दर्शन कराया गया। अब पुनः प्रकृत की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। रागासक्ति की जननी स्मृति कामात्मिका है स्मृत्यात्मक यह काम जन्मान्तरीय रागासक्ति से जनित है। जन्मान्तरीय संस्कार जन्मान्तरीय रागासक्ति है यही प्रथम कर्म्मविभाग है। इस जन्मान्तरीय रागासक्तिरूप उदय से विनिर्गत काम (इच्छा) ऐहिक जन्मानुगत विषयसम्पत्स्वरूप ऐन्द्रियक कर्म्म का प्रवर्त्तक बनता है यही द्वितीय कर्म्मविभाग है। जन्मान्तरीय रागासक्तिरूप संस्कार से विनिर्गत अर्थरूप काम के चिरकालिक अनुध्यान से उस ऐन्द्रियक विषय का संस्कार प्रज्ञान धरातल पर दृढ़रूप से स्थापित हो जाता है। विषयसम्पत्स्वरूपानुगत-कामजनित-ऐहिक-रागासक्तिरूप यह संस्कारोदय ही तीसरा कर्म्म विभाग है जो काम से उत्पन्न है। इस नवीन संस्कारासक्तिरूप संस्कार से विनिर्गत स्मृत्यात्मक काम से पुनः पुनः संस्कारानुगत काम्य विषय की ओर मन का अनुधावन होता रहता है। यह विषयसम्पत्स्वरूपलक्षण ही चतुर्थ कर्म्म विभाग है, जो स्मृत्यात्मक काम से उत्पन्न है। इसप्रकार आध्यात्मिक कर्म्मपुञ्ज को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। इन चारों में से गीताशास्त्र ने ऐहिक संस्कारलक्षण संग से ही कथनपरम्परा का

उपक्रम किया है। सङ्ग से काम उत्पन्न हुआ, काम से विषयसाक्षात्कार हुआ इसी काम के चिरकालिक अनुध्यान से (वही भाव बारबार विषयदर्शन से) वह विषय तज्जात्मक संस्काररूप से प्रज्ञान धरातल पर प्रतिष्ठित हो गया और इसे लेकर आप घर लौट आए, यहाँ तक की स्थिति एक परम्परा है। इसके आगे से ही गीता के–'ध्यायतो विषयान्' इत्यादि श्लोक का आरम्भ होता है। घर आकर अन्यान्य कर्मों में यदि आप व्यस्त हो गए, तो वह इन्द्रियविषयसंस्काररूप सङ्ग यों ही (अभिभूत) पड़ा रह गया। यदि आपने चिरकालिक अनुध्यानपूर्वक उसका बार बार स्मरण किया स्मरणात्मक काम का अनुगमन किया तो इससे आपका मन इस संस्कारसङ्ग में आसक्त हो जायगा। इसी स्थिति का–'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते' से स्पष्टीकरण हुआ है। इस सङ्ग से देखे हुए विषय को पुनः देखने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है इसी का 'सङ्गात् सञ्जायते कामः' से स्पष्टीकरण हुआ है। इच्छानुसार यदि दुबारा आप उस दृश्य देखने में सफल हो गए, तो उस पर एकाधिपत्य प्राप्त कर लिया तो कालान्तर में शक्तिह्रास से अभिहृत विषय संरक्षण की अक्षमता से आपका शारीराग्नि क्षुब्ध हो जायगा। यदि अन्य कामप्रतिबन्धक के आ जाने से आपकी इच्छा सफल न हुई तो भी शारीराग्नि क्षुब्ध हो जायगा। इसप्रकार उभयथा तज्जनित काम शारीराग्निक्षोभलक्षण क्रोध का जनक बन जायगा जिसका–'कामात् क्रोधोऽभिजायते' से स्पष्टीकरण हुआ है। क्रोध कालान्तर में सत्त्वरजस्तमस्तत्त्व–उन्मुग्धतालक्षण सम्मोह में परिणत हो जायगा, जिसका– 'क्रोधाद्भवति सम्मोहः' से विश्लेषण हुआ है। सम्मोह वैचित्त्य लक्षण स्मृतिविभ्रम का कारण बन जायगा जिसके लिए–'सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः' कहा गया है। स्मृतिविभ्रम से बुद्धिस्वरूपविनाशात्मक अध्यवसाय (सदसद्विवेकाभाव) का जन्म हो पड़ेगा, जिसका–'स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशः' से विश्लेषण हुआ है। इसप्रकार अन्ततोगत्वा अन्त का–'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' सर्वात्मना चरितार्थ हो जायगा जिसे चरितार्थ न होने देने के लिए ही बुद्धियोगानुगता राजर्षिविद्या प्रवृत्त हुई है।

१–जन्मान्तरीयविषयसंस्कारसङ्गः——————प्रथमकर्मविभागः (संस्कारात्मकानि कर्माणि)
२–ऐहिक-ऐन्द्रियकविषयसाक्षात्कारः——————द्वितीयकर्मविभागः (कर्मात्मकानि कर्माणि)
३–ऐहिक ऐन्द्रियकविषयसंस्कारसङ्गः——————तृतीयकर्मविभागः (संस्कारात्मकानि कर्माणि)
४–ऐहिक-संस्कारानुगता विषयसाक्षात्कारपर्येषणा-चतुर्थकर्मविभागः (कर्मात्मकानि कर्माणि)

१–प्रथमकर्मसङ्गात् विषयसाक्षात्कार–ऐन्द्रियककर्माधारभूतस्य कामस्योदयः––

सङ्गात् सञ्जायते कामः (सङ्गात्–जन्मान्तरीयसञ्चितसंस्कारसङ्गात्–काम – साक्षात्कारेच्छा प्रादुर्भवति)।

२ विषयसाक्षात्काराधारभूतस्य कामस्य–जन्मान्तरीयसङ्गजनितस्य–चिरकालिकानुध्यानात्–द्वितीयकर्मणा समुत्पन्ने संस्कारे आसक्तिर्जायते संस्कारः स्वतन्त्रोऽनुरूपेण परिणतो भवति–'ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते' (तत्रैव स्थितस्य मनसा–चिरकालिकानुध्यानात्–तेषु इन्द्रियविषयेषु–रागासक्तिरूपा भवति)। स एष सङ्गपदार्थः–नवीनोऽयम् –ऐहिककर्मानुगतः।

३–तं गृहीत्वा गृहे परावर्त्तितास्तत्र भवन्तो भवन्तः। अत्र भगवानाह–

(१)–'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते'

"द्वितीयकर्म्मणा समुत्पन्ने संस्कारे यदि स्मृत्यात्मकक्रमेण पुनः पुनः संस्मरणं, तर्हि तस्मिन् मन आसक्तो भवति, तत्र रागासक्त्यां सज्जते।

(२)–'सङ्गात् सञ्जायते कामः'

' रागासक्त्यासञ्जनात्-संस्कारानुगतवाह्यविषयस्य पुनर्दर्शनकामना'।

(३)–'कामात्क्रोधोऽभिजायते'

पुनर्दर्शनकामसफलतायां, विफलतायां वा क्षोभयथा शारीराग्निक्षोभलक्षणस्य क्रोधस्योदयः'।

(४)–'क्रोधात्भवति संमोहः'

'क्षोभलक्षणक्रोधात्-सञ्चितानन्तकर्मसंस्काराः-अस्तव्यस्ताः-अविभक्ताः-सन्तः-उन्मुग्धा जायन्ते'।

(५)–'संमोहात् स्मृतिविभ्रमः'

'संस्काराणां अस्तव्यस्तत्वात्-विभक्त-व्यवस्थित-धर्म्मानुगताया स्मृतेरभावः।

(६)–'स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशः'

स्मृत्यभावे बुद्धिस्वरूपसंरक्षकस्य व्यवसायलक्षणविवेकधर्म्मस्योच्छेदप्रसङ्गः"।

तदित्थं—

१–ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
२–क्रोधात् भवति संमोहः, संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशात्-बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

—गीता २।६२-६३।



३३–राग, और द्वेष का जन्य-जनक भाव

रजोगुणानुगता रागासक्ति का स्वरूप परिचय कराते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि —'रजोगुणानुगत-न्द्रिय अनुकूलसंस्कारकम्पावच्छिन्न शारीराग्निगर्भित मन से निकलने वाली मर्यादित रश्मियाँ ही काम नाम की अनुकूल कामना है। अनुकूलकामनाभिधा अनुकूलसंस्कारकम्पनात्मिका ही रागासक्ति है। रागासक्ति कैसे क्यों हो जाती है? इस प्रश्न के समाधान के लिए ही यहाँ से आरम्भ कर उक्त विषय पर्य्यन्त काम-परम्पराओं की प्रासङ्गिक मीमांसा करनी पड़ी। इसी रागासक्ति से द्वेषासक्ति का स्वरूप-परिचय भी उपक्रान्त है। रागासक्ति का मूल यदि सुखानुगामी काम है तो द्वेषासक्ति का मूल दुःखानु-

शाली क्रोध है। उधर क्रोध काम से उत्पन्न हुआ है। अतएव कामात्मिका रागासक्ति में ही क्रोधात्मिका द्वेषासक्ति का भी अन्तर्भाव माना जासकता है। प्रसङ्गप्राप्त इसके सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना अनावश्यक न माना जायगा।

२४–रागद्वेष का लक्षणसमन्वय—

रजोगुणानुगत-संचित प्रतिकूलसंस्काररोषभावविकृत मानस क्षोभगर्भित क्रोधाग्नि से निकलने वाली मर्यादात्मिका रश्मियाँ ही 'क्रोध' नाम की प्रतिकूलकामना है। यह प्रतिकूलकामना प्रतिकूल विषय के ही अनुगत बनी रहती है। अतएव क्रोधात्मिका प्रतिकूल कामना दुःखानुशायिनी मानी गई है। दुःख में (दुःखानुगत प्रतिकूल विषय के परित्यागात्मक प्रयत्न में) क्षोभप्रेरित मन ही 'क्रोध' है। इस क्रोधात्मिका प्रतिकूल कामना (द्वेषकामना) से युक्त प्रतिकूल–द्वेष्य–कामात्मक प्रतिकूल संस्कारबन्धन ही 'द्वेषात्मक राग' है। यही द्वेषासक्ति है। आपकी दृष्टि प्रतिकूल–संचित संस्कारानुगत प्रतिकूल काम (इच्छा) से पुरोऽवस्थित प्रतिकूल विषय पर पड़ी। आपका मन क्लान्त हो गया, आपने वहाँ से जल्दी से जल्दी मनको निकालना आरम्भ चाहा। परन्तु उसकी छाप आपके मनोपटल पर अङ्कित हो गई। यही छाप स्वतन्त्रोपस्म में परिणत हो गई। अब जब भी स्मृति के द्वारा यह उद्बुद्ध हो जाती है, यह द्वेष्य विषय नष्ट करते हुए भी आपको क्लान्त बनाता रहता है। यही द्वेषासक्ति का उदाहरण है। रागासक्ति से जहाँ अनुकूलवेदनात्मक सुख का अनुभव होता रहता है वहाँ इस द्वेषासक्ति में प्रतिकूलवेदनात्मक दुःख का अनुभव होता रहता है। इसी आधार पर वैज्ञानिकों ने कहा है कि–'सुखानुशायिक–कामानुबन्धी–अनुकूल भावना–वासनासंस्कार के साथ होने वाला प्रज्ञानमन का सामान्य ग्रन्थिबन्धन ही 'राग' है, यही रागासक्ति है'। एवं–'दुःखानुशायिक–क्रोधानुबन्धी प्रतिकूल भावना–वासनासंस्कार के साथ होने वाला प्रज्ञानमन का दृढ़–ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध ही 'द्वेष' है, यही द्वेषासक्ति है'। इसी आधार पर इस दृष्टि से वैराग्यविरोधी राग–द्वेष-द्वन्द्व का निम्न लिखित लक्षण किया जा सकता है।

१–सुखानुशायिक–कामानुबन्धि–अनुकूलभावनावासनासंस्कारैः अग्निगर्भितमनसः सामान्यग्रन्थिबन्धनसम्बन्धः आसक्तिरूपो वा–'रागः'। सैषा रागासक्तिः।

२ दुःखानुशायिक–क्रोधानुबन्धि–प्रतिकूलभावनावासनासंस्कारैः–सोमगर्भितमनसः–दृढग्रन्थिबन्धन–सम्बन्ध–आसक्तिरूपो वा–'द्वेषः'। सैषा द्वेषासक्तिः।



२५–रागात्मक प्रेम के पाँच विभिन्न क्षेत्र—

अन्य दृष्टि से 'रागद्वेष' का समन्वय कीजिए। जिस भौतिक विषय को हमारा मन ग्रहण करना चाहता है उस विषय के प्रति मन का स्वाभाविक आकर्षण रहता है। एवं जिस विषय से हमारा मन हटना चाहता है उसके प्रति मन का विकर्षण रहता है। पहिले आकर्षणात्मक प्रयोग का उदाहरण देखिए। पति का मन पत्नी की ओर पत्नी का मन पति की ओर स्वभावतः आकर्षित रहता है। पिता-पुत्र गुरु-शिष्य मित्र मित्र, इत्यादि स्थलों में दोनों का दोनों ओर समानाकर्षण है। आकर्षणात्मकप्रयोग का अर्थ है मानस सौम्य

रस का लक्ष्य की ओर प्रवाहित रहना । यही रसप्रवाह 'प्रेम' कहलाया है । अवरानुयोगिक परप्रतियोगिक, परानुयोगिक अवरप्रतियोगिक समानानुयोगिक समानप्रतियोगिक, एकतोऽनुयोगिक सर्वानुयोगिक सर्वप्रतियोगिक, भेद से इस रसप्रवाहात्मक आकर्षण के पाँच विवर्त हो जाते हैं । पिता आदि परों का पुत्रादि अवरों के साथ जो स्वाभाविक प्रेमाकर्षण है वही अवरानुयोगिक परप्रतियोगिक 'वात्सल्य' नामक आकर्षण है । वात्सल्यरस परों से प्रवाहित होकर अवरों की ओर आ रहा है । इस रस का योग अवरों से हो रहा है । अतएव इसे परप्रतियोगिक-अवरानुयोगिक कहा जाता है । इस स्थिति को ठीक उलट कर दीजिए । पुत्रादि अवरों का पितादि परों के साथ जो स्वाभाविक प्रेमाकर्षण है वही परानुयोगिक अवरप्रतियोगिक 'श्रद्धा' नामक आकर्षण है । श्रद्धारस अवरों से प्रवाहित होकर परों की ओर जा रहा है । इस रस का योग परों से हो रहा है । अतएव इसे परानुयोगिक अवरप्रतियोगिक कहा जाता है । एक मित्र दूसरे मित्र के लिए समान है । 'समानशील-व्यसनेषु मैत्री' सिद्धान्तानुसार समान धर्मियों में ही मित्रता का सम्बन्ध स्थापित होता है । एक मित्र से प्रवाहित होकर उसका प्रेमारस दूसरे मित्र की ओर जा रहा है, तो उस दूसरे मित्र का प्रेमारस इस प्रथम मित्र की ओर आ रहा है । प्रथम मित्र का प्रेमारस द्वितीय मित्र की अपेक्षा समानानुयोगिक, स्वापेक्षया समान प्रतियोगिक है, तो द्वितीय मित्र का प्रेमारस प्रथम मित्रापेक्षया समानानुयोगिक, एवं द्वितीय मित्रापेक्षया समानप्रतियोगिक बना हुआ है । दोनों के प्रेमारस परस्पर एक दूसरे के प्रति समानरूप से प्रवाहित हो रहे हैं । यही समानप्रतियोगिक-समानानुयोगिक प्रेमाकर्षण 'स्नेह' कहलाया है । श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह, तीनों आकर्षणों में आकर्षणरसप्रयोगी के चेतन हैं, सजीव हैं । घर, वस्त्र, आभूषण, पुस्तक उद्यान, अन्न, आदि जड़ पदार्थों के प्रति भी प्रेमारस प्रवाहित रहता है। प्रवाहित होकर वह इन जड़ पदार्थों में आबद्ध हो जाता है । इसी आधार पर-'आपतुस्ति तापद्मरमा' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है । इनमें न अनुयोगिकता है न प्रतियोगिकता । केवल हमारे रस का उनके साथ योग है । अतएव इस प्रेमाकर्षणात्मक 'काम' नामक आकर्षण को एकतोऽनुयोगिक कहा गया है । पाँचवें प्रेमाकर्षण में श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह-काम चारों आकर्षणों का समन्वय है, अतएव 'रति' नाम से प्रसिद्ध सर्वात्मक यह आकर्षण सर्वानुयोगिक-सर्वप्रतियोगिक कहलाया है । इसके सर्वपरानुयोगिक सर्वअवरप्रतियोगिक-स्वाकर्षण एवं सर्वानुयोगिक सर्वप्रतियोगिक, भेद से दो भेद माने गए हैं । हम श्रद्धाभाव से ईश्वर की उपासना करते हैं जिस उपासना का वासुदेवनन्दन वासुदेवस्वरूप से सम्बन्ध है । वात्सल्यभाव से उपासना करते हैं जिस उपासना का नन्दनन्दनस्वरूप से सम्बन्ध है । हम स्नेहभाव से उसकी उपासना करते हैं जो उपासना कृष्णसखा अर्जुन के सम्बन्ध में घटित हुई है । पाषाण-धात्वादि भगवद्विग्रहोपासना (मूर्त्युपासना प्रतिमोपासना) का कामभाव से सम्बन्ध है । सूर्य चन्द्रादि लक्षण प्रतीकोपासना का भी इसी कामभाव में अन्तर्भाव है । इसप्रकार सगुणब्रह्म के सम्बन्ध में चारों प्रेमाकर्षणों का समन्वय हो रहा है । पर अनुपमय है, उपास्य है । उपासक जीवात्मा अवर है । सम्प्रदाय सम्प्रदायों पर ईश्वर की न किसी पर श्रद्धा है न वात्सल्य है, न स्नेह है, न काम है, और यही वैज्ञानिक तत्त्वोपासना का तत्त्व है जिसका भक्तियोगपरीक्षाप्रकरणों में बहुधा प्रतिपादन किया जा चुका है । अतएव यह सर्वाकर्षण अवरप्रतियोगिक ही माना जायगा । उपासक की श्रद्धा, वात्सल्य, स्नेह कामवृत्तियों की उपास्य ईश्वर की ओर ही अनुगति रहती है । अतएव एवंविध सर्वाकर्षण 'परानुयोगिक' ही माना जायगा । क्योंकि परानुयोगिक-अवरानुयोगिक इस आकर्षण में चारों का समन्वय है, अतएव इस ईश्वरानुगत प्रेमाकर्षण का हम 'रति'

नामक–सर्वपत्न्यनुयोगिक–सर्वपतिप्रतियोगिक रसाभास ही कहेंगे। जिसका निष्कर्ष यही होगा कि सर्वरस–प्रधानात्मक 'रति' प्रेम का एक क्षेत्र उपास्य कृष्ण मात्र है। इस दृष्टि से और भी उन्मुक्त हो जाता है *।

दूसरे रसाभास का क्षेत्र दाम्पत्यभाव है। दाम्पत्यभावानुगत रसाभास ही सर्वानुयोगिक सर्वप्रतियोगिक नाम का दूसरा रसाभास है। पहिले पति के क्षेत्र से समन्वय कीजिए। पत्नी पति पर श्रद्धा करती है उसे आराध्य मानती है। पत्नी का श्रद्धारस पति के लिए प्रतियोगी है पति के लिए अनुयोगी है। जिस प्रकार स्तनन्धय की दुग्धावस्था में माता के अन्तर्जगत् में वात्सल्यरस उमड़ पड़ता है एवमेव पति की रुग्णावस्था में भी 'माता' स्थानाधिकारिणी (मातृस्थानाधिकारिणी) पत्नी का वही वात्सल्यरस प्रवाहित होने लगता है, जो अनुभवैकगम्य है। पत्नी का यह वात्सल्यरस भी पत्नी का प्रतियोगी एवं पति के लिए अनुयोगी (अनुकूल) बन रहा है। 'सहधर्मं चरताम्' को चरितार्थ करने वाली पत्नी यावज्जीवन पति की सङ्गिनी बनी रहती है। पतिसुख में सुखानुभव करने वाली पतिदुःख में दुःखानुभव करने वाली पत्नी अपना मित्रानुगत स्नेहरस भी पति की ओर प्रवाहित रखती है। यहाँ भी पत्नी का यह स्नेहरस पत्नी के लिए प्रतियोगी, एवं पति के लिए अनुयोगी सिद्ध होरहा है। पति की कामानुगता रति, कामकेलिमूलकानुगत श्रृङ्गारसम्बन्धी सन्ततरस आदि के प्रति भी कामानुगता पत्नी आकर्षित रहती है। यही इसके कामरस का पति की ओर बहाव है। यहाँ भी पत्नी का कामरस इसके लिए प्रतियोगी है एवं पति के लिए अनुयोगी है। इसप्रकार पत्नी के मनोऽनुगत श्रद्धादि चारों रस 'पत्यनुयोगिक–पत्नीप्रतियोगिक' रूप से रसाभास बने हुए हैं। अतएव चतुर्विध इस पत्न्यनुगत पत्नीप्रेम को अवश्य ही 'रति' कहा जासकता है। ठीक यही स्थिति पत्नी–क्षेत्र के सम्बन्ध में घटित हुई है। गृहप्रतिष्ठारूपा–श्रीस्वरूपा–पत्नी पति के लिए सर्वदा ही सम्माननीया है जैसा कि 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' इत्यादि मन्वे मनुवचन से प्रमाणित है। पति की वात्सल्यभक्ति से भी पत्नी अनुगृहीत रहती है। स्नेहानुगति भी स्पष्ट प्रमाणित है। कामानुगत केशपाशकबरादिरचनादि विभ्रमकलापरूप कामरस प्रवाह भी प्रसिद्ध है। पति के ये श्रद्धादि चारों रस स्वयं पति के लिए प्रतियोगी हैं एवं पत्नी के लिए अनुयोगिक हैं। पति के मनोऽनुगत श्रद्धादि चारों रस पत्न्यनुगत पतिप्रेम को अवश्य ही 'रति' कहा जासकता है। यही 'सर्वानुयोगिक–सर्वप्रतियोगिक' लक्षण दूसरा रसाभास है, जिसका एक मात्र क्षेत्र दाम्पत्यभाव ही माना गया है। पत्नीप्रेम की प्रतिष्ठा पतिप्रेम है पतिप्रेम की प्रतिष्ठा पत्नीप्रेम है। उभयानुगता रति उभयसापेक्षा है। यही दाम्पत्य भावर्षण का वैज्ञानिकस्वरूप है। निष्कर्षतः आकर्षणकामभाव रसमनिष्ठ ही हुआ करते हैं। तात्पर्य यही हुआ कि, विश्वानुगत मानव रसाभास ही आकर्षणक्रम में है एवं यह श्रद्धा–वात्सल्य–स्नेह–काम–रति, भेद से पञ्चधा विभक्त है जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

---

*—कामं, क्रोधं, भयं, स्नेहं, मैक्यं, सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥

—श्रीमद्भागवत १० स्क० पू० २९ अ० १५ श्लोक।

जाती है। रागात्मक सम्बन्ध आकर्षणात्मक है, द्वेषात्मक सम्बन्ध विकर्षणात्मक है, यही तात्पर्य है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि कामानुगत मानस आकर्षण का ही नाम राग, किंवा रागासक्ति है। अतएव रागासक्ति में मन रागानुगत काम्य विषय की ओर सदा आकर्षित रहता है। क्रोधानुगत मानस विक्षेपण का ही नाम द्वेष किंवा द्वेषासक्ति है। अतएव द्वेषासक्ति में मन द्वेषानुगत काम्य विषय से सदा हटता रहता है। दूसरे शब्दों में आकर्षणमुखसम्प्रयोग ही राग है, विक्षेपणसम्प्रयोग ही द्वेष है। यही रागद्वेषद्वन्द्व-समन्वय का तृतीय दृष्टिकोण है।

कामानुगताकर्षणसम्प्रयोग:—राग:
क्रोधानुगतविक्षेपणसम्प्रयोग:—द्वेष:
} —आसक्ति:

कामानुगतमाकर्षणम्—वा—राग:
क्रोधानुगतं विक्षेपणम्—वा—द्वेष:
} —आसक्ति

३७ कामक्रोधानुबन्धी रागद्वेषद्वन्द्व–

चौथी दृष्टि से रागद्वेषद्वन्द्व का समन्वय कीजिए। राग भी काममूलक है। द्वेष भी काममूलक है। रागकामना से रागासक्ति का उदय होता है, द्वेषासक्ति से द्वेषासक्ति का उदय होता है। इसप्रकार यद्यपि राग द्वेष दोनों का प्रवर्तक 'काम' ही है। तथापि इन दोनों में से रागमूलक काम को तो 'काम' शब्द से ही व्यवहृत किया जाता है। एवं द्वेषमूलक काम को 'काम' न कह कर 'क्रोध' कहा जाता है। कारण यही है कि रागमूलक काम शारीराग्निगर्भित मन से विनिर्गत होता हुआ सुखानुगामी, अतएव सौम्य है। उधर द्वेषमूलक काम मनोगर्भित शारीराग्नि से विनिर्गत होता हुआ दुःखानुगामी, अतएव आग्नेय है। आग्नेयताप क्रोध है, सौम्य स्नेह काम है। अतएव सौम्य मनःप्रधाना रागमूला कामना स्नेहलक्षणा आकर्षणशक्ति के द्वारा रागबन्धन की जननी बनती है। एवं आग्नेयतापप्रधाना द्वेषमूला कामना तपोलक्षणा विक्षेपणशक्ति के द्वारा द्वेषबन्धन की जननी बनती है। द्वेषबन्धन अन्नादाग्निप्राधान्य से बन्धनात्मक परित्यागात्मक बन्धन है, रागबन्धन अन्नादसोमप्राधान्य से बन्धनात्मक-ग्रहणात्मक बन्धन है। इसप्रकार रजोगुणाधारेण प्रतिष्ठित एक ही काम सोमाग्नि के तारतम्यतारतम्य से कामात्मक काम, क्रोधात्मक काम इन दो स्वरूपों में परिणत हो जाता है। कामात्मक काम 'काम' कहलाता है, क्रोधात्मक काम 'क्रोध' कहलाता है। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि राग कामानुबन्धी है, द्वेष क्रोधानुबन्धी है। राग में काम का साम्राज्य है, किंवा काम में राग का साम्राज्य है। एवं द्वेष में क्रोध का, किंवा क्रोध में द्वेष का साम्राज्य है। ऐसी स्थिति में यदि काम को राग का, एवं क्रोध को द्वेष का जनक मान लिया जाय, तब भी अत्युक्ति न होगी।

कामजनित राग से सम्बन्ध रखने वाले सब अनुबन्धों में आत्मसुखप्रियता रहती है। रागासक्ति के लक्ष्य को अपना कर अनुकूल वेदनात्मक सुखानुभव करता हुआ कर्मफलप्रेप्सु कामकामी रागी उस लक्ष्य को भी

१–परानुयोगिक–अवरप्रतियोगिक प्रेमाकर्षणम् –'श्रद्धा']–सत्त्वगुणाकर्षणम्

२–अवरानुयोगिक–परप्रतियोगिक प्रेमाकर्षणम् –'वात्सल्य' }

३–समानप्रतियोगिक–समानानुयोगिक प्रेमाकर्षणम् –'स्नेह' } –रजोगुणाकर्षणम्

४–एकतोऽनुयोगिक प्रेमाकर्षणम् –'काम']–तमोगुणाकर्षणम्

५–सर्वानुयोगिक–सर्वप्रतियोगिक प्रेमाकर्षणम् –'रति']–सर्वगुणाकर्षणम्



३६–आकर्षण–विक्षेपात्मक रागद्वेषद्वन्द्व —

उक्तलक्षण–मानस प्रेमाकर्षण में दोनों का दोनों ओर आकर्षण होता है। एक दूसरे ने परस्पर एक दूसरे के प्रति आत्मसमर्पण कर रक्खा है। यह प्राकृतिक प्रेमाकर्षण ही 'राग', किंवा रागासक्ति है। ठीक इसके विपरीत इसी मानस रस का परस्पर विप्रकर्ष होना ही 'द्वेष' किंवा द्वेषासक्ति है। सामने आपका शत्रु खड़ा है। आपका मानस रस (शक्ति) उसकी ओर खिंचा जा रहा है। उसका रस आपकी ओर खिंचा जा रहा है। दोनों में रस का अणुमात्र भी स्पर्श नहीं हो रहा है। प्रश्न किया जा सकता है कि, पूर्व में द्वेषासक्ति का विश्लेषण करते हुए इसमें मानस रस का सम्बन्ध बतलाया गया है। अब यहाँ यह कहा जा रहा है कि, दोनों के रसों का स्पर्श भी नहीं हो पाता। यह कैसा पूर्वापरविरोध ?। उत्तर स्पष्ट है। 'संयोगा विप्रयोगान्ता' सिद्धान्तानुसार संयोग यदि वियोगान्त है, तो वियोग संयोगान्त है। राग का अर्थ है संयोग। विश्वास कीजिए–यह संयोगात्मक राग अवश्य ही 'प्रतिपरिवर्त्तधर्मता' के अनुसार किसी दिन वियोगात्मक में परिणत हो जायगा और संयोगात्मक राग की वह वियोगाभिमुख दशा ही वियोगात्मक द्वेष रूप में परिणत हो जायगी। यो रागासक्ति ही किसी दिन द्वेषासक्तिरूप में परिणत हो जायगी। द्वेष का अर्थ है वियोग। यदि यह वियोग चिरस्थायी बना रहेगा, तो अवश्य ही वह किसी दिन संयोगरूप में परिणत हो जायगा और वियोगात्मक द्वेष की यह संयोगाभिमुख दशा ही संयोगात्मक रागरूप में परिणत हो जायगी। यो द्वेषासक्ति ही कालान्तर में रागासक्तिरूप में परिणत हो जायगी। राग का चरम परिणाम होगा द्वेष, द्वेष का चरम परिणाम होगा राग। सोम का आत्यन्तिक संग्रह ही विश्लेषणात्मक अग्नि है, एवं अग्नि का आत्यन्तिक विकास ही संकोचात्मक सोम है। यही स्थिति अग्निगर्भित सौम्य मन से विनिर्गत कामानुबन्धी सोमगुणक राग की, तथा सोमगर्भित शारीराग्नि से विनिर्गत क्रोधानुबन्धी अग्निगुणक द्वेष के सम्बन्ध में घटित हुई है। जो राग है वही द्वेष है। जो द्वेष है, वही राग है। काम से ही रागोत्पत्ति है काम से ही द्वेषोत्पत्ति है। इस स्थिति को लक्ष्य में रख कर उत्तर का समन्वय कीजिए। द्वेष तभी बन सकता है जबकि पहिले दोनों रसों का संयोग हो। विभाग संयोग को आधार बना कर ही प्रवृत्त होता है। योग ही वियोगप्रवृत्ति का कारण बनता है। सम्बन्ध होगा तभी तो सम्बन्धविच्छेद को अवसर मिलेगा। द्वेष में दोनों रसों का दोनों शत्रुओं के संमुख होते ही पहिले क्षण भर के लिए अज्ञातरूप से सम्बन्ध हो जाता है। इस प्राथमिक–आकस्मिक–संयोग के अव्यवहितोत्तरकाल में ही सम्बन्ध का विच्छेद हो जाता है। सम्बन्ध अपनी सम्मुखता छोड़ कर *विमुखता* में परिणत हो जाता है। इसप्रकार विक्षेपात्मक द्वेष में भी मूल में स्वपनाभिमुख आसक्ति की सत्ता ही सिद्ध हो

बाली है । रागात्मक सम्बन्ध आकर्षणात्मक है, द्वेषात्मक सम्बन्ध विकर्षणात्मक है, यही तात्पर्य है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि कामानुगत मानस आकर्षण का ही नाम राग किंवा रागासक्ति है। अतएव रागासक्ति में मन रागानुगत काम्य विषय की ओर सदा आकर्षित रहता है । क्रोधानुगत मानस विकर्षण का ही नाम द्वेष, किंवा द्वेषासक्ति है । अतएव द्वेषासक्ति में मन द्वेषानुगत काम्य विषय से सदा दूर रहता है । दूसरे शब्दों में आकर्षण सम्बन्ध-प्रयोग ही राग है, विकर्षण सम्बन्ध-प्रयोग ही द्वेष है । यही रागद्वेषद्वन्द्व सम्बन्ध का तृतीय दृष्टिकोण है ।

कामानुगताकर्षणसम्बन्धप्रयोगः—रागः
क्रोधानुगतविकर्षणसम्बन्धप्रयोगः—द्वेषः
}—आसक्तिः

कामानुगतमाकर्षणम्—वा—रागः
क्रोधानुगतं विकर्षणम्—वा—द्वेषः
}—आसक्तिः

२७ कामक्रोधानुबन्धी रागद्वेषद्वन्द्व—

चौथी दृष्टि से रागद्वेषद्वन्द्व का समन्वय कीजिए । राग भी काममूलक है । द्वेष भी काममूलक है । रागकामना से रागासक्ति का उदय होता है, द्वेषासक्ति से द्वेषासक्ति का उदय होता है । इसप्रकार यद्यपि राग द्वेष दोनों का प्रवर्तक 'काम' ही है । तथापि इन दोनों में से रागमूलक काम को तो 'काम' शब्द से ही व्यवहृत किया जाता है । एवं द्वेषमूलक काम को 'काम' न कह कर 'क्रोध' कहा जाता है । कारण यही है कि रागमूलक काम शारीराग्निगर्भित मन से विनिर्गत होता हुआ मुखानुरागी, अतएव सौम्य है । उधर द्वेषमूलक काम मनोगर्भित शारीराग्नि से विनिर्गत होता हुआ दुःखानुरागी, अतएव आग्नेय है । आग्नेयताप क्रोध है सौम्य स्नेह काम है । अतएव सौम्य मनःप्रधाना रागमूला कामना स्नेहलक्षणा आकर्षणशक्ति के द्वारा रागबन्धन की जननी बनती है । एवं आग्नेयतापप्रधाना द्वेषमूला कामना तपोलक्षणा विकर्षणशक्ति के द्वारा द्वेषबन्धन की जननी बनती है । द्वेषबन्धन आग्नेयाग्निप्राधान्य से प्रबन्धनात्मक परित्यागात्मक बन्धन है, रागबन्धन सौम्यसोमप्राधान्य से बन्धनात्मक-ग्रहणात्मक बन्धन है । इसप्रकार रजोगुणापरोक्ष प्रतिष्ठित एक ही काम सोमाग्नि के सम्बन्धतारतम्य से कामात्मक काम क्रोधात्मक काम इन दो स्वरूपों में परिणत हो जाता है । कामात्मक काम 'काम' कहलाता है, क्रोधात्मक काम 'क्रोध' कहलाता है । इसी आधार पर कहा जा सकता है कि राग कामानुबन्धी है, द्वेष क्रोधानुबन्धी है । राग में काम का समावेश है किंवा काम में राग का समावेश है । एवं द्वेष में क्रोध का किंवा क्रोध में द्वेष का समावेश है । ऐसी स्थिति में यदि काम को राग का एवं क्रोध को द्वेष का जनक कह दिया जाय तो भी असङ्गति न होगी

कामजनित राग से सम्बन्ध रखने वाले ... ... प्रवृत्ता रहती है ... के
प्रदेश को प्रधान कर अनुराग से ... रागानुबन्ध ... ... कामचारी रागी

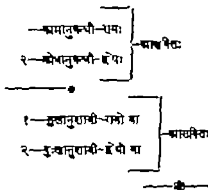
वैराग्य का अर्थ होता है–काममूलक राग का अभाव। क्या वैराग्य शब्द से केवल काममूलक राग का ही अभाव अभिप्रेत है ? । नहीं। अपितु वैराग्यशब्द राग द्वेष, मोह तीनों के अभाव का सूचक बन रहा है। कैसे ? सुनिए ।।

३६–कामक्रोधलोभमूलक–रागद्वेषमोह—

गीता में रजोगुण से काम क्रोध की उत्पत्ति मानी है। क्रोध को लोभात्मक 'मोह' का भी उपलक्षण समझना चाहिये। और इस दशा में–'काम एषः, क्रोध एषः रजोगुणसमुद्भवः' का अर्थ– काम एषः, क्रोध एषः लोभ एषः रजोगुणसमुद्भवाः' यह समझना चाहिये। अज्ञानात्मक ज्ञानलक्षण मोह लोभात्मक मोह भेद से मोह दो प्रकार का माना गया है। अज्ञानात्मक ज्ञानलक्षण मोह को पतञ्जलि ने 'अविद्या' शब्द से व्यक्त किया है। एवं इस अज्ञानात्मक मोह का प्रतिद्वन्द्वी ज्ञान माना गया है जिसका सिद्धविद्यानुगत ज्ञानबुद्धि-योग से सम्बन्ध है जिसका तृतीय खण्ड में विस्तार से उपवृंहण किया जा चुका है। दूसरा लोभात्मक मोह उस अज्ञानात्मक–ज्ञानप्रतिद्वन्द्वी–मोह से पृथक् तत्त्व है। लोभात्मक मोह की प्रतिष्ठा अज्ञान नहीं है अपितु रागद्वेषासक्ति है। अतएव इसे रागद्वेषवत् आसक्तिस्वरूप में ही अन्तर्भूत माना जायगा। अतएव इसका प्रतिद्वन्द्वी रागद्वेषासक्तिवत् वैराग्य ही माना जायगा। 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' का मोह ज्ञानप्रतिद्वन्द्वी अज्ञानात्मक मोह है। एवं–'मोहादारभ्यते कर्म' (१८।२५)–मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्' (१६।१०)–प्रमादो मोह एव च' (१४।१३)–का मोह वैराग्यप्रतिद्वन्द्वी आसक्तिलक्षण मोह है। ज्ञानप्रतिद्वन्द्वी मोह का मूल अज्ञान है वैराग्यप्रतिद्वन्द्वी मोह का मूल लोभात्मिका आसक्ति है। अतएव रागानुगत काम द्वेषानुगत क्रोध इन आसक्तिमूलों के साथ ही मोहानुगत लोभ का संग्रह हुआ है जैसाकि–'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधः–तथा लोभः' इत्यादि भगवद्वचन से प्रमाणित है। काम–क्रोध–लोभ तीनो सहचारी हैं समानजातीय हैं अभिन्न सत्ता हैं। राग कामानुबन्धी है द्वेष क्रोधानुबन्धी है, मोह लोभानुबन्धी है। अतएव काम–क्रोध को लोभ का एवं रागद्वेष को मोह का उपलक्षण माना जायगा। गीता ने रजोगुण से काम–क्रोध की उत्पत्ति मानी है जिसमें लोभ का भी समावेश करना पड़ेगा, और कहना पड़ेगा कि काम–क्रोध–लोभ, तीनों रजोगुणसमुद्भूत हैं। कामानुगत राग क्रोधानुगत द्वेष यदि रजोगुणमूलक बनते हुए रागात्मक (आसक्त्यात्मक) हैं, तो लोभानुगत मोह भी रजोगुणमूलक बनता हुआ अवश्य ही रागात्मक माना जायगा। 'राग' का अर्थ होगा आसक्ति। रागलक्षणा (रजोगुणलक्षणा) यह आसक्ति क्योंकि काम–क्रोध–लोभ–मूलक राग–द्वेष–मोह भेद से त्रिधा विभक्त रहती है। अतएव वैराग्य के राग शब्द से 'राग–द्वेष–मोह' तीनों का ग्रहण किया जायगा। और इस दशा में वैराग्य शब्द का अर्थ किया जायगा– राग–द्वेष–मोह–राहित्य'।

रागत्रयी —
- कामः—रजोगुणमूलः–अतएव रागात्मकः–कामराग–सन्मूलो रागः—अनुकूलरागः
- क्रोधः—रजोगुणमूलः अतएव रागात्मकः–क्रोधराग–सन्मूलो द्वेषः—प्रतिकूलरागः
- लोभः—रजोगुणमूलः–अतएव रागात्मकः–द्वेषराग–सन्मूलो मोहः—स्वस्वरागः

सुखानुशयी बनाने में सचेष्ट बना रहता है। बच्चे के साथ राग है, अतएव इसके जैसे आप सुखानुभव कर रहे हैं, वैसे रागवशीभूत बच्चे को खिलाना–पिलाना–कपड़े पहनाना–उसके लिए रमणसाधन (खिलौना) लाना आदि साधनों के द्वारा आप इसे भी सुखी बनाने में तल्लीन रहते हैं। प्रत्येक प्रकार से इसे सुख पहुँचाने का ध्यान रहता है। 'इसे सुख मिले इसे कोई कष्ट न हो' राग में इसी सुखानुबन्ध की प्रधानता रहती है, जो अन्ततोगत्वा दुःखानुबन्धप्राप्ति का कारण बन जाता है। यही वात्सल्य बालक के यत्किञ्चित् उत्पीडन से आपके दुःख का कारण बन जाता है। क्रोधजनित द्वेष में ठीक इसके विपरीत है। द्वेष से सम्बन्ध रखने वाले सब अनुबन्धों में अमित्रविप्रियता रहती है। जिसके साथ द्वेष होता है उस पर सदा क्रोधभाव जाग्रत रहता है। शत्रु का नामस्मरण होते ही दाँत भिंच जाते हैं मुट्ठी बँध जाती है। 'कैसे इसका सर्वनाश हो, कैसे यह दुःखी बने' यह निग्रहेच्छा प्रबलतया जाग्रत हो जाती है। राग में मन क्योंकि सुख में ओतप्रोत रहता है अतएव भगवान् पतञ्जलि ने राग का—'सुखानुशयी रागः' यह लक्षण किया है। यहाँ 'सुख' से 'काम' ही अभिप्रेत है। जिसका अर्थ होता है—'कामानुबन्धी रागः'। द्वेष में मन क्योंकि दुःख में ओतप्रोत रहता है। अतएव इसका योगदर्शन में—'दुःखानुशयी द्वेषः' यह लक्षण हुआ है। यहाँ दुःख से क्रोध ही अभिप्रेत है। अतएव इसका अर्थ होता है—'क्रोधानुबन्धी द्वेषः'। तात्पर्य कहने का यही है कि मित्र-सम्बन्धानुगता उत्कटस्पृहा इति काम है, नाशानुकूला शत्रुवियोगानुगता आत्मानुकूला इति क्रोध है। राग एवंविध कामानुबन्धी है सुखानुशयी है। द्वेष एवंविध क्रोधानुबन्धी है, दुःखानुशयी है।



१८—रजोमूलक-काम-क्रोध-मोह—

रागद्वेषात्मिका आसक्ति का अनेक दृष्टि से समन्वय किया गया। रागद्वेष दोनों क्रमशः काम-क्रोध-मूलक हैं। काम-क्रोध, दोनों तत्त्वतः कामासक्तिलक्षण हैं। काम ही तत्त्वतः दोनों का मूल है। अतएव योगशास्त्र-पठित 'राग, द्वेष' नामक दोनों क्लेशों की समष्टि को 'आसक्ति' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। अतएव पाँच क्लेशों के स्थान में इस विज्ञानदृष्टि के कारण चार ही क्लेश रह जाते हैं। चारों क्लेशों में से रागद्वेषात्मक आसक्ति क्लेश का प्रतिद्वन्द्वी आसक्तिनिवर्तक मन ही वैराग्य नाम से प्रसिद्ध हुआ है। आसक्ति-क्लेश का प्रक्रियानुसार स्वरूप परिचय कराया गया। अब तत्प्रतिद्वन्द्वी–तन्निवर्तक वैराग्य-मन का दिग्दर्शन करा दिया जाता है। विषयरागाभाव का ही नाम 'वैराग्य' है। 'राग' काममूलक बतलाया गया है।

४०–'रजो रागात्मकं विद्धि' का समन्वय—

'रजो रागात्मकं विद्धि' (गी० १४।७।) के अनुसार रजोगुण रागात्मक है आसञ्जनात्मक है। आसञ्जन क्योंकि कामासञ्जन–क्रोधासञ्जन–लोभासञ्जन भेद से तीन मार्गों में विभक्त है, अतएव रजोगुण भी तीन भागों में विभक्त हो जाता है। कामासञ्जनानुगत (कामरागानुगत) रजोगुण अनुकूलासक्ति का, क्रोधासञ्जनानुगत (क्रोधरागानुगत) रजोगुण प्रतिकूलासक्ति का एवं लोभासञ्जनानुगत (लोभरागानुगत) रजोगुण स्तम्भासक्ति का जनक बनता है। रजोगुणमूला अतएव रागात्मिका अनुकूलासक्ति ही 'राग' नाम से, रजोगुणमूला अतएव रागात्मिका प्रतिकूलासक्ति ही 'द्वेष' नाम से, एवं रजोगुणमूला, अतएव रागात्मिका स्तम्भासक्ति ही 'मोह' नाम से व्यवहृत हुई है। इस दृष्टि से राग–द्वेष–मोह–तीनों का रागात्मकत्व सिद्ध हो जाता है।

४१–त्रिगुणात्मक रजोगुण का त्रिवृद्रूप—

एक बात और। त्रिवृद्भाव के कारण मनःप्राणवाङ्मयस् सत्त्व–रजस्तमोलक्षणा गुणत्रयी भी त्रिवृद्भाव में परिणत रहती है जिसका आर्षविद्यानुगत धर्मबुद्धियोगनिरूपक प्रथम स्तम्भ में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। इस त्रिवृद्भाव के कारण मध्यस्थ रजोगुण भी सत्त्वरूप रज, रजोरूप रज, तमोरूप रज, इन तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। सत्त्वगुणात्मक रजोगुण काम का, एवं कामानुगत अनुकूलासक्तिलक्षण 'राग' का मूल बनता है। रजोगुणात्मक रजोगुण क्रोध का एवं क्रोधानुगत प्रतिकूलासक्तिलक्षण 'द्वेष' का मूल बनता है। तमोगुणात्मक रजोगुण लोभ का एवं लोभानुगत स्तम्भासक्तिलक्षण 'मोह' का मूल बनता है। इसी त्रिवृद्भाव के कारण राग को सत्त्वानुगत, द्वेष को रजोऽनुगत, एवं मोह को तमोऽनुगत माना जा सकता है। सत्त्वगुण सुखानुशयी है। अतएव सत्त्वगुणात्मक रजोगुण से समुद्भूत काम, एवं कामानुगत राग को सुखानुशयी माना जायगा। रजोगुण दुःखानुशयी है। अतएव रजोगुणात्मक रजोगुण से समुद्भूत क्रोध एवं क्रोधानुगत द्वेष को दुःखानुशयी माना जायगा। तमोगुण स्तम्भशायी है। अतएव तमोगुणात्मक रजोगुण से समुद्भूत लोभ एवं लोभानुगत मोह को स्तम्भानुशयी माना जायगा, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

१–सत्त्वगुणात्मकं–रजः–सम्भूतः कामः–तदनुगतासक्तिः–'रागः' (सुखानुशयी)

२–रजोगुणात्मकं–रजः–सम्भूतः क्रोधः–तदनुगतासक्तिः–'द्वेषः' (दुःखानुशयी)

३–तमोगुणात्मकं–रजः–सम्भूतः लोभः–तदनुगतासक्तिः–'मोहः' (स्तम्भानुशयी)

४२–वैराग्य का तात्त्विक स्वरूप—

सत्त्वगुणानुगत रजोगुण से उत्पन्न 'काम' से सम्बन्ध रखने वाले राग में प्रवृत्ति है। रजोगुणानुगत रजोगुण से उत्पन्न 'क्रोध' से सम्बन्ध रखने वाले द्वेष में निवृत्ति है। एवं तमोगुणानुगत रजोगुण से उत्पन्न 'लोभ' से सम्बन्ध रखने वाले मोह में स्तम्भन है। इसप्रकार त्रिवृद्भावापन्न एक ही

रजोगुण काम क्रोध-लोभ द्वारा राग द्वेष-मोह का जनक बना हुआ है। अतएव वैराग्य के राग शब्द का उपलक्षणविधि (गणविधि) से रागसहचारी द्वेष मोह का भी संग्राहक माना जा सकता है। अतएव च वैराग्य का-'रागद्वेषमोहराहित्यं वैराग्यम्'-यह लक्षण किया जा सकता है।

४३-विषयानुगत रागद्वेषमोहत्रयी का अनुभावित साहचर्य्य—

राग-द्वेष-मोह तीनों में अनुभावित (अस्वाभाविक-कल्पित) साहचर्य्य माना गया है। कल्पना कीजिए, किसी व्यक्ति का मन कामात्मक राग से युक्त है। जबतक मन में कामात्मक राग रहेगा, तबतक क्रोधात्मक द्वेष तथा लोभात्मक मोह को अवसर न मिलेगा। एवमेव क्रोधात्मक द्वेष की सत्ता में राग-मोह को लोभात्मक मोह की सत्ता में रागद्वेष को अवसर न मिलेगा। राग प्रवृत्ति है, द्वेष निवृत्ति है मोह स्तम्भन है। जबतक प्रवृत्ति है, तबतक निवृत्ति-स्तम्भन सम्भव नहीं। जबतक निवृत्ति है, तबतक प्रवृत्ति स्तम्भन सम्भव नहीं। एवं जबतक स्तम्भन है तबतक प्रवृत्ति-निवृत्ति सम्भव नहीं। तात्पर्य्य-तीनों एककालावच्छेदेन (एक समय में) मनोगोपुर पर प्रतिष्ठित नहीं रह सकते। प्रतिष्ठास्थान एक ही है परन्तु प्रतिष्ठाकाल तीनों का विभिन्न है। पहिरा एक है पहरा देने वाले ८ हैं। आठों सिपाही एक ही समय में पहिरा नहीं देते। आठों का समय उस एक ही पहिरे के लिए दिनरात में ३-३-घन्टे से विभक्त है। कालभेदेन विभिन्न भी आठों पहिरेदारों का परस्पर साहचर्य्य है। कोई किसी का अनिष्ट नहीं करना चाहता। कोई किसी का बलप्रयोगपूर्वक स्थान नहीं छीनता। दूसरे के आजाने से पहिला अपना अधिकार उस दूसरे को देकर हट जाता है। आदान-प्रदानात्मक यही साहचर्य्यक्रम आठों में चलता रहता है। ठीक यही स्थिति यहाँ समझिए। मनोगोपुर रूप पहिरा एक है। पहिरा देने वाले राग-द्वेष-मोह भाव तीन पहिरेदार हैं। रागदशा में द्वेष उसका स्थान नहीं छीनता द्वेषदशा में राग उस स्थान पर आक्रमण नहीं करता। मोहदशा में रागद्वेष तटस्थ बने रहते हैं। यही तीनों का अनुभावित साहचर्य्य है। अनुभावित इसलिए कहना पड़ा कि, तीनों स्वरूपतः सर्वथा विभिन्न हैं अतएव विरोधी हैं। अतएव तीनों साथ नहीं रह सकते। अनाभ्यस्वरूपक ऐसा साहचर्य्य (अनुभावात्मक ऐसा सम्बन्ध) ही अनुभावित (कल्पित) साहचर्य्य माना गया है। तीनों का, तीनों के मूलाधारभूत सत्त्व-रज-तमोगुणों का इसी अन्योऽन्याभिभवात्मक अनुभावित साहचर्य्य से परस्पर अभिभव होता रहता है। कभी राग द्वेष को दबा देता है कभी द्वेष राग को, तो कभी मोह राग द्वेष को दबा देता है। 'अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः' (सांख्यकारिका) से इसी अनुभावित साहचर्य्य का स्पष्टीकरण हुआ है। इस सम्बन्ध के आधार पर राग को द्वेष, तथा मोह का उपलक्षण मानते हुए वैराग्य का राग-द्वेष-मोह राहित्य लक्षण सम्पन्न बन जाता है।

सर्वानुगता सुस्थिरविद्धा उपलक्षणविधा से सम्बन्ध रखने वाले अनुभावित साहचर्य्य को प्रामाणिक मानते हुए यद्यपि उक्त प्रकारानुसार राग को द्वेष-मोह का उपलक्षक मान कर वैराग्य का 'रागद्वेषमोहराहित्य लक्षण किया जा सकता है। तथापि इस उपलक्षणविधा में पूर्ण अभिरुचि प्रकट नहीं की जा सकती। इसी स्वारस्य के अभाव से एक दूसरे दृष्टिकोण से राग को द्वेष, और मोह का संग्राहक माना जायगा। जिज्ञासु कहते हैं-राग-द्वेष-मोह तीनों परस्पर सर्वथा विरुद्ध हैं। कथन है भी यथार्थ। ऐसी दशा में-'अनाभ्यस्य-मवयोरान्तर्य्यम्' इस न्यायविप्रतिपत्ति का उदाहरण देकर तीनों विरोधियों में कल्पित साहचर्य्य मानना व्यर्थ

ही तीनों विरोधियों के अविरोध की कल्पना कर एक से तीन का ग्रहण करना तर्कानुगत पक्ष अवश्य हो सकता है। किन्तु इसे तत्त्वानुगत-विज्ञानसिद्ध पक्ष नहीं कहा जा सकता। विज्ञानदृष्टया तो वैराग्य' का अर्थ केवल 'रागराहित्य' ही सिद्ध होता है। यही उपलक्षणविधामक कल्पित साहचर्य्य में अरुचि है। इसकी निवृत्ति के लिए ही पाठकों का ध्यान अन्य उस दृष्टिकोण की ओर आकर्षित किया जाता है, जिसका प्रधानविधा से ही सम्बन्ध है।

४४–संस्कारानुगता रागद्वेषमोहत्रयी का वास्तविक साहचर्य्य—

विषयानुगति मनोऽनुगति, भेद से राग-द्वेष-मोह त्रयी दो मार्गों में विभक्त मानी जा सकती है। बाह्य विषयानुगत राग द्वेष मोह वास्तव में परस्पर विरुद्ध हैं। जिस बाह्यविषय के साथ राग है वहाँ द्वेष नहीं। जिसके साथ द्वेष है उसके साथ राग नहीं। जिसके प्रति मोह है उसके प्रति राग-द्वेष नहीं। मित्र के साथ द्वेषाभाव है शत्रु के साथ रागाभाव है। इसप्रकार विषयानुगत रागादि वास्तव में परस्पर विरुद्ध होते हुए एकत्र नहीं रह सकते। परन्तु मन से गृहीत रागद्वेषमोह स्वरूपतः परस्पर विरोधी होते हुए भी एक ही प्रज्ञा धरातल पर एक ही काल में निर्विरोध प्रतिष्ठित हो जाते हैं। बाह्य विषयानुगत राग-द्वेष-मोहों से उत्पन्न संस्कारात्मक रागद्वेषमोह संस्काररूप से (वासनारूप से) उसी प्रज्ञान धरातल पर उसी प्रकार एक ही समय में निर्विरोध प्रतिष्ठित रहते हैं, जैसे की परम्परात्यन्त विरुद्ध तम, और प्रकाश एक ही लगोलीय धरातल पर एक ही काल में, एवं परस्परात्यन्त विरुद्ध पञ्चतन्मात्रानुगत पञ्चमहाभूत एक ही शरीर में एक ही समय में निर्विरोध प्रतिष्ठित रहते हैं। इस मनोऽनुगता रागादित्रयी का साहचर्य्य अनुमानित नहीं है अपितु वास्तविक है। अतएव इस वास्तविक साहचर्य्य की अपेक्षा से अवश्य ही राग से सह सहचारी द्वेष का एवं द्वेष से तत्सहचारी मोह का ग्रहण कर वैराग्य का–'रागद्वेषमोहराहित्य' लक्षण करना सर्वात्मना अभिरुचि का विषय बन जाता है।

४५–मनोऽनुगत राग से युक्त रागद्वेषमोहत्रयी का वास्विक साहचर्य्य—

अपिच विचार तो केवल 'राग' शब्द का ही है। छोड़िए इस साहचर्य्य का आश्रय। केवल राग-शब्द को लक्ष्य बना कर ही स्थिति पर दृष्टि डालिए। आसक्ति ही राग है, राग ही आसक्ति है। अनुकूलता रक्षित हो प्रतिकूलतानिवृत्ति हो किंवा स्तम्भात्मकि हो, आसक्तिरूपेण तीनों आसक्ति हैं। आसक्ति का ही नाम जब राग है तब तीनों हीं आसक्तिरूप हैं तो अवश्य ही राग-द्वेष-मोह तीनों को राग नाम से व्यवहृत किया जा सकता है तीनों का राग शब्द से ग्रहण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त पूर्व कथनानुसार सत्त्वगुणानुगत रजोगुण ही कामद्वारा राग का रजोगुणानुगत रजोगुण ही कोपद्वारा द्वेष का एवं तमोगुणानुगत रजोगुण ही लोभ द्वारा मोह का जब जनक बना हुआ है, रजोगुण ही जब राग है, जबकि तीनों हीं रजोगुणात्मक हैं तो इस दृष्टि से भी तीनों का रागधर्मत्व (रजोगुणत्व) कैसे हटाया जा सकता है ? । इसप्रकार इस दृष्टि से भी रागादि तीनों का केवल राग शब्द से ग्रहण करना तत्त्वसम्मत बना हुआ है। राग शब्द का रजोगुणार्थ थोड़े देर के लिए छोड़ दीजिए, लोकसिद्ध 'आसक्ति' अर्थ को आधार बना कर ही विषय का समन्वय कीजिए। मन से परिगृहीत संस्कारात्मक राग-द्वेष-मोह, तीनों भाव रागद्वारा ही मनो-धरातल पर प्रतिष्ठित हुए हैं, यह इसलिए मानना पड़ता है कि आसक्ति ही राग है। एवं जब आसक्ति

नहीं है तब तक न राग है न द्वेष है न मोह है। मन का स्वाभाविक-सत्त्वानुगत-स्नेहगुणक सौम्यरस ही मानस राग है। यही मानस रागात्मक सौम्य रस आत्मराग, किंवा आत्मासक्ति है। इस आत्मराग के कारण ही अनुकूल कामना के द्वारा सुखानुगामी चिरसंस्कार के साथ मन का राग होता है। इसी आत्मराग से प्रतिकूलराग। के द्वारा दुःखानुगामी चिरसंस्कार के साथ मन का द्वेष होता है। इसी आत्मराग से सम्भ्रमकामना के द्वारा व्यामोहनानुगामी चिरसंस्कार के साथ मन का मोह होता है। आत्मराग (आत्मासक्ति) सम्बन्ध से विषयराग भी राग है, विषयद्वेष भी राग है, एवं विषयमोह भी राग है। बात यथार्थ है। यदि विषयराग से आत्मराग न हो, तो आत्मा रागासक्त ही न रहे। यदि द्वेष के साथ आत्मराग न हो, तो निरवलम्ब आत्मा द्वेष से पृथक् हो जाय। एवमेव यदि आत्मा का मोह से राग न रहे, तो कभी आत्मा मोहासक्त न बने। दूसरे शब्दों में जबतक राग में आसक्ति न होगी, राग राग न बनेगा, जबतक द्वेष में आसक्ति (राग) न होगी, द्वेष द्वेष न बनेगा। एवं जबतक मोह में आसक्ति न होगी, तबतक मोह मोह न बनेगा। राग-द्वेष-मोह, तीनों को मन से चिपकाने वाला मनोऽवच्छिन्न स्नेहगुणक सौम्य राग ही है। राग-अनुराग-आसक्ति ही रागद्वेषमोहत्रयी की मूलप्रतिष्ठा है। इसप्रकार आत्मविषयानुबन्धी राग-द्वेष-मोह भावों के परस्पर सर्वथा विभिन्न रहने पर भी अतएव इनके भावद्वयी होने पर भी विषयोपाहित-मनोऽनुबन्धी-मानस धरातल पर प्रतिष्ठित-स्वरूपात्मक राग-द्वेष-मोह भावों के स्वरूपतः विभिन्न होने पर भी इनका मानस धरातल पर क्योंकि निर्विरोध साहचर्य है, इसलिए, इसके अतिरिक्त आत्मराग सम्बन्ध से तीनों के रागात्मक बन कर ही मनोधरातल पर प्रतिष्ठित होने से उक्त तीनों का 'राग' शब्द से ग्रहण किया जाना सर्वथा विज्ञानसम्मत बन जाता है। अतएव वैराग्य के-'राग-द्वेष-मोह रहित्य' इस लक्षण में किसी भी प्रश्न-आशङ्का को प्रविष्ट होने का अवसर नहीं मिल सकता। केवल राग (आत्मरागरूपा आसक्ति) के हट जाने से ही राग-द्वेष-मोह, तीनों हट जाते हैं। अतएव रागासक्ति (आत्मरागासक्ति) जहाँ राग-द्वेष-मोह की जननी है वहाँ आत्म-वैराग्य रागद्वेषमोह तीनों का निवर्त्तक बना हुआ है। और यही रागद्वेषमोहात्मक भावों के प्रतिद्वन्द्वी वैराग्य का तात्त्विक स्वरूपपरिचय है, जिसके आधार पर वैराग्यबुद्धियोगानुगता राजर्षिविद्या नाम की विद्या प्रतिष्ठित है।

४६–वैराग्यबुद्धियोगानुगता वैराग्यविद्या (राजर्षिविद्या)—

वैराग्यसमापेक्षा बुद्धि ही चार विद्याबुद्धियों में से 'वैराग्यबुद्धि' नाम की विद्याबुद्धि है। एवं राग-द्वेषमोहमयी बुद्धि ही चार अविद्याबुद्धियों में से 'आसक्तिबुद्धि' नाम की अविद्याबुद्धि है। वैराग्यबुद्धि के उदय से आसक्तिबुद्धि का प्रभाव चला जाता है, एवं आत्मा बन्धन से विनिर्मुक्त हो जाता है। यही इसकी सर्वानुभवसिद्ध उपपत्ति है। यहाँ थोड़ा ध्यान दीजिए। वैराग्योदय से रागद्वेषादि नष्ट हो जाते हैं, इसका तात्पर्य यही है कि, रागादि संस्कारों के साथ रहने वाला आत्मबन्धन टूट जाता है। रागद्वेषादि शरीर के धर्म हैं। जब तक शरीर है तब तक रागद्वेषादि का आत्यन्तिक अभाव असम्भव है। रागद्वेषात्मक विषयाकर्षण-परिणाम का भार इन्द्रियों पर, वैराग्य का भार आत्मा पर, इस विभक्तिकरण से रागद्वेषमोहमय संसार में सांसारिक कर्मों में अहोरात्र निमग्न रहता हुआ भी बुद्धियोगी वैराग्यप्रभाव से सदा तृप्त रहता है। यही गीता की सर्वपरिग्रहसमन्वितसिद्ध आत्मसंरक्षण वैराग्यविद्या है, जिसका निम्नलिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

—गीता २।६४।

वैराग्यबुद्धि की विपर्य्ययभूता आसक्तिबुद्धि के उदय से बुद्धि का वैराग्यधर्म्म अभिभूत होजाता है। फलतः इन्द्रियवत् आत्मा भी आसक्त बन जाता है। इसी के अनुग्रह से आत्मा न केवल अपने सांस्कारिक रागादि संस्कारों में ही आसक्त होता, अपितु पुत्र-स्त्री-गृह-पशु-आदि अन्य विषयों में भी यह आत्मसमर्पण कर देता है। फलतः इनके दुःख से भी यह दुःखी बना रहता है। इसप्रकार आसक्ति की कृपा से यह अपने घोर पापाद, सर्वविध दुःखों का अधिष्ठान बना रहता है। इन सर्वविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए राग-द्वेषमोहलक्षणा आसक्ति का हटना आवश्यक है। इसके हटने से ही उदासीनलक्षण समत्वयोग का उदय होता है। इस समत्वयोगोदय का हेतुभूत योग ही वैराग्यहेतुक बुद्धियोग कहलाता है, जो सम्यक्तया सिद्धवैराग्य-योगोदय का हेतु बनता हुआ तन्तुकुच्य न्याय से स्वयं भी 'वैराग्यबुद्धियोग' ही कहलाता है। इस वैराग्यबुद्धियोग के कार्य्यकारण रहस्य का, अनुष्ठानप्रकार का विश्लेषण करने वाली विद्या ही वैराग्यविद्या कहलाती है।

४७—आत्मस्थानत्रयी, और सम-विषम-योग, एवं समत्वयोगानुगता राजर्षिविद्या—

वैराग्यविद्यानुगत वैराग्यबुद्धियोग का जहाँ आत्मस्थान से सम्बन्ध है, वहाँ आसक्तिविद्यानुगत आसक्ति-भावयोग का शरीरस्थान, एवं संसारस्थान से सम्बन्ध है। इन तीनों स्थानों का भी सांकेतिक स्वरूप जान लीजिए। यह अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है कि आत्मा 'प्रजापति' कहलाता है। एवं प्रजापतिलक्षण आत्मा की 'मन-प्राण-वाक्' भेद से तीन कलाएँ मानी गई हैं। इन में मन 'आत्मा' कहलाता है, प्राण 'प्राण' कहलाता है, वाक् 'पशु' कहलाती है। मनोलक्षण आत्मा 'उक्थ' है, प्राणलक्षण प्राण 'अर्क' है, एवं वाक्-लक्षण पशु अशीति है। तीनों की समष्टि ही 'प्रजापति' है। इन तीनों में वाक्-लक्षण पशुरूप अशीतिभाग ही 'आत्मवित्त' कहलाता है। हृदय में प्रतिष्ठित उक्थरूप आत्मा अपने प्राणरूप अर्क से स्वपिण्डपर्य्यन्त व्याप्त रहता है। इसी आधार पर-'यावद्वित्तं-तावदात्मा' यह निगम प्रतिष्ठित हुआ है। वाङ्मय आत्मवित्त अन्तर्वित्त, बहिर्वित्त, भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। सांसारिक भौतिक वाङ्मय वे विषय जिनके सम्पर्क से रागादिभाव के द्वारा मन पर विषयसंस्कारों का उदय होता है बहिर्वित्त कहलाए हैं। स्वयं मनः प्रतिष्ठित वाक् विषयानिष्ठ-आध्यात्मिक वाङ्मय-पिण्डलक्षण आत्मा का अन्तर्वित्त है। अन्तर्वित्त शरीरानुबन्धी है, बहिर्वित्त संसारानुबन्धी है। इसी दृष्टि से उक्त लक्षण आत्मप्रजापति के हृदयस्थान, शरीरस्थान, संसारस्थान, ये तीन स्थान हो जाते हैं। हृदयस्थान में हृदयाकाशरूप उक्थलक्षण आत्मा प्रतिष्ठित रहता है। शरीरस्थान में प्राणयुक्त वाङ्मय अन्तर्वित्त (शरीर) प्रतिष्ठित रहता है। एवं संसारस्थान में प्राणयुक्त वाङ्मय बहिर्वित्त (भौतिक विषय) प्रतिष्ठित रहते हैं। बहिर्वित्तगर्भित संसारस्थान 'पुरुषाकाश' कहलाता है, अन्तर्वित्तगर्भित शरीरस्थान 'शरीराकाश' कहलाता है। एवं आत्मगर्भित हृदयाकाश दहराकाश (दहरपुण्डरीक) कहलाता है, जो अणिमाधर्मात्मा दहराकाश भूमाधर्मात्मक पुरुषाकाश से अभिन्न बनता हुआ व्यापक माना गया है। जैसा कि—'अणोरणीयान् महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्' इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। हृदयाकाशगर्भित आत्मा दहराकाश से व्याप्त

है। इसी आधार पर स्वर्णपुरुष-मास्कर-रूप आत्मा को 'आत्मसप्तमी' माना गया है। यही आत्मा नानक प्रथम हृदयाधारस्थान है। शरीरस्थान इस आत्मा का सौरद्वारा प्रथम प्रतिष्ठास्थान (व्याप्ति-स्थान) बनता है, अतएव शरीरस्थान 'प्रथम' कहलाया है। संस्कारस्थान प्राणद्वारा आत्मा का द्वितीय प्रतिष्ठास्थान बनता है। पहिले इन्द्रियनिबद्ध आत्मा प्राणरूप से शरीर में पुनः संसार में प्रथम होता है, अतएव संस्कारस्थान 'पुनःप्रथम' कहलाया है। 'पुनःप्रथम्' आत्मा का महिमामण्डल है, 'प्रथम्' आत्मा का वस्तुपिण्ड है, इसी में आत्मा गर्भीभूत है। इस दृष्टि से मनःप्राणवाङ्मय आत्मप्रधान त्रिस्थान बना हुआ है। त्रिस्थानात्मक प्रजापति का आत्मानुगत हृदयस्थान परिपूर्ण है। क्योंकि हृदय से चारों ओर समानरूप से आत्मरश्मियों का वितान होता है। अतएव हृदयस्थान समत्वयोगानुगत माना गया है। शरीरस्थानात्मक पद तथा संस्कारस्थानात्मक पुनःपद दोनों स्थान अपूर्ण हैं। अतएव विषम बनते हुए ये दोनों स्थान विषमयोगानुगत माने गए हैं। इन में शरीरसम्बन्ध शरीरस्थान की व्याप्ति है। शरीरानुगत इन्द्रियस्थान से आरम्भ कर शरीरनिष्ठानुगत संस्कारस्थानपर्यन्त संस्कारस्थान की व्याप्ति है। शरीरानुगत इन्द्रियस्थान से आरम्भ कर शरीरनिष्ठानुगत संस्कारस्थान पर्यन्त संस्कारस्थान में विषम हो जाना माना है। संस्कारस्थान से इच्छा द्वेष है। शरीरस्थान में विषम होना राग है। शरीरस्थान से इच्छा द्वेष है। एवं हृदयस्थान में प्रतिष्ठित रहना रागद्वेषमोहात्मक है यही वराग्यभाव है। मनोमात्मक मनस्तत्त्वरूप राग में भी विषमता है, शरीरात्मक मनस्तत्त्वरूप द्वेष में भी विषमता है। सम्मानात्मक सुख भाव में भी विषमता है। समता है केवल हृदयानुभूति में। यह समताप्राप्ति अभिलषित है–'समत्वयोग' प्रधानात्मक वैराग्यबुद्धियोगलक्षण पर, जिसकी मूलप्रतिष्ठा राजर्षिविद्या मानी गई है। निम्न लिखित गीतावचन अनासक्तिलक्षणा वैराग्यमावप्रवर्तिका एवं राजर्षिविद्या का, एवं तल्लक्षण वैराग्यबुद्धियोगात्मक समत्वयोग का विश्लेषण कर रहे हैं—

१–योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय !
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा 'समत्वं' योग उच्यते ॥२।४८॥

२–इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥५।१९॥

३–सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥६।२९॥

४–आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ! ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥६।३२॥

४८ ज्यष्ठ–वैराग्यबुद्धियोगानुगता राजर्षिविद्या–

राजर्षि विद्या गया मार्ग, इन चारों विद्याओं में राजर्षिविद्या एवं वैराग्य-ज्ञान-ऐश्वर्य-धर्म इन चारों बुद्धियों में वैराग्यबुद्धियोग ही श्रेष्ठ तथा ज्येष्ठ माना गया है। कारण स्वयं भगवान् ही इसके उपदेष्टा हैं। अतएव यह भगवान् का अपना प्रातिस्विक मत माना गया है। भगवान् कहते हैं— अर्जुन !

अध्यात्मक इस योग का सबसे पहले मैंने विवस्वान् को उपदेश दिया था। विवस्वान् ने स्वपुत्र वैवस्वत मनु को यह योग प्रदान किया। मनु से यह स्वपुत्र अयोध्याधिपति इक्ष्वाकु में प्रतिष्ठित हुआ। इसप्रकार प्रथमोपदिष्ट यह योग परम्परया राजर्षिवंशपरम्परा में उपदिष्ट होता रहा। अविद्यात्मक व्यवधान से कालान्तर में उस योग का स्वरूप विलुप्त हो गया था। आज उसी विलुप्तयोग का (इस शरीर से) मैं पुनः तुम्हें उपदेश कर रहा हूँ। 'एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः' के कारण ही यह भगवद्विद्या 'राजर्षिविद्या' नाम से प्रसिद्ध हुई। प्रथमाविष्कार का श्रेय वेदयुग में जहाँ भगवान् को मिला, वहाँ महाभारतयुग में इसके जीर्णोद्धार का श्रेय भी भगवान् को ही प्राप्त हुआ। अतएव यह योग भगवान् का अपना सिद्धान्त माना गया। अतएव इसे गीताशास्त्र में योगक्रम की उपेक्षा के द्वारा प्रथम स्थान दिया गया। 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः' के अनुसार अविद्यात्मक मोह, अस्मिता, रागद्वेषात्मिका आसक्ति, अभिनिवेश, यह क्लेशक्रम है। तदनुरूप ही ज्ञान-ऐश्वर्य्य-वैराग्य-धर्म्म यह योगक्रम माना जायगा। इस दृष्टि से गीता में ज्ञान-ऐश्वर्य्य-वैराग्य-धर्म्म, इसी क्रम से योगों का प्रतिपादन होना चाहिए था। परन्तु देखते हैं, तीसरे राजर्षिविद्यानुगत वैराग्यबुद्धियोग के सम्बन्ध में क्रमविपर्य्यय हुआ है। आगे की योगत्रयी तो क्रमानुसार ही व्यवस्थित है। परन्तु तृतीय स्थान में प्रतिष्ठित वैराग्ययोग को प्रथम स्थान दिया गया है। यह स्थानप्राथम्य भी वैराग्ययोग का प्रधानत्व ही प्रतिपादन कर रहा है। निम्न लिखित गीतावचन वैराग्यबुद्धियोग, एवं तदनुगता राजर्षिविद्या इसी भगवन्मतत्व का समर्थन कर रहे हैं—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्म्मभिः॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः॥

इति बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचनात्मके द्वितीयप्रकरणे

'वैराग्यबुद्धियोगानुगत—राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचनम्' नामकः

चतुर्थस्तम्भः

(२)—४



उपरतञ्चेदं चतुःस्तम्भात्मकं—द्वितीयं प्रकरणम्

——२——

श्रीः

'बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत

'वैराग्यबुद्धियोगानुगत–राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक

चतुर्थस्तम्भ–उपरत

(२)–४

श्रीः

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत प्रकरणत्रयात्मक–'बुद्धियोगपरीक्षा'

नामक–पूर्वखण्ड–का

स्तम्भचतुष्टयात्मक–'बुद्धियोगानु त विद्यास्वरूपनिर्वचन'

नामक

द्वितीयप्रकरण–उपरत

२



श्री।

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत-प्रकरणत्रयात्मक—'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक

पूर्वखण्ड का

'बुद्धियोगपरीक्षोपसहार' नामक

तृतीय प्रकरण

३



श्री

बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार

(तृतीय प्रकरण)

३

१–प्रतिपादित विषय की रूपरेखा—

प्राचीनाभिमत कर्म-ज्ञान-भक्ति-योगों का क्रमशः कर्मयोग–ज्ञानयोग–भक्तियोग-परीक्षा-नामक भूमिका-खण्डों में विस्तार से प्रतिपादन किया गया। अनन्तर गीता का मूल सिद्धान्त 'बुद्धियोग' हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ। इसके स्वरूप–परिचय के लिए ही 'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक पूर्वखण्ड लिपिबद्ध हुआ, जिसमें प्रधानतः दो प्रकरणों का समावेश हुआ है। 'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक प्रकरण में बुद्धियोग के तात्त्विक स्वरूप की मीमांसा हुई। एवं 'बुद्धियोगानुगत विद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक द्वितीय प्रकरण में क्रमशः धर्म्मबुद्धि-योग ऐश्वर्य्यबुद्धियोग ज्ञानबुद्धियोग, वैराग्यबुद्धियोग इन चारों बुद्धियोगों के साथ साथ तत्प्रतिष्ठाभूत आर्षविद्या राजविद्या, सिद्धविद्या, राजर्षिविद्या, बुद्धियोगानुगता इन चारों विद्याओं का चार परिच्छेदों में स्वरूप–दिग्दर्शन कराया गया। यही अबतक प्रतिपादित विषय की रूपरेखा है।

२–तृप्ति-तुष्टि-पुष्टि-मुक्ति-गुणचतुष्टयी—

तृप्ति, तुष्टि पुष्टि, मुक्ति, इन चार आध्यात्मिक गुणों से कर्म्मभोक्ता कर्म्मात्मा सुखी रहता है। पूर्णतृप्ति का नाम 'तृप्ति' है, मन्द तृप्ति का नाम 'तुष्टि' है * ईश्वरानुग्रह का नाम पुष्टि है भूतानुग्रह का नाम मुक्ति है। पूर्णतृप्तिलक्षणा तृप्ति सर्वात्म्यात्मा का स्वाभाविक गुण है, मन्द तृप्तिलक्षणा तुष्टि अव्यक्तात्मगर्भित मनोमय परात्म्यात्मा का स्वाभाविक गुण है, ईश्वरानुग्रहलक्षणा पुष्टि महानात्मगर्भित प्राणमय परावरात्म्यात्मा का स्वाभाविक गुण है एवं भूतानुग्रहलक्षणा मुक्ति विज्ञानात्मगर्भित वाङ्मय अवरात्म्यात्मा का स्वाभाविक गुण है। चारों आत्मगुण चार आत्मक्षेत्रों में विभक्त हैं। इन चारों में सर्वात्म्य क्योंकि सर्वात्मक है अतएव तदनुगत तृप्तिगुण के गर्भ में अन्य आत्मानुगत तुष्टि-पुष्टि-मुक्ति तीनों गुण अन्तर्भूत रहते हैं। अतएव च सर्वात्म्यात्मानुगत तृप्तिगुण के उदय से शेष आत्मानुगत तीनों आत्मगुण स्वतः उदित हो जाते हैं। चारों की अपेक्षा तृप्तिगुण का यही सर्वातिशायी माहात्म्य है।

---

* 'भगवदनुग्रह पोषः' के अनुसार शुद्धाद्वैतसम्प्रदाय में भगवदनुग्रह को ही पोष किंवा पुष्टि माना गया है। ईश्वरधर्म्मसमावेश ही भगवदनुग्रह है। इस अनुग्रहसमावेश से जीव की अल्पता भूमारूप में परिणत हो जाती है। यह भूमा ही जीव की पुष्टि है। इसी पुष्टिसम्बन्ध से यह वैष्णव सम्प्रदाय (वल्लभ-सम्प्रदाय) 'पुष्टिमार्ग' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

३–मुक्तिगुणानुगत कर्म्मबुद्धियोग—

(१)–सम्पूर्ण भोग पृथिवी पर प्रतिष्ठित हैं। परन्तु हम इन्हें प्राप्त करने में असमर्थ बने रहते हैं। इनके साथ ही जिन भोगों का हम भोग करते हैं, वे ही भोग क्षणिक सुख उत्पन्न कर अन्ततोगत्वा दुःखप्राप्ति के ही कारण बन जाते हैं। यही परिताप दुःख है जिसके मूल में 'आसक्ति' लक्षण 'अभिनिवेश' नामक क्लेश प्रतिष्ठित हो रहा है। मुक्ति हो रही है फिर भी शून्य है। मुक्ति के रहते मुक्ति का अभाव हो रहा है। अभिनिवेशमूला आसक्तिकर्म्मानुगता ऐसी मुक्ति सर्वथा अमुक्ति है। और यही दुःख का एक कारण है। इसकी निवृत्ति के लिए अक्षराव्ययात्मानुगत मुक्तिगुण का समाश्रय आवश्यक है। तदर्थ अभिनिवेशलक्षणा आसक्ति का निराकरण अपेक्षित है। अतएव कर्म्मसंन्यासलक्षणा निवृत्ति का अनुगमन अपेक्षित है। एवं तदर्थ कर्म्मविद्यानुगत–अभिनिवेशनिवर्त्तक–निवृत्तिकर्म्मात्मक–कर्म्मबुद्धियोगानुष्ठान आवश्यक है। यही गीताप्रतिपादित, मुक्तिसुख–प्रवर्त्तक कर्म्मबुद्धियोग नामक उपाय है जो प्राचीनाभिमत कर्म्मकर्म्मयोग का ही संशोधित रूप है।

४–पुष्टिगुणानुगत ऐश्वर्य्यबुद्धियोग—

(२)–चर–अचर, सचराचर प्राणियों के हृदय में योगात्मक–पुष्टिमार्गप्रवर्त्तक–ईश्वरतत्त्व समाविष्ट है। परन्तु रहती हुई भी इस आत्मपुष्टि (ईश्वरतत्त्वव्याप्तियोगात्मक ईश्वरानुग्रह) से हम वञ्चित रह जाते हैं। ईश्वरतत्त्वात्मिका पुष्टि न हो, यह बात नहीं है। जीवात्मा के साथ उसका सम्बन्ध न हो, यह बात भी नहीं है। उसी की पुष्टि से अनुग्रह से इच्छा से जीव की अव्यक्तसंस्था में स्थिति है। पुष्टि जीव को मिल रही है फिर भी यह शून्य है। पुष्टि के रहते पुष्टि का अभाव हो रहा है। अस्मितामूला आसक्तिकर्म्मानुगता ऐसी पुष्टि सर्वथा अपुष्टि है। कारण अस्मिता ने ईश्वरीय पुष्टि के स्वाभाविक विभूतिलक्षण ऐश्वर्य्य को अनैश्वर्य्यरूप में परिणत कर रक्खा है। संकुचित पुष्टि ही अपुष्टि है एवं यह भी दुःख का एक कारण है। इस की निवृत्ति के लिए परात्परात्मानुगत–पुष्टिगुण का समाश्रय अपेक्षित है। तदर्थ ईश्वरशरणन्यास अपेक्षित है। तदर्थ सम्यक् अस्मितावरण का निराकरण अपेक्षित है। एवं तदर्थ राजविद्यानुगत–अस्मितानिवर्त्तक–ईश्वरशरणन्यासात्मक–ऐश्वर्य्य–बुद्धियोगानुष्ठान अपेक्षित है। यही गीताप्रतिपादित, पुष्टिसुखप्रवर्त्तक–उपाय 'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' नामक उपाय है, जो प्राचीनाभिमत सम्यग्भक्तियोग का ही संशोधित रूप है।

५–तुष्टिगुणानुगत ज्ञानबुद्धियोग—

(१)–आप आज निर्धन हैं, अतएव आपके पास भोजन–वस्त्र–गृहादि परिग्रहों का आज अभाव है। आप पुरुषार्थ करते हैं पुरुषार्थ से प्रभूत द्रव्यप्राप्ति हो जाती है अर्थ के द्वारा आप सभी लौकिक परिग्रहों का प्रभूत मात्रा में संग्रह कर लेते हैं, फलस्वरूप दरिद्रता छूट जाती है। आज आपके पास सभी साधन–सम्पत्तियाँ पर्य्याप्तमात्रा में विद्यमान हैं। परन्तु आश्चर्य्य है फिर भी आप तुष्टि का अनुभव नहीं कर रहे। सन्तोष नहीं हो रहा। लाख से सन्तोष न कर करोड़ का संग्रह किया करोड़ से सन्तोष न कर और अधिक की इच्छा की, यों ज्यों ज्यों संग्रह बढ़ता गया, त्यों त्यों असन्तोष घटने के स्थान में बढ़ने लगा। और यों सन्तोष–प्रद साधनसम्पत्तियों ने तुष्टिगुणविकास के स्थान में उसे अधिकाधिक आवृत ही कर दिया। फलस्वरूप सब कुछ होते हुए भी आप नित्य असन्तुष्ट अतएव व्यग्र अतएव अशान्त, अतएव च दुःखी बन गए। आत्मगुणा–नुगता तुष्टि आप में आज भी प्रतिष्ठित है फिर भी आप उसके अनुकूल सम्बन्ध से वञ्चित हैं। तुष्टि रहते

बुद्धि का अभाव हो रहा है। कारण, अज्ञानात्मक मोह ने इस निम बुद्धि के स्वाभाविक विज्ञानलक्षण अन्तर्ज्योतिःस्वरूप ज्ञान (अध्यात्मज्ञान) को अज्ञानरूप में परिणत कर रक्खा है। अज्ञानावृता मोहान्मिका बुद्धि ही अबुद्धि है, एवं यह भी दुःख का एक कारण है। इसकी निवृत्ति के लिए परात्पराऽव्ययानुगत तृप्तिगुण का समाश्रय अपेक्षित है। तदर्थं अन्तर्ज्योतिरनुगति अपेक्षित है। तदर्थ मध्यस्थ अतृप्तिलक्षण मोहावरण-निराकरण अपेक्षित है। एव तदर्थं सिद्धविद्यानुगत मोहनिवर्तक-अन्तर्ज्योतिर्लक्षण-ज्ञानबुद्धियोगानुष्ठान अपेक्षित है। यही गीताप्रतिपादित-बुद्धिसुखप्रवर्तक उपाय 'ज्ञानबुद्धियोग' नामक उपाय है जो प्राचीनाभिमत कर्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग का ही संशोधित रूप है।

६-तृप्तिगुणानुगत वैराग्यबुद्धियोग-

(४)-उक्त तीनों योग अक्षराव्ययात्मा को आधार बनाते हुए अक्षरात्मक हैं। अतएव तीनों केवल अपने अपने वृद्धि-पुष्टि-मुक्ति-गुणों के ही संग्राहक बनते हैं। परन्तु चौथा सर्वाव्ययपरमानुगत वैराग्यबुद्धियोग क्योंकि सर्वात्मक है अतएव उससे स्वानुगत तृप्तिगुण के साथ साथ पर-परावर-अवरानुगत वृद्धि-पुष्टि-मुक्ति-गुणों का भी संग्रह हो जाता है। आपके अन्तर्जगत् में दहराकाशगर्भित हृदयाकाश में सत्यसंकल्प-भारूप-आकाशात्मा-सर्वाव्यय साक्षीरूप से प्रतिष्ठित है, जो निराश्रय-स्वाश्रय रहता हुआ नित्यतृप्त है। तृप्तिगुणक, अतएव पूर्णात्मक इसी सर्वाव्यय से आपका (जीवात्मा का) प्रत्यक्षसम्बन्ध से उदगम हुआ है—'पूर्णात्-पूर्णमुदच्यते'। उस पूर्ण के पूर्ण को लेकर आप तत्त्वतः पूर्णरूप ही हैं। अतएव आप भी स्वरूपतः नित्य-तृप्त हैं। परन्तु देखते हैं, आप में तृप्तिगुण का मनाक्विन्मात्र भी विकास नहीं देखा जा रहा। क्यों ?, ऐसा क्यों हुआ ?, उत्तर स्पष्ट है। आगविषयजनित संस्कारों से सम्बन्ध रखने वाले आपके मन ने ही इस समस्या को जटिल बना दिया है। सौम्यगुणक मन रजोगुणात्मक है। सौम्यरजोगुण में बन्धनासक्ति प्रतिष्ठित है। इसी मानस रागासक्ति से वे आगत संस्काररूपबन्धन अनुकूल-प्रतिकूल-स्तम्भन-इन तीन सम्बन्धों के भेद से राग-द्वेष-मोह इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाते हैं। रागद्वेषमोहात्मिका यह आसक्ति मन के द्वारा तत्-प्रतिष्ठ बुद्धि के विज्ञानलक्षण वैराग्यधर्म्म को अभिभूत कर डालती है। बुद्धिगत तृप्तिप्रवर्तक वैराग्यधर्म्म अतृप्तिकर आसक्तिधर्म्मरूप में परिणत हो जाता है। यही रागासक्ति-द्वेषासक्ति-मोहासक्ति-त्रयी वह मध्यावरण है जिससे-बुद्धि से परे रहने वाले सर्वाव्ययात्मानुगत तृप्तिगुणानुग्रह से आप वञ्चित रह जाते हैं। स्वाभाविक पूर्णता अपूर्णता के रूप में परिणत हो जाती है। अपूर्णता ही शून्यता है। शून्यता हो दुःख है। यही चौथा दुःख है जिसके मूल में आसक्ति प्रतिष्ठित है। इसकी निवृत्ति के लिए सर्वाव्ययपरमानुगत तृप्तिगुण का समाश्रय अपेक्षित है। तदर्थ अनासक्त्यनुगति अपेक्षित है। तदर्थ मध्यस्थ अतृप्तिलक्षण आसक्त्यावरण-निराकरण अपेक्षित है। एवं तदर्थ राजर्षिविद्यानुगत—आसक्तिनिवर्तक—अनासक्तिलक्षण—वैराग्यबुद्धियोगानुष्ठान अपेक्षित है। यही गीताभिमत-तृप्तिसुखप्रवर्तक-अतएव तृप्तिगर्भित वृद्धि-पुष्टि-मुक्ति सुखप्रवर्तक-अतएव च सर्वदुःखनिवर्तक-उपाय 'वैराग्यबुद्धियोग' नाम से प्रसिद्ध हुआ है जो सर्वाव्ययेश्वरावतार भगवान् कृष्ण का अपना प्रातिस्विक मत है।

७-पुरुषविद्याचतुष्टयी से अनुगता-पुरुषयोगचतुष्टयी—

आत्मलक्षण विद्या सिद्धविद्या कहलाती है एवं आत्मलक्षण योग सिद्धयोग कहलाया है। आत्मविद्या पुरुषविद्या किंवा ब्रह्मविद्या है। आत्मयोग पुरुषयोग, किंवा ब्रह्मयोग है। सर्वाव्ययात्मा निष्कलात्मा

(गूढात्मा निर्गुणब्रह्म) है अतएव तद्रूपा सर्वात्मविद्या 'निरञ्जनात्मविद्या' कहलाई है। अव्यक्ताक्षरगर्भित परा-व्ययात्मा ईश्वरात्मा (सगुणब्रह्म) है अतएव तद्रूप पराव्ययविद्या 'ईश्वरात्मविद्या' कहलाई है। महानाक्षर-गर्भित पराक्षराव्ययात्मा जीवात्मा (सविशेषब्रह्म) है अतएव तद्रूप पराक्षराव्ययविद्या 'जीवात्मविद्या' कहलाई है। विज्ञानाक्षरगर्भित अवराव्ययात्मा भूतात्मा (निर्विशेषात्मा वैकारिकब्रह्म) कहलाता है। अतएव तद्रूप अवराव्ययविद्या 'भूतात्मविद्या' कहलाई है। अव्ययावच्छिन्ना अव्ययविद्या तृष्टिगुणात्मिका है। तृष्टिगुणयोगात्मक अव्यययोग ही सिद्ध (नित्य) 'साम्ययोग' है। पराव्ययात्मिका अव्ययविद्या शुद्धिगुणात्मिका है। शुद्धिगुण-योगात्मक अव्यययोग ही सिद्ध 'ज्ञानयोग' है। पराक्षराव्ययात्मिका अव्ययविद्या मुक्तिगुणात्मिका है। मुक्तिगुण-योगात्मक अव्यययोग ही सिद्ध 'ऐश्वर्ययोग' है। अवराव्ययात्मिका अव्ययविद्या भुक्तिगुणात्मिका है। भुक्तिगुण-योगात्मक अव्यययोग ही सिद्ध 'धर्मयोग' है। 'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्' इत्यादि रूप से पठित योग सिद्धावस्थापन्न-सिद्ध अव्ययविद्यानुगत-अव्यययोग का ही वाचक बन रहा है। यह सिद्धयोग बुद्धि पर अनुग्रह रखता है अतएव बुद्धिसम्बन्ध से इस अव्यययोग को भी 'बुद्धियोग' कहा जा सकता है। अतएव पूर्वप्रकरणों में हमनें सिद्धयोगों को यत्र-तत्र 'बुद्धियोग' नाम से व्यवहृत कर दिया है। 'ददामि बुद्धियोगं तम्' का 'बुद्धियोग' शब्द सिद्ध 'बुद्धियोग'-का ही वाचक है। आत्मविद्याचतुष्टयी भी सिद्धा है, आत्मविद्यात्मिका योगचतुष्टयी भी सिद्धा है। इसके और जीव के मध्य में बुद्धि प्रतिष्ठित है। बुद्धि के द्वारा ही जीव का इस योगचतुष्टयी से सम्बन्ध होता है। इसलिए 'बुद्धिसत्त्वमरेण यात्वम्यो योगः' निर्वचन से यह सिद्धयोग भी बुद्धियोग कहलाने लगा है।

८—प्रकृतिविद्याचतुष्टयी से अनुगता—प्रकृतियोगचतुष्टयी—

सिद्धविद्यात्मक—सिद्धयोगलक्षण महानात्मा (अव्ययात्मा) और शारीरकात्मा (जीवात्मा) के मध्य में बुद्धितत्त्व प्रतिष्ठित है यह कहा गया है। प्रकृतिलक्षणा विद्या साध्यविद्या कहलाई है, प्रकृतिलक्षण योग साध्ययोग कहलाता है। प्रकृतिविद्या ही साध्यविद्या है, प्रकृतियोग ही साध्ययोग है। 'प्रकृति' अक्षर का नाम है। अव्यय—अक्षर—क्षर—तीनों में अक्षर मध्यस्थ है। उधर आध्यात्मिक संस्था में बुद्धितत्त्व मध्यस्थ है। अतएव बुद्धि ही अध्यात्मसंस्था में अक्षरात्मिका प्रकृति है। अतएव च 'प्रकृतिस्थ' का अर्थ—'बुद्धिस्थ' ही देखा—सुना जाता है। प्रकृतिमूला मध्यस्था इस बुद्धि के पश्चाद्भाग में वैराग्य—ज्ञान—ऐश्वर्य—धर्म—नामक सिद्ध-भावात्मक—सिद्धविद्यात्मक महदव्ययात्मा प्रतिष्ठित है जैसाकि—'यो बुद्धेः परतस्तु सः' से प्रमाणित है। बुद्धि के अवरस्थान में मनोऽनुगत—इन्द्रियजनित—संस्कारिक मर्त्यभावात्मक—आसक्ति—मोह—अस्मिता—अभिनिवेशात्मक मृत्युतत्त्व प्रतिष्ठित है जो अमृतात्मा का आवरक माना गया है। उस ओर अमृतचतुष्टयी है इस ओर मृत्यु-चतुष्टयी है। मध्यस्थ बुद्धितत्त्व में मध्यस्थता के कारण—'निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च' के अनुसार दोनों धर्मों का समावेश अवश्य प्राप्त है। अमृतात्मानुगत वैराग्यादि सिद्धयोगों के जो अवश्याय बुद्धि में आकर बुद्धि की प्रातिस्विक वस्तु बन जाते हैं वे ही 'बुद्धिभाव' कहलाए हैं। इनके आगमन से—योग से बुद्धि 'भ' भाव को (निरतिशयभाव को) प्राप्त हो जाती है। अतएव 'भं गच्छतीति येषु स्थि' निर्वचन से बुद्धियुक्त इन अमृतात्म-धर्ममार्गों को 'भग' कहा जाता है। एवमेव मर्त्यविश्वानुगत आसक्त्यादि भयोगात्मक योगों के जो अवश्याय मन की कृपा से बुद्धि में आकर बुद्धि की प्रातिस्विक वस्तु बन जाते हैं, वे ही 'बुद्धिक्लेश' कहलाए हैं। इनके आगमन से—योग से—बुद्धि क्लान्तभाव को (संक्लेशभाव को) प्राप्त हो जाती है। अतएव 'क्लान्ता—क्लिश्यन्ति

भवति येनु ह्रि' निर्वचन से बुद्धिमुक्त इन मर्त्य विश्व के प्रवर्ग्य भागों को 'क्लेश' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। आगन्तुक वैराग्यादिरूपा भगचतुष्टयी के एवं आवरणादि क्लेशचतुष्टयी के योगात्मक सम्बन्ध से (बुद्धि से) मध्यस्थ–प्रकृतिलक्षण एक ही बुद्धितत्त्व के–वैराग्यबुद्धि, ज्ञानबुद्धि, ऐश्वर्य्यबुद्धि, धर्म्मबुद्धि, ये चार विद्यात्मकरूप, एवं आसक्तिबुद्धि, मोहबुद्धि, अस्मिताबुद्धि अभिनिवेशबुद्धि, ये चार अविद्यात्मकरूप, सम्भूय आठ सोपाधिक विवर्त्त हो जाते हैं। आठों में विद्याबुद्धिचतुष्टयी 'प्रकृतियोग' है अविद्याबुद्धिचतुष्टयी 'प्रकृति–अयोग' है। प्रकृतियोगात्मक बुद्धियोग में बुद्धि प्रकृतिस्थ बनी रहती हुई एकत्वधर्म्मलक्षण व्यवसायपथ की अनुगामिनी बनी रहती है। प्रकृति–अयोगात्मक बुद्धियोगनिरुद्धभिन्नबुद्धि में बुद्धि प्रकृतिविभिन्न होती हुई अव्यवसायपथ की अनुगामिनी बन जाती है।

जिस प्रकार मध्यस्थ बुद्धि में अमृताव्ययानुगत सिद्धयोग प्रवर्ग्यसम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहते हैं एवमेव अमृतात्मविद्याचतुष्टयी भी बुद्धि में मुक्त रहती है। निष्कामात्मविद्या का बुद्धिमुक्त भाग ही 'अनासक्तिविद्या' कहलाता है। ईश्वरात्मविद्या का बुद्धिमुक्तभाग ही 'अन्तर्ज्योतिर्विद्या' कहलाता है। जीवात्मविद्या का बुद्धिमुक्त भाग 'ईश्वरानन्यताविद्या' कहलाता है। एवं मूलात्मविद्या का बुद्धिमुक्त भाग ही 'निष्कामकर्म्मविद्या' कहलाता है। अनासक्तिविद्या प्रकृतिविद्या है, वैराग्यबुद्धियोग प्रकृतियोग है। अन्तर्ज्योतिर्विद्या प्रकृतिविद्या है, ज्ञानबुद्धियोग प्रकृतियोग है। ईश्वरानन्यताविद्या प्रकृतिविद्या है, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग प्रकृतियोग है। निष्कामकर्म्मविद्या प्रकृतिविद्या है धर्म्मबुद्धियोग प्रकृतियोग है। इसप्रकार जैसे पुरुषविद्या, पुरुषयोग चार चार भागों में विभक्त हैं एवमेव तत्सम्बद्ध बुद्धिलक्षणा प्रकृति की विद्या, और भाग भी चार चार भागों में ही विभक्त हो जाते हैं।

६–विकृतिविद्याचतुष्टयी से अनुगता–विकृतियोगचतुष्टयी—

योगानुष्ठाता स्वयं जीवात्मा विकृतिमण्डलापन्न माना गया है। अतएव जीवात्मा के द्वारा अनुष्ठेय विद्याओं तथा विद्यानुगत योगों को हम 'विकृतिविद्यानुगत विकृतियोग' नाम से व्यवहृत करेंगे। पूर्व प्रकरणों में हमनें अनेकत्र यह स्पष्ट किया है कि, पुरुषात्मिका विद्या सिद्धविद्या है पुरुषात्मक योग सिद्धयोग है। एवं प्रकृत्यात्मिका विद्या साध्यविद्या है तथा प्रकृत्यात्मक योग साध्ययोग है। वस्तुतः प्रकृतिविद्या और प्रकृतियोग भी पुरुषवत् सिद्धकोटि में ही अन्तर्भूत माने जायेंगे। पुरुषवत् प्रकृति भी अनादिनिधना है। उसकी विद्या उसका योग भी अनादि है। अतएव इसे भी सिद्ध पदार्थ ही माना जायगा। साध्यविद्या वही साध्य मानी जायगी, जिसका कार्य्य–कारणपरिज्ञानद्वारा योगानुष्ठानप्रकार में उपयोग होगा। एवमेव साध्य योग भी वही साध्य माना जायगा जिसका जीवात्मा अनुष्ठान कर सकेगा। विकृतिविद्या ही अनुष्ठानप्रकार का प्रदर्शन करने वाली है जो विकृतिविद्या उपदेशात्मिका है। सिद्धविद्या का उपदेश करने वाली शब्दात्मिका–उपदेशलक्षणा विद्या ही साध्य विद्या मानी जायगी। साध्यविद्या वस्तुतः विद्या नहीं है। सिद्धविद्या ही विद्या है। साध्यविद्या तो सिद्ध–विद्यास्वरूपपरिचय का साधनमात्र है। एतावता ही साधकसाधनन्याय से इस साधन को भी 'विद्या' कह दिया जाता है। एवमेव सिद्धयोग का उपदेश करने वाला शब्दात्मक उपदेशलक्षण योग ही साध्ययोग माना जायगा। साध्ययोग भी वस्तुतः योग नहीं है। सिद्धयोग ही योग है। साध्ययोग तो सिद्धयोगस्वरूपपरिचय का हेतुमात्र है। एतावता ही इस हेतुयोग को भी 'योग' शब्द से व्यवहृत कर दिया जाता है।

निष्कामविद्यात्मक वैराग्ययोग से अनुगृहीत अनासक्तिविद्यात्मक वैराग्यबुद्धियोग के सिद्धविद्याभाग का (पुरुषविद्यागर्भित–प्रकृतिविद्याभाग का) उपदेश देने वाली विकृत्यनुगता–साध्यलक्षणा विद्या ही

'राजर्षिविद्या' कहलाई है। ईश्वरात्मविद्यात्मक ज्ञानयोग से अनुगृहीत अव्यक्ताक्षरविद्यात्मक ज्ञानबुद्धियोग के लिए विद्यामार्ग का उपदेश देने वाली विकल्पानुगता साम्यविद्या ही उपदेशक के सम्बन्ध से 'सिद्धविद्या' कहलाई है। जीवात्मविद्यात्मक ऐश्वर्ययोग से अनुगृहीत ईश्वरानन्यताविद्यात्मक ऐश्वर्यबुद्धियोग के लिए विद्यामार्ग का उपदेश करने वाली विकल्पानुगता साम्यविद्या ही उपदेशक के सम्बन्ध से 'राजविद्या' कहलाई है। भूतात्मविद्यात्मक धर्मयोग से अनुगृहीत नियतकर्मविद्यात्मक धर्मबुद्धियोग के लिए विद्यामार्ग का उपदेश करने वाली विकल्पानुगता साम्यविद्या ही उपदेशक ऋषियों के सम्बन्ध से 'आर्षविद्या' कहलाई है। यही पुरुष–प्रकृति–विद्याचतुष्टयी की स्वरूपपरिचयप्रदात्री विकृतिविद्याचतुष्टयी का स्वरूप–दिग्दर्शन है। एवमेव पुरुषयोगात्मक वैराग्ययोग से अनुगृहीत प्रकृतियोगात्मक वैराग्यबुद्धियोग का अनुष्ठानात्मक विकृतिभावात्मक साम्य योग 'वैराग्यहेतुक-बुद्धियोग' नाम से पुरुषयोगात्मक ज्ञानयोग से अनुगृहीत प्रकृतियोगात्मक ज्ञानबुद्धियोग का अनुष्ठानात्मक विकृतिभावात्मक साम्य योग 'ज्ञानहेतुक बुद्धियोग' नाम से पुरुषयोगात्मक ऐश्वर्ययोग से अनुगृहीत प्रकृति-योगात्मक ऐश्वर्यबुद्धियोग का अनुष्ठानात्मक विकृतिभावात्मक साम्य योग 'ऐश्वर्यहेतुक बुद्धियोग' नाम से, तथा पुरुषयोगात्मक धर्मयोग से अनुगृहीत प्रकृतियोगात्मक धर्मबुद्धियोग का अनुष्ठानात्मक विकृतिभावात्मक साम्य योग 'धर्महेतुक बुद्धियोग' नाम से व्यवहृत किया जायगा। साम्यविद्यानुगता साम्ययोगचतुष्टयी (विकृति-विद्यानुगता विकृतियोगचतुष्टयी) से, अनुष्ठान से सर्वप्रथम जीवात्मा का प्रकृतिविद्यानुगता प्रकृतियोगचतुष्टयी से सम्बन्ध होगा। एवं प्रकृतिविद्यात्मिका प्रकृतियोगचतुष्टयी के द्वारा जीवात्मा का अन्ततोगत्वा पुरुषविद्यानुगता पुरुषयोगचतुष्टयी से सम्बन्ध हो जायगा। लक्ष्य है–पुरुषविद्यात्मिका पुरुषयोगचतुष्टयी। लक्ष्य प्राप्त करने वाला है–जीवात्मा। लक्ष्यप्राप्ति का अनुष्ठानात्मक साधन है–विकृतिविद्यानुगता विकृतियोगचतुष्टयी। एवं साधन द्वारा लक्ष्य पर पहुँचने का द्वार है–प्रकृतिविद्यात्मिका प्रकृतियोगचतुष्टयी। तात्पर्य कहने का यही है कि, पुरुष–प्रकृति–विकृति, भेद से लक्ष्य–लक्ष्यद्वार लक्ष्यसाधनरूप से विद्या, एवं तदनुगत योगविवर्त तीन विवर्तभावों में परिणत हो गए हैं। अबतक प्रतिपादित विषयों का निम्नलिखित परिलेखों से भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है।

(क)–प्रतिपादितविषयरूपरेखा–परिलेख–(१)

१–कर्मयोगपरीक्षा–कर्मयोगनिरूपिका (२ खण्डात्मिका)
२–ज्ञानयोगपरीक्षा–ज्ञानयोगनिरूपिका (१ खण्डात्मिका)
३–भक्तियोगपरीक्षा–भक्तियोगनिरूपिका (२ खण्डात्मिका)
४–बुद्धियोगपरीक्षा–बुद्धियोगनिरूपिका (२ खण्डात्मिका)

पूर्वखण्डात्मिकायां बुद्धियोगपरीक्षायाम्—

१–धर्मबुद्धियोगपरीक्षा
२–ऐश्वर्यबुद्धियोगपरीक्षा
३–ज्ञानबुद्धियोगपरीक्षा
४–वैराग्यबुद्धियोगपरीक्षा

—•—

(ख)–तृप्ति, तुष्टि, पुष्टि, मुक्ति-गुणचतुष्टयी–परिलेख –(२)

१–पूर्णतृप्तिभावः—तृप्तिः
२–अर्धतृप्तिभावः—तुष्टिः
३–ईश्वरानुग्रहभावः–पुष्टिः
४–भूमानुग्रहभावः—मुक्तिः

—आत्मगुणचतुष्टयी



(ग)–गुणानुगता–योगचतुष्टयी–परिलेखः–(३)

१–विज्ञानात्मगर्भितः–अव्ययात्मा मुक्तिगुणात्मकः–तदनुगतो योगः 'धर्मबुद्धियोगः' ।
२–महानात्मगर्भितः–परात्परात्मा पुष्टिगुणात्मकः–तदनुगतो योगः 'ऐश्वर्यबुद्धियोगः' ।
३–अव्यक्तात्मगर्भितः–परात्मा तुष्टिगुणात्मकः–तदनुगतो योगः 'ज्ञानबुद्धियोगः' ।
४–सर्वात्मगर्भितः–सर्वात्मात्मा तृप्तिगुणात्मकः—तदनुगतो योगः 'वैराग्यबुद्धियोगः' ।



(घ)–पुरुषविद्याचतुष्ट्यनुगता–पुरुषयोगचतुष्टयी–परिलेखः–(४)
(सिद्धविद्यानुगता–सिद्धयोगचतुष्टयी)

१–सर्वव्याप्तिमूला—पुरुषविद्या–'निष्कलात्मविद्या' (विद्यात्मकोऽव्ययः ब्रह्मव्याप्तिमूला विद्या वा)
२–परात्परव्याप्तिमूला—पुरुषविद्या–'ईश्वरात्मविद्या' (विद्यात्मकोऽव्ययः ब्रह्मव्याप्तिमूला विद्या वा)
३–परावरव्याप्तिमूला–पुरुषविद्या–'जीवात्मविद्या' (विद्यात्मकोऽव्ययः ब्रह्मव्याप्तिमूला विद्या वा)
४–अपरव्याप्तिमूला—पुरुषविद्या–'भूतात्मविद्या' (विद्यात्मकोऽव्ययः ब्रह्मव्याप्तिमूला विद्या वा)

—सैषा पुरुषविद्याचतुष्टयी–सिद्धावस्थापन्ना



१–निरञ्जनात्मविद्यात्मकस्तुष्टिगुणावच्छिन्नोऽव्ययप्रयोगः–पुरुषयोगः–'वैराग्ययोगः' { योगात्मकोऽव्ययः– अव्ययात्मको योगो वा

२–ईश्वरात्मविद्यात्मकस्तुष्टिगुणावच्छिन्नोऽव्ययप्रयोगः—पुरुषयोगः–'ज्ञानयोगः' { योगात्मकोऽव्ययः– अव्ययात्मको योगो वा

३–जीवात्मविद्यात्मकः पुष्टिगुणावच्छिन्नोऽव्ययप्रयोगः–पुरुषयोगः– 'ऐश्वर्ययोगः' { योगात्मकोऽव्ययः अव्ययात्मको योगो वा

४–भूतात्मविद्यात्मको मुक्तिगुणावच्छिन्नोऽव्ययप्रयोगः–पुरुषयोगः–'धर्मयोगः' { योगात्मकोऽव्ययः अव्ययात्मको योगो वा

—सेयं पुरुषयोगचतुष्टयी सिद्धान्तस्थापना

१–निरञ्जनात्मविद्या–विद्या,–१–वैराग्ययोगो 'योगः'
२–ईश्वरात्मविद्या– विद्या,–२–ज्ञानयोगो 'योगः'
३–जीवात्मविद्या—विद्या –३–ऐश्वर्ययोगो 'योगः'
४–भूतात्मविद्या—विद्या,–४–धर्मयोगो 'योगः'
} —पुरुषविद्यात्मिका पुरुषयोगचतुष्टयी

(ङ)-प्रकृतिविद्याचतुष्टयानुगता प्रकृतियोगचतुष्टयी–परिलेखः–(५)

(सिद्धविद्यानुगता–सिद्धयोगचतुष्टयी)

१–निरुद्धात्मविद्याया–अकर्मभावात्मिका–प्रकृतिविद्या–'अनासक्तिविद्या' (विद्यात्मिका बुद्धि–बुद्ध्यात्मिका विद्या वा)
२–ईश्वरात्मविद्यायाः–अकर्मभावात्मिका–प्रकृतिविद्या–'अन्तर्ज्योतिर्विद्या' (विद्यात्मिका बुद्धि–बुद्ध्यात्मिका विद्या वा)
३–योगात्मविद्यायाः–अकर्मभावात्मिका–प्रकृतिविद्या–'ईश्वरानन्यताविद्या' (विद्यात्मिका बुद्धि–बुद्ध्यात्मिका विद्या वा)
४–मुक्तात्मविद्यायाः–अकर्मभावात्मिका–प्रकृतिविद्या–'निवृत्तकर्मविद्या' (विद्यात्मिका बुद्धि–बुद्ध्यात्मिका विद्या वा)
—सेयं प्रकृतिविद्याचतुष्टयी सिद्धावस्थापन्ना

१–अनासक्तिविद्यात्मकबुद्धिगुणानुगतो–प्रकृतियोगः–'वैराग्यबुद्धियोगः' (योगात्मिका बुद्धि–बुद्ध्यात्मको योगो वा)
२–अन्तर्ज्योतिर्विद्यात्मकबुद्धिगुणानुगतो–प्रकृतियोगः–'ज्ञानबुद्धियोगः' (योगात्मिका बुद्धि–बुद्ध्यात्मको योगो वा)
३–ईश्वरानन्यताविद्यात्मकः बुद्धिगुणानुगतो–प्रकृतियोगः–'ऐश्वर्यबुद्धियोगः' (योगात्मिका बुद्धि–बुद्ध्यात्मको योगो वा)
४–निवृत्तकर्मविद्यात्मको बुद्धिगुणानुगतो–प्रकृतियोगः–'धर्मबुद्धियोगः' (योगात्मिका बुद्धि–बुद्ध्यात्मको योगो वा)
—सेयं प्रकृतियोगचतुष्टयी सिद्धावस्थापन्ना

१–अनासक्तिविद्या–'विद्या'–(१)–वैराग्यबुद्धियोगो–'योगः'
२–अन्तर्ज्योतिर्विद्या–'विद्या'–(२)–ज्ञानबुद्धियोगो–'योगः'
३–ईश्वरानन्यताविद्या 'विद्या'–(३)–ऐश्वर्यबुद्धियोगो–'योगः'
४–निवृत्तकर्मविद्या–'विद्या'–(४)–धर्मबुद्धियोगो–'योगः'

}—प्रकृतिविद्यात्मिका प्रकृतियोगचतुष्टयी

१–निरञ्जनात्मविद्यात्मकस्तुरीयगुणावच्छिन्नोऽव्ययपोग–पुरुषयोग –'ई

२–ईश्वरात्मविद्यात्मकस्तुरीयगुणावच्छिन्नोऽव्ययपोग—पुरुषयोग

३–जीवात्मविद्यात्मकः पुष्टिगुणावच्छिन्नोऽव्ययपोगः–पुरुष

४–भूतात्मविद्यात्मको पुष्टिगुणावच्छिन्नोऽव्ययपोग–

—दैवा

–

१–निरञ्जनात्मविद्या–विद्या,–१–वैराग्ययोगी

२–ईश्वरात्मविद्या– विद्या,–२–ज्ञानयोगी

३–जीवात्मविद्या—विद्या,–३–ऐश्वर्ययो

४–भूतात्मविद्या—विद्या,–४–धर्मयो

(झ)–सर्वसंग्रहपरिलेख (७)

१ १–निरञ्जनात्मविद्या—वैराग्ययोगः——वृत्तिगुणात्मकः (सिद्धपुरुषविद्या, योगश्च,–सत्यविद्या, सत्ययोगः
२–अनासक्तिविद्या—वैराग्यबुद्धियोगः—वृत्तिगुणानुगतः (सिद्धप्रकृतिविद्या, योगश्च)–त्यागविद्या, त्यागयोगः
३–राजर्षिविद्या——वैराग्यहेतुकबुद्धियोगः–वृत्तिगुणोदयहेतुः (साम्यविकृतिविद्या, योगश्च)–अनुद्वेगविद्या
अनुद्वेगयोगः

२ १–ईश्वरात्मविद्या—ज्ञानयोगः———वृत्तिगुणात्मकः (सिद्धविद्या सिद्धयोगः)
२–अन्तर्य्यामिविद्या ज्ञानबुद्धियोगः——वृत्तिगुणानुगतः (सिद्धविद्या सिद्धयोगः)
३–सिद्धविद्या——ज्ञानहेतुकबुद्धियोगः–वृत्तिगुणोदयहेतुः (साम्यविद्या साम्ययोगः)

३ १–जीवात्मविद्या——ऐश्वर्य्ययोगः———वृत्तिगुणात्मकः (सिद्धविद्या सिद्धयोगः)
२–ईश्वरानन्यताविद्या—ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः—वृत्तिगुणानुगतः (सिद्धविद्या सिद्धयोगः)
३–राजविद्या———ऐश्वर्य्यहेतुकबुद्धियोगः–वृत्तिगुणोदयहेतुः(साम्यविद्या साम्ययोगः)

४ १–भूतात्मविद्या——धर्म्मयोगः————मुक्तिगुणात्मकः (सिद्धविद्या सिद्धयोगः)
२–निष्कामकर्म्मविद्या–धर्म्मबुद्धियोगः——मुक्तिगुणानुगतः (सिद्धविद्या सिद्धयोगः)
३–आर्षविद्या——धर्म्महेतुकबुद्धियोगः–मुक्तिगुणोदयहेतुः (साम्यविद्या, साम्ययोगः)

(ञ)–योगीभावपरिलेखः–(८)

१–राजर्षिविद्यानुगतवैराग्यहेतुकबुद्धियोगानुगतो योगी—(युञ्जानयोगी–विवेकात्मा)
२–अनासक्तिविद्यात्मकवैराग्यबुद्धियोगे प्राप्तो योगी——(युक्तयोगी—युक्तात्मा)
३–निरञ्जनात्मविद्यात्मकवैराग्ययोगे समाहितो योगी——(युक्ततमो योगी–युक्ततमात्मा)

(घ)—विकृतिविद्याचतुष्टय्यनुगता—विकृतियोगचतुष्टयी—परिलेख—(६)

(साम्यविद्यानुगता—साम्ययोगचतुष्टयी)

१—निरुद्धात्मविद्याभिर्मितमव्ययविभूतिविद्यास्वरूपप्रदर्शिका— विकृतिविद्या—'राजर्षिविद्या' (विद्यात्मक उपदेश, उपदेशात्मिका विद्या वा)
२—शान्तात्मविद्याभिर्मिताक्षरविभूतिविद्यास्वरूपप्रदर्शिका—विकृतिविद्या—'सिद्धविद्या' (")
३—शान्तात्मविद्याभिर्मितेश्वरानन्दविद्यास्वरूपप्रदर्शिका—विकृतिविद्या—'राजविद्या' (, ,)
४—भूतात्मविद्याभिर्मितनित्यविद्यास्वरूपप्रदर्शिका——विकृतिविद्या 'आर्षविद्या' (" ,)

—सैषा विकृतिविद्याचतुष्टयी साम्यावस्थापन्ना

—•—

१—राजर्षिविद्यानुगतस्तुष्टिगुणोपलक्षितमूलः—विकृतियोगः—'वैराग्यहेतुकबुद्धियोग' (योगात्मक उपदेश उपदेशात्मको योगो वा)
२—सिद्धविद्यानुगतस्तुष्टिगुणोपलक्षितमूलः——विकृतियोगः—'ज्ञानहेतुकबुद्धियोग' (" ")
३—राजविद्यानुगतः पुष्टिगुणोपलक्षितमूलः——विकृतियोग—'ऐश्वर्यहेतुकबुद्धियोग' (" ")
४—आर्षविद्यानुगतो मुक्तिगुणोपलक्षितमूलः—विकृतियोग— धर्महेतुकबुद्धियोग (" ")

—सैषा विकृतियोगचतुष्टयी साम्यावस्थापन्ना

—•—

१—राजर्षिविद्या—'विद्या'—(१)—वैराग्यहेतुकबुद्धियोगो—'योगः'
२—सिद्धविद्या—'विद्या'—(२)—ज्ञानहेतुकबुद्धियोगो—'योगः'
३—राजविद्या—'विद्या'—(३)—ऐश्वर्यहेतुकबुद्धियोगो—'योगः'
४—आर्षविद्या—'विद्या' (४)—धर्महेतुकबुद्धियोगो—'योगः'

}—विकृतिविद्यानुगता विकृतियोगचतुष्टयी

—•—

(ञ)-विद्याभावपरिलेखः (१०)

१–वैराग्यहेतुकबुद्धियोगानुगता–राजर्षिविद्या वैराग्यनिबन्धना, रागद्वेषमोहोपशमना ।
—सैषा गीतायां प्रथमा विद्या ।

२–ज्ञानहेतुकबुद्धियोगानुगता–सिद्धविद्या–ज्ञाननिबन्धना अविद्यात्मकमोहोपशमना ।
—सैषा गीतायां द्वितीया विद्या ।

३–ऐश्वर्यहेतुकबुद्धियोगानुगता–राजविद्या–ऐश्वर्यनिबन्धना अस्मितोपशमना ।
—सैषा गीतायां तृतीया विद्या ।

४–धर्महेतुकबुद्धियोगानुगता–आर्षविद्या–धर्मनिबन्धना, अभिनिवेशोपशमना ।
—सैषा गीतायां चतुर्थी विद्या ।



१०–पूर्वखण्डोपसंहारः—

अनेक दृष्टियों से गीताप्रतिपादित विद्याचतुष्टयी, तथा बुद्धियोगचतुष्टयी का स्वरूपविश्लेषण किया गया । अब इस सम्बन्ध में ये प्रश्न शेष रह जाते हैं कि, इन चारों विद्याओं के सम्बन्ध में किन किन तत्त्वों का विश्लेषण हुआ है ?, चारों बुद्धियोगों में किन किन अनुष्ठानप्रकारों का प्रतिपादन हुआ है ?, कौन किस बुद्धियोग का अधिकारी है ?। इन्हीं शेष प्रश्नों के समाधान के लिए बुद्धियोग-प्रेमी पाठकों के सम्मुख 'गीतासारपरीक्षात्मक' बुद्धियोगपरीक्षा का 'उत्तरखण्ड' उपस्थित होने जा रहा है। प्रस्तुत पूर्वखण्ड में विद्या-युगल जिस बुद्धियोग का परिचय कराने की चेष्टा हुई है, वही गीता का प्रतिपाद्य विषय है। कालातिक्रम से वेदतत्त्वविलुप्ति से सर्वोपरि साम्प्रदायिक संघर्ष के अनुग्रह से गीता का यह तत्त्व लुप्त हो चला था। वही आज उसी गीताचार्य्य श्रीमधुसूदन के अनुग्रह से पुनः दृष्टिपथानुगामी बनने जा रहा है। बुद्धियोगात्मक यह अविच्छिन्न किन्तु नूतनवत् प्रतीत दृष्टिकोण सम्प्रदायग्रस्त वर्त्तमान विद्वत्समाज का अनुरञ्जन करे अथवा न करे ?, यह प्रश्न सदा से ही शेष प्रश्न बना आ रहा है। अतः इस सम्बन्ध में कुछ न कहना ही श्रेयःपन्था है। हाँ, जो वास्तव में जिज्ञासु हैं श्रेयःपन्था के अन्वेषक हैं, और अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए गीताशास्त्र का आश्रय लेते हैं प्रस्तुत दृष्टिकोण अवश्य ही ऐसे जिज्ञासुओं का किसी सीमापर्य्यन्त अनुरञ्जन कर सकेगा। इसी बुद्धियोगानुरक्तिकामना के साथ प्रकरणत्रयात्मक–बुद्धियोगपरीक्षापूर्वखण्ड उपरत हो रहा है।

—प्रीयतामनेन योगात्माऽव्ययपुरुषो भगवान् मधुसूदनः

'बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार' नामक

तृतीय प्रकरण उपरत

३



इति–प्रकरणत्रयात्मिका–पूर्वखण्डात्मिका बुद्धियोगपरीक्षा उपरता

ओं–तत्–सत्–ब्रह्मणे नमः

शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!



१–रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा–प्रसादमधिगच्छति ॥

(स एष–विधेयात्मा)

२–उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि 'युक्तात्मा' मामेवानुत्तमां गतिम् ॥

—गी० ७।१८ (स एष–युक्तात्मा)।

३–योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे 'युक्ततमो' मतः ॥

—७।१७ (स एष–युक्ततमात्मा)

—एवं–सर्वत्र

(ख)–योगमार्गपरिलेखः (६)

(१)–[illegible]–वैराग्य[illegible]बुद्धियोगानुगमनेन साधनभूतेन–बीजात्मना–अनात्म[illegible]विद्यात्मक–
वैराग्यबुद्धियोगात्मके प्रकृतियोगे प्रवेशः । तद्द्वारा च–[illegible]योगात्मके पुरुषयोगे [illegible]–
[illegible] बीजात्मना [illegible], पूर्णवृष्टिलाभः ।

---

(२)–[illegible] ज्ञान[illegible]बुद्धियोगानुगमनेन साधनभूतेन–बीजात्मना–[illegible]ज्ञानबुद्धि
योगात्मके प्रकृतियोगे प्रवेशः । तद्द्वारा च ईश्वर[illegible]योगात्मके पुरुषयोगे [illegible] । [illegible] बीजात्मना
[illegible] पूर्णवृष्टिलाभः ।

---

(३)–[illegible]–ऐश्वर्य[illegible]बुद्धियोगानुगमनेन साधनभूतेन–बीजात्मना–[illegible]–
ऐश्वर्यबुद्धियोगात्मके प्रकृतियोगे प्रवेशः । तद्द्वारा च बीजात्म[illegible]–ऐश्वर्ययोगात्मके पुरुषयोगे [illegible] ।
[illegible] बीजात्मना [illegible], पूर्णपुष्टिलाभः ।

---

(४)–धर्म[illegible]–धर्म[illegible]बुद्धियोगानुगमनेन साधनभूतेन–बीजात्मना–[illegible]धर्मविद्यात्मक–
धर्मबुद्धियोगात्मके प्रकृतियोगे प्रवेशः । तद्द्वारा च–[illegible]–धर्मयोगात्मके पुरुषयोगे [illegible] । [illegible]
बीजात्मना [illegible], पूर्णमुक्तिलाभः ।

(अ)-विद्याभावपरिलेखः (१०)

१-वैराग्यहेतुकबुद्धियोगानुगता-राजर्षिविद्या वैराग्यनिबन्धना, रागद्वेषमोहोपशमका।
—सैषा गीतायां प्रथमा विद्या।

२-ज्ञानहेतुकबुद्धियोगानुगता-सिद्धविद्या-ज्ञाननिबन्धना अविद्यास्मितामोहोपशमका।
—सैषा गीतायां द्वितीया विद्या।

३-ऐश्वर्यहेतुकबुद्धियोगानुगता-राजविद्या-ऐश्वर्यनिबन्धना अस्मितोपशमका।
—सैषा गीतायां तृतीया विद्या।

४-धर्महेतुकबुद्धियोगानुगता-आर्षविद्या-धर्मनिबन्धना, अभिनिवेशोपशमका।
—सैषा गीतायां चतुर्थी विद्या।



१०-पूर्वखण्डोपसंहारः—

अनेक दृष्टियों से गीताप्रतिपादित विद्याचतुष्टयी तथा बुद्धियोगचतुष्टयी का स्वरूपविश्लेषण किया गया। अब इस सम्बन्ध में ये प्रश्न शेष रह जाते हैं कि इन चारों विद्याओं के सम्बन्ध में किन किन तत्त्वों का विश्लेषण हुआ है ?, चारों बुद्धियोगों में किन किन अनुष्ठानप्रकारों का प्रतिपादन हुआ है ?, कौन किस बुद्धियोग का अधिकारी है ?। इन्हीं शेष प्रश्नों के समाधान के लिए बुद्धियोग-प्रेमी पाठकों के सम्मुख 'गीतासारपरीक्षात्मक' बुद्धियोगपरीक्षा का 'उत्तरखण्ड' उपस्थित होने जा रहा है। प्रस्तुत पूर्वखण्ड में विद्यायुक्त जिस बुद्धियोग का परिचय कराने की चेष्टा हुई है, वही गीता का प्रतिपाद्य विषय है। कालातिक्रम से वेदतत्त्वविस्मृति से सर्वोपरि साम्प्रदायिक संघर्ष के अनुग्रह से गीता का यह तत्त्व लुप्त हो चला था। वही आज उसी गीताचार्य श्रीमधुसूदन के अनुग्रह से पुनः दृष्टिपथानुगामी बनने जा रहा है। बुद्धियोगात्मक यह अतिप्राचीन किन्तु नूतनवत् प्रतीत दृष्टिकोण सम्प्रदायग्रस्त वर्तमान विद्वत्समाज का अनुगमन करे अथवा न करे ? यह प्रश्न स्वयं से ही शेष प्रश्न बना जा रहा है। अतः इस सम्बन्ध में कुछ न कहना ही श्रेयः-पन्था है। हाँ, जो वास्तव में जिज्ञासु हैं श्रेयःपन्था के अन्वेषक हैं, और अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए गीताशास्त्र का आश्रय लेते हैं परन्तु दृष्टिकोण अवश्य ही ऐसे जिज्ञासुओं का किसी सीमापर्यन्त अनुगमन करेगा। इसी बुद्धियोगानुप्रेक्षणकामना के साथ प्रकरणत्रयात्मक-बुद्धियोगपरीक्षापूर्वखण्ड उपरत होता है।

—प्रीयतामनेन योगात्माव्ययपुरुषो भगवान् मधुसूदनः

'बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार' नामक

तृतीय प्रकरण उपरत

३



इति-प्रकरणत्रयात्मिका-पूर्वखण्डात्मिका बुद्धियोगपरीक्षा उपरता

ओं-तत्-सत्-ब्रह्मणे नमः

शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

श्री

प्रकरणत्रयात्मक-'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक

पूर्वखण्ड का

'बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार' नामक

तृतीय प्रकरण उपरत

श्री

इति–गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–

सर्वान्वयसमपरीक्षात्मक–तृतीयखण्डानुगता

'ग' स्तर विभागात्मिका

बुद्धियोगपरीक्षा (पूर्वखण्डात्मिका)

उपरता

प्रीयतामनया बुद्धियोगनिष्ठो योगेश्वरः–

भगवान् मधुसूदनः

इति शम्

श्रीः

राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर' के तत्त्वावधान से अनुप्राणित
एवं प्राच्य वैदिक-साहित्य की ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णा परिभाषाओं में समन्वित
राष्ट्रभाषा हिन्दी में उपनिबद्ध

प्रकाशित-ग्रन्थों की सूची

[निबन्धा–मोतीलालशर्म्मा–भारद्वाजो भारद्वाजः]

ग्रन्थनाम	पृष्ठसंख्या	मूल्य
१—शतपथब्राह्मण हिन्दीविज्ञानभाष्य–प्रथमवर्ष*	६	१)
२— –द्वितीयवर्ष*	४	१)
३— –तृतीयवर्ष*	४५०	१)
४— ,, –चतुर्थवर्ष	४७	१२)
५— ,, –पञ्चमवर्ष	१५	७)
६—शतपथभाष्य–त्रैवार्षिकी विषयसूची *	१ ०	२)
७—ईशोपनिषत् हिन्दी–विज्ञानभाष्य प्रथमखण्ड (१)	५	१२)
८— द्वितीयखण्ड (२)	५	१२)
९—माण्डूक्योपनिषत् हिन्दी–विज्ञानभाष्य *	६	१)
१०—गीताविज्ञानभाष्यभूमिका–बहिरङ्गपरीक्षा	५	१३)
११— –भाष्यपरीक्षा	५	१३)
१२— –ब्रह्मकर्मपरीक्षा*	६	१५)
१३— ,, –कर्मयोगपरीक्षा*	५	१५)
१४— –बुद्धियोगपरीक्षा–पूर्वखण्ड	७	२)
१५—उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका–प्रथमखण्ड (१)	५	१२)
१६—उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका–द्वितीयखण्ड (२)	५	१५)
१७— तृतीयखण्ड (३)	५	१५)
१८—आत्मविज्ञान–आत्मविज्ञानोपनिषत्–प्रथमखण्ड (१)	५५	२)
१९— ,, –शिवसंकल्पविज्ञानोपनिषत्–द्वितीयखण्ड (२)	६	१५)
२०—भारतीय हिन्दू-मानव और उसकी भावुकता-प्रथमखण्ड(१)	५५	---

* चिह्नाङ्कित ग्रन्थ परिसमाप्त हैं। पुनः प्रकाशित होने पर ही वे उपलब्ध हो सकेंगे।